

स्वर, सुबन्ध-तिरुन्त पर्वों की सिद्धि आदि पर शास्त्रशुद्ध वैज्ञानिक एवं साधकयुक्त ग्रन्थ मिलने के बाद शास्त्रशास्त्र के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग रुद्ध हो गया।

पाणिनि ने अपने समय में प्रचलित भाषा के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। भाषा अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग अष्टाध्यायी में नहीं मिलता। विशेषण रूप में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रामायण में प्राप्त होता है।<sup>१</sup> रामायण से यह भी विदित होता है कि व्याकरण के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अपठकों के प्रयोग से बचते हुए संस्कृत भाषा का शुद्ध प्रयोग माना जाता था।<sup>२</sup> इस समय जैसे वैदिक भाषा की कुछ विशेषताओं का ग्रहण करते हुए उत्तर देश में बालबाल की संस्कृत का विकास हुआ था उसी प्रकार वैदिक भाषा की अन्य तथा भिन्न-भिन्न विशेषताओं को आत्मसात् कर दूरसेम कोसल प्रादेश मगध मालव महाराष्ट्र काठ आदि प्रदेशों में उन प्रदेशों की संस्कृत विकसित हुई थी। पाणिनि-काल तक शब्दों के अर्थ सम्बन्ध तथा वाक्य रचना की दृष्टि से इन सब प्रदेशों की भाषा एक थी। केवल स्वर, सन्धि-कार्य ह्रस्व-दीर्घ-व्यतिक्रम तथा कहीं-कहीं विशिष्ट प्रत्यय या आगम-सम्बन्धी अन्तर दृष्टिकोच होते थे। इस प्रादेशिक संस्कृत के भिन्न-भिन्न व्याकरण इन्द्र आपिशलि कात्यायन गार्ग्य शाकटायन इत्यादि पूर्वोक्त वैयाकरणों ने निर्मित किये थे। इनमें ऐन्द्र व्याकरण दूरसेम या हस्तिनापुर के पास-पड़ोश में प्रचलित था। इस व्याकरण के अनुसार अनुत्पन्न शब्दों का प्रयोग महाभारत में देखा जा सकता है।

पाणिनि पर पूर्वोक्तों का प्रभाव और उनका समन्वयकारी दृष्टिकोच—पाणिनि ने इन समस्त प्रादेशिक रूपों का समन्वय कर संस्कृत का देशव्यापी एक रूप उपस्थित किया। उन्होंने प्रत्येक प्रान्त के विशिष्ट रूपों का उनके समर्पक भाषाओं के नामोस्मैस-सिद्धि विकल्प रूप से अपने व्याकरण में स्वीकृत किया। उनके द्वारा आठ बार किया गया 'प्राच्य' भाषाओं के मत का उल्लेख (जिसमें छह उद्धृत प्रत्यय-सम्बन्धी मतभेद हैं) इस बात का प्रमाण है कि वे प्रादेशिक मतभेदों का समन्वय कर संस्कृत का एकदेशव्यापी स्वरूप तैयार करना चाहते थे। एतदर्थ उन्होंने समस्त पूर्ववर्ती कृतिमों से साम उठया। शब्द-सिद्धि के लिए सारी आवश्यक और अपने अनुकूल बातें उन्होंने प्राचीन वैयाकरणों से ज्यों-की-र्यों ले ली। उन्होंने अक्षर-सामान्य प्रातिशास्त्र-ग्रन्थों तथा अपभ्रंश वैयाकरणों से किया। यद्यपि अपनी सुविधा के लिए उन्होंने उससे से कुछ बर्ष छोड़ दिये कुछ के मत कल्पित कर किये और कुछ का क्रम बदल दिया। फिर भी अपनी ओर से किसी नये बर्ण का समावेश नहीं किया। सामान्य के लिए एक समाज व्यवस्था में से नमूने के लिए एन शब्द सूत्र में ग्रहण कर लेने के लिए मग की कल्पना कर मचपाठ में उनका समावेश कर दिया। मचपाठ में भी उन्होंने अनेक मग आपिशलि आदि से ले किये। धातु और धातुपाठान्तर्गत मगों के विषय में भी उन्हें पूर्व-वैयाकरणों और कोसलारों से पर्याप्त सहायता मिली। श्यामीस बर्णों का एक विशेष क्रम में १४ मूत्रों के भीतर निश्चित कर प्रत्या-

१ बाबं चोदहृत्प्यामि मानुपीमिह संस्कृतान्।—सुन्दर का० ३-१७।

२ मूर्धं व्याकरणं हस्तनमनेन बहुधा मृतम्।

बहुव्याहृतोऽनेन न किञ्चिदपमावितम्॥—रुद्रि० का० ३ २९।

हारों द्वारा संशेष में बाँट बहने का मार्ग सुकर कर लिया। इन बर्णों से बने ब्यासीस प्रत्याहारों का उपयोग उन्होंने अपन ब्याकरण में किया। प्रत्याहारों की प्रेरणा उन्हें इन्द्र आपिशक्ति आदि से मिली। सन्धि-कार्य के विषय में प्रातिशास्त्र विद्यमान ही था। उनका सारे नियमों का ग्रहण कर ब्रह्म मतभेद के स्थलों में पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया और वैकल्पिक रूप से उनके द्वारा समर्पित प्रयोगों का ग्रहण कर लिया। सर्वनाम अन्वय धातु, प्रातिपदिक इत्यादि छोटे प्रसिद्ध संज्ञाएँ पूर्वाचार्यों से लीं। पाणिनि ने निरुक्त में व्यवहृत अनेक संज्ञाओं का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक किया है, यद्यपि अनेक स्थानों पर दोनों आचार्यों द्वारा व्यवहृत संज्ञाओं में अन्तर है। जैसे—

यास्क	पाणिनि	यास्क	पाणिनि
कारित	गिरन्त	चर्करीति	यद्गुदन्त
षिक्कीपित	सनन्त	व्यजन	विागण
निवृत्ति-स्वान	(बुछ नहीं)	नामकरण	(बुछ नहीं)

यास्क ने सर्वनाम शब्द का प्रयोग 'सर्वानि नामानि यस्य' अथवा 'सर्वेषु भूतेषु ममति गच्छति वा' इस अर्थ में किया है पाणिनि क समान पारिभाषिक अर्थ में नहीं। इसी प्रकार, यास्क में निपाठ शब्दों के पुनरु अर्थ बतलाते हुए निपाठों की 'उच्चारणोच्चारणेषु निपतन्ति' यह व्याख्या दी है, किन्तु पाणिनि ने किया के याग में उन्हें उपसर्ग तथा क्रियाश्रय शब्दों के याग में गति और कर्मप्रबन्धीय संज्ञा दी है। इन्धे यास्क और पाणिनि के कास के बीच पर्याप्त अन्तर जान पड़ता है। फिर भी प्रत्यय प्रथमा, द्वितीया आदि से सप्तमी तक विभक्ति नाम समास तत्पुंस्य अन्वयीभाव बहुव्रीहि, इत् तद्धित आदि प्राचीन संज्ञाओं का व्यवहार उन्होंने उसी रूप में किया और उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी। नामधातु और वसगभी व्याडि की वेद है। इसके अतिरिक्त लाजव के लिए एक प्रकार के शब्दों का एक विशेष संशेष द्वारा बोध करानेवाली टि, मु मनी निष्ठा आदि संज्ञाएँ उन्होंने स्वयं कल्पित कर लीं। इसीलिए, मोहदत्तुकर ने कहा है कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में बभित व्याकरण पद्धति क आविष्कर्ता नहीं था। फिर भी यह सत्य है कि उन्होंने पूर्ववर्ती व्याकरणों की पद्धति में काफ़ी सुधार किया और उमम अपनी ओर स भी बहुत कुछ जोड़ा। उन्होंने प्राचीन व्याकरणों की पारिभाषिक घण्टाबन्दी स भी साम उठायी।<sup>१</sup> डॉ० बर्नेस के अनुसार ऐन्द्र गाथा सब व्याकरणों में प्राचीनतम थी। पाणिनि उससे परिचित थे और उन्होंने उससे बहुत कुछ सिखा है।<sup>२</sup> प्राचीन आचार्यों की घण्टाबन्दी के व्यवहार के कारण ही कुछ विचारक महाभाष्य के पक्षपातियों के पाणिनिना प्रोक्त पाणिनीयम् को आचार बनाकर कहते हैं कि अष्टाध्यायी पाणिनि द्वारा प्रोक्त है इत् नहीं।<sup>३</sup> इसकी निवारता भाष्य में प्रयुक्त प्रणयति स्म, प्रयुक्ते

१ पाणिनि द्विज जैस इन संस्कृत सिद्धेभर, पृ० ८८।

२ ऐन्द्र स्कूल डॉ० प्रैमेरियस—निबन्ध।

३. आई० ई० पत्राटे : दि स्कन्बर मोठु अष्टाध्यायी, पृ० ११८ ११।

करोति क्रियन्ते कृति कर्ता पठितम् खास्ति बाह्वादि प्रयोगों से ही स्पष्ट है। अष्टाध्यायी के रूपनम ४ •• सूत्रों में से केवल उन्नीस में भिन्न मतवाले आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त दो सूत्रों में सामान्यतया आचार्यों का एक-एक सूत्र में 'एके' और 'उभे' का तथा बीस सूत्रों में 'प्राचाम्' और 'उत्तरीषाम्' का उल्लेख है। इस प्रकार, अष्टाध्यायी में कुल ५० सूत्र अन्य आचार्यों से सम्बद्ध हैं।

अष्टाध्यायी—पाणिनि व अष्टाध्यायी जैसा कि नाम से स्पष्ट है, आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और कुल मिलाकर ३९८१ सूत्र। इनमें यदि १४ प्रत्याहार-सूत्र छोड़ दें तो यह संख्या ३९८५ हो जाती है।<sup>१</sup> अष्टाध्यायी के प्रथम दो अध्यायों में पदों के सुबन्त तिङन्त भेदों और वाक्य में उनके परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में धातुओं से शब्द-सिद्धि का विवेचन तथा चतुर्थ और पंचम अध्याय में प्रातिपदिकों एवं शब्द-सिद्धि का विचार है। षष्ठ एवं सप्तम अध्याय में सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की प्रकृति प्रत्ययगत सिद्धि एवं स्वरों का विवेचन है तथा अष्टम अध्याय में समिहित पदों के धीन्द्रोच्चारण से चर्णों या स्वरों पर पड़नेवाले प्रभाव की चर्चा है। यदि प्रतिपाद्य विषयों की दृष्टि से विचार किया जाय तो संज्ञा और परिभाषा स्वरों और व्यंजनों के प्रकार, धातु-सिद्धि क्रियापद कारक विभक्ति एकलेश समास कृत्यन्त सुबन्त तिङित आनम और आवेश स्वर विचार, द्वित्व और सन्धि ये अष्टाध्यायी के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। पाणिनि के मत से प्रकृति और प्रत्यय दोनों का पृथक-पृथक अर्थ होता है। इसीलिए, उन्होंने सर्वत्र प्रत्यय का अर्थ दिया है। वे शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य मानकर चले हैं, इसीलिए उनके व्याकरण से सिद्ध हो जाने पर भी वेद तथा ऋग्वेदादि में व्ययग्रहण शब्दों का प्रयोग उन्हें दृष्ट नहीं था।

प्राचीन ग्रन्थों में पाणिनीय शास्त्र के चार नाम मिलते हैं—अष्टक अष्टाध्यायी श्रान्तुशासन और वृत्ति-सूत्र। श्रान्तुशासन शब्द का प्रयोग भाष्य के आरम्भ में ही हुआ है। पुरुषोत्तमदेव सृष्टिभटाचार्य मेधातिथि न्यासकार और जयवित्थ महाभाष्य के भावि वाक्य 'अथ श्रान्तुशासनम्' को भी पाणिनि-कृत मानते हैं। भाष्यकार का यह कथन कि 'अथ श्रान्तुशासनम्' प्रयुक्त हुआ है, इसी मत का पौषक है। वृत्ति-सूत्र नाम के विषय में मानेश ने कहा है कि 'पाणिनीय सूत्रों पर वृत्ति है और वार्तिकों पर नहीं है। वृत्ति-सूत्र शब्द इस अन्तर का स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है।' आचार्य चन्द्रबीम ने अपने व्याकरण (२११)

१ अष्टाध्यायी को विद्या माननेवालों को परम्परा में प्रचलित मौखिक पाठ में यह संख्या ३९८३ है जबकि श्रीनि सुबसहस्राणि तथा भवशातानि च वचनवतिः च सूत्राणां पाणिनि-कृतानां स्वयम्' इस उक्ति के अनुसार यह संख्या ३९९६ है। मौखिक पाठ में ११ सूत्र ऐसे हैं, जिनमें ९ को भाष्यकार ने वार्तिक तथा २ को गणसूत्र माना है। इस प्रकार, यह संख्या ३९७२ हो गई जाती है। काशिका और सिद्धान्तकौमुदी में परम्परागत वाक के अनुसार ३९८३ संख्या ही ही हुई है।

२ पाणिनीयसूत्राणां वृत्तित्वात्वाद् वार्तिकानां तदनाशाच्च तयोर्वचन्योक्तानामेवम् ।  
२११ भाष्य वर नागेश ।

की वृत्ति में अष्टाध्यायी को पाणिन्पुत्र तथा अकाल व्याकरण कहा है। काशिका सरस्वती ब्रह्मरथ और वामनीय त्रिपानुशासन में भी इसी बात को पुहराया है। विद्वानों का मत है कि अष्टाध्यायी के जिन मूत्रों पर महाभाष्य में 'किमर्थमिदमुच्यते' द्वारा आनर्थक्य-संका उठाई है वे ही पाणिनि के स्वोपममूत्र हैं।

अष्टाध्यायी पूर्व व्याकरणां की अपेक्षा कहीं संक्षिप्त है। आगे चलकर संक्षेप में कहने की पद्धति पर व्याकरण में बहुत बल दिया जाने लगा। इसीलिए, पाणिनि ने प्रत्ययार्थक प्राच्यस्य सूचक, बचन एवं काल (मूत्र भविष्यत् आदि), उपसर्ग आदि की परिभाषाओं के लिए मूत्र नहीं बनाये। अनेक विद्वानों के अनुसार इस विषय में पाणिनि की स्थिति को स्पष्ट करनेवाले 'उदितार्थ्य संज्ञाप्रमाणत्वात्' आदि (१२-५३ से ५७) पाँच मूत्र प्रक्षिप्त हैं। संज्ञप की ओर वृत्ति रखने के कारण ही उन्होंने एक प्रयोग के लिए मूत्र नहीं बनाया।<sup>१</sup> इसीलिए स्वयं पाणिनि मूत्रों के अनेक प्रयोग पाणिनि-मूत्रों से सिद्ध नहीं होते। इस प्रकार के जनिकम् (१४३०) तत्प्रयोजक (१४-५५) त्रिष्यञ्च (१४६०) मन्वसि (३-४६४) पुराण सवनाम तथा प्रत्ययाधी ब्राह्मण एव आदि पाणिनि प्रयोगों की भाष्यकार ने सौत्र निर्देश या आर्थ मानकर संक्षेप कर लिया है। इसीलिए, महामाख के टीकाकार देशबोध ने एतद् व्याकरण का अर्थव और अष्टाध्यायी को गोप्य ही उपमा दी है।<sup>२</sup>

अष्टाध्यायी संहिता-पाठ में भी। स्थानेन्तरत्वं (११-५०) के भाष्य में पतञ्जलि ने इस बात को सूचित किया है।<sup>३</sup> उन्होंने अन्य भाषाओं के योग-विभागों को प्रमाण म मानकर अपने योग-विभाग भी दिये हैं, यथा टिड्डाणम्—कद् क्वरपो मन्व (४११५)। संहिता का विच्छेद प्रवचन-काल में हुआ, किन्तु भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का संहिता-पाठ मानकर भाष्य लिखा है। अष्टाध्यायी एकमुति में थी।<sup>४</sup> कैपट ने इस विषय में अन्य भाषाओं का अनुमान परक मत उद्धृत किया है।<sup>५</sup> यद्यपि उनका अपना मत इससे भिन्न था। अनेक विद्वानों का विचार है कि मूत्र अष्टाध्यायी उदात्तादि स्वर एवं अनुनासिकादि-संहिता थी किन्तु परमाशुत्व के विषय में स्वरों के विधाय उपयोगी म होने के कारण स्वर नष्ट ही गये। नापेय भी मूत्र पाठ को सस्वर ही मानते हैं।<sup>६</sup> उनके इस मत का आधार भाष्यकार की 'आसुतातनिपातनं करिष्यते' (९११६७, पृ० २११) यह उक्ति है। उन्होंने कहा है कि 'आचार्य ने सारी अष्टाध्यायी एकमुति से पढ़ी है इस बात में कोई प्रमाण नहीं है। हाँ कहीं-कहीं किसी पर (यथा षष्ठिनामनादि मूत्र में एत्वाक) का एकमुति से पाठ अवश्य है। भाष्य से भी इतनी ही

१ नैस प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। १११२ वा० २, पृ० १७८।

२ याम्पुराह्वार महेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्थकम्।

परदण्डानि किं क्षान्ति सन्ति पाणिनि शौचवे।।

३ उभयचार्य्य तुल्या संहिता स्वानेऽन्तरत्वं उरम् एपर इति। ११-५० पृ० ३०३।

४ एकमुतिनिर्देशम् सिद्धम्। १४१७४ वा० ४ पृ० ५०८।

५ अन्ये त्वाहुः एकमुत्या सूत्रानि पठन्त इति। कैपट प्रदीपोगोत्र, १११।

६ नापेय, १११ पृ० १५३, निर्णयसागर-संस्करण।

भात सिद्ध होती है। जिस प्रकार पाणिनि ने टि, मु आदि अपनी संज्ञाएँ कल्पित कर सर्वनाम सर्वनाम-रूपान्तरना आदित्यस्यम् आदि प्राची संज्ञाएँ से भी उसी प्रकार उन्होंने अपने सूत्रों के साथ कुछ प्राचीन सूत्र भी से किये। यथा 'पश्चिमत्यमुगात् हन्ति' (४४ ३५) 'परिपन्थ च तिष्ठति' (४४ ३६) 'नोदासस्वरिणोदयम्' (८४ ६७) आदि। इनमें प्रथम दोनों मिलकर छन्द बनाते हैं। ये छन्दोबद्ध व्याकरण से किये गये हैं। तृतीय भी छन्द का ही कारण है। पाणिनि-शैली के विपरीत इसमें 'उदासस्वरिणोदययो' के स्थान पर 'उदासस्वरिणोदयम्' पढ़ा गया है। वास्तव में यह बचन ऋत्-प्रातिशास्य से लिया गया है।' इसी प्रकार, अष्टाध्यायी में अनेक आधिक्य-सूत्र भी मिलते हैं। अनेक सूत्र प्रतिशास्यों और अतिसूत्रों के हैं। भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रसंग में पूर्वसूत्र-निर्देश का उल्लेख मिलता है। ये पूर्वसूत्र पाणिनि के पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित हैं।' आधिक्य और पाणिनि की शिक्षा के तो यह प्रकरण प्रायः समान हैं। पहले पाद के प्रथम सूत्र के आचार पर पाणों के नाम भी प्रचलित थे। सीरेख की परिभाषा-वृत्ति में गाककुटादि पाद (१-२) भू-पाद (१ ३) द्विगुपाद (२ ४) सम्बन्ध-पाद (३-४) अमपाद (६-४) आदि नाम मिलते थे। धातुपाठ मन्पाठ, उदादिमूत्र और त्रिगुणासासन अष्टाध्यायी के ही पूरक हैं और पाणिनि-वृत्त हैं।

उपश्लेषम् तणाद्याभिरभ्यासामाम् (२४ २१) सूत्र की व्याख्या में काधिकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकारक कहा है। पदमञ्जरी के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भग्य प्राचीन व्याकरणों में मन्दी अक्षतनी स्वन्तनी परोसा अनक्षतनी भविष्यन्ती आदि कालदर्शक अधिकार हैं, उस प्रकार इसमें नहीं हैं। इसीलिए, यह काकाधिकार-रहित व्याकरण कहा गया है।' यद्यपि पाणिनि ने इन शब्दों का प्रयोग किया किन्तु कातन्त्र-व्याकरण की भाँति अधिकार-रूप में नहीं। उन्होंने इनके स्थान पर ऋद् ङिद् आदि अकार-मुक्त बस संज्ञाओं का उपयोग किया है।

अष्टाध्यायी का महत्त्व—अपने व्याकरण को सर्वमत-समन्वित सर्वब्राह्मण एवं पूर्ण बनाने के लिए पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य और विद्वान का तो उपयोग किया ही था ही उन्होंने गार्ग्यार से अम अम मगव कस्मि आदि समस्त जाय्यीय वनपदों के अन्तिम छार तक पर्यटन कर वहाँ के बाल-बाल आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज वेद्य भूपा उद्योग-धर्मो वाग्विज्य-उद्योग उनको भाषा उनमें प्रचलित वैदिक शास्त्राओं अध्ययन-ग्रन्थों तथा उनके गोत्रवाचक श्त्रीवाचक व्यक्तिवाचक देशवाचक नगरवाचक ग्रामवाचक आदि विशेष नामों की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होनेवाले पूर्व व्याकरणों के ग्रंथों तथा प्रातिशास्य ग्रन्थों का अवलोकन किया। उनमें किये गये विशिष्ट नियमों और

१ उदासपूर्व निष्पत्तं विवृत्त्या व्यग्रमेत वा स्वयंतेऽस्तहितं न वैदुरासस्वरितानयम् ।

—ऋत् प्राति० ३-१७।

२ १-२ ६८, ४ १ १४, ६ १ १६३, ७-१ १८, ८ ४-७ भाष्य।

३ पूर्वाभि व्याकरणान्यप्यप्यनारिक्तान्तर्भावमुक्तानि तद्विहितम्।—पदमञ्जरी।

४ २ ४-३, ३-२ १०२, ६ ४-११४, ३ ३-१५ आदि।

संज्ञाओं का संग्रह किया और अपने व्याकरण में उन सबका उपयोग किया। उनका व्याकरण न केवल शब्दानुष्ठान की दृष्टि से परिपूर्ण है अपितु यह तत्कालीन शास्त्रमय संस्कृति का विरचयनीय एवं प्रामाणिक इतिहास भी है। अष्टाध्यायी के इस पक्ष से प्रभावित होकर ही बंरेण्ड फडरगत ने कहा है कि हम पाणिनि की पूजा इसकिए करते हैं कि उन्होंने हमें भारत की भाषा का साक्षात्कार कराया है।<sup>१</sup> व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने केवल पूर्ववर्ती व्याकरणों का संक्षेप विस्तार या समन्वय मात्र नहीं किया उन्होंने उसमें बहुत कुछ मौलिक भी जोड़ा। उनका व्याकरण इतना गुह्यवस्मित वैज्ञानिक साधनपूर्ण एवं सर्वांगपूर्ण हुआ कि उनके सामने समस्त व्याकरण फीके पड़ गये। महत्तक कि पीरे-धीरे प्रादेशिक व्याकरणों का प्रचलन बन्द हो गया और कालान्तर में वे मृत्प्राम हो गये।

भाष्यकार ने पाणिनि का प्रमाणभूत आचार्य मांगलिक आचार्य सुहृद् भगवान् आचार्य पाणिनि आदि विशेषणों के साथ सम्बोधित किया है और आचार्यः चार (१ १ १) तथा आचार्य शैली का भी प्रमाण माना है। उन्होंने कहा है कि आचार्य पाणिनि पवित्र स्थान में प्राङ्मुख बैठकर तथा पवित्र दर्भ हाथ में लेकर बड़े प्रयत्न से सूत्र बनाते थे। उनके सूत्र में एक शब्द भी अनर्थक नहीं हो सकता सारे सूत्र का कहना ही क्या।<sup>२</sup> अन्त्य में उन्होंने कहा है कि मैं अपने सामर्थ्य के आधार पर कह सकता हूँ कि इस शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं जो निरर्थक हो।<sup>३</sup> उन्होंने जो सूत्र बनाये हैं, वे बहुत सोच-विचारकर। बनाने के बाद वे सूत्रों को वापिस नहीं लेते थे।<sup>४</sup> उन्होंने सुहृद् रूप में व्याकरण-शास्त्र का अन्वाख्यान किया है।<sup>५</sup> रचना के समय उनकी दृष्टि भविष्य की ओर भी रहती थी और वे दूर तक की बात सोचते थे। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा बम्बे-बम्बे तक फैल गई और विद्यार्थियों में उन्हीं का व्याकरण सर्वाधिक प्रिय हो गया।<sup>६</sup>

पाणिनि का जीवन-चरित्र—पाणिनि के जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। पतञ्जलि-चरित के अनुसार वे पति नामक मुनि के पुत्र थे। पति की पत्नी का नाम

१ श्री एड्वीर पाणिनि विक्रान्त ही रिबीस डू माल वि स्परिट ऑफ इण्डिया ऐण्ड बी एडोर इण्डिया विक्रान्त इट रिबीस डू माल वि स्परिट ऑफ़ वि स्परिट—फ़ेडरल स्टडीज माल पाणिनीय प्रामर, पृ० ६८।

२ प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपापिः सुवाचकाये प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रपयति स्म। तत्राशयं बर्णेनाप्यनर्थकेन भक्तिं कि पुनरिपता सुभेन।—१ १ १, भा० ७, पृ० ९०।

३ सामर्थ्ययोगाप्रहि किञ्चिद्ब्रह्म पश्यामि शास्त्रे पवनर्थकं स्यात्।—६-१-७७ पृ० ११०।

४ न वेदन्तीमाचार्याः सुत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।—भा० वैशा० १३, पृ० २६।

५ पश्यति त्वाचार्यः।—भा० १, पृ० १५।

६ आनुमार्दं घटाः पाणिनेः।—१ ३-८९, पृ० २०२।

७. सामर्थ्ययोगाप्रहि किञ्चिद्ब्रह्म पश्यामि शास्त्रे पवनर्थकं स्यात्।—६ १-७७, पृ० ११०।

वात सिद्ध होती है। जिस प्रकार पाणिनि ने टि, यु आदि अपनी सजाएँ कल्पित कर सर्वनाम सर्वनाम-रूपांश उच्यते अयत्तरत्याम् आदि प्राची सजाएँ के ही उसी प्रकार उन्होंने अपने सूत्रों के साथ कुछ प्राचीन सूत्र भी के लिये। यथा पश्चिमत्यमुयान् हन्ति' (४४ ३५) 'परिपन्थं च सिष्ठति' (४४ ३६) 'तोषात्स्वरितोदयम्' (८४ ६७) आदि। इनमें प्रथम दोनों मिथकर छन्द बनाते हैं। ये छन्दोबद्ध व्याकरण से निवृत्त गये हैं। तृतीय भी छन्द का ही अर्थ है। पाणिनि-शैली के विपरीत इसमें 'उदात्तस्वरितोदययोः' के स्थान पर 'उदात्तस्वरितोदयम्' पड़ा गया है। वास्तव में यह बचन ऋक-प्रातिशाख्य से लिया गया है।' इसी प्रकार, अष्टाध्यायी में अनेक आपिच्छन्ति-सूत्र भी मिलते हैं। अनेक सूत्र प्रतिशाख्यों और श्रौतसूत्रों के हैं। भाष्य में अनेक सूत्रों के प्रयोग में पूर्वसूत्र-निर्देश का उल्लेख मिलता है। ये पूर्वसूत्र पाणिनि के पूर्वाचार्यों द्वारा निमित्त हैं।' आपिच्छन्ति और पाणिनि की शिक्षा के दो छह प्रकार प्रायः समान हैं। पहले पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर पादों के नाम भी प्रचलित थे। धीरे-धीरे की परिभाषा-वृत्ति में गाडकुटादि पाद (१२) भू-पाद (१३) द्विगुपाद (२४) सम्बन्ध-पाद (३-४) अंगपाद (६-४) आदि नाम मिलते थे। बाहुपाठ गणपाठ, उच्चारिसूत्र और सिगानुशासन अष्टाध्यायी के ही पुरक हैं और पाणिनि-वृत्त हैं।

उपशोपक्रम उदात्ताक्षिरभ्यासायाम् (२-४ २१) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकारक कहा है। पदमञ्जरी के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य प्राचीन व्याकरणों में भवन्ती अद्यतनी इवस्तनी परोक्ष्य मनद्यतनी भविष्यन्ती आदि कारकवर्धक अभिकार हैं उस प्रकार इसमें नहीं हैं। इसीलिए, यह कामाधिकार-रहित व्याकरण कहा गया है।' मद्यपि पाणिनि ने इन शब्दों का प्रयोग किया किन्तु कातन्त्र-व्याकरण की भाँति अभिकार-रूप में नहीं। जहाँ-तहाँ इनके स्थान पर छट्, षिट् आदि लकार-मुक्त शब्द संज्ञाओं का उपयोग किया है।

अष्टाध्यायी का महत्त्व—अपने व्याकरण को सर्वमत-समन्वित सर्वबाह्य एवं पूर्ण बनाने के लिए पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती समस्त साहित्य और चिन्तन का जो उपयोग किया ही साथ ही उन्होंने गांधार से बंग बंग समस्त वर्तमान आदि समस्त भारतीय जनपदों के अन्तिम छोर तक पर्यटन कर वहाँ के बाल-बाल भाषा-व्यवहार, रीति-रिवाज वेद-भूषा उद्योग-बन्धों आदि-उद्योग उनकी भाषा उनमें प्रचलित वैदिक शास्त्रों अध्ययन-ग्रन्थों तथा उनके शौरवाचक स्त्रीवाचक स्मृतिवाचक श्रेयवाचक ममरवाचक ग्रामवाचक आदि विशेष नामों की पूर्ण जानकारी प्राप्त की। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर प्राप्त होनेवाले पूर्व व्याकरणों के प्रयोग तथा प्रातिशाख्य शब्दों का अवलोकन किया। उनमें दिये गये विविध नियमों और

१ उदात्तपूर्व नियतं विवृत्त्या व्यञ्जनेन वा स्वयंतिष्ठति न विवृत्तात्स्वरितोदयम्।  
—शु० प्राति० २-१७।

२ १२ ६८, ४ १ १४, १ १ १६३, ७-१ १८, ८ ४-७ भाष्य।

३ पूर्वाणि व्याकरणाद्यद्यतनारिकान्तसंज्ञामुक्तानि तद्विहितम्।—पदमञ्जरी।

४ २ ४-३, ३-२ १०२, ६-४-११४, ६-३-१५ आदि।





बासी बा।' भाष्यकार ने भी इन्हें बासी-पुत्र कहा है।' काशिका (१२-१४) तथा चान्द्र वृत्ति (२-२ ६८) में पाणिन शब्द का प्रयोग है, जिसका निर्देश अष्टाध्यायी (१४ १६५) में प्राप्त होता है। पणि से गोत्रापत्य अर्थ में पाणिन और युवापत्य अर्थ में पाणिनि शब्द की व्युत्पत्ति पद मञ्जरीकार ने भी है। बासी-पुत्र का उत्सव पाणिनीय शिला में भी मिलता है। यशस्वित्सक जम्बू में इन्हें पणि-पुत्र कहा है।' पुरुषोत्तमदेव के त्रिकाश्वसेव क्रोय में पाणिनि पाणिन आहिक बासी-पुत्र शासिक और शासितरीय को पर्यायवाची माना है। बेंबयली भी शासित-तुरीय के इन सब पर्यायों को स्वीकार करता है।' गजरत्नमहोदधि में शासितुर को पाणिनि का अभिजन बतलाया है। शासितुर एक ग्राम था। यह स्थान अब अटक के पास 'सातुर' कहलाता है। इससे यह भी निश्चित होता है कि पाणिनि सातुर छोड़कर अन्यत्र रहने लगे थे। राजसेनार ने काव्यमीमांसा में बतलाया है कि बर्ष उपबर्ष पाणिनि बरहधि विगास और व्याडि इन सबकी परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई और उसके बाद वहाँ से उनका नाम चारों ओर फैसा है।' इससे यह भी कल्पना की जा सकती है कि वे मन्वाभित वे और पाटलिपुत्र में रहते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वे कौशाम्बी या प्रयाग (जो कि कश्च कात्यायन और भारद्वाज की जन्मभूमि हैं) में रहते थे। अमिचानचिन्तामणि तथा उसकी टीका भी उनके शासित-तुरीय होने का अनुपरोध करती है।'

पाणिनि के पुत्र का नाम बर्ष बर्ष के माई का नाम उपबर्ष पाणिनि के माई का नाम विपस और प्रमुख शिष्य का नाम कौत्स था।' कथासरित्सागर में कहा है कि बर्ष के शिष्यों में पाणिनि अपघातुत अडबुद्धि वे किन्तु तीव्र तप शाय शंकर को प्रसन्न कर उन्होंने बरवान स्वस्व व्याकरण प्राप्त किया। व्याकरण प्राप्त करने के बाद उन्होंने सर्वप्रथम अपने सहपाठी कात्यायन को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। सात दिन तक लगातार शास्त्रार्थ करने के बाद

१ पणोति कश्चिन्मनिरस्तिपूर्वं स पाणिनि नाम कुमारमाय ।

स्वतुस्पताम्ना तनयेव सोऽपि बासीपुत्रोऽङ्गुडमम्यतन्वत् ।—पतञ्जलिवरित, १ ४७ ।

२ सर्वे सर्वे पदारोसा बासीपुत्रस्य पाणिने ।—७-१ २७ पृ० ३२ ।

३ पणियुत्र इव पत्रप्रयोगेषु ।—आश्वस्त २, पृ० २३६ ।

४ पाणिनिस्तबाहिको बासीपुत्र शासिकपाणिनी शासितुरीय ।

५ शासितुरीयको बासीपुत्रः पाणिनिराहिकः ।—बेंबयली ।

६ अत्रोपबर्षे बर्षादिह पाणिनिपिङ्गलादिह व्याडि-बरहधिपतञ्जली इह परीक्षितः

क्यातिमुपजगाम ।—काव्यमीमांसा ।

७ कौशाम्बी दि बब व्सेस मांफ कात्यायन, दि बार्तिककार ऐश्व प्रयाग, दि एबोड मांफ दि सेत्र भारद्वाज एव प्रोवेम्नी मांफ् बार्तिककारज ह् दिष्ट बाइ दि शिम भारद्वाजज मार इन दि मय्यरोस, दि प्रोवेबित एबोड मांफ् सूत्रकार—सेवसं मांफ पतञ्जलि, पार्ट १, पृ० १६ ।

८ शासितुरीय दासयो अत्रनिधि० तथा गान्ध्याप्रवेशशिष्यशासितुराग्रामजस्ता-वेबास्य तथा इति—त्रि० टीका ।

९ उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् ।—३-२-१०८, पृ० २४१ ।

कात्यायन ने पाणिनि को परास्त कर दिया। तब आकाश-स्मित शंकर ने क्रोध से हंकार किया जिससे पृथ्वी पर एन्द्र व्याकरण लुप्त हो गया और उसके सम्पत्ता मूर्ख बनकर रह गया। तब कात्यायन अपने परिवार के निर्वाह के लिए हिरण्यगुप्त नामक वैश्य के पास कुछ इन्ध्र जमा कर स्वयं तप द्वारा शंकर का क्रोध शान्त करने के लिए हिमाचल पर चला गया। शीर्षकाल के बाद शंकर ने प्रसन्न होकर पाणिनीय व्याकरण उन पर प्रकाशित किया।<sup>१</sup> पतञ्जलि-वर्णित में कहा है कि जब कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों पर दोष-दशक कालिक बधाये तब पाणिनि बड़ क्रुद्ध हुए और उन्होंने कहा कि तुमने भय प्रभाव समाप्त बिना ही उच्छानुक्कनदुरक्त चिन्ता का वृषा धम किया है। मैं तुम्हें घाय देना हूँ कि तुम्हारा शरीर पतित हो जाय। यह सुनकर कात्यायन को भी क्रोध आया और उन्होंने भी पाणिनि को घाय दिया कि मैंने भी शंकर के ही प्रभाव में कालिक बनाय है। तुमने यह बात जाने बिना मुझ घाय दिया है। मा तुम्हारा भी मस्तक फट पड़ेगा।

पतञ्जलि-वर्णित और कणासुरिस्सागर की कथा का अधिकार मनमदन्त भास्युम हेतत है। इसके अनुसार पाणिनि और कात्यायन समकालीन थे और उनकी परस्पर शत्रुता पक्की थी। कणामरिस्सागर (२० ३१ ३२ ४५, ४६ ७८ ७९ तथा ४१) के अनुसार कात्यायन कोयाम्बी न सोमदत्त और बभ्रुवता के पुत्र थे। व भी पाण्डिपुत्र में बर्ष के पास पढ़े। उन्होंने विन्ध्याटकी में कणामरिस्सागर की कहानियाँ कही थीं।<sup>२</sup> कणासुरिस्सागर (२-७९) के ही अनुसार व्याधि भी इन दोनों के सहपाठी थे। व्याधि या वाज्ञायन पाणिनि के ममरे नाई जान पड़त है। यह भी शय जान पड़ता है कि पाणिनि मन्व-काल में उत्पन्न हुए। वासिष्ठा के पूर्व पाणिनीया और अपरपाणिनीया उदाहरणों से पाणिनि के शीर्षकीकी होने की कल्पना की जाती है। वे स्वयं गिसक थे। उन्होंने स्वयं अपनी अष्टाध्यायी शिष्यों को पढ़ाई की। उनकी शिष्य-मण्डली विस्तार थी और विद्यालयों में इनके ग्रन्थ का अध्यायन करसकानो को मोहन दिया था। यह बात महाभाष्य के 'ओदनपाणिनीया उदाहरण से स्मरित होती है। उनकी मृत्यु सिंह के बानमग से बतसाई जाती है।<sup>३</sup>

पाणिनि की अन्य रचनाएँ—महाभाष्य प्रदीपिका के अनुसार अष्टाध्यायी के अतिरिक्त शिखा शत्रुपाठ, गणपाठ और पंचपाठी उपाधिपूत्र भी पाणिनि ने बनाय थे। राजशेखर शेषमन्त्र और शरणादक के उल्लेखों तथा ब्रह्मचर्यों में प्रकृतित दन्तकथा के अनुसार वे बान्धवती विनय और पार्वतीपरिचय के भी रचयिता थे। २६ शब्दों में इन दोनों ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध

१ जब कालेन वपस्य शिष्यवर्षो मृदानभूत्। तत्रैकः पाणिनिर्नाम ब्रह्मवृद्धितरोऽभवत्।—  
कणासुरिस्सागर, ४-२० से २७ तक।

२ पतञ्जलि-वर्णित, १ ६७ से ६९।

३ मूलाभा० ३-२ १०८।

४ उभयथा ह्याश्वर्येण शिष्यैः सूत्रं प्रतिपादितः।—१ ४१ पृ० १७।

५ सिंहो व्याकरणस्यकर्तुं रहस्यं प्राचान् शिष्यान् धारयित्वा।—विजयप्रति, दली० ६६

होते हैं, यद्यपि ये प्रश्न अप्राप्य हैं।<sup>१</sup> राजशेखर ने उन्हें प्रथम व्याकरण और तदनु चान्दवतीत्रय का कर्ता बतलाया है।<sup>२</sup> क्षेमेन्द्र ने 'पाणिनेरुपजातिभि' से उनका कवि होना सूचित किया है। और धारणदेव ने अपनी दुर्घट वृत्ति में 'सायंभिरं प्राहमे प्रगेष्म्ययेम्य' (४ ३-२३) आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए उनका एक श्लोक उद्धृत किया है। स्वयं पतञ्जलि ने उनके लिए कवि शब्द का प्रयोग किया है।<sup>३</sup>

पाणिनि का समय—पाणिनि के समय के विषय में बहुत काल तक विद्वानों में मतभेद रहा है। डॉ० पीटर्सन ने अष्टाध्यायीकार तथा ब्रह्मसंहिता की सुभाषितावली के कवि पाणिनि को एक मात्रक उनका समय इसी-सन् का प्रारम्भ माना है। पिछेछे लोगों को एक मात्रक भी उनका समय ५०० ई० पू० के लगभग मानते थे। बेबर और मैक्समूलर के मत से पाणिनि-काल ३५ ई० पू० के लगभग होना चाहिए क्योंकि पाणिनि द्वारा उल्लिखित सूत्रकार शब्द (५ १ १८) इस शब्द का परिचायक है कि पाणिनि से पूर्व ही सूत्र-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हो गई थी। मैक्स-मूलर ने प्राचीन साहित्य के चार काल विभाग करते हुए १२०० ई० पू० से १०० ई० पू० तक छान्दस-काल १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक मात्र काल ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक ब्राह्मण-काल और ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सूत्र काल माना है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाणिनि कारत्यायन के लगभग समकालीन थे और कारत्यायन का समय लगभग ३५० ई० पू० है। मैक्समूलर का ब्रह्मसंहितासंहिता पर आधारित है। डॉ० ओटो बोपासिक ने भी कपासंहितासंहिता के ही आधार पर पाणिनि का समय ३५० ई० पू० निश्चित किया है। गोल्डस्टुकर और डॉ० भण्डारकर के अनुसार उनके काल की निम्नतम सीमा ५०० ई० पू० है। गोल्डस्टुकर के मत से पाणिनि को अपर्बिन्द की जानकारी नहीं थी क्योंकि उनके सूत्र अथर्ववेदम् या उसके गिनत अथर्ववेदम् का उल्लेख नहीं करते यद्यपि महामाय में 'रैवतिकाविस्मरण' (४ ३ १३१) सूत्र अन्तर्गत आथर्वण मन्त्र और आपर्बण आम्नाय का उल्लेख हुआ है। डॉ० वेब के मन्त्र-आथर्वण और ब्राह्मण भाग में विभाजन से परिचित थे। अष्टाध्यायी (२ ४-८० ३-२-७१ ३ ३-९६, ४ ३-१०५) में मन्त्र ब्राह्मण और न्यय का उल्लेख है। काशिका पाणिनि याज्ञवल्क्य और आरमरण को समकालीन मानती है। सम्भव है पाणिनि छप लोगों से कुछ पूर्व के हों। याज्ञवल्क्य तो बालिककार की वृत्ति में भी पाणिनि के समकालीन थे। पाणिनि बृहत् एवं अथर्ववेदों से भी परिचित थे। 'अप्याविन्देय कामाप्' (४ ४-७१) का निषेध, जिस पर मायकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, बृहत्सूत्रों के ही अनुसार है। अतः उनका समय इन सूत्र ग्रन्थों के बाद होना चाहिए। डॉ० गोल्डस्टुकर का कहना है

१ मुसैरी—नायरी-प्रचारिणी-पत्रिका—भाग १, खण्ड १, महीन सं० ।

२ नामः पाणिने तस्मै यस्मादाधिरभूद्वि ।

आरी व्याकरणं काव्यमनुचान्दवती त्रयम् ॥ राजशेखर ।

३ पीटर्सन वि रिपोर्ट आन्ड संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स, १८८२-८३, पृ० ३९ से ।

४ वैरातसूत्र-एन्डिन्देय संस्कृत सिन्डरेबल, पृ० ५७२, ४९७, ४९५, ३१३, २४९ ।

कि समय उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में शृंगु साम और इण्डियनमुप् महिगार्ण तथा प्रन्थकार्यों में यास्क ही पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं और मय सम्पूर्ण साहित्य उनके बाद का है। डॉ० बेन्चरलकर का मत से पाणिनि का समय ७०० से ६०० ई० पू० है। ३५० ई० पू० माननेवालों का मुख्य आधार यवन शब्द का प्रयोग है पर अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यवना (आयोनिजयन ग्रीका) म इन देश के लोगों का परिचय १००० ई० पू० से ही था। यही क्यों अमुर या अमुय (अमीरियन) पाक (सीरियन) मय या मद्ग (मीडन) पारसीक और पस्तक (पथियन) भी मिक्लर क आक्रमण से शताब्दियों पहले आयों को मात था। मिक्लर का आक्रमण ३७३ ई० पू० म हुआ किन्तु प्लेटो (Plato) के (४७० ई० पू०) युद्ध में भारतीय फौजें डरियन की सेना का भग थी। इसके अतिरिक्त 'मरुभाविन्द्यम्' (२४७५) 'तथा परवर्ति योषेयादि' (५३११७) आदि सूत्र भी पाणिनि को मिक्लर-पूर्व सिद्ध करते हैं।

अन्त में हम ईश्वरगन के स्वर में कह सकते हैं कि पाणिनि की वृत्ति का महत्त्व कबक उससे प्राप्त होनेवाले भाषाविषयक ज्ञान के कारण ही नहीं है यद्यपि वह ज्ञान भी बहुमूल्य है। उसका महत्त्व इस बात के लिए अधिक है कि वह हमें भारतीय प्रन्थन और संयुक्त-पद्धति को समझने के लिए प्रगतिमान देने में मलम है। विशेषतः वैज्ञानिक प्रन्थ होने के कारण वह और भी उपयोगी बन पड़ा है।

कात्यायन-काल

पूर्वपीठिका—योंही समय में ही अष्टाध्यायी का प्रचार बहुत अधिक हो गया। आचार्य लोगों को सूत्र पढ़ाते समय सूत्रों के शब्दों की उपयुक्तता सूत्रों की तांत्रिक व्याख्या उन पर होने वाले शब्दों और उसके निष्कर्ष आदि पर विचार करना पड़ता था। कहीं-कहीं कोई आचार्य अन्य प्रकार से भी शब्द-सिद्धि कर किसी सूत्र अथवा उसके किसी शब्द का वैयम्प प्रवर्तन करते हुए बुद्धि-बल का परिचय देता था। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रों को पढ़ाते-पढ़ाते अनेक आचार्यों ने उनमें सावबयुक्त संशोधन उपस्थित किये। य संशोधन वैयकारण जगत् में वास्तिक कहलाये। इनमें भाषाज्ञ सीनाय कुम्भरबाबुव कोट्टीय कात्यायन आदि वैयकारण सम्प्रदायों के वास्तिक विद्वत्समूह में अत्यन्त समाश्रुत हुए।

कात्यायन का प्रातिशाक्य—कात्यायन का जन्म पाणिनि के लगभग २०० वर्ष बाद हुआ। इस समय तक पाणिनि-काल में प्रचलित अनेक शब्द अप्रयुक्त हो गये थे कुछ क अनक बनों में कुछ अर्थ अस्पष्ट हो चुके थे और कुछ को विशेष महत्त्व प्राप्त हो चुका था। पाणिनि के समीपकालीन श्रेष्ठक प्राचीनों की गिनती में माने जाने लये थे। कात्यायन ने वाचस्पती

- १ शौचितिक पाणिनि के लिए देवर इण्डियन स्टडीज तथा लीपजिग का प्लेबेर (१८५७), भूमिका तथा गोस्वस्तुरक पाणिनि—हिंस प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर पृ० ५४ से ६६ तक।
- २ ईश्वरगन स्टडीज ऑन पाणिनीय ग्रामर—पृ० ४८।
- ३ यास्कव्याख्यानो न विरकता इत्याख्यानेषु वार्ता। काठिका तथा यास्कव्याख्यानम्

संहिता का प्रातिशास्य सिद्धा या जिसमें उन्होंने संहिता-क्षेत्र में जानेवाले पाणिनीय सूत्रों की बालोचना की थी। सम्भवतः, इन्होंने ही कात्यायन श्रौतसूत्र की भी रचना की थी। सर्वप्रथम इन्होंने अपना प्रबन्ध वैदिक भाषा तक ही सीमित रखा किन्तु बाद में प्रातिशास्य की बालोचना से उत्साहित होकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी को अपने विवेचन का विषय बनाया। इनके प्रातिशास्य के अनेक सूत्र प्रत्याहार तथा अनुबन्ध पाणिनिकत् ही हैं। कहीं-कहीं सुभार की वृष्टि से कुछ परिवर्तन अवश्य कर दिये गये हैं। इन्हीं परिवर्तनों को उन्होंने जाने बलकर वातिकों के रूप में निबद्ध कर दिया।<sup>१</sup> अष्टाध्यायी और प्रातिशास्य के सूत्रों का साम्य अनेक सूत्रों में भी देखा जा सकता है—

अष्टाध्यायी	कात्यायन-प्रातिशास्य
वरुर्गान् ङोप (१ १ ६०)	वर्नस्यावरुर्गान् ङोप (१ १ ४१)
तस्मादित्युत्तरस्य (१ १ ६७)	तस्मादित्युत्तरस्यावे (१ १ ४५)
मूक्षनासिनाबचनोऽनुनासिक (१ १-८)	मूक्षानुनासिकाकरनोऽनुनासिक (१-७५)

कात्यायन के वातिक तथा अन्य वातिककार—कात्यायन के वातिकों में कुछ गद्य म और कुछ छन्दोरूप में उपलब्ध होते हैं। उनमें कहीं-कहीं यथावत् और कहीं स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्ण सूत्र की तथा कहीं सूत्र के प्रथम या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द की आशुति मिलती है। वातिकों में पूर्व वातिकों का उल्लेख 'उक्तं येने' 'उक्तं वा' और 'उक्तं पूर्वम्' से मिलता है। पाणिनि की शब्दावली का व्यवहार करते हुए भी इन्होंने बच् को स्वर, हस को व्यंजन वच् को समानाश्रय, सृट् को भवन्ती और सृट् को अचतनी कहा है। इससे क्वाचरित्सागर की इस धारणा (तरंग ४) को कि वे ऐन्द्र शाखा के से बस मिलता है। पाणिनि से मिस शाखा के धी से व्यवस्य से। कात्यायन प्रातिशास्य में शाकटायन<sup>२</sup> और शाकन्व्य<sup>३</sup> का तथा वातिकों में बाजप्यायन व्याडि और पौष्कर षादि का उल्लेख वातिककार के रूप में मिलता है। 'एके' और 'केचित्' से भी कुछ वातिककार उल्लिखित हैं। इनके बाद महाभाष्य के २५० श्लोक-वातिकों के रचयिता वातिककार आते हैं। स्वयं भाष्य में कात्यायन भारद्वाजीय सौताम कुचरवाडक वाडक सौर्यमयवात् और कुचिकोटीय गान्धीय गोपिकतुष का वातिककार के रूप में उल्लेख है। भाष्य में भारद्वाजीयों का मत दस बार, सौतामों का सात बार, श्रेष्ठीयों का एक बार और कुचरवाडक का दो बार उल्लिखित है। श्लोक-वातिक कात्यायन के बाद के ज्ञान पढ़ते हैं क्योंकि उनमें कात्यायन को पूर्ववर्ती स्वीकार किया गया है।

१ गोस्वस्तुकर पाणिनि—हिज चौस इन सं० लिटरेचर, पृ० १५४ से १५७।

२ प्रथम शब्दार्थमुरि शाकटायन।—कश्यप, प्रा० ३-८।

३ शाकन्व्यः श्यतेपु।—श्री ३ ९।

४ ३-२ ११८ को प्रथम कारिका तथा इष्टियन ऐष्टिचवैटी, जिस् ५, टिप्पणी-सं० ४,

कात्यायन के ब्राह्मिकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, पर उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इस संग्रह का आधार महाभाष्य है, किन्तु महाभाष्यकार ने कात्यायन के सारे ब्राह्मिकों की व्याख्या नहीं की है। उन्होंने सूत्रों के समान बहुत-से ब्राह्मिक भी छोड़ दिये हैं। दूसरे भाष्य में परवर्तिक के अपने ब्राह्मिकों की संख्या भी कम नहीं है और कात्यायन-ब्राह्मिकों से उनको अलग कर सकना अत्यन्त मुश्किल है। मनोरमा में मट्टीजिजीवित ने कहा है कि मूल सूत्रपाठ आज भ्रष्ट हो गया है। यह बात ब्राह्मिकों के विषय में और सरस्वतीपूर्वक कही जा सकती है। भाष्य में ब्राह्मिकों का युग भी उल्ट-पुल्ट गया है क्योंकि अनेक ब्राह्मिकों में जिस बात को लक्ष्यकर 'उक्त वा' या 'उक्त पूर्वक' कहा है, वह भाष्य में अनेक बार उस ब्राह्मिक क वाच्य मिच्छी है। वास्तव में ऐसे स्वप्नों पर 'वक्ष्यते' निर्देश होना चाहिए था। ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ अप्रासंगिक न होंगे —

## उक्तं वा का निर्देश-स्वप्न

- १ अटि शोक्तम्—१ १ ३ वा० ९
- २ उक्तं वा—१ १ १२ वा० ६
- ३ उक्तं वा—१ २-४३ वा० ७
- ४ अधिपीस्वरवचन उक्तम् १ ४ ९७ वा० १
- ५ विनक्तौ शोक्तम् ४ १ १ वा० १५
- ६ वा वचने शोक्तम् ३ १ २ वा० ८

## उक्तं वा से सम्बन्ध प्रसंग का स्वप्न

- अल्पविकारेऽल्पसदेसस्य ६ १ १३ वा० ५
- बदस ईत्वोत्वे ८ २-६ वा० ९
- परवस्तिङ्गम० २ ४-२६ वा० ६
- यस्य वेरवरवचनम् २-३ ९ वा० १
- न वा विनक्तौ ७-१ १ वा० १३
- वा वचनानर्पकम् ३-१-७ वा ९ आदि।

ब्राह्मिकों में सूत्रों की कमी की पूर्ति करनेवाले कम और उनमें 'अमुक शब्द क्यों है उसके स्थान पर अमुक शब्द क्यों नहीं' इस प्रकार की मीन-मेल निकालनेवाले ब्राह्मिक अधिक थे। यह भी ब्राह्मिक-पाठ के नष्ट होने का एक कारण जान पड़ता है, क्योंकि मस्तिष्कमाषी टीका के समान एक बार पाठक की जिज्ञासा घान्ट कर देने के बाद फिर ऐसे ब्राह्मिकों का उपयोग नहीं रह जाता।

सांख्यब्राह्मिक सूत्रपाठ के पारायण में ब्राह्मिक भी सूत्रों के अन्तर्गत सामिक कर लिये जाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, 'ये च तद्धिते' (६ १ ६१) का हीनतया ब्राह्मिक 'वचिधीर्ष' तथा 'सुद् कात्पूर्व' (६ १ १३५) के अतुर्भे और पंचम ब्राह्मिक 'अब्रह्मवाय उपसंस्थानम्' तथा 'अन्नासम्प्रायाये च' स्वतन्त्र सूत्र बन गये हैं। इसी प्रकार आत्मनश्च पुरमे' (६ ३ ६) "नित्यमात्रहिते ऋषि (६ १ १००) 'भूतश्च कुन्त्यायाम्' (४ १ १६७), 'बृहस्य च पूजायाम्' (४-१ १६६), 'भूतश्च कुन्त्यायाम्' (४ १ १६७) सुद् कात्पूर्व' (६ १ १३) आदि सूत्र वास्तव में ब्राह्मिक हैं और भूत से सूत्रपाठ में सम्मिश्रित कर विभ गये हैं। 'कापिम्ब्रह्महास्तिपद्यद्' और 'आयर्षिकम्प्रेक-कोपय' ये दो भाष्य-वचन तथा सुप्रमादिगण के दो अक्षुब्ध (८ ३ ९९ १००) भी सूत्रों में मिक गये हैं।

१ देहिण् सूत्र ६ १ ६२ तथा ६ १ १३६।

२ ब्राह्मिकं इत्यासुत्रेण कश्चित् प्रक्षिप्तम् तथा भूतश्च कुन्त्यायामिति सूत्रमनार्थमिति-वचनम्—कैयट, ४ १ १६६ तथा देहिण् कैयट, ६-१-६९, ६ १ १७०।

३ कापिम्ब्रह्महास्तिपद्यद्—विज प्रेरण कर ही—विज्ञानेश्वर, १-१-१००।

क्या कार्त्वायन पाणिनि-विरोधी थे ?

कार्त्वायन ने पाणिनि के ३९९५ सूत्रों (३९८१+१४ प्रत्याहार-सूत्र) में १२५४ पर समनय ४२०० वातिक बनाये। इनमें २६ सूत्रों पर एक से अधिक भाषाओं के वातिक भाष्य में मिलते हैं। कार्त्वायन के वातिकों ने ७०९ सूत्रों की व्याख्या की ५३७ में सुचारु प्रस्तावित किये एवं बाठ सूत्रों को अनावश्यक सिद्ध किया। कार्त्वायन के वातिकों को सूत्र-व्याख्यान सूत्रपदप्रयोजन सूत्रप्रयोजन सूत्रपद प्रत्याख्यान सूत्र-प्रत्याख्यान संकोचभावन-समाधान सम्बन्धार्थकपन और स्वतन्त्रार्थकपन इन बाठ भागों में बाँटा जा सकता है। केवल ३६ सूत्रों में भाष्यकार ने वातिककार के विरुद्ध सूत्रकार का समर्पण किया है। भाष्यकार और वातिककार द्वारा अनावश्यक माने गये सूत्रों की सख्या तथा भाष्य द्वारा वातिककार के विरुद्ध समर्पित सूत्रों की संख्या को देखते हुए बर्नोल्ड डॉ० मोस्स्टुकर और बेबर की यह धारणा कि कार्त्वायन का उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों का औचित्य सिद्ध करना था उनका समर्पण नहीं। उस्टे ने उनमें दोष निकालना चाहते थे। कार्त्वायन की दृष्टि से वे पाणिनि के मित्र या प्रशंसक नहीं अपितु विरोधी जान पड़ते हैं। अनेक बार तो उनका विरोध अत्यायपूर्वक भी चीख पड़ता है निर्मूलक जान पड़ती है। कार्त्वायन ने कई बार पाणिनि को भ्रमभान और भाष्य कहकर सम्बोधित किया है।<sup>१</sup> इस विषय में डॉ० कीलहॉर्न का यह कथन कि 'वातिककार का उद्देश्य कबल इतना है कि वे पाणिनि-सूत्रों पर संभावित संकामों और आपत्तियों का बिना पक्ष या पूर्व-ग्रह के विवेचन करें और निरुपार आक्षेपों का संचन कर उनका औचित्य सिद्ध करें किन्तु यहाँ किसी प्रकार सूत्रों का समर्पण और औचित्य-सिद्धि सम्भव न हो यहाँ उनमें संशोधन परिवर्तन या परिवर्तन प्रस्तावित करें' अक्षरशः ठीक है।<sup>२</sup>

डॉ० कीलहॉर्न ने कार्त्वायन के वातिकों का विरुद्ध विवेचन किया है। उनके मत से भाष्य में प्राप्त होनेवाले वातिकों में अधिकतर कार्त्वायन के और जोड़े-से दृष्टिरूप वातिक पतंजलि के हैं। वे वातिक कार्त्वायन ने पाणिनि-सूत्रों में दोषों के उद्भावन के लिए बनाये थे। भाष्यकार ने इनमें से अधिकतर वातिकों को स्वीकार कर लिया बहुत-से वातिकों का स्पष्टीकरण किया किन्तु अनेक स्थानों पर उनकी अनावश्यकता प्रतिपादित की। डॉ० कीलहॉर्न के विचार से कार्त्वायन के वातिकों पर संका व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'चेत्' अव्यय का और अपना निजी निरूपण करते समय 'यदि अथ' शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने वातिककार के संका-समाधानार्थक निरूपण में न वा...सिद्धं तु' आदि शब्द-योजना की है, किन्तु अपन निरूपण में 'न वा...तच्छि बक्राम्यम्' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। डॉ० कीलहॉर्न ने इतना सब वैज्ञानिक विवेचन करते एवं उपर्युक्त मत प्रकट करने के बाद भी कई बार बेबर आदि पारश्चात्य विद्वानों से एकस्वर होकर यह स्वीकार किया है कि कार्त्वायन और पतंजलि की दृष्टि पाणिनि के दोष प्रदर्शन की ओर थी। यह मत स्थिर करते समय इन विद्वानों की दृष्टि कार्त्वायन की संयतन-मदति तथा भाष्य द्वारा उनके समर्पण पर ही केन्द्रित रह गई। सम्भवतः इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया

१ ७-१-२ वा० ४, ८४-९८ वा० ४ तथा।

२ हि कार्त्वायन एष्व पतंजलि, पृ० ४८।

कि पाणिनि से कात्यायन तक आते-आते भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था जिसने किए इन बातियों की आवश्यकता थी, इसीलिए कात्यायन के पाणिनों के सहित अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की प्रथा वैयाकरणों में चल पड़ी और कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि ने पुरक माने जाने लगे बिरोधी नहीं।

कात्यायन का जीवन-चरित्र—कात्यायन के जीवन के विषय में कोई प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नहीं है। वे कृतगोत्रीय और भाष्यकार के अनुसार दक्षिणात्य ब्राह्मण थे। भाष्य में वर्णित दक्षिणात्यों की विशेषता दक्षिणान्त देशों का अधिक उपयोग है। यह विशेषता वर्तमान मराठी क्षेत्र में पाई जाती है। संस्कृत की विद्वत्परम्परा में इस प्रदेश के विद्वानों के लिए दक्षिणात्य विशेषण का प्रयोग आज भी प्रचलित है। भाष्य के अनुसार दक्षिण में बड़े-बड़े घरों को घरती कहते हैं। कुछ विद्वानों ने 'पाणिनि और पतञ्जलि की अपेक्षा दक्षिणात्य' यह कल्पना कर इन्हें मास्य या उसके समीपस्थ देश का निवासी माना है। यह अनुमान समीचीन नहीं है। भारत में प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत को दक्षिणापथ और उसके निवासियों को दक्षिणात्य कहने की प्रथा रही है। पतञ्जलि दक्षिण भारत से मकी भाँति परिचित थे। उनके द्वारा उल्लिखित नाक्षत्र्य कम्पाकुमाटी बोक, पाष्य केरल आदि इसके प्रमाण हैं। दूसरे मास्य और घुरसेन-प्रदेश की भाषा में कभी विशेष अन्तर नहीं रहा। आज भी मास्यी बोली पर प्रज तथा गुजरात की भाषा का ही सर्वाधिक प्रभाव है। तब दक्षिण में महाराष्ट्र ही एसा प्रदेश रह जाता है, जहाँ पतञ्जलि-काल में संस्कृत का प्रचार था। इस प्रदेश में प्रारम्भत अद्यावधि व्याकरण-शास्त्र की परम्परा भी अधुन्य रही है। अतः अधिक सम्भावना इसी बात की जान पड़ती है कि कात्यायन महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे।

सामन ने बरबचि और कात्यायन को एक माना है। वैयाकरण-परम्परा में भी बरबचि वास्तिककार माने गये हैं। भाष्य में वास्तिककार को ही वाक्यकार माना है। भाष्यकार ने भी धारद्वय स्मोर्कों की चर्चा की है। उनके उल्लेख से बरबचि और कात्यायन स्पष्ट ही एक व्यक्ति अवश्य नहीं जान पड़ते किन्तु पतञ्जलि ने जिन भाष्य स्मोर्कों का उल्लेख किया है, उन्हें कैयट, हरबत और भाग्येय कात्यायन-कृत मानते हैं। वैयाकरण-परम्परा एवं सामनचार्य जैसे विद्वानों के मत का आदर करते हुए कुछ विद्वान् बरबचि को वास्तिककार का व्यक्तिनाम तथा कात्यायन को वाचननाम स्वीकार करते हैं। बिष्णु के समारम्भ बरबचि इनसे भिन्न रहे होंगे, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। प्राकृत व्याकरण इन द्वितीय बरबचि की रचना है। कहा जाता है कि बरबचि ने स्वर्गाटोह्य नामक एक कम्प भी बनाया था। पतञ्जलि-चरित्र के अनुसार भी दो बरबचि हुए हैं—एक वास्तिककार कात्यायन तथा दूसरे पतञ्जलि द्वारा धारित सिष्य के उम्बयिनी-निवासी सिष्य चन्द्रपुत्र ब्राह्मण के श्येष्ठ पुत्र।<sup>१</sup> इस ग्रन्थ के अनुसार चन्द्रपुत्र ने ब्रह्मरूपस से महा-भाष्य का अध्यायन समाप्त कर कर छोट्टे समय भाष्य में चारों बनों की एक-एक कम्पा

१ समञ्जोबन्त प्रथमवर्षकम्पका तनयं द्विजो बरबचि तमास्यया ।

स्वयमात्रुहाब कृतवर्षकम्पान परात्तन्वास्तिककृतः पवित्रया ॥

—पतञ्जलिचरित्र, सर्ग ७, स्मो० ५ ।



से विवाह किया जिनसे ऋषयः बरहस्पि विक्रमाहं भट्टि और भर्तृहरि मे चार पुत्र हुए। इनमें बरहस्पि ने अनेक विषयों पर समानाधिकार रखते हुए भी केवल मन्त्र-शास्त्र पर प्रबन्ध-रचना की।<sup>१</sup> पतञ्जलि-चरित के अनुसार यह बरहस्पि अवश्य ही माध्यमासी तथा विक्रमकासीय थे।

कार्यायन के काम के विषय में मैक्समुलर, गोस्वस्तुकर आदि विद्वानों ने विस्तृत विचार किया है और तदनुसार अत्र निम्नलिखित रूप से उनका समय लगभग ३५० ई० पू० स्वीकार कर लिया गया है।<sup>२</sup>

१ सर्वासु शास्त्रपदवीषु विचक्षणोऽपि प्रबन्धान् व्यवाहृ गन्ति एव जनोपकारान् ।  
तैव्यप्रज्ञो बरहस्पिर्विशतोऽधरोद्भि प्राध्यामुवेत्यङ्गिरसिहसपि निबिरीषः ॥

—पतञ्जलिचरित सूर्य ८, वसो० ३।

२ गोस्वस्तुकरः वाचिनि—द्विज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६६ से।

## अध्याय २

### ग्रन्थ और ग्रन्थकार

#### महाभाष्य

ग्रन्थ-योजना—कार्यायन क लगभग २०० वर्षों बाद पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना की। इसमें उन्होंने पाणिनीय सूत्रों तथा उन पर लिखे गये व्याख्यानात्मक एवं पुरक वाकियों का विवेचन किया और मन्त्र-तन्त्र अपने इष्टि-वाक्यों का भी समावेश किया। महाभाष्य ८५ आह्विकों में विभाजित है, जिनकी विरक्षेपणात्मक समीक्षा में यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि महाभाष्य की रचना विषय-प्रतिपादन-शीली तथा उसका आह्विक कारमक विभाजन सब अत्यन्त नैसर्गिक है। उनकी रचना पूर्वयोजनानुसार वाक्यों अथवा वाक्य-अंशों के विभाग द्वारा नहीं की गई। व्याख्यानात्मक ग्रन्थ होने के कारण अष्टाध्यायी की योजना ही महाभाष्य की योजना है। पतञ्जलि अपने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए कुछ सूत्रों की विस्तृत समीक्षा करते बात से और बाद में उस समीक्षा को आह्विक रूप में लिख लेते थे। इसीलिए, भाष्य में कहीं-कहीं चालू प्रकरण को बीच में ही छोड़कर और कहीं एक प्रसंग के बाद दूसरा प्रकरण नाममात्र को प्रारम्भ करके ही आह्विक की समाप्ति की गई मिलती है। दूसरे शब्दों में महाभाष्य के ८५ आह्विक विधातियों को पढ़ाये गये ८५ दिन के पाठ हैं। आह्विक नाम ही इस बात का साक्षी है। पतञ्जलि ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणों के ग्रन्थों एवं समस्त वैदिक और श्रौतिक प्रयोगों का सूक्ष्म अनुशीलन करने के बाद महाभाष्य का प्रारम्भ किया था इसलिए व्याकरण का कोई विषय उनकी छेपनी से नहीं छूटा। उनकी निरूपण-शक्ति सर्वथा मौलिक और नैयमित्तिकों की तक-शीली पर आबूत है। अतः, पतञ्जलि के हाथों पाणिनीय ध्वान्त सूत्रों की समष्टिमात्र न रहकर पूर्ण एवं वैज्ञानिक जग मया और शीघ्र ही उसकी गमना विशिष्ट दर्पण के रूप में होन लगी। महाभाष्य की रचना के बाद फलतः आपिचल ग्राफ्टायन काचइत्सुन आदि व्याकरणों की परम्परा बन्द हो गई और सम्पूर्ण वेदा में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन और अभ्यासन प्रचलित हा गया।

पाणिनि पर पतञ्जलि की असीम श्रद्धा थी। उन्होंने पाणिनि का स्मरण भगवान् आचार्य मांसिक सुहृद् आदि विरोधियों के साथ किया है।<sup>१</sup> उनका विश्वास था कि भगवान् पाणिनि ने पवित्र स्थान में बैठकर बड़ी धुचिता एवं लग्नयता के साथ सूत्रों का प्रणयन किया है। इसलिये उनमें एक अक्षर भी अधिक या अघुय नहीं हो सकता।<sup>२</sup> उनके मत से सूत्र अन्वोचय प्रमाण है।<sup>३</sup>

१ कर्ब पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य क्लृप्तं प्रवृत्तम्।—भा० १, पृ०, १३ तथा माङ्गलिक आचार्यों बुद्धिशम्भमारितः प्रयुक्तम्।—१ १ १, वा० ७ पृ० १००।

२ वही, पृ० १७।

३ १ १ १, पृ० १११।

इसीलिए, उन्होंने दोग दिनेय को भी प्रमाण माना।<sup>१</sup> उन्होंने किसी प्रयोग के अग्यवा सिद्ध हो जाने पर भी सिद्धपर्यवेकमपापिनीयं तु भवति कहकर उस विधि का त्याग कर दिया।<sup>२</sup> इतना ही नहीं उन्होंने सूत्रों द्वारा प्रत्यक्ष न कही हुई, किन्तु अर्थित या संकेतित बातों को आचार्य की इच्छा-सीमी या आचार कहकर माय्य किया।<sup>३</sup> उन्होंने यत्र-यत्र आचार्य के कौण्ड की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया<sup>४</sup> और बतसामा कि सूत्र-प्रबन्ध के अतिरिक्त इमित्थि वेदित्त और निमित्थित तक से आचार्य का अभिप्राय जाना जा सकता है।<sup>५</sup> इसीलिए, कुछ विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि पराब्रह्मि कात्यायन क विद्वद् पाणिनि के समर्थक थे। यह बात उची स्थिति में किसी सीमा तक सगत कही जा सकती है, जबकि उन्होंने मूलतः अपना माय्य अष्टाध्यायी पर लिखा ही और बैसा करते समय प्रसंगवत्त कात्यायन के आशेषपरक वाक्तिकों का सम्बन्ध किया हो। महाभाष्य को देखने से ऐसा समता भी है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र विद्यमान हैं मछे ही भाष्यकार ने उनके विषय में कुछ न कहा हो किन्तु वाक्तिकों के विषय में बात ऐसी नहीं है। भाष्य में केवल उन्हीं वाक्तिकों का समावेश है जिनपर भाष्यकार ने टिप्पणी आवश्यक समझी। फिर भी सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि महाभाष्य वाक्तिकों पर लिखा गया है।<sup>६</sup> यहाँतक कि डॉ० कीलहार्न जैसे विद्वान् तक की यही धारणा है। और, इसी दृष्टिकोण से कात्यायन के महाभाष्यस्व वाक्तिकों का संग्रह ही कात्यायन का वाक्तिक-ग्रन्थ मानकर प्रकाशित भी किया गया है। भेरे विचार से भाष्यकार ने पाणिनि और कात्यायन दोनों पर एक साथ माय्य लिखा है। ऐसा करते समय उन्होंने उन सूत्रों को छोड़ दिया जिनपर न तो पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने वृत्ति, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों के अतिरिक्त कुछ कहा था और न पराब्रह्मि की वृत्ति से ही उन पर कोई नवीन बात कहने का अवकाश था। ऐसा करते समय उन्होंने पाणिनि के साथ कात्यायन के प्रति भी पूज्य भाव रखा यद्यपि प्राब्रह्मिका पाणिनि को प्रदान की। यह स्वामादिक था और उचित भी।

१ ७-१ १२, पृ० २१।

२ भा० १ वा० १८, पृ० ३१।

३ जबवाचापंप्रवृत्तित्तपियति नामेन तत्प्रसारणस्य बीभो भवति।—भा० २, पृ० ५६,

तथा ५८, ६० तथा एवा कृपाचार्यस्य शीली लक्ष्यते यत्सुस्य ज्ञातीपास्तुस्य ज्ञातीमिपुवदिगति।—भा० २, पृ० ८१; एतन्नात्ययत्पाचार्यो जबत्येवा परिभाषा।—भा० २ पृ० ८९ तथा आचार्यशाब्दतन्ना त्तिद्विर्भविष्यति।—१ १ १, पृ० ९५।

४ कौत्रलमात्रमेतवाचार्यो वर्णयति।—५ १ १, पृ० ४।

५ ६ १ ३७ पृ० ६५।

६. महाभाष्य इव ए अतिरिक्त दिस्वरण और दि वाक्तिकान् ओक् करयायन, ह्यायन इत्त इत्थिज और दि अवर ह्येव, भार ओरिजिनल वाक्तिकान् और तय सूत्रान् ओक् पाणिनि एव कौत्र और ह्येव और रिमासर्त।—दि इत्थियन सिस्टा० क्वा०, भाग २, पृ० २७०-७१।

७. दि महाभाष्य इव, और दि कर्त इन्वदाम्, ए कमेष्टी ओक् कात्यायन वाक्तिकान्।

कीलहार्न : कात्यायन ऐव पराब्रह्मि, पृ० ५१।

मौदह्य प्रत्याहार-सूत्रों को मिसाकर अष्टाध्यायी के कुल ३९९५ सूत्रों में से १९८९ सूत्रों पर पतंजलि ने भाष्य लिखा और रोप को बिना अपनी ओर से कुछ मिसाये परम्परागुसार ग्रहण कर लिया। उन्होंने इनमें से १२२८ सूत्रों पर केवल कात्यायन ने उपा २६ सूत्रों पर अथ भाष्यार्थों के भी प्राप्त वार्तिकों की समीक्षा की और ४३५ ऐसे सूत्रों पर भाष्य लिखा जिनपर वार्तिक उपलब्ध नहीं थे। इन सूत्रों पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्वतः मौखिक है। उन्होंने ३६ सूत्रों में वार्तिककार के मत को भात ठहरोकर पाणिनि का समर्थन किया और १६ सूत्रों को अनावश्यक ठहरोया। पतंजलि कात्यायनीय वार्तिकों के प्रथम भाष्यकार नहीं किन्तु सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार ब्रह्मण्य थे। उन्होंने कात्यायन के अनेक भाष्यार्थों से पाणिनि की रक्षा की यद्यपि ऐसा करने में नहीं-कहीं पाणिनि का आबन्धनता से अधिक पक्ष लिया।

महामाध्य-काल में संस्कृत भाषा की स्थिति—पतंजलि का युग वैदिक संस्कृति तथा वैदिक साहित्य के गिरते हुए प्रासाद को पूरी शक्ति के साथ स्थिर रखने के प्रयास का युग है। इस समय प्राकृत भाषाएँ विकसित हो रही थीं और जन-सामान्य में संस्कृत का प्रचार बटने लगा था। पाणिनि-युग में संस्कृत विभिन्न समाज की भाषा थी। अष्टाध्यायी के बीसियों सूत्र जिनमें दूर से पुकारने पुकार का उत्तर देने अभिवादन तथा उसके उत्तर, पुष्ट-प्रतिबन्धन मिथुह्यानुयोग मर्स्तिन प्रदानात् प्रदानात्मान आधीः, प्रिय आकोष गार्हा असूया आदि के प्रसवों में प्रमुक्क शब्दों के नियम दिये गये हैं, इस बात के प्रमाण हैं।<sup>१</sup> दृष्ट उस समय भी प्राकृत का व्यवहार करते थे।<sup>२</sup> आगे चलकर स्थितियों से संस्कृत का व्यवहार उठ गया। पतंजलि के समय तक माते-जाते शब्दों और शक्तियों में भी संस्कृत का प्रचार कम हो चला। फिर भी इस समय तक क्षत्रिय और वैश्य संस्कृत पुर्मतया समझते थे भले ही वैजम्दिन जीवग में वे पुर्मतया संस्कृत का व्यवहार न करते हों। पाणिनि के 'प्रत्यनिवादे ध्रुते (८-२-८३) सूत्र के वार्तिक इस कथन की पुष्टि करते हैं। ब्राह्मण-समाज में इस समय भी संस्कृत व्यवहार की भाषा थी। यद्यपि ब्राह्मणों का ध्यान व्याकरण की ओर से हट चला था। वे यह सोचकर कि लौकिक शब्दों का ज्ञान सोफ से और वैदिक शब्दों का वेद से ही हो जाता है फिर व्याकरण में धिर पचाने की क्या आवश्यकता व्याकरण पराप्तमृत बन रहे थे।<sup>३</sup> प्राचीनकाल में उपनयन-संस्कार के बाद पहले व्याकरण पढ़ाया जाता था और स्थान नाब करण अनुप्रदान ज्ञान का सम्यक ज्ञान हो जाने क बाद तब वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। पतंजलि के समय में स्थिति समत गई थी। अब ब्राह्मण-बालक भी व्याकरण को निरन्तर कहकर उसकी उपेक्षा करने लग गये थे।

पाणिनि के बाद भाषा में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। संस्कृत अब भी देश-भर के

१ ८-२-९३ से ८-२-१०५ तक।

२ 'असूत्रस्यसूपकेषु' तथा 'भो राजग्यविर्भा'।—८-२-८३।

३ पुरातन्त्रपुस्तकाली—संस्कारोत्तरब्राह्मणवा व्याकरण स्माधीयते। तेभ्यस्तत्र स्थान नाबकरभोनप्रदानात्त्रयो वैदिकः धर्मो उपनिषदयोः तद्वद्यते न तथा। वेदमनीत्य स्वरिता बक्यारो मवति वैशामो वैदिका शब्दाः सिद्धा लोकात् सौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।—

सिष्ट-समाज को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाबद्ध किये भी किन्तु प्राकृत भाषाएँ भी साहित्य में स्वीकृत हो चुकी थी। संस्कृत के प्राच्य और उदीच्य स्वल्प में बोझा बहुत अन्तर्यास्य और पाणिनि के समय से ही चसा जा रहा था। बह्वर्षक वैदिक बतुओं के किसी अर्थ का प्रचार एक प्रदेश में था और किसी का दूसरे प्रदेश में। पाणिनि ने इन मतभेदों का उल्लेख अपने सूत्रों में किया था। यास्क ने भी उदाहरण के रूप में बतसाया था कि सन् धातु यदि अर्थ में केवल कम्बोजों में बोसी जाती है। आर्य जनपदों में उसका प्रयोग विकार अर्थ में ही होता है। इसी प्रकार वा का क्रिया रूप में (काटने के अर्थ में) प्राच्य देश में व्यवहार होता है। उदीच्य जनपदों में उससे बने संज्ञा शब्द वाच का प्रयोग प्रचलित है।<sup>१</sup> यास्क ने इस कथन को पतञ्जलि ने भी उद्धृत किया। पतञ्जलि के समय में यह भेद और बढ़ गया था। उदाहरणार्थ इस समय जाने के अर्थ में सुषुप्त् में ह्रस्व धातु का मयब में रंङ् धातु का और आर्य जनपदों में गम् धातु का प्रयोग होता था।<sup>२</sup> अनेक शब्दों का प्रचलन बन्द होकर उनके स्थान में तत्सद्भा बूसरे शब्द व्यवहार में आ पये थे। यथा ऊप के अर्थ में उपिष्ठ ठेर के अर्थ में तीर्ण चक्र के अर्थ में कृतवत् और पेथ के अर्थ में पक्ववत् शब्द बल पड़ थे।<sup>३</sup> शब्दों के प्रयोग का विषय व्यापक हो चुका था। पाणिनि अथर्वसंहिता सतपचादि ब्राह्मणों और उपनिषदों से परिचित न था किन्तु भाष्यकार के समय में चारों संहिताएँ, शाक्य-वाक्य इतिहास पुराण वैदिक तथा ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थ बत चुके थे। रामायण महाभारत काव्य-ग्रन्थों तथा आख्यान-साहित्य की रचना हो चुकी थी। फलतः संस्कृत का शब्दकोष पहले से बहुत बढ़ा हो चुका था। ऐसे अनेक शब्द जिनकी सिद्धि अप्यस्यायी से नहीं होती संस्कृत में सम्मिलित हो गये थे।<sup>४</sup> बूसरी और साहित्य में गृहीत होने के कारण अपभ्रंश शब्दों को स्थिरता और मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ये शब्द सरलता से संस्कृत शब्दों में मिस जाते थे जिससे संस्कृत के भ्रंश का भय उत्पन्न ही गया था। संस्कृत शब्द बोझे थे और उनके अपभ्रंश नहीं अधिक। एक-एक संस्कृत शब्द के जनपद भेद से अनेक अपभ्रंश रूप प्रचलित थे। एक ही गो कहीं बोनी कहीं गाता कहीं पाबी और कहीं गोपोतकिन्ना बत गई थी।<sup>५</sup>

भाषा के उन्नयन में महामाध्य का योग—ऐसी स्थिति में पतञ्जलि ने भाषा के परिमार्जन का काम अपने हाथ में लिया। वे जानते थे कि उन बगों में फिर से संस्कृत का प्रचार तत्काल दुःसाध्य है, जो उस भूख चुक हैं। इसलिए, सर्वप्रथम उस समाज को कसकर पकड़ना लाभकर होता जो

१ शक्तिर्पतिकर्मा कम्बोजेस्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्थेषु भाष्यते षष्ठ इति। शक्ति-  
संभवात्वं वाक्येदुवाचमुदीच्येयुः।—अध्याय २, अण्ड २, सू० ८।

२ ह्रस्वतिः सुराष्ट्रेषु लंहतिः प्राच्यमध्येषु, पमिमेव त्वायाः प्रमुञ्जते।—आ० १ पु० २१।

३ एतेषां शब्दानामर्थेभ्योऽप्यान् शब्दान् प्रमुञ्जते।—तत्तथा ऊयेत्यस्य शब्दस्यार्थे च य-  
मुपितः।—आ० १ पु० १०।

४ आ० १, वा० ५, पु० २१।

५ प्राप्तिनाो वैशान्तिप्रयो न सिष्टिना।—२-४-५६, पु० ४९१ ९२।

६ आर्य वाप्याप्यायीमपीते। ये चात्रविहिता शब्दास्तान् प्रमुञ्जते। अर्थ नूनमव्याप्तपि  
जानाति।—६ १ १०९ पु० ३५६।

किसी-न-किसी रूप में उससे परिचित हैं। वे जानते थे कि भाषा का विकास र्मनगिक होता है। शब्दों का व्याकरण द्वारा विप्लव हुआ एक बात है और लोक में उनका प्रयोग दूसरी बात। उदाहरणार्थ, सारथि शब्द में व्याकरण द्वारा सिद्ध शब्द प्रवेता या किन्तु लोक में प्राजिता का प्रचलन या प्रवेता का नहीं। इस विषय में महाभाष्य का व्याकरण-सारथि-संवाद बड़ा मनोरंजक है जिसमें सारथि व्याकरण से कहता है कि भाषा प्राप्तिम (ग्रन्थसाधुता के ज्ञानकार) हैं इष्टिज नहीं।<sup>१</sup> इस संवाद से यह भी पता चलता है कि इस समय तक संस्कृत व्यवहार की जीवनत भाषा थी केवल पुस्तकों में यह सीमित न थी। नादिव्याजकोशे पुत्रस्य सूत्र पर भाष्य में विद्ये ह्य उदाहरण भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं। यह समय ब्राह्मणों के उत्थान का था। पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के विदर्भ अश्वमेधी और पुरसेन प्रवेश तक का शासक था। यज्ञ और कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ़ रहा था। स्वयं पुष्यमित्र ने जो अश्वमेध यज्ञ विद्ये से जिनमें एक पत्रकलि आचार्य थे। अर्ध के लोम से ब्राह्मण लोग यज्ञादि कर्मकाण्डों की ओर अधिक झुक रहे थे। पतंजलि ने इस वर्ग को व्याकरण की ओर उन्मुख किया। उन्होंने आर्यावर्त में रहनेवाले सिष्ट ब्राह्मणों के लिए अष्टाध्यायी का अध्ययन आवश्यक निरूपित किया और कहा कि ब्राह्मण को पद्यों-महित वेदों का अध्ययन निष्काम भाव से करना चाहिए। पद्यों में भी व्याकरण मुख्य है। वेदरसा तथा वेदज्ञान बिना व्याकरण के सम्भव ही नहीं है। अपठान् स्पेच्छन्तु है। भाषा का साधु ज्ञान ह्य बिना साधु और अपभ्रंस शब्दों में भेद कर सकना सम्भव नहीं है और न बिना व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किमे आम्बिजीव बनना शक्य है।<sup>२</sup> यों मनुष्य ईशानुग्रह या स्वभाव-गति से भी अष्टाध्यायी के अनुसार शुद्ध भाषा बोल सकता है, किन्तु वह इस बात का पता नहीं लगा सकता कि दूसरे लोग जो बोल रहे हैं वह कहाँ तक ठीक है।<sup>३</sup> उन्होंने साधु शब्दों के प्रयोग को अस्म्युद्वेगकारी बतलाकर भाषा की साधुता पर बहुत जोर दिया और इस प्रकार प्राहृतों के बढ़ते हुए प्रभाव को मवादात्म्य रोकने की चेष्टा की। कहने की आवश्यकता नहीं कि माप्यकार जैसे समर्थ विचारक से संस्कृत को बड़ी शक्ति मिली। इस काल में अनेक अधिकारी शब्दों का प्रथमन या हुआ ही शक ही अगली कई गताम्बियों तक संस्कृत की भाषा अधुम्य प्रवाहित रही। उसने प्रपल से व्याकरण अध्ययन का सर्वप्रमुख अंग बन गया और संस्कृत का जो स्वरूप उन्होंने निरर कर दिया वह आज तक वैसा ही बना हुआ है।<sup>४</sup>

महाभाष्य की रचना-शैली—महाभाष्य की रचना-शैली अत्यन्त स्पष्ट सरल एव प्रसारपुगमयी है। मर्तुहरि न एक पंक्ति में उसे 'अकथ्यमाने गाम्भीर्यापुस्तान इव सीष्ठन्वा' कहा है। इसमें दैनन्दिन व्यवहार में न जानेवाले शब्दों का प्रयोग नाममात्र को नहीं है। सम्ये समास या द्विष्ट शब्दावली का भी कहीं व्यवहार नहीं हुआ है। भाषा-सीष्ठव की दृष्टि से महाभाष्य छापीरभाष्य की अपेक्षा अधिक सरल है। छापीर्य ग्रन्थ होने के कारण मध्य

१ एकीकृत्य शब्दस्य बहुबोधप्रशंसाः। तदप्या गौरित्यस्य।—भा० १. वा० ९. पु० २२।

२ पद्यशास्त्रिक—पारम्भ।

३ १-३ १०९. पु० ३५९।

४ ८४४८. वा० ४१८।

उसमें स्वान-स्वान पर पारिव्यापिक और शास्त्रीय शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था फिर भी छोर-व्यवहार में आनेवाले निःसर्ग-सुन्दर और सुपरिचित सभ्यावली के प्रायः उपयोग होने के कारण भाष्य में भाषा-जाठिन्य नहीं आने पाया। भाष्य की विषय प्रतिपादन-शैली भी अत्यन्त मनोरम है। तात्पर्य यह है कि सरल सुनोच और निःसर्ग-रमणीय भाषा स्वान-स्वान पर बहवृत्त छटा और संवादक्य वाक्यों की मोहकता ने भाष्य में एक विशेष प्रकार की आकर्षण उत्पन्न कर दी है। जहाँ प्रतिपाद्य विषय कठिन और गम्भीर है वहाँ बीच-बीच में विनोदयुक्त वाक्य आसकर तथा समयोचित लौकिक दृष्टान्त-वाक्यों का समावेश कर उन्होंने विश्वास को पक्का करने का प्रयत्न किया है और प्रसंग को निर्भीक हो आने से बचा लिया है।

भाष्य की विषय-निरूपण-पद्धति अत्यन्त सीधी और सम्भाव्यारमक है। कठिन विषयों का प्रारम्भ 'इहमिह सम्प्रसार्यम्' जैसे वाक्यों से पाठक को पूर्ण आगच्छ करके किया गया है। पतंजलि पूर्वपक्ष की स्थापना अत्यन्त तन्मयता और निष्पक्षता के साथ करते हैं और फिर विषय उपन्यास जैसे वाक्यों से उत्तर पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वे बीच-बीच में 'कि वस्तुम्येतात् नमननुष्ममानं वस्यते' अथवा 'अस्ति प्रयोजनमेतत्। कथं तद्? जैसे सवादात्मक वाक्य आसकर पाठक का ध्यान सक्रिय की ओर आकृष्ट करते जाते हैं और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों के निरूपण के पश्चात् 'यथा न बोपस्तथास्तु' कहकर निर्णय पाठक पर छोड़ देते हैं। कभी कभी वे 'गानदीर्यस्वाहा' कहकर अधिक ग्राह्य पक्ष की पुष्टि भी कर देते हैं। कहीं-कहीं वे सूत्रों पर आश्लेष करनेवाले शक्तिशाली पर टीका कर अन्त में तर्क के साथ 'मथाम्यासमेवास्तु' कहकर सूत्रकार का समर्थन करते हैं। कहीं दोनों पक्षों के मत ग्राह्य होने पर उनपर होनेवाले आश्लेषों का निवारण-भाग कर देते हैं किन्तु अपन मत की स्थापना नहीं करते। अथवा 'उभयथा योभित्वापुत्र' कहकर दोनों पक्षों का समर्थन कर देते हैं। सभी विवाद-ग्रस्त स्थलों में उन्होंने पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में प्राचीन व्याकरणों के मतों का उल्लेख किया है और अन्त में लोक में प्रचलित प्रयोग तथा सर्व-सम्मत व्याकरण-विषयक मौखिक सिद्धान्त के आधार पर अपना निर्णय दिया है और जहाँ कहीं लोक-प्रयोग के आधार पर उत्तर देना आवश्यक नहीं जान पड़ा वहाँ 'देवा हातुमर्हन्ति' 'देव एव चानाति' जैसा विनोदात्मक उत्तर देकर काम चला लिया है। इस प्रकार उन्होंने व्याकरण जैसे गीरस विषय को भी सरस बना दिया है। वास्तव में उन्होंने सारा ग्रन्थ सिध्यों को पढ़ाते-सुझाते सिद्धा। इसीलिए, उसमें इतनी सजीवता और प्रासादिकता आ गई है।

भाष्यकार स पूरु अष्टाध्यायी पर अनेक वृत्ति-ग्रन्थ विद्यमान थे जिनमें सूत्रों के अर्थ उदाहरण और प्रत्युदाहरण दिये गये थे। इसीलिए, भाष्यकार यह मानकर चले कि उनके पाठक को यह सब अवगत है। उन्होंने अपनी व्याख्यान-पद्धति तीन उत्तरों पर आप्त की—सूत्र का प्रयोजन बतलाना पक्षों का योग्य अर्थ करते हुए सूत्रार्थ निश्चित करना और सूत्र की व्याप्ति बढ़ाकर या कम करके सूत्रार्थ का नियन्त्रण करना। सूत्र का प्रयोजन बतलाने के लिए वे अपना व्याख्यान 'किमुदाहरणम्', 'अयं योऽ' सक्रियकर्तुम्' जैसे वाक्यों से प्रारम्भ करते हैं। सूत्रार्थ का निरूपण करते समय 'अमुकपर किमर्थम्' 'कथमिदं विज्ञायते' तथा सूत्रार्थ का नियन्त्रण करते समय 'एवं कथंम्यम्' 'दस्युपनस्यातम्', 'इति वस्तुम्यम्' 'इत्यस्य प्रतिषेधो वातम्य' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

पाणिनि के मनोज्ञकृष्ण इष्ट-प्रयोग-शापक और अनिष्टनिवारक अर्थ छपाना पतञ्जलि का उद्देश्य था। इसलिये, जहाँ जहाँ सूत्र से यह काम छिद्य होता न दिखाई दिया जहाँ उन्होंने सूत्र का योग-विभाग किया या पूर्व बिप्रतिषेध से काम बताया। यदि कहीं सूत्र से अनिष्ट प्रयोग छिद्य होने लगा तो उसे शिष्टासम्मत होने के कारण 'अनभिधानम्' कहकर निवारित किया। इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन्होंने अनेक स्थानों पर पूर्वाचार्यों के बार्तिक उद्धृत किये और यदि उस बिचार ने समर्थक या विरोधी अनेक भाषार्थ हुए या किसी कारण उनका नाम ग्रहण सम्भव न हुआ तो वहाँ अपर आहु या अपर आह' द्वारा उनके मत का प्रतिपादन कर दिया। वाचिनकार द्वारा सूत्र अपना सूत्रस्य किसी पद का प्रत्याख्यान किये जाने के अवसर पर उन्होंने यथासम्भव सूत्रकार का पद ग्रहण किया। फिर भी उनकी दृष्टि सूत्रकार और बार्तिककार दोनों के प्रति आदरमुक्त रही। सूत्रकार के साथ उन्होंने बार्तिककार के लिए भी मगवान् सुहृद् और भाषाय विरोधियों का प्रयोग किया। सूत्रकार का समर्थन करने के लिये ही यदि आवश्यक हुआ तो उन्होंने बार्तिककार का खण्डन किया। केवल दो स्थानों पर 'एतदेक-भाषार्थस्य मङ्गलार्थं मुख्यताम्' तथा 'प्रमादद्वयमतदाभाषार्थस्य धन्यमनक्तुम्' कहकर उन्होंने सूत्रकार का दोष दिखसाया। किसी-किसी स्थान पर उन्होंने सूत्र के शब्दों में अन्तर प्रस्तावित किया और बैसा करने के काम भी बतसाये किन्तु अन्त में यह कहकर कि सूत्रकार ने अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण करने के लिए ही बैसा किया है, उन्होंने सूत्र को प्यो-ना-स्यो रहने दिया।

महामाप्य की भाषा—महाभाष्य को सरस और आकर्षक बनाने में उसकी भाषा ने बहुत अधिक योग दिया है। विरोधियों ने तर्कों का उत्तर देते समय भाष्यकार बड़ी कुमती व्यंग्ययी और कटाक्षपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी उस में चिड़ और भ्रूसकाहट की भी क्षमक मिसत्री है पर शुष्क सिद्धांत-निरूपण के प्रसंगों में इस प्रकार की अनिष्ट्यक्ति स्फूर्ति काने में ही सहायक हुई है। भाष्यकार की कटाक्ष-शैली के कुछ उदाहरण उपस्थित करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

- १ कि पुनरनेन बभ्येन? कि न महता कष्टेन तिर्य शब्द एवोपासो यस्मिन्नुपा-  
धीयमाने सन्देह स्यात् ।'
- २ आहो पुत्रयिका मात्रं तु भवताह ।'
- ३ संवा महतो बशस्तम्बस्तम्बानुहृष्यते ।'
- ४ परदस्ताति कार्याधि ।'
- ५ महि काको वास्यत इत्यविकाप निवर्तन्ते ।'

१ तवाचार्य सुहृदसूत्राच्छाष्यते।—५ ३-२०, पृ० ४३३।  
 २ आ० १, पृ० १५।  
 ३ आ० २, पृ० ३५।  
 ४ आ० २, पृ० ५२।  
 ५ १११०, पृ० १६९।  
 ६ ४ ३-५३, पृ० २३६।



- १ नेत्रेश्वर आजातपत्येति नापि बर्षसुत्रकारः पञ्चमपत्राये उत्सर्गा बाध्यन्तामिति ।  
 ७. तत्कारो च भवतिस्तद्देवी च ।  
 ८. अन्त्यभ्रमवान् पृष्टोऽन्यदाचष्टे । आस्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे ।  
 ९. ज्वरतप्ये नकुलस्मितं त एतत् । ज्वरके विहीर्षत एतत् ।  
 १०. योहि तत्पुत्र्यमारभते न तस्य दृष्टवार्तितो बहुश्रीहिः ।  
 ११. यदि प्रयोधे भर्म सर्वो सोकोऽभ्युदयेन युज्येत । कश्चेदानीं ज्वरतो मत्तरो यदि सर्वो सोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?  
 १२. कश्चेदानीमन्यो भवन्नातीयकः पुत्र्यः शब्दानां प्रयोधे सानु स्यात् ?  
 १३. तपोभयतस्याज्ञा रज्जुर्भवति ।  
 १४. अनुपपृष्टिताः स्मो र्वैरस्माभिः प्रथमीकवचनमास्थाव यो शुनोः प्रतिपेधो न वक्तव्यो भवति ।

महामाष्य के उपमान ग्याव बुष्टास्त और मूक्तियां भी कम मनोरम नहीं है । उम्होंने विषय में बड़ी रोचकता उत्पन्न कर दी है । उसके उपमान सुपरिचित हैं और प्रभावशाली भी ।  
 उदाहरणार्थ—

(१) महायमनुजन्मै शस्यकवञ्चनय उपभेतुम् । (२) यदि पुनरिदं वर्णां शकुनिस्तस्युः । शकनय आद्युगामिन्वाद् पुरस्तादुत्पतिता पश्चाद् वृक्षन्ते । (३) यदि पुनरिदं वर्णां आदिरत्यवत्सुम् । तद्यथा एक आदिरयो नैकाधिकरक्षस्वो मृगपदेशे पृषकस्तेपुपलम्भते । (४) कर्षं पुनरसन्नाम सिङ्गं शक्यं द्रष्टुम् ? मृगपुष्पात् तद्यथा मृगास्तृपिता अपोवाता पश्यन्ति न च तां सन्ति । गन्धर्वनगराणि यथा कूरतो वृक्षन्ते उपसृत्य च नापलम्भन्ते तद्वत् कर्षान् क्षयोरसि-सिङ्गं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽदिरत्यस्य गठी सती नोपलम्भते तद्वत् कर्षान् क्षयोरसि-सिङ्गं नोपलम्भते । यथा वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलम्भन्ते तद्वत् कर्षान् क्षयोरसि-सिङ्गं नोपलम्भते । (५) गायुधवदधिकारा । तद्यथागोमूत्रमेकदृष्टप्रवृष्टिं सर्वसमं चापं गच्छति तद्वदधिकारा । (६) बहुदकारि तस्वपि शास्त्रमनिवत् । तद्यथा अधिर्वद्वयं तद्ब्रह्मि । बहुदकारि तस्वपि शास्त्रं पर्यस्यत् । तद्यथा पर्यस्या मातृगुणं पूर्णं च सर्वमभिबर्षति । (७) स्वजनानि पुनर्नटमार्यानिवृत्तवन्ति । तद्यथा भटाणां स्त्रियो रज्जुना यो मः पृच्छति कस्य पूर्वं कस्य

- १ ११४७ पृ० २८७।  
 २ १-२-३९, पृ० ५१६।  
 ३ १-२-४५, पृ० ५३२।  
 ४ १४१३, पृ० १४३।  
 ५ २-१२४, पृ० २७९।  
 ६ भा० १, पृ० २२  
 ७. भा० १, पृ० २०  
 ८ ६१६८, पृ० ९६।

- ९ भा० २, पृ० ४४।  
 १० भा० २, पृ० ४०।  
 ११ वही।  
 १२ भा० २, पृ० ४२।  
 १३ ४१३ पृ० १७।  
 १४ वही पृ० १८।  
 १५. ४२-७०, पृ० १९४।  
 १६- ६११५७, पृ० १०८।

पूर्व संत तत्र सवेरवाङ् ।' (८) इतरेतराययानि कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तद्यथा गौर्नावि बद्धा नेतरवाणाम् भवति ।'

उक्त उदाहरणों में भाष्यकार ने अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रतिनिधि सम्पर्क में आने वाले उपमानों को लेकर उनका अपने ढंग से उपयोग कर लिया है और यह उपयोग इतना समान गुणक है कि पाठक उसके सहारे बिना तर्क के चकता की बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। यही स्थिति भाष्य में प्रयुक्त दृष्टान्तों की है। उपमानों के समान उनके दृष्टान्त भी सुपरिचित और सुग्राह्य हैं। यथा—

(१) मृदास्त्वदग्धरयवत् । तवास्त्वो मज्जो ममापि रवो दग्ध उभौ संप्रयुज्यावहा इति । एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्त्यन्तु नौ सम्प्रयोग इति ।'

(२) अम्यन्तरो हि समुदायस्यावयव । तद्यथा बृक्ष प्रचसन् सहायवर्ष प्रचलति । (३) अनिद्व बहिरङ्गमन्तरङ्गे एषा (परिभाषा) लोकात् सिद्धा । प्रत्यङ्गवर्ती साको सम्मुख्यते । तद्यथा पुष्पोऽयं प्रातरत्नाय यान्यस्य प्रतिघटीरं कार्याणि तानि छावत् करोति । एत सुहृदान्तत एम्बन्धनाम् ।' (४) मह्यम्यस्मासिद्धत्वावयवस्य प्रादुर्भावो भवति । न हि वेवदतस्य इत्तरि हृते वेवदतस्य प्रादुर्भावो भवति ।' (५) लोकाभिज्ञानात् सिद्धम् । लोकेऽपीषा ब्राह्मणामामत्यात् पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथा जातीयकोऽत्यस्तथा जातीयकोऽत्यात् पूर्व आनीयते । (६) तत्र प्रमुष्यमान पवार्ष निवर्तयति । कीलप्रतिकीलवत् । तद्यथा कील आह्वयमान प्रतिकीलं हन्ति । (७) प्रसक्तस्य चानामिनिर्बुतस्य प्रतिषेधेन निर्बुति शक्या वस्तु मामिनिर्बुतस्य । यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयामा मुह्यन्वा इति किं तेन हृत स्यात् ?' (८) न ब्रह्मप्यग्यत् प्रकृतमनुवत् तावन्वब्रुमवति । न हि गोषा सपन्ती सर्पणादेवाहिर्मवति ।' (९) अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा शास्वर्षं क्रुस्या प्रणीयन्ते शास्वश्च पानीयं पीयत् उपस्युस्यते च शास्वश्च माभ्यन्ते ।'

(१०) आमिषस्यायमावेश उच्यते स नैव पूर्वप्रह्वन गृह्यते नापि परप्रह्वनेन । क्षीरोवके सम्पुक्ते आमिषत्वात्प्रैव क्षीरप्रह्वनेन गृह्येते नाप्युदकप्रह्वनेन ।' (११) उममत आद्ये तान्तादिवत् । तद्यथा लोके यो ज्योस्तुत्यवस्योरेक प्रेष्यो भवति स तयो पययिष कार्यं करोति । यदा तु तमुभौ मुगपत् प्रेषयतो नाता दिशु च कार्यं भवतस्तत्र यद्यथाविराभाशी भवति तत उमयोर्न करोति ।'

इस प्रकार भाष्य ने जीवन के सामान्य तथ्यों के सहारे व्याकरण के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और परिभाषाओं की सृष्टि की है। उनके कुछ न्याय तो अत्यन्त प्रसिद्ध हुए । वे भी यद्यपि दृष्टांत ही हैं किन्तु उमकी अपेक्षा संक्षिप्त तथा विसिष्ट अर्थप्राप्ती । यथा—

१ ६-१-२, पृ० १३ ।

२ १ १ १, पृ० १०२ ।

३ १ १-५०, पृ० ३१३ ।

४ १ १-५६, पृ० ३४० ।

५ १ १-५७ पृ० ३६१ ।

६ १ १-५७ पृ० ३६४ ।

७ १ १ ५५, पृ० ४२१ ।

८ २-२ ६, पृ० ३३९ ।

९ ६ १ ३७ पृ० ६४ ।

१० ६ १-५०, पृ० ८१ ।

११ वही ।

१२ ६ १-८५, पृ० १२० ।

१३ वही पृ० १२१ ।

(१) कूपञ्जानकस्याय—कूपञ्जानकं कूपं कृतम् यद्यपि मृदा पांशुभिश्चावकीर्णो भवति सोऽयमु सञ्जातासु तत एव तं गुणं समासादयति येन स च होपो निर्हृष्यते भूयसा चाप्यभ्युदयेन योगो भवति। (२) कुम्भीवास्य—यस्य कुम्भ्यामेव भाग्यं स कुम्भीवास्य। यस्य पुत्रः कुम्भ्यां चास्य च नासी कुम्भीमान्य। (३) काकृतालीयस्याय—काकागमनमिदं तालपतनमिदं काकृ-  
तासम्। काकृताकृमिश्च काकृतालीयम्। (४) प्रासादवासिन्याय—ये प्रासादवासिनो गृह्णन्ते ते प्रासादवासिप्रह्वेन। ये भूमिवासिनो गृह्णन्ते ते भूमिवासिप्रह्वेन। ये उभयवासिनो गृह्णन्ते ते प्रासादवासिप्रह्वेन भूमिवासिप्रह्वेन च एवमिहापि। (५) अबाहृपाशीयस्याय—पूर्ववत्। (६) अशिरबिकस्याय—तद्यथा अशेर्मासमिति विगृह्य अशिरबिकस्यादुत्पत्तिर्भरपाशिकमिति। एव पञ्चसु कपासेषु संस्कृत इति विगृह्य पञ्चकपाल इति भविष्यति पञ्चकपालस्यां संस्कृत इति विगृह्य वाक्यमेव।

भाष्य में अनेक स्थानों पर मगोरम सूक्तियों और कृहावर्तों का जा जीवन के वास्तविक अनुभव पर आश्रित है, समावेश हुआ है। कनी-कमी ये सूक्तियाँ और कृहावर्तें सोदाहरण मिलती हैं और कमी साररूप में। भाष्यकार ने इन सूक्तियों का उपयोग अपनी बात की पुष्टि के लिए किया है। उदाहरणार्थ—

(१) द्विबद्धं सुबद्धं भवति। (२) महि मिक्षुका सन्तीति स्वास्थो नाभिधीयन्ते नच भृगा सन्तीति यवानोप्यन्ते। (३) समानयुग एव स्पर्श भवति। नह्याकृषामिक्ष्णी स्पर्षते। (४) अदुरक्षिप्रकर्ष एव स्पर्श भवति। महि मिष्कवत सतमिष्कवतेन स्पर्षते। (५) वै कामानां सुष्टिरस्ति। (६) बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। (७) पर्याप्तो ह्येक-  
पुसाकः स्वास्थो निरर्षनाय।

भाष्य में प्रयुक्त अनेक शब्द संस्कृत शब्दकोष की बसूय निधि हैं। विशिष्ट अर्थ में और विशिष्ट अर्थों पर प्रयुक्त होनेवाले बहुमुख्य शब्दों और वाक्यांशों से सम्पूर्ण भाष्य मरा पड़ा है। अनेक ऐसे अर्थयुक्त शब्द भाष्य में आये हैं, जिनके लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती। यह एक स्वतन्त्र विषय है, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द दिये जा रहे हैं—

(१) शब्दगुह्यमाश्रम् (शब्दों की बकवास-मर) (२) सप्टाशिका (अँटों की तरह जलन-जलन प्रकार से बैठना) (३) हृत्शामिका (मरे हुए लोगों की तरह अस्त-व्यस्त पड़े होना) (४) काकृषेया नदी (क्षीय कम जलवाली नदी) (५) मान्यासिक (जैसे वा रैसा) (६) बुकृषी (७) आहोपुषपिका (८) बर्हिकृ (जलते जलते घेत सानवामा

१ भा० १, पृ० २४।

२ १ ३-७ पृ० २७।

३ ५ ३-१०६ पृ० ४८०।

४ १ १-७ पृ० १५७।

५ ५ ३-१०६, पृ० ४८० (वही)।

६ ४ १-८६ पृ० १०२।

७ १ १-२२३ पृ० २४३।

८ ४ १ १, पृ० १३।

९ ५ ३-५६, पृ० ४४६-४७।

१० १ १-८५, पृ० ११९।

११ २ ३-२, पृ० ४०५।

१२ १ ४-२३, पृ० १५७।

- बैल या पशु) (९) संभुष्टक (एक घाघ बुर में जुगने वाले जोड़ीदार बैल)।  
 (१०) समाघ (सहमोज) (११) प्रत्यङ्गवर्ती सोन (पास की बस्तु को पहले देखनेवाले)  
 (१२) छापीन (टिङ्गा-मेङ्गा) (१३) भासंतर (अधिक उपयुक्त) (१४) भयत परिमाण (निश्चित  
 माप) (१५) पुण्यक (माल में फुल्कीवाला व्यक्ति), (१६) कालक (काले चित्तवाला)  
 (१७) कन्माय जपवा सारंग (कुछ-कुछ कामी कुछ-कुछ सकेन्द्र बस्तु) (१८) उपोवृषसक  
 (दब करनेवाला) (१९) विपादिका (घेर का फोड़ा) (२०) व्यसन अथवा विहरण  
 (फोड़ना या टुकड़े करना) (२१) अपस्किरण (भानन्दित बैल की सींग से मूमि लगीने  
 की क्रिया कुत्ते और मृगों की पाँव से मूमि कुरेदने की क्रिया) (२२) निप्रसाप (परस्पर  
 विरुद्ध बोलना) (२३) माम्यान (उत्प्रेष्यपूर्वक स्मरण) (२४) भयवस्य (मयेच्छ  
 काम करने की अनुज्ञा) (२५) निययिणी (मसेमी सीड़ी) (२६) प्रसित (कसकर बैल  
 हुआ) (२७) प्रजन (सन्तान) (२८) केजक (बालों का छोड़ना) (२९) मसक  
 (दायाद) (३०) बीररिक्त (पेट)। (३१) पयक (पखने में होधियार) (३२) लसक  
 (पाना बुना हुआ वस्त्र) (३३) उपाक (धीम करने योग्य काम को धीमता से करने  
 वाला) (३४) धीवक (धीम करने योग्य काम को डिमार्ड से करनेवाला) (३५) उषिका  
 (छपसी) (३६) पारवक (मीप डग से करने योग्य काम को बालकी या अनुनु उपाय से  
 करनेवाला) (३७) अय शूलिक (मुहु उपाय से करने योग्य कामों को और बबरदस्ती से  
 करनेवाला) (३८) हिमसु (बिना बर्त के पथ) (३९) शृंगारक (सींगवाला)  
 (४०) अवसोपथ (कुरिचत काम) (४१) बृहदिका (घास या बादर) (४२) अवबसीण  
 (दो व्यक्तिओं के बीच की गुप्त मन्थना) (४३) भागिर्धु (घासों द्वारा किसकी घास बर  
 की गई है, ऐसा बतपाह) (४४) भावपन (बोने का पात्र) (४५) नीघार (मूस)  
 (४६) बनक (द्रव्य की सारसा)। (४७) मुम (गाड़ी में जुगने योग्य बैल)। (४८) चंचा  
 (स्वार भावि पशुओं को डराने के लिए श्वेत में घास की बनार्ई हुई आकृति) (४९) भ्रूष्टं  
 (नाटक में स्त्री की मूमिका करनेवाला पुरुष)।  
 ये शब्द निदर्शनमात्र हैं। भाष्य से ऐसे शब्दों की बड़ी शक्तिचा उपस्थित की जा सकती  
 है और वह आधुनिक भारतीय भाषाओं की धीबुद्धि में बड़ी सहायक हो सकती है।  
 भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की स्थापना करते समय भी इस बात का ध्यान  
 रखा है कि वे सरलता से सर्वप्राप्त हो सकें। एतदर्थ उन्होंने सर्वत्र लोकविज्ञान या लोक-व्यवहार  
 का आशय लिया है। उनके अधिकांश शर्क चाहे वे पूजपथ के हों या उत्तरपथ के लोकाचार  
 पर टिके हैं। यदि उन्हें यह कहना हुआ कि प्रत्यय का स्थान निश्चित कर बैना चाहिए, अन्वया  
 ने कभी शब्दों के आदि में कभी मध्य में और कभी अन्त में होने लगेंगे तो वे इस बात की पुष्टि  
 के लिए एक सुपरिचित उदाहरण अवश्य बनें। जैसे गाय का बछड़ा कभी माँ के आगे कभी  
 पीछे और कभी पार्श्व में बछटा है। ऐसे उदाहरणों के सहारे भाष्य में अनेक परिभाषाएँ और  
 नियम स्थिर किये गये हैं। यथा—

(१) संनियोन-सिप्टानामन्यठरुपाये उमयोरप्यपाम ।<sup>१</sup>

साय-साय रहने शर्कों में एक के न रहने पर दूसरा भी नहीं रहता। जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त को मिलाकर कोई काम करना है। यदि देवदत्त नहीं करेगा तो यज्ञदत्त भी नहीं करेगा।

(२) सामान्येप्रतिबिष्यमाने बिसेपोऽप्रतिबिप्टो मवति ।<sup>१</sup>

सामान्य का अतिवेश करने पर बिशिष्ट का अतिवेश नहीं होता। जैसे इस धर्मिय के प्रति ब्राह्मणवद् व्यवहार करना चाहिए, ऐसा कहने पर उसके प्रति वे व्यवहार किये जाते हैं, जो सामान्य ब्राह्मण के योग्य होते हैं। माठर, कौशिक्य आदि बिसेप ब्राह्मणों के प्रति किये जाने योग्य व्यवहार का अधिकारी वह नहीं होता।

(३) अवेदका अपि गुणा वृष्यन्ते ।<sup>१</sup>

पुनवाचक शब्द अप्यनच्छेदक होते हैं। जैसे एक देवदत्त जटा रखने पर केच मुंडा सेने पर वा शिखा रखने पर भी अपनी भावना नहीं छोड़ता।

शब्दों के अनेक अर्थों तथा परस्पर समान दिखनेवाले शब्दों के अर्थ भेद पर भी भाष्यकार ने प्रसमानुसार विचार किया है, जिससे पता चलता है कि शब्दों के वैज्ञानिक प्रयोग के विषय में वे कितने सतर्क थे। भाष्य से बिहित होता है कि (१) नित्य शब्द स्थिर रहनेवाले पदार्थों के लिए व्यवहृत होता है (जैसे नित्या पृथ्वी नित्य आकाश) और आभीक्ष्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है (जैसे नित्य प्रहसित नित्य प्रकल्पित)। (२) जाति और बीप्सा में अन्तर है। जाति एकार्थभया है और बीप्सा अनेकार्थभया।<sup>१</sup> (३) नाम शब्द के अनेक अर्थ हैं। शास्त्रा समुदाय अर्थ में 'शामो दग्ध'। बाट-परिच्छेप अर्थ में 'शाम प्रविष्टः मनुष्यों के अर्थ में 'शामो गत' और सारथ्य ससीमक सस्वच्छलिक स्थान के अर्थ में 'शामो बध्य' प्रयोग देखा जाता है।<sup>१</sup> (४) यदि उसे कहते हैं जिसके बिद्यमान रहने पर उसके बाद कुछ अवश्य हो किन्तु पहले कुछ न हो और अन्त उसे कहते हैं। जिसके बिद्यमान रहने पर उसके पहले कुछ अवश्य हो किन्तु बाद में न ही। (५) कृत्यन और मर्त्सन में अन्तर है। कृत्यन अनुयाज्य होता है और मर्त्सन नोच-जन्य। (६) आसंसा और संभावना में भी अन्तर है। बिद्य वस्तु की आसंसा की जाती है, उसका स्वरूप मन में निश्चित रहता है। किन्तु, उसका भिन्नता धरय भी हो सकती है अतएव भी। बिद्य वस्तु की संभावना की जाती है उसका स्वरूप मन में निश्चित रहता है और उसकी प्राप्ति भी संभव रहती है।<sup>१</sup> ये दोनों भविष्यत्काल से सम्बन्ध रखती हैं। संभावना एक प्रकार से आशंसा की अवयवमृता है। (७) बिधि और अभीष्ट में भी भेद है। बिधि प्रपण या आज्ञा देन को कहते हैं और अभीष्ट बड़े सोपों को सत्कार-पूर्वक कोई काम करने को

१ ४१३६, पृ० ५४ ।

२ ६३६८, पृ० ३४५ ।

३ १११, पृ० १०५ ।

४ भा० १, पृ० १४ ।

५ ८१४, पृ० ९६६ ।

६ ११३६७, पृ० १५५ ।

७ ११२१, पृ० १९९ ।

८ ८१-८, पृ० २७० ।

९ ३-३ १३३, पृ० ३२३ ।

कहने का नाम है। (८) निमग्नम सप्रिहित को बुनाने और वामग्नम इत्यस्य को बुनाने के लिए प्रयुक्त होता है। निमग्नम नियोगत (आवस्थक) स्वीकार्य है और वामग्नम स्वेच्छ-पूर्वक। (९) पर घञ् के अनेक अर्थ हैं। व्यवस्था अर्थ में 'पूर्व पर' आदि अर्थार्थ में परपुत्र, परमार्थ और प्राधान्य अर्थ में 'परमिय बाह्यानी वस्तिन् कुटुम्बे और इष्ट अर्थ में परं भाम मत् प्रयोग प्रचलित हैं। (१०) इसी प्रकार एक घञ् भी बहुवचनक है। संख्यावाची तो विदित ही है। असहाय अर्थ में 'एकान्तिः, एकान्तिः क्षुद्रकैत्रिणम्' और मय्य अर्थ में 'समग्राधो घुम्न एकास्ता' प्रयोग प्रसिद्ध है। (११) मधयग्नं भास्यान का नाम व्याख्यात है। (१२) रूप और रूपन्, ब्रह्मन् और ब्राह्मन् पर्याय हैं। (१३) भोग शब्द घटीर-वाची भी है। (१४) पूर्वपुरुषों के निवासस्थान को अमिजन और अपने निवास-स्थान को निवास कहना चाहिए आदि।

महामाय्य की मौलिक रेल—व्याकरण के क्षेत्र में महामाय्य की मौलिक रेल सर्वोपरि है। शुक्ल सिद्धान्तों को सोकाभय छाकविज्ञान या छोक-व्यवहार के आधार पर सब-बुद्धि-गम्य बना देने का भेद्य तो उस (महामाय्य को) है ही मौलिक विचारों का समावेश कर व्याकरण को बचन का स्वस्व प्रदान करने का गौरव भी उस प्राप्त है। महामाय्य ने प्रारम्भ में ही घञ् की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि छोक में उस ध्वनि को घञ् कहते हैं जिससे व्यवहार में परार्थ का ज्ञान हो। ध्वनि करनेवाले वासक को छोग 'घञ्कारी' कहते हैं। इसलिये, ध्वनि ही घञ् है। यह ध्वनि वास्तव में स्फोट की वर्तक है। घञ् नित्य है और अर्थ उस नित्य घञ् का ही होता है। इस नित्य घञ् की ही स्फोट संज्ञा है। स्फोट की न उत्पत्ति होती है और न नाश। बोलते समय ध्वनि द्वारा उस नित्य स्फोट-रूपी घञ् का प्रकाशमान होता है और वही शब्द के मन में अपना अर्थबोध कराता है। इस दृष्टि से घञ् के दो भेद किये जा सकते हैं—नित्य और कार्य। स्फोट-रूपी घञ् नित्य और ध्वनि-रूपी घञ् कार्य या उत्पाद्य होता है। संघहकार व्याधि ने इस विषय पर बिसद विवेचन किया था और व्याकरण में घञ्-नित्यत्व की दृष्टि से उसके नित्यत्व और कार्यत्व दोनों पक्षों का स्वीकार किया था। पाणिनि ने भी इन दोनों पक्षों का सम्भव कर सूत्र-रचना की थी। भाष्यकार ने भी स्फोट और ध्वनि इन दोनों के दो स्वरूप स्वीकार किये और घञ् तथा अर्थ के सम्बन्ध का नित्य माना।"

१ ३३ १६१, पृ० ३३५ ।

५ ५ १-७, पृ० २९९ ।

२ १४२ पृ० ११४ ।

६ ५ १९, पृ० ३०० ।

३ १४-२१, पृ० १५० ।

७ ४-३-९०, पृ० २४४ ।

४ ४-३-६६, पृ० २३९ ।

८. मधया प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि-शब्द उच्यते। शब्दकार्यं मागवक इति ध्वनि पूर्वप्रेषमुच्यते ।—आ० १, पृ० २।

९. ही घञ्वात्तानो नित्यः कार्यवच ।—आ० १ पृ० ७ ।

१०. कि पुनराकृति परार्थं व्याहो उतपयापि लक्षणं प्रवर्त्यम् ।—आ० १ पृ० १३।

११ आ० १, पृ० १७ ।

शब्द के नित्य होने के कारण ही वर्ण भी कूटत्व भविष्यती तथा अपाय उपजन और विकार से रहित है। मद्यपि दण्ड शब्द का प्रथम और द्वितीय प्रकार मिश्र है। कास-व्यवसाय और शब्द व्यवसाय के कारण मिश्र-मिश्र दिखनेवाले वर्ण एकात्म होकर भी मिश्र हैं। एकात्म शब्द में व्यवसाय औपचारिक भले हों वास्तविक नहीं हो सकता। इसीलिए, आमम के कारण शब्द में विकार आता देखकर भाष्यकार ने आमम को भी आवेष्ट माना और सम्पूर्ण शब्द के स्थान में सम्पूर्ण शब्दान्तर को आवेष्ट स्वीकार किया। 'सर्वे सर्वपरावेष्टा' का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है अथवा एक-वेष्ट-विकार के कारण शब्द की नित्यता नहीं ठहर सकती थी। जिस प्रकार धीघ्र उड़नेवाले पक्षी एक क्षण में एक स्थान पर और दूसरे क्षण में अन्य स्थान पर दिखाई देते हैं अथवा जिस प्रकार एक सूर्य बनेवाधिकरतस्य होने के कारण एक साथ पृथक-पृथक स्थानों पर दिखाई देता है, उस प्रकार एक वर्ण स्थान-भेद के कारण मिश्र नहीं होता। वास्तव में शब्द शीघ्र द्वारा प्राप्त किया जानेवाला बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जानेवाला ध्वनि द्वारा प्रकाशित होनेवाला और आकाश में रहनेवाला विक्षिप्त तत्त्व है। आकाश के एक होने के कारण शब्द ही एक है, किन्तु आकाश-वेष्टों के अनेक होने के कारण वर्ण अनेक हैं।<sup>१</sup> व्यावहारिक दृष्टि से शब्द चार प्रकार के होते हैं—जाति-सम्बन्ध गुण-शब्द किया-शब्द और यदुष्णा-सम्बन्ध। यदुष्णा शब्दों का अन्तर्भाव क्रिया-शब्दों में मान लिया जाय तो तीनों ही प्रकार के शब्द रह जाते हैं। किन्तु, यह बात उन्हीं आचार्यों के मत में संभव हो सकती है, जो प्रत्येक शब्द को आस्पाठ्य मानते हैं। ऐसे ही शब्दों की निष्पत्ति के लिए पाणिनि को उपाधि प्रत्ययों की न्ययता करनी पड़ी। भाष्यकार ने इन्हें अभ्युत्पन्न प्रातिपदिक माना है।<sup>२</sup> शब्द या स्फोट को नित्य मानकर ही उन्होंने अक्षर को 'नष्ट न होनेवाला' अथवा 'व्याप्त करनेवाला' कहा है। अक्षर को पूर्वाचार्यों ने अपने सूत्रों में वर्ण संज्ञा की है। नित्यत्व और व्यापकत्व की दृष्टि से ही शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अक्षर-सामान्याय ही ब्रह्मरूपि है। उसी पर सारा वाक्य-सामान्याय अवलम्बित है। यह अक्षर सामान्याय-रूपी ब्रह्मरूपि शब्द-शास्त्र के ज्ञान से पुष्पित और सामु शब्दों के प्रयोग से फलित होती है और पत्र तथा तारों के समान अनादि काक से भास्वर पली जाती है। इसके ज्ञान से सर्ववेद्य-गुण्य-फल की प्राप्ति होती है।<sup>३</sup> इसीलिए, भाष्यकार के मत से एक भी शास्त्र-सम्मत

१ तत्र शब्दान्तराद्यशब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आवेष्टास्तर्हि मे भविष्यत्यनामकानां

सायमकाः।—१ १-२०, पृ० १९६।

२ सर्वे सर्वपरावेष्टाः वासोपुत्रस्य पाणिनेः।

एकवेष्ट विकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ (बही)।

३ नित्येषु च शब्देषु कटस्यैरविविक्तानिर्बन्धैर्वितथ्यमतपयोपजनविकारिभिः।—

भा०; शोभोपलक्ष्यबुद्धिनिर्वाह्य प्रयोषेवाभिरुचिस्त आकाशवेष्टाः शब्द एतं च पुनराकाशम्।

आकाशवेष्टा अपि बहुवचः यावता बहुवस्तसमावस्यमाध्यमकारस्य।—भा० १, पृ० ४२।

४ भा० २ पृ० ४५, ४७।

५ उच्चारयोऽभ्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।—७-२-८, पृ० १०६।

६ न क्षीयते न क्षतीति वासरम्। असनुते इत्यक्षरम् अथवा पूर्वदूषे वर्णस्वाक्षरनिधि

शब्द का साम्यक ज्ञान और सुष्टु प्रयोग स्वर्ग और लोक में कामचक्र होता है। शब्द के नित्य होने पर व्याकरण-शास्त्र की उपयोगिता 'निवृत्त' होने में है। यह अनिष्ट और इष्ट का नियमन करता है।' नैयायिकों के अनुसार जो शब्द की अनित्य मानते हैं, व्याकरण का लक्ष्य शब्द-सिद्धि है।

स्फोट बर्ण नित्य हैं। वे उत्पन्न नहीं होते, व्यंजक ध्वनि के उच्चारण से अभिव्यक्त होते हैं। ध्वनि-रूप बर्ण का प्रध्वंस होता है। इसी दृष्टि से बाणी एकैकवर्णवर्तिनी कही जाती है क्योंकि वह अग्रिम बर्ण बोलते समय प्रथम का त्याग कर देती है और वह प्रध्वंस हो जाता है। उच्चारण द्रुत विलम्बित और मध्य वृत्तियों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। द्रुतवृत्ति से उच्चारित बर्ण का उच्चारण यदि मध्यम वृत्ति से क्रिया जाय तो उसमें एक तिहाई समय अधिक लगता है। इसी प्रकार, यदि मध्यम वृत्ति से उच्चारित बर्ण का विलम्बित वृत्ति से बोला जाय तो भी एक तिहाई समय अधिक संगोप्य फिर भी तीनों स्थितियों में बर्ण का स्वरूप एक ही रहता है। उच्चारण के भेद से उत्पन्न अन्तर ऐसा ही है जैसे एक ही मार्ग को पहाड़ि बेर में पार करना है, वास्तविक उससे कम समय में और रथिक उससे भी कम समय में। उच्चारण-क्रिया से उत्पन्न होनवासी ध्वनि नित्य शब्द की व्यंजक है। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का मुख। जैसे कोई गमाड़ा बजानेवाला गमाड़े पर चोट मारकर कामे पकटा हुआ बीस रुप तक उस गमाड़े की ध्वनि सुन सकता है। किसी को तीस रुप पकन तक गमाड़े की ध्वनि सुनाई देती रहती है और किसी को चालीस रुप तक। स्फोट तीनों स्थितियों में समान होता है, अन्तर उसकी ध्वनि में होता है। इसी प्रकार शब्द का स्वरूप एक रहता है। ध्वनि भेद से द्रुत विलम्बित और मध्य वृत्तियों में भेद प्रतीत होता है।

पाणिनि के समय से ही शब्द की नित्यता और कार्यता को लेकर विचारकों में दो बरु हो गये थे। माप्यकार ने ४४ १ सूत्र के भाष्य में नैरय शाब्दिक और कार्य शाब्दिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने अपनी सामान्य समन्वयवादिनी नीति के अनुसार दोनों पक्षों को स्वीकार किया। व्याधि और पतञ्जलि ने दोनों पक्षों को दार्शनिकता की दृष्टि तक पहुँचाकर उनके सामंजस्य का उपर्युक्त मार्ग बूझ निकाला। व्यावहारिक रूप से भी उन्होंने इस प्रकार शब्द नित्यता की जो दोनों पक्षों को ग्राह्य ही सके। तदनुसार ही उन्होंने बर्णों के बर्णवत्त्व और निरर्णकत्व के विषय में भी दोनों पक्षों का समर्पण किया। बर्ण बर्णवान् है। एक बर्णवासी

कैसा किये। सोऽप्रमत्तरसमान्नायो वाचसमान्नाय पुष्पित् चतित्तवचनतारककम्प्रतिमन्वितो वैशित्तयो बह्वारान्तिः—आ० २ पु० ११।

- १ १-१-८४, पु० ११९।
- २ १ १ १, पु० १०२।
- ५ स्फोटः शब्दो ध्वनिः प्रध्वंसकः। कर्म भेदविधानवत्—स्फोटश्च तावदेव ध्वनि-कृता वृत्तिः। ध्वनिः स्फोटश्च दायमानो ध्वनिस्तु सकृत् कल्पते अग्नौ गृहीतश्च केवाग्निबहुभयं तत्त्व-वाच्यम्—१ १-७०, पु० ४४५।
- ६ १ १ ४४, पु० २६० से।



वातुर्ल, प्रातिपदिक प्रत्यय तथा निपात सार्धक होते हैं। शब्दों में वर्ण-व्यत्यय से वर्ण बदल जाता है। रूप रूप और मूय के अर्थ में अन्तर क सू और मू के अन्तर के कारण ही तो है। बल के निकाल देने पर शब्द का यह वर्ण नहीं रह जाता। बल में से बू निकाल देने पर शब्द से यह अर्थ उल्लस्य नहीं होता। बल का अर्थ ही पूर्वतया गट्ट हो जाता है। अनेक वर्णों का सञ्जात सार्धक होता है और बिनका सञ्जात सार्धक होता है उनके अन्वय भी सार्धक होते हैं। इसी प्रकार, बिनके अवयव निरर्थक होते हैं उनका सञ्जात भी निरर्थक होता है। एक अन्वय नहीं देख सकता तो सिकड़ों अन्वय भी मिसकर नहीं देख सकते। यही स्थिति बाहुका-वर्णों की है। वसुष्मान् अनेका देख सकता है ता उनका समुदाय देख भी सकता है। विस अनेका तैसवान् होता है और उनका समूह भी। दूसरी ओर वर्ण अनर्थक भी पाये जाते हैं। उनमें प्रतिवर्ण से अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। वर्ण के व्यत्यय अपास उपजम और विकार होने पर भी शब्दों के अर्थ में अन्तर नहीं आता। इत् क्स् और ह्रिय् वातुर्ल और उनसे बने तर्क, सिक्ता और सिह् शब्दों के अर्थ में वर्ण-व्यत्यय होने पर भी अन्तर नहीं पड़ता। श्लिष्ठी में वर्ण-सोप 'कमिता' में वर्णान्तर और 'वातक' म वर्ण विकार होने पर भी अर्थ में विकार नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि वर्ण सार्धक भी होते हैं और निरर्थक भी। जित प्रकार कई विद्यार्थी गुरु के पास अध्ययन करते हैं उनमें कुछ पठवान् होते हैं और कुछ अपठ। इसी प्रकार, कुछ वर्ण सार्धक और कुछ निरर्थक होते हैं।

पतञ्जलि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं और शब्द में वर्णान्तरान्तर की धर्मिता स्वाभाविक है यह भी स्वीकार करते हैं 'क्याकि लोक में एक-एक वर्ण को लेकर उसके छिद्र शब्द का प्रयोग देखा जाता है।'

भाष्यकार ने पर के चार अर्थ माने हैं—गुण क्रिया आहृति और इष्य। आहृति को ही ज्ञानि कहते हैं जो इष्य के मित्र या छिद्र होने पर मित्र या छिद्र नहीं होती। यह सामान्यभूत पवाच है और नित्य है। एक इष्य म उपलब्ध होने पर भी यह अन्वय इष्यों में बनी रहती है। यद्यपि घुब बूटस्व अविवाही अनपायोपजनविकारी अनुस्वत्यन्तमध्यययागी यह नित्य की परिभाषा आहृति में बटित नहीं होती क्योंकि पिण्डरूप्य मृत्तिका की पिण्डाहृति को मि गकर पटिवा बनाई जाती है एवं बटिकाहृति को मिटाकर कुण्डिका। उसी प्रकार, मुक्कर्म की पिण्डाहृति का मिटाकर रुक्क बनाये जाते हैं रुक्काहृति को मिटाकर कटक कटकाहृति को मिटाकर स्वस्तिक और उसको मिटाकर कुण्डल बनाये हैं। इस प्रकार, आहृति बरकती रहती है किन्तु इष्य नहीं रहता है। इसलिये जिसमें चरम या तत्प्राय गट्ट न ही उसे भी नित्य

१ भा० २ भा० सू० ५, ५० ७५-८९।

२ स्वाभाविकमभियानम्—१ २ १४ ५० ५८९।

३ भा० १ ५० १०।

४ यतहि तदुभितोषमिभ्र छिमेष्वापि स सामान्यभूत स शब्दः ? नैत्याह आहृतीत्यपि सा-

भा० १, ५० १।

मानना चाहिए। आइति या जाति म भी तत्त्व तो बना ही रहता है।' गुण और क्रिया इन्ध में ही रहती है। अतः मुख्य रूप से जाति या व्यक्ति (द्रव्य) में पदार्थ किसे मानना चाहिए, इस विषय में वैदिकदर्शनों के भिन्न मत थे। व्याधि द्रव्याभिधानवादी थे।' द्रव्याभिधानवादियों का कहना था कि प्रत्येक अर्थ (द्रव्य) के लिए शब्द नियत है। अतः प्रत्येक (प्रत्येक अर्थ के लिए) द्रव्याभिनिवेश होता है। इसलिए, एक शब्द से अनेक द्रव्यों का अभिधान सम्भव नहीं है। द्रव्य पदार्थ मानने से ही शब्दों के सिद्ध-बन्धन सिद्ध होते हैं। आइति अर्थ मानने पर 'गो पशु को बोधना चाहिए' यह वाक्य ही अर्थ हो जायगा। द्रव्य पदार्थ मानने से विशिष्ट गो बोधी या सकती है। इन्धने अतिरिक्त कोई भी एक (उदाहरणार्थ देवदत्त) एक शाय अनेकभिकरभस्म नहीं हो सकता। फिर जाति एक होकर एक शाय अनेक स्थानों में फैले रह सकती है। उत्पत्ति और विनाश के प्रसंग म भी आइति अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता। दबा या या के उत्पन्न और विनष्ट होने से सारी दबान या मो-जाति को एक शाय उत्पन्न या नष्ट होते नहीं देखा जाता। एक जाति के अनेक व्यक्तियों में वैकल्प्य भी देखा जाता है। कोई भी लच्छ होता है और कोई मुग्ध।' जाति किसी शरी के सब द्रव्यों को मिलाकर एक होती है और उसका आशय उसका अभिव्यक्त या प्रकाशक हुना है। अर्थात् सब आशययुक्त व्यक्ति उसका प्रकाशन करते हैं। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति के नष्ट होने पर उसका प्रकाशन बन्द हा जाना चाहिए और एक भी व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उस जाति की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। गोत्व जाति के प्रकाशन के लिए अतीत अनागत और बलमान के अनन्त गो व्यक्तियों का हाना आवश्यक होगा। इस प्रकार सारा संसार गो-व्यक्तियों से ही भर जायगा।

आचार्य ब्राह्मण्यमान जातिवादी थे। वे एक आकृति का अभिधान स्वाभाविक मानते थे। उनका कथन था कि गो कहने पर सुकल नील पीत आदि विशिष्ट रंग की गाय मन में नहीं आती। सब गो-समूह के विषय में एक-सी बुद्धि बनती है। इसीलिए यदि किसी को किसी विशिष्ट स्थान और काल में एक गाय दिखा दी जाय तो वह अन्य वेस काल और बयोञ्जस्या में अन्य गो को देखकर उसे भी ही समझ लेता है। इसीलिए, जब कहा जाता है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए या गुरा नहीं पीनी चाहिए, तो किसी भी ब्राह्मण का बध और किसी भी गुरा का पान निषिद्ध माना जाता है। यदि पदार्थ द्रव्य होता तो एक ब्राह्मण को न मारकर और एक गुरा को न पीकर काम चलाया जा सकता था। शब्द से यदि व्यक्ति का बोध हुआ तो जाति का बोध नहीं होगा और जब शब्द की दक्षिण एक व्यक्ति का बोध कराकर क्षीण हो जायगी अन्य व्यक्तियों का बोध उससे न हो सकेगा।'

१ भा० १ पु० १७।

२ द्रव्याभिधानं व्याधिराचार्यो ग्याय्यं मन्यते—द्रव्यमभिधीयते इति—१-२-६४  
भा० ४५, पु० ५९०।

३ प्रत्येकं सम्बन्धेष्टावेतस्मात् कारणात्केन शब्देनानेकस्यार्थस्याभिधानं प्राप्नोति—  
बही, भा० १, पु० ५९५।

४ बही, भा० ४६ से ५०, पु० ५९०-९१।

५ १-२ ६४, भा० ३५ से ४०, पु० ५८६ से ८८।

माप्यकार ने दोनों पक्षों पर सबिस्तर प्रकाश डाला है और दोनों का औचित्य स्वीकार किया है। उनके मत से पाणिनि भी दोनों पक्षों को स्वीकार करते थे।' पतञ्जलि के मत से शब्द न केवल जाति और न केवल व्यक्ति का अपितु जाति और व्यक्ति दोनों का निर्देशक है। उसमें कभी जाति और कभी व्यक्ति बर्ण का प्राधान्य रहता है। जब व्यक्ति वर्णप्रधान रहता है तब जाति मौन हो जाती है और बहुवचनानादि का प्रयोग सगत होता है। जब जाति प्रधान होती है और व्यक्ति अप्रधान तब शब्द में एकवचन का प्रयोग न्याय माना जाता है। इस प्रकार, 'सम्पन्नो यव' और 'सम्पन्नो यवा' दोनों प्रयोग साधु माने जाते हैं।'

अहस्त्वार्था और अजहस्त्वार्थावृत्ति अन्वय-व्यतिरेक सज्ञा और संज्ञी गुणों का भेदकत्वान्भेदकत्व काल-विभाग किया जाति गुण इव्य आदि के विषय में विचार करते समय भी पतञ्जलि ने अनेक मौलिक विचार प्रकट किये हैं। शब्दों के प्रयोग वाक्य में शब्दों का स्वाम सामर्थ्य शब्दों के निष्पत्तिविषयत्वादि के सम्बन्ध में उनके द्वारा व्यक्त विचार किसी भी भाषा पर लागू होते हैं। उनके मत से छिन्न का अनुशासन व्याकरण नहीं कर सकता। वह सर्वथा लोकाभिध होता है। यही बात शब्द प्रयोग के विषय में है। व्याकरण का काम व्यवस्था करना है। वह संस्कार कर पदों को व्यवहार के योग्य बतला देता है। शोक एक पद का दूसरे पद के साथ यथेष्ट सम्बन्ध जोड़कर प्रयोग करता है।' पद की वृद्धि से व्याकरण का सम्बन्ध है। प्रयोग शोक का अधिकार है। उदाहरणार्थ पक्ष और न्यग्रोध को छेँ। शब्द की वृद्धि से शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। पक्ष न्यग्रोध है और न्यग्रोध पक्ष। फिर भी शोक में ये शब्दों दो अलग बृत्तों के लिए व्यवहृत होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'कारणाद् द्रव्ये शब्द निवेश' की अपेक्षा 'वर्धनं हेतु' का सिद्धांत अधिक ठीक है। वास्तव में शब्द 'नियतविषय' होते हैं। उदाहरणार्थ गाय और अश्व दोनों का रंग लाल होने पर भी गाय को लोहित कहा जाता है और अश्व को घोष समान रूप से कासा रंग होने पर भी पौ कुण्ड और अश्व हेम कहलाता है। इसी प्रकार, तुल्य रूप से शुक्ल वर्ण होने पर भी यो श्वेत कही जाती है और अश्व कर्क।' यह भी देखा जाता है कि शोक मुनित्रा के लिए पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य के एकदेश और पूर्ण शब्द के स्थान पर शब्द के एक देश से ही काम चला लेते हैं। विवक्षा के अनुसार एक देश या सम्पूर्ण वा प्रयोग होता है। विवक्षा दो प्रकार की होती है—प्रायोगिकी और औक्तिकी। प्रायोगिकी विवक्षा वह है, जिसमें वक्ता मूढ, स्निग्ध और हसल्य बानी से स्वयं मूढ, स्निग्ध और हसल्य शब्दों द्वारा कोई बात कहे। औक्तिकी विवक्षा प्रायः सामान्य लोगों में प्रचलित शब्द की

१ भा० १ पु० १३।

२ जातिशब्देन हि इव्यमप्यभिधीयते जातिरपि—तद्यथा इव्यामिपानं तथा बहुवचनं भविष्यति यथा सामान्यामिपानं तद्वचनं भविष्यति।—१-२-५८, पु० ५५९।

३ २१३६, पु० २९३

४ शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम्।—३-१९१, पु० १६४।

५ संसृज्य संसृज्या परावृत्त्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टनमित्तम्बन्धो भवति।—१११, पु० ९८।

६ २-२-२९, भा० १० से १३ पु० ३८४।

कहते हैं। लोक और प्रायः समानार्थी समझने चाहिए। जो भी बाधक बोला जाय वह स्वयं में पूर्ण होना चाहिए क्योंकि मापेस बाधक अर्थ-व्यक्ति में असमर्थ होता है।

पतञ्जलि अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता के बल से पीछे ही आचार्य-परम्परा में सर्वाधिक प्रमाण मान जात लगे। व्याकरण-शास्त्र में महाभाष्य का उच्च भाव्य वन गया और न केवल महाभाष्य-विरोधी अपितु महाभाष्यानुक्त तक महाभाष्य की वाटि में पिना जाने गया। इसीलिए, उन्होंने 'इष्टमेवैतत्संपूर्णं भवति' कहकर जिन पाणिनि-कात्यायानानुक्त वातों को ब्राह्म कह दिया वे तो ब्राह्म हो गईं। किन्तु जिन वातों को न कह सके और परम्परी वैभाष्यियों ने संपूर्णित कर लिया वे ब्राह्म न बन पाईं। उणाहुरगार्भ काशिकाकार ने बहुवीहि र्वीतिम में जो मूर्डगी मूर्डगा मुगात्री मुगाबा म्मिग्वकृष्ठी स्मिग्वकृष्ठा ये दो-ग रूप माने थे उन्हें मट्टोजिनीयत्र भाषि ने 'भाष्यानुक्त' कहकर अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार, काशिकाकार ने मुनिवय हाग अनुक्त किन्तु कात्या में प्रयुक्त वातों के लिए वा नवीन बंधन जिये उन्हें भी र्वमट्टारि न भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण ठहरा दिया।

### महाभाष्यकार पतञ्जलि

जीवन-चरित—महाभाष्यकार पतञ्जलि के जीवन के विषय में प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नहीं है। रामप्रद दीसिन के पतञ्जलि-चरित के अनुसार वे रोप के बबठार थे। एक बार भयवान् बिष्णु रोप के ताग्जव नृत्य को ममरबलुर्षों से देखते देखते ध्यान-मग्न हो गये। उनके स्थिर धार से रोपनाथ को अग्न्यत्त नाम हुआ। ध्यान टूटने पर रोप ने बिष्णु से उनके अपूर्व पुरभाग का काण्य पूछा। बिष्णु द्वारा मनोरम बयन सुनकर रोप के मन में भी ताग्जव देखने की इच्छा प्रायगिब हुई। रोप के प्रार्थना करने पर बिष्णु ने धार्पीवदि दिया कि भयवान् नीलकण्ठ की हया से पाणिनि ने व्याकरण-शास्त्र तथा कात्यायन न जस पर बालिकों की रचना की है। वे बालिक भयान्त कठिन हैं। नीलकण्ठ भयवान् तुम्हें उन बालिकों का भाष्य करने की आज्ञा देये। तब तुम उनकी आज्ञा से मूठक पर भबठार लेकर चिरम्बर-लेख को जाओगे और वहाँ विष-नस्य का दर्शन करोगे।

तदनुसार, पृथ्वीतल पर योग्य भाषा की विष्ठा में भूमते हुए एक लपोवन में रोप ने बीभिका नाम की मुनि-कन्या को देखा जो पुत्र प्राप्ति की कामना से अमरवट तप में समग्न थी।

- १ ५ १ १६, पृ० ३०६।
- २ सापेक्षाममयं भवति।—५ १ ११९ पृ० ३५९।
- ३ २-४-७४, ४ १-७४, ४ १-८७ आदि।
- ४ यथा ईद्वेदिकवर्णप्रप्लवम, १ १ ११ पर मधीवादीनां प्रतिषेधोक्तस्यः।
- ५ भाष्यबालिकारान्यामपठितात्वात्प्रमाणमेतत्।—संघट।
- ६ भोगीश्वर तेषां मुनिबालिकानामसोपविष्टवज्रप्लवाम्।—  
भाष्यं महत्तु बुद्धिं अस्तरकी नियोज्यते स्वां किलमोक्तकण्ठे ॥  
तथा नियोपास्तस्यधमेधुमीलेर्भरातलेत्वं विद्वितावताः।  
चिरम्बरलेखतः पविर्बं नमोत्सर्षं इत्यस्ति तुलसीनाम् ॥—पत्र० चरित, १-६३, ६४।

उसे देखकर शेष ने मन में उसे मातृरूप में स्वीकार कर लिया। और, एक दिन जब वह गगनात् अशुभासी को अर्घ्य दे रही थी वे तापस का रूप धारण कर उसकी अञ्जलि से नीचे गिर गये।<sup>१</sup> और फिर, ज्यों ही प्रथम के लिए माता के चरणों पर झुके कि उसने उठाकर कहा—तुम मेरी अञ्जलि से नीचे गिरे हो अतः तुम्हारा नाम पतञ्जलि होगा।<sup>२</sup> पतञ्जलि वास्यावस्था में ही उप के लिए जब दिये और अपनी बलाघ्न तपस्या से शिव को प्रसन्न कर उन्हीं विद्वान्-टीर्थ में शिव-मूर्त्य बैठा। यहीं शिव ने उन्हें पञ्चाशत् ब्राह्मणों का भाष्य करने का आदेश दिया। तदनुसार, पतञ्जलि ने कात्यायन के ब्राह्मणों का भाष्य किया। यह भाष्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि सहस्रों की संख्या में पण्डित लोग उनके पास अध्ययन के लिए आने लगे। पतञ्जलि अपने और शिष्यों के बीच एक मोटा परदा डालकर अपने शरीर को गुप्त रखते हुए उन सबको एक साथ पढ़ाने लगे।<sup>३</sup> वे कथिपति रूप में सहस्र मुखों से एक साथ पढ़ाते थे। इसलिये, उन्हीं शिष्यों से यह विद्या कि जो कोई इस पद्ये को उठाकर भीतर छकिया वह मेरा अपसाव-भाजन होगा। वे ब्राह्मणों में कुछ को कम करते हुए, कुछ को यथावत् ग्रहण करते हुए और कुछ को व्याख्या द्वारा और समुग्मक बनाते हुए पढ़ाने लगे। एक बार छात्रों से न रहा गया। वे इस बात का रहस्य जानने को आतुर हो उठे कि ये प्रत्येक छात्र को एक ही काल में असम-अलग कैसे पढ़ाते हैं और अत्युक्तवाचक उन्हीं परवा उठा दिया। परवा उठाते ही वे शेष रूप के शैव से दण्ड होकर कामदेव-जीसी दद्या को प्राप्त हुए। कमस एक विद्यार्थी जो बाहर जाऊँ लगे गया था बच रहा। उसे भी बिना आज्ञा बाहर जान के कारण शक्ति ने राक्षस-शरीर पाने का शाप दिया किन्तु पश्चात् अनुत्पम से प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हें जो विद्वान् मिले उनसे पञ्चाशत् का निष्पन्न-भाष्य में रूप पूछना और जो विद्वान् मुझ उत्तर से उभे धरा महामाष्य पढ़ना। तब तुम पाप से मुक्त हो आभोगे। इसका बाद पतञ्जलि वहाँ से तिरोहित हो गये और फिर उन्हीं योगमूत्र एवं वैद्यक-शास्त्र पर ब्राह्मणों की रचना की। पश्चात् उन्हीं मोनर्ष वैद्य में जाकर जननी (गोबिका) को प्रथम किया और उसके स्वर्गस्थ हो जाने पर वे शेष रूप को प्राप्त हो गये।<sup>४</sup>

१ तत्र कल्पि बहुषो मुनिकम्पा मोभिकेति गुणतिश्रुत्वेन । मा हि यापयति पुत्रनिमित्तं ब्राह्मणेन तपसा दिवसति । तस्मिन्ताप्य असमञ्जसिमुञ्च सा सहस्रकिरणं प्रति वैवम् । याव-  
दुत्तिष्ठति तावदमुष्मत्तापसाहृतिरहिः संपपातः ।—बही २-७-११ ।

२ स तदाभिर्बर्हिर्दु प्रभतं प्राद् आपतस्य जननी विततान् । तपतप्रमदब्रह्मजितोप्रो-  
तपतञ्जलिरिति प्रविमानम् ।—बही २-१९ ।

३ तदनु यवनिकी वितरय गूर्धं बपुरतया च पतञ्जलिनियाय उपविष्टत बहिस्तिरस्क-  
रिष्याः पठत इति च ममेति तानुवाच ।—बही ५-५ ।

४ किमपि विघटयन् किमप्यनुग्मज्जान् किमपि तमुग्मबल्यंश्च ब्राह्मिनेयुः—बही ५-१२ ।

५ सूत्रानि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च ब्राह्मिकानि ततः कृत्वा पञ्जलिमुनिः ।  
प्रचारयामास जपदिर्दं ब्रानुम् । मोनर्षस्यै वैद्यं प्राप्य नमस्कृत्य गोबिकां जननीम् तस्यां  
त्रिदिग्गतायां तस्यो शेषः स्वयं स मुनिः ।—बही, ५-२५, २६ ।

पर्वत्रलि चरित काव्य है। अतः स्वामाधिक है कि उसका क्यातक कल्पनाओं पर आधारित हो फिर भी इससे इतना स्पष्ट होता है कि पर्वत्रलि का माता का नाम गोपिका या और के पौनर्द के निवासी थे। वे बिदम्बरम् म भी रहे और वहीं उन्होंने महाभाष्य की रचना की। मधुसूदरि का यह कथन कि महाभाष्य की प्रति नेबल दाक्षिणात्य प्रदेश में ही पाए रहे गई थी भाष्य का इतिहास भारत स बलिष्ठ सम्भव अथवाय मूचित करता है यद्यपि इसमें यह भी संकेत निहित है कि भाष्यकार इतिहास क नहीं थे।<sup>१</sup> संभव है, इस मुद्रक प्रन्थ में वे गोनरीय नाम स भी प्रख्यात रहे हों।

समुभाष्य-विषयक किबरली—बुछ बिद्वान् महाभाष्य को गोनरीय-विरचित समुभाष्य का विस्तृत रूप मानते हैं। महाभाष्य का महान् धर्म सापेक्षिक है। इस मन क अनुसार पौनर्द देश में एक ऋषि ने गिप्यों को व्याकरण पढ़ाते हुए अप्याम्पायी भाष्य की रचना की। वह लघु भाष्य था। इससे ऋषि के मन को समाधान नहीं हुआ। एक दिन सम्प्रा करते हुए उन ऋषि की बंजलि स एक बाल ऋषि गिरा जिसका अन्वयं नाम पर्वत्रलि पड़ गया। पर्वत्रलि ने मूस भाष्य में शास्त्रीय विवरण अधिक जोड़कर उस महाभाष्य नाम दे दिया। समुभाष्य और महाभाष्य में मतभेद कही नहीं है। उसमें लघुभाष्य को पूरा आत्मसात् कर लिया गया है। इसी कारण कालान्तर में समुभाष्य लिप्ययोजन होकर नष्ट हो गया। महानाष्य में गोनरीय नाम से सर्वत्र लघुभाष्य क कर्ता का ही मत उद्भूत है। इस मत की पुष्टि म अन्य प्रमाण भी दिये जा सकत हैं। महाभाष्य का 'उक्तो भावनेशो भाष्ये' कथन किसी अन्य भाष्य की ओर संकेत करता है क्योंकि कोई भी ग्रन्थकार पीछे कही हुई या वाग कही जानवाची बात क लिए उक्त पूर्वम्' या 'ब्रह्मते' निर्देश करता है।<sup>२</sup> प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम का उल्लेख कोई नहीं करता। इसी प्रकार, महाभाष्य में 'तस्यानुशासत्' (११ १८६) सूत्र के प्रसंग में 'ब्रह्मरूपस्य परिहारम्' कहा है और उसका परिहार आनेमुक्' (७-२-८२) सूत्र क भाष्य म दिया भी है। मही भी ब्रह्मति किया का कर्ता समुभाष्यकार ही है अन्यथा ब्रह्मति' के स्थान पर ब्रह्मति' प्रयोग किया जाता। लघुभाष्य का प्राप्त नहोना उसके अस्तित्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता या क्योंकि अधिक उपयोगी ग्रन्थ की रचना के बाद पूर्व ग्रन्थ का प्रचार प्रायः अन्त हो जाता है। यह बात अन्य अनेक ग्रन्थों के बारे में पीछ कही जा चुकी है। महाभाष्य क प्रारम्भ में ही व्याकरणभाष्यन के साथ बतसाते हुए कहा गया है कि 'ठिन्य एव विरठिपसबुद्धिम्योऽन्वयस्य मुहुर्मुत्वाऽऽचार्य इरं घस्तनमन्वाचष्टे। इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणाविति। इम वाक्य म भाषाय-पर लघु भाष्यकार गोनरीय क लिए प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि क लिए यह विषयपत्र नहीं हो सकता क्योंकि अष्टाध्यायी में कहीं भी व्याकरणभाष्यापन के प्रयोजनों का उल्लेख नहीं है और पर्वत्रलि

१ घः पर्वत्रलिसिप्येभ्यो नष्टो व्याकरणागमः।  
काले स इतिहासयोषु ग्रन्थमात्रे व्यबस्थितः॥—बाधमपरोय

२ गोनरीयेने कल्पयिषु ऋषयः सम्प्राकरणासमये पठित इत्यतिहासम्।—जागोबिन्दु

समुभाष्येनुरीकर।

३ भाष्य १-१-१९ तथा १-४-६७।

स्वयं अपने लिए आचार्य विधेय का प्रयोग करते कैसे? इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य के पूर्व एक सधुभाष्य ग्रन्थ अथवा विद्यमान था और उसका कर्ता गोनर्दीय था।<sup>१</sup>

क्या गोनर्दीय और योगिका-पुत्र पतञ्जलि हैं—महाभाष्य में बार बार गोनर्दीय मठ उद्धृत मिश्रा है। १ १ २१ सूत्र की व्याख्या में आदि और अन्त की 'अपूर्वसप्तम आदि-रजुतरसप्तमोऽथ' इस परिभाषा में 'सति त्वस्मिन्' यह आइने का परामर्श देते हैं। १ १ २९ सूत्र के अन्तर्गत वे 'अकल्पवरो तु कथम्यो प्रत्यङ्गं मुक्तसंख्यी' कहकर त्वत्स्मित्कः, मकरिपत्कः प्रयोगों का समर्पण करते हैं। १ १ ९२ सूत्र में भाष्यकार ने काठकटीकारम् प्रयोग का समर्पण करते हुए 'इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्य' कहा है और ७-२ १०२ सूत्र के भाष्य में 'अतिहराम् अतिजटः स्मों के समर्थन में गोनर्दीय 'इष्टमेवैतत् संगृहीत भवति' कहते हैं। उपरोक्त चार स्थानों में स तृतीय में पतञ्जलि की ओर हस्त-या सन्त मस कहा जा सके अथवा कहीं गोनर्दीय से भाष्यकार की ओर सन्त नहीं है। तृतीय सूत्र में भी पतञ्जलि की अपेक्षा 'सधुभाष्य' का अस्तित्व अधिक प्रकृत होता है। १ ४-५२ के भाष्य में योगिका-पुत्र का उल्लेख है, जहाँ वे 'नैतावन्स्य मुष्मन्' और 'नैतावन्स्य मुष्मस्य' इन दोनों प्रयोगों का समर्थन करते हैं। कैपट ने १ २-२९ सूत्र की टीका में गोनर्दीय को भाष्यकार माना है और नागोजिमट्ट ने १ ४-५२ की टीका में योगिका-पुत्र को भाष्यकार कहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र में पाँच बार गोनर्दीय और आठ बार योगिका-पुत्र का मठ उद्धृत किया है, जिनमें १-५-५ सूत्र पर 'अन्य कारजवदात् परपरिगृहीतापि पाशिकी अतुर्षीति यागिकापुत्र' और १ ४-५५ सूत्र पर 'उत्कन्तवाकमावाक्यमुवतैरुप चारान्यरवाद् अष्टमी मानर्दीय' कहा गया है। इससे प्रथम के मठ से चार और द्वितीय के मठ से आठ नायिकाएँ सिद्ध होती हैं। यात्रक प्रकाश आदि कोशकारों ने गोनर्दीय को पतञ्जलि स्वीकार किया है किन्तु महाभाष्य में गोनर्दीय या योगिका-पुत्र से उनके पतञ्जलि होने की प्रतीति कहीं नहीं मिलती। गोनर्दीय को मूल भाष्यकार मान लेने से अनेक संज्ञाओं का समाधान असम्भव हो जाता है फिर भी गोनर्दीय और योगिका-पुत्र एक ही नहीं जान सकते। सम्भव है योगिकापुत्र पतञ्जलि हों। तब भी यह संका सेप ही रह जाती है कि क्या वैदिक विद्वान् और वैयाकरण मानर्दीय और पतञ्जलि कामशास्त्र के भी अधिकारी ज्ञाता थे। धीरानेहवाल मित्र और डॉ० कौस्तुभ ने युक्तिपूर्वक गोनर्दीय और योगिका-पुत्र को पतञ्जलि से भिन्न सिद्ध किया है।<sup>२</sup> अन्य किसी ग्रन्थ में ता इनके कामशास्त्र होने का उल्लेख नहीं मिलता। पतञ्जलि को ४-२ ९३ की टीका में कैपट ने नागनाथ अथवा कहा है। अत्रागि ने चरक की टीका के प्रारम्भ में उन्हें अहिपति क शास्य गतावाक्यय दोषों का हृष्टा और चरक का प्रतिस्पर्धता कहा है।<sup>३</sup> भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ में उन्हें 'अभिन्तु' विरोध से वृत्त किया है। भट्टारि की महा-

१ अर्जस भोंड वि एडि० सोता० भोंड बंगाल, जिस्व ५२, पृ० २४१ तथा इण्डियन एजिटिवरी, जिस्व १४, पृ० ४०।

२ पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिस्पर्धताः—

मनोवाक्ययदोषायां हृष्टेहिपतये मः ॥

३ वात्सेतो वपुवा मः अजिन्ता मर्षे येनोक्तः।

भाष्य-दीपिका में वे तीन बार श्रुणिकार कहे गये हैं। स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १ १४ की व्याख्या में भाष्यकार को श्रुणिकार का नाम से उद्धृत किया है। इतिहास में इन्हें श्रुणिकार संज्ञा से सम्बोधित किया है। स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्य (१ ३२) में एवं उद्धृतने ऋक्संहिताभाष्य (१३ १९) की टीका में इन्हें पदवार बतसाया है। प्रसिद्ध श्लोक 'अनुसूत्रपदव्यासा' की टीका में 'पदं स्याद् हि विरचितं भाष्यम्' से मन्त्रिभाष्य न इन्हें धप का बतवार माना है।

योगसूत्र और चरक-संहिता के कर्ता पतंजलि—महाभाष्यकार-विषयक म सब उद्भरण उनके विषय में किसी विशेष लिख्य पर पढ़ने में सहायता नहीं प्रदान करते। इनसे केवल इतना ही पता चलता है समस्त विश्वसमाज में पतंजलि की सेवाबतार के रूप में प्रतिष्ठा थी और वे योगसूत्र व्याकरण-महाभाष्य एवं चरक-वार्तिकों के प्रणता माने जाते रहें हैं। यहाँ तक कि भल्लूरि जैसा अधिकारी विद्वान् भी उन्हें तीनों ग्रन्थों का कर्ता मानता था। व्याकरण परम्परा में व्याकरणशास्त्रज्ञ सं पूर 'योगेन चित्तस्य पनेन बाबा मलं परीरम्य च वीरवन। योष्याकिरन्त प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिसिदान्तोस्मि' श्लोक द्वारा भगसाचरण करल की परम्परा बहुत प्रार्थना है। सम्भवतः पतञ्जलि नामक व्यक्ति एकाधिक हुए हैं। कनिष्क की कन्या को रोममुक्त करलवाले चरक के प्रतिशस्कर्ता एक पतञ्जलि ईसा की दूसरी शती में और योगसूत्र कर्ता पतंजलि ईसवी तीसरी या चौथी शती में उत्पन्न हुए थे। बाद में इतिहास की अनभिज्ञता से तीनों को मिलाकर एक कर दिया। फिर भी मीमांसा और बदान्त-दशम के 'अपाठो भवजिज्ञासा और 'अपाठा ब्रह्मजिज्ञासा' से निम्न शैली पर 'अयं चन्द्रानुशासनम्' और 'अयं योगानुशासनम्' जैसे सवृण वाक्यों भाष्य में 'सुम्पते योगं ब्रह्मपारी' उल्लेख तथा भोग में स्फाट के लक्षण के अभाव आदि कारणों से शीघ्र ही और चरककर्ता यागसूत्रकार तथा महाभाष्यकार को एक मानते हैं। प्रो० रेनो (Renou) के मत से याग में प्रत्याहार, उपसर्ग ग्रन्थय और विकिरण का अर्थ व्याकरण में निम्न है तथा उसमें च वा आदि का भी प्रयोग नहीं है। भाष्य की भाषा भी विश्वस्यमात्मक अधिक है। शानों में इत्य गुण आदि का भी तात्पर्य भिन्न है। योगसूत्रव्याकरण न नियम और महाभाष्य याग के नियम नहीं मानता। अतः, शानों को दो निम्न व्यक्तियों की इति मानना चाहिए।

चरक-संहिता का मूल नाम आत्रेय-संहिता है। आत्रेय पुनर्वसु उसका कर्ता है। संहिता में ही इस बात का उल्लेख है कि आत्रेय ने अग्निवेश का आयुर्वेद-संहिता का उपदेश किया था। अग्निवेश और आत्रेय शानों समकालीन थे और कन्यशिला में रहते थे। संहिता के ही अनुसार इसका प्रथम संस्करण चरक ने और दूसरा सुश्रुत न किया। चरक इषर-उषर घूमनवाक आयुर्वेदक वष थे। चरकस्वामी वेद-शास्त्रा का उल्लेख पाणिनि तथा काशिकाकार न किया है। काशिकाकार वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक बतसाते हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चरक नाम की शाखा थी।

१ कल्पवापुद्धिविषया ये मत्ता हि समवस्थिताः ।

विक्रिस्तालक्षणाप्यात्मशास्त्रंस्तेषां विगुह्य ॥—वाचस्पतीय, १ १४८ ।

२ इण्डि० हिस्टा० बबा०, भाप २, पृ० २६५ ।

३ ४३ १०७, ५१ ११ तथा काशि० ४३-१०४ ।



उसके अनुयायी भी चरक कहलाते थे। आभेय-संहिता के प्रतिसंस्करण करनेवाले चरक शेष के अवतार मान जाते थे। पतंजलि का उल्लेख चरक-संहिता में कहीं नहीं है। उपर्युक्त सूचनाओं से अनुमान होता है कि चरक शास्त्रा के किसी आयुर्वेदज्ञ यायावर विद्वान् ने अग्निवेश संहिता का प्रतिसंस्कार किया और उसके बाद अग्निवेश नाम गौप पढ़कर चरक के नाम से यह संहिता प्रसिद्ध हो गई। चरक शास्त्रा के लोग सामान्यतया आयुर्वेदज्ञ मानिक और भागोपासक थे। बीरे बीरे महत्ता स्थापित करने के सिद्ध इन लोगों ने अपने संहिताकार पूर्वपुत्र को योगावतार प्रसिद्ध कर दिया। कुछ विद्वानों का मत है कि महामाय के प्रारम्भ में बिये गये 'सप्तोदेवीरभीष्टे' आदि चार मंत्रों में कृष्णयजुर्वेद के 'सप्तोदेवी' वाक्य के प्रथम जाने से माप्यकार कृष्ण-यजुर्वेद की चरक शास्त्रा के अनुयायी मानसूम होते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया था। यह बात भी महामाय से स्पष्ट है। वे आयुर्वेद की अच्छी जानकारी रखते थे यह भी इस निबन्ध के 'स्वास्थ्य और शरीर विमान' प्रकरण से स्पष्ट होती। हो सकता है उन्होंने ही सर्वप्रथम आभेय-संहिता का संस्करण किया हो और बाद में महामाय की रचना की हो। यही बात योग सूत्र के विषय में कही जा सकती है। उसमें भी आर्य प्रयोग नहीं है। सूत्रों के अर्थ में अध्याहार की आवश्यकता नहीं पड़ती। शैली महामाय वैसे ही स्पष्ट और प्रासादिक है। अन्य वर्तनों की तुलना में योगसूत्रकार श्रेष्ठ वैयाकरण प्रतीत होते हैं। प्रथम सूत्र तथा 'प्रत्ययानुपस्य' (योग सू० २ २०) इस व्याकरणसिद्ध अप्रचलित प्रयोग से अनुमान होता है कि महामायकर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार थे। इस दृष्टि से कन्युसध्वेन्दुशेखर के प्रारम्भिक श्लोक की शैरवनिधि की टीका का यह कथन कि महामाय कर्ता ही चरक-संहिता और योग-सूत्र के प्रणेता थे ठीक हो सकता है और पुरातन परम्परा भी निर्मूल नहीं प्रतीत होती।' संसेन और गार्बे माप्यकार और योगसूत्रकार को एक मानते भी हैं। परस्पर असम्बद्ध विषयों पर एक ही विद्वान् का इतने प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्धता अशक्य है इस तर्क के आधार पर मैक्समूलर का लोगों को मित्र मानना ठीकनुक्त नहीं कहा जा सकता। वैयाकरण गोनरीय और मोक्षिका-सूत्र का कामशास्त्र का अधिकारी विद्वान् होना ही इस कथन की विसंगति स्पष्ट करता है।

पतंजलि का निवास-स्थान—पतंजलि ने कात्यायन को वाक्षिपाल्य कहा है और अन्यत्र भी वाक्षिपाल्य की इस प्रकार चर्चा की है जिससे इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उत्तर भारत के निवासी थे। यदि कन्युसध्वेन्दुशेखर के तथाकथित ऐतिहास पर विश्वास कर लिया जाय अथवा सम्प्रदाय और पतंजलि-चरित की बात प्रमाणित स्वीकार कर ली जाय तो उनका योग-निवासी होना निश्चय-सा हो जाता है। अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। डॉ० भण्डारकर वर्तमान अर्थ के शीला को योग-निवासी का स्वामाधिक

१ प्रथम पातञ्जलशास्त्रोपादानं बसवतरमङ्गलाय। महामायमात्रोक्तीं शरीरक-सूत्रमाप्यस्यापि शेषं स्यादतः पातञ्जलचरम्। तावन्मात्रोक्तीं चरकेऽस्तिव्याप्तिरतो महापद्यम्।

२ शील संसेन एण्ड गार्बे सीम इण्डियाइण्ड ट एवलेट्ट दि आइडिप्टिटी ऑफ द पतंजलि चर विद बुद थ्येस अज द एस्काइव दि मोस्ट हेडोरोनियल वर्त्स दू बन एण्ड दि सेम ऑपर—मैक्समूलर।

अपभ्रंश मानते हैं। यह स्थान अक्षय क पश्चिमोत्तर में है। ३३ १३६ सूत्र क भाष्य में 'योऽय-  
 मन्ध्यायत आषाढतिपुत्रास्य घट्परं साकेतप्रत्' वाक्य में प्रयुक्त 'योऽयम्' शब्द इस बात को व्यञ्जित  
 करता है कि भाष्यकार साकेत और पाटलिपुत्र के मार्ग के पास-पड़ोस अवस्थ यह था। बहर गानर  
 प्रदेश को पाटलिपुत्र क पूरुब में मानते हैं और कनिषम इसकी व्युत्पत्ति गौड म बगधान हैं।  
 रैवाकरणों की दृष्टि में पानर प्राच्यदेश था। नेबर और गोम्हन्दुकर ता कात्यायन तक का  
 प्राच्य मानते हैं। पतञ्जलि के विषय म बेबर का मत महाभाष्य के 'समुदायः पाण्डिपुत्रं पूरुबम्'  
 वाक्य में पूरुब क अर्थ की भान्ति पर निमर है। पतञ्जलि क निबान क सत्रम म बिबाण कण  
 समय हुआय प्यान दो बातों की भार बिभाव जाता है। एक ता क भाष्यवित क बड क्षमिमाती य  
 सम्य हमाय कालक पारिपाय और भारग के सम्भवती प्रवण का ही भाष्यवित मानन था।  
 और हिमबन्ध कालक पारिपाय और भारग के सम्भवती प्रवण का ही भाष्यवित मानन था।  
 अतः उनका स्थान इनी सत्र में हुाना चाहिए। दूसरे पों तो उन्होने पूरुब में पाटलिपुत्र तक  
 बलिप में अक्षयी और माहिष्मती तक पश्चिम में कच्छ तक और उत्तर म कर्मीर तक यात्रा  
 की थी किन्तु क बाहीक नुस-बाहीक के समीपवर्ती प्रदेशों म अधिक निकटता सुपरिचित था।  
 बाहीक के छोट-छोट गाँवों तक का नाम उन्होने लिखा है। मयुष और सुभ्य म क अक्षय्य  
 रहे थे। इससे बिभाव सम्भावना इस बात की है कि क बाहीक (पूरुब पत्राव) क निबन्धी म।  
 सम्भव है, इस प्रदेश का ही अन्वयं नाम पानर रजा हा। अजायमि यहाँ क गोभारल में यज्ञोत्सव  
 माने जाते हैं। जो भी हो इतना स्पष्ट है क कागमीर, मयुष सुभ्य साकेत बागानी  
 पाटलिपुत्र और सम्भवत उज्जयिनी अवस्थ गय था। उनका अधिक समय घामों में बीता था।  
 महाभाष्य में धार्मीन मन्वृति क ही चित्रों की प्रयुगा है।  
 गोन क पोंडा मानन में कुछ बिगामों को इस कारण भी भाष्यति है कि पतञ्जलि अक्षय  
 के समीप क निबन्धी होत तो रामायण क पात्रों का उल्लेख अवश्य करता। महानारण के उद्धरणों  
 तथा उसक पात्रों के नामों एवं उनसे सम्बद्ध बन्धों की बार-बार सविस्तर चर्चा भाष्य में है  
 जब कि रामायण का एकाध ही उद्धरण भाष्य में आया है। उसक कर्ता तथा पात्रों का कही  
 उल्लेख नहीं है। अतः, अक्षय को अपेक्षा उनका नुस-बाहीक से अधिक सम्बद्ध होता स्पष्ट है।  
 डॉ० मोदीबन्ध ने प्राचीन नारल की पथ-यत्रादि का प्यास्थान करत हुए 'दिकानती बोर्' पाकि  
 प्रार मन्वृ' क प्रमाण म यह बताया है कि बीड साहित्य में यह कथा आई है कि बाबरी नाम क  
 बाबाय न एक ब्राह्मण क माय का अर्थ समसन क किण मने गिप्यों को बुड क पाय भवा था।  
 उसके गिप्यों न कामक स अयनी यात्रा प्रारम्भ की। वहाँ स ने पठिगान (प्रठिगान) महि  
 स्पति (माहिष्मती) उज्जैनी (उज्जयिनी) योतर् (पोतर) बन्धा (बिन्धा) और बनधत्तय  
 होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। इसके अनुसार पालई बिदिगा और उज्जैन क बीच में हुाना चाहिए।  
 यदि यह मान लिखा जाय तो बिन्धा के उत्खनन में प्राप्त मुण्डाओं और यज्ञगाहा क अवशेषों स  
 व्युत्पन्न यात्रामान की भी सपष्टि बैठ जाती है। जो भी हो अवतक इस विषय में कोई ठाय  
 प्रमाण उत्तरक न हागा पतञ्जलि का निबाध-स्थान कल्पना का ही विषय बना रहेगा।

१ एन० क्यापा० पृ० ४०८ तथा माफि० सर्वे लिख १, पृ० ३२७।  
 २ इण्डि० एथिक्लेटी लिख १, पृ० ६९।

## पतञ्जलि का काल

साहित्यिक अन्तःसाक्ष्य—पतञ्जलि के काल में अब विद्वेष विवाद नहीं रह गया है। बस्तुतः महान् प्राचीन साहित्यकारों में एक पतञ्जलि का ही समय असन्दिग्ध है। महाभाष्य में रामायण के अतिरिक्त महाभारत के उद्धरणों उसके पात्रों और घटनाओं की पीन-पुनिक चर्चा है। पतञ्जलि के समय में कंसवध और भस्मिन्वध की कहानियाँ प्रसिद्ध और प्रचलित थीं। वे नाटकों का विषय बन चुकी थीं तथा कवि प्राचीन भी मानी जाने लगी थी। 'कंसं पाठयति बलिं बन्धयति जवान् कंसं किम वासुदेवः असाधयन्तिषु कृष्णः सकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य बर्षणाम् अकूरबर्षणम्, अकूरवर्षीणः वासुदेवबर्षणम् वासुदेववर्षीणः अनार्दनस्त्वात्मकपुत्रं एव' आदि उक्तिदा इसके प्रमाण हैं। पतञ्जलि-काल में वासुदेव की पूजा का प्रचलन हो चुका था और कृष्ण भगवान् माने जाने लग वे। भाष्यकार न प्रजापति और सर्व देवता के समान ही वासुदेव के लिए 'तत्रमवान्' पद का प्रयोग किया है। पाठकों की रचना भी हो चुकी थी। १ ३-२५ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने जो 'बहुनामप्यपित्तानाम् कापेयममुतिप्लुति' ये दो श्लोक उद्धृत किये हैं वे आदिशङ्करपुत्रान् जातक के पालि श्लोकों से मिलते-जुलते हैं। जातक का द्वितीय श्लोक आदिशङ्कर के प्रबोधन के रूप में बानर डाग छके मय मनुष्यों के लिए है। महाभाष्य और जातक दोनों के श्लोकों में दो बरता है। भाष्य में बानर की बुद्धि और जातक में पवित्रता का प्रबलन है। शानों में उपस्था + पातु का प्रयोग है। अन्तर केवल इतना है कि भाष्य में बानर बहुत है और जातक में एक। इससे इतना स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत के संस्करणों एवं जातक-कथाओं के प्रचलन के अनन्तर ही महाभाष्य की रचना हुई होगी। महाभाष्य में बौधायन आदिष्ट धर्मशास्त्र आपस्तम्ब आदि धर्मग्रन्थों के उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि इसके पूर्व धर्मग्रन्थों की भी रचना हो चुकी थी। सामान्य बलवृद्ध शैली के विविध छन्दोमय काव्य भी इस समय तक लिखे जा चुके थे।

धार्मिक अन्तःसाक्ष्य—धार्मिक दृष्टि से भगवतों और ब्राह्मणों का विरोध शास्त्रिक-सा बन चुका था। मूर्ति-पूजा प्रचलित हो चुकी थी। मन्दिर बनाने की प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था। ग्रन्थिक और अन्य प्रवचनकार साधनलिक समागुहों में धर्मोपदेश करते थे। कृष्ण के साथ बलराम कुबेर, स्कन्द विद्यान और शिव की पूजा प्रचलित थी। यज्ञों का पुनरुत्थान हो रहा था। आर्त्थिनीन होना ब्राह्मण के लिए प्रतिष्ठा का चोकर था। ब्राह्मणों का उत्कर्ष और क्षुण्णों का

१ ३ १ २६, ३-२ १११ २ ३ ३६ २-२-२३ ४-२ १०४ ६-३-६ भाष्य ।

२ ४ ३-९९ भाष्य 'अथवा नैवा अविद्यायाः। संज्ञेया तत्र भवता तथा इत्यपर कैयट नित्यः परमात्मदेवताविशेष इह गृह्यते।

३ सधैसु किर भूतेसु सति सौतसमाहिता।

पस्य साप्राभिय जम्भ आदिष्व मुपतिदृति ॥

भास्से सौतं विज्रास्यप अर्नत्राय पतंभय ।

अम्पित्तं च इहति तेन मित्रा कनचकु ॥—जातक-सं० १७५।

परमेश्वर चरम सीमा पर था। माध्य में बृषल कुल की सिद्धिद्वार संगठित हुआ किन्तु जेय बतलाया है।' यह क्षेत्र मीयों की धार है।

इनक अतिरिक्त महानाप्य में कुछ ऐसे स्पष्ट संकेत हैं, जिनका आधार पर उनका काष्ठ-निर्धारण ठीक-ठीक किया जाता सम्भव है। पतञ्जलि ने मीयों की वायुमित्र-पूर्ण स्थिति की जिससे वे मूर्तियों इसबाबर उनकी बिन्नी से उज्जकोप की पूर्ति करते थे, बचा की है।' कैपट नायोजि मट्टु भाषि टीकाकारों ने इन बात को और स्पष्ट किया है, जिसमें पता चलता है कि मीयों ने प्रतिमा निर्माण-विलय को व्यवसाय बना लिया था और वे सिद्धस्थान और विद्यालय आदि की मूर्तियाँ इत्यादि कर इत्यादि करते थे।' पतञ्जलि ने एतन्मं उनक लिए 'हिरण्यमी' इस निन्दामुक्त विधायन का प्रयोग किया है। आस्तिक-वप ने इन मूर्तियों की पूजार्थ निमित्त मूर्तियाँ में भिन्नता व्यक्त करने के लिए उनक भाव 'क' सवाना प्रारम्भ कर दिया था। अत्र' ये मूर्तियाँ पितृ स्वप्न आदि न बहुलाकर विदक स्वप्नक आदि कहलाती थी।

राजनीतिक अन्तःसंघर्ष—पतञ्जलि ने पुष्यमित्र-सम्पा और अत्रगुण-सम्पा का उल्लेख किया है और पुष्यमित्र तथा अत्रगुण को राजा बतलाया है।' स्पष्ट ही यह अत्रगुण मीय है। पाटलिपुत्र के उनका घनिष्ठ परिचय था। यह मूर्तियों के माध्य में इन्होंने पाटलिपुत्र की बचा की है। उनक समय में पाटलिपुत्र घोन क किनारे बना हुआ था किन्तु आज गंगा क किनारे बना है। विद्यालय के मुद्राशासन में भी अत्रगुण की राजधानी पाटलिपुत्र अनुपम' ही बनसई गई है। इस समय यह नगर इतना समृद्ध और विद्यालय था कि इसके प्रासादों प्राकारों तथा विषयियों आदि की आमजारी देने के लिए म्यास्यानी (बन्दरेक्टरी) विद्यमान थी।

ऐतिहासिक अन्तःसंघर्ष—पतञ्जलि ने पुष्यमित्र द्वारा किली एने विद्यालय यज्ञ न किये जाने का उल्लेख किया है, जिसमें अमक पुराहित एक साथ भाग ले रहे थे। पतञ्जलि भी इन यज्ञ में भाग्य था। इस प्रकार के स्वर्न ब्राह्मण पात्रक थे। सम्भवतः इसी कारण उम्हने अत्रिय पात्रक पर बड़ाक्ष किया है। इस पात्रक-स्थिति में वे दीर्घ अक्षरि ठरु एक स्थान पर टूटने से

- १ वेत्तिरु धर्म धार्मिक और मूर्तियुद्धा एवं बर्षप्रकरण।
- २ काष्ठीमूर्तं बृषलकुलम् कुण्डमीमूर्तं बृषलकुलम्, ६३६१ तथा जेयो बुयन।  
—१-१-५०॥
- ३ मीयहिरण्यमीपरिचरः प्रकल्पितः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्वेतः सभ्यति पूजार्पास्तासु सविष्यति।—५-३-१६, पृ० ४७९।
- ४ कैपटः यास्वेता इति याः परिगृह्य गृहार्द् गृहमदन्ति तास्वित्यर्थः। यासु विधीयन्ते तासु भवति शिवकाम् विधीयते इति। नायोजिमट्टु मीय- विवेकं प्रतिमाशिल्पवस्तुः। तैरर्थाः प्रकल्पिता विवेकमिति शेषः। अतस्तासां पम्पत्वात् तत्र प्रत्ययभङ्गं प्रसङ्ग इति भावः।—५-३-९९।
- ५ १-१-६८, पृ० ४३५।
- ६ १-३-२, पृ० १८, अनुशोर्षपाटलिपुत्रम् २-१-१६, पृ० २७३, २, ३, २८ पृ० ४२६, ३-३-१३६, १३३ पृ० ४२६, २८-५-३-५७ पाटलिपुत्रस्य म्यास्यानी लुकोत्पत्तिः। पाटलिपुत्रं वायव्यपथया आबष्टे ईदुभा अस्य प्राकारा इति।—४-३-६६, पृ० २३९।
- ७ यदि भवतिष्यं क्षत्रियं यात्रयेत्।—३-३-१५७, पृ० ३३२।

और वहाँ छात्रों को व्याकरण पढ़ाते थे। यह बात भाष्य में बिय हुए उदाहरणों से स्पष्ट है।<sup>१</sup> यज्ञ के प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि यज्ञ धातु का प्रयोग केवल यज्ञकृष्य में आहुति बालना ही नहीं है। त्याग करना भी उसका अर्थ है। पुष्यमित्र के मंत्र में इन्द्र का त्याग पुष्यमित्र करता है। याज्ञक लोक केवल उसके प्रेरक हैं। इसीलिए 'पुष्यमित्रो यजते याज्ञका याजवन्ति यह कवन संगत होता है 'पुष्यमित्रो याजयते याज्ञका यजन्ति' यह प्रयोग नहीं होता।<sup>२</sup> ये दोनों उल्लेख पुष्यमित्र द्वारा किये गये वस्त्रबोध यज्ञ से सम्बद्ध हैं। भाष्यकार ने अपनी याज्ञन श्रिया को प्रवृत्तस्वाविरामः कहकर वर्तमानकालिका इतछाया है।<sup>३</sup>

महामाय्य का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख जो न केवल पतञ्जलि ने काल-निर्धारण में सहायक है अपितु गुणकारीन इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है किसी यवन द्वारा मध्यमिका और साकेत पर भया डाले जाने से सम्बद्ध है। भाष्यकार ने यद्यपि इन दोनों आक्रमणों को प्रत्यक्ष देखा नहीं था तथापि वे उनके जीवन-काल में घटित हुए थे और लोक-विज्ञात थे। वे चाहते थे उन्हें देख भी सकत था। य दोनों बरे एक ही यवन द्वारा डाले गये थे। आक्रमक इन नगरियों को जीत नहीं सका। उसे बीच में ही अपना बरा उठर केना पड़ा था या पराजित होकर भाग जाना पड़ा था। यह बात भी उपर्युक्त उद्धरणों से ध्वनित होती है।

महामाय्य ने इन समस्त ऐतिहासिक उद्धरणों पर एक साथ विचार करते से यह स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि रामायण महाभारत और सूत्र-साहित्य के प्रणयन के पश्चात्, किन्तु काम्बरास से पूर्व और पुष्यमित्र के काल में विद्यमान थे। इस समय यूपनों या मीनों का पतन हो चुका था। पतन से पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति लालसी हो गई थी। यूपनों का सार्वजनिक अपमान किया जाता था। ब्राह्मणों का वर्चस्व चरम प्रकर्ष पर था। यज्ञ-सायाधि की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। पुष्यमित्र ने स्वयं कोई महामाग किया था। इस समय किसी यवन ने साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ के समीप का नगरी-स्थान) पर एक साथ आक्रमण किया था। पुष्यमित्र ने यवनों की पराजय के बाद ही महायज्ञ किया था जिसमें पतञ्जलि भी आचार्य-रूप में विद्यमान थे। ब्रह्मणामनिरखसितानाम् सूत्र के भाष्य में भी यवनों की पराजय का संकेत है। इसी समय

१ प्रवृत्तस्वाविरामे शासितय्या भवन्ती इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः।

३-२ १२३, पृ० २५४।

२ यज्यादियु चाविपर्यासो वस्तय्यः। पुष्यमित्रो यजते याज्ञकः याजवन्ति। तत्र भवितव्यम्—पुष्यमित्रो याजयते याज्ञकः यजन्तीति यज्यादियु चाविपर्यासो वस्तय्यः। नामा-श्रियाणां यज्यपत्नान्। नामाश्रिया यज्ञेरथः। नावयं यज्ञि हविःप्रभोपथ एव वर्तते। किं तर्हि त्यागेऽपि वर्तते। अही यजत इत्युच्यते यः पुष्यमित्रं करोति। तं च पुष्यमित्रं करोति याज्ञकः प्रयोजयति।—३ १-२६ पृ० ७४।

३ प्रवृत्तस्वाविरामे शासितय्या भवन्ती इहाधीमहे इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः।

—३ २ १२३ पृ० २५५।

४ परोक्षे च सोकविज्ञाने प्रयोजयुर्वाग्निविषये लह वस्तय्यः। अरयद् यवताः साकेतम्, अरयद् यवतो मध्यमिकाम्।—३ २ १११ पृ० २४६, ४७।

याज्ञिक बनने की कामना रखनेवाले ब्राह्मण-ब्राह्मणों को व्याकरण पढ़ाते हुए उन्होंने महामाष्य की रचना की थी। साकेतावरोध तथा याजनविषयक उल्लेख महामाष्य के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आये हैं। इस समय उनके पचासी दिनों के पाठ में लगभग आधा समय व्यतीत हो चुका था।

पुष्यमित्र शुंग—एतिहासिक दृष्टि से पुष्यमित्र का अरबमन्त्र यज्ञ तथा यज्ञ का आक्रमण के दोनों घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। बाण के हर्षचरित के अनुसार पुष्यमित्र मौर्यसम्राट् बृहद्रथ का सेनापति था। एक बार जब बृहद्रथ सेनापति के साथ सैन्य का निरीक्षण कर रहा था तब सेनापति ने सेना को अपने पक्ष में घामकर सहसा बृहद्रथ का बन्ध कर डाला<sup>१</sup> और स्वयं राज्य का स्वामी बन बैठा। इस राजहत्या की पूर्वभूमिका पहले से ही तैयार कर ली गई थी। मौर्य शासन में ब्राह्मण अत्यन्त असन्तुष्ट थे और ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ के राज्य-काल में यह असन्तोष चरम सीमा पर पहुँच गया था। उन्होंने सेनापति को अपना नेता बनाया फलतः मौर्यसम्राज्य के मट्ट होते ही चारों ओर ब्राह्मणों का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होने लगा। मट्टप्राय यज्ञ-संस्था और विस्मृतप्राय वेदों को पुनर्जीवन मिला। महामाष्य में पर्वबलि द्वारा यज्ञ-तन्त्र रूपकों (मौषी) के प्रति कहे गये मुर्खजन एक स्वाम पर मौर्यों की प्रत्यक्ष निन्दा तथा पद-पद पर ब्राह्मणों का अपभोग इस बात का साक्ष्य है। महामाष्य बल्लुव वैदिक संस्कृति और ब्राह्मणत्व का जयन्तव है।

शुंग और उनका साम्राज्य—पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र शुंगवर्षीय था। पाणिनि के मत से शुंग भारद्वाज ब्राह्मण थे।<sup>१</sup> किन्तु, हरिबन्धपुराण में (२५०) ब्राह्मण सेनानी को बल्लभेय का उद्घाटन और काश्यप कहा है। प्रवरवर्षण में शौण सीन वसिष्ठगोत्रीय पाण्डुरों के योगात्मक बतलाये गये हैं। बृहदारण्यक में (१५३१) शौमीपुत्र शिश्रक का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन शीतमूत्र (१२१३-५) में भी शुंग आचार्य हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को कश्यप गोत्र की वैश्विकि दासा का बतलाया गया है। वैश्विकि शब्द महामाष्य में आया है। वहाँ उसकी निष्पत्ति विम्ब शब्द से अपत्य अर्थ में बतलाया गया है, किन्तु शुंगनोवाचक स उसका कोई सम्बन्ध है या नहीं यह बात स्पष्ट नहीं की गई है।<sup>२</sup> श्री एच० ए० साह विम्बक को विन्दुसार के परिवार से सम्बन्ध मानते हैं। इन सब उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि शुंग ब्राह्मण माने जाते थे। भले ही वे भारद्वाज रहे हों या काश्यप, यह अलग बात है। फिर भी पं० हरप्रसाद धान्सी इस बंध के नामों के अन्त में मित्र शब्द देखकर इन्हें वीक आक्रमण के समय फारस से भागा हुआ मानते थे।<sup>३</sup> प्रो० बी० के० ठाकुर का

१ सेनापतिरत्नमौ मौर्य बृहद्रथ पिपेय पुष्यमित्र स्वामिनम्।—हर्षचरित।

२ विकर्णशुङ्गकालावृत्तसम्राज्यावामिपु—४१ ११७।

३ शुभातुष्यासववमनिपारववशाकविम्बानामिति वस्तुष्यम्।—वेम्बक ४-१९७,

पृ० १२९।

४ प्रोसीडिन्स ऑफ् ओरिएण्टल काल्टरेस, यज्ञत, प० ३७९।

५ इण्डि० हिस्ट० क्वार्टर० विस्व ८, पृ० ३९।

अनुमान है कि ये लोग पाणिनि से भी पूर्व के सामवेदीय ब्राह्मण थे।<sup>१</sup> भरतुत के पितासेन में दो द्वार शृंगकास में बने बतलाये गये हैं।

पुष्यमित्र के राज्य में मीरों का सम्प्रदाय सम्मिलित था। मांघ्र कलिंग तथा उत्तर भारत का कुछ भाग स्वतंत्र हो गया था। पाटलिपुत्र अयोध्या विदिशा आसम्बर और धाकड़ ये नगर इसके अन्तर्गत थे।<sup>२</sup> राजधानी पाटलिपुत्र बनी रही। मासविकान्तिमित्र के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा में पिता का राष्ट्रिय था। अयोध्या के मन्दिर-द्वार के एक शिलासेन के अनुसार वहाँ एककेतन पुष्यमित्र की छोटी पीढ़ी के एक कासकादिपति ने बनवाया था। गर्मदा तक के सीमान्त दुर्ग में अग्निमित्र का साक्षात् वीरसेन रक्षार्थ नियुक्त था। पुष्यमित्र के अन्तर्गत विदर्भयज्ञसेन और मायवसेन में विभक्त था। बर्मा (बरवा) नदी इस विभाजन की सीमा रेखा थी। विदर्भराज यज्ञसेन मौर्यराज बृहद्रथ के मंत्री कं बहनोई थे। अठ उनका पुष्यमित्र विरोधी होता स्वामादिक था। अग्निमित्र ने उसे 'प्रहृत्पुष्यमित्र' और 'प्रतिकूलनाथ' कहा है। इस कारण विदिशा और विदर्भ के सम्बन्ध भी खराब हुए। यज्ञसेन का चचेरा भाई मायवसेन अग्निमित्र का मित्र था। यज्ञसेन के अस्तप्रास न उसे बन्दी बना लिया। अग्निमित्र ने यज्ञसेन को आशा की कि वह तुरन्त उसे मुक्त कर दे। यज्ञसेन ने बचने में यह शर्त उपस्थित की कि पहले उसके सम्बन्धी मौर्य सचिव का मुक्त किया जाय। अग्निमित्र ने यह शर्त न मानकर वीरसेन को आदेश दिया कि वह विदर्भ पर आक्रमण करे। इस आक्रमण में वीरसेन ने यज्ञसेन को पराजित कर मायवसेन को बन्दीगृह से छोड़ा लिया। पश्चात् विदर्भ का राज्य यज्ञसेन और मायवसेन में बाँट दिया गया<sup>३</sup> और विदर्भ पर पुष्यमित्र का सिकका जम गया। लारबेस और सातकर्णी विदर्भ के पूर्व और पश्चिम में अग्निमित्र के समकालीन थे। लारबेस उससे अधिक बलवान् था और विदर्भ में सम्बन्ध भी रखता था। विदर्भ पर आक्रमण के समय लारबेस और सातकर्णी का श्रुप बैठ खूना आरक्षर्वजनक मालूम होता है। इस आचार पर प्रो० अकुर ने ता वह कल्पना कर डाली है कि कासिकास में प्याठ के लिए इतिहास में परिवर्तन कर डाला है। अतः, मासविकान्तिमित्र का वर्णन प्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रो० अकुर के कथन की सत्यता सन्देह है क्योंकि कासिकास में यज्ञसेन को अचिरादिपितृराज्य' कहा है। इससे विदित होता है कि विदर्भ पहले मीरों के अधिकार में था। बाद में राज्य-विप्लव होने पर यज्ञसेन ने विदर्भ को दबा लिया।<sup>४</sup>

साकेत और मध्यमिका का अक्षरोज—गोस्वस्तुकर के अनुसार साकेत और मध्यमिका का अक्षरोज करनेवाला मिनाण्डर या विदिका समय ई० पू० द्वितीय शती है। प्रो० सेसेन के

१ मासविकान्तिमित्र गुजराती, अनु० पी० पी० के० ठाकुर।

२ विष्णुबचन तथा प्रो० तारादास के अनुसार।

३ मासविकान्तिमित्र अंक १।

४ ठाकुर मासविका० युज० अनु०।

५ अचिरादिपितृराज्यः अनु० प्रहृत्पुष्यमित्रमूलत्वात्। नक्षत्रोपपत्तिविज्ञानात्तरिव

अनुसार १४४ ई० पू० में बहु शासन करता था। 'अद्रगुप्त मौर्य ३२२ ई० पू० में मही पर बैठा। उस वक्त के १० राजाओं ने कुल १३७ वर्ष राज्य किया।' इसके अनुसार पुष्यमित्र ने सिंहासना रोहण का समय १८५ ई० पू० होना चाहिए। मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष राज्य किया। अतः, उसके शासन की निम्नली गणना-सीमा १४९ ई० पू० पकड़ी है। यही काल पतञ्जलि द्वारा पुष्यमित्र को यज्ञ करायें जाने का है और यही माष्य के निर्माण का समय है। महाश्वर के काल को ध्यान में रखकर महामाष्य का काल १४० से १२० ई० पू० के मध्य माना है। मिनारकर का राज्यारोहण-काल निम्न-निम्न एतिहासकों ने २०० से १२६ ई० पू० के मध्य माना है। डॉ० मण्डारकर के मत से पतञ्जलि-काल में मौर्यों का शासन यद्ये कुछ समय भीत हुआ था। अर्थात्पुष्पक उदाहरण इसके साक्षी है। अतः, जीविकार्थे आपण्ये का माष्य पतञ्जलि ने १५८ ई० पू० के लगभग सिखा होगा। मिनारकर और पुष्यमित्र समकालीन थे। अतः, मिनारकर का समय भी ऊपर में १७५ और नीचे १४२ ई० पू० होना चाहिए। इस बात पर डॉ० मण्डारकर ने तृतीय अध्याय के माष्य का रचना-काल १४४ १४२ ई० पू० में माना है।<sup>१</sup> प्रो० वेबर ने 'मध्यमिका' का अर्थ बौद्धमाध्यमिक धाखा मानकर पतञ्जलि का हीनयागों का पलपाटी और माध्यमिकों का नाशक रहा। अतः महामाष्य का समय कनिष्क के बाद ही होना चाहिए। वेबर के इस कथन का डॉ० मण्डारकर ने समुचित सङ्गत किया है।<sup>२</sup> डॉ० मण्डारकर के अनुसार, जिसकी पुष्टि बामपुराण एवं अन्य पुराणों में भी होता है। मौर्यों के बाद शुंग साम्राज्य एवं काम्बायन क्रमशः राजा हुए। अशोक के लेखों में 'अंतियोक' नाम 'पोय' राजा का उल्लेख है। मोरोपीय इतिहास के विद्यार्थी अंतियोकस (Antiochus) से सम्बन्ध परिलक्षित हैं। सिकन्दर के बाद सिन्धुनद्य ने सिरिया से भारत तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। अंतियोकस उसका पीता था। अशोक के लेख के अंतियोकस द्वितीय का समय २६१ स २४० ई० पू० है। ये लोग मेसिडोनियन धीक थे। माष्य में यवन धर्म से इन्हीं का उल्लेख है और इसी जाति का मिनारकर छाकैठ और माध्यमिका का आक्रमक है। धीक इतिहास के अनुसार इसका समय १४२ ई० पू० है। इससे पंजाब और अफगानिस्तान पर शासन स्थापित कर सिखा था। उस समय य प्रवेश भारत के अंग थे। उसकी प्राप्त मुद्राओं पर 'महापद्मस्य वरस्य मिसिन्दस्य' अंकित है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसकी

१ विष्णु पुरा ६-२४।

२ ११।

३ मिससत विष्णु पुरा प्रथम सं० पृ० ४०१।

४ कलेक्ट्रेट वरस अंश डॉ० मण्डारकर, भाग १ पृ० १०८ से ११४।

५ इण्डियन ऐंथिक्वेटरी जिस्व २, सन् १८७२, पृ० २९९ से।



प्रजा पाछिभापिभी थी। 'मिछिन्वपण्णो' में इसकी और भागसेन की वार्ता उल्लिखित है। इसकी राजधानी साकल थी।'

मालविकाग्निमित्र का सम्बन्ध—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का अपने पुत्र अग्निमित्र के नाम पर भी अस्वप्न महत्त्वपूर्ण है। इस पत्र से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध का अनुष्ठान करत हुए अपने राजपुत्र छठ-परिवृत पीत्र और अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र के संरक्षण में अश्व छोड़ा था। उसे सिन्धु के दक्षिण तट पर यवनों ने पकड़ लिया। तब अश्व के लिए यवनों का वसुमित्र की सेवा में महान् युद्ध हुआ किन्तु अन्त में वसुमित्र ने यवन-सेना का सिन्धु तट पर पराजित कर अश्व लौटा लिया। इस प्रकार पुष्यमित्र का यह यज्ञ सफल हुआ। पुष्यमित्र के आक्रमण पर अग्निमित्र ने भी इस यज्ञ में भाग लिया। जामसवाल के मत से पुष्यमित्र का यह द्वितीय अश्वमेध है।' खारबेल ने पुष्यमित्र को प्रथम अश्वमेध के बाद हराया था। खारबेल की हार के बाद अपनी छोंप मिटाने के लिए उसने दुबारा यज्ञ किया। प्लेटिनिक का 'पुष्यमित्र' याज्याम इस द्वितीय यज्ञ से ही सम्बद्ध है। यह यज्ञ डेमेट्रियस की पराजय के बाद सम्भव नहीं है क्योंकि डेमेट्रियस के आक्रमण १८४ से १६७ ई० पू० के मध्य हुए। पाटलिपुत्र पर आक्रमण १७५ ई० पू० में हुआ। अपोलोडोटस के अनुसार भी यहाँ के दो आक्रमण हुए, जिसमें प्रथम पुष्यमित्र के प्राग्भिक काल में हुआ था। इसमें पुष्यमित्र ने सन्धि कर ली या वह दब गया जिससे अश्वमेध होकर अग्निमित्र ने विशिशा मे स्वतंत्र सत्ता बना ली। यह विद्रोह के कारण डेमेट्रियस के बापस चले जाने पर पुष्यमित्र ने प्रथम अश्वमेध किया। द्वितीय आक्रमण पुष्यमित्र के अन्तिम दिनों में मिनाण्डर ने किया। द्वितीय आक्रमण के समय वसुमित्र ने सिन्धु-तट पर उसे हराया। तब उसने दूसरा अश्वमेध किया और अग्निमित्र की अश्वमेधता बुर हुई।' ज्योम्बा के शिकारिसेल का 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधमाजिनः पुष्यमित्रस्य' वाक्य दोनों अश्वमेधों का प्रमाण है। बिबस होकर यवनों के चले जाने पर किया गया अश्वमेध पुष्यमित्र के मृत्यु के पूर्व संतोष में दे सका होगा अतः उनकी वास्तविक पराजय के साथ द्वितीय अश्वमेध किया गया। जामसवाल द्वितीय अश्वमेध खारबेल की पराजय के बाद मानते हैं। राजश्रीवटी (पृ० २६७) के मत से दोनों यज्ञ बिहर्न-यवन-विजय के बाद हुए। डॉ० मण्डारकर के मत

१ क्लेफ्टेड वर्ल्स ऑफ इंडा० मण्डारकर, भाग २ पृ० ६२६।

२ स्वस्ति घनशरणात् सैनापतिः पुष्यमित्रो वैविधार्थं पुत्रयामुष्यमन्तमग्निमित्रं परिष्वजे मनुब्रह्मपतिः। विदितमस्तु। योऽसौ राजयतवीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिकृतं वसुमित्रं पोप्लारमादिपय संवत्सरोपावर्तनीयो निरर्गलस्तुः। ज्ञो विलुप्तः सत्सिन्धोरक्षिणारोयसि चरप्रसा-नीरेन यवनानां प्राक्षितः। तत् प्रभवोः सैनयोर्महागामीस्तंमर्षः।—मालविका०, अंक ५।

३ जर्नेल, ऑफ बंगाल ओरियण्टल रिजर्च सोसा०, भाग १० पृ० २०५।

४ टॉर्नः पीरस इन बंदिद्या, पृ० १३३।

५ एडेबो ११-५१६।

६ जर्नेल ऑफ बंगाल ओरि० रि० सोसा०, भाग १०, पृ० २०५।

से प्रथम यज्ञ सारेत और मध्यमिका की विजय के बाद और दूसरा वसुमित्र द्वारा यज्ञों की पराजय के बाद हुआ।

सारेत का अन्वेषण कौन था—स्मिथ ने कनिष्ठम का अनुसरण करते हुए माना है कि विदेही यज्ञों में पुष्यमित्र की सम्भकार के प्रत्युत्तर-स्वरूप सिन्धु-तट पर उनकी सेनाओं से युद्ध किया। यह सिन्धु नदी कासी सिन्धु है जो मध्य भारत और राज पाण की सीमा बनाती है। सम्भवतः ये यज्ञ मिनारण्ड की सेना के अंग थे जिन्होंने मध्यमिका पर आक्रमण किया था। यह कथन अतिमूलक है। कासी सिन्धु का सिन्धु मानना ठीक नहीं है क्योंकि शाकल्य विदिशा और विदर्भ के शासक पर कासी सिन्धु के पास यज्ञों द्वारा आक्रमण की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे पारवेक से पराजित होकर पुष्यमित्र मन्वरा में रहा था। मन्वरा अवश्य ही उसके विदेही बौद्धों और मिनारण्ड से दूर रही होगी और उसके राज्य में होगी। तब शाकल्य से बाहर सिन्धु और कौन हो सकती है? तीसरे बारिष्ठा का यह कथन भी कि अग्निघोरे सप्त पुत्रक सेनापतिना निमुक्तः तभी सार्थक हो सकता है, जब वसुमित्र का युद्ध सिन्धु के दूर प्रदेश मन्वरा हो कासी सिन्धु के तट पर नहीं कल्पना वसुमित्र की विजय का समाचार अग्निमित्र का पत्र द्वारा मेजने की कोई आशय्यकता ही न हुई होती। कासी सिन्धु में बिन्धिया में यह समाचार पहले ही प्राप्त हो गया होता। फिर, स्मिथ ने मिनारण्ड और डेमेट्रियस के आक्रमण को एक मानकर पुष्यमित्र को आरवेस और मिनारण्ड का समकामीन बना दिया है। यह बात महामेव बाह्य पारवेक के हविगुम्फ-सिलालेख के बृहस्पतिमित्र को ही पुष्यमित्र मानने से कही जाती है। पुष्यमित्र के निज के सिक्के भी उपलब्ध हैं। अतः बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मानना ठीक नहीं है। अग्निमित्र के कहेसम्भार में प्राप्त सिक्के भी किसी अन्य अग्निमित्र के हैं। अग्निमित्र विदिशा में रहा था। उसके सिक्के विदिशा या पाटलिपुत्र में प्राप्त हो सकते थे। पुष्यमित्र के बाद उसका राज्य उसके जाठ पुत्रों में विभक्त हो गया था। वामुदेव काष्ठापन (मन्वी) इस वंश के अन्तिम राजा देवहृति को हटाकर स्वयं राजा बन गया। इसीलिए पुत्रों ने काष्ठी को द्युप-युत्प कहा है। वामुदेव ने भी तथा उसके पुत्र भूमिमित्र ने औरहृ वर्य सासन किया। इनके अंग से द्युप वंशजों का कहेसम्भार को मान माना संभावित है। आबला बघार्पु और बहिष्मन में प्राप्त होनेवाले सिक्कों का कारण यह भी हो सकता है। इस प्रकार बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र एक नहीं हैं। फिर, हविगुम्फ-सिल का पाठ निश्चित नहीं है। यदि हम इस पाठ को 'निमित्त' मानें तो यह आक्रमणक डेमेट्रियस होगा मिनारण्ड नहीं। गार्ती संहिता का द्युप

१ इण्डिया इन कांतिवास भागवतसारथ उपाम्याय, पृ० ३६१ से ३६८।

२ बर्नो हिस्त्री ऑफ इण्डिया, चौथा तं० २०९, १० तथा २१७, २२९।

३ पुष्यमित्रमुताश्चाष्टौ अविप्यन्ति तथा नृवा।—बर्नो ऑफ इण्डिया औरि० रि० ता०, भाग १०, पृ० २०२ तथा १५, पृ० ५४३।

४ अमत्तपो वासुदेवस्तु वाम्याद् व्यसनिर्नृपम्।

देवभूतिमबोत्ताच्छवर्षसु नविता नृपः।—(बही)

से इसी मत के समर्थक हैं।<sup>१</sup> कीच १५० ई० पू० पतञ्जलि-काल बतलाते हैं, यद्यपि उन्होंने 'संस्कृत ग्रामा' में १४० ई० पू० ही पतञ्जलि का समय माना है।

महामाष्य का लोप और पुनरुद्धार—पतञ्जलि वैदिक धर्माभिमानी थे। उन्होंने अष्टाध्यायी का पाश्चित्यपूर्व विवेचन करते हुए व्याकरणविषयक स्वतंत्र सिद्धान्तों का भी समावेश महा माष्य में किया और साथ ही वैदिक संहिताओं की अपौरुषेयता नित्यता एवं स्वतःप्रामाणिकता स्थापित करते हुए उवाहरण-स्वरूप यज्ञ-तन्त्र वैदिक एवं गृह्य-ग्रन्थों से वाक्य भी उद्धृत किये। नित्यता का प्रभाव भी लज पर बहुत था। उन्होंने अनेक स्वार्थों पर वेद-शब्द-व्युत्पत्ति-कर्ता निरस्त को श्यों-का-र्यों उद्धृत किया। फलतः महामाष्य का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान निष्पन्न न रह गया। पाणिनि ने किसी भी वर्णन के प्रति अपना पक्षपात न प्रकट करते हुए प्रचलितया लौकिक और आपाठस-वैदिक भाषा के शब्दों का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए अपना ग्रन्थ लिखा था। वेदाभिमानी पतञ्जलि द्वारा स्वान-स्थान पर वैदिक वाक्य उद्धृत कर आत्विजीन शास्त्रों के लिए लिखा गया ग्रन्थ वेद को प्रमाण न माननेवाले बौद्ध जैन तथा अन्य वर्तनकारों की दृष्टि में सहज ही खटकने लगा। दूसरे महामाष्य की रचना के कुछ सताब्दियों बाद बौद्ध एवं जैन गृह्यग्रन्थों पर अस्वपीय असंग बभुवन्पु, नागार्जुन उमास्वादि कुम्भकुन्द आदि बड़े बड़े विद्वानों ने तर्कज्ञान का उद्धारोह करनेवाले ग्रन्थ लिखन। प्रारम्भ किया। इसी समय मीमांसा ध्याय आदि शास्त्रों पर उद्धारस्वामी आत्स्यायन प्रकृतपाद आदि ने माष्य-ग्रन्थों की रचना की। स्वभावतया कुछ समय बाद (१०० से ६०० ई०स०) लोगों का ध्यान इन ग्रन्थों की ओर जाने से महामाष्य का अन्वयन उपेक्षित हो गया और बीरे-बीरे उसकी प्रतिमा दुर्लभ होने लगी। इसी समय काठग्र और खान्द्र व्याकरणों की रचना हुई। काठग्र पाणिनि की परम्परा पर आश्रित न होकर उनसे पूर्ववर्ती कासाय व्याकरण पर आश्रित था। पाणिनि और कात्यायन दोनों ने कलापी और उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> माष्य में भी महामाष्यिक के साथ कासायक उद्धृत आया है और उसके बाद तुरन्त ही पाणिनीय शास्त्र की चर्चा है।<sup>१</sup> इससे

१ हिस्ट्री ऑफ एनसि० संस्कृत लिटरेचर, पृ० २४४।

२ ४३ १०४ १०८।

३ ४-२ ६५, पृ० १८९।

प्रयेण संक्षेपदधीनस्वविद्यापरिग्रहान् ।  
सम्प्राप्य वैपाकराजान् संप्रहेस्तमुपास्ते ॥  
दृतेऽप्य पतञ्जलिस्तौ गुरुणा तीर्थरेसिना ।  
सर्वेषां ये च बीजानां महामाष्ये निदग्धने ॥  
अलम्बपाषेणाम्नीर्वाहुतादिच सौष्ठवान् ।  
तस्मिन्मृतमुडीनां मैत्रिस्थितनिरचय ॥  
वैत्रिसौत्रवर्ष्यैः शुष्करीजानुसारिनि ।  
आर्वे विष्वाचिते शम्भे संप्रहृत्तिरञ्जकुके ॥  
यः वातञ्जलिशिष्येभ्यो श्रुत्यो व्याकरणागमः ।

अनुमान होता है कि पाणिनि से पूर्व कसापी की कोई व्याकरण-शाखा थी। कातत्र-व्याकरण उसी पर आधारित है। इस ग्रन्थ के सूत्र कारिकात्मय है और इसमें अद्यतनी द्रव्यतनी, परोक्षा आदि अपाणिनीय सन्तानों का प्रयोग है। कपासरिसागर के अनुसार सातवाहन मूषति के आशानुसार शकबर्मा ने कातत्र या कसापि व्याकरण का प्रथमन किया। कातिकेय द्वारा इस व्याकरण का उपदेस किया गया, इस धारणा के कारण उसे कौमारव्याकरण भी कहते हैं। चान्द्र व्याकरण के प्रमेता चन्द्रगोमी नामक बौद्ध आचार्य थे। चन्द्रगोमी प्राच्य रीपाकरण परम्परा के विद्वान् थे। उनका ग्रन्थ पाणिनीय पद्धति पर आधारित है। इसी समय जैनेन्द्र व्याकरण लिखा गया। इसमें भी पाणिनि-सैली का ही अनुसरण है। दावररक्षामी आदि के भाष्यों को वार्तिक स्वल्प प्राप्त हो जाने के कारण श्लोको की प्रभृति उस मोर स्वाभाविक थी। इससे इस समय संस्कृत श्लोकभाषा नहीं रह गई थी। पाणि और प्राकृत में ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। शास्त्रीय शास्त्रमय का अध्ययन करने के पूर्व संस्कृत के नामकलाङ्ग ज्ञान की आवश्यकता होती थी और वह कातत्र, चान्द्र आदि संक्षिप्त व्याकरणों से प्राप्त किया जा सकता था। अष्टाध्यायी को वेदांत के रूप में महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसलिये मुख-परम्परा से उसके सूत्र-पाठ का जम तो चकता रहा किन्तु उसके पठन-पाठन की परम्परा क्षुप्तप्राय हो गई। भर्तृहरि ने शाक्यपरीय के द्वितीय काण्ड के मन्त्र में इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बीरे-बीरे श्लोको की शक्ति संक्षेप में पढ़ने तथा अल्प-विद्या-परिग्रही हो गई। ऐसे अल्प-विद्या-परिग्रही रीपाकरणों को पाकर सग्रह का पठन-पाठन बन्द हो गया। तब तीर्थदर्शी आचार्य पत्रकलि ने समस्त म्याय वर्णों का एकत्र निबन्धन कर महाभाष्य की रचना की। किन्तु, महाभाष्य अत्यन्त गम्भीर था और अकृतबुद्धि श्लोको के लिए उसकी बाहू पाना कठिन था। महाभाष्य संग्रह का प्रतिबंधक स्वल्प था। वैदिक शीमब और हर्षल जैसे शुष्क टाकिकों ने इस आर्यग्रन्थ को विचित्र कर दिया और बीरे-बीरे यह व्याकरण-शास्त्र पत्रकलि के शिष्यों के हाथ से निकल गया। इसका पठन-पाठन बन्द हो गया। यहाँ तक कि इसकी प्रतिमा केवल दादिशास्त्र प्रदेश में ही कहीं-कहीं बच गई। तब चन्द्र आदि आचार्यों ने दाक्षिणात्य पर्वत प्रदेश से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका पुनः प्रचार किया।

राजतरंगिणी के अनुसार महाभाष्य के प्रथम उद्धारकर्ता कश्मीर के राजा अशिमस्यु थे। जम्ही के आदेश से आचार्य चन्द्रगोमी ने महाभाष्य का फिर से प्रवर्तन किया और स्वयं भी एक नवीन व्याकरण बनाया।<sup>१</sup> डॉ० जोटो जोर्षिक के अनुसार अशिमस्यु का काल ई०पू०

काके स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थित ॥  
पर्वतावपमं लक्ष्म्या भाष्यशीजानुसरिभिः ।  
स नीतो अनुशास्त्रं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥

—शाक्यपरीय २-४८४ ४८९।

- १ आशिमस्युआशिमस्युः दातमस्युरिषायत ।  
चन्द्राचार्यादिभिर्लक्ष्म्या वैश्रतस्मात्तदायमम् ॥  
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं नवम् ।

—राजतरंगिणी, १ १७४ तथा १७६॥

१०० तथा सैतेन के अनुसार ४० से १५ ई० तक है। अन्य विद्वानों के मत से चन्द्रगोमी का समय पाँचवीं शती का अन्तिम अरब है। छठीं शताब्दी के अन्तम उपर्युक्त कारणों से ही महाभाष्य का प्रचलन फिर कम हो गया। जब कश्मीर के जयापीड ने ब्रह्मान्तरों से विद्वानों को बुलाकर विचित्र भाष्य-परम्परा को पुनः प्रस्तुत किया। वास्तव में महाभाष्य के प्रचार का बहुत कुछ श्रेय मर्तुहरि और कैयट को है। मर्तुहरि के वाक्यपदीय तथा महाभाष्य-टीपिका ने ओरों को महाभाष्य की ओर उन्मुख किया। टीपिका के केवल सात ही आधिक हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। इससे पता चलता है कि वह भी काळान्तर में सुप्त हो गई थी। यह टीका विस्तृत थी। मायेसमट्ट ने सभुसभ्येणुसेपर में 'सोअमसरसमान्नाम' पुष्पित भाषि पर मर्तुहरि की टीका उद्धृत की है। जयादित्य और भर्तृहरि के समय में विशेष अन्तर नहीं है। मर्तुहरि के वाक्यपदीय ने महाभाष्य को बर्तन-ग्रन्थों की कोटि में पहुँचा दिया। इसके परिणामस्वरूप उसके अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। १९० ई० में अपर्तु मर्तुहरि के कोई पचास वर्ष बाद इतिहास ने जो अपने संस्मरण लिखे उनमें उसने महाभाष्य का भी उल्लेख किया। उसने महाभाष्य को २४००० श्लोकों का बृत्तिग्रन्थ कहा। यद्यपि वह कात्यायन के श्लोकों को मूल से काशिका-वृत्ति-मूल कह गया। डॉ० भण्डारकर ने इस भूमि की ओर संकेत करते हुए कहा है कि काशिका या जयादित्य के किसी अन्य ग्रन्थ को वृत्ति-मूल मान लेना या तो इतिहास की भूल है या उसे समझने में और आगे चलकर उसका अनुवाद करने में दृष्टियों ने भूल की है।

१ वैश्वान्तरा वागमय्यापम्याचक्षाणान् शमावति ।  
प्रावत्तस्त विचित्रं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥

—राजत० ४४८८।

२ देवर इज ए कनेष्टरी जॉन इट (दि ब्रुलिसुन—दि काशिकावृत्ति) एण्टाइडिड ब्रुलिस, कण्टनिय २४००० श्लोकसः। इट इज ए बर्क ऑफ् दि कनेड प्राञ्जलि—मैक्समूलर द्वारा अपने रिसेर्चा ऑफ् लॉ सिन्टरेचर में उद्धृत।

३ ह्येन इतिहास स्पोरस ऑफ् फ्लाम्ब्रजलिज बर्क एज ए कनेष्टरी जॉन दि ब्रुलिसुन एण्ड ऑफ् जयादित्य काशिका मार लम बर्क ऑफ् जयादित्य मार ह्येन मित अण्डरस्टुड मार मित इन्सतिटेड सिटर।—कलेक्टेट बर्क ऑफ् भण्डारकर, भाग १, पृ० १५८।

खण्ड २

भारत की भौगोलिक स्थिति



## अध्याय १

### भारत का भूगोल

पर्वतशिल्प का भारत—पर्वतशिल्प आधुनिक भारत के भू भाग से सम्बन्धित परिचित है। वर्तमान भारत और पाकिस्तान के सम्मिलित समस्त भू भाग में बिल्वरे पर्वतों मरिपों मरुप्यों जलधियों और नदियों का घामों के नाम महाभाष्य में आय है और उनमें से बनेके के विषय में उन्होंने विवेक जानकारी भी प्रस्तुत की है। पाणिनि का परिचय उत्तर-पश्चिम भारत में विषय या इर्ष्याके अन्वेषणों में परिचयोत्तर मीनाप्रदेश मरुप्य और पंजाब से सम्बन्धित स्थला का अधिक उल्लेख है। पर्वतशिल्प का सम्बन्ध मरुप्येय में अधिक रहा। पर्वतशिल्प, महाभाष्य में पाणिनि द्वारा उल्लिखित स्थलों के माप-माप मरुप्येय-सम्बन्धी जानकारी अधिक विस्तार के माप आ गई है। परिचयान्तर प्रथम क भी बहुत-से जनपदों नगरों और घामों का परिचय प्रामाणिक रूप में हमें सबप्रथम पर्वतशिल्प में ही प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त जनस भारत के पूर्वी परिचयों और इतिहासी मागों की इतनी अधिक जानकारी प्राप्त होती है कि उसके आधार पर हम समग्र प्राचीन भारत की झांकी दख सकते हैं। पर्वतशिल्प के परचात् भी काश्मिरास का छोड़कर मरुप्य कही भारत का इतना समीचीन और विषय बयान देलन का नहीं मरुप्यता।

आर्यावर्त की सीमा—पर्वतशिल्प में भारत को दो भागों में बाँटा है—आर्यावर्त और बाह्य। पश्चिम में कुरुक्षेत्रान्तर्गत आर्य जनपद पूर्व में प्रयाग से समीप का कासक बन उत्तर में हिमालय और दक्षिण में पारियात्र उनके आर्यावर्त की सीमा थी। उनकी दृष्टि में यह पवित्र और सिद्धों का देश था। इस प्रदेश में रहनेवाले कुम्भीयात्मा (असंधी) अक्षोत्सुप अमृतामायकारण (इन्द्रिय जयी) और सापेक्षिक अन्तर से किसी-न-किसी विशिष्ट विद्या में पारंगत बाह्य सिद्ध थे। उनका आचार और वाणी प्रमाण थी। इस क्षेत्र से बाहर रहनेवालों को उन्होंने आर्यावर्त से 'निरवसित' कहा है। किञ्चित् पन्थिक एक, यवन धर्म और आदि देश आर्यावर्त से बाह्य थे और इनके निवासी आर्यावर्त-निरवसित।<sup>१</sup> माध्यकार का यह कथन वर्धमूर्तों की प्रतिष्ठा-मात्र है। पर्वतशिल्प की आर्यावर्त की परिभाषा अक्षरण और सिद्ध की परिभाषा अक्षरों के छोड़-से हेरकर के

१ कः पुनरावर्तः? प्रापादशात् प्रत्यक्कालकथनाहसिधेन हिमवन्तमुत्तरेय पारि  
मात्रम्।—२४१०, पृ० ४६५।

२ एतस्मिन्प्रायनिवासे ये बाह्यमाः कुम्भीयात्मा अक्षोत्सुपा अमृतामायकारणाः किञ्चि  
दन्तरेय कत्यादिषु विषयाः पारियात्रेण भवन्तः सिद्धाः।—६३-१०९, पृ० १६९।

३ २-४-१०, पृ० ४६५।

४ बीमा० १११० तथा वासिष्ठ १-८, ९, १०।



साय नहीं है, जो बौधायन बर्मसूत्र या वासिष्ठ बर्मसूत्र की है। वासिष्ठ बर्मसूत्र में पारियात्र के अतिरिक्त विन्ध्य भी आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा माना गया है।<sup>१</sup> बौधायन ने आरट्ट कारस्कर, पुष्पु सौवीर, बंग और कस्मि को पठित देश कहा है तथा इनमें जानेवालों की धुड़ि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है।<sup>२</sup> माप्यकार ने भी शक्ययवगादि देशों को निरवसित या अविष्कृत माना है और इनकी बही स्थिति स्वीकार की है जो भापुर्मर्ष्य में सूत्रों की भी। बौधायन ने समान वे भी आरट्ट या बाहीक देश को पठित मानते थे। उन्होंने कहा है कि यद्यपि मूर्खतादि गुणों के साम्य के कारण बाहीक-वासी को मो या पशु कह देते हैं किन्तु जहाँ घो या अज के बलि-प्रदान का विधान होता है वहाँ बाहीक की बलि नहीं दी जाती।

प्रादेशिक विभाप—विद्याओं के आभार पर भी पतञ्जलि ने भारत के विभाप किये हैं। आर्यावर्त की सीमा से मिले हुए बाहीक-प्रदेश से जाने के स्थलों को उन्होंने उदीष्य<sup>३</sup> कहा है और विन्ध्य या पारियात्र से दक्षिण की ओर के प्रदेश को दक्षिणापथ। इस प्रदेश के निवासी दक्षिणापथ कहलाते थे। उन्होंने कात्यायन (वातिककार) को भी दक्षिणापथ<sup>४</sup> कहा है और दक्षिणापथों की एक विशेषता बतलाई है—उनका तद्वितान्त प्रयोगों क प्रति प्रेम। कहा नहीं जा सकता कि दक्षिणापथ से उनका आशय आर्यावर्त के अन्तर्गत दक्षिण प्रदेश से वा या दक्षिणापथ से। वर्तमान भारतीय भाषाओं में मछली की प्रकृति तद्वितान्त प्रयोगों की ओर सर्वाधिक है। इससे अनुमान होता है कि यह दक्षिणापथ प्रदेश महाराष्ट्र रहा होगा। दक्षिण में वे न केवल चोख केरल और पाण्ड्य जनपदों तथा कन्याकुमारी अनूप नासिक्य आदि नगरों म परिचित थे अपितु इन स्थानों की मायागत विशेषताओं को भी जानते थे। उन्होंने कहा है कि दक्षिणापथ में बड़े-बड़े सरों को घरती करते हैं। उदीष्य और प्रदीष्य सीमान्त-नगरों के भी अनेक आर्य और आर्येतर जनपदों का उल्लेख उन्होंने किया है। कम्बोज गण्धार, बाह्लीक नैस शारव विन्धु, सौवीर कास्मीर, दैव एवं वासाद् जनपदों तक की उन्हें जानकारी थी।

पतञ्जलि ने दक्षिणापथ को छोड़कर वेप भारत को प्राचीन और उनीचीन भागों में बाँटा है।<sup>५</sup> यद्यपि इन भागों के साथ उन्होंने प्रतीचीन घम्य का भी उल्लेख किया है, किन्तु किसी प्रतीचीन नगर या ग्राम का वर्णन नहीं किया है। उदीष्य ग्राम और बाहीक ग्राम दोनों का पुषक-पुषक

१ सिष्टा घम विगतमत्तरा निरहृकारः कुन्तीबात्या अकोसुपा इम्मर्ष्योममोह कोबविब्रिताः।—बौपा० १ १-५ तथा सिष्ट पुनरकामात्मा।—वासिष्ठ, १ ६।

२ उत्तरैव हि विन्ध्यस्य।—वासिष्ठ, १ ९।

३ आरट्टान् कारस्करान् पुष्पान् सौवीरान् कस्मिन्नान् प्रानुनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपुष्ट्या वा।—बौपा० १ १ १५।

४ ८ ३-८३ पु० ४५८।

५ ४-२ १०४ पु० २०५।

६ त्रिपठिता वाजिभारया।—सा० १, पु० १८।

७ दक्षिणापथे महान्ति सरसि सरस्य इयुष्यते।—१ १ १९, पु० १९०।

८ ५ ४-८, पु० ४८५।

उत्प्रेक्ष इत मोर संकेत करता है कि उदीच्य देश पूर्वी पंजाब से ऊपर का क्षेत्र माना जाता था।<sup>१</sup> इन दोनों से भिन्न 'प्राचाम्' ग्राम-नगर थे।<sup>२</sup> पाणिनि ने 'प्राचाम्' शब्द अनेक बार उद्धृत किया है। उनही दृष्टि में कुरुक्षेत्र और पंजाब प्राच्यदेश थे। पतंजलि ने उदीच्य और प्राच्य ग्रन्थों का प्रयोग दो अर्थों में किया है। पाणिनीय सूत्रों से जिन स्थानों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उनके सम्बन्ध में उन्होंने उनी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार किया है, जिस अर्थ में पाणिनि ने। किन्तु, जहाँ स्वतन्त्र रूप से इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ प्राच्य का अर्थ 'आर्यावर्त से पूर्व का प्रदेश' है जिसमें किन्हे भूमि, मन्थ आदि थे। इस प्रकार, पाणिनि और पतंजलि के प्राच्यदेश भिन्न भिन्न हैं।

आर्यावर्त की सीमा के भीतर भी प्राच्य, उदीच्य और मध्यम विभाग थे।<sup>३</sup> पतंजलि द्वारा उल्लिखित प्राच्यादि चरण आर्यावर्त की सीमा के ही भीतर थे।

आर्यावर्त में खनबाध विष्ट लोगों के लिए भाष्य में सामान्यतया आय भाष्य का प्रयोग है किन्तु बाह्य लोगों का सम्बन्ध उनके प्रदेश के नाम से हुआ है। उदाहरणार्थ—उन्होंने कहा है कि यदि अर्थ में 'धव' यागु का व्यवहार कम्बोजों में ही होता है। आर्य लोग विकार अर्थ में ही इसका प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार जाने के अर्थ में मुराष्ट्र में 'हम्' शब्द प्रचलित है, प्राच्य और मध्य देशों में 'रंहु' तथा आर्यों में गम्। प्राच्यों में काटने के अर्थ में 'हाति' शब्द का प्रचार है, किन्तु उदीच्य देशों में 'दाज' का।<sup>४</sup> प्राच्य-मध्य या प्राच्य और मध्यदेश से उनका क्या आशय है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। वास्तव में भाष्यकार के प्राच्य प्राच्य-मध्य मध्यम दाक्षिणात्य, प्रदीच्य आदि देशों के बीच कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं है। स्पष्ट रूप से आर्यावर्त को शब्द मानकर उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग किया है।

पूर्व में अथ शंभु गृह्य और पुष्यु तक से उनका परिचय था।

अनपद और विषय—पतंजलि ने अनपद, विषय निवास और देश शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया है। अनपद किसी-न-किसी क्षत्रिय जाति के नाम पर बने थे। कोई क्षत्रिय जाति जितने प्रदेश पर अधिकार करके वहाँ बस गई, उतना प्रदेश उस क्षत्रिय जाति के नाम पर पुकारा जाने लगा। कम्बोज गान्धार, काश्मीर, अंग, शंभु चोड, केरल बबन्धि आदि इसी अर्थ में अनपद थे। कभी-कभी एक 'जन' की स्थिति दुर्बल हो जाती थी और दूसरा 'जन' उसके प्रदेश पर अधिकार कर लेता था। ऐसी स्थिति में प्रथम लोगों का वह निवासमात्र रह जाता था और द्वितीय जन का विषय वा विषयानिवास अनपद बन जाता था। भाष्य ने वहाँ किसी प्रदेश को

१ अष्टा० ४-२-१०९ तथा ११७; भाष्य ४-२-१०४, पृ० २०६६।

२ ७-३-१४, पृ० १७९।

३ अर्थः प्राच्यः, अथ उदीच्यः, अथ मध्यमा सर्वे निवासतस्तथाः—४-२-१३८, पृ० २१८।

४ क्षत्रियसिद्धिर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो बबन्धि विकार एतन्मासीं महाशते शय इति। हम्भतिः मुराष्ट्रेषु रंहुतिः प्राच्येष्वेव, यमिनैव स्वार्थाः प्रयुज्यन्ते। हातिसंभवाय प्राच्येषु शय भूदीश्वेषु।—आ० १, पृ० २१।

किन्हीं लोगों का निवास कहा है वहाँ उनका तात्पर्य केवल निवास से है यह आवश्यक नहीं कि वहाँ उनका आधिपत्य भी हो। उदाहरणार्थ—मासावत लोगों का निवास मासावत-प्रदेश था। विषय का अर्थ अधिकृत देश था। यह आवश्यक नहीं कि अधिकारी 'जन' उस प्रदेश के निवासी भी हों। उदाहरणार्थ—शैब बासाव, बान्बाव, बंग सुसु, पुष्पु, राजस्य वैभवातव आदि विषय इन प्रदेशों पर सम्बन्ध जातिपों के अधिकार को सूचित करते हैं। सम्भव है, इनमें किसी जाति का एसा विषय भी हो जिसमें वह पशु ही न हो।<sup>१</sup> वैश शब्द सामान्यतया स्वाम का शक्ति का। उसका विशेष नाम दो वारणों से पड़ता था। किसी जाति का निवास होने के कारण या उसके अभिजन सम्बन्ध से। कोई वैश तब किसी जाति का निवास कहला सकता था जब वह जाति वहाँ बसती हो। अभिजन के लिए बतमान काल में रहना आवश्यक न था।<sup>२</sup> पूर्वजों के निवास अभिजन माने जाते थे। भाष्य में जनपद शब्द धाम-समुह के अर्थ में कई बार प्रयुक्त हुआ है। जातिविशेष, उसके जनपद और उस जनपद के राजा के लिए एक ही शब्द का व्यवहार होता था।<sup>३</sup>

जनपदों में कभी-कभी दो या अधिक समुक्त हो जाते थे। तब वे जनपद-समुदाय कहलाते थे।<sup>४</sup> सुहक-मातव या काशी-कोसल इस प्रकार के जनपद-समुदाय थे। किसी-किसी जनपद के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे जनपद उसके प्रान्त-रूप में होते थे। इन्हें जनपदावयव कहते थे।<sup>५</sup> सास्व के कई बटक सास्वावयव के नाम से प्रसिद्ध थे। कुछ जनपद मिलकर एक संघ बना बैठे थे। त्रिमसंपत्त इस प्रकार का जनपद-संघ था। एक ही जनपद के प्रान्तों में सीमा पर के छोटे जनपद जनपदावधि कहे जाते थे।

वैश—वैश शब्द का प्रयोग जनपद विषय या निवास अर्थ के अन्तर्भाव के बिना ही होता था। इसी आशय से भाष्यकार ने कहा है कि जो शब्द एक देश में प्रयुक्त नहीं होते वे देशान्तर में प्रयुक्त होते हैं। देश में कम्बोज सुराष्ट्र आदि भी गृहीत होते थे और प्राच्य मध्य आदि भी इसी सामान्य अर्थ में भाष्य में प्राचा वैश उचीष्य वैश या वाशिवास्थ वैश शब्दों का व्यवहार है और भीहितमम समस्तमम हीणवतीक निर्ग आदि का भी।<sup>६</sup> इन स्थानों में वैश शब्द छोटे से क्षेत्र का वाचक है। बगती या निवास के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

राष्ट्र—राष्ट्र शब्द का भी व्यवहार पुस्तकालिका ने किया है किन्तु उसका निश्चित स्वल्प

१ ४२-७२, पृ० १९५।

२ ४-२-५२, पृ० १८५।

३ निवासो नाम यत्र सप्रत्युप्यते अभिजनो नाम यत्र पूर्ववपितम्।—४ ३-१०, पृ० २४६।

४ ४-१ १६, पृ० १६२।

५ ४ १-५४, पृ० ६८।

६ ४ २-११३, पृ० २१७ तथा ४ १ १७३।

७ ५ ३-११६, का०।

८ ४-२-११४, पृ० २१५।

९ भा० १, पृ० २१।

१० १४१ पृ० १०७।

उन्होंने उपस्थित नहीं किया है। पाणिनि और पतंजलि दोनों से इतना संकेत अबतक मिलता है कि राष्ट्र किसी राजा के अधीन प्रवेश को कहते थे।<sup>१</sup> उसमें किसी जाति-विषय के निवास-स्थान या उसके द्वारा अभिवृत्त विषय होना का अर्थ निहित नहीं था। 'निघण्टु' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है।

टीर्थ—अनेक जनपदों उनमें निवास करनेवाली जातियों पर्वतों पर्वतीय निवास स्थानों, जनों बसी जातियों नगरों, ग्रामों और नदियों से परिचय पाने के बाद भी महामाध्य के पाठकों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण माध्य में किसी स्थल का उद्भूत रूप में उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं टीर्थ शब्द एक केवल एक बार आया है और वह भी गुरुकुल के अर्थ में।

समुद्र—माध्यकार ने भारत का स्थान अबतक पूरा नहीं होता अबतक तीन सीमान्तों पर उसका पाद-प्रशासन करनेवाले समुद्रों का स्थान न कर सिमा जाय। उन्होंने बाइबल-सहित समुद्र का अनेक बार उल्लेख किया है।<sup>२</sup> जिस प्रकार हिमालय के समानार्थी अनेक शब्दों में केवल हिमवान् से उन्हें अर्थ है उसी प्रकार सागर के अनेक पर्यायों में समुद्र से। सागर ही नहीं सागर से सम्बन्ध प्रवेशों में कच्छ द्वीप, अनूप अन्तरीप और अन्वीप नाम माध्य में आये हैं।<sup>३</sup> कम्पानुप से तो वे परिचित थे ही।

सांस्कृतिक एकता—पतंजलि द्वारा बर्णित देश के भीतर हिन्दूधर्म से हिन्द-महासागर तक (जिसमें अफगानिस्तान का भी अधिकार्थ सम्मिलित है) तथा कच्छ-काठियावाड़ से कासाम तक का साधन अत्र आ जाता है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जो जातियाँ इस क्षेत्र के भीतर रहती रहीं हैं वे रहन-सहन के सामान्य भवों के होते हुए भी कुछ सामान्य सूत्रों में बाँध थीं। इनमें सबसे बढ़कर एकसूत्रता भाषा की थी।

१ यो हि राष्ट्रं प्रायेण भवति तत्र मजोसो भवति। —४-१ ३९, पृ० २३३।

२ २-१ ४२, पृ० २९४।

३ ८-१४, पृ० २६४।

४ १-१७ पृ० ४३१-संघो १४-६, पृ० १३६।

## अध्याय २

### पर्वत और अरण्य

११

हिमवान्—आवर्तित की सीमा के बर्नन प्रसंग में भाष्यकार ने हिमवान् और पारियात्र का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> हिमवान् भाष्य की उत्तरी सीमा का प्रहरी रहा है। यह नाम शार्ङ्ग या क्योंकि इसकी चोटियों पर बाख्यों मास बर्फ जमी रहती है। हिमवान् की शृंग-श्रेणियाँ 'हिम्य' कही जाती थीं।<sup>२</sup> हिम की अविनष्टा के कारण यह सदा भी मई थी। इसके ठीक विपक्ष में पर्वत हैं जिनपर हिम का लेसमात्र नहीं रहता। ये पर्वत 'हिमेतु' कहे जाते थे।<sup>३</sup> भाष्यकार हिमालय की महत्ता शृंगता और विस्तार से परिचित थे। उन्होंने गुच्छा के प्रतीक के रूप में उसका वर्णन किया है।<sup>४</sup> हिमालय पर बमनेवाली बर्फ का अन्वार 'हिमानी' कहलाता था।<sup>५</sup> शृंगों पर जमी हुई बर्फ प्रीत्य काल में पिघलती है, जिससे नदियों में पूर जाता है। भाष्य में इस 'हिमभ्रम' कहा है। हिमभ्रम हिमालय से निकलनेवाली नदियों को सतत बस प्रवाह करता रहता है। इन नदियों में पत्ता का उल्लेख भाष्य में विशेषतः हुआ है।

हिमशृंग—भाष्य में हिमालय की दो चोटियों के नाम मिलते हैं। ये चोटियाँ 'सीर्य' कहलाती थीं जिनके कारण हिमालय का एक नाम 'सीर्य' भी था। सीर्य-शृंग कौन-से हैं, यह पता अभी तक नहीं लग सका है। 'प्रस्व' भी हिमालय के दो शृंग बतलाये गये हैं। प्रस्व सीर्य-शृंगों का ही श्रुत नाम था या अल्प किन्हीं घिसरी का अथवा पर्वत के ऊपर की सपाट मूमि के अर्थ में प्रस्व सम्य आया है यह निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। भाष्यकार ने सीर्य और प्रस्व दोनों का प्रयोग द्विवचन में किया है जिससे यह अनुमान होता है कि वे हिमालय की किन्हीं दो चोटियों में अवश्य परिचित थे। सीर्य-शृंगों के कारण ही हिमालय का नाम सीर्य पड़ने से इतना तो निश्चिन्त है कि सीर्य किसी विशेष चोटी का नाम था सामान्य संज्ञा सम्य नहीं था। प्रस्व के

१ २-४ १० पृ० ४६५।

२ ५-२ १२०, पृ० ४२०।

३ ५-२-१२२, पृ० ४२१।

४ ५ ३-५५, पृ० ४४५।

५ १४-१३, पृ० १४०।

६ ४-१ ४५, पृ० १३।

७ ११४ पृ० १३३।

८ १४ ३१ पृ० १६६।

९. सीर्यो हिमशतः शृङ्गो। तत्रान् सीर्यो हिमवान्।—१ १-५७, पृ० ३७१।

विषय में यह बात नहीं बही जा सकती। फिर भी प्रत्य हिमालय की ही चोटियाँ थीं। अन्य किसी पर्वत की भाँगी के लिए यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता था। 'प्रत्ये हिमवतः शृङ्ग' का अर्थ यह भी हो सकता है कि हिमालय की दो चोटियाँ प्रत्य (ऊपर समतल स्थानवासी) हैं। हिमवान् का एक शृंग गौरीशंकर मध्य में नीचा होकर पूर्व और पश्चिम छोरों पर ऊँचा है। इस कारण वह एक होकर भी 'द्विबन्ध' प्रतीत होता है। संभव है, इसी शृंग को प्रत्य कहने हों।

माप्यकार न हिमालय को समनवील कहा है। यह उससे पिचसकर बहनेवासी बर्फ या निकलनेवाली नदियों को लय कर कहा गया है। सामान्यतया पर्वत त्रिकाल-स्थिर कहे गए हैं।

त्रिकुटुब्ध-श्रेणी—प्राचीन ग्रन्थों में हिमालय के अनेक नाम मिलते हैं किन्तु पतंजलि ने सबसे हिनवान् शब्द का ही प्रयोग किया है। हिमालय का विस्तार मुसलमान पर्वत-श्रेणी से लेकर भारत की समस्त उत्तरी सीमा आसाम तथा पूरब में अराकान पर्वत-श्रेणियों तक माना गया है। पाणिनि भी इससे परिचित थे। उन्होंने त्रिकुटुब्ध का उल्लेख किया है, जो काशिकाकार के अनुसार कुरुवाकार शृंगोवाल पर्वत-विषय का नाम था। तीन चित्तरोवाले अन्य पर्वत त्रिकुटुब्ध कहे जाते थे। त्रिगुहवादि गण के सात्वतागिरि, भजनागिरि, भजनागिरि, सोहितागिरि और कुक्कुटागिरि मुख्य नाम और समीपवर्ती पर्वत-श्रेणियों का नाम थे। इनमें कुक्कुटागिरि का उल्लेख दो पाणि-ग्रन्थों में भी मिलता है। अजनागिरि का उल्लेख रामायण के किकिन्धाकाण्ड (३७-५) में है। यह मुसलमान पर्वत का ही प्राचीन नाम है। यह बलूचिस्तान को पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश से पृथक् करता है। इसकी सबसे ऊँची चोटी तस्ते मुसलमान ११२१५ फुट ऊँची है। इसी प्रकार भजनागिरि का सर्वोच्च शिखर (५४५१) में पाया जाता है। पाणिनि ने आयुष्मतीशिवों के निवास-पर्वतों की श्रेणियों की है और काशिकाकार ने उनमें हृदयास अन्तर्गत रोहितागिरि एवं अजनागिरि नाम गिनाये हैं। य मत्र भी मुसलमान पर्वत-श्रेणी का ही अर्थ है। हृदयास का प्राकृत नाम हिमुस है, जो अजनागिरि या हिमुस नदी के किनारे, समुद्र-तट से कोई २० मील की दूरी पर पर्वत-श्रेणी के छोर के रूप में बलूचिस्तान में अवस्थित है। शिखर (५४१५) में भी हिमुसगिरि हिमालय में ही बनलाया गया है। सोहितागिरि हिन्दूकुश पर्वत का पुराना नाम है जिसका आकार पर अफगानिस्तान का प्राचीन काल में राह नाम दिया गया था। पतंजलि

१ ३-३-५८, पृ० ३०८।

२ हिमवानपि गच्छति।—३-१-२३, पृ० २५६।

३ वही, पृ० २५५।

४ त्रिकुटुब्ध पर्वते कुरुवाकार पर्वतस्य शृङ्गं कुरुवमित्युच्यते। न च सर्वत्रिषुशिवः पर्वतत्रिकुटुब्धः। किं तर्हि? संज्ञेया पर्वतविशेषस्य। त्रिकुटुबोऽप्यः।—५-४-१४७ काशि०।

५ ३-१-११७।

६ अजनागिरि पृ० १७८।

७ ४-३-११।

८ ३० अथा० विज्ञ०, पृ० ७५।

का मात्स्यवत् वा वर्तमान मात्स्यकम् भी जो स्वात नदी के दक्षिण में है इसी क्षेत्री का अंग है।  
 धी बी० सी० सा क मत से हिन्दूकुश का प्राचीन नाम मात्स्यवत् था।<sup>१</sup> रामायण और काशिका  
 ने मात्स्यवान् शंका और चित्रकूट के बीच माना है। सम्भव है मात्स्यवत् ही हिन्दूकुश का प्राचीन  
 नाम रहा हो। कापिली के साथ भाष्यकार ने पार्वयन का उल्लेख किया है।<sup>२</sup> डॉ० वा० घ०  
 अग्रवाल के मत से यह किमुक्कपागिरि का प्रदेश है जिसे प्राचीन लेखकों ने pardene कहा है।<sup>३</sup>  
 पार्वयन अथ्य पर्वतशिक के अनुसार, परि से बना है। डॉ० अग्रवाल के मत को स्वीकृत करने पर  
 किमुक्क हिमाला और पवि पर्यायवाची ठहरते हैं। बरद की चर्चा भाष्य में बार-बार हुई है।  
 वरद पर्वत-क्षेत्री तथा उसके निवासियों से भाष्यकार का निकट परिचय प्राप्त पड़ता है।  
 वरद में होकर बहने के कारण सिन्धु धारवी कही गई है।<sup>४</sup> उत्तर-पश्चिम पर्वत-भागियों को  
 छोड़कर हिमवान् के अन्य भागों का उल्लेख भाष्य में नहीं मिलता।

हिमवान् के अन्तर्गत भाग—हिमात्म्य के तीन विभागों महाहिमवान् सुब्रहिमवान्  
 और बर्हिहिमवान् से भी भाष्यकार परिचित पान पड़ते हैं। 'जम्बुद्वीपकल्पति' में भी इन  
 विभागों की चर्चा आई है। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार ने 'महान् हिमवान्' का उल्लेख  
 पूर्वमि पर्वत-माता के लिए उसके विशिष्ट अर्थ में ही किया है। पाणिनि का 'गिरेष्व सेतकस्य'  
 सूत्र (५ १ ११२) भी इस और संकेत करता है कि पर्वतशिक-काल में अँवाई और विस्तार  
 की दृष्टि से हिमालय के अन्तर्गत श्रेय और नाम प्रचलित थे। इस सूत्र के अनुसार निम्न  
 छन्द संज्ञावाचक थे। उदाहरणार्थ—सन्तर्गिरि सन्तकपरमया जिसे की राजमहल पहाड़ियों  
 का एक नाम कहलाता था।<sup>५</sup> हिमात्म्य की अधिकता बर्हिगिरि कहलाती थी। उपत्यका  
 हाथियों की अधिकता के लिए प्रसिद्ध थी। यह नेपाल की तराई और बुर्ब का भाग  
 है। पर्वत बुर्बों से भरे-पूरे होते हैं, यह अनुमान भाष्यकार ने हिमवान् को देखकर ही किया  
 होगा।<sup>६</sup>

पारियात्र—पारियात्र आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा थी। भाष्यकार ने आर्यावर्त की  
 सीमा क प्रकारों को छोड़कर अन्यत्र भी हिमवान् के साथ ही पारियात्र का उल्लेख किया है।<sup>७</sup>

१ अग्रवाल पाणिनि, पृ० ४१ तथा हिस्टा० व्यापा०, पृ० १८।

२ ४-२-१९, पृ० २०३।

३ हिस्टा० व्यापा० पृ० ४०।

४ ४ १ १९० पृ० १४१, ६ ३ ३४, पृ० ३९०, ६ ३-४२ पृ० ३२९।

५ ४ ३-८३ काशिका।

६ पाणिनि काशिका पृ० ५० ३२५ नोट।

७ ७-३ ४५, पृ० १८९। धी ला (ब्राह्मण इन ऐन इ० पृ० ३८९) के अनुसार

भागलपुर और मुगिर के पासका बहाड़ी क्षेत्र बर्हिगिरि था।

८ ५ २-१४ पृ० ४०८।

९ बर्हि, पृ० ४०३।

१० ८ १४ पृ० २६४।

परमेश्वर भी पारियात्र का उत्तरापथ और इलिपापथ के बीच सीमा तथा मानत हैं। पारियात्र का सर्वप्रथम उल्लेख बीबापन (११२५) में मिलता है। स्वल्पुच्छप में इसे भाग्यवर्द्ध के मध्य में स्थित और शुभादीश्वर का दूरतम स्वरूप बताया है। पात्रिटर के मत में पारियात्र वलमान नौनाल के पश्चिम में स्थित विन्ध्य भाग तथा अरावली पर्वतों का प्राचीन नाम था।<sup>१</sup> एनी को टोलेमी (Ptolemy) ने Apokopa कहा है।<sup>२</sup>

विन्ध्य—विन्ध्य की बर्षा भाग्य में जानुपगिक रूप में ही आई है—कोई चाहे ना छाने सी धार्य-राशि का विन्ध्य कह सकता है। इससे स्पष्ट है कि पत्रबलि विन्ध्य की ऊँचाई में परिचित थे। इपीलिय, उन्होंने बर्षितक की उपमा हिमवान् में न लेकर विन्ध्य में ली है।<sup>३</sup> पत्रबलि काल में विन्ध्य पर्वत वर्तमान विन्ध्य पर्वत की उम तथा कल्प प्रयुक्त होना था जो नर्मदा और ताप्ती का उद्गम-स्थल है और जिसे टोलेमी ने ओव्डोन (Ovndon) कहा है। विन्ध्य का विभिन्न भागों के कल्प-अलय नाम था। उदाहरणार्थ—विन्ध्य-पाट-अलय उम मनी का नाम था जिसे टोलेमी ने Sardonayr बताया है। यह ताप्ती का उद्गम-स्थल सतपुहा-धानी है।

बिदूर—बिदूर पर्वत वैदूर्य मणि का प्रसन्न माना जाता था। वास्तव में इनका नाम शालग्राम या किन्तु वैद्याकरण बिदूर कहलें थे। वैदूर्य मणि बिदूर में उत्पन्न नहीं होती थी वहाँ उसका संस्कार किया जाता था।<sup>४</sup> बिदूर सतपुहा की उस धरती को कहलें थे जिनमें होकर ताप्ती की सहायक नदियाँ पयाप्ती और नर्मदा बहती हैं।<sup>५</sup> महागुजरात-ग्रंथ में है। महाभारत के अनुसार अगस्त्य का आश्रम इस पर्वत पर था। सद्गात्रि से संबद्ध सबसे महास्वर्ण पर्वत यही है। पश्चिमी घाट-धरती का उत्तरांचल इसके अन्तर्गत था किन्तु महाभारत के अनुसार इसमें इलिपी विन्ध्य का एक भाग तथा सतपुहा-धानी सम्मिलित थी।

शरणात्मिक—शरणात्मिक पर्वत क चारों ओर के वन भी शरणात्मिक कहलाते थे। पत्रबलि के अतिरिक्त बगोक क गुफा-सैकों (सं० २ ३) में भी इसका उल्लेख है। गया के उत्तर और राजपूट के पश्चिम में स्थित वर्तमान बराबर पहाड़ियों का ही इसका नाम शरणात्मिक था।

### शरण्य

पत्रबलि के समय में देश का एक बड़ा भाग वनों या शरण्यों से घिरा था। शरण्य पशु

१ काः माड० सोफ् इण्डिया, पृ० १७-१८।

२ पैत्रिडिल टोलेमी, पृ० ३५५।

३ २-३-५०, पृ० ४४२।

४ वैद्याकरणः बालचार्य बिदूर इत्युपाचरन्ति।—४ ३-८६, पृ० २४३।

५ अनुलोप्य निर्वोतो न ह्यसौ बिदूरान् प्रमबलि बिदूरे संतिष्यते।—बही।

६ महाभारत ३ १२१ १६ से १९।

७ शरणात्मिक पर्वतस्थानुरमवाति शरणात्मिकं वनानि।—१ २-५२, पृ० ५५५।

८ नर्मदा औफ् बीपाल औरियच्छत रिशर्ष सीतामती, जिस् १ भाग २, पृ० १६९।



## अध्याय ३

### नदियाँ

सिन्धु—महामाध्य में पर्वतों के साथ-साथ सम्पूर्ण आर्षावर्त और उससे बाहर भारत में बहनेवासी बहुत-सी नदियों के नाम आने हैं। इनमें भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त देश सिन्धु तथा पंजाब में बहनेवासी सिन्धु-समूह की नदियाँ प्रमुख हैं। आग्नेय की दृक्कीस नदियों में सात का ही उल्लेख भाष्यकार ने किया है। आग्नेय में सिन्धु का महत्त्व सर्वाधिक है। इसमें सिन्धु इस प्रकार बनों का पोषण करनेवाली नहीं गई है, जैसे माता पुरुषों का या गो वृत्त से मनुष्यों का पोषण करती है।<sup>१</sup> नगीसूक्त (१०-७५) में जो त्रियमेय-परिवार के सिन्धुक्षिप्त की रचना है सिन्धु का वर्णन अन्य सब नदियों से अधिक हुआ है। वह देवताओं के समान रूप पर चलती कही गई है। इस सूक्त की छठी और आठवीं श्लोकों में भी उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा की गई है।<sup>२</sup> आग्नेयकालीन सम्प्रदाय का निर्माण नदियों के किनारे पर हुआ था। इस काल में घटनाओं और व्यक्तियों के नाम तक नदियों के नाम पर रखे जाते थे। महामाध्य-काल की स्थिति मिला थी। उस समय सम्प्रदाय का केन्द्र सिन्धु प्रदेश के बड़े आर्षावर्त बन गया था जिसकी सीमा सरस्वती के नीचे की ओर थी। इसीलिए भाष्यकार ने सिन्धु-समूह की अपेक्षा गंगा-समूह की नदियों का उल्लेख अधिक किया है।

सप्त सिन्धवः—सिन्धु का स्वतन्त्र उल्लेख भाष्य में केवल एक बार आग्नेय के एक उद्धरण के अन्तर्गत हुआ है। इससे पता चलता है गौका द्वारा सिन्धु पार की जाती थी यद्यपि यह काम कठिन माना जाता था। एक स्थान पर उद्धरण के भीतर ही सप्त सिन्धुओं की भी कर्त्ता आई है।<sup>३</sup> प्राचीन काल के आर्य देश का वर्णन सात सिन्धुवा सरस्वतियों बंदामों या नदियों के द्वारा करने की परिपाटी रही है। आग्नेय-काल में सम्पूर्ण आर्षावर्तित प्रदेश का वर्णन 'सप्त सिन्धवः' कहकर किया जाता रहा।<sup>४</sup> पंजाब की पाँच नदियाँ सरस्वती या कुमा (कामुक) और सिन्धु मिलाकर 'सप्त सिन्धवः' कही जाती थीं। जब आर्षावर्त का विस्तार आसमूह हो गया

१ अमिता सिन्धो सिमुनिगु न मातरो वाभा अर्पति पयसेव वेनवः। —ऋग्वे० १०-७५ ४।

२ मुत्तं रूपं मुपुत्रे।—ऋग्वे० १०-७५-९।

३ वही, ऋग्वे० ९, ८।

४ सप्तः सिन्धुमिव नावया।—ऋग्वे० १९, पृ० ४५।

५ भा० १, पृ० १०।

६ ऋग्वे० १०-७५ ४।

तब यथा यमुना, यादावती सरस्वती नर्मदा सिन्धु और कावेरी य 'सप्तसिन्धु' कहलाने लगीं।' बीरों के मध्यदेश की भी बाहुका अधिकतका गया (पन्थु) मुन्दरिका सरस्वती प्रयाग (यंथा-यमुना-संभव) और बाहुमती य सात ही पवित्र नदियाँ हैं।' विमुद्धिमग्न म इनके स्थान पर यंथा यमुना सरयू सरस्वती अचिरवती माही और महानदी य सात नाम मिलते हैं। चत्र क म्हरीसी स्तम्भ-सेत में सिन्धु क सात मुख बतलाये गये हैं। य समुद्र म मिल्न से पहल सिन्धु की सात आटाएँ हैं। ये भी 'सप्त सिन्धु' कही जाती रहीं हैं।

सिन्धु-समुह—सिन्धु तिब्बत क पश्चिम भाग में कैलास पर्वत क उत्तर-पूर्व में स्थित मानस शील से निकलकर पहले दो पाराओं में बहती है जिनमें एक पाप कैलास के उत्तर पश्चिम की दिशा में चली जाती है और दूसरी दक्षिण-पश्चिम दिशा म। प्किनी क मनुसार सिन्धु-समुह में उन्नीस नदियाँ मिली जाती थीं जिनम सर्वाधिक महत्त्व की नदी सतलज (Hecydrus) है। सिन्धु भारत की पश्चिमी सीमा मानी जाती रहीं है।<sup>१</sup> मनीमुक्त में सिन्धु की कई सहायक नदियों का उल्लेख है। इनमें कुमा का आधुनिक नाम बाबुल है जिस एरियन (Arrian) ने Kophes कहा है और पुराणों न कुहू। इसी में सुवास्तु या स्वाठ और मोटी (यंत्रकोट) मिस्री हैं। वैदिक ऋग्यु, जिस अथ कुपम कहते हैं तथा नामक मर्ग को बाल्यवात् कर सिन्धु में मिलती है। गामती या गोमछ इसकी पश्चिमी सहायक नदी है।<sup>२</sup>

सिन्धु-समुह की नदियाँ—सिन्धु की पूर्वी सहायक नदियों में चन्द्रभागा (बेनाब) बितस्ता (सेतम) इरावती (राबी) और बिपासा (प्यास) हैं। चन्द्रभागा नदी का पश्चिमन बाह्लादि पप में हुमा है। यही ऋग्वेद की अश्विनी है, जिसे एरियन न Akemes कहा है। इरावती का उल्लेख काशिकाकार ने इन्द्र क एकत्व-प्रसंग म उद्भ्य के साथ किया है। इस ग्रीक इतिहास कारों ने Hydradis, Adrus या Rhonadis कहा है। यह सभ-प्रथम काश्मीर में चम्ब क दक्षिण पश्चिमी किनारे पर दिलाई देती है। वहाँ से साहौर होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई बितस्ता और चन्द्रभागा को संयुक्त पाप में मिल जाती है। बिपास बिपासा या प्यास पीरपंजाल विरिमाळा से निकलकर काश्मीर में राबी के उद्गम-स्थल चम्ब के पास ही दुर्जियोचर होती है और फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई २९० मील क बाद पतुत्रि में मिस्री है। इसे ग्रीक लोगों ने Hypases या Hyphasias कहा है। आप्यकार न बिपासा और पतुत्रि रोम

१ पञ्जा यमुना चैव पोवा चैव सरस्वती।

नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेस्मिन् सभिधि कुः॥

२ मक्सिमिलियान १ पृ० ३९।

३ विमुद्धिमग्न १ १०।

४ तीर्थार्थ सप्त मुञ्जानि येन समरे सिन्धोव्रिता बाह्विकता।

५ दीर्घिष्ठः ऐन० इण्डि० पृ० २८, ४३।

६ डॉ रिचर्स डॉल् इण्डिया पृ० ९१०।

७. ४१ ४५, पृ० ५६।

८. २-४-७।

का उल्लेख गंगा और यमुना के साथ किया है।' उन्होंने ऋग्वेद का एक मंत्रांश (३-३३-१ तथा १०-७५-५) भी उद्धृत किया है। जिसमें क्षुद्रि नाम आया है।' विपासा का परिगणन घरबावि गण में भी है। पाणिनि ने विपासा के उत्तर और दक्षिण प्रदेशों में बनावे जानेवाले कूर्पों का विवेक उल्लेख किया है और दोनों ओर बने कूर्पों में अन्तर बतलाया है।' माप्यकार ने भी घरबावि गण में विपासा के परिगणन पर विचार किया है।' क्षुद्रि नाम छठवाद्यों में बहने के कारण पड़ा है। क्षुद्रि मानसरोवर के पश्चिमी भाग से निकलकर कमेठ (Kamet) पर्वत पर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ी है और फिर पश्चिम की ओर बसी है। बाद में कपूरथला के दक्षिण-पश्चिम छोर पर विपासा इसमें मिल गई है। इसके बाद क्षुद्रि और विपासा की संयुक्त धाराएँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बही हैं और अलीपुर तथा उच (Uch) के बीच में वे चन्द्रमाया से मिल गई हैं। पाणिनर ने अनुसार प्राचीन काल में यह सिन्धु के सीमांत तक स्वतन्त्र बहती थी। क्षुद्रि और विपासा की संयुक्त धारा अब 'बामर' कहलाती है। एरियन के समय तक यह नदी कच्छ की खाड़ी तक स्वतन्त्र रूप से बहती थी।'

माप्यकार ने सिन्धु की पाँचों सहायक नदियों के समूह को पंचनद कहा है और पंचनद में उत्पन्न होनेवाली वस्तु को पांचनद।' इस प्रकार, उन्होंने सतलज ग्यास रावी बैनाब और झेलम का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख भी कर दिया है। इनमें इरावती नाम इसके गहरे होने और तेज बहने के कारण पड़ा था। इरा (जस) की अतिव्यथा इसका कारण थी। इरावती कहीं-कहीं दो या तीन धाराओं में भी बहती थी और जिस प्रदेश में इसकी दो या तीन धाराएँ पाई जाती थी वह प्रदेश डीरावतीक या नीरावतीक कहलाता था।' कात्तिकापुराण (२४ १४०)के अनुसार इसका उद्गम इरा सीत से है। इरावती १३० मील तक हिमालय में बहती है और साहीर होती हुई महमदपुर और सरायसिन्धु के बीच विस्तृत और चन्द्रमाया की संयुक्त धारा में मिल जाती है।' सिन्धु की पाँचों सहायक नदियाँ संयुक्त रूप से पंचनद कहलाती थीं।

इस समूह की नदियों में सर्वाधिक महत्त्व की नदी सिन्धु है और बेरियस के बेहिस्तन (Behistun)-शिलालेख में इसे हिन्दू तथा Vendidad में Hentu कहा है। ओरोपीय लेखक

- १ ११२३, पृ० २०७।
- २ ऋग्वेद, ३-३३-१ तथा १०-७५-५।
- ३ इस में गङ्गे यमुने सरस्वति क्षुद्रि।—१२-३२, पृ० ५१०।
- ४ ५४-१०७।
- ५ उदयन विपासा।—४ २-७४।
- ६ ११२३, पृ० २०७।
- ७ पाणिनर: मार्क० पु०, पृ० २९१ नोट।
- ८ इन्वीरियस गजेटियर ओफ् इण्डिया, भाग २३, पृ० १७९।
- ९ ४१-८८, पृ० १००।
- १० १४१ पृ० १०७।
- ११ ता: रिचर्स ओफ् इण्डिया, पृ० १३।

इसे Indus तथा चीनी Siatu कहते हैं। यह जिस प्रदेश से होकर बही है उसका नाम भी इसी के आकार पर सिन्धु पड़ गया है।<sup>१</sup> अहलेस्ली के अनुसार पंजाब या चन्द्रमाया के संगम के बाद से आरंभ तक सिन्धु को पञ्चनद कहते थे। इससे पूर्व उसका नाम सिन्धु और बाद में मेहरान था।

सरस्वती—सिन्धु-समूह से नीचे की ओर उतरकर सरस्वती और दृपहती नामक दो प्रसिद्ध नदियाँ हैं। भाष्यकार ने दृपहती का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सरस्वती का नाम यथा भीर यमुना के साथ कई बार लिया है।<sup>२</sup> यमुना का बहनाइत इन्हीं दो नदियों के बीच अवस्थित था। मित्रिन्दपन्थ में सरस्वती को हीमवती नदी कहा है। सिद्धान्तधिमोनि ने यह कश्चिद् दुस्मा कश्चिद्वयवा' कही गई है। जिस स्थान पर यह विसृप्त होती है उसे महामारुत (८२३) तथा पद्मपुराण (ब०२१) में बिनद्यान कहा है। पद्मपुराण (३२१०५) में इसके यथा से भिन्न के स्थान को यथाद्वेद तीर्थ कहा है। कात्यायन (१२-३-२०) शाण्ड्यायन (१०-१५-१ तथा १०-१८-१३ तथा १०-१९-४) आश्वलायन (१२-६-२-३) तथा सांख्यायन (१३-२९) के श्रौतसूत्रों में सरस्वती-उद पर किये गये यज्ञों का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में मुख्यतः ऋग्वेद में सरस्वती का बार-बार उल्लेख हुआ है। वर्तमान दुस्मा सरस्वती शतुद्रि और यमुना के बीच में से होकर बहती है। ऋग्वेद-काल में यह बड़ी अफिठमती नदी थी और समुद्र में गिरती थी।<sup>३</sup> सरस्वती हिमालय की शिरपुर (shimur)-श्रेणी से, जिसे घियात्मिक कहते हैं निकलकर पटियाका के नीचे बहती हुई राजपूताना के मरु के उत्तरी भाग में विसृप्त हो जाती है। यही यमुना का बिनद्यान-प्रदेश है। जलोद नामक ग्राम के मरु में सृष्ट होकर यह एक बार मन्नामीपुर में प्रकट होती है। फिर बालाचापर में विसृप्त होकर बरबेड़ा में विसाई होती है। जर्नी के पास मार्कण्डा नदी इसमें मिलती है और अन्त में यह सम्यर या पर्वर में निकल जाती है। महामारुत के अनुसार भी सरस्वती एक बार सृष्ट होकर तीन बार फिर प्रादुर्भूत हुई है। ये स्थान हैं—अमसोव्मेध घिमोद्वेध और नागोद्वेध।

अन्य नदियाँ—पश्चिमी भारत की नदियों में उदुम्बरदावती और मध्यावती का नाम भी भाष्य में आया है।<sup>४</sup> नाघिका (४२-८५) में पुष्कलावती का भी उल्लेख हुआ है। इनमें पुष्कलावती यान्धार प्रदेश में होकर बहनेवाली स्वात नदी का पुष्कलावती नदी के पास स्थानीय नाम माकूम होता है। पुष्कलावती यान्धार जलपद की पश्चिमी राजधानी थी जिसे अब जलपद कहते हैं। यह नदी स्वात और कानुम नदी के संगम से कुछ ऊपर की ओर

१ १३-१० पृ० ३६ ।

२ १-२-३२, पृ० ५१० ।

३ मैसूरपुरः ऋष्य०, लं०, पृ० ४६ ।

४ अमसोवः ब० ८२, पृ० ६५० दे क्माया० विश्व०; पंजाब ग्जेटियर, अम्बाला जिला ।

५ ४२-७१, पृ० १९४ ।

स्वित रही है। मघकावती नी पुष्करावती के समान स्वात का स्थानीय नाम ही नाम पड़ता है। मघकावती युद्धप्रती आसक्तकामनों की जिन्हें धीक लेसकों ने asaknoi कहा है, राजधानी थी। इसे मघय कहते हैं। मघय के पास से बहनेवासी स्वात को ही स्थानीय भाग मघकावती कहते होंगे। स्वात का प्राचीन नाम सुमवास्तु या सुवास्तु था। उबुम्बररावती औबुम्बर प्रवेश की जिसे भी बी० सी० का पठानकोट के पास-पड़ोस मानते हैं स्थानीय नदी थी। पाणिनि (४ १ १७२) क अनुसार उबुम्बर सास्व-जनपद का एक भाग था। कनिष्क वर्तमान अक्षय्य राज्य का प्राचीन सास्व मानते हैं। उबुम्बर-प्रवेश की नदी उबुम्बररावती रही हो यह सम्भावना की जा सकती है। भाष्यकार के मत से ये नाम सम्बद्ध वेधों क विशेषण हैं। इस प्रकार, उबुम्बर, मघक पुष्कर, वारण नामक स्थानों सहोकर बहनेवासी नदियाँ कमस-उबुम्बररावती मघकावती पुष्करावती और वारणावती कहलाती थीं।

गंगा-समूह—मध्यप्रदेश की नदियों में गंगा और यमुना मुख्य हैं। भाष्यकार ने सर्वाधिक उत्सन्न जन्हीं का किया है। य इनमें मिलनेवाली अनेक नदियों से परिचित थे जो इनमें मिलकर अपना नाम-रूप विकीन करती हैं और गंगा यमुना नाम से ही पहचानी जाती हैं। गंगा हिमालय से निकलती है और उससे प्राप्त होनेवासे जस से सदा भरपूर रहती है। इसीलिए, उसे हीमवती कहते थे। इसी प्रकार, सिन्धु दरदिस्तान की पहाड़ियों से होकर बहने के कारण दारवी कहलाती थी। गंगा के किनारे हस्तिनापुर और वाराणसी नगरियाँ बसी हैं, यह बात भाष्यकार को ज्ञात थी। उन्होंने पारेणक शब्द का भी प्रयोग किया है। यह गंगा के दक्षिण तट का प्रदेश होगा। गंगा मध्यप्रदेश की सर्वाधिक प्रसिद्ध नदी थी। भाष्यकार के समय में सम्प्रदाय का केन्द्र सिन्धु और सरस्वती से हटकर गंगा और यमुना का दामाव हो गया था। सस्कृत सत्तकों क अनुसार गंगा की मुख्य सहायक नदियाँ उन्नीस हैं। गंगा क अनेक भागों में भाष्यकार ने मना के अतिरिक्त अन्य कोई नाम नहीं किया है। आधुनिक भूगोलविद् गंगा का उद्गम गङ्गवाल पर्वत-श्रेणी से गंधोत्री से मानते हैं। रामगंगा गोमती यमुना तमसा (टोंस) सरयू यण्डकी (सदानीरा) कमला कौशिकी (कोसी) सोन (सोण) फ-गु, सङ्घति (सङ्घटी) जम्ना वामोदर आदि नदियाँ भाग में गंगा में मिलती जाती हैं। गंगा इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसकी पूजा प्रतिष्ठित सं शिषे लगत से एक मन्नादि किये जात थे जा मगामह कहलात व।

१ वा० श० अथवात्त १—ज्यापा० बेटाइन पाणिनीय अष्टाध्यायी।—अनल ओंफ पु० पी० हिस्टो० सो० जिस्व १६ भाग १ पु० १८।

२ इन्द्रस इत एन० इण्डिया ५० ३५५।

३ ११२३ पु० २०७—१-२-३२ पु० ५१२।

४ अनेका नदी गंगा यमुना क प्रविष्टा गंगायमुनाप्रह्वेन-सूहते १ १-७२, पु० ४५०

५ १४ ३१ पु० १६७।

६ ४ ३-८३।

७ २-१ १६, पु० २७३।

८ मैथिलियलः ऐन० इण्डि० पु० १३६ से।

९ ५ १ १२, पु० ३०२।

गंगा विशेष कृष्णरूपा भी नहीं है, इसीलिय 'वज्रायी घोष' यह साधनिक प्रयोग प्रचलित हो सका।' उम्भारग स्रोतार्गम आदि प्रदेशों के नाम गंगा के कारण ही रहे सके थे। यमुना गंगा की प्रथम और सबसे बड़ी सहायक नदी है। यमुनोत्री या क्रमेश पर्वतमासा से निकलकर यमुना धिबालिक गग-भोगी की घाटी और गढ़वाल से होकर मैदान में सरती है और समानान्तर बहती चलती है। प्रयाग के पास यह गंगा में मिस जाती है। इसी बात को इन्डि में रखकर भाष्यकार ने कहा है कि अनेक नदियाँ गंगा और यमुना में प्रविष्ट होकर उन्हीं के नाम से जानी जाती हैं। यमुना बीड़ों की प्रसिद्ध पाँच नदियों में से है। इसके किनारे भी अनेक तीर्थ हैं। ग्रीक सेसकों ने इसे Erannaboas या हिरण्यवाह कहा है। स्कन्दपुराण के अनुसार इसकी एक सहायक नदी बालुवाहिनी भी है।

रामगंगा की दूसरी बड़ी सहायक नदी है जिसका उल्लेख भाष्यकार ने किया है। यह रामगंगा का प्राचीन नाम है जो अलमोड़ा (कुमायूँ) के ऊपर से निकलकर फर्कनाबाद और हरदोई के बीच गंगा में मिलती है। इसकी एक बड़ी सहायक नदी हुमती है जिसे आजकल घोहा कहते हैं। हुमती या घोहा भी कुमायूँ से निकलकर रामगंगा के समानान्तर बहती हुई बरेली छाहबहापुर जिलों को पार कर रामगंग-गंगा-संगम से कुछ ही पहले हरदोई जिले में राम गंगा से मिलती है। गंगा के दूसरी भाग फर्कनाबाद जिले से होकर बहनेवाली नदी इक्षुमती है जो आजकल ईसन कहती है। इसे कामी या कामिनी भी कहते हैं। भाष्यकार ने इन दोनों नदियों का उल्लेख किया है। मानसपुराण (५१०-१) के अनुसार इक्षुमती कुक्षेत्र की एक नदी का नाम था।

सरयू से भाष्यकार परिचित था। पाणिनि-शुभ्र (६४ १७४) की जिसमें सरयू में होने वाली बस्तु को सारय कहा है, भाष्यकार ने विन्दुव व्याख्या की है। सरयू सगर के पास गंगा में मिलती है। इसे आजकल माधरा कहते हैं। प्राचीन प्रसिद्ध मगरी जमोष्मा इसी के तट पर बसी थी। अजिरवती या हिरण्यवती या अजिरवती सरयू की प्रमुख सहायक नदी है। इसका उल्लेख कादिकाकार ने किया है। इसका आधुनिक नाम राप्ती है। कोसल की तृतीय और अन्तिम राजधानी धाबस्ती इसी के पश्चिमी तट पर थी। अजबानसतक में इसे ऐरावती कहा है।

गंगा की पूर्वी सहायक नदियों में घोष का नाम भाष्य में मिलता है। भाष्यकार पाटलिपुत्र को घोष के किनारे बसा हुआ बताते हैं। घोष सम्प्रदेश के मधदा जिले में अमरकण्टक से निकलती है और बनेलखण्ड मिर्जापुर, छाहाबाद जिलों में बहती हुई, ५०० मील चलकर पाटलि-

१ ४१४८, पृ० ५९।

२ १४१, पृ० १०६।

३ २-११७, पृ० १९४।

४ ४-२-७१, पृ० १९४।

५ ६-३-१०९।

६ अथ० अथ०, १६३, २-१०।

पुत्र के पास गंगा में मिल जाती है। भाष्यकार और पाणिनि दोनों ने बेबिका नदी का वर्णन किया है।<sup>१</sup> भाष्यकार ने इसके तट पर उत्पन्न होनेवासे शक्ति को पाबिका-मूल कहा है। डॉ० बा० घ० अग्रवाल ने विष्णुसमोत्तर (१९७-१९) तथा वामन (अध्याय ८४) पुराणों के आधार पर इसे आधुनिक बेग (Dugg) माना है,<sup>२</sup> जो जम्मु की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट और शेखपुरा जिलों में बहती हुई रावी में मिलती है। पाणिनि का भी यही मत है। डॉ० अग्रवाल का मत इस बात पर आश्रित है कि बेग के किनारे उत्पन्न होनेवासा चाबल पंजाब में भोज्य माना जाता है। अग्निपुराण (अध्याय २००) में बेबिका सौवीर प्रदेश से होकर बहती हुई बतलाई गई है।<sup>३</sup> उत्तरप्रदेश की देवा मा बेबिका जो सरयू की दक्षिणी धारा का एक नाम है बेबिका नदी बतलाई जाती है। कालिका-पुराण के अनुसार यह सरयू और गोमती के मध्य बहती थी। देवा का तट भी शक्ति की उपास के लिए प्रसिद्ध है।

परीबाह—भाष्यकार ने छोटे-छोटे नालों का भी उल्लेख किया है जो नदी-सदृश मालूम होते हैं। उन्होंने इन्हें नदीकल्प परीबाह कहा है।<sup>४</sup> गिरिणदी सामान्य नदियों से भिन्न होती है। उसमें क्षण में तेजते-तेजते पूर आ जाता है और स्वल्प काल में उतर जाता है। इसीलिए, गिरिणदी का पृथक् उल्लेख किया है।<sup>५</sup>

सर-सरसी—नदी-कल्प-परीबाहों के बाद सर और सरसी का स्थान है। भाष्यकार उत्तर और दक्षिण भारत के सर-सरसियों से परिचित थे। दक्षिणापथ में बड़े-बड़े सरोवरों को सरसी कहने की प्रथा थी। ये सरोवरों कमलों और कुमुदों से जिली रहती थी।

अनूप—नदियों की दो धाराओं के बीच बसे प्रदेश अनूप कहलाते थे। इन्हें कच्छ भी कहते थे। भाष्यकार गाँव अनूप कन्यानूप (कन्याकुमारी) तथा कच्छ प्रदेश से परिचित थे।<sup>६</sup> उन्होंने द्वीप (जिसके दो ओर जल हो) उनमें रहनेवासे द्वीप लोगों का जो समुद्र-तट पर रहते थे। उल्लेख किया है। समीप (जिसमें जल भर हो) अन्तरीप प्राय और पचाप प्रदेशों की भी वर्णना की है। निरक्षय ही उन्हें अन्तरीपों एवं प्रापादि प्रदेशों की जानकारी रखी होगी।<sup>७</sup> समुद्र से भी वे अवगत थे। समुद्र के अनेक नामों में उन्हें समुद्र नाम से ही प्रेम था। वाङ्मय की जानकारी उन्हें थी। वाङ्मय का उल्लेख उन्होंने समुद्र के प्रसंग में ही किया है।<sup>८</sup>

१ ७-३१ पृ० १७१।

२ इण्डिया एज मोन दू पाणिनि पृ० ४५।

३ अग्नि पृ० अध्याय २००।

४ आगरा गाइड और मजेठियर १८४१ भाग २, पृ० १२० तथा २५२।

५ ४-२९१ पृ० १९८।

६ ८-४१० पृ० ४७९।

७ १११९, पृ० १९०।

८ ८-२९, पृ० ११९।

९ ६३-९७, पृ० ३५६।

१० २६-६७, पृ० ४५४ तथा ८-१४, पृ० २६४।

## अध्याय ४

### जनपद

महाभाष्य में विम्बलिखित जनपदों विषयों निवासों या क्षेत्रों के नाम आये हैं

कम्बोज—कम्बोज का उल्लेख पतञ्जलि ने दो बार किया है—एक पाणिनि के 'कम्बोजास्तक' (४१ १७५) सूत्र में कम्बोज कस्यान पर 'कम्बोजादि' सघोषन उपस्थित करने में कार्यायन का समर्पण करते समय<sup>१</sup> और दूसरे 'वेद्यमेव से मापा का अन्तर अतमान के प्रसंग में'<sup>२</sup> प्रथम नियम के अनुसार कम्बोज लोगो के प्रवेद्य तथा राजा दोनों ही कम्बोज कहलाते थे। द्वितीय कथन से विदित होता है कि 'शब्' पातु का प्रयोग कम्बोज देश में गति के अर्थ में होता था किन्तु आर्य लोग उसका प्रयोग विकार क अर्थ में ही करते थे। यथा—यव। भाष्य का यह कथन यास्क का अनुवाद-मात्र है।<sup>३</sup> जातकों के अनुसार कम्बोज महाभारत के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश था जहाँ के लोग आर्य विधियाँ छोड़कर असभ्य और पतित हो गये थे। शान्तिपर्व (१५ १४) में भी यही बात कही गई है। अनुशासनपर्व (३३ २१) में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि 'बाह्यणादर्शन' से कम्बोजों में क्रिया-कोप हो गया है और वे क्षत्रिय सूत्र बन गये हैं। प्रियसत पतञ्जलि (यास्क) के उक्त कथन के आधार पर कम्बोजों को जनार्थ मानते हैं। उनके मत से 'यवति' ईरानी किया है संस्कृत नहीं और ये लोग संस्कृत-ईरानी-मिथ मापा बोलते थे।<sup>४</sup>

महाभारत में कम्बोज की राजधानी राजपुर बतलाई गई है।<sup>५</sup> राजपुर का उल्लेख ह्यनशांग ने भी किया है। उसके मत से यहाँ के निवासी बैराने में कर्षण और असंस्कृत थे। कम्बोज काश्मीर के पुष-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में था। श्रीराय चौधरी काश्मीर में पुष के पास-पड़ोस के इलाके को जिसमें कप्रीरिस्तान भी शामिल है, प्राचीन कम्बोज मानते हैं। कनिष्क ने राजपुर

१ ४१ १७५, पृ० १९४।

२ शान्तिपर्वतितर्का कम्बोजैष्वेव भाषितो भवति। विकार एतन्माया भाष्ये शब् इति।

बा० १ पृ० २१।

३ निघण्टु २-२।

४ काशिक आतक ६, पृ० ११०।

५ अमल शिल्प रॉयल ए० सो० १९११, पृ० ८०१-२।

६ महाभारत ७-४-५।

७. शेटर्स ऑन गुजालशांग, १ २८४।

८. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३०८।



को काश्मीर के दक्षिण भाग की राजौरी जागीर माना है जिसके शासक कस लोग रहे हैं।<sup>१</sup> चीज बेनिड्स कम्बोज की राजधानी डारका बतलाता है।<sup>२</sup> बी० ए० स्मिथ और चार्स इमिप्ट ने सम्भवतः कम्बुज (कम्बाडिया) और कम्बोज को एक मानकर उसे तिब्बत या हिन्दूकुश प्रदेश के अन्तर्गत बतसाया है और वहाँ की भाषा ईरानी बतलाई है।<sup>३</sup> मैकिन्डिस ने खोजांग के कानोपु या (अफगानिस्तान) को ही कम्बोज मान लिया है।

कम्बोज से कम्बल बहुत प्रसिद्ध थे।<sup>४</sup> यह बात इसकी प्रख्यात थी कि यास्क ने कम्बोज मण्ड की व्याख्या करते हुए उस कम्बल से सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्हीं कम् + भुज से इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार कर कम्बोजों को कमनीयभोजी माना है। कम्बल (धील प्रदेश में) कमनीय होते ही हैं।

नाल्पीपुर, जिसे पर्वतसि ने वाहीक ग्राम कहा<sup>५</sup> है सूडर के अनुसार कम्बोज में वा। संभवतः, सूडर ने वाहीक को बाह्यीक समझ लिया है।

गान्धार—भाष्यकार ने गान्धारि लोगों के विषयाभिधान जनपद का गान्धार या गान्धारक (बहु ब०) कहा है। गान्धार की स्त्री गान्धारी कहलाती थी।<sup>६</sup> यह जनपद गान्धारि लोगों का निवास भी था और विषय अर्थात् उनके द्वारा प्रागित भी।

गान्धार प्रदेश भारत की उत्तरी-मरिचमी सीमा पर कम्बोज के पास ही स्थित था। वर्तमान राजसमिठी और पेशावर के जिले इसके अन्तर्गत थे यद्यपि इसकी वास्तविक सीमा के विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं है।<sup>७</sup> भाष्यकार द्वारा उल्लिखित औरियम (४२-१९, पृ० २०३) या मुबान्नु और गीरी नदी के बीच वा उद्दिष्टमान प्रदेश गान्धार के अन्तर्गत था।

सिन्धु के दोनों ओर फैल होने के कारण गान्धार की दो राजधानियाँ थीं। तसशिला पूर्वी तथा पुष्करावती पश्चिमी थी। पुष्करावती का जापुनित रूप चरसङ्ग है, जो स्वात और काबुल नदी के संगम के पास स्थित है। पुष्करावती या पुष्करावती को भरत-पुत्र और राम के भतीजे पुष्कर ने बसाया था।<sup>८</sup>

१ एन० इया० पृ० ६८३।

२ बुडिस्ट इण्डिया, पृ० २८।

३ अंसि हिस्ट्री ओफ् इण्डिया चीपा सं० पृ० १९३।

४ अलेग० इनवेज्शन पृ० ३८।

५ समापक पृ० ४८९, तथा ५१—३।

६ ४२-१०४ पृ० २१२।

७ सूडर इतिहास सं० १७६, ४७२।

८ ४-२-५९ पृ० १८४।

९ ४११४ पृ० ३६।

१० ब्राह्मण इन एन० इण्डिया पृ० ९।

११ समापक उत्तर का० १००-१०।

कापिणी—कापिणी के अन्तर्गत सम्पूर्ण कफीरिस्तान और धोरबन्ध तथा पंचवीर की बाटियां थीं। यह सारा प्रदेश पर्वतों से घिरा हुआ था जिसमें उत्तरी पर्वत हिमाच्छन्न रहता था। 'कापिण्याप्कट' सूत्र में संशोधन-स्वरूप बार्तिक जोड़ने से स्पष्ट है कि भाष्यकार कापिणी की वास्तविक स्थिति से परिचित थे।<sup>१</sup> यह प्रदेश फलों विशेषतः द्राक्षा के लिए प्रसिद्ध था।

बाह्लीक—भाष्यकार ने उपयुक्त सूत्र के बार्तिक में बाह्लीक का भी उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि कापिणी बाह्लीक उरि और यदि समीपवर्ती प्रदेश थे। बाह्लीक या बाह्लिक बहुत प्राचीन काल से भारत के उत्तरी भाग में रहते थे। रामायण के उत्तरकाण्ड (१००-३) में ऐरा जाति के कर्म या कर्मभेद के बंशजों का उल्लेख है और बाह्लिक उनसे सम्बन्ध बताये गये हैं। उत्तरकाण्ड (१०३ २१) में बाह्लीक या बाह्लिक प्रदेश मध्यमेग के बाहर बतलाया गया है। कर्मक फारस की कर्मना नामक नदी से सम्बन्ध है। इससे बाह्लिक-प्रदेश ईरान के बल्लक का प्राचीन रूप माना जाता है।<sup>२</sup> अत्र का महरीली-सम्मलेक जिसमें बाह्लिकों को सिन्धु के पार बतलाया गया है इस बात का पोषक है। बाह्लिक बैक्ट्रियाई क्षेत्र के ओ अरकोसिया के पास के प्रदेश में रहते थे।<sup>३</sup> बाह्लिक प्रादीप्य राजा का उल्लेख धनपद-शाहान (१२ ९ ३ १ से ३ तथा १३) में मिलता है।

नैस—यह कानुल (कोकन) और सिन्धु नदी के बीच म मेरु पर्वत के पादमूल में एक छोटा-सा पर्वतीय क्षेत्र था जिसे ग्रीक इतिहासकारों ने नायस कहा है। यही पर्वतश्रि का नैस जनपद था जिसे निवासी नैस कहलाते थे। सिकन्दर के आक्रमण से बहुत पहले ही ग्रीक-निवासियों (हेलेनिक) ने इस नगर की नींव डाली थी। एरियन ने कहा है कि नैस भारतीय नहीं है। वे विद्याभिसस के साथ भारत आनेवाले ग्रीक पुरुषों की संताप है। मजिसमनिकाय (२ १४९) में भी कम्बोज के साथ एक यवन-राज्य का उल्लेख है, जिसे जियम में कहा गया है कि उसमें दो ही वर्ग हैं—भार्य या दास।<sup>४</sup> नैस नगर इस जनपद की राजधानी था जो स्वात प्रदेश में कोहेपुर की उपत्यका में स्थित था। इसकी शासन प्रणाली सभारत्मक थी और शासन-सभा में ३०० सदस्य थे। नैस नगर-राज्य था।

१ ४-२-१८, पृ० २०३।

२ रायचौधरी : भा० हिस्ट्री ऑफ़ ऐन इण्डिया, पृ० ४४९।

३ पारसीकेयु कर्मना नाम नहीं।—अर्चशास्त्र-व्या० २-११ तथा इण्डि० हिस्टा०

नवाटंरडी भाप ९, पृ० ३७ ३९।

४ तीस्ता सप्त मुक्तानि येन समरे सिन्धोञ्जिता बाह्लिका।

५ इण्डियन हिस्टा० नवा० भाग ९, पृ० ३९।

६ योनकम्बोजवु हे एव बन्ना अहयो र्भव शातो यः।

७ कैम्बिज हि० ऑफ इण्डि० पृ० ३५३।

८ एन० ऑफ़ अलेक्जेंडर, पृ० ८१।

बरह—पर्वतसिक्खी ने बरह बरह बारहिका दारक बुन्दारिका धर्मों के द्वारा बरह-प्रदेश से अपना निकट परिचय व्यक्त किया है।<sup>१</sup> बरह भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के निवासी थे। महाभारत में छद, एक यवन भाषि के साथ उनका उल्लेख है।<sup>२</sup> मत्स्यपुराण में बरहों का प्रदेश गम्हार, घिबपुर, उर्ब और छ भाषि के साथ सिन्धु का कठार बतलाया गया है।<sup>३</sup> महाभारत और पुरुषों क अनुसार ये पंजाब के ऊपरी भाग की लघु जाति के प्रदेश के पास काश्मीर की उत्तर पश्चिमी सीमा के आगे प्रदेश के निवासी माने जा सकते ह। य पर्वतीय कोन के यह बात तो इनके नाम (बरह=पर्वत) से ही स्पष्ट है।

काश्मीर के इतिहास में बरहों का महत्वपूर्ण स्थान है। राजतरंगिणी में इसकी बार बार चर्चा है। आज भी इनका प्रदेश बरहिस्तान (जिसका बरहौ) कहलाता है। ग्रीक लेखकों ने इन्हें विभिन्न नामों से स्मरण किया है। उदाहरणार्थ—स्ट्रेबो इन्हें बरह, प्लिनी बरह और विवो-मीज वर्दोइ कहते हैं।

पार्व या पारह—पार्व जिसका उल्लेख भाष्यकार ने एक बालिक में किया है और जिनके यहाँ होनेवाली वस्तु को पार्वयिनी कहा है, बरहों के समान ही पर्वतीय बर्बर जाति के लोग थे। पुरुषों और महाभारत में भी इनका उल्लेख छदा असंख्य जातियों के साथ हुआ है। हरिष्य (१३-७११ ६४ तथा १४-७७५ से ८३) में तो इन्हें स्पष्ट और वस्तु तक कहा गया है। मनुस्मृति के पतित क्षत्रियों की श्रेणी में ये लोग भी आते ह। पार्विटर पारहों को सक्के कम्बोर्गे और यवनों आदि के साथ उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश का निवासी मानते हैं।

यवनदेश—यवन ग्रीकदेशीय आयोगिनयन श्रेणी के जिनमें उत्तर-पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विमानेवादि में इनका उल्लेख ई० पू० तीसरी शती से ईसा की छठी शती तक मिलता है। महाभारत में कम्बोज दाक मद्र आदि श्रेणियों के साथ य भी बरहों के पक्ष में थे। पर्वतसिक्खी ने भी इन्हें आर्यावर्त से निरवच्छिन्न शूद्र कहा है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (४३-११ १२) में एक-यवनों को कुड और मद्र प्रदेशों के मध्यवर्ती क्षत्र का निवासी कहा है। महाभारत में इनका स्थान बरहों किरातों और यान्धारों के पास है।

यवन-प्रदेश की ठीक स्थिति के बारे में अभी तक विद्वानों में मतभेद नहीं है। डॉ० मण्डार का उसे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से मिला कोई क्षेत्र मानते हैं<sup>४</sup> जिसे ई० पू० ५५० क

१ ४२-१२० पृ० १४१; ६-३-३४, पृ० ३२० तथा ६ ३-४२, पृ० ३२९।

२ शोषपर्व १०-१८।

३ २१ ४५ से ५१।

४ एन० इण्डियन हिस्टो० ट्रेडि० पृ० २०६, २६८।

५ इण्डि० कन्वन्ट, भाग १ पृ० ३४३ से।

६ केंम्बिज हिस्टोरी ऑफ इण्डि० भाग १, पृ० २२५।

७ वही, पृ० २७४।

८ २४ १०० पृ० ४६५।

९ वही, पृ० २९।

समय यवनों या ग्रीक लोगों ने बसाया होगा। पाणिनि के समय में भारत का इस प्रदेश से अनिष्ट सम्पर्क हो चुका था। पाणिनि के बाद कार्यायन के समय में उनकी लिपि काफी प्रचलित हो चुकी थी और उसे यवनानी कहते थे।<sup>१</sup> पतंजलि ने यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिका पर किये गये आक्रमणों की खर्बा की है।<sup>२</sup>

शकस्थान—शकों का उल्लेख पतंजलि ने यवना के साथ ही आर्यावर्त से निरवसित के रूप में किया है। इनका प्रदेश शकस्थान कहा गया है। यह भारत के सीमांत के पाम का सीदिमा क्षेत्र था। पेरिप्लस के अनुसार भारत सामर में मिस्रनवानी नदियों में बिनालनम सिन्धु नदी प्रकथान हुआर बहती थी। इसकी राजधानी भिननगर थी और समुद्र-तट पर स्थित शारत्रियस नगर इसका सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। ईसा की तीसरी शती में शकस्थान और उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ प्रन्थ सेशानियन लोगों के अधिकार में था। ईसा-पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में भी न केवल शकस्थान अपितु कापिशी और पाण्डार पर भी शकों का अधिकार था।

काश्मीर—अशोक के समय में काश्मीर मौर्य-शास्राज्य का अंग था किन्तु पतंजलि के समय में स्वतंत्र राज्य जान पड़ता है। उन्होंने मद्रराज और मद्ररासी के साथ काश्मीरराज और काश्मीररासी का उल्लेख किया है।<sup>३</sup> काश्मीर पंजाब के उत्तर में स्थित था और चारों ओर न अंबे अंबे पर्वतों से घिरा था। उसकी राजधानी के पश्चिम ओर से बितस्ता बहती थी। इसकी भूमि उपजाऊ थी जिसमें धान फल और फूल खूब पैदा होते थे। जूनसांग के अनुसार राज्य का क्षेत्र ७००० मील था।<sup>४</sup>

सिन्धु—माध्यकार ने पाणिनि-सूत्र (४ ३ ९३) के सिन्धु पद को खर्बा के लिए उद्धृत किया है।<sup>५</sup> सिन्धु नदी के कारण इस प्रदेश का नाम सिन्धु पड़ा है। बौद्धिक काल में यह प्रदेश शकों के लिए प्रसिद्ध था। डॉ० अग्रवाल ने इस सिन्धु-सागर के बो-साब का प्रदेश माना है।

पारकर—पारकर देश का उल्लेख पतंजलि ने किया है। यह सिन्धु प्रदेश के पार पारकर जिले का प्राचीन नाम था।<sup>६</sup>

सीबीर—सीबीर में वर्तमान मुलतान और सासाबाड़ के क्षेत्र सम्मिलित थे।<sup>७</sup> स्कन्द

१ ४१-४९, पृ० ६३।

२ ३-२-१११, पृ० २४७।

३ ४-११ पृ० ११।

४ बर्टेल मोन मुवायबांग भाग १, पृ० २६७ से ७१।

५ १३-१०, पृ० ३६।

६ बौद्धिक इण्डिया भाग २ पृ० ४५।

७ इण्डिया ऐज मोन टु पाणिनि पृ० ५०।

८ ६-१ १५७ पृ० १९४।

९ डॉ० अग्रवाल पाणिनि, पृ० ५१।

१० राज्यभूषी पाणि० हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ६१९।

पुराण में मुस्ताम (मूत्स्यम) को रेविका-तट पर स्थित बताया है।<sup>१</sup> यह वही रेविका मूत् (स्याम) है जहाँ के शासि का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।<sup>२</sup> खरदामा के अनापङ्ग-विभासेन में उसका एक प्रदेश के रूप में उल्लेख है।<sup>३</sup> सों के अनुसार सिन्धु-सीबीर नाम इस बात का प्रतीक है कि सीबीर सिन्धु और विवस्ता (क्षेत्र) के बीच का प्रदेश था। कनिषम के मत से बरटी (एबर) प्रदेश का सम्बन्ध की खाड़ी के ऊपर का क्षेत्र सीबीर कहलाता था।<sup>४</sup> गैल्क सीबीर की राजधानी भी जिसका राजपूह से व्यापारिक सम्बन्ध था।

पुस्तक में सीबीर गोत्रों का विशेष उल्लेख किया है। भाष्य में भागवति 'तार्कविन्दव' और 'फाष्टाहृति' ये सीबीर गोत्रों के नाम आये हैं। सीबीरी स्त्रियों का भी भाष्यकार ने बार बार उल्लेख किया है।

सुराष्ट्र—सुराष्ट्र का उल्लेख महामाय्य में भाषा-भेद के प्रसंग में हुआ है। इसका दूसरा नाम सुरा भी था।<sup>५</sup> पद्मपुराण (१९०-२) के अनुसार सुराष्ट्र गुजरात के अन्तर्गत था किन्तु भागवतपुराण में इसे स्वतन्त्र देश बताया है।<sup>६</sup> बर्षसास्त्र (अनु. पृ. ५०) में यहाँ के हाथी अंग और कर्णिक प्रदेश की अपेक्षा मिन्कोटि के बतलाये गये हैं। चन्द्रगुप्त के समय में सुराष्ट्र मौर्य-साम्राज्य का अंग था और एक राष्ट्रिय बर्ष का शासन करता था। अशोक के समय में यह स्वानीय स्वराज्य-प्राप्त प्रदेश था और तुपास्क यहाँ का स्वानीय शासक था। वर्तमान अनापङ्ग या पिरलगर सुराष्ट्र का मुख्य नगर था। सिन्धुसिन्धु में इसे ऊर्व्यन्त भी कहा है।<sup>७</sup>

कच्छ—कच्छ की राजधानी प्रो० सीसेन के मत से कच्छनगर और कनिषम के अनुसार काटीस्वर थी। कोटीस्वर तीर्थ स्थान है और यहाँ बड़ी संख्या में शिवलिंग भी प्राप्त हुए हैं।<sup>८</sup> भाष्य में अनेक बार कच्छ नाम आया है। यहाँ के निवासी काच्छक कहलाते थे।<sup>९</sup>

ब्राह्मणरु—महामाय्य में ब्राह्मणक नामक जनपद का उल्लेख है। इसके निवासी ब्राह्मणकीय कहलाते थे।<sup>१०</sup> ब्रह्मसाम के अनुसार अनु. ६४१ ई० में सिन्धु चार भागों में विभाजित था—उत्तर

१ स्कन्द पृ० प्रभासभेज-वाहस्य अध्याय २७८।

२ ७-३-१ पृ० १७१।

३ एन० इया० पृ० ५६९ तथा सों हिस्टो० इया० पृ० २९६।

४ ४१९० पृ० १०८।

५ ४२-२८, पृ० १७५।

६ ४-१ १५०, पृ० १४७।

७ २४ ६२, पृ० ४९६ आदि।

८ भा० १ पृ० ३१।

९ सूत्रं लिख संख्या ११२३।

१० ११० ३४; ११५ ३९।

११ स्कन्दगुप्त और खरदामन् के पिरलगर-लेख।

१२ कनिषम एन० इया० पृ० ३४६।

१३ ४२ १३० पृ० २१७।

१४ ४२ १०४ पृ० २१३।

मध्य निम्न तथा बच्छ। इनमें मध्य सिन्ध का प्राचीन नाम ब्राह्मणक था। इसे मुस्लिम कृतकों ने ब्राह्मणशाहा कहा है।<sup>१</sup> इस प्रदेश की राजधानी ब्राह्मणस्यममर थी। यह आद्युष-जीवी ब्राह्मणों का जनपद था और सिकन्दर के आक्रमण के समय राजा द्वारा आरमममर्य कर देने पर भी यहाँ की जनता ने उनका सामना किया था। पर्वतों का अक्षुण्ण देश भी ब्राह्मणक जनपद का ही बोधक है।<sup>२</sup> उन्होंने वृषक शब्द का उपयोग सदा ही ब्राह्मण-विरोधी के रूप में किया है। सिन्ध ने पटलनगर और ब्राह्मणशाहा को एक ही माना है।<sup>३</sup>

गूड या घौडायक—अक्षुण्णक के समान ब्राह्मणक भी देश का नाम था। यह देश वैसा कि चिदम्बरों का सं स्पष्ट है वृषक-देश होना चाहिए। एक अन्य स्थान में मान्य म 'भूदाभीरम्'<sup>४</sup> शब्द आया है जो लों के मन से गूड और आभीर दो स्वतन्त्र जातियों का बोधक है। यह गूड जाति गूड वर्ष से मित्र थी जिसका महाभारत पुराणों तथा ग्रीक-इतिहासकारों ने बार-बार उल्लेख किया है। वे लोग वर्तमान सिन्धु के एक भाग गूड देश में रहते थे। महाभारत में इसका प्रदेश बिनमन (पश्चिमी राजपूताना) के पास बतलाया गया है<sup>५</sup> और मार्कण्डेयपुराण में अपरान्त या पश्चिमदेश। ब्राह्मणकों के समान उन्होंने भी इटकर सिकन्दर का सामना किया था।

सुरक-मालव—सुरक और मालव दो स्वतन्त्र क्षत्रिय-जातियाँ थीं। जिनसे जनपद का नाम भी समान सुरक और मालव था। मालव के निवासी जो अपने प्रप्रेम और धर्म के प्रति निष्ठावान् थे मालवक कहलाते थे। मालवगण के राजपदधारियों की मन्तान मालव और उनके बुधापत्य मालव्य कहे जाते थे। इसी प्रकार क्षौद्रक और क्षीरक शब्दों का व्यवहार होता था। क्षीरक्य और मालव्य केवल क्षत्रिय जाति के लोगों को ही बतलाने थे। उनके शान और कर्मकर क्षौद्रक और मालवक ही कहलाते थे।<sup>६</sup>

मालव पहले पञ्जाब में रहते थे किन्तु बीरे-बीरे से उत्तरी भारत राजपूताना मध्य भारत उत्तरप्रदेश और काट देश तक फैल गये और अन्त में स्थिर रूप से वर्तमान मालवा में बस गये।

मालकों को सिकन्दर के इतिहासकारों ने मल्कोई, मस्की या मल्काह कहा है और इनके

१ कर्तियव्न एव० इया०, पृ० ३०६ से ३१८।

२ १४१ पृ० १०७।

३ अर्ली हिन्दू भाक् इण्डिया, पृ० १०७।

४ १४१ पृ० १०७।

५ १२७२, पृ० ६०७।

६ भूदाभीरम् प्रतिश्रेयात् यत्र ब्रह्मा सरस्वती।—महा० ९ ३७-१।

७ लों इण्डिया इन एन० इण्डिया, पृ० ३५२।

८ ४-२-४५, पृ० १८९-८३।

९ ४२-१०४ पृ० २०९ तथा इवँ तहि क्षौद्रकायाक्यार्थं मालवात्पत्यमिति। अत्रापि क्षौद्रक्य-मालव्य इति श्रुतयोर्वा शब्दो वा मवति कर्मकरे वा। किन्ति? तेषामेव कस्मिन्निबन्।—

४-१ १६८, पृ० १६९।

साय सुद्रक सोर्षों (Oxydrakal Sudracae Hydrakal) का भी नाम लिया है। स्मिथ के अनुसार ये लोग 'सेकम' और 'बेनाब' के संगम के नीचे बर्षात् साय जिसे तथा माण्डगोमरी जिसे के एक भाग में रहते थे।<sup>१</sup> मैकिन्डल का मत है कि इनका जनपद इससे बड़ा था और जसमें बेनाब तथा राबी का वर्तमान दोआब तथा बेनाब-सिन्धु के समम तक का प्रदेश सम्मिलित था। इसमें वर्तमान मुस्तान जिला तथा माण्डगोमरी का कुछ भाग आता है।<sup>२</sup> रायचीबुटी इन्हें राबी की निम्न घाटी में इस नदी के दोनों छटों पर बसे मानते हैं।<sup>३</sup>

सुद्रकों और मालकों का संयुक्त सेना-संगठन था जिसे भाष्यकार ने क्षीद्रक-मालकी सेना कहा है। यह सार्व सेना का ही वाचक था। सुद्रक मालकों से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य वस्तुएँ क्षीद्रक-मालक कही जाती थीं। ये दोनों संघ आसुबजीबी थे। इसलिए इनकी सेना स्वभावतः बसिष्ठ थी। यह बात इनके द्वारा सिकन्दर के विपक्ष किये गये युद्धों से स्पष्ट है। इन युद्धों में दोनों संघों की सेनाएँ संयुक्त रूप में लड़ी थीं। इन सेनाओं से हुए युद्ध के विषय में ग्रीक इतिहासकारों में मतभेद नहीं है। कटिपस का कहना है कि इस संयुक्त सेना का सेनापति एक सुद्रक यात्रा था। डियोडोरस का मत है कि सेनापति-निर्वाचन के विषय में सुद्रकों और मालकों में मतभेद न हो पाने का कारण ही संयुक्त रूप से मरुद सभ। एरियन के विचार से मतभेद नहीं था किन्तु सिकन्दर ने आक्रमण इतनी अप्रत्याशित धीमेता से कर दिया कि उन्हें सेना को संयुक्त करने का अवकाश ही न मिला पाया। मालक और सुद्रक बार-बार पीछे हटकर भी सिकन्दर से लड़ते रहे।

भाष्यकार ने एषाकी सुद्रकों की विजय काहीन बार उल्लेख किया है।<sup>४</sup> भाष्य का यह कथन मिथ्या गौरव का चोटक नहीं है अपितु प्रपञ्चित भारतीय चारणा का अभिर्भवक है। उन्होंने इन बहुम्यात वाच्य को एकाकी का अर्थ असहाय बतलाने के लिए उपभूत किया है। सुद्रकों के साथ सिकन्दर का यह अन्तिम युद्ध था जिसमें सिकन्दर घग्गीर रूप से बायक होकर बायस सीट पड़ा था। यह सुद्रकों की निश्चित विजय थी। इन युद्ध में चाहे अप्रत्याशित आक्रमण के कारण हो, चाहे मतभेद के कारण मालकों की सेना सुद्रकों के साथ नहीं थी। द्वितीय कारण अधिक ठीक जान पड़ता है। एरियन और प्लुटार्क यह युद्ध मालकों के साथ और कटिपस तथा डियोडोरस सुद्रकों के साथ मानते हैं।<sup>५</sup> भाष्य के कथन के सम्बन्ध में द्वितीय मत ही सही जान पड़ता है।

युद्ध के बाद भी मालक पंजाब में बसे रहे। बाद में वे राजपूताना में आकर जयपुर के पास बस गये। कोटा से समसम ४५ मील दूर नगरस्थान में इनके बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिन

१ जर्नेस ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०३ पृ० ३३१।

२ इनवेज्जम ऑफ़ इण्डिया पृ० ३५७।

३ पालि ३६० ऑफ़ ऐन ३६० इण्डिया पृ० २०२।

४ मैकिन्डल: इनवेज्जम ऑफ़ इण्डिया पृ० २३६ १५० ३५१।

५ ११-२४ पृ० २१६; १४-२१ पृ० १५० तथा ५३-५२ पृ० ४४३।

६ इनवेज्जम ऑफ़ इण्डिया पृ० ३५१।

पर 'भालवानो जय' अक्षिप्त है। ननिपम के मत से ये सिन्धे २५० ई० पू० से २५० ई० तक के हैं।<sup>१</sup>

पुष—पुष देव के राजा को भाष्यकार ने पीरव कहा है।<sup>२</sup> पुष्यो का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।<sup>३</sup> बाद में इनकी परम्परा बिल्मुत्त-सी हो गई और फिर महाभारत में यमाति और शमिष्ठा के पुत्र के रूप में पुष के दर्शन होत हैं। प्राचीन पुष सिन्धु के पश्चिम में रहते थे किन्तु बाद में वे सरस्वती नदी के आरों ओर प्राण्य पथ में भी भिन्नते हैं। बोधनबर्ग के अनुसार पुष लोप जागे चलकर बृह सोमों में सम्मिलित हो गये, जिस प्रकार तुर्वस और क्रिषि लोग पञ्चालों में मिलीन हो गये थे इसीलिए वैदिक काल के बाद उनका पुषक पता नहीं चलता। ऋग्वेद में पुष्यों को जिस सरस्वती के किनारे बसाया गया है, वह जिमर के मत से सिन्धु ही है।<sup>४</sup>

शिवि—शिवि लोगों का विषय (अभिहित प्रदेश) 'शिवय' या शीवदेश कहलाता था।<sup>५</sup> शिवि लोग सम्भवतः वही थे जिसका नाम ऋग्वेद (७-१८-७) में आया है और जिनके सहित १० जातिवा से मुद्रास के मुद्रा का वर्णन मिलता है। श्रीक सेनको ने इन्हें सिबह या सिबोह कहा है और अकेसाइन्स (अ० अशिकनी) या चन्द्रभामा और सिन्धु के मध्यवर्ती देश का निवासी बतलाया है।

शिवियों की राजधानी शिवपुर थी जिसका उल्लेख पतंजलि ने किया है। उन्होंने इसे उषीस्य ग्राम कहा है और इसके निवासी को शीवपर। यह शिवपुर मूलतः शिविपुर या। इसी का उल्लेख धारकोट के शिलालेख में हुआ है।<sup>६</sup> धारकोट का टीला ही प्राचीन शिवियों की राजधानी शिविपुर था और पञ्जाब में संग-सोष में इरावती और चन्द्रभागा के बीच ये लोग रहते थे।

शिवियों में कुछ लोग अपना प्रदेश छोड़कर उत्तर पञ्जाब और राजपूताना चले गये जहाँ पड़त हैं।<sup>७</sup> उत्तरपञ्जाब में भी उनके एक जनपद का पता चलता है जिसका मुख्य नगर अरिष्टपुर (अरिष्टपुर) था। इस टालेमी ने अरिस्टोसेमस कहा है। संभवतः इसी का दूसरा नाम इरावती था।<sup>८</sup> शिवियों की दूसरी छाजा राजपूताना में भितीह के पास या बनी। यहाँ इनकी राजधानी बेगुतर थी जिसे श्री एम्. एस. दे नागरी मानते हैं। यह स्थान भितीह से ११ मील उत्तर में है।

१ आशि० सर्वे रिपोर्ट, भाग ६-१८७१-७३, पृ० ७२ से।

२ ४१ १६८, पृ० १६३।

३ वैदिक इण्डे० भाग २, पृ० १३।

४ मैक्समूलर सेनैड बुक्स ऑफ इन्डि, ३२-३९८।

५ शी० इण्डे० भाग २, पृ० १२।

६ ४२-५२ पृ० १८४।

७ ऐरियन इण्डिका ५ १२ तथा डियोडोरस १७-९६।

८ ४-२ १०४, पृ० २०५।

९ एपि० इण्डि० १९२१, पृ० १६।

१० शिविजनासक, सं० ४९९, जम्मबनी जातक, सं० ५२७, वेस्तमर जातक, सं० ५४७।

११ शी० इण्डे० इण्डिका ५ ८१।



यही पतञ्जलि की मध्यमिका है। इस स्थान पर जो सिक्के मिले हैं, उनपर 'मग्गमिकाम सिबिजनपदस्स' लिखा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि सिबियों का जनपद पितौरा की मध्यमिका नगरी के चारों ओर था। जिसमें सिबि-राज ने प्रजा के कहने से अपने पुत्रराज वेत्सन्तर को देश से निकाल दिया था। बाद में बड़भ-बड़भे सिबि लोग दक्षिण तक पहुँच गये। प्राचीन थोर-राजवंश सिबि ही था। बाटाह-मिहिर की बृहत्संहिता में दक्षिण देश में जिस सिबिका देश का उल्लेख है यह इन सिबियों का ही स्थान जान पड़ता है।<sup>१</sup>

पाण्डित के अनुसार वे लोग एक समय उड़ीसर में रहते थे और बाद में इनके राजा सिबि उड़ीसर तथा उनके चार पुत्रों ने वृषभं सुवीर, केक्य और मद्रक जनपदों पर भी आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिम कोने को छोड़कर वेप सारे पंजाब पर इनका शासन रहा।

वसाति—माप्य में सिबि या वीवरेष के साथ ही 'वसात' या 'वसातय' देश का नाम आया है। यह वसाति जाति का विषय (अभिहित देश) था। वे लोग मी चेतार और सिन्धु के संगम के पास चेतार के निजक प्रदेश में रहते थे।<sup>२</sup>

दार्ब—दार्ब कम्बोज से ही फूटकर पुषक जनपद बना था। स्ट्रेबो के मत से इससे अन्तर्गत झरम और चेतार के बीच का सारा निम्न तथा मध्यवर्ती पश्चिमी क्षेत्र था।<sup>३</sup> यह तक्षशिला से ऊपर की ओर पर्वत के भीतर का प्रदेश था। मोटे ठौर पर इसमें पुष तथा पड़ोस के कुछ कारवीरी जिसे और सीमा-शान्त के हजारा जिसे का कुछ भाग शामिल था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ अभिसार का शासन था। इसकी तथा पुष की तक्षशिला से कट्टर शत्रुता थी। जब सिकन्दर इसकी ओर बढ़ा तब इसने आरमसमर्पक का संवाद कहला भेजा किन्तु जब वह पुष से सड़ने लगा तब अभिसार ने भी पुष का साथ दिया।<sup>४</sup> अभिसार को कई इतिहासकारों ने दार्बाभिसार भी लिखा है। महाभारत में दार्बों का उल्लेख त्रिगर्तों तथा दार्वों एवं अन्य उत्तरी पंजाब की जातियों के साथ हुआ है। काशिकाकार ने दार्ब और अभिसार को पुषक जनपद माना है।<sup>५</sup>

केक्य—केक्य प्रदेश के निवासियों को माप्य में केक्य कहा है। प्राचीन केक्य विपश्चा से प्रारम्भ होकर मन्वार की सीमा तक विस्तृत था। वर्तमान झरम साहपुर और पुत्रराज के जिसे इसक अन्तर्गत थे। राजसेखर ने काम्यमीमांसा में शक हूण कम्बोज और बाल्हिक-प्रदेश के उत्तर भाग में इसकी स्थिति बतलाई है। महाभारत में उसका नाम प्रायः बाल्हिक और पुराणों में मद्र के साथ आया है। पौराणिक परम्परा के अनुसार केक्य लोग अनु (अनार्यजाति)

१ पालि० हिन्दूी शोध ऐन० इण्डि० वु० २०५ तथा कीलहार्नः लिस्ट ऑफ़ सव्व इतिहासात् सं० ६८५।

२ पालि० हिन्दूी शोध ऐन० इण्डि० वु० २५७।

३ इनवे० ऑफ़ अलेक्०, पृ० ११२।

४ वही।

५ वही।

६ ४-२ १२४ १२५।

७. रामायण, मयो० काण्ड, ६८ १९ से २२।

के बंधन ब। श्रुतेर (८-७४) से अनुमान होता है कि अनु शोय पहले उमी प्रदेश में रहते थे जहाँ बाद में कैकेय लोग बस गये।

कैकय के सर्वप्रथम राजा भरवर्षि का उल्लेख प्राप्त है। यह भरवर्षि जनक ब्राह्मणों के बर्षोपदेश्य थे।<sup>१</sup> इनकी राजधानी राजगृह या गिरिवज थी।<sup>२</sup> कनिषम क्षत्रम-वट पर स्थित बल्लभपुर को ही प्राचीन गिरिवज या राजगृह मानते हैं।<sup>३</sup>

पुराणों में कैकेयों का स्थिति उगीनरों से अनिष्ट सम्बन्ध बतलाया है। ये स्थिति उगीनर के चार पुत्रों में से एक के बंधन थे।

मद्र—मद्र देश बल्लभान स्यात्सकोट तथा रावी और बेनाब नदियों के मध्यवर्ती एवं समीपवर्ती प्रदेश का नाम था। मद्र बाहीर देश का एक भाग था। यह पूरब और अपर दो भागों में विभाजित था। पूरब (पूर्वी) मद्र रावी स बेनाब तक और अपर (पश्चिमी) मद्र बेनाब स मोरम तक फैला था। इसकी राजधानी साकक या जो स्यात्सकोट का प्राचीन नाम है।<sup>४</sup> मद्र प्राचीन वैदिक काठीन क्षत्रिय जाति के बंधन थे। व्यापारिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्त्वपूर्ण था। ३२६ ई० पू० में यह प्रदेश सिकन्दर के अधिकार में आया। इसी की प्रथम शताब्दी में उस पर मिना श्वर (भित्ति) का शासन था। भाष्य में मद्रराज और मद्रराजों का उल्लेख है।<sup>५</sup> उगम 'मद्रों का राजा' शब्द भी आया है। मद्र में जो की उपज अधिक थी। भाष्य से अनुमान होता है कि मद्र और उगीनर की भूमि उपज की दृष्टि से समान थी। मद्र के किमी हृद से भाष्यकार परिचित थे। मद्र के निवासी को मद्रक कहते थे। मद्र या मद्र के राजा के प्रति भक्ति (नित्य) रखना भी मद्रक कहलाता था।<sup>६</sup>

उगीनर—उगीनर कुरु-प्रदेश के उत्तर में था। गोपय-ब्राह्मण (२९) में उगीनरों को उत्तरीय कहा है। ऐतरेय (८ १४) ब्राह्मण कुरु-राजाओं को बग और उगीनरों के साथ मध्यदेश में घाय-घाय रहते बतलाता है। पत्रकलि ने मद्रों के साथ बार-बार उगीनरों का उल्लेख किया है। इसके से पड़ोसी जान पड़ते हैं। उगीनर की बनी कन्याओं भाष्यकार के समय में प्रसिद्ध थीं यहाँक कि वहाँ की बनी कन्याओं के नाम तक बनानबाल परिवारों के आभार पर प्रसिद्ध थे। यथा—सौमभिकन्वम् आहवकन्वम् आदि। ये नाम विदोष प्रकार की कन्याओं के थे।<sup>७</sup>

- १ अथ० ब्रा० १०-६ १-२, छाण्डोग्य० उप० ५ ११ ४।
- २ रामायण अयो० ६७-७ ६८ २२।
- ३ कनिषम आदि० लखे रि० भाग २।
- ४ ब्राह्मण० अ० १९ मत्स्यपु०, अ० ४८, विष्णुपु० ४ १८।
- ५ महाभारत २ ११९६ तथा ८ २० ३३।
- ६ ४ १ १, पु० ११।
- ७ २-१ २, पु० २६३।
- ८ ४-१-९०, पु० ११०।
- ९ ४-३-१०, पु० २४६।
- १० ४-१-९० पु० ११० १ ३-६२, पु० ७८ ६-३ ४४, पु० ३१४ ७-१-७४, पु० ७०।

यही पतञ्जलि की मध्यमिका है। इस स्थान पर जो चिह्नके निम्ने हैं उनपर 'मन्त्रमिकाय चिह्नितनपदस्य' लिखा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि चिह्नियों का जनपद बिन्तीड़ की मध्यमिका नगरी के चारों ओर था। जिसमें चिह्न राज ने प्रजा क कहने से अपने युवराज वेस्वन्तर को देश से निकाल दिया था। बाद में बढ़ते-बढ़ते चिह्न लोग दक्षिण तक पहुँच गये। प्राचीन चोल्-राजवंश चिह्न ही था। बाणह-निहिर की बृहत्संहिता में दक्षिण देश में जिस चिह्निका देश का उल्लेख है यह इन चिह्नियों का ही स्थान जान पड़ता है।<sup>१</sup>

पाण्डित के अनुसार वे लोग एकसमय उसीनर में रहते थे और बाद में इनके राजा चिह्न उद्योग तथा उनके चार पुत्रों ने क्षत्रिय, सुवीर, केक्य और मद्रक जनपदों पर भी आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिम कोने को छोड़कर शेष सारे पंजाब पर इनका शासन रहा।

बसाति—भाष्य में चिह्न या क्षैत्रदेश के साथ ही 'बसाति या 'बसातय' देश का नाम आया है। यह बसाति जाति का विषय (अभिहित देश) था। य लोग भी वेताब और सिन्धु के संगम के पास वेताब के निचले प्रदेश में रहते थे।

दार्ब—दाय कम्बोज से ही फूटकर पृथक् जनपद बना था। स्ट्रेबो के मत से इसके अन्तर्गत क्षेत्रम और वेताब के बीच का सारा निम्न तथा मध्यमर्त्ती पर्वतीय क्षेत्र था।<sup>२</sup> यह तलसिखा से ऊपर की ओर पर्वतों के भीतर का प्रदेश था। मोटे तौर पर इसमें पृथ तथा पड़ोस के कुछ काश्मीरी जिले और सीमा प्रान्त के द्वारा जिले का कुछ भाग शामिल था। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहाँ अमिसार का शासन था। इसकी तथा पृथ की तलसिखा से कट्टर शत्रुता थी। जब सिकन्दर इसकी ओर बढ़ा तब इसने आत्मसमर्पण का संवाद कहसा भेजा किन्तु जब वह पृथ से सड़ने लगा तब अमिसार ने भी पृथ का साथ दिया।<sup>३</sup> अमिसार को कई इतिहासकारों ने शर्बाभिसार भी लिखा है। महाभारत में दार्वों का उल्लेख त्रिमूर्त्तों तथा द्रव्यों एवं अन्य उत्तरी पंजाब की जातियों के साथ हुआ है। काधिकारकार न दार्ब और अमिसार को पृथक जनपद माना है।<sup>४</sup>

केक्य—केक्य-प्रदेश के निवासियों को भाष्य में केक्य कहा है। प्राचीन केक्य विपाशा से प्रारम्भ होकर मन्वार की सीमा तक विस्तृत था। वर्तमान क्षेत्रम आहपुर और गुजरात के जिले इसके अन्तर्गत थे। राजघातर ने काव्यमीमांसा में एक हूण कम्बोज और ब्राह्मिक-प्रदेश के उत्तर भाग में इसकी स्थिति बतलाई है। महाभारत में उसका नाम प्रायः ब्राह्मिक और पुण्ड्रों में मद्र के साथ आया है। पीताम्बिक परम्परा के अनुसार केक्य लोग अनु (अभार्यजाति)

१ पालि० हिस्ट्री ऑफ ऐन० इण्डि०, पृ० २०५ तथा डीलहार्नः लिस्ट ऑफ़ तरन हिन्दुस्तान सं० ६८५।

२ पालि० हिस्ट्री ऑफ़ ऐन० इण्डि०, पृ० २५७।

३ इनवे० ऑफ़ जल्लेक०, पृ० ११२।

४ वही।

५ वही।

६ ४२ १२४ १२५।

७ रामायण अयो० काण्ड ६८ १९ से २२।

के समान थे। श्रमैर (८-७४) में अनुमान होता है कि अनुभाग पहले उमी प्रदेश में रहते थे, वही बाद में कैकेय सोम बन गए।

कैकय के सबप्रथम राजा अम्बरति का उल्लेख प्राप्त है। यह अम्बरति अनङ्ग ब्राह्मणों के समीपदेष्टा थे।<sup>१</sup> इनकी राजधानी राजमूह या गिरिव्रज थी।<sup>२</sup> कनिषम शल्य-उट पर श्वित बल्लानपुर को ही प्राचीन गिरिव्रज या राजमूह मानते हैं।<sup>३</sup>

पुराणों में कैकेयों का शिबि उगीनरों से बनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। य शिबि-उगीनर के चार पुत्रों में से एक के बंशज थे।

मद्र—मद्र देश वर्तमान स्यामकाट तथा उबी और चनाब नदियों के मध्यवर्ती एवं मधीन नदी प्रदेश का नाम था। मद्र बाहीक देश का एक भाग था। यह पूव और अवर का भागों में विभाजित था। पूर्व (पूर्वी) मद्र उबी से चनाब तक और अवर (पश्चिमी) मद्र चनाब से शैल्य तक फैला था। इसकी राजधानी साकस या जो स्यामकोट का प्राचीन नाम है।<sup>४</sup> मद्र प्राचीन वैदिक कालीन क्षत्रिय जाति के बंशज थे। स्थानातिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्त्वपूर्ण था। ३२६ ई० पू० में यह प्रदेश विक्रमदर के अधिकार में आया। इसी की प्रथम गताङ्गा में उस पर दिना शर (मिथिन्ड) का शासन था। भाष्य में मद्रराज और मद्रराजा का उल्लेख है।<sup>५</sup> उनमें 'ध्रों का राजा' शाल भी आया है। मद्र में जो की उपज अधिक थी।<sup>६</sup> भाष्य से अनुमान होता है कि मद्र और उगीनर की भूमि उपज की दृष्टि से समान थी। मद्र के किमी ऋषि म भाष्यकार परिचित थे। मद्र के मिवासी का मद्रज कहते थे। मद्र या मद्र के राजा के प्रति भक्ति (निष्ठा) रखनेवाला भी मद्रक कहलाता था।<sup>७</sup>

उगीनर—उगीनर कुरु-प्रदेश के उत्तर में था। मानस-शाखा (७०) में उगीनरों का उल्लेख है। एतरेय (८१४) शाखाय कुरु-गोत्रियों का बग और उगीनरों के साथ मध्यभाग में साह-साह रहते बतलाया है। पञ्चरत्न में मद्रों के साथ बार-बार उगीनरों का उल्लेख किया है। इससे यह पड़ोसी जान पड़ते हैं। उगीनर की बनी कन्याओं काप्यकार के समय में प्रसिद्ध थीं वहातक कि वही की बनी कन्याओं के नाम तक बनातवान परिवारों के भाषण पर प्रसिद्ध थे। दश—श्रीमद्विष्णुस्मृ, ब्राह्मणस्मृ आदि। य नाम विद्या प्रकार की कन्याओं के थे।<sup>८</sup>

१ शत० वा० १०-६-१ २, छात्रो० उप० ५ ११ ४।

२ रामायण, अयो० ६७-७, ६८-२२।

३ कनिषम आदि० सर्वे रि० भाष २।

४ बामुपु० अ० ९९, मत्स्यपु० अ० ४८, शिल्पु० ४-१८।

५ महाभारत २ ११९६ तथा ८-२०३३।

६ ४-१ १, पु० ११।

७ ४-१-२, पु० २६३।

८ ४-१-९०, पु० ११०।

९ ४-३-१० प० २४६।

१० ४-१-९० पु० ११० १ २-६२, पु० ७८; ६-२-४८, पु० ३१४, ७-१-७४, पु० ७०।

पाणिनि-मूर्खों (४२ ११७-११८) से पता चलता है कि उचीनर बाहीक के अन्तर्गत था। उन्हींने उचीनर के अन्तर्गत बाहीक ग्राम बतलाये हैं। इस प्रकार केन्द्र्य उचीनर और मद्र तीनों बाहीक के ही भाग मानसूमें होते हैं। इनमें केन्द्र्य शकम धीर बनाव के बीच में मद्र बनाव और रावी के मध्य में उत्तरी भाग में तथा उचीनर दक्षिणी भाग में था।

बाहीक—यह प्रदेश बाहीक से मिलता था। कर्णपर्व (अ० ४४ श्लोक १० तथा १७) में कहा है—  
 साकसं माममगरमापमा ताम निम्नया । पालिका नाम बाहीकास्तेषा वृत्तं सुनिम्बितम् ॥  
 इससे स्पष्ट है कि बाहीकों का पालिक (पाट ?) भी कहते थे। इनकी राजधानी साकस या स्याक-कोट थी। यह राजा मिस्त्रिन् की भी राजधानी थी। बाहीकों के वृत्त को महाभारतकार ने निम्बित कहा है। भाष्यकार ने बाहीक की व्युत्पत्ति बहि से मानकर उसे वार्यावर्त्त से बाह्य-प्रवेश बतलाया है।<sup>१</sup> काणिकाकार ने साकस को बाहीक ग्राम कहा है।<sup>२</sup> भाष्यकार ने बाहीक ग्रामों में आराट् कास्तीर, वासक्य्य साकस सीसुक पातागप्रसव नान्दीपुर, कौकुन्दीबह और मीत्र का उल्लेख किया है जिससे अनुमान होता है कि बाहीक विद्यास एवं समूह प्रदेश था। यह प्रदेश वार्यावर्त्त से बाह्य किन्तु उससे सटा हुआ होगा। अथवा मध्यप्रदेश पतञ्जलि को उसके मार्गों की इतनी अधिक जानकारी न होती।<sup>३</sup> भाष्यकार ने साकस को भी ग्राम कहा है जिससे अनुमान होता है कि घेय ग्रामों की स्थिति साकस के समान ही बड़े कस्बों-बीची होगी। पूर्वी पंजाब बाहीक प्रदेश था। पाँचनद पाँच नदियों का प्रदेश था। इसमें वर्तमान पंजाब का सारा प्रदेश आ जाता है। राजनीतिक दृष्टि से पाँचनद और बाहीक कभी इकाई नहीं रहे। भाष्यकार ने सोक-प्यबहार की दृष्टि से ही बाहीक और पाँचनद प्रदेशों का उल्लेख किया है पतञ्जल के रूप में नहीं।

अम्बळ—इन्हीं कीक लोगों ने अम्बस्तनीइ या अम्बस्तइ कहा है। ये पंजाब के निचले भाग में रहते थे। ये साम एतरेय ब्राह्मण के समय में ही पंजाब में बस गये थे।<sup>४</sup> महाभारत में इनका स्थान उत्तर-पश्चिम भारत बतलाया गया है। पाण्डित के अनुसार ये पंजाब के पूर्वीय अंचल में बसे हुए थे और इनका विधियों तथा यौधेयों से बनिष्ठ सम्बन्ध था।<sup>५</sup> अम्बळतः, बाह में ये साम मर्मदा के उद्गम-स्थल मरकल पर्वत के पास बसे गये। भाष्यकार ने अम्बळ-प्रदेश के निवासी पुदवा को आम्बप्य्य और स्थियों को आम्बप्य्या कहा है।

१ ४ १-८५, पृ० १५।

२ ४ २-११७।

३ ४-२ १०४ पृ० २०५ से २१२ तथा ४-२-१२४, पृ० २१५।

४ ८ १ १२ पृ० २७३ ८ ३-८२, पृ० ४५८।

५ ऐत० ब्रा० ७-२१ ३।

६ एत० इण्डियन हिस्टो० ट्रेडि०, पृ० १०९ २६४।

७. लॉ ड्राइंग्स इन एन० इण्डिया, पृ० ९७, ३७४।

८ ४ १ १७०, पृ० १६३; ३-१ ३ पृ० १९।

त्रिपत्तं—भाष्यकार ने त्रिपत्तं निवासी त्रिपत्तंवासी को क्षत्रिय कहा है। त्रिपत्तं का उल्लेख श्रीवेदादि गण म भी है। ये काक आपुधजीवी थे। कौण्डोपरम दाग्दकि क्रीटकि जालमानि, ब्रह्ममुस और जानकि मा आरुकि इन छह आपुधजीवी संघों का एक महासंघ था। इनमें छठा संघ त्रिपत्तों का था।

त्रिपत्तों को महामारुत (सभा प० ५२ १४ १५ तथा श्लोण प० १८ १६) में पत्राव का धीर राजतरंगिणी (५ १४४) में काश्मीर के समीप का बतलाया है। हेमचन्द्र के अग्निषाम विश्वामि में त्रिपत्तं और आसन्धर पर्यायवाची कहे गये हैं। कनियमन काँगड़ा-क्षेत्र को जो आसन्धर में जन्म पर्वत-व्येभी और ब्यास के उत्तरी मार्ग के बीच में है प्राचीन त्रिपत्तं माना है। यह पुराणों के अनुकूल है। जिनमें त्रिपत्तों को पर्वतीय जाति कहा है। बान्धव में त्रिपत्तं सतलज और रावी के बीच का प्रदेश था। काँगड़ा इसके अन्तर्गत था और इनकी केन्द्रीय नगरी आसन्धर थी। त्रिपत्तं नाम रावी ब्यास और सतलज इन तीन नदियों के कण्ठ में स्थित होने के कारण पड़ा था। इस प्रकार के गर्तान्ति नाम रखने की प्रथा जान पड़ती है। यथा—द्वारविष्णुत्तं बुकगत बारि।

त्रिपत्तं प्रायः अनावृष्टि से पीड़ित रहता था। महामारुत (२ ४८ १३) में भी त्रिपत्तं में अनावृष्टि का विषय वर्णन है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार का यह कथन है कि 'बादक केवल त्रिपत्तं का छोड़कर अन्य सब स्थानों में बरस गया' विशेष महत्व रखता है।

सास्व—४ १ १३३ सूत्र के भाष्य में कई बार सास्व का उल्लेख है। सूत्र ४ १ १७३ से पता चलता है कि सास्व के अनेक अवयव थे। पाणिनि ने सास्वेय का भी उल्लेख किया है जो राजविशेष तथा देशविशेष का द्योतक है (४ १ १९९)। काशिकाकार (४ १ १७३) ने सास्वेय और सास्व का अर्थ स्पष्ट करत हुए बतलाया है कि सास्वा एक क्षत्रिया का नाम था उसकी सन्तान सास्वेय और सास्व कहलाई। उनके निवास का नाम सास्व जनपद हुआ। इस जनपद के उहुम्बर, तिलकल मद्रकार, मुगम्बर, मुलिंग एवं धारदण्ड ये छह अवयव थे। इनमें रहने वाले लोग क्षत्रिय-वृत्ति अर्थात् आयुधजीवी थे जो सास्वक कहलाते थे। पाणिनि ने सास्वकों की हर धारीरिक घेष्टा की भी सास्वक नाम दिया है। कच्छ सिन्धु, बन्धु मार्गार, मधुमत् कम्बोज काश्मीर, सास्व कुब रंहु आदि कच्छादि देशों के पहनाव-ओढ़ाव बोलचाल ज्ञान-पान के

१ ४२ १०४, पृ० २०९ तथा ४-२ १३७, पृ० २१८।

२ ५३-११७।

३ येषामायुधजीविना सङ्गानां पञ्चस्तवर्षास्तत्र त्रिपत्तं पठ्यः। त्रिपत्तं पठ्यो येषां ते त्रिपत्तं पठ्यो इत्युच्यन्ते। तेषु केचं स्मृतिः आहुस्त्रिपत्तं पठ्योस्तु कौण्डोपरमदाग्दकिक्रीटकिजालमानिब्रह्मगुप्तोय जानकि।— ५ ३-११६ का०।

४ आसन्धरास्त्रिपत्तः स्युः।—अभि० चि०, ४ २४।

५ कनियम आकि०। सर्वे रि० भाग ५, पृ० १४८।

६ एपि० इण्डि० भाग १, पृ० १०२, ११६।

७. ८-१-५, पृ० २७०।

अपने-अपने अलग अलग इंच में और उनके अलग-अलग नाम भी थे। उदाहरणार्थ—काष्मिक मापनदर्शन, काष्मिकी चूड़ा या सै-बिकी चूड़ा सास्वक हस्ति या जस्तिपत इन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। सास्व-जनपद इन सबके अतिरिक्त तीन और बाघों के छिप् में प्रसिद्ध था—पदाति सैनिक बँस और यबागू। सास्व का पदाति सास्व ही कहलाता था सास्वक नहीं। बँस का सास्वक और यबागू को सास्विका कहते थे।

सास्व का सर्वप्रथम उल्लेख गोपब-ब्राह्मण में (१-२ ९) मिलता है। सास्व संभवतः उस भू भाग का नाम था जिसे अब बलर राज्य कहा जाता है। महाभारत (वनपर्व अ० १४) के अनुसार सास्व की राजधानी सास्वपुर थी जिसे सीमम नगर भी कहते थे। काशिकाकार ने सास्व-जनपद में वैशुमाप्ती नदी का नाम दिया है जिसका निर्माण विष्णुमानि ने किया था। डॉ० अग्रवाल के मत से सास्व अत्यन्त प्राचीन जाति थी जो बभ्रुविस्तार और सिन्ध होती हुई पश्चिम से आई थी और राजस्थान में बस गई। वे शास्वका सिन्धि के रूप में जो हासा पर्वत का प्राचीन नाम है और जिसका परिवर्तन पाणिनि ने किणुसकादि गण (१३-११७) में किया है अपने स्मृति-चिह्न पीछे छोड़ जाये थे।

उदुम्बर—उदुम्बर सास्व का एक अवयव था जिसका राजा उदुम्बरि कहलाता था। भाष्य में उदुम्बर देश में बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती बतलाया है। समापर्व (२ १८६९) में उदुम्बरों का स्थान मध्यदेश बतलाया है। मार्कण्डेयपुराण (१०८ ९) में उदुम्बरों का उल्लेख कपिलसर्ग कुल्वाकों और पत्राङ्गणों के साथ हुआ है। इनमें पत्राङ्गण शोभ ता हास्तिनपुर से और कुदवाह भी किसी-न-किसी प्रकार कुद्यों से सम्बन्ध रहे होंगे। इससे अनुमान होता है कि ये शोभ भी कुद प्रदेश के समीप ही कहीं रहे होंगे। पत्राङ्ग के काँगड़ा जिसे में इनके सिक्के मिल जाने से अब इतना निश्चितप्राय हो गया है कि उदुम्बर देश रावी और व्यास के बीच काँगड़ा पाटी तथा मुस्तागपुर जिस के पठानकोट के ही पास-पड़ोस का प्रदेश था और यही होकर बहनेवाली कोई नदी उदुम्बरावती कहलाती थी। भाष्य में महाकावती के साथ उदुम्बरावती का नाम आने से यह अनुमान किया जा सकता है कि उदुम्बर देश की राजधानी का नाम उदुम्बरावती था जिसके कारण ही इसके पास से बहनेवाली नदी का नाम उदुम्बरावती पड़ा।

मुगम्बर—मुगम्बर देश के मनुष्य को यौगम्बर या यौगम्बरक कहते थे। युगम्बर का-राजा यौगम्परि कहलाता था। डॉ० अग्रवाल ने जर्नल एशियाटिक (Journal Asiatic

१ ४२ १३४।

२ ४-२ १३५, ३६।

३ कनिष्क आदि० सर्वे रि० भाग २० पृ० १२०।

४ ४२-७६।

५ पाणिनि पृ० ५५।

६ २४-५८, पृ० ४९३ तथा ६३ १११, पृ० ३६२।

७ ४-२-७१ पृ० १९४।

८ ४२ १३०, पृ० २१७।

१९२९, पृ० ३११-१४) में उद्धृत एक वैदिक मंत्र (त्रिसका वेद और संख्या नहीं थी गई है) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि यगधर यमुना के क्षेत्र में नहीं था और इस प्रकार यमुना के ऊपरी भाग तथा सरस्वती के बीच अम्बाला जिले में उसे मान लिया है। उनके अनुसार जगधरी युगधर का अवग्रह माना जा सकता है।<sup>१</sup> श्रीबिमलचरण सा का अनुमान है कि दक्षिणी पञ्जाब की पुरानी जी-रियामत ही युगधर-जनपद थी। महाभारत (३ १२९ ९) में युगधर को कृत्वन का प्रयोग-द्वारा कहा है। काशिका के अनुसार युगधर सात्वतों के अधिकार में था और सात्वत बंदर गिना जाता था।

सुम्न (१)—सुम्न घानेसर में लगभग ४० मील की दूरी पर छाटा-सा जनपद था जिसका परत लगभग १०० मील था। यह पूरब की ओर गयातट और उत्तर में ऊँचे पर्वतों की श्रृंखला तक विस्तृत था। यमुना इसके बीच बहती बहती थी। कनिष्क के अनुसार घिरमोर की पहाड़ियाँ और मगध के बीच का प्रदेश तथा मड़वाल का पहाड़ी क्षेत्र भी इसके अन्तर्गत था। क्लृप्तमंगल इसे सु-मुक्ति-नो कहा है। सुम्न की राजधानी भी सुम्न थी जिसे आज भी सुभ कहते हैं। सुम्न में रहनवास क्षीण कहलाते थे। माप्य में क्षीणी स्त्रियों का आन्तर्पूषक उल्लेख है। माप्यकार सुम्न जनपद सुम्न नगर, उसको जानबाल मार्ग तथा वहाँ की सुभ-समुद्रि से सुपरिचित था।<sup>२</sup>

अजमीड—माप्य के अनुसार यह एक जनपद था। काशिकाकार ने इसे जनपदाशुभि बर्षान् बड़ जनपद का एक अवयव कहा है।<sup>३</sup> समझ है महाभारत के सुप्रसिद्ध अजमीड-परिवार से इसका कोई सम्बन्ध हो। श्रुवेद (७-१८ ६९) में अज लोगों का उल्लेख है जिन्हें तुत्यु और मुदायवर्षों ने पराजित किया था। श्रु (६ ४४ ६) में अजमीड के वधर्षों आजमीडों की भी उल्लेख है। सम्भव है इन प्रदेशों और नगरों का सम्बन्ध अजों और आजमीडों से हो।

अजम्ब—इसका उल्लेख अजमीड के ही साथ हुआ है। इसे भी काशिका में जनपदाशुभि कहा है।<sup>४</sup>

नीप—नीप का राजा मैप्य कहलाता था।

निषक—निषक के राजा का निषक्य कहते थे। नीप के समान इसके क्षेत्र के विषय में भी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

१ इच्छिया एव नीप दु पाणिनि पृ० ५५ तथा पृ० ५७।

२ कनिष्क एत० श्या० पृ० ३९५ से ९९।

३ ४ ३-२५, पृ० २३१ ४ ३-१२, पृ० २५१, ६ ३ ४२, पृ० ३२७।

४ ४ १ १७०, पृ० १६३।

५ ४-२-१२५।

६ वही।

७ ४-१ १७० पृ० १६३।

८ वही।



भाष्य में सुपंचाल अर्धपंचाल और पूर्वपंचाल के निवासी को क्रमशः सुपंचालक-अर्धपंचालक और पूर्वपंचालक कहा है और वहाँ के एक सासक ब्रह्मवत का उल्लेख किया है।<sup>१</sup>

रंजु—रंजु-प्रदेश में खनेवालों को रंजुक कहते थे।<sup>२</sup> पाणिनि के अनुसार इस देश की मनुष्य से मिश्र वस्तुओं को रंजुक या रंजुवायन कहा जाता था। काशिका के अनुसार रंजुदेश बौद्धों और कम्बलों के लिए प्रसिद्ध था। डॉ० अग्रवाल यह प्रदेश ब्रह्मगोड़ा के भासपास बताते हैं।<sup>३</sup>

भाखाज—पाणिनि ने भाखाज को भी देश कहा है, जिसके अन्तर्गत कुम्भ और पर्ण नामक ग्राम थे। भाष्यकार ने ऐषीक और सौमुक ये दो ग्राम भी भाखाज देश के अन्तर्गत बताये हैं।<sup>४</sup> पात्रिटर के अनुसार महाभारत में भाखाज प्रदेश का उल्लेख प्रायः गंगा के उमरी भाग के पर्वत-प्रदेश के लिए हुआ है और इस भाष्य पर वे पड़नाक को भाखाज प्रदेश मानते हैं। अथि या भाषेय और भाखाजों का महाभारत पुराणों तथा पाणिनि के गणपाठ तथा महाभाष्य में अनेक बार जो साथ-साथ उल्लेख मिलता है उसका कारण इन दोनों का पारस्परिक मेषुनिक (साम्यत्व) सम्बन्ध है।

कोसल—भारत के सासह महाजनपदों में कोसल भी सम्मिलित था।<sup>५</sup> इसके पश्चिम में कुम्भ-पंचाल तथा पूर्व में विरह था। सवानीय (गण्डक) नदी इसे विरह से पृथक करती थी।<sup>६</sup> कोसल लोग सूर्यवंशी मनु के वंशज थे। इनके पूर्वज इक्ष्वाकु से इसलिये कोसल को इक्ष्वाकु-जनपद भी कहते थे।<sup>७</sup> रामायण-काल में इस जनपद को विरोच महर्षि प्राप्त हुआ किन्तु राम के बाद यह दो भागों में विभक्त हो गया। उनके बड़े पुत्र कुण्ड दक्षिण-कोसल के सासक हुए। उन्होंने कुण्डस्वामी मगधी त्रिस विजयमासा में उन्होंने ही बसाया था राजधानी बनाई (भाग्य पृ० ८८ १९८)। छोटे पुत्र सब उत्तर-कोसल क राजा हुए। उन्होंने अपनी राजधानी भावस्ती में स्थापित की। जैन और बौद्ध साहित्य में कोसल के अनेक स्त्री-पुरुषों की कथाएँ हैं। बौद्धधर्म के प्रारम्भ-काल में भी कोसल के उत्तर और दक्षिण ये दो भाग मिलते हैं। उत्तर-कोसल की दो राज

१ १-१-७२ पृ० ४५४।

२ अथि ब्रह्मवत पञ्चालः २-३९, पृ० ४१२।

३ ४२ १०० पृ० २०३।

४ वही काशिका।

५ पाणिनि पृ० ५९।

६ ४-२-१४५, पृ० २१९।

७ पात्रिटरः मार्क० पृ०, पृ० ३२०।

८ २-४ १२, पृ० ५००; ४ १-८९, पृ० १०५।

९ अंगु० नि० १-२१३।

१० कौटिल्य शिल्पी अर्थ इण्डि०, भाग १, पृ० ३०८।

११ ४२ १०४, पृ० २१३।

धानियाँ थीं—यावस्ती और चाकेत। सरयू नदी इन दोनों के बीच विभाजक रेखा थी। रामायण तथा अन्य प्राचीनक कौटिल्य के अनुसार कोसल की पहली राजधानी ज्योष्मा थी किन्तु बुद्ध के समय में उसका महत्त्व कम होता गया। राज डेविड्स के अनुसार चाकेत और मयोष्मा दोनों को पूरक नगर थे। यावस्ती और चाकेत भारत के प्रमुख नगरों में गिने जाते थे। इनके अतिरिक्त सतेष्य और जनकपुर भी बड़े नगर थे।

काशी और कोसल लगभग समान क्षति और क्षेत्रफलवाले जनपद थे। बाद में कोसल अधिक क्षतिग्रस्त बन गया और अन्त में उत्तर-कोसल भावस्ती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभाष्य में काशिकोशमीयों का साथ-साथ ही जम्बेक मिश्रा है। यद्यपि पूरक जनपदों के रूप में उन्होंने उसमें इन्हें जनपद-समुदाय कहा है। इनमें एक जनपद बूसरे की अवधि अर्थात् उसका अन्तर्गत भाग नहीं था। कोसल की सन्तान कौसन्त्यामि कहलाती थी।

काशी—कोसल के समान काशी भी महाजनपद थी। भाष्य में इसका उल्लेख सदा कोसल के साथ हुआ है। इसकी राजधानी वाराणसी थी। महाभारत-बुद्ध के पूर्व ही काशी को राजनीतिक महत्त्व प्राप्त हो चुका था। उसकी सीमा गोमती तक विस्तृत थी। यह भारत का सर्वाधिक सभ्यतावादी राज्य था। कभी काशी का अधिकार कोसल पर और कभी कोसल का काशी पर हो जाता था। पठजति इस स्थिति से परिचित थे। उन्होंने 'काशिकोशमीय' को इसी दृष्टि से एकीभूत जनपद और जनपद-समुदाय कहा है। राजनीतिक दृष्टि से धीरे धीरे जाने पर काशी कभी कोसल का और कभी मगध का अंग बना। काशी को लेकर ही कोसल के प्रदेनविद् और मगध के बजातसु में झगड़ा हुआ, जिसमें प्रदेनविद् हार गया और काशी मगध में सम्मिलित हो गई।

अधिक—अधिक जनपद के निवासी या उसमें होनेवाली वस्तुएँ अधिक कहलाती थीं।

अधिक सम्भवतः बुरसेन-जनपद का एक भाग था, जिस मनु ने ब्रह्मपि देस कहा है।

इस्वाकु—इस्वाकु-जनपद, जिसे भाष्यकार ने क्षत्रिय-निवास होने के कारण 'इस्वाकु' कहा है कोसल का दूसरा नाम था। इसके निवासी ऐस्वाक कहलाते थे।

निजीनक—निजीनक में होनेवाली वस्तु या व्यक्ति को निजीनक कहते थे।

१ बुद्धिच इति०, पृ० ३४।

२ ४-१-५४, पृ० ६८।

३ ४१ १५५, पृ० १५०।

४ अंशु० नि० १-२१३, ४-२५२।

५ संयुक्त नि०, १-८९ से ८५।

६. जनपदसमुदायो जनपदग्रहणेन न बुद्धौ काशिकोशमीया इति।—४ १-५४, पृ० ६८।

७. जातक, ३-११५।

८. ४-२-१०४, पृ० २१३।

९. मनु २-११।

१०. ४-२-१०४, पृ० २१३।

११. ४-२-५२, पृ० १८४।

आरीहणक—आरीहणक में होमेवाकी वस्तु या व्यक्ति आरीहणकीय कही जाती थी।<sup>१</sup>

राजन्यक—राजन्यक वैश्यातक वैश्वानक आम्यगीपपुत्रक और आरमकाम्यक नाम की छोटी-छोटी जायिरेँ साम्भार, वीज और भासात् जनपदों क समीप में थी जिनपर क्रमश राजन्य वैश्यातक विश्वानक अम्बरीपपुत्र और आरमकाम्य नामक आमुबबीबी पर्वतीय क्षत्रियों का अधिकार था। ये सब प्रदेश पश्चिमात्तर भारत में थे। वहाँ के निवासी क्षत्रियों क स्थानांतरण के साथ इन प्रदेशों की सीमाएँ भी बदलती रहती थीं।

कुन्ति—कुन्ति का उल्लेख भाष्य में सर्वत्र कुव और अवन्ति के साथ हुआ है, जिसे इसका जनपद होना स्पष्ट है। भाष्य के अनुसार कुन्ति का राजा कौस्य तथा कुन्तिराज की पुत्री कुन्ती कहलाती थी। कुन्ति-जनों का उल्लेख काठकसंहिता के एक मंत्र में है। इन्होंने पांचालों को पराजित किया था। इनका प्रदेश पञ्जाब और कुव-जनपद के समीप ही कही था।

बृजि—भाष्यकार ने कुव और बृजि के मारुपथ (परिवार-व्यवस्था) का विशेषत उल्लेख किया है।<sup>२</sup> ये व्यवस्थाएँ, परस्पर भिन्न थीं। कुव में परिवार छोटे-छोटे होते थे और बृजि में बहुत बड़े-बड़े। आज भी यह अन्तर पूर्ववत् विद्यमान है।

बृजि अष्टकुलज जाति-संघ का सदस्य था जिसे विदेह सिञ्छत्रि तथा बृजि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। ज्ञातुक उप भोज और ऐशवाक भी इस संघ के घटक थे। आठवें सदस्य का नाम ज्ञात मही है। ब्रिज नामक क्षत्रिय जाति का निवास और विषय ब्रिज या बृजि कहलता था। इनका भी मिच्छिन्नियों के समान वैशाखी से निकट सम्बन्ध था। यही अष्टगणसंघ का प्रमुख पयस था। इसका वैभव अपार था। बृजियों का एक संघ या गण था। इसका पाठसिपुत्र से भी मयुर सम्बन्ध रहा किन्तु बाद में अजातघञु ने इसे तहस-तहस कर डाला। बृजिसंघ की जनता जो संघ की भक्त थी बृजिक कहलती थी। भाष्य में मद्र और बृजि के प्रति भक्ति का विशेषत उल्लेख है।

विदेह—विदेह वर्तमान तिरहुत क्षेत्र का नाम था जिसे सदानीय या गण्डकी नदी कोसल राज्य से पृथक् करती थी। इसकी राजधानी मिथिला थी। ब्राह्मण-काल से भी पूर्व विदेह संस्कृत हो चुका था। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार विदेह में कार्य-संस्कृति के प्रथम प्रवर्तक विदेह मातङ्ग थे जिन्होंने प्रतीप्य भाम से ज्ञान की ज्योति लाकर यहाँ जलाई।<sup>३</sup> विदेहों का कोसलों और कभी कागी के साथ संयुक्त उल्लेख भी मिलता है। पंचविंश ब्राह्मण (२५ १०-१७) में यहाँ के राजा मिमिसाप्य का उल्लेख है। वैदिक काल से बौद्धकाल तक विदेह वैदिक संस्कृति का महान् क्षेत्र रहा।

१ ४-२ १०४, पृ० ११३।

२ ४ २-५२, पृ० १८४।

३ ६-२ १४२, पृ० २५८

४ ४ ३ १०० पृ० २४६।

५ दात० शा०, १४ १ १०।

६ तैत्ति० शा० ३ १०९-९।

७. पंचविंश शा०, २५ १०-१७।

भाष्य ने विदेह के राजा को विदेह कहा है। दूमरे स्थान पर विदेह को एकराज्य से भिन्न सप्तराज्य माना है जिससे पता चलता है कि बौद्धकाल में विदेह भी सप्तराज्य था।

जनपद—वर्तमान पटना और गया जिले माट हीन पर प्राचीन मगध कहलाते थे। विम्बावदान में इसे सर्वरत्नमय सुन्दर नगर कहा है।<sup>१</sup> पत्रग्रन्थि ने इसे जानबिर्ता की सीमा के बाहर माना है। मगध की राजधानी विरिचित्र या प्राचीन राजगिरि थी जा पौंच पर्वतों से घिरी थी। इसका क्षेत्रफल लगभग २३०० मील था। दक्षिण में विजय और पश्चिम में मोन मगध की सीमा थी। मगध बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। यहीं सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने बौद्धधर्म की बीजा ली थी। अशोक के समय में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र थी। प्रारम्भिक बौद्धकाल में यह व्यापार का भी बड़ा केन्द्र था। मगध और लिच्छवि-भय की सीमा का निर्धारण यथा से होता था। इसी प्रकार, मगध और जग की सीमा जम्पा नहीं थी। मगध और अंग में समय-समय पर युद्ध होता रहता था। इसका वैवाहिक सम्बन्ध अनेक महाजनपदों से थे। गान्धार तथा स मगध के राजनीतिक सम्बन्ध थे।

मगध के निवासियों का मागधक कहते थे। मुसागधक अर्धमागधक पूर्वमागधक राज्य भी भाष्य में आये हैं।<sup>२</sup> मद्र के समान मगध भी अच्छा उपजाऊ प्रदेश था। इसी कारण उनमें सिद्ध 'मुसगधा' शब्द का प्रयोग किया है। अन्वय भी भाष्य में श्रद्धि अर्थ में किये गये समान का उदाहरण 'मुमद्रम्' और 'मुसागधम्' ही मिलता है। मगध में चावल की उपज विशेष थी। भाष्यकार ने मगध-पालि का इस प्रकार उल्लेख किया है 'जिससे पता चलता है, कि वे उष्णकटि से होते थे और मगध से दूर-दूर तक निर्यात किये जाते थे।' मगध के बन्तों के समान ही मगध की पालि का बाहर आवर था। भाष्य में मगध के राजा का भी उल्लेख मिलता है।

अंग—मगध के पूर्व में अंग लोग रहते थे। इनकी राजधानी जम्पा (भायलपुर) के पास थी। अंग प्रसिद्ध पौरुष महाजनपदों में था। लिप्यनिकाय (२२३९) के अनुसार यह भारत का नव प्रमुख राजनीतिक विभागों में से एक था। बुद्ध के समय में यह मगध के अधीन बन गया और इसके बाद इसकी स्वतन्त्रता का उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि इसके पूर्व यह स्वतन्त्र था।<sup>३</sup>

अंग जनपद वर्तमान भायलपुर, सूंर जिलों तथा पास-पड़ोस के प्रदेश का नाम था। यह उत्तर में कोशी नदी तक विस्तृत था।

भाष्यकार ने अंग अंग गुहा और पुण्ड्र का एक साथ उल्लेख किया है और इनके निवास

१ ४११६८, पृ० १६९।

२ विम्बावदान, पृ० ४२५।

३ ११५२, पृ० ४५४।

४ २-४-८८, पृ० ५१५।

५ तातेव शालीन् भूम्यमहे से मगधेषु।—जा० २, पृ० ४४।

६ जलक, ५ ३१६, ६ २७१।

को विषयामिषान् जनपद क्हा है।' अंग के निवासी पुष्य वाय या वांगक कहे जाते थे और स्थियाँ वांगी।'

बंग—भाष्य में जिस प्रकार सम्बल और सौवीर नाम सदा साव-साव आये हैं उसी प्रकार अंग और बंग भी।' बंग प्राचीन बंगाल का नाम है। बंग और कर्लिन के मध्य में राङ्ग हल वा जिसके उत्तर और दक्षिण दो भाग थे। वांगी के साव वांगी स्त्री का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।

कर्लिन—भारत के पूर्वी किनारे का कर्लिन जनपद महागदी और गोशावरी के बीच स्थित था। कांगूचीय नदी के समीप समुद्र-तट पर बसा हुआ 'पुष्यक' भी कर्लिन के ही अन्तर्गत था। महाभारत के अनुसार वर्तमान उड़ीसा तथा दक्षिण में वैतरणी नदी एवं बिजयापट्टम् तक का प्रदेश कर्लिन के अन्तर्गत था। कर्लिन की राजधानी वन्तपुर थी।' भाष्यकार ने कर्लिन को जनपद क्हा है।'

मुह्य—मुह्य जिसका उल्लेख भाष्यकार ने अंग और बंग के साव (४ २-५२ पृ० १८४) किया है उस प्रदेश के एक भाग का नाम था जिसे आगे चलकर राङ्ग क्हा गया है। यह गंगा के किनारे पर अवस्थित था। भाष्य में इसे पुण्ड्र से भी पुषक् बतलाया है जिसका समर्थन महाभाष्य तथा युगचो से भी होता है।

गण्डिक—गण्डिक भी एक जनपद था। कर्लिन के साव इसका नाम आया है। सम्भवतः यह मगध का गानुमत स्थान है। गानुमत ब्राह्मणों का श्रेय था। यहाँ विम्बिसार द्वारा प्रदत्त भूमि पर आधित एक विद्यालय था जिसमें वैदिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इसके आचार्य कूटपन्त व और उनका समस्त सम्बन्ध भूमि तथा ग्रामों पर पूरा स्वामित्व था। यहाँ प्रति-बर्ष महायज्ञ होता था जिसमें अनेक पशुओं की बलि दी जाती थी।' भाष्यकार ने गण्डिक का उल्लेख जिस व्यपसाय के उदाहरण के रूप में किया है उससे ज्ञात होता है कि गण्डिक विद्या का तीर्थ था और इन प्रदेश में दूर-दूर के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे।

१ विषयामिषान् जनपदेषुऽप्युक्तवचन विषयाद्बक्तव्यं अङ्गानां विषयोद्गा बङ्गा  
मुह्यः पुण्ड्रा—४ २-५२ पृ० १८४ ।

२ २ ४ ६२, पृ० ४९६ ।

३ यही ।

४ महाभारत, ३ ११४४ ।

५ महाभंग भाग ३, पृ० ३६१ ।

६ ३-२ ११५, पृ० २५० ।

७ पीपीः पञ्चमसूत छन्द २७ ।

८ मुमंषलवितासिनी १ ४१ तथा विषय नि० १ १२७ ।

९ यही ।

१० ३-२ ११५, पृ० २५० ।

सम्प्रदाय और लोहितयंत्र-प्रदेशों से भी भाष्यकार परिचित थे।<sup>१</sup> ये प्रदेश गंगा क किनारे थे इसमें सन्देह नहीं। कासिकाकार ने इनमें कृष्णमय तथा धर्मेय नाम और जोड़ दिये हैं। ये प्रदेश-विशेषों के बड़ नाम थे। साबिक और बड़ नाम का उदाहरण कासिका ने शीघ्रयग वेद्य दिया है। शीघ्रयग किन्नी प्रदेश-विशेष का नाम न था अपितु जिस स्थान पर यग का प्रवाह तेज होता उस प्रदेश को बड़ समते थे। इन प्रदेशों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

किष्किन्धा—किष्किन्ध-गन्धिका में किष्किन्ध सुप्रसिद्ध किष्किन्धा पर्वत के पाम रहते थे। यह पर्वत भारत के दक्षिण में औड़-प्रदेश या जिसमें प्रसिद्ध किष्किन्धा मुहा पी। यही राम यग क बर्षि का निवास-स्थान था। इसके पास-पड़ोस का क्षेत्र जो धानकक मैदोर में है तथा बड़ी से पम्पा नदी निकली है किष्किन्धों का प्रदेश था। गन्धिक लोग इन्हीं के पड़ोसी थे। रामायण के अनुसार ये असम्भ जातियाँ थीं।

१. कौच—कौच लोग कौच पर्वत के निवासी थे। यह हिमालय के एक भाग का नाम था जो आध्याम के उत्तर में हिमालय की पूर्वी धरती के अन्तर्गत था। पुराणों के अनुसार कालिभय ने इसका भेदन किया था। इसके दो नामों के बीच का मार्ग श्रीधरगढ़ कहलाता था। कौचों की राजधानी कौचपुर थी। क्षीर्य लोग इन्हीं के पड़ोसी रहे होंगे। भाष्य में क्षीर्य नाम का भी उल्लेख है।<sup>१</sup> हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में भी क्षीर्य नगर का नाम आया है। सम्भव है यह नगर क्षीर्य लोगों की राजधानी रही हो। भाष्यकार ने किष्किन्ध गन्धिक क्षीर्य और कौच को आयावर्त से निम्नलिखित माना है।<sup>१</sup>

अवन्ति—अवन्ति जिसे अवन्तिका भी कहते थे भारत के पश्चिमी भाग में नर्मदा के किनारे पर स्थित प्रदेश था।<sup>१</sup> राज डेबिङ्ग के अनुसार अवन्ति विन्ध्य-पर्वत के उत्तर में तथा बम्बई प्रदेश के उत्तर-पूर्व में थी।<sup>२</sup> आपके मन्द से दूसरी सताव्वी के अन्त तक यह प्रदेश अवन्ति कहा जाता रहा किन्तु बाद में इसका नाम मालव पड़ गया। अवन्ति के दक्षिणी और उत्तरी दो भाग थे। दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती और उत्तरी भाग की उज्जयिनी थी जो घग्घा नदी के तट पर बसी थी। मोटे तौर पर वर्तमान मालवा विन्हाड़ और पास-पड़ोस का क्षेत्र इसके अन्तर्गत था। प्राचीन भारत में अवन्ति-दाक्षिण बड़ी सक्तिशाली जाति के थे। अवन्ति के राजा को आभत्य और नसकी पुत्री को भाष्य में अवन्ती कहा है।<sup>३</sup>

१ १४१ पृ० १०६।

२ १११५७, पृ० १९४।

३ १-४-१० पृ० ४६५।

४ वही।

५ वही।

६ अवन्तिपु प्रतीक्या वी।—अवन्ति, ३-८९।

७ ताम्र लीप् वि बबरेन, पृ० १०७।

८ बुद्धि० इण्डि०, पृ० २८।

९ ४११७०, पृ० १६४ तथा ४११६, पृ० ३७; १-२-१९, पृ० ५४८।

महिष्मरान्—महिष्मान् माहिषकों का निवास था।<sup>१</sup> माहिष (क) सोमों की वर्षा पुराणों में आई है और वहाँ उन्हें दाक्षिणात्य कहा है। इनकी राजधानी माहिष्मती विन्ध्य और श्या पर्वतों के बीच नर्मदा-तट पर अवस्थित थी। इसके पारों भार का प्रदेश महिष्मान् कहलाता था।

बिहर्म—पतञ्जलि ने बिहर्म का उल्लेख किया है और उसके राजा को वैहर्म कहा है।<sup>२</sup> यह वर्तमान बरार का प्राचीन नाम था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र (५-२०) में शुंगकाल में बिहर्म को 'अचिराभिष्टित' राज्य कहा है और उनका राजा को 'नवसंरोपनसिचिन्स्तर'।

केरल—केरल तमिल के चेरल का कनाड़ी रूप है। इसका प्राचीन नाम चेर या बेरल नाड था। बेरल का अर्थ है पर्वत-भूमी। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण में पश्चिमी घाट का प्रदेश प्राचीन बेरल था। वर्तमान मल्लाबार ट्रावण्कोर और कोचीन प्राचीन केरल के बटक थे। भाष्यकार ने केरल एक स्थान पर चेरल का उल्लेख किया है और उसके राजा को भी केरल कहा है।<sup>३</sup>

कोस—बाक संभोर और त्रिचनापल्ली जिलों तथा पुदुचकोट्टा रियासत के कुछ भाग का प्राचीन नाम था। इसकी राजधानी उरगपुर (उरैयूर) थी जिसे अब त्रिचनापल्ली कहते हैं। भाष्य में केरल के साथ ही इसका नाम आया है।

पाण्ड्य—प्राचीन पाण्ड्य प्रदेश के अन्तर्गत वर्तमान मद्रास और त्रिचनापल्ली जिसे एवं सम्भवतः रामनद और कावकोर-कोचीन राज्यों का दक्षिण भाग था। इसकी दो राजधानियाँ थीं—कोसड तथा मद्रुरा (दक्षिण मद्रुरा)। ताम्रपर्णी और कृत्तमासा (वेगट्ट) नदियाँ इससे होकर बहती थीं।

भाष्यकार ने पाण्डु मण्ड का प्रयोग देश के अर्थ में किया है और उसके राजा को पाण्ड्य कहा है। इनसे अनुमान होता है कि दक्षिण में भी पाण्डु का कोई राज्य था यद्यपि इसका शासक स्वतन्त्र था। मद्रुरा (मद्रुरा) भी पाण्ड्य और उत्तर भारत के निकट सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। संभव है पतञ्जलि की पाण्ड्य मण्ड की व्युत्पत्ति इस कल्पना पर आधारित हो क्योंकि पाण्डुनामों के किसी दक्षिणी राज्य का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

उग्र—उग्र बड़ी पुरानी तथा किसी समय सुप्रसिद्ध जाति थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (३-८-२) में इनका उल्लेख है। अंशुतरनिकाय (१-२६) से उनका सम्बन्ध ईसाई से जान पड़ता है और इतिहास से भी। मृगहृत्नाम से यह संकेत मिलता है कि जनों का सम्बन्ध ज्ञानुकों

१ ४२-८७ पृ० १९६।

२ मार्कण्डेय पृ०, १०७-४६ तथा मत्स्य पृ०, १३-४७।

३ १४१ पृ० ९७।

४ अती हिन्दू ऑफ़ इण्डिया पृ० ४६६।

५ ४१ १७५, पृ० १६४।

६ रायबोवरी: पालि० हिन्दू ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३९८।

७ ४१ १६८, पृ० १६३।

और सिन्धुद्विधां से था। पतंजलि ने उर्षों का उल्लेख किया है किन्तु यह निश्चित नहीं कि वे किसी उग्र प्रदेश से भी परिचित थे।<sup>१</sup>

**भोज**— उर्षों के साथ ही भाष्य में भोज का भी उल्लेख है। उन्होंने उग्रपुत्री और भोज पुत्री का भी उल्लेख किया है। भोज यादव जाति के थे और उत्तर पूर्वी गुजरात में रहते थे। प्रारम्भ में इनके मध्य तथा दक्षिण भारत में रहने का प्रमाण मिलता है। पुराणों में सात्वतों और भोजों को यदुवंश का अंग बतलाया गया है। महाभारत में इन्हें द्रुह्य का बराबर माना है।<sup>२</sup>

**मद्रकार**— महाभारत (सभापर्व १३-५९०) के मद्रकार या मद्रकों का यह प्रदेश कुछ, मत्स्य और शूरसेन जनपदों के समीप था। भाष्यकार ने मद्रहृद के साथ मद्रहृद का उल्लेख किया है, जिससे अनुमान होता है कि वे मद्र के समान मद्र देश से भी परिचित थे।

**आग्नेय**— माकण्ड्यपुराण में (५७-३९) आग्नेयों का पुष्कलों बुधेहकों और लम्पाकों के साथ उल्लेख है। मत्स्यपुराण में अग्नि और आग्नेयों का एक माना है।<sup>३</sup> महाभारत में भी इनका अनेक बार नाम आया है।<sup>४</sup> ये सरस्वती के पास दैवतल में रहते थे। भाष्यकार ने माख्णियों के साथ ही इनका उल्लेख किया है।

**वत्स**— वत्सों का उल्लेख भाष्य में अनेक बार मिलता है किन्तु जिनों और उर्षों के साथ सदा इनका नाम आने से यह स्पष्ट नहीं बह्रा जा सकता कि उनका आशय वत्सयोत्रीय लोगों से है या वत्स-जनों से। बंध बंध या वत्स देश का उल्लेख वैदिककाल से हो प्राप्त होता है। संक्ष्पा यन श्रौतसूत्र (१६ ११-२३) में भी वत्सों की चर्चा है। इस जनपद की राजधानी कौसाम्बी का नाम भाष्य में अनेक बार आया है। बौद्धकाल से पूर्व उत्तर-भारत में चार बड़े राज्य थे— मगध कोसल अजन्ति और वत्स। ये समीप के छोटे राज्यों को हड़पकर बसवान् बने थे। मगध ने अंग को कोसल ने जासी को अजन्ति ने शूरसेन को और वत्स ने मग को आत्मसात् कर लिया था। वत्स मगध और अजन्ति का मध्यवर्ती राज्य था।

**आभीर**— पतंजलि ने शूर्षों के साथ आभीरों का उल्लेख किया है।<sup>५</sup> महाभारत (वाल्मीकि पर्व अ० ५१) के अनुसार ये अपराजित प्रदेश के निवासी थे। इसका समर्थन 'दि पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी' के लेखक ने भी किया है। पेरिप्लस का काल पतंजलि के कुछ ही बाद का है। महाभारत (९ ३७-१) में इनकी ठीक स्थिति पश्चिमी राजपूताना में बतलाई है। टासेमी और

- १ ६ ३-७० पृ० ३४७।
- २ मत्स्य पृ० ४३-४८ वापु पृ०, ९४-५२।
- ३ आशिपर्व, अ० ८४।
- ४ आ० २, पृ० ६९।
- ५ मत्स्य पृ०, ११३-४३।
- ६ महाभारत, जनपर्व २६ ९७१।
- ७ ९ ४ ६२, पृ० ५००।
- ८ १-२-६४, पृ० ५७८।
- ९ १-२-७२, पृ० ६०७।



पेरिप्लस आभीर या अवेरिया देश का मुद्रापट्ट सं पलिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हैं। टासेमी के समय में इण्डोसीरिया जिसमें पेरिप्लस के अनुसार आभीर देश भी सम्मिश्रित था तीन भागों में बँटा था—गुराट्ट पाताक और आभीर। ईसा-पूर्व दूसरी शती के मध्य में सम्भवतः यह देश बैक्ट्रियन ग्रीकों के अधिकार में आया गया किन्तु समुद्रपुत्र की इलाहाबाद-प्रवृत्ति के अनुसार ईसा की दूसरी शती में यह दक्षिण-पश्चिम भारत की संरक्षित जाति बन चुकी थी।

यौधेय—यह पामिनि से पूर्व की ही शीर क्षत्रिय जाति थी। पुराणों के अनुसार ये उद्योगियों की बंध-परम्परा में थे।<sup>१</sup> कनिषम ने इन्हें मुल्तान के पास-पड़ोस के जोहियबर (यौधेय नगर) क्षेत्र में रहनेवासे जोहिया राजपूतों से सम्बन्ध बतलाया है। इनके तीन बर्य थे। यौधेयों के प्राप्त सिक्कों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिसमें 'अय यौधेयणस्य' के साथ 'डि' और 'त्रि अक्षिता' है। यह द्वितीयस्य और तृतीयस्य का बोधक है। छद्मनाम के समय में इन लोगों का मुद्रा सिमा-समूह था। गिरिनार के सिक्कालेख से यह बात स्पष्ट है।

शासककायन—भाष्य में कामरुपों और शासककायनों का नाम आया है। ये नाम सम्भवतः शासकों के हैं। शासककायनों के तीन विभाग थे। इनके अपने संघ भी थे। डॉ० जयसवाल इन्हें राजनीतिक संघ मानते हैं। इनके किन्हीं प्रवेष्टों की कोई जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं है। सम्भवतः ये शासक संघ राजनीतिक नहीं।

त्रिपुरी—त्रिपुरी पेरि-राज्य की राजधानी थी<sup>२</sup> किन्तु गुप्त राजाओं के समय में यह एक प्रान्त या और राष्ट्र के अधिकार में आ। त्रिपुरी प्राचीन पेरि-राज्य (वर्तमान जमसुर के समीप का क्षेत्र) के रूप में भी प्रसिद्ध थी।

१ ब्रह्माण्ड पुराण ३-७४ तथा हरिवंश अ० ३२।

२ एन० एच० पुराण २४५, २८१।

३ रीप्लस इण्डियन नवामस पुराण १४।

४ प १-५८, पुराण ३२६।

५ २ १-५१, पुराण २९९।

## अध्याय ५ नगर और ग्राम

ग्राम और उनके भेद—भाष्यकार ने चार प्रकार के संस्थाप (वस्तिर्मा) बतलाये हैं—ग्राम, शोप, नगर और संवाह।<sup>१</sup> जिस बस्ती में कुछ ब्राह्मण हुएरु तथा पणकादकी रहते थे वह गाँव कही जाती थी। जिस स्थान में गाय भैंस आदि पशु पाकनेवाले लोग प्रमुक्तता से रहते थे उसे शोप कहते थे। जिस बड़ी दस्ती में मित्र जातियों के बहुत-से लोग अलग-अलग अपने मुहस्के बनाकर रहते थे वह नगर कहलाती थी तथा नगर के सामान बची हुई किन्तु उससे भी बड़ी बस्ती को संवाह कहते थे।<sup>२</sup> भाष्य में नगरी का भी उल्लेख है किन्तु नगर से उसका भेद स्पष्ट नहीं किया गया है।<sup>३</sup> भाष्यकार ने इन चारों संस्थापों को आर्य निवास कहा है।

सामान्यतया ग्राम प्रत्येक बस्ती को कहते थे चाहे वह शोप हो या नगर। जब बस्ती की विशेषता का उल्लेख करना होता था तभी नगर, संवाह आदि शब्द व्यवहार में आते थे। इमीच्छिण 'विशिष्टलिङ्गो नवीदेधोऽग्रामा (२४-७) सूत्र के लिए वार्तिककार को ग्रामप्रतिषेधे नगरप्रतिषेधे' वार्तिक का निर्माण करना पड़ा जिससे ग्राम कहते से केवल ग्राम का ही ग्रहण ही नगर का न हो। आज भी राजस्थान और महाराष्ट्र में ग्राम शब्द सामान्यतया हर बस्ती के लिए प्रयुक्त होता है। प्राचां 'ग्रामनगरग्रामा' (७-३ १४) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि ग्राम और नगर में कोई अन्तर नहीं है। जो काम गाँव में होते हैं वे ही नगर में होते हैं और जो गाँव में बजित हैं वे नगर में भी बजित हैं। फिर भी जब संस्थाप-विशेष बतलाना होता है तब ग्राम और नगर का अलग-अलग नाम लेना पड़ता है। इस विषय में कोई कठोर नियम नहीं है। कभी ग्राम कहने से केवल ग्राम का ही बोध होता है और कभी नगर का भी। ब्राह्मण (३-४४) तथा पैमितीय उपनिषद् में जिन महाग्रामों की बर्चा है वे संभवतः संवाह रहे होंगे। कगी के अनुसार वैदिकयुगमें भारत में नगर नहीं थे। यद्यपि राजसूनेयी संहिता (३३ १८) में काम्पिष्य का उल्लेख है। पश्चिम भारत में ग्रामों की संख्या बहुत थी। बर्ह्य पुरा के समान अरुण्य नहीं थे। एतरेय (६ ३३) और सतपथ-ब्राह्मण (१२ ३-७-१०) में जिन महारण्यों की बर्चा है वे पुरा में ही थे। महाभाष्य में उदीच्य और बाहीक प्रदेश के ही ग्रामों का उल्लेख है। वेप भारत के नगरों के ही नाम आये हैं।

१ संस्थापविशेषा ह्यते ग्रामो शोपो नगरं संवाह इति।—७-३ १४, पृ० १८० ।

२ प्राकारो नगरस्य ५ १ १३ पृ० ३०४ ।

३ ८४४९ पृ० ४९६ ।

४ कः पुनरार्यनिवासः? ग्रामो शोपो नगरं संवाह इति।—२-४ १०, पृ० १५४ ।

भाष्य में ग्रामों और नगरों के प्राच्य और उदीच्य ये दो भेद मुख्य हैं। उदीच्य देश में प्रायः ग्रामों का उत्सर्ग है, नगरों का बहुत कम यद्यपि प्राच्य देश में ग्राम और नगर का उत्सर्ग पृथक्-पृथक् है।<sup>१</sup> प्राच्य देश में नगरों की संख्या अधिक थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय सिन्धु और पाँचनद आर्ष-सम्पत्ता के केन्द्र थे उस समय देश कृषिप्रधान था। कृषि की प्रधानता में ग्राम ही समृद्ध बन जाते हैं किन्तु नगरों का निर्माण नहीं होता। बाद में जब प्राच्य देश विद्या और संस्कृति का केन्द्र बना, तब व्यापार उभर ही चुका था। पणत्यों के स्थान पर बड़े-बड़े एकतन्त्र राज्य गठित हो चुके थे। फलतः बड़े नगरों का निर्माण हुआ। अस्तुतः भाष्यकार के समय में सम्पत्ता का केन्द्र प्राच्य देश से और आगे पूर्व में बढ़ गया था। भाष्य के उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि की दृष्टि में पासातुर (काहीर) से पूर्व का प्रदेश जिसकी पूर्वी सीमा कुन्-पाँचाल थी प्राच्य था। इससे और पूर्व की ओर उतका स्थान कम गया था। गया भी तो वे प्राच्यदेश समझी भावते थे क्योंकि वह प्रदेश आर्षदेश की सीमा से बाहर था। इसलिये, ग्राम-नगरों के सम्बन्ध में भाष्यकार ने भी सिन्धु-बाहीक की उदीच्य और उससे पूर्व पाँचाल तक के प्रदेश को प्राच्य कहा है।

पाणिनि ने उत्तर-पद के आधार पर ग्रामों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया था। इनमें टीर, श्य घग् प्रस्थ पुर वह कण्ड अभि बबन पर्व कम्पा पसद नगर ग्राम ह्यब जापि उत्तर पद मुख्य हैं। उदीच्य देश के सम्बन्ध में उन्होंने भी सर्वत्र ग्राम घग् का ही प्रयोग किया है, नगर का नहीं। पर्वतसिंहालीन काल में वर्गीकरण का यह प्रकार छोटा पड़ने लगा था। उनके समय में ऐसे अनेक नगरों का निर्माण हो चुका था जो इनसे स्वतंत्र थे। पर्वतसिंहालीन काल के ग्राम सम्बन्धी सूत्रों में अपिचाम क उदाहरण नहीं दिये हैं अन्यथा उन्हीं सूत्रों बहुत बढ़ी होती। उनका नाम यों ही अन्य प्रसंगों में आ गये हैं। भाष्यकार के ग्रामों और नगरों में निम्न विहित प्रमाण है—

कापिरी—कापिरी का स्वतन्त्र उत्सर्ग तो भाष्यकार ने नहीं किया है किन्तु पाणिनि के 'कपित्वा ष्ठक (६।२।१०) सूत्र पर उन्होंने एक बातक का निर्माण कर कापिरी के साथ काहि उदि और पदि को भी जोड़ दिया है जो इस बात का प्रमाण है कि वे कापिरी में सम्मिलित परिचित थे। टोलेमी के अनुसार यह नगरी काबुल से १५५ मील उत्तर-पूर्व की ओर बनी हुई थी। बुन्देलखण्ड के मगध कापिरी कोहिस्तान के उत्तरी छोर पर पंजनीर और तणावा की घाटी में स्थित थी। हुनघाँस ने इगला बिरतार १० मील बतलाया है। कापिरी पर्वत और अन्न का उपज के लिए प्रसिद्ध थी। बीस के 'बुडिण्ट रेकार्ड्स ऑफ वेस्टर्न पर्वट (१-५४) के अनुसार यहाँ का राजा शत्रिय था जो प्रति वर्ष मादामहापरिवद् का आयोजन करता था। यहाँ के निवासी निर्दय और भयंकर थे। वे उन के बन्धन पहनते थे। कापिरी मुरा के लिए प्रसिद्ध थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधि०२, अ० २५) में भी कापिरी का उल्लेख मिलता है।

१ ७-३ ३५, ४२ १०६, ४२ ११०।

२ ४-२ १०६ ११०, १२१, १२२, १२६, १४२।

मन्नाकावती—मन्नाकावती का उत्पत्त्य भाष्यकार ने नदी के प्रसंग में किया है।<sup>१</sup> इस नगरी स सम्बद्ध नदी नी मन्नाकावती कहलाती थी। यह नगरी अन्नको (४ १ १७३) की राजधानी थी जिस मत्स्य कहते थे। मन्नाकावती मन्नाकावती दरें के पास-बड़ोस बसी हुई थी। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (भाग १ पृ० ३५३) के अनुसार सिक्न्दर की सेनाओं ने इस पर आक्रमण किया और नगर पर अधिकार कर सारी सेना को मौत के घाट उतार दिया था।

तलप्रिया—सिन्धु के पूर्व की ओर बसी हुई यह नगरी गांधार की प्राचीन राजधानियों में एक थी। कनिष्क ने अनुसार काठ-वा-सराय व एक मोस उत्तर-पूर्व में दाह-डेरी के पास के टीने प्राचीन तलप्रिया के अवशेष हैं। यहाँ खुदाई में ५५ स्तूप २८ मठ और ९ मन्दिर मिले हैं। अशोक के समय में कुशास यहाँ का राष्ट्रिय था। उस समय इस स्थान में उपद्रव हाट रहते थे। एरियन ने इसे महान् समृद्ध और जनानीय नगर कहा है। चिन्ता ने इसे पर्वत-पाय व समतल प्रदेश में स्थित प्रसिद्ध नगरी बतलाया है। यह ८० वर्ष तक पीछे दासन में रही और बाद में अशोक के अधिकार में आई। ग्लेनफोय ने इसका चित्र ६॥ भीस बतलाया है। तलप्रिया प्राचीन भारत के सबसे बड़े शिवा-कुन्नों में थी।

बाहीक घाट—उर्वर्य और बाहीक घाटों में कन्वीर, बायसडीर, चयारकूप्य मणि रूप्य शिकपुरा काठकप निम्नीक शीकूक भारत कास्तीर, दामकूप्य दाकस सौमुक निया हर्षु तलिकर्षु मासाप्रम्य पातानप्रस्य काशीपुर नान्नीपुर वातबह कौकुडीबह माप्रीनमायु भीत्र और करन्वद नाम नाप्य में आय हैं।<sup>१</sup> इनमें से अधिकार्थ व विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। शिकपुरा का मूल नाम शिकिपुरा था। धारकाट के शिवालेख व अनुसार यह धारकाट का पुराना नाम था। धारकोट शिकिपुरा की राजधानी थी और मेरुम तथा चेनाब के संगम व कुछ दूर ऊपर की ओर अवस्थित थी। अब इसके केवल खण्डहर-परवर अवशेष हैं। पातानप्रम्य बास्मार में कांसदा घाटी के प्रवेश द्वार पर स्थित पतान या पतानकाट का प्राचीन नाम था। यह उदुम्बरों की राजधानी थी।

धाकर—धाकर या धागल मद्रदेग की राजधानी थी।<sup>१</sup> यह रावी या इरावती के पश्चिम में आपमा नदी के किनारे, जिन अब अयक कहते हैं स्थित थी। महाभारत में इस दामीवीन्ड और कदीमों के राज व मध्य में बनी बतलाया गया है।<sup>१</sup> पीरुबुल पंजाब के इस भाग में बहुत खपित होने लगे हैं। ग्लेनफोय (१३०६०) ने भी धाकर के पास पो-ओ-ग बनों का वर्णन किया है जो कनिष्क के राज व पीरु ही हैं। महाभारत के अनुसार मद्र मोन शक्ति और बाहीक भी कहे जाते थे।

१ ४-२-७१ पृ० १९४।

२ ४-२-१०४ का० २, ३ ५, २५, २६, २७ पृ० २०४ १३।

३ महाभारत २ ३-१४।

४ कनिष्क शक्तिया० सर्वे रि० भाग १४, पृ० ११६।

५ १ ३ १०, पृ० ३६।

६ शमीवीन्डकदीयानां वनेषु मुरावर्त्तन्तु।—वैश्यापोटेनिया इण्डिका० प्रो० संसेन, पृ० ७३-७४।

कनिषम ने पर्याप्त शोधबीन के पदवात् शांगसुवामा टिका नामक पहाड़ी पर के श्वंसावशेषों को ही साक्ष्य माना है।<sup>१</sup> मिमिन्धप्रश्न (पृ० १२) के अनुसार यह व्यापार का भी केन्द्र था। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (१-५४९ पृ०) के अनुसार ई० पू० ३२६ में इस पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया। पतञ्जलि ने साक्ष्य को बाईक-ग्राम कहा है। सम्भव है उनके समय यह नगरी इतनी विहास न रही हो। इनके अतिरिक्त कपिष्ठल का उल्लेख पाणिनि ने मोक्ष के रूप में किया था किन्तु भाष्यकार के कथन से ज्ञान पड़ता है कि वे मोक्ष से भिन्न कपिष्ठल से भी परिचित थे।<sup>२</sup> यह संभवतः कर्नाटक प्रदेश का वर्तमान बीबल स्थान है।<sup>३</sup>

हास्तिनपुर—दुर्योधनी की यह प्राचीन राजधानी उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले में थी। पतञ्जलि ने इसे मगध-नट पर बसा हुआ बतलाया है। कनिषम न इस मेरठ की मराना तहसील का एक पुराना कम्बा माना है। बिबिध तीर्थकर्म के अनुसार इस नगर को राजा हास्तिन ने भागीरथी-नट पर बसाया था। भगवान् महावीर यहाँ कई बार गये थे। मयक्वी-सूत्र (२९) धृतिबंध (२०-१-५३ १४) तथा भागवतपुराण (९-११-२०) इन ठप्पों की पुष्टि करते हैं। पात्रिटर के अनुसार हास्तिन के दो पुत्र हुए—अजमीड और विमीड। इनमें अजमीड ने हास्तिनपुर में पीरब परम्परा स्थिर रखी। अर्पितीम कृष्ण के पुत्र निर्य्यु के शासन-काल में यह नगर गंगा से बूट बन बन गया। तब यहाँ का राजा कौगाम्बी में जाकर रहने लगे।

सुष्म(२)—पतञ्जलि ने बार-बार सुष्म का उल्लेख किया है। यह स्थान हास्तिनपुर से ४० मील की दूरी पर उत्तर में स्थित था। मयुरा से इसका निकट सम्बन्ध रहा होगा। कई स्थानों पर भाष्य में सुष्म और मयुरा का इस ढंग से उल्लेख मिलता है मानों उनमें बिनन्दिन याता यात्र-संबंध रहता हो। उन्होंने सुष्म जानेवाले मार्ग का उस पर बह होकर उल्लेख किया ज्ञान पड़ता है।<sup>४</sup> 'सम्भवन' मयुरा से सुष्म को सीधा मार्ग जाता था। अस्वार्थि पशु इसी मार्ग से सुष्म को ले जाते जाते होते।<sup>५</sup> 'सुष्म प्रामादों और प्राकारों की भी भाष्य में बर्णन है जिससे स्पष्ट है कि सुष्म बड़ी सम्पन्न नगरी थी। यौष्ठी स्त्रियों के लिए भी भाष्यकार ने श्रेष्ठ विशेषणों का प्रयोग किया है।<sup>६</sup> सुष्म जिनके अब मृग कहते हैं सुष्म अनाद की राजधानी थी। कनिषम के अनुसार

१ कनिषम एम० ज्वा० पृ० २०६ १९।

२ ८३९१ पृ० ४६२।

३ अथवाल पाणिनि पृ० ७१।

४ अनुगद्गम् हास्तिनपुर, २१ १६, पृ० २०३।

५ एम० ज्वा० पृ० ७०२।

६ पात्रिटर डायनेस्लीज मोक्ष वि कलि एम, पृ० ९।

७ आदि० सर्वे रि० भाग १४ पृ० ११६।

८ मा० २ पृ० ४२।

९ सर्व पत्राः सुष्मवृत्तिष्ठने।—१३-२५, पृ० ६४।

१० १४-५१ पृ० १८१।

११ ४३-३९, पृ० २३३।

सुम्न नारों नगर से प्राकृतिक सीमाओं द्वारा दृढ़ता से सुरक्षित था और इस प्रकार यह वास्तव में दुर्ग था। सुम्न का पुरा सगमग नगर मीर था। मात्र मुघल महलपुर दयालगाड़ और बुरिया प गाँव प्राचीन सुम्न की ही भूमि पर बसे हैं जिनकी कुल जनसंख्या सगमग २००० है। इन स्थानों में तिली के तामर राजाओं से कुछकाल (५०० ई० पू०) तक क सिक्के प्राप्त हुए हैं। सुम्न नगरी मरु महारनपुर-अम्वाला होकर उत्तर पंजाब जानेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित थी। यही होकर यमुना के लिए मार्ग जाता था। महमूद गजनवी तमूरसग भीर बाबर कद्रीज हजारा और दिल्ली की सूर एवं ब्रिजय के बाद इमी मार्ग से वापस लौटे थे। पतञ्जलि के समय में भी यह मार्ग प्रसिद्ध रहा होगा जिसका उल्लेख अशुक्ति-निर्णयपूर्वक उल्लेख किया है। कागिकाकार के कथन से भी ज्ञात होता है कि सुम्न पाटलिपुत्र से तल्लधिला जानेवाले उत्तरापथ के मुख्य मार्ग पर स्थित था।<sup>१</sup>

मयुरा—पतञ्जलि के समय में मयुरा भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगरियों में थी। मयुरा सध्म और पाटलिपुत्र इन तीनों का उत्कृष्ट माध्य में सबसे अधिक हुआ है।

मयुरा धूरमेत जनपद की राजधानी थी यद्यपि माध्य में धूरसन जनपद का नाम नहीं है। वैदिक काल में इस नगरी का उल्लेख नहीं मिलता। पात्रिटर के अनुसार धमुरा ने सध्मामुर का मार्ग और नद्युवन के अरप्य का काटकर मयुरा का बसाया था। इसे मयुरा भी कहा जाता था। श्रीक इतिहासकारों ने इसे मयुरा या मधोर कहा है। वीर्य जैनग्रन्थों कात्यायन श्रुतसंग और टाकनी के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व ३०० में तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। पतञ्जलि से यह भी पता चलता है कि मयुरा व्यापार-उद्योग के लिए प्रसिद्ध और धन-धान्य से समृद्ध नगरी थी।<sup>२</sup> कुरु जनपद से उसके व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ थे और बड़ी संख्या में कुरु क्षत्रियों का मयुरा में आना-जाना समा रहता था। कुरु के साथ मयुरा के बड़े प्रिय सम्बन्ध थे।<sup>३</sup>

मयुरा कई शताब्दियों तक बौद्धधर्म का केन्द्र रही। पतञ्जलि-काल में वहाँ जैन पर्याप्त संख्या में बसे चुके थे। कुषाण-काल से पूर्व मयुरा महाभारत धनमूर्ति और उसके पूर्वजों का वासन था। यह बात लुर्दाई में प्राप्त रक्षित स्तम्भों तथा लेखों से सिद्ध होती है। नरट्ट के शार-मार्ग के शतों में भी इन वासकों के नाम हैं। उनमें यह स्पष्ट उल्लिखित है कि नृपों के उद्योगधर्म (धुङ्गारा राम्ये) महाभारत ने व स्तम्भ धनवाय थे। इस समय मयुरा-राम्य शृंग राम्य की सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। शतों में यह बात स्पष्ट नहीं है कि महाभारत स्वयं राजा था या नहीं।

१ ६-३ ४२, पृ० ३२७ तथा अन्तर्गत तल्लधिला पाटलिपुत्र के सुम्नस्य प्रकारतः ।—

२ ३-३ काश्या० ।  
 ३ अ० २, पृ० ४२ १-२ ६४ भाषि ।  
 ४ एत० इन्द्रियत हिन्द्या० ट्रेडिशन पृ० १७० ।  
 ५ १-२-५२, पृ० ५५३ ।  
 ६ ट्रेडिशन जोक काहियान बँटस-मुबालबाप पृ० कम्पतः ४२ तथा १ ३०१ ।  
 ७ त्रिपुराधरता मयुरा बहुधुराधरता मयुरा ।—४-१ १४, पृ० ३४ ।

कनिषम ने पर्वीय लोखवीन के पदबात् सांगरुबामा टिका मामक पहाड़ी पर के ध्वंसावशेषों को ही धारक माना है।' मिस्त्रियप्रस्त (पृ० १२) के अनुसार यह ध्यापार का भी कन्द्र था। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (१-५४९-५०) के अनुसार ई० पू० ३२६ में इस पर सिकन्दर ने अधिकार कर लिया। पर्वत्रयि ने लाकस को काहीक-ग्राम कहा है। सम्भव है उनके समय यह तयरी इतनी विनाश न रही हो। इनके अतिरिक्त कपिल्लस का उल्लेख पाणिनि ने शोध क रूप में किया था किन्तु भाष्यकार क कथन से जान पड़ता है कि वे शोध से भिन्न कपिल्लस से भी परिचित थे।' यह संभवतः कर्नास जिस का वर्तमान कैवल स्थान है।'

हास्तिनपुर—दुर्यों की यह प्राचीन राजधानी उत्तरप्रदेश क मरठ जिले में थी। पर्वत्रयि के मय पगा-तट पर बना हुआ बतलाया है। कनिषम ने इन मेरठ की मबाना लहवीस का एक पुराना बम्बा माना है।' विविध तीर्थकस्य के अनुसार इस नगर को राजा हास्तिन ने भागीरथी तट पर बसाया था। मयबान् महावीर यहीं कई बार मय थ। मगवती-ग्रन्थ (२९) हरिबंध (२०-१-५३ ५४) तथा भागवतपुराण (९-२१-२०) इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं। पाजिटर के अनुसार हास्तिन के दो पुत्र हुए—अजमीड और डिमीड। इनम अजमीड ने हास्तिनपुर में पीरब परम्परा मियर रानी। अदिमीड इण्ड के पुत्र मित्रशु के पासल-काल में यह नगर संघ से कट कर बह गया। तब बहों क राजा कौशाम्बी म जावर रहने लगे।'

सुम्न (०)—पर्वत्रयि ने बार-बार सुम्न का उल्लेख किया है। यह स्थान हास्तिनपुर से ४ मील की दूरी पर उत्तर म स्थित था। मयुरा ने इसका मित्र सम्बन्ध रखा होगा। कई स्थानों पर भाष्य म सुम्न और मयुरा का इस रूप से उल्लेख मिलता है मानों उनमें ईतन्दिन याता यात-भावप रहता हो। उन्होंने सुम्न जानेबादे मार्ग का उष पर धड़े होकर उल्लेख किया जान पड़ता है।' सम्भवतः मयुरा म सुम्न को सीधा मार्ग जाता था। अन्वयि पनु इसी मार्ग से सुम्न को से जाने जाते हयि। 'यौप्य प्रागाशों और प्राकारों की भी भाष्य में बर्ण है जिससे स्पष्ट है कि सुम्न बड़ी गम्भिर नगरी थी। यौप्यी स्थियों के सिधु मी भाष्यकार ने स्पष्ट विरोधों का प्रयोग किया है।' सुम्न जिनमें अब गुप करते हैं सुम्न जनाद की राजधानी थी। कनिषम के अनुसार

१ कनिषम एन० ग्या० पृ० २०६ १९ ।

२ ८३९१ पृ० ४६२ ।

३ मयबान् पाणिनि पृ० ७१ ।

४ अनुपद्मम् हास्तिनपुर ११ १६ पृ० २७३ ।

५ एन० ग्या० पृ० ७०२ ।

६ पाजिटर हाप्लेस्टोड ऑफ वि कलि एज पृ० ५ ।

७ अर्क० सर्वे रि० माय १४, पृ० ११६ ।

८ मा० २ पृ० ४२ ।

९ मय पय्या सुम्नमुपनिषदे—१३ २५, पृ० ६४ ।

१० १४-५१ पृ० १८१ ।

११ ४३ ३९, पृ० २३३ ।

सुम्न चारों ओर से प्राकृतिक सीमामों द्वारा दृढ़ता से सुरक्षित था और इस प्रकार यह वास्तव में सुख था। सुम्न का परा समग्र भाग मील था। आज सुम्न मण्डलपुर, दयालगढ़ और बुरिया से पूर्व प्राचीन सुम्न की ही भूमि पर बसे हैं जिनकी कुल जनसंख्या लगभग २००० है। इन स्थानों में दिल्ली के सोमरा राजाओं से बुद्धकाल (५०० ई० पू०) तक के सिक्के प्राप्त हुए हैं। सुम्न नगी मरठ सहारनपुर-अम्बाला हानर उत्तर पंजाब जानबाल मुख्य भाग पर स्थित थी। यही हाकर यमुना के लिए भाग जाता था। महामुं गजनबी तैमूरसय और बाबर कन्नौज हज़ार और सिन्धु की सूट एवं बिजय के बाद इसी भाग से बाबर लौटे थे पतञ्जलि के समय में भी यह भाग प्रसिद्ध रहा होगा जिसका उल्लेख अगुम्नि-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। कागिकाकार के कथन से भी ज्ञात होता है कि सुम्न पाटलिपुत्र से तत्राशिला जानबाल उत्तरांचल के मुख्य मार्ग पर स्थित था।

मबुरा—पतञ्जलि के समय में मबुरा भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नगरियों में था। मबुरा सुम्न और पाटलिपुत्र इन तीनों का उत्कृष्ट भाग्य में सबसे अधिक हुआ है।

मबुरा धारुमेन जनपद की राजधानी थी यद्यपि नाण्य में धारुमेन जनपद का नाम नहीं है। वैदिक काल में इस नगरी का उल्लेख नहीं मिलता। पात्रिटर के अनुसार धारुमेन ने सत्रवापुर का मारकर और मनुवन के अरण्य का बाटकर मबुरा का बनाया था। इस मबुरा का कहा जाता था। श्रीक इतिहासकारों ने इन मबुरा या मधुरा कहा है। बौद्ध जैनग्रन्थों पाञ्चाल भूम्यांग और टाक्षशी के वक्त्रों में स्पष्ट है कि ईना-पूर्व ०० में तीसरी शती के अन्त तक यह नगरी बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। पतञ्जलि से यह भी पता चलता है कि मबुरा व्यापार-उद्योग के लिए प्रसिद्ध और पन-आन्य में समृद्ध नगरी थी।<sup>१</sup> कुरु जनपद से उसके व्यापारिक सम्बन्ध पतिष्ठ थे और बड़ी संख्या में कुरु लोगों का मबुरा में आना-जाना समा रहता था। कुरु के साथ मबुरा के बड़े प्रिय सम्बन्ध थे।<sup>२</sup>

मबुरा कई राजाश्रितियों तक बौद्धधर्म का कन्द्र रही। पतञ्जलि-काल में बड़ी जैन पर्याप्त संख्या में बसे हुए थे। कृपाण-काल से पूर्व मबुरा में बाबपाल जनभूति और उनके पूर्वजों का शासन था। यह बात कुशाई में प्राप्त ऐतिहासिक स्तम्भों तथा लक्षों से सिद्ध होती है। मरुत के शार-मार्ग के सैकों में भी इन शासकों के नाम हैं। उनमें यह स्पष्ट उल्लिखित है कि दुर्गों के राज्यान्तर्गत (दुर्गाना राज्य) बाबपाल ने म स्तम्भ बनवाये थे। इस समय मबुरा-राज्य दुर्ग राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। सखों में यह बात स्पष्ट नहीं है कि बाबपाल स्वयं राजा था या नहीं।

१ ६-३ ४९, पृ० ३२७ तथा अन्तरा राजाश्रितों पाटलिपुत्र के सुम्नस्य प्रकारः।— २-३ ४ काशिका।

२ अ० २, पृ० ४२ १२-६४ आदि।  
 ३ एन० इण्डियन हिस्टो० इंडियान पृ० १७०।  
 ४ १-२-५९, पृ० ५५३।  
 ५ इण्डियन मीक काहिपाल बेटस-मुबानबाय, पृ० क्रमः ४२ तथा १३०१।  
 ६ प्रियकुरवरा मबुरा बहुकुरवरा मबुरा।—४-१ १४, पृ० ३४।



मथुरा ने म जान कितने राजनीतिक उत्पाद-पवन बसे हैं। यमुना ने अपन दो पुत्रों स्वाम् और दूरसन के साथ यहाँ शासन किया।<sup>१</sup> महाभारत और पुराणों के अनुसार यहाँ मादर्यों का शासन रहा।<sup>२</sup> अथर्व और बुध्नि यहाँ पहुँक निवास करते थे।<sup>३</sup> बाल में रासरीं से भीत होकर वे यहाँ से बरक गय और उन्होंने द्वारकती को राजधानी बनाया।<sup>४</sup> मथुरा राज अरासम्भ ने इसे आक्रान्त किया।<sup>५</sup> महाप्रयाग के समय मुचिष्ठिर ने बखनाम को मथुरा का शासन सौंपा था। अथर्वका ने शासन-कारक में यह नगरी उपसेन व अमिभार में थी।<sup>६</sup> मुत्त-साभ्राय के उत्थान के पहले यहाँ सात नाग-राजाओं ने शासन किया। बुद्धकारक में मथुरा के शासक को मातृपथ द्वारा उग्रविनी से सम्बद्ध होनेके कारण अवन्तिपुत्र कहते थे।<sup>७</sup> दीपवज्र के अनुसार यह सर्वोत्तम नगरी थी। जैनग्रन्थों के अनुसार यहाँ वामुषव नामक शक्तिशाली राजा था। पीषेयों का भी शासन मथुरा पर समुद्रमुत्त से पूरा रहा। पंजाब और काबुल के शासक भिनाण्डर का भी मथुरा पर अधिकार रहा।<sup>८</sup> मयास्वनीज के समय में इस पर मीयों का शासन था। प्रथम छताप्नी में एक राजाओं ने हिन्दू राजाओं का उन्मूलन कर मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। द्वितीय छताप्नी म मथुरा मुपाय राजा हविष्क के अधिकार म आई। पतञ्जलि के समय में मथुरा मुंग राजाओं के अधिकार म थी। यद्यपि कुछ विद्वानों का इसमें सन्देह है। फिर भी दुयो के प्रभाव में ता बहु अवश्य थी। पतञ्जलि द्वारा अत्यधिक आत्मीयता के साथ बार-बार मथुरा का उल्लेख किया जाना भी इस कथन के पोषक में सहायक है।

पाह्यान के अनुसार मथुरा में बहुत बौद्ध मठ थे जो भिक्षुओं से भरे रहते थे। कृपि यहाँ का मुख्य ध्वजस्थाय था। अण्ड रेव की कथाय कपड़ा और सोना यहाँ का प्रसिद्ध था। भाष्यकार ने भी यहाँ के कार्यालय और सुन्दर बस्ती का उल्लेख किया है। अंगुत्तरनिकाय (३ २५६) में उक्त यहाँ की सड़कें विषम रजोमयी अण्डयुक्त बुर्भविण्डा और बालायस्ता (पनु प्रेयों से भरी) कही गई हैं।

प्राचीन मथुरा यमुना के दक्षिण तट पर दण्डप्रस्थ और कौशाम्बी के मध्य स्थित थी। गंगा-तट पर अवस्थित शान्तात्यनगर यहाँ से चार यात्रन दूर था।<sup>९</sup> वर्तमान मथुरा यमुना के कट्य

१ रामा० ७-६२ ६।

२ विष्णु पु०, ४ १३ १ तथा बामु पु० ९६ १, २।

३ ब्रह्मपुराण अ० ३४।

४ हरिवंश पु० अ० ३७।

५ स्कन्द पु० विष्णुतण्ड।

६ पाञ्चिटरः एन० इण्डियन हिस्टो० ड्रेडि०, पृ० १७१।

७ बामुपुराण अ० ९९।

८ रायचौबुरी बालि० हिस्ट्री ऑफ एन० इण्डिया, पृ० ३९१।

९. स्मिथः अर्से हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चौथा सं० पृ० २१०।

१० बहो पु० ३८६।

११ कर्वापनः पाञ्चि कामर, भाग ३ अ० १।

क कारक उत्तर की ओर हट गई है। भाष्य में पाटलिपुत्र इसके पूर्व दिशा में बतलाया गया है।<sup>१</sup>

भाष्य श्लोक स्वास्थ्य और सौर्य के लिए प्रसिद्ध थे। भाष्यकार ने उन्हें साँकाश्यों और पाटलिपुत्रकों से अधिक सुन्दर कहा है।<sup>२</sup>

**अहिच्छत्र**—अहिच्छत्र के रहनेवाले पूज्य अहिच्छत्र और स्त्रियाँ अहिच्छत्री कहलाती थी। अहिच्छत्र उत्तर पंचाल की राजधानी थी।<sup>३</sup> महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है। अहिच्छत्र उत्तरप्रदेश के बरेली जिले में स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। यहाँ जो सिक्के मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वराहमिहिर यहाँ का शासक रहा था। पम्पेसा के मुफालेस से भी इस बात का पता चलता है। सौमकायनि भी यहाँ का शासक था। प्रयाग के समुद्रगुप्तबाल शिलालेख में जिस चक्रवर्ती राजा अशुत का नाम आया है, उसके सिक्के भी अहिच्छत्र में मिले हैं। अहिच्छत्र को कहीं-कहीं अहिलोत्र भी लिखा गया है। वैसे इसका प्राचीनतर नाम अहिच्छत्र था जो लुईस के शाही शिलालेखों की सूची के एक लेख में सुरक्षित है। यह रूप टालेमी के अक्सिस से भी मिलता है।<sup>४</sup> हरिवंशपुराण के अनुसार अजुन ने यह नगर द्रोणाचार्य को दे दिया था। विविध टीके रूप के अनुसार इसका प्राचीन नाम खम्बावती था। एक बार पार्षनाथ इस नगर में भ्रमण कर रहे थे कि कमठासुर ने ईश्वरिन्द्र इतनी वर्षा की कि सारा नगर बसमग्न हो गया और पार्षनाथ भी आकम्ब बसमग्न हो गये। तब नागराज ने पत्नियों-सहित जन पर फलों का क्षत्र बना दिया और जनक घरीर को कुण्डली से आबुज कर जनकी रमा की। तब से इस नगर का नाम अहिच्छत्र पड़ गया। कुम्भलग के समय तक इसका महत्त्व बना हुआ था। आज यह स्थान अम्बहट्टों के रूप में है। प्राचीन किले के श्वंसाशेष जो भीलों में बिल्ले हैं, पाम्बु का किस्सा कहलाते हैं। इसे देखने से पता चलता है कि इस किले में ३४ बुर्ज थे।

**कान्यकुम्भ**—कान्यकुम्भ उत्तरप्रदेश के फर्ल्लाबाद जिले के वर्तमान कन्नौज का पुराना नाम है। भाष्यकार ने अहिच्छत्र के साथ ही इसका उल्लेख किया है। इसके नामिपुर, कुसुम्बक और महुरप नाम भी मिलते हैं।<sup>५</sup> रामायण (बालकाण्ड) के अनुसार यह विश्वामित्र की अल्पभूमि थी। मागधतपुराण (१-१-२१) में इसे बभामिस की नगरी कहा है। कान्यकुम्भ भी पंचाल-जनपद के अन्तर्गत था।

**साँकाश्य**—साँकाश्य जिले पाछि-पन्नों ने संकल्प कहा है, फर्ल्लाबाद (३० प्र०) जिले में अवस्थित एक ग्राम था जिसे आजकल संकीसा कहते हैं। यह स्थान कुम्भारकोट से ३६ मील उत्तर में तथा बलीगंज से दक्षिण-पूर्व की ओर ११ मील दूर है। इटावा से उत्तर-पूर्व की ओर

१ ११-५७, पृ० ३५७।

२ ५३-५७, पृ० ४५४।

३ रैपल: एन० इण्डिया, पृ० १६७।

४ आरिपर्थ, अ० १४०।

५ मैक्सिमिल इण्डिया एज० डिस्कवरी बाइ टालेमी, पृ० १३४।

६ अमि० राजेश्वरकोट, ४ ३९।

७ एपिग्राफिका इण्डिया, भाग ४, पृ० २५६।

यह ४० मील दूर पड़ता है। कुछ लोगों के मत से सांकाश्य कप्रीज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम की ओर एवं फतहगढ़ से २३ मील दूर इटावा जिले में अतरंजी और बसोज के बीच कालिन्धी (प्राचीन इधुमती) नदी के उत्तरी तट पर स्थित संकिस बसन्तपुर का प्राचीन नाम था। पतञ्जलि के अनुसार सांकाश्य गभीरुमान् से चार योजन दूर था।<sup>१</sup> यह दूरी गभीरुमान् की सीमा की समाप्ति से सांकाश्य के सीमास्म तक थी। सांकाश्य के निवासी सांकाश्यक कहलाते थे। सीन्धु की दृष्टि से भाव्यचार में पाटलिपुत्रकों एवं मामुरों दोनों का इनसे श्रेष्ठ माना है और बार-बार इस कथन को बहुराया है।

गभीरुमान्—गभीरुमान् सम्भवतः वर्तमान कुण्डरकोट है जो इटावा से उत्तर पूर्व की ओर २४ मील और फर्रुखाबाद जिले में स्थित संकिसा से ३६ मील दूर है। पतञ्जलि ने गभीरुमान् को सांकाश्य से चार योजन दूर बताया है।

कौशाम्बी—पतञ्जलि ने बिना कोई विवरण बिबरण दिये बारह बार कौशाम्बी का उल्लेख किया है। इससे कबल इतना पता चलता है कि यह अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था और वे इससे बहुत अधिक परिचित थे। काशिकाकार ने इसे कुशाम्ब द्वारा बसाई गई नगरी कहा है।<sup>२</sup>

कौशाम्बी का पालि-ग्रन्था में कोसम्बी और चीनी ग्रन्थों में क्वाउ-सैय-मि कहा है। यह याग या बल्लम जनपद की राजधानी थी। इलाहाबाद जिले का कासमग्राम जो प्रयाग से लगभग ३० मील दूर दक्षिण-पश्चिम में यमुना के किनारे स्थित है कौशाम्बी का वर्तमान रूप है। जैन आर्य भी इस कौशाम्बी कहते हैं। जून्सांग के अनुसार कौशाम्बी प्रयाग से ५०० मील की दूरी पर स्थित थी। इसमें तथा प्रयाग के बीच में हाथी भाँवि गज पशुओं से भरा सपन बन था। इस आधार पर कुछ लोगों को उपसुक्त मत स्वीकार नहीं है। मेजर वास्ट ने गीर्वा सिन्ध ने भरतन के समीप का प्रदेस तथा वीटर्न न बोल जिले में अजयगढ़ का उत्तरी-पूर्वी भाग को कौशाम्बी माना है।

पौराणिक परम्परा के अनुसार पुराणोक्त बल्लगज उदयत यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए। पुनः लोग की राजधानी हस्तिनापुर और राज्य कुरुक्षेत्र था। जब हस्तिनापुर का गणना नष्ट कर दिया तब परीक्षित के ब्रह्म राजा यहाँ बस आये। महाभारत के अनुसार यमना बल्लम में

१ गभीरुमतः सांकाश्य चत्वारि योजनानि। गभीरुमतो नि-सृत्य यथा चत्वारि

योजनानि चलन्ति तदा सांकाश्यम् ।—२ ३ ६, पृ० ४२६।

२ सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अत्रिपतराः।—१ ३ ११ पृ० ४५।

३ एम्० एल० डे—ग्या० रिक्वा० पृ० ५९।

४ १ १-५, १ २ ४४ आदि।

५ ४ २ ९८।

६ कनिषम आशिया० सर्वे रि० भाग १ पृ० ३०३।

७ कनिषम आशिया० सर्वे रि० भाग १ पृ० ३०३ तथा जर्नल ऑफ़ रा० ए० सी०

१९०४ पृ० २४९ तथा वीटर्स २ ३३९।

होकर बहती थी। कौशाम्बी साकेत का भावस्ती एवं प्रतिष्ठान से जोड़नेवाले व्यापार-मार्गों का मन्त्र-स्थल भी।<sup>१</sup> कोसल म प्रद्योत का वनबाया हुआ इटों का किमा आज भी वर्तमान है।

साकेत—साकेत उत्तर-कोसल की राजधानी तथा उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था बड़ा मे यमुना पारकर कौशाम्बी के लिए मार्ग जाता था। भावस्ती मे साकेत तक सात यात्र करे हुए छोड़े बरसकर रथ द्वारा आया जा सकता था।<sup>२</sup> यह नगर कोसल की उत्तरी पूर्वी सीमा पर अवस्थित था और भारत के छठ प्रमुख नगरों में था।<sup>३</sup> बिनयपिटक (१८८) के अनुसार साकेत और भावस्ती का मार्ग इकट्ठों से भरा था था भिक्षुओं तक को सूट सते थे। राजसेना बाहुओं को पकड़कर मार डालती थी। टालेमी ने इस सीमा कहा है। पतञ्जलि के अनुसार साकेत पूर्व और पश्चिम भारत का जोड़नेवाले मुख्य मार्ग पर अवस्थित था। उम्होंने सुष्म और साकत जानबास मार्गों से अपना परिचय बतलाया है। उम्होंने कहा है कि पाटलिपुत्र जानेवाले मार्ग पर पहले साकेत पड़ा है।<sup>४</sup>

पतञ्जलि ने यचना द्वारा साकत पर परा डाले जाने की बात कही है।<sup>५</sup> यह यवन लोग का और उसने कब साकेत पर आक्रमण किया ? कुछ इतिहासकार यह आक्रमण बिमद्वियस द्वारा किया गया मानते हैं। उसने भारत पर दो प्रार म आक्रमण किया। पश्चिम में इसका मेनापतिरथ स्वर्ण बिमद्वियस ने किया और पूब में उसके सहायक मिताण्डर ने। दोनों कौषी के पक्ष के ममान बनकर पाटलिपुत्र में मिले। टार्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है।

बर्षिकास बिडान् साकेत और अयोध्या को एक मानने हैं। बिस्मन के संस्कृत-कोष मे भी साकेत का अर्थ अयोध्या दिया है। रघुवत् (सर्ग १३ स्तो० ७<sup>०</sup> तथा १४ १३) में साकेत राजा दशरथ की राजधानी बताया गई है। रामायण म भी साकत दशरथ की राजधानी बन गई गई है। इन आधारों पर कनिष्क साकत और अयोध्या को एक नगर मानते हैं। एतरेय ब्राह्मण ने (७-३) अयोध्या को एक ग्राम कहा है और सांख्यायन गीतमून (१५ १७-२५) ने इस बात की पुष्टि की है कि साकेत और अयोध्या एक थे। प्रा० राज डेबिडम ने सकल तर्कों द्वारा यह निरूपित किया है कि बुद्ध क समय में साकेत और अयोध्या दोनों पृथक नगर थे।<sup>६</sup> फूहरर के 'मानु मेण्डस ऐन्टिक्विटीज ऑफ माथ बेस्ट प्राबिम्पेज एण्ड अथर (पृ० २७५) में उभाव जिसे

१ बरुमा और सिन्हा भरकुत इन्सि०, पृ० १२ ।

२ मन्सिम नि० १-८८ ।

३ दिग्द० नि० २ १४६ ।

४ १३ २५, पृ० ६४ ।

५ योज्यमध्या यत आयात्तिसुबत् तस्य यद्वर्त साकेताविति ।—३-२ १३६ पृ० ३२८ ।

६ अरुणाचलन साकेतम् ।—३-२ १११ पृ० २४६ ।

७. टार्न प्रोव्त् इन बैसिया एण्ड इन्डिया पृ० १४० २२५, २२६ ।

८ एन० क्या० पृ० ४६४ ।

९. सांख्या० शौक अर्थी बुद्धिगम पृ० ५ ।

ने मुजफ्फोर क खण्डहरों को जो छई गरी के तट पर है प्राचीन साकेत बतलाया गया है।  
बनियम के अनुसार साकेत को ही पद्मज्ञान न स-वि और छे-सांग ने विद्यास नगरी कहा है।<sup>१</sup>

साकेत या अयोध्या पुष्यमित्र वृष के राज्य के अन्तर्गत थी। पतञ्जलि ने अयोध्या पर  
यवनों द्वारा घेरा डाले जाने की बात कही है। यहाँ पाये गये एक शिलालेख में बतलाया गया है  
कि पुष्यमित्र ने दो बरबसप यज्ञ किये थे।<sup>२</sup>

काशी या वाराणसी—माप्य में एक स्थान को छोड़कर अग्यत्र काशीम्बो और वाराणसी  
नाम साय-मास आये हैं। माप्यकार ने वाराणसी को गंगा-तट पर बसा हुआ बतलाया है।<sup>३</sup>  
पतञ्जलि के समय में भी वाराणसी गंगा-तट पर कम्बी-सम्बी यसी हुई थी। व्यापाटी-वर्ष में  
वाराणसी का नाम जित्बरी प्रसिद्ध था। वाराणसी भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न नामों से  
पुनायी जाती रही है। यथा—मुरन्वत मुरस्मन ब्रह्मब्रह्म पुणवती रम्म मौलिनी आदि।<sup>४</sup>  
यह प्राचीन काशी राज्य की राजधानी थी और काशी नाम से भी प्रसिद्ध थी। कर्मपुराण (१-  
६३) के अनुसार यह बरवा और वसी नदियों के मध्य में स्थित थी। यह बरवा सम्भवतः अथर्व  
वेद (४-७-१) की बरवावती है। वाराणसी या काशी और धावस्ती के बीच में अच्छा व्यापार  
मार्ग था। काशी व्यापार और उद्योग के लिए प्रसिद्ध थी। इसका धावस्ती और तलछिका से  
निष्कट व्यापारिक सम्बन्ध था।<sup>५</sup> माप्यकार ने काशी को बस्त्र व्यापार का केन्द्र बतलाया है यहाँ  
विशेष प्रकार का कपड़ा तैयार होता था।

जातकों के अनुसार इसका विस्तार १२ योजन था। वाराणसी बड़ी समृद्ध एवं बनी  
बनी नगरी थी। हिन्दू जैन और बौद्ध साहित्य में समान रूप से स्थान और समावृत्त वाराणसी को  
जातक्य के बुद्ध के परिनिर्वाण के लिए मुद्राण हुये नगरों की सूची में सम्मिलित किया था।<sup>६</sup> जैन  
विश्विषी तीर्थंकर के अनुसार वाराणसी चार मार्गों में बँटी थी। जैनों के अनुसार पार्ष्णाक  
का जन्म काशी में हुआ था। बुद्ध के समय में काशी-जनपद कोसल में मिला चुका था। चीनी  
यात्रियों ने इन पौ-मो-नि-स्ने कहा है और यहाँ के लोगों को बहुत मत्ता बबीड़ तथा अम्यनगीस  
बतलाया है।<sup>७</sup> माग्यायन यज्ञसूत्र (१६-२०-५) बृहदारण्यकोपनिषद् (१-८ २) जातक

१ एन० एया० पृ० ४६० ।

२ एपि० इण्डि० जल २०, पृ० ५७ ।

३ अनुगर्त वाराणसी गङ्गा आप्यायता वाराणस्यप्यायता ।—२-१ १६, पृ० २७३ ।

४ बजिबो वाराणसी जित्बरीपुष्यमित्र—४ ३-८४, पृ० २४३ ।

५ जातक ४ १५ तथा १९९ अर्थात्तक, पृ० ७ ।

६ धम्मपद कमेष्ठी, ३-४२९ तथा १ १९३ ।

७ इह समान आया मे विस्तारे षट्स्याम्यो-पी भवति काशिकस्याम्यो मावुरस्य ।—

५ ३-५५, पृ० ४४६ ।

८ जातक, ५ ३७७ १ १६० ।

९ विय नि० २ १४६ ।

१० बीनः बजिबो रेकार्त मोक वेस्वर्न बर्त २ ४४ ।

शाब्दिक (१३-५४ १९) कौशीतकी उपनिषद् (४१) बीषापन धीतिसूत्र (१८ ४४) रामायण एवं महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों एवं पुराणों में काशी का पौनःपुनिक उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासनपर्व (अ० ३० पृ० १८८९ १९००) के अनुसार काशी दिवोवास में बसाई थी।

पाटलिपुत्र—भाष्यकार ने बीष से भी अधिक सूत्रों के भाष्य में किसी-न-किसी रूप में पाटलिपुत्र का उल्लेख एक या बनेक बार किया है। इससे दो बातों का अनुमान होता है। एक यह कि भाष्यकार के समय में पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर था और दूसरे यह कि भाष्यकार का उससे बहुत निकट का सम्बन्ध था। वे जानते थे कि यह नगर मधुरा से पूर्व दिशा में है।<sup>१</sup> जिसके बीच में अनेक स्वान हैं। यह घोष नदी के तट पर कम्बा-गम्वा बसा हुआ है। जिस स्वान पर बैठकर उन्होंने जम्पापन कार्य किया वहाँ से पाटलिपुत्र पहुँचने में कई दिन लग जाते थे। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि कोई पाटलिपुत्र जानेवाला एक दिन जलकर कहे कि आज जलना हो गया तो उससे उसकी गमन जिम्मा सम्पाप्त नहीं हो जाती। जितना जला उतने को दृष्टि में रखकर इस प्रकार की बात कही जाती है।<sup>२</sup> उन्होंने पाटलिपुत्र का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि इसके बीच में घातेत मिलता है। मार्ग में कुएँ मिलते हैं।<sup>३</sup> पाटलिपुत्र मधुरा से दूर है यह बात भी भाष्य में कही गई है। सम्भव है, मधुरा में बैठकर ही भाष्यकार ने कुम्भ काष्ठ और पाटलिपुत्र जानेवाले मार्गों का निर्देश किया हो।<sup>४</sup> उन्होंने साधारणकों से पाटलिपुत्रकों को और पाटलिपुत्रकों से भी माधुरी की अभिरूपण करवा है। यह रूपन भी उक्त अनुमान का पौषक है।

पाटलिपुत्र मगध-साम्राज्य की राजधानी था। प्रारम्भ में यह मगध का एक सामान्य ग्राम था और इसे पाटलिग्राम कहते थे। यह पंचा के दूसरे तट पर स्थित कोटग्राम के ठीक सामने था। राजगृह से बँदासी जानेवाले मुख्य मार्ग पर यह पड़ाव का गाँव था। नगर के रूप में इसकी नींव अजातशत्रु के सुतीष और बर्षकार नामक दो मंत्रियों द्वारा इसमें दुर्ग बनावे जाने के प्रसंग में पड़ी। पाटलिपुत्र पंचा घोष और यच्छक के संगम के पास बसाया गया था। पतञ्जलि के समय में यह घोष तट पर ही अवस्थित था। बाद में घोष दूर हटती चली गई।

पाटलिपुत्र बहुत विस्तार नगर था। इसकी सुरक्षा के लिए ९० फुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी परिखा बनाई गई थी। मेगास्थनीज के अनुसार परिखा की ऊँचाई ८० स्टेडियम या

१ पूर्व मधुरायाः पाटलिपुत्रम्।—१ १-५७, पृ० ३५७ ।

२ २ १ १६, पृ० २७३ ।

३ ३-२-१०२ पृ० २३९ ।

४ ३ ३-१३६, पृ० ३२८ ।

५ ३-३-१३३, पृ० ३२६ ।

६ ८-९-८४ पृ० ३९० ।

७ ५ ३-५७, पृ० ४५४ ।

८ शुभङ्गलक्षिकाविवेकी, २-५४० ।

१६१६० बज्र और पीड़ाई १५ स्टेडियम या ३०३० गज थी।<sup>१</sup> भीतरी घाई से २४ फूट भीतर हृत्बर एक प्राकार का त्रिसमें ५७० गुम्बज तथा ६४ दरवाजे थे। नगर में चार द्वार थे जिनसे अशोक को चार साग कार्यालय की वैदिक आय थी। पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक समृद्ध और धानदार नगर था। इसके प्रासाद प्राकार और परित्या देग भर में प्रसिद्ध थे। माध्यहार में चार चार दमका उल्लेख किया है। नगर इतना बड़ा था कि इसके विभिन्न अर्थों की व्याख्या करनेवाली पुस्तिका थी जिसका नाम 'मुकोसला' था। मुकोसला में पाटलिपुत्र के प्राकार, परित्या प्रासाद आदि समस्त अवयवों का वर्णन था। पद्यज्ञान के समय में इसकी टनकर का कोई बूझरा नगर दस म न था<sup>२</sup> किन्तु लगभग दो सौ वर्षों के भीतर ह्ये सांग के समय में यह बहुत कुछ उन्नत हुआ था।<sup>३</sup>

राजकीय उद्योगों की पुष्प विविधता के कारण पाटलिपुत्र का पूर्वनाम पुष्पपुर या कुसुम पुर था। जैन परम्परा के अनुसार लार्क के पुत्र उदयन ने यह नगर बनाया है। वास्तव में इसके निर्माण का येम अज्ञातजन को है।

पाटलिपुत्र उत्तरवालीन विन्नुगार्थी मन्दी एवं चन्द्रगुण अशोक आदि मीयं सम्राटों की राजधानी रहा था। चन्द्रगुण विक्रमादित्य के शासन-काल में भी यह बहुत धानदार एवं जन गन्तु था। छोटी मन्तारी क हृष-आक्रमण के समय तक यह अच्छी स्थिति में रहा। पाटलिपुत्र की ग्लार्ड में जा बन्तु<sup>४</sup> मिठी है उनमें एक रेसिय और स्वप्न मी है, जो सम्भवतः शुंग या पतञ्जलि के काल का है।

उज्जयिनी—यद्यपि भाष्य में उज्जयिनी नाम केवल एक बार आया है किन्तु उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार का इस नगरी में प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त था। वे माहिष्मती और उज्जयिनी के मध्य की दूरी से अपगत थे। इमीति, भाष्यकार को उज्जयिनी से वैदिक लक्ष्य मूर्खोद्यम तक माहिष्मती पहुँच जाने को उन्होंने आश्चर्यकारी बात कही है।

भाष्यकार<sup>५</sup> का उज्जयिनी में परिचित होना स्वाभाविक है क्योंकि इन प्रदेश में विदिता

१ मैकडिडल: एन० इण्डि० एज डीसा० आई मेगास्थनीज एण्ड ऐरियन पृ० ६५

से ६७।

२ वही।

३ सामाप्तपासाहिरा १-५२ का हिस्टा० क्या० पृ० २५० पर उद्धृत।

४ पाटलिपुत्राय व्याख्यानी मुकोसपेति। अवयवतो ह्याख्याने व्याख्याने पाटलिपुत्रे चाप्यवयवो आबन्ते ईवुसा भाष्य प्राकार इति।—४ ३ ६६ पृ० २३९ तथा पाटलिपुत्रका: प्रासादा: पाटलिपुत्रका प्राकारा:—४ ३ १३४ पृ० २५८।

५ लेखी: पद्यज्ञान पृ० ७७-७८।

६ वेदसं भाग वृजानबाग, २-८७।

७ मनरंजन घोष पाटलिपुत्र पृ० १४ १५।

८ उज्जयिण्या: प्रतिपत्तो माहिष्मती मूर्खोद्यमन लक्ष्मणवपति मूर्खमुत्सवपति—

२-३-७६ पृ० ७६।





पूर्व ३०० के समय यहाँ बस गई थी।' भाष्यकार ने महाभाष्य में वीकों द्वारा मध्यमिका पर किय गय आक्रमण का उल्लेख किया है।

**नासिक**—नासिक को पर्वतलिका ने नगर कहा है। पुराणों में इसे नासिक और रामायण में जनम्बाज कहा है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार नासिक नर्मदा-तट पर अवस्थित था। जन स्वान पंचवटी और गोदावरी के समीप था। इसके इस नाम का कारण यहाँ सरमण द्वारा गुपजया का नासिकाच्छेदन है। गोदावरी के दक्षिण तट पर बसा हुआ वर्तमान नासिक नगर नासिक का आधुनिक रूप है। आगे चलकर छातबाहन राजाओं के समय में नासिक हीमालयों की मद्रयाज साला का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया जिनकी २३ मुक्तियाँ यहाँ विद्यमान हैं। 'भरहुत के बीटिव सेबक नं० ३८ में भी नासिक का उल्लेख है।'

**शिरीषा**—यह हिमालय जिसे का वर्तमान शिरसा है। इसका नाम शिरीषवन ने समीप होने का कारण पड़ा।'

**रोषी**—समस्त यह हिमालय जिसे का रोषी स्थान है। किन्तु, आजकरोन और सीहूरुगेण क विषय में कुछ बात नहीं है। सम्भव है यह इसी के पास-पड़ोस के नाम हों।'

**कटुबरी**—कटुबरी मुहमों के समीप बस होने के कारण यह नाम पड़ा होगा।

**अग्य ग्राम**—अगग्राम मदनगर धौबहाज नगर, सौर्य और धाम्बननगर तथा कौतबज और धाम्बिकिनी ग्राम 'तिम्का ग्राम' एभीक नामक उर्वीष्य ग्राम " सीपुर और स्कौननर नामक प्राच्य ग्राम " डिपुटी एव त्रिपुटी नगरी " उडुम्बरावती नगरी " पंचग्रामी पन्मगरी (ग्राम और नगरविशेष) " एव पूर्वपु कामधामी और अपरेप कामधामी ' इन सबस भी भाष्यकार

१ कर्तव्यमः आदि० सर्वे रि० भाष्य ६, पृ० १९६ २०२।

२ ३-१११ पृ० २४६।

३ बजया एण्ड तिम्हा भरहुत इतिहास पृ० १८, १२८।

४ सूडसं लिस्ट-सं० ११२२, ११४९।

५ शिरीषाग्रामकूतनवा ग्रामः शिरीषाः।—१ २-५१, पृ० ५५०।

६ १ १-७२, पृ० ४४२।

७ १ २-५१ पृ० ५५०।

८ ५ १-७२, पृ० ४००।

९ २ ४-७ पृ० ४६४।

१० ७-२-९९, पृ० १५५।

११ ४-२ १४५, पृ० २१९।

१२ १ १-७५, पृ० ४६३।

१३ ५ ४-९८, पृ० ४९९।

१४ ४-२-७१ पृ० १९४।

१५ २ १५ १, पृ० २९९।

१६ १ ४-२, पृ० १२४।

परिचित थे। इनमें डॉ० अग्रवाल ने मथनगर को बंग या पश्चिमी बंगाल की प्राचीन राजधानी नगरीय माना है किन्तु भाष्यकार ने बंग के अन्य किसी ग्राम या नगर का उल्लेख नहीं किया है। त्रिपुरी का उल्लेख जाबल्ल वेबी (बेदि) के रघनपुर के घन् ८८९ के सिंहालेख में मिलता है जिस पर कोकस के अठारह पुरों में से एक का घासन था।<sup>१</sup> पाणिनि (६ १ १५५) के कास्तीर और अजस्तुन्व ग्रामों की स्थिति का भी कोई पता नहीं चलता है। भाष्य का कन्यानुप केप कमोरिन का प्राचीन तमिल नाम था। ग्रीक लेखकों ने इसे 'नोमेरिया ऐत्रान' कहा है।

१ एपि० इण्डि० १ ३३ तथा लॉ: द्राइव्स इन ऐन० इण्डिया, पृ० ५० २३९९।



खण्ड ३  
भारत की सामाजिक स्थिति



## अध्याय १

### समाज-संगठन

**कुल (परिवार)**—समाज का सबसे छोटा बटक कुल था।<sup>१</sup> किसिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन के लिए उनके कुल का उल्लेख किया जाता था।<sup>२</sup> कुल प्रायः पुरुषों के नाम पर थे। उदाहरणार्थ—कारौपगन्ध्या का कुल उसके पति या पुत्र के नाम से लोगों में प्रसिद्ध था। कारौप गन्ध्या के नाम से स्वसत्र कुल की गणना नहीं की जाती थी।<sup>३</sup> कुछ कुल कई पूर्वजों के नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे पादकुल परिवार के छह पूर्वजों के नाम पर प्रसिद्ध था। इसके सबस्य पादकुल कहलाते थे। ब्राह्मणों में आज भी कुछ लोग स्वयं को पादकुल मानते हैं। पय जाति कार्य या व्यक्ति के नाम से कुलों का उल्लेख किया जाता था—यथा सेनातिकुल ब्राह्मणकुल<sup>४</sup> वृषभकुल याभ्यकुल<sup>५</sup> कारौपगन्ध्या-पतिकुल आदि। इस प्रकार, कुल शब्द वर्तमान परिवार के अर्थ में प्रयुक्त होता था। लोक-व्यवहार में कुल और गोत्र प्रायः एक ही अर्थ में बोले जाते थे। कुल गोत्र का अन्वय था।<sup>६</sup>

**कुलीन**—कुल में उत्पन्न व्यक्ति की संज्ञा कुलीन थी। कुछ कुल प्रतिष्ठित माने जाते थे और कुछ कुस्पात। प्रतिष्ठित कुल की संज्ञान माहाकुल माहाकुलीन<sup>७</sup> या महाकुलीन कही जाती थी और कुस्पात कुल की संज्ञान वीणकुसेय या दुष्कुलीन।<sup>८</sup> कुलीन कुस्य<sup>९</sup> और कौत्सेयक मी बण्ड कुल के बोरक थे। धनी परिवार के लोग आर्द्धकुलीन कहलाते थे। श्रेष्ठ सम्पन्न परिवार की कन्याएँ कुसपुत्री या कुसमुहिता कही जाती थीं।<sup>१०</sup> ये पद गौरव के परिचायक थे। परिवारों के अपने मित्त परिवार या व्यक्ति होते थे जिनका पीढ़ियों से पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध बढा जाता था। ये परिवार कुसमित्त कहे जाते थे।<sup>११</sup> कुसमुहिता से ठीक उल्टी तर-तर आहिष्बन करने वाली कुसटा स्त्रियाँ भी होती थीं।<sup>१२</sup> पारिवारिक प्रतिष्ठ या अथवा पीढ़ी-वर-पीढ़ी संज्ञान के साथ संलग्न रहता था। कुलीन की संज्ञान कौलीन कही जाती थी और कौलीनि के छात्र कौलीन।

१ १ १ ६२, पृ० ३९७।

२ १ १-५१, पृ० ३२१।

३ ३-१ १३, पृ० ४०।

४ ४ १-८८, पृ० १००।

५ १ १-५६, पृ० १५४।

६ १ १-५६ पृ० ३३४।

७ ४ १-७९, पृ० ८८।

८ ४ १ १३९।

९ ४ १ १४१।

१० ४-१ १४३।

११ ४ १ १४०।

१२ ६-३-७०, पृ० ३४७।

१३ ६-२-१०६, पृ० २७७।

१४ ६-१-९४ पृ० १५१।

कौशली कह देना मात्र यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इस छात्र का पुत्र न केवल स्वयम् अभिजात है अपितु उसके पूर्वज भी सत्पत्न्य एवं स्यात् रहे हैं।<sup>१</sup> इसी प्रकार, कुल्य का अपत्य उसकी सम्पत्ति के साथ लया रहता था। कौशलेय या कौश्लेय कह देना यह बतला देने के लिए पर्याप्त था कि इसकी माता समाज में हीन दृष्टि से देखी जाती थी।<sup>२</sup> यदि किसी परिवार में सामाजिक या धार्मिक भर्त्सना के विषय का होता था, तो लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता था और वह लोगों की दृष्टि से गिर जाता था।<sup>३</sup>

प्राचीन भारत में कुल का महत्त्व बहुत अधिक था। पौत्र के समान कुल का नाम भी कमी-कमी विस्वात पूर्वज के नाम पर चलाता था और कमी अधिक बृह पुत्र्य के नाम पर। यथा धार्य्य लोगों के कुल को धार्य्यकुल भी कहते थे और मर्वकुल भी। इसी प्रकार, वात्स्यकुल और बत्सकुल या बँदकुल और त्रिवकुल दोनों प्रकार से व्यवहार चलाता था।

कुल-भेद—कुल दो प्रकार के माने जाते थे—बृहकुल और त्रिवकुल। विवाहिता का कुल पतिकुल होता था।<sup>४</sup> घर में बृह पुत्र्य या पति न रहने पर पुत्र का कुल माता बापि स्त्रियों का कुल माना जाता था। यदि कोई माई कुल में हुए और वे विमल हो गये, तो एक ही कुल के कोई घर हो जाते थे। घर का स्वामी गृहपति या आनसपिक कहलाता था।<sup>५</sup> गृहपति घर का ज्येष्ठ पुत्र्य होता था। पितामह या पिता के न होने पर ज्येष्ठ भ्राता या कोई बड़ा पुत्र्य गृहपति कहलाता था। गृहपति प्रथा को गार्हपत्य कहते थे, जिसमें जनपद भेद के अनुसार साधारण अन्तर रहता था। भाष्य में कुलगार्हपत्य और वृजिगार्हपत्य का विशेष उल्लेख मिलता है।

कुल के अंग—कुल या परिवार के मूल पुत्र्य के माता और पिता जिन्हें संयुक्त रूप से 'पितरौ' मातापितरौ या मातरपितरौ भी कहते थे।<sup>६</sup> वेदों में 'पितर' 'मातर' प्रयोग मिलते हैं। उत्तर भारत में मातरपितरौ प्रयोग प्रचलित था। माता-पिता से सम्बन्धित तथा उनकी सेवा पुत्रों का कर्त्तव्य था।<sup>७</sup> माद्यों के बड़े भापि के क्रम में ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ नाम होने थे। दो में बड़े को अग्र्यान् कहते थे। अग्र्यान् की दृष्टि से ज्येष्ठ का स्थान पिता के बाद ही था।

१ ४ १९० पृ० १०९।

२ ४ १ १२७।

३ उपरताप्यस्त्रियकुले वताप्युपरता स्वाभ्याय—१ ४ ११० पृ० २२३।

४ २-४ १४, पृ० ५०३।

५ १ १-५१, पृ० ३२१।

६ ४ ४ ९०, पृ० २८९ तथा ४ ४-७४।

७ ४-१ १६४।

८ ६ २ ४२, पृ० २५८।

९ १-२-७०।

१० ६-३ ३२ ३३।

११ १ १ ९, पृ० १६३।

कनीयान् ज्ञायमान् की माता का पालन करता था। पुत्रों के नामकरण से युवा होने तक माता-पिता जनका पोषण करते थे। वे सुक मण्डप में सबसे सामन पुत्र का नाम रखते थे।

पुत्र—कुल या परिवार में पुत्र का महत्त्व बहुत अधिक था। उसे शाकापनुद या शाक को दूर करनेवाला मानते थे। सवे भाई सोदय या समानोर्ण्य कहलाते थे। पिता से प्राप्त हौन-बार्ता सम्पत्ति में त्रिसे पितृय या पैतृक कहते थे तथा पितामह से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति में त्रिम पैतामहुर कहते थे। क्रमशः सब सोदय तथा पितृय अंगरू या अंगहारी होत थे। अपने पुत्र के अतिरिक्त अन्य बालकों को भी कभी-कभी पुत्र मान लिया जाता था। पुत्र गोत्र भी छिये जाते थे जो पुत्रक कहलाते थे। पुत्र की कामना सभी गृहस्थ करते थे।

अथ धातुक—पिता के भ्राता को पितृभ्य और माता के भ्राता को मातुल कहते थे। पिता और माता के पिता को संजा पितामह और मातामह भी। उनकी माता को जम से पितामही और मातामही कहा जाता था। मातुल की पत्नी मातुली या मातुसाली कहलाती थी। पितामह के पिता को प्रपितामह कहते थे। इस प्रकार पुत्र पिता पितामह और प्रपितामह तक चार पीढ़ियाँ प्रायः मिल जाती थीं। इनमें ऊपर सबको पितर कहते थे। मातुल की तीन पीढ़ियों तक का ही भाष्य में उल्लेख है प्रमातामह का नहीं। प्रपितामह की दृष्टि से नौक की पीढ़ियाँ प्रपौत्र पौत्र पुत्र होत थे। माता और पिता की बहन को मातृप्वसा मातुप्वसा या मातृस्वसा तथा पितृप्वसा पितुप्वसा या पितृस्वसा कहत थे। बहन स्वसा कहलाती थी और उसका पुत्र स्वबीय। भाई के पुत्र को भ्रातृभ्य या भ्रातीय कहते थे। मातृक के लिए मातृजाया शश्व का व्यवहार था। मतीने के लिए मातृपुत्र शश्व भी प्रचलित था। बुआ का शङ्का या फुलेरा भाई पैतृस्वसेय कहा जाता था और मौसी का पुत्र या मौसरा भाई मातृप्व बीय। पत्नी आया भार्या या जनी कहलाती थी और उसके माता पिता श्वभू और श्वगुर। शाले के लिए श्याम और श्वसुर्य शश्व थे। श्वसुर्य का पुत्र श्वामुरि और उसके छात्र श्वामुर कहलाते थे। माती को गप्ता कहते थे और ननद को मनान् तथा ननदोई को

- |                        |                                                              |
|------------------------|--------------------------------------------------------------|
| १ ११२१, पृ० २०२।       | १३ ३८-८४ तथा ८३-८५, पृ० ४५८।                                 |
| २ १११, पृ० १५१।        | १४ ४१ १४३ तथा ४१-९०, पृ० १०९।                                |
| ३ ४४-१०८।              | १५ ४-१ १४४ तथा ४१-१४५, पृ० १४५।                              |
| ४ ४३-७९।               | १६ कस्कारिण्य ८३-४८।                                         |
| ५ ४-२ १०४, पृ० २०८, ९। | १७ १ १-५१, पृ० ३१०।                                          |
| ६ ५-२-६९।              | १८ ४ १ १३४, पृ० १४४।                                         |
| ७ ३ १-८, पृ० ३९।       | १९ २-१ ११२, पृ० १८८ तथा ६ १-८४, पृ० ११८ तथा ४ ४-८२, पृ० २८५। |
| ८ ४ २-३६, पृ० १७६।     | २० १-२-७१, पृ० ६०५।                                          |
| ९ बही।                 | २१ ४-१-९०, पृ० १०९।                                          |
| १० बही।                | २२ १ १-७२, पृ० ४५५।                                          |
| ११ ४ १ ४९, पृ० ६३।     |                                                              |
| १२ ५ २-१०।             |                                                              |



मनान्दपति। पुत्री और दुहिता दोनों शब्द व्यवहार में आते थे।<sup>१</sup> मनान्द की संज्ञा नानान्द और दुहिता की संज्ञा भीहित नहीं जाती थी। इसी प्रकार पुत्र का पुत्र पौत्र कहलाता था। स्वया और भगिनी समानार्थी थे। भगिनी का पुत्र भागिन्य होता था।<sup>१</sup>

**संयुक्त कुल**—पिता माता और भाई एक साथ रहते थे किन्तु कभी-कभी किसी कारण से मनबन हो जाने पर भाई भाई असम भी हो जाते थे। इन विभक्त-वन भाइयों को विभक्त कहते थे। मातृ-सम्बन्ध पर टिप्पणी करते हुए भाष्य में कहा है 'दिवन्त का भ्राता' इसमें पत्नी विभक्त का क्या अर्थ है? यही न कि दोनों एक स्थान से उत्पन्न हुए हैं। किन्तु यह कहना विस्तृत गप ही है। क्योंकि जिस प्रकार रात के समय सांयिक सोप एक ही प्रतिभय में टहर जाते हैं और सबेरे उठकर चक बैठे हैं। उनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। यही स्थिति भ्रातृत्व की है। भ्रातृत्वों में तो प्रायः सपक हुआ करते थे। इसीलिए, भ्रातृत्व्य शब्द का अर्थ ही सपन्न ही गया था।<sup>१</sup> एक पति की कई स्त्रियाँ परस्पर सपत्नी होती थीं और सपत्नी की संज्ञा सपत्न। सन्भ्रातृत्व सपत्न और भ्रातृत्व्य शब्द स्वयं भारतीय परिवार के संगठन के दोषों पर प्रकाश डालते हैं। समान पति वा पत्नीवालों का परस्पर सन्भ्रातृत्व रहना स्वाभाविक था। सपत्न का मूल अर्थ सन् नहीं था अपितु समान-पतिकत्व के कारण निरन्तर बसनेवाले साधक को वृष्टि में रमकर सांयिक रूप से उसका अर्थ सन् प्रपन्न हो गया। यही बात भ्रातृत्व्य के विषय में कही जा सकती है। भाष्यकार ने कहा है कि अपने भाई और बचेरे भाई में अन्तर तो होता ही है।

**कुलाचार**—परिवारों में शिष्टाचार के नियम निश्चित थे। माता-पिता और भाचार्य की सेवा करना पुत्र और शिष्य का धर्म था। बुरे-पुत्र के साथ भी चरण-स्पर्श तथा उच्छिष्ट भोजन का अनिश्चित गुरु के समान ही व्यवहार किया जाता था।<sup>१</sup> छोटे लोप बड़ों को प्रणाम करते थे। अधिवाहन और प्रत्यभिवाहन के नियम निश्चित थे। पिता के जीवन रहते पुत्र उसका आशानवर्ती रहता था। पिता के जीवन-काल में स्वतन्त्रत्व आचरण करनेवाला पुत्र समाज में पितृहृत होता था। फिर भी कभी साम्यतिक तथा अन्य कारणों से परिवार में विग्रह उत्पन्न हो जाता था। भाष्य में पुत्रहृती पुत्रवर्गी पुत्रपुत्रादिनी पितृहा मातृहा भ्रातृहा मध्य मिलते हैं।<sup>१</sup> य अथवा है। माता पिता भ्राता पुत्र आदि की हत्या अत्यन्त वर्हित थी इसीलिए ये शब्द गाली के रूप में व्यवहृत होते थे।

**कुल सम्बन्ध**—परिवार तथा उसके निज-कुल में कुछ पुरय या रबी ऐसे भी होते थे जो

१ १ १-७२ व० ४५२।

२ ४ १ १-४, व० १३४।

३ ३ ३ १-८, व० २९७।

४ ३ ४ १-७, व० ३६९।

५ ४ १ १-४५, व० १४५।

६ ६ ३ १-५, व० ३२३।

७ २ १ १ व० २४६।

८ १ १-९, व० १६।

९ १ १-५६, व० ३३८।

१० ४ १ १-१२, व० १५५।

११ ८ ४ ४-८, व० ४९८ तथा

३ २-८७, व० २३५।

सम्बन्ध में भस्मे ही पितृव्यादि न लगते हों पर उनका सम्मान पितृव्यादि के समान किया जाता था। इतना ही नहीं उन्हें घर के सोय कल्पित सम्बन्ध से ही पितृव्य स्वधुर, मातृव्यसा भावि कहकर पुकारते थे। यह सम्बन्ध उन व्यक्तियों तक ही सीमित रहता था। उनकी सन्तान से उस प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं था। इसीलिए सोरु-स्यबहार में यदि कोई व्यक्ति किसी को स्वधुर कहता था तो भी उसकी सन्तान स्वधुर्य नहीं कही जाती थी। वास्तविक (रक्त-सम्बन्ध) से कल्पित सम्बन्ध (स्नेह-सम्बन्ध) का अन्तर स्पष्ट करने के लिए ही उसे स्वधुरि कहते थे।<sup>१</sup> स्वधुर्य पत्नी का सोवर होता था और स्वधुरि बचेरा या स्नेह के कारण माना हुमा भाई। इसी प्रकार माता की सगी बहन मातृव्यसा होती थी तथा रिस्ते में या स्नेह के कारण लगनेवासी अन्य बहनों मातृव्यसा।<sup>२</sup> पिता के समान पुत्र्य व्यक्ति पितृ-सवृष कहलाता था।<sup>३</sup> पिता के लिए हितकारी वस्तु को पितृमोगीन कहते थे। हितकारी बात बहु मानी जाती थी जो या तो पिता को स्वने-वासी बातों से सम्बद्ध हो या बाह्यिक दृष्टि से उसके अनुकूल हो या उनके सार्वैरिक सुख में सहायक हो। सम्बन्धवासी पिता भ्राता के विषय में पतञ्जलि न कहा है कि इन शब्दों के योगिक अर्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए। ये शब्द इन-इन अर्थों में समाज में प्रचलित हो गये हैं। इसलिए इनका जो अर्थ प्रसिद्ध है वही ग्रहण करना चाहिए। यों भी बहुत-से शब्द नियतविषय शोक में प्रचलित हैं। यदि यौपिक अर्थ मानने लयेंगे तो मरण करनेवासा यह अर्थ भ्राता शब्द का होगा और इस अर्थ में यदि भाई को भ्राता कहें, तो स्वसा को भी भ्राता कहना चाहिए क्योंकि मरण जितना छोटे भाइयों का बड़ा भाई या बड़े का छोटा भाई करता है उतना बहन भी करती है। यदि पुत्र का अर्थ कुरु को पवित्र करनेवासा या प्रसन्न करनेवासा मानें तो कुहिता को भी पुत्र कहना चाहिए क्योंकि वह भी उनके समान माता-पिता को मान्यित करती है। यदि पिता का अर्थ रक्षा करनेवासा या पालन करनेवासा मानें तो माता को भी पिता कहना चाहिए क्योंकि वह भी पुत्रों के रक्षण और पालन का काम करती है और यदि स्वधुर उसे कहें जिसे बाधु (श्रीम) प्राप्त करना चाहिए, तो स्वधु भी स्वधुर कहला सकती है। किन्तु, शोक में इन सबका प्रयोग उक्त अर्थों में नहीं होता। इसलिए, सम्बन्धवाचक शब्दों को रूढ या नियतविषय ही मानना चाहिए।<sup>४</sup>

सम्बन्धों का आकार—पारिवारिक सम्बन्ध दो प्रकार के माने जाते थे। एक पत्नीबंध या स्त्रीबंध से और दूसरे पितृमातृबंध से। स्त्रीबंध में दमाक या स्वधुर्य पत्नीव्यसा स्वाक्यधु, स्वधुर स्वधु आदि थे। इन्हें संयुक्त कहते थे। संयुक्त शब्द उनके पृथक्पृथक् होने की ओर संकेत करता है, जो सम्बन्ध होने के बाद मिल जाते थे। पितृमातृसम्बन्धियों में भाई, भतीजे भाजा भावि थे जो बान्धव या कुटुम्बी कहलाते थे। इन्हें ही 'जाति' कहते थे। इस प्रकार भावि के लोगों में भारमीयत्व की भावना रहती थी। इसीलिए, वे 'स्व' अर्थात् भारमीय भी कहलाते थे।<sup>५</sup> स्व-सम्बन्ध अपने कुलवालों से होता था और संयुक्त सम्बन्ध पत्नीबंधवालों से। इन सम्बन्धों में

१ ४-१-९६, पृ० १२९।

२ ८-३-८४।

३ ४-१-१, पृ० १०।

४ ५-१-९, पृ० १०१।

५ १-२-७१, पृ० ६०५।

६ १-१-३५, पृ० २३७।

७ ६-२-१३३, काशिका।

कुछ स्त्रियों के ही पारस्परिक सम्बन्धों के परिचायक थे। यथा—मनाम्बा, मनाम्बुपति याता आदि और कुछ पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्धों के सूचक थे। यथा—स्यास आदि। कुछ स्त्री-पुरुष दानों के समान सम्बन्ध किन्तु पृथक् व्यक्तियों के बाधक थे। जैसे—स्वगुर, स्वयं आदि और कुछ दोनों के सामान्य थे। यथा—भ्राता दुहिता मातुल आदि। ये सम्बन्ध एक साथ तीन परिवारों की तीन कोटियों को एक सूत्र में बाँधते थे। जहाँ कुम्बुहिता ब्याही जाती थी जहाँ पुत्र ब्याहे जाते थे और जयना कुम्बाचार पीढ़ियों में बीसों परिवार एक सूत्र में बँध जाते थे। कुछ छोग माता-पिता न होकर भी उनके समान ही व्यवहार करते थे और माता-पिता के सम्मान से सम्मानित भी होते थे।<sup>१</sup>

विद्या-सम्बन्ध—रक्त-सम्बन्ध या यानि-सम्बन्ध के अतिरिक्त विद्या-सम्बन्ध भी प्रचलित था। इनका बन्धन भी यानि-सम्बन्ध जैसा ही परिपुष्ट होता था अथवा ही बहु मदा पीढ़ी-दर-पीढ़ी में चल पाता हो। यानिदि ने विद्या और यानि-संबंध की एक साथ चर्चा बार-बार की है।<sup>२</sup> भाष्य बार में गुरु के अतिरिक्त गुरुपुत्र का कई बार उल्लेख किया है<sup>३</sup> और उसके साथ व्यवहार के नियम बतलाय हैं। विद्या-सम्बन्धों में गुरु-परिवार के अतिरिक्त सतीर्थ सम्बन्ध भी सम्मिलित था।<sup>४</sup> जिस प्रकार मानामह से मिलनेवासी सम्पत्ति को मातामहक कहते थे उसी प्रकार उपाध्याय या आचार्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु औपाध्यायन या आचार्यक कही जाती थी। इससे स्पष्ट है कि मन्तान के न होना पर गिष्य आचार्य की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना था।<sup>५</sup>

गुरु के घरकों का सापेक्षिक महत्त्व—परिवार में प्रत्येक सदस्य का स्थान उसकी आयु के बम में था। एक ही पीढ़ी के लगभग समान वय के स्त्री-पुरुषों में पुरुष का स्थान स्त्री के ऊपर माना जाता था। स्त्री पुरुष में ही अन्तर्भूत मानी जाती थी। इसीलिए, पितरों भ्रातरों पुत्री स्वयंवरों आदि में पिता भ्राता पुत्र स्वगुर आदि के द्विबचन में उल्लेख में उनके साथ माता कहल दुहिता या पुत्री और स्वयं का भी बाध हो जाता था। बृद्ध पुरुष या स्त्री का नामोल्लेख कर देने में युवागण भी उममें सम्मिलित मान लिया जाता था। जैसे गार्गी (द्विबचन) कहने से गार्म्य और गार्म्यपण (उमने बाद का वय) दोनों का ग्रहण हो जाता था। बृद्ध स्त्री के द्विबचन में उल्लेख न युवागण भी उममें अन्तर्निहित स्त्रीकार कर लिया जाता था किन्तु उम स्त्रीबाधक दण्ड को पुत्रिम के समान बना दिया जाता था। जैसे गार्गी और गार्म्यपण (ब्रह्मकी पीढ़ी की श्रान्त) के लिए 'गार्म्यी' दासी और दानापण के लिए 'दासी' वात्स्या और वात्स्यायन के लिए 'वात्सी' कह देना पर्याप्त था। एक स्थल में अर्थात् स्त्रीसिद्ध दण्ड का पुंश्रुमात्र कर देना पुरुष की प्रधानता का गुणित रगने की अपरयत्ता अर्थात् वा सुन्दर निरर्थक है क्योंकि गार्गी वात्सी दासी आदि के बुद्धिगण रूप उनके पति न बाधक हैं। इसलिए, सम्मान-पदाथ उम युवागण

१ ६११२ पृ० ३६।

२ ४३-७७ तथा ६३ २३।

३ २११ पृ० २३२।

४ ११-५६ पृ० ३३८।

५ ६३-८७।

६ ४-२-१०४ पृ० २०८, ९।

७. १२ ६८ तथा १२-७०, ७१।

८ १२ ६७ तथा २-१ ६५।

९. २-१ ६६।

की अपेक्षा भले महत्त्व देने के लिए अनधिकृत रखा जाता हो, वास्तव में इस अवसेप का कारण उसके प्रति की प्रशानता थी उसकी स्वयं की नहीं। यह बात पुक्ताग्य से स्पष्ट हो जाती है। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलना है कि परिवार या बच्चा पितृमूलक था। बच्चा बांगिक सम्बन्धों में स्त्री-पुरुष की छायाभास थी किन्तु अन्वहितता की दृष्टि से उनका स्थान सुरक्षित था। इसीलिए, माता और पिता का घनास होने पर मातापितृ में अन्वहितता मत्ता सध्य का प्रयोग प्रथम दिखाई पड़ता है।'

**कुल-मित्र**—रक्त-सम्बन्ध से भले न हों किन्तु व्यवहार में मित्र ही परिवार के अति निकट होते हैं। मैत्री व्यक्तिगत तथा परिवारों की अलग-अलग रहती थी। कभी-कभी यह मैत्री दो परिवारों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती थी। इस प्रकार, कुल-मित्र भी होते थे। 'मित्र की सम्भावना पूर्ण होने के कारण मुहूर्त् कहलत थे। इसका ठीक उल्टा मुहूर्त् (घनु) था।' सखि और मित्र ममानार्थी थे। सखा का स्नेह-व्यवहार सस्य कहलाता था। यह पारस्परिक होता था। 'मित्रता की भावना से किसी की ओर घात बच बसना मैत्री के लिए पर्याप्त था। इसलिए, सस्य को सप्त परीत कहलत थे।' सम्भवतः, यह विशेषण बैबाहिक सप्तपत्नी के आचार पर बना था जिसका मूल अर्थ साम्प्रत्य-सम्बन्ध था। बाद में कलसा से सामान्य मैत्री के लिए सप्तपत्नी शब्द का प्रयोग होने लगा।

मित्रता को संगत भी कहलते थे। ऐसी मैत्री जो कभी डीपी न पड़े अर्थात् कहलाती थी। इसी अर्थ में मैत्री से मित्र प्रसंग में अबर या अवरिता शब्द का व्यवहार होता था। 'उपतकरण या मित्रकरण आक्षेपकृतान्त भी होता था। यानी लोग अपनी सुविधा के लिए 'पिकों और अस्वारोहों से मैत्री' करते हैं यह उदाहरण भाष्य में मिलता है। मित्रों की कोटियाँ उनके सौहार्द के स्वादिन्ध तथा पाण्डीय के आचार पर सुसजा, परमसजा आदि की जाती थी।'

**कुलातिथि**—अतिथि परिवार का स्वाामी नहीं किन्तु आकस्मिक अंग था। आतिथ्य परिवार का धर्म था। अतिथि को अर्घ्य पाठ अर्पण पान और पात्र बोने के लिए तो उसके जाने के ताब ही दिया जाता था। 'उसे घर में परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ठहराया जाता था इसीलिए उसे पुरोससत्' कहलते थे। मित्र-मित्र कोटि के अतिथियों का स्वागत उनके अनुक्य होता था। किसी को परीतदत्त किलाया जाता था। कोई मर्त्त या उद्द को शस (कासाय-गुप) का ही अभि-धारी हलता था। किसी को श्वेतच्छत्र अेंट किया जाता था। श्वेतच्छत्र विशेष सम्मान के लिए उसके बैठने या ठहरने के लिए लगाया जाता था। एम अतिथि क्रमम मांसौपनिक कासाय

- १ २-२-३४, पृ० २९०।
- २ ३-२-१०६, पृ० २७७।
- ३ ५-४-१५०
- ४ ५-१-१२६, भा० १, पृष्ठ ८।
- ५ ५-२-२२।

- ६ ३-२-१०५, पृ० १८३।
- ७ १-३-२५, पृ० १४।
- ८ १-७-२०, पृ० ४५६।
- ९ ५-४-२५।
- १० ३-२-६१, पृ० २२५।

मूर्ख और श्वेतच्छदिक कहलाते थे।<sup>१</sup> आचार्य राजा और भोजिय का स्वागत मोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रथम के लिए था। इसलिये, इन्हें गोष्म अतिथि कहते थे।<sup>२</sup> कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर घारे गाँव के माने जाते थे और गाँव के घारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।<sup>३</sup> अतिथि के सत्कार का आतिथ्य और सत्कार करने वाले का अतिथेय (स्वी आतिथेयी) कहते थे।<sup>४</sup>

कुल-भृत्य—सेवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-वस्त्र पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकारा समय वहीं बिताते थे। ऐसे मीकरों में 'उद्धार', 'वैद्यिक' आदि थे। उदासीनपन कम होने का साधन था। बनी परिवारों में 'द्वारपाल' या 'दीनारिक', 'मन्थिपामी' 'अभ्यंग' 'स्नान' सेप आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारों में 'दण्ड' 'ग्रह' 'छत्रग्रह' आदि भी रहते थे। वे सब क्रिकर भी कहलाते थे।<sup>५</sup>

इस प्रकार परिवार या कुल पितृबंध मातृबंध विद्यायोगिक सम्बन्धी मित्रपण अतिथि भृत्य आदि भी समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा पक्षितनामी पटक था।

सपिण्ड—कुल के बाद सपिण्डों का स्थान था। पिता की छात तथा माता के बदन की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थीं।<sup>६</sup> यदि किसी परिवार में स्वबिच्छर सपिण्ड जीवित होता तो उसके पाँच प्रपौत्रादि को मुखा<sup>७</sup> कहते थे।

बंध—बंध एक परम्परा थी। बंध एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बढ़ता हुआ स्थायी सामाजिक बंध था। व्यक्ति की अगली पीढ़ियाँ उसकी बन्ध कहलाती<sup>८</sup> थीं। एकबरा पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर बंध सही चलता था। कुछ लोग मातृबंध और पितृबंध दोनों मानते थे और दैव ने कुछ भागों में मातृबंध भी प्रचलित था।<sup>९</sup> बंध और सम्बन्ध प्रायः पर्याय थे। योनिसम्बन्ध या बन्ध के अतिरिक्त विद्या-बंध या विद्या-संबन्ध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका बंध मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—'स्याकरण की तीन मुनि बन्ध' माने जाते रहे। 'त्रिमुनिष्याकरणम्' का अर्थ वह स्याकरण या त्रिसमें तीन मुनि बंध रहे हों। भाष्यार्य की इकट्ठी पीढ़ियाँ तथा गौतम की तिष्पन पीढ़ियाँ भाष्यार्य के समय तक ही बुझी थीं।<sup>१०</sup> भाष्य के 'एकविंशति भागद्वारम्' और त्रिभुवागद् गौतमम्' में उदाहरण ही बान के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की बंधावकी ठीकर रखते थे। न केवल बंधानकी अपितु उनका

१ ४१ १९, पु० ३०९।

२ ३ ४-७३।

३ २-२ २४ पु० ३३६।

४ ५ ४ २६ तथा ४ ४ १०४।

५ ६ ३ ६०।

६ बही तथा ४ ४ १७, पु० २७५।

७ ७-३ ४।

८ धारवाहिन ६ २-५१ तथा २-२-९।

९ मन्त्रिष्याहिन ४-४ ४८ तथा ६-२-५१।

१० बही तथा २-९ २।

११ वैश्याहिन ४ १ १४६।

१२ ३ २-२१ पु० २१३।

१३ ४-१ १६५, पु० १५७।

१४ बही।

१५ ४ १ १४७, पु० १४६।

१६ बही।

१७ २ १ १९, आश्रिका।

१८ २ ४-८४, पु० ५१५।

संश्लिष्ट इतिहास भी उन्हें प्राप्त रहता था। तभी इस बात का पता लगना सम्भव था कि किसके बंध में बंध पूर्वक पीढ़ियों तक अभिप्रिय और कर्तव्यभूत लोग नहीं हुए हैं। सोमपान के अधिकारी का निर्भय करते समय पहली बंध पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।<sup>१</sup>

समोत्र—सामाजिक संगठन में मोत्र का महत्त्व पतंजलि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्वक व्यक्तिता के नाम पर उस बंध का नाम पड़ जाता था। विद्या बंध कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ तो उसकी सम्मानों को छोड़ उसका नाम से जानने लगते थे बापे बलकर पीत्र प्रपीत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। साम्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता पुत्र प्रपीत्र तथा जमनी पीड़ियों के नाम पूर्वक के नाम के आधार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर बिचे गये थे।

मोत्र सम्य के दो अर्थ थे—सामान्य अपत्य या सन्तान तथा व्याकरणभास्व का पारिभाषिक मोत्र। प्रथम शौकिक व्यवहार में प्रचलित था और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के द्योतन के लिए होता था। ऐसा नहीं होता था, जहाँ परिवार में कोई पूर्वक सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अधिकान्त-पूर्वक अपने मोत्र का उल्लेख करती थी।<sup>१</sup> शौकिक मोत्रों में आर्य और जनार्ण दो प्रकार होते थे। आर्य मोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा जनार्ण मोत्र योनि-सम्बन्ध से माने जाते थे। मातृवद दृष्टि से इन्हें योत्रावयन कहते थे। जैसे कुशिक मुनिक वा मुञ्जर नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानों यसे ही वे उन गुणों से सम्पन्न नहीं कौशिक भीनिक या मौलिकरि कही जाती थीं। स्त्री कौनिकया भीनिकया वा मौलिया कहलाती थी।<sup>२</sup> व्याकरण भास्व में पीत्र से कैकर जगसी प्रपीत्रादि सन्तान को मोत्र कहते थे<sup>३</sup> किन्तु बहि मोत्रापत्य का प्रविष्टा यह पितामह, पिता बड़ा भाई या मोत्र में अन्य कोई सपिण्ड स्वबिरतर अधिक होता था तो उसे युवा कहते थे। धर्म की पीत्रादि से बाप की सन्तान (मोत्र) को धर्म्य और युवापत्य को धर्म्या बंध कहते थे। इसी प्रकार बन्ध बाल्य बाल्यावन पक्ष प्काश्य प्काशायन बन्ध दाब्य दासायन आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (नुत्रादि) को गर्गि आरिस् प्काशि दाशि कहते थे। साम्यकार ने मोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेतस् ऋषि (सन्तान का बन्ध या जनन जिनके अधिकार की बात थी) मद्रासी सहस्र हुए हैं। उनमें कस्यपादि सन्तान तथा आठवें अमरस्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान मोत्र कहलाती है।

१ एवं हि धार्मिकः पठन्ति ब्रह्मपुत्रान्पूर्वकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोमं विवेदिति—

४-१-१३, पृ० १२०।

२ २४-१२, पृ० ५०२।

३ २३-१८, पृ० ४२०।

४ ४१-७८।

५ ४१-७९ आधिका।

६ ४१ १६२, पृ० १५४।

७ ४१ १६३, पृ० १५५।

सूक्ति और ध्वेतच्छत्रिक कहलाते थे। आचार्य राजा और शोचिय का स्थाप्य गोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिए, इन्हें पोष्य अतिथि कहते थे। कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर सारे पाँच के माने जाते थे और बाँब के सारे परिवार या कुछ उनकी सेवा करते थे। अतिथि के उत्कार को आतिथ्य और उत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।

कुल-मृत्यु—देवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और मोजन-वस्त्र पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकान्त समय वहीं बिताते थे। ऐसे नौकरों में चवहार, बैबधिक, खादि थे। उदबीबध बल होने का साधन था। धनी परिवारों में 'हारपाल' या दौवारिक मन्थिपानी, 'अभ्यंग' स्नान, 'सैप खादि' करनेवाले मृत्यु तथा राजपरिवारों में 'बन्ध ब्रह्म छत्रग्रह' आदि भी रहते थे। ये सब किकर भी कहलाते थे।

इस प्रकार परिवार या कुछ पितृबंध मातृबन्ध विद्यामौनिक सम्बन्धी मिश्रण अतिथि मृत्यु खादि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा धर्मितछाकी बटक था।

सपिण्ड—कुछ के बाह सपिण्डों का स्थान था। पिता की सत्त तथा माता के बंध की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थीं। यदि किसी परिवार में स्वबिहतर सपिण्ड बीधित होता तो उसके पौत्र प्रपौत्रादि को युवा कहते थे।

बंध—बंध एक परम्परा थी। बंध एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बढ़ता हुआ स्वामी सामाजिक अंग था। व्यक्ति की अगली पीढ़ियाँ उसकी बन्ध कहलाती थीं। रक्तबंध पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर बंध नहीं चलता था। कुछ भोग मातृबंध और पितृबन्ध दोनों मानते थे और वेद के कुछ भागों में मातृबंध भी प्रचलित था। बंध और सम्बन्ध प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्बन्ध या बंध के अतिरिक्त विद्या-बंध या विद्या-संबन्ध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका बन्ध मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—'व्याकरण की तीन मुनि 'वस्य' माने जाते रहे। 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' का वर्ण बहु व्याकरण वा जिसमें तीन मुनि बन्ध रहे हों। भारद्वाज की इन्दीय पीढ़ियाँ तथा नौलम की तिर्यपन पीढ़ियाँ भाष्यकार के समय तक ही चुकी थीं। भाष्य के 'एकविधति भारद्वाजम्' और त्रिमुनिव्याकरणम्' ये उदाहरण हम बात के प्रमाण हैं कि भोग अपने परिवार की बंधावली तैयार रखते थे। न केवल बंधावली अस्मिन् उनका

१ ४११९, पृ० ३९।

२ ३-४-३१।

३ २-२-२४ पृ० ३३६।

४ ५४२६ तथा ४-४-१०४।

५ ६३६०।

६ बही तथा ४४१७, पृ० २७५।

७ ७-३-४।

८ पाञ्चकारिण, ६२-५१ तथा २-२-९।

९ बहुव्याकरण ४-४८ तथा ६-२-५१।

१० बही, तथा २-९२।

११ रीचरपादिपत्र ४-११४६।

१२ ६-२-२१, पृ० २१३।

१३ ४११६५, पृ० १५७।

१४ बही।

१५ ४११४७, पृ० १४६।

१६ बही।

१७ २११९, काठिका।

१८ २४-८४, पृ० ५१५।

संघटित इतिहास भी उन्हें ज्ञात रहता था। तभी इस बात का पता लगना सम्भव था कि किसके बंध में दस पूर्वज पीढ़ियों तक अतिथित और कर्त्तव्यभूत थाय नहीं हुए हैं। सोमपान के अति कारी का निश्चय करते समय पहली दस पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।<sup>१</sup>

सोमोत्र—सामाजिक संघटन में सोम का महत्त्व पर्वजसि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम पर उस वंश का नाम पड़ जाता था। पिछा बंध कार्य आदि किसी दृष्टि से कोई पुरुष महत्त्वपूर्ण हुआ, तो उसकी संस्तानों को लोग उसके नाम में जानने लयते थे साथे चलकर पीत, प्रपीत आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। भाष्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता, पुत्र पीत प्रपीत तथा अगामी पीढ़ियाँ के नाम पूर्वज के नाम के आचार पर रखने के सिध कुछ नियम निश्चित कर दिये गये थे।

सोम शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अर्थात् या सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक सोम। प्रथम लौकिक व्यवहार में प्रचलित था और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के घेतन के लिए होता था। ऐसा नहीं होता था जहाँ परिवार में कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने सोम का उल्लेख करती थी।<sup>२</sup> लौकिक सोमों में जार्य और अनार्य दो प्रकार होते थे। जार्य सोम विद्या-सम्बन्ध से तथा अनार्य सोम बलि-सम्बन्ध से माने जाते थे। पाश्चीय दृष्टि से इन्हें गोत्रात्मक कहते थे। जैसे कुबिक भुबिक या मुत्तर नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानें अपने ही वे उन सुधों से सम्पन्न नहीं कौबिक भौबिक या मौत्तरि कही जाती थी। स्त्री कौबिकया भौबिकया या मौत्तर्या कहलाती थी।<sup>३</sup> व्याकरण शास्त्र में पीत से लेकर अगली प्रपीतादि सन्तान को सोम कहते थे<sup>४</sup> किन्तु यदि गोत्रापत्य का प्रतिष्ठा-मह, पितामह, पिता बड़ा भाई या सोम में अन्य कोई सपिण्ड स्वबिहतर जीवित होता था तो उसे बुवा कहते थे। जार्य की पीतादि के बाद की सन्तान (सोम) को मार्ग्य और युवापत्य को बार्म्य-वक कहते थे। इसी प्रकार वत्स वात्स्य वात्स्यायन प्लक्ष, प्लाक्ष्य प्लाक्षायन दक्ष दाक्ष्य दाक्षायय आदि कहलाते थे। इसकी सामान्य सन्तान (सुत्रादि) को मार्ग्य वात्स्य प्लाक्षि दाक्षि कहते थे। भाष्यकार ने सोम के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऊर्ध्वरेणु अपि (सन्तान का बगन या बहजन त्रिमक अधिकार की बात थी) अट्टासी सृष्ट हुए हैं। उनमें कस्यपादि सात तथा आठवें अवस्थ में सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान सोम कहलाती है।

१ एवं हि मात्रिकः पठन्ति वसुधुवन्मूलं यस्य गृहे ब्रूवा न बिदरेणु स सोमं पिबेदिति—

४-१-१३, पृ० १२०।

२ २-४-३२, पृ० ५०२।

३ २-३-१८, पृ० ४२०।

४ ४-१-४८।

५ ४-१-७९ काशिका।

६ ४-१-१६२, पृ० १५४।

७ ४-१-१६३, पृ० १५५।



भूपिक और द्योतञ्जलिक कहलाते थे।<sup>१</sup> आचार्य राजा और भोजिव का स्वागत पोमांस से किया जाता था। यह उनके प्रति विशेष सम्मान के प्रदर्शन के लिए था। इसलिये, इन्हें भोज्य अतिथि कहते थे।<sup>२</sup> कुछ अतिथि व्यक्तिविशेष के न होकर घारे पाँच के माने जाते थे और पाँच के घारे परिवार या कुल उनकी सेवा करते थे।<sup>३</sup> अतिथि के उत्कार को आतिथ्य और उत्कार करने वाले को अतिथेय (स्त्री आतिथेयी) कहते थे।

**कुल-भृत्य**—सेवकों या कर्मकरों में बहुत-से स्वामी के घर ही रहते थे और भोजन-जलन पाते थे। जो नहीं रहते थे वे भी काम के लिए अपना अधिकार्थ समय वहीं बिताते थे। ऐसे नौकरों में उदहार,<sup>४</sup> वैशधिक<sup>५</sup> आदि थे। उदरीयज जल डोने का साधन था। घनी परिवारों में द्वारपाल<sup>६</sup> या बौद्धारिण मणिपात्री<sup>७</sup> बन्ध्याग<sup>८</sup> स्नान<sup>९</sup> लेय आदि करनेवाले भृत्य तथा राजपरिवारों में पञ्च घृह छत्रग्रह<sup>१०</sup> आदि भी रहते थे। ये सब किकर भी कहलाते थे।<sup>११</sup>

इस प्रकार परिवार या कुल पितृबंध मातृबंध विद्यायोगिक सम्बन्धी मिश्रण अतिथि भृत्य आदि की समष्टि थी। यह समाज का मुख्य तथा सक्रियताशी बटक था।

**सपिण्ड**—कुल के बाप सपिण्डों का स्थान था। पिता की सत्त तथा माता के बंध की पाँच पीढ़ियाँ सपिण्ड कहलाती थी।<sup>१२</sup> यदि किसी परिवार में स्वबिरहसपिण्ड बीरित होता तो उसके पाँच प्रपीत्रादि को युवा<sup>१३</sup> कहते थे।

**बंध**—यद्य एक परम्परा थी। यद्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बहुत हुआ स्वामी सामाजिक बंध था। व्यक्ति की अपनी पीढ़ियाँ उसकी बन्ध कहलाती<sup>१४</sup> थीं। रक्तबध पिता द्वारा प्रचक्षित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर बंध नहीं चलता था। कुछ काय मातृबंध और पितृबंध दोनों मानते थे और देहा के कुछ भागों में मातृबंध भी प्रचक्षित था।<sup>१५</sup> बंध और सम्बन्ध प्रायः पर्याय थे। योगि-सम्बन्ध या बंध के अतिरिक्त विद्या-बंध या विद्या-संबंध भी प्रचक्षित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका बंध मानी जाती थी। उदाहरणार्थ—व्याकरण की तीन मुनि 'बंध्य' माने जाते रहे।<sup>१६</sup> 'त्रिमुनिव्याकरणस्य' का अर्थ वह व्याकरण था जिसमें तीन मुनि बन्ध्य रहे हों। भारद्वाज की हकीमिष पीढ़ियाँ तथा गौतम की तिर्यप पीढ़ियाँ भाष्यकार के समय तक ही चुकी थीं।<sup>१७</sup> भाष्य के 'एकविंशति भारद्वाजम्' और त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि लोग अपने परिवार की बसावधी तैयार रखते थे। न केवल बंध्यावली अपितु उनका

१ ४११९, पृ० ३०९।

२ ३४-७३।

३ २-२-२४, पृ० ३३६।

४ ५४-२६, तथा ४४-१०४।

५ ६३६०।

६ वही तथा ४-४ १७, पृ० २७५।

७ ७-३-४।

८ याजुर्वेदिक, ६-२-५१ तथा २-२-९।

९ महिष्यादिगण ४४४८ तथा ६-२-५१।

१० वही तथा २-९-२।

११ वेदव्यादिगण ४-१ १४६।

१२ ३-२-२१, पृ० २१३।

१३ ४-१ १६५, पृ० १५७।

१४ वही।

१५ ४१ १४७ पृ० १४६।

१६ वही।

१७ २१ १९, काशिका।

१८ २-४-८४, पृ० ५१५।

वैशिष्ट्य इतिहास भी उन्हें प्राप्त रहता था। तभी इस बात का पता लगता सम्भव था कि किसके संग में उस पूर्वज पीढ़ियों तक अतिरिक्त और कर्तव्यभूत भोग नहीं हुए हैं। सोमपान के अधिकारी का नियम करते समय पहली दस पीढ़ियों का इतिहास देखा जाता था।<sup>१</sup>

सूत्रोक्त—सामाजिक संगठन में गोत्र का महत्त्व पतंजलि-काल में बहुत अधिक था। वंश के महत्त्वपूर्वक व्यक्तियों के नाम पर उस वंश का नाम पड़ जाता था। विद्या बल कार्य आदि किसी वृत्ति से कोई पुरज महत्त्वपूर्ण हुआ तो उसकी सन्तानों को सोम उसके नाम से जानने लगते थे वगैरे बलकर पीत्र प्रपीत्र आदि उसके नाम को अपने नाम के साथ जोड़ने लगते थे। माप्यकार के समय में यह प्रथा इतनी अधिक थी कि पिता पुत्र पीत्र प्रपीत्र तथा अपनी पीढ़ियों के नाम पूर्वज के नाम के आकार पर रखने के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिए गये थे।

गोत्र शब्द के दो अर्थ थे—सामान्य अर्थ में सन्तान तथा व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। प्रथम लौकिक व्यवहार में प्रचलित था और उसका प्रयोग सम्मान या प्रतिष्ठा के चोखम के लिए होता था। ऐसा नहीं होता था जहाँ परिवार में कोई पूर्वज सम्मानित व्यक्ति होता था। सन्तान अभिमान-पूर्वक अपने गोत्र का उल्लेख करती थी।<sup>२</sup> लौकिक शर्तों में शार्प और धनार्थ दो प्रकार होते थे। शार्प गोत्र विद्या-सम्बन्ध से तथा धनार्थ गोत्र धनि-सम्बन्ध से होते थे। पाश्चात्य वृत्ति से उन्हें गोत्रात्मक कहते थे। वैदिक कुलिक भूमिक या मूलर नामक व्यक्तियों के प्रसिद्ध हो जाने के कारण उनकी सन्तानें भले ही वे उन्मत्त पूर्व से सम्पन्न नहीं कौलिक भौतिक या शौचरि कही जाती थीं। स्त्री कौलिकया भौलिकया या मीलन्या कहलाती थी।<sup>३</sup> व्याकरण शास्त्र में पीत्र से लेकर अपनी प्रजाति सन्तान को यात्र कहते थे<sup>४</sup> किन्तु यदि यात्रावस्था का प्रसिद्धा मह, पितामह पिता बड़ा भाई या गोत्र में अन्य कोई मणिक स्वबिरेतर भीति होता था तो उसे बुधा कहते थे। मर्म की पीत्रादि के बाद की सन्तान (पौत्र) को पाग्य और युवावस्था को सार्थ्य-मन्त कहते थे। इसी प्रकार बलस वात्स्य वात्स्यायिन प्लक्ष प्लाक्ष्य प्लाक्षायथ दस दाक्ष्य दाक्षायग आदि कहलाते थे। इनकी सामान्य सन्तान (पुत्रादि) को पार्थि शान्ति प्लाक्षि दाक्षि कहते थे। माप्यकार ने गोत्र के प्रारम्भ का उल्लेख करते हुए कहा है कि कर्मरेतम् श्रुति (सन्तान का जनन या अजनन विलक अधिकार की बात थी) ब्राह्मी महत्त्व हुए हैं। उनमें कर्मयादि श्राव्य तथा ब्राह्मण अगत्य ने सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया था। उनकी सन्तान पात्र कहलाती है।

१ एवं हि यादिकाः पठन्ति वापुस्वानुक्तं यस्य सृष्टे घृष्टा न चितौरम् न क्षीरं पिबेदिति—

४ १९३, पृ० १२०।

२ २-४-६२, पृ० १०२।

३ २-१-१८, पृ० ४२०।

४ ४ १-३८।

५ ४ १-७९ काठिका।

६ ४-१ ११२, पृ० १५४।

७ ४ १-१६३, पृ० १५५।

उपचारान् अर्घ्यो को भी गोत्र कह देते हैं।<sup>१</sup> वास्तव में ये गोत्रावयव हैं। लौकिक व्यवहार में बुढ़ा जाति सभी सन्तानों को गोत्र कहते थे।<sup>२</sup> उदाहरणार्थ—वासुदेव से लोग पूछते थे 'बन्धु तुम्हारा गोत्र कौन-सा है। इस प्रकार गोत्र शब्द बंध के अर्थ में प्रयुक्त होता था।<sup>३</sup>

सर्वर्ष का उत्प्रेक्ष्य ऊपर हुआ है। वर्ष या जाति का शेष गोत्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था। एक ही वर्ष या जाति के लोग परस्पर एक दूसरे को बन्धु समझते थे। बन्धुत्व जाति को एक तुल्य में भाँजनेवाली शक्ति थी। बन्धु शब्द ब्राह्मणों की जाति का अभिप्रेक्ष्य था। बन्धुत्व के द्योतन के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मणजातीय क्षत्रियजातीय या वैश्यजातीय कहते थे।

सर्वजनपद—एक जनपद में रहनेवाले भी अपने को परस्पर एक मूत्र में बाँधता मानते थे। ये सर्वजनपद कहलाते थे।<sup>४</sup> यों ही जन विविधता सभी मुख्यतः क्षत्रिय-सर्वों को कहते थे जैसे भरतजन या पंचासजन। जब ये लोग स्थायी रूप से एक स्थान में बस गये तब वह स्थान जनपद कहा जाने लगा और उसका नाम उस जाति या सर्व के नाम पर पड़ गया जो मुख्यतः उस प्रदेश का निवासी था। इस प्रकार अधिकांश जनपदों के नाम विभिन्न क्षत्रिय जातियों के नाम पर निश्चित हुए। किन्तु, इन जनपदों में केवल क्षत्रिय ही नहीं अन्य वर्ष या जातियों भी रहती थीं और वे सब सर्वजनपद कहलाती थीं। इन प्रदेशों के स्वामी क्षत्रियों को जनपदी कहते थे।<sup>५</sup> जनपद के नाम से उसके निवासी पुकारे जाते थे।

अथ सर्वर्ष—यागिनि ने कुस और पंच के अतिरिक्त सर्वन्धु, सर्वजन, सर्वय, सर्वर्ष, सर्वान, सर्वय, समोत्र, सनाम, सर्व्योति, सर्वजनपद और सनामि शब्दों का भी प्रचलन बतलाया है। सर्वन्धु एक ही जाति के लोग होते थे। सर्वजन एक माया बोलनेवाले कहलाते थे। सर्वय एक साथ बोलने-कूबनेवाले, सर्वान एक ही ग्राम या नगर के निवासी, सर्वय एक ही स्थापति के लोग, समोत्र एक गोत्र की सन्तानें, सनाम तुल्य नाम के लोग तथा सम (समचन्द्र बसुचन्द्र परशुराम) सर्व्योति कुच्छबी में एक-से ग्रहवाले, सर्वजनपद एक जनपद के निवासी और सनाम एक ही मूल वंश की सन्तानें कही जाती थीं। सोम, सतीर्ष्य, सर्वह्यजाती जाति के समान ये लोग भी परस्पर सम्बन्ध होते थे। सनामि वर्ष स्थान बचन ये सब लोगों को एकसूत्रता में बाँधकर देने के साधन थे। इनमें सनामि सविष्ट से भी व्यापक शब्द था। एक मूस पुत्र्य से उत्पन्न सन्तान भले ही वह बीसियों पीढ़ी पहले से अलग हो चुकी हो और दूर-दूर स्थानों में रहती हों सनामि मानी जाती थीं।

१ अष्टाशीतिः सहस्राभ्युर्ध्वरेतसामुपीनाबन्धुस्तथापत्यस्याप्यर्षीर्ध्विभिःप्रजनोन्मुपवताः तत्रमवतो यवपर्यं तानि गोत्राणि। अतोऽप्ये गोत्रावयवाः।—४ १-७९, पृ ८८।

२ अथवापत्यो गोत्रसंज्ञो भवतीति वस्तुष्यम्।—४ १ १६३, पृ० १५६।

३ ४ १ ९०, पृ० ११२।

४ ५ ४-९, काशिका।

५ १ १-८५।

६ ४ ३-१००, काशिका।

लोक—जनसामारण को लोक कहा जाता था।<sup>१</sup> इसी से 'सोप' शब्द बना है। लोक में मार्गों का अपना बर्ग था। 'मार्ग' शब्द सामाजिक संगठन का परिचायक था।<sup>२</sup> चिट्ट बघोली तथा बाजारवान् लोग अपने को मार्ग कहते और एक दूसरे में आदर मानते थे यद्यपि इनके प्राण्य सभीभ्य हाशाल्य आदि भेद प्रवेद्य भेद थे अनुसार थे।<sup>३</sup> भाषा तथा रीति-रिवाज की दृष्टि से भी इनमें थोड़ा अन्तर था, किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे एक थे।

१ अभ्यन्तरोऽर्हं लोके न त्वर्हं लोकः ।—भा० १, पृ० २० ।

२ भा० १, पृ० २१ ।

३ वही तथा अ० १, पृ० १८ ।

## अध्याय २

### वर्ण और जाति

**चातुर्वर्ण्य**—माप्य में चार वेदों चार वर्णों और चार आश्रमों का उल्लेख है। इन्हें क्रमशः चातुर्वेद्य चातुर्वर्ण्य और चातुर्ग्रन्थम् कहते थे। माप्यकार ने ब्राह्मणविषय (५ १ १२४) के चातुर्वर्ण्यार्थि में आश्रमों और वेदों को परिगणित कर दिया है।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट है कि माप्यकार के समय में यह चातुर्वेद्य नहीं समाज में मझी भाँति प्रतिष्ठित थी। इस समय वेदव्रमी नहीं अपितु वेदचातुर्वेद्यी स्वतः प्रमाण मानी जाती थी। बीचन मी तीन में नहीं चार आश्रमों में विभक्त था। इसी प्रकार, समाज के ती चार व्यवस्थित विभाग हो चुके थे।

**जाति**—वर्णों के ब्राह्मण क्षत्रिय विट् और धूर्जये नाम माप्य<sup>२</sup> में आये हैं। पाणिनि ने वर्ण शब्द का उल्लेख ब्राह्मणारि<sup>३</sup> वर्ण क्षिण या चिह्न<sup>४</sup> और रंग<sup>५</sup> तीनों अर्थों में किया है। वर्णों के भीतर, किन्तु और अधिक व्यापक अर्थ में जाति शब्द का प्रयुक्त इस समय हो चुका था। जाति न गोत्रों और चरणों को भी जन्तुर्मूलक कर दिया था।<sup>६</sup> यह युग चरणों के भी उत्कर्ष का था। यान और चरण मिश्र-मिश्र वर्णों या वर्णों में जन्मे और पुत्रक विद्या-सत्त्वार्थों में पढ़े व्यक्तियों के विशिष्ट व्यक्तित्वों के परिचय में मुख्य सहायक हो सकते थे। इससे दो बातें हुईं। प्रथम तो प्रत्येक जाति किसी-न-किसी वर्ण के अन्तर्गत रही। दूसरे, वर्ण केवल चार थे और चारे समाज को चार भागों में बाँट देने पर प्रत्येक के भीतर इतना विद्वान् जनसमुह आता था कि उसमें विशिष्ट व्यक्तियों के उत्कृष्ट गुणात्मक या क्रियाशीलात्मक परिचय के लिए अत्रकात्र न था। इसलिये प्रारम्भ में जिन लोगों के पूर्वज श्रेष्ठ थे उन्होंने अपने को उनके नाम से पुरातना प्रारम्भ किया। जिनके बंधा में प्रवृत्ति की कोई बात न थी उन्होंने अपनी जात्या अपने आपार्य के नाम पर प्रारम्भ की। माप्यकार की जाति की परिभाषा में समाज की यही मनोवृत्ति प्रतिबिम्बित है? धीरे-धीरे जब चरणों के उत्कर्ष का समय आया तब केवल वर्ण ही अभिमान की वस्तु रह गया।

१ ५ १ १२४, पृ० ३६४।

२ सर्व एते शब्दाः पुनस्तमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः क्षूद्र इति ।—५ १ ११५, पृ० ३४७ तथा २-३४, पृ० ३४१।

३ ५-२-१३२।

४ ५-२-१३४।

५ २-१ ६९ तथा ४ १ ३९।

६ आहृतिप्रहृषाः जातिर्मिङ्गलानां च न सवमाकः।

सहृषास्यस्तनिर्घाया घोत्रं च चरणी सह॥ ४ १ ६३, पृ० ७२।

परम केवल ब्राह्मणों तक सीमित रह गये। अन्य लोग उनपर अभिमान न कर सकते थे। इस कारण धीरे-धीरे मोक्षों की प्रभावता हो गई और परम गौण पड़ गया। इस स्थिति में जाति जनता मानी जाने लगी। भाष्यकार ने जाति को जनन से प्राप्य कहा। उसमें उत्कर्षाधिक्य नहीं हो सकता था।<sup>१</sup> भाष्यकार ने एक स्थान पर जाति और वर्ण में भेद किया है। जाति जन्म से प्राप्त होती है और वर्ण जन्म तथा गुणकर्म दोनों से। जिसमें अपने बन्धक गुण नहीं होते वह जाति-ब्राह्मण या जाति-शत्रिय ही कहा जाता था। जाति-ब्राह्मणादि शब्द इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते थे कि वह व्यक्ति अपनी योग्यता से अपने वर्ण का अधिकारी नहीं है।

पाणिनि ने चरका को भी जाति के अन्तर्गत माना है। वासिक्राकार ने भी कठ, कासाप आदि को जातिबोधक मानकर 'कठरक्तमौ जातिपरिग्रहम्' (२-१ ९३) तथा 'वा सहुनां जाति परिग्रह इत्यम्' (५ ३ ९३) शूत्रों के उदाहरणों में संगृहीत किया है तथा 'जातेरथ' (६ ३ ४१) में कठी वहुषी का जाति का उदाहरण माना है।<sup>२</sup> भाष्यकार ने गोत्र के आधार पर प्रयुक्त जाति शब्दों में सबन्धी कृती गायत्री से उदाहरण दिये हैं जो इन देशों के राजाओं क स्त्री बपत्य के बाधक हैं। गोत्र जिसके आधार पर जाति मानी जाती थी पीनक बाह की सन्तान अर्थात् प्रपीन (पीपी पीपी) से प्रारम्भ होता था।<sup>३</sup> इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि जाति का मूल जन्म के आधार पर व्यक्तियों के वर्गीकरण में है। व्यवसाय या वित्त के आधार पर जातियाँ पतञ्जलि के समय तक नहीं पाई जाती थीं। भाष्य में यद्यपि जनक व्यवसायों की चर्चा है किन्तु उनके आधार पर जाति के नामकरण का उल्लेख नहीं नहीं मिलता। इस प्रकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, कर्मर, नापित जन्मकार आदि को भाष्य ने वित्तकार माना है, जाति-विशेष नहीं। इन्हें जाति रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ मान पड़ता है।

ब्राह्मण—भाष्यकार ने जिस क्रम से चारों वर्णों का उल्लेख किया है, वही उनके सामाजिक सम्मान का भी क्रम था। ब्राह्मणों का स्थान प्रथम था। भाष्यकार का काल ब्राह्मणों का सुव्यवस्थापन मान पड़ता है। 'ब्राह्मण शत्रिय विद्मः सूत्र' यह वर्णों की जानुपूर्वी थी जिसमें ब्राह्मण सूर्धन्य थे। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न विद्वान् तथा ब्राह्मणों के विहित कर्मों को करतेवाला व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता था।<sup>४</sup> इस प्रकार जन्म विद्या और कर्म इन तीनों बातों से वर्ण का निर्धारण

१ जननेन वा प्राप्यते सा जातिम चेतस्यार्थस्य प्रकर्षाधिक्यो स्तः—५ ३-५५, पु० ४७०।

२ तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।

तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥—२-२ ६, पु० २४०।

३ ६ ३ ४१ कासिका।

४ ४-१ १४ पु० ३६ तथा ४ १ १७७ ७८।

५ ४ १ १६२।

६ ५ १ ११५, पु० ३४०।

७ २-२-३४ पु० ३९१।

८ शीघ्रि वस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।

एतच्छब्दे विजानीहि ब्राह्मणापत्यस्य सत्त्वम् ॥—४-१ ४८, पु० ६२।

होता था। ब्राह्मण क्षत्रिय वाचि सम्बन्ध गुणों के आचार पर प्रयुक्त होते थे। अथवा शास्त्रात्म्यास और तपस् (श्रेष्ठ कर्म त्याग) ये किसी व्यक्ति को ब्राह्मण बनाते थे। जो व्यक्ति विद्या तथा तप से हीन होता था उसे जाति-ब्राह्मण (केवल जन्म से ब्राह्मण) कहते थे।<sup>१</sup> इनके अतिरिक्त ब्राह्मण के परिचायक कुछ बाह्य लक्षण थे। ब्राह्मण प्रायः गौरवर्ण सुखाचरण विमलस्रग् और कपिलश्रेष्ठ होते थे। ये लक्षण भी ब्राह्मण की परिमाणा के अन्तर्गत थे और उन्हें देखकर लोग व्यक्ति के ब्राह्मण होने का अनुमान कर लेते थे।<sup>२</sup> फिर भी जिस प्रकार किसी समुदाय के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द उसके अर्थवर्णों के लिए भी प्रयुक्त होता है उसी प्रकार उपर्युक्त समस्त गुणों से युक्त व्यक्ति को भी ब्राह्मण कहते थे और उनमें से एक या दो से हीन को भी। उदाहरणार्थ, बैठकर मस-स्वाम करना भोजन करना ये ब्राह्मण के युग थे किन्तु यदि कोई ब्राह्मण सवे-सक मूत्र स्वाम करता या चम्पे चम्पे खाता था तो भी उस ब्राह्मणवाचर को ब्राह्मण कहा ही जाता था। गौर धूम्राचार आदि गुणों से युक्त व्यक्ति अथवा वर्णों में भी थे। ऊपर-ऊपर क सम्पत्तियों से भी कमी कमी उनके ब्राह्मण होने की भांति हो जाती थी। बाद में पता चला कि वह ब्राह्मण नहीं है। ऐसे प्रकरणों में सन्नेह भांति का कारण होता था और जाति सन्नेह निवारण करती थी। किसी ने किसी स्वाम के विषय में यह बिया कि वहाँ ब्राह्मण मिलेगा। वहाँ जाकर जो व्यक्ति देखा उसे ब्राह्मण समझ लिया। ऐसे प्रकरणों में भाति निर्बन्ध सन्नेह का कारण होता था और जाति ज्ञान उचका निवर्तक। फिर भी सन्नेह समान-स्व-गुणवालों के विषय में ही हो सकता था। उच के समान काले रंग के पुंस्य को ब्रुकान पर बैठे देखकर उसके विषय में किसी को ब्राह्मण होने का सन्नेह नहीं होता था।<sup>३</sup>

भाष्यकार के इस धर्मूर्ण कथन से कई बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि ब्राह्मणों का वर्ण गौर था। मायब ही कोई ब्राह्मण काल रंग का हो। रंगों का भिन्न भाग चम्पकर हुआ। बूधरे, वर्ण अविमान एव उन्नता का श्रेष्ठक था। इस वर्ण (रंग) के आचार पर ही निवर्ण की सृष्टि हुई थी। तीसरे, ब्राह्मण सामान्यतया तप-स्वाम्याचर-रथ समाज था। पथ से घामव ही कोई ब्राह्मण जीवन-यापन करता हो। पीने जो ब्राह्मण अपनी मर्त्या का उत्सर्जन करते थे वे इस सृष्टि से देख जाते थे किन्तु ब्राह्मण माने जाते थे।

वर्ण और जाति दो पृथक् वस्तुएँ थीं। जाति जन्म से प्राप्त हो जाती थी। उसमें बट बट की स्वाम न था। जो जिस गोन में उत्पन्न होता था जिस चरण में पुनर्जन्म पाता उसी के नाम पर उसकी जाति पुकारी जाती थी। चरणों के आचार जाति केवल द्विजम्मा विद्येयत कुछ ब्राह्मणों की होती थी। व्यवसाय या सिन्ध के आचार पर भी वर्ण थे। जो जिस व्यवसाय के

१ सर्व एत इन्द्रा मुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति। वीर्य-  
धूम्राचारः, पिङ्गसः, कपिलश्रेष्ठाः, इत्येतानप्यम्बतरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति। समुदाये  
ब्राह्मणसम्बन्ध प्रवृत्तोऽप्येवैवपि वर्तन्ते जातिहीने गुणहीने च।—न ह्ययं कश्चिं सत्त्वादिचर्चभाषण  
आशीर्षं बृह्वाप्यवस्यति ब्राह्मणोऽप्रमिति।—२-२ ६, पृ० ३४०।

२ २-२ ६, पृ० ३४०।

३ वही।

परिवार में उत्पन्न होता बही उसका व्यवसाय होता था पर ऐसा कोई नियम न था। धीरे-धीरे कर्मार, कुम्भकार, मासाकार आदि परिवार में उत्पन्न लोगों की जाति भी कर्मार आदि होने लगी। इस समय जाति केवल कुस या बंध की परिचायिका थी। इससे अधिक उसका कोई महत्व न था। वर्ण का क्षेत्र इतना व्यापक न था यद्यपि वह जाति से उच्च कोटि की वस्तु थी। वर्ण अनायास नहीं प्राप्त हो जाता था। उसके लिए तदुचित गुण-कर्म और स्वभाव का अर्जन आवश्यक था। उदाहरणार्थ ब्राह्मणत्व के लिए तप और श्रुति ये बर्हताएँ निश्चित थीं। इस प्रकार, पतञ्जलि-काण्ड में वर्ण और जाति मात्र के समान परस्पर उसने हुए न थे। वे पृथक्-पृथक् समझे और माने जाते थे। भाष्य के ब्राह्मणकारक और जाति-ब्राह्मण' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जाति-ब्राह्मण ब्राह्मण से छोटा माना जाता था। आगे चलकर वर्णकारकत्व हीन होता गया और जाति प्रमुख बनती गई। यहाँ तक कि वर्ष को अपने अस्तित्व के लिए जाति का आश्रय लेना पड़ गया।

धूम्राधार वैश्वानर व्यवहार में परिमिश्रित था। ब्राह्मण नित्य दन्त-मार्जन स्नान आदि करते थे। भाष्य का 'ब्राह्मण के दंत शुक्ल हैं शृणु के कृष्ण हैं' यह कथन इस ओर संकेत करता है।' शुचिता समाज में ब्राह्मण को उच्च स्थान दिखाये थी।' शिष्ट ब्राह्मणों का पक्ष सामान्य ब्राह्मण से ऊँचा था। आर्यावर्त के वे ब्राह्मण जो केवल दिन-दो दिन स्नाने मर से अधिक धान्य शक्ति नहीं करते थे सोमपुत्रा से अस्यूष्ट रहते थे इन्द्रियों के बर्धामृत नहीं होते थे और पोड़े बहुत अन्तर से किसी-न-किसी एक विद्या में पारंगत अभ्यस्य होते थे वे शिष्ट कहलाते थे। केवल शास्त्र-पारंगत शिष्ट नहीं माने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि केवल शास्त्र जाननेवाले को शिष्ट कहने में अस्योन्याय्य दोष है क्योंकि शास्त्र से शिष्टि प्राप्त होती है और शिष्टि से शास्त्र।' इसलिये, कुम्भीयान्य अलोक्ष्य असुह्यमानकारण विद्या-विशेष-पारंग-आर्यावर्तीय ब्राह्मण को शिष्ट कहना चाहिए। नियमित स्नानादि क्रियाएँ करनेवाले ब्राह्मण भोगवान् कह जाते थे।' शिष्ट भोगवान् आदि विशेषण ब्राह्मणों को तप आचार, स्वाध्याय की प्रेरणा से लिए थे। कुछ बात तो ब्राह्मण के लिये अनिवार्य थीं। उसे शब्द-विद्या या व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। भाष्यकार ने अष्टाध्यायी को शिष्टज्ञानार्थ' कहा है। अष्टाध्यायी का अभ्ययन करनेवाला

१ २-२ १ पु० ३४०।

२ अत्राह्योर्ध्वं यस्तिष्ठन् मूर्धयति। अत्राह्योर्ध्वं यो यच्छन् धमयति।—२-२-६, पु० ३४० तथा २ २-११, पु० ३४५।

३ वही।

४ एतस्मिन्नार्यनिवासे वे ब्राह्मणः कुम्भीयान्या अलोक्ष्या असुह्यमानकारणः किञ्चिदक्षरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगतमभवत् शिष्टः।—६-३ १०९, पु० ३५९।

५ वही।

६ ५ १ ९, पु० ३००।

७ आ० १ पु० ३।



ही जान सकता है कि कौन सिद्ध है और कौन नहीं।<sup>१</sup> बिना व्योकरण के अपसर्गों का सम्बन्ध ज्ञान नहीं होता। अपसर्ग स्पेक्ष हैं। यदि ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन न करता तो वह स्पेक्ष (अपसर्ग) शब्दों का प्रयोग कर स्पेक्षम और अपभाषण के दोष का भागी माना जाता।<sup>२</sup> मनीषी ब्राह्मण नाम वाक्यात् उपसर्ग और निपात इन चारों में सीमित पदों को जानत थे। वे जानते थे कि परा पश्यन्ती मध्यमा और बैधरी में कितना कौन-सा स्थान है और मनुष्य की कौन-सी शक्ति व्यक्तिकार में दिखाई पड़ती है और कौन गुण रहती है।<sup>३</sup>

श्रुति का अध्ययन ब्राह्मण का धर्म था। इसी से उसे ब्रह्म्य या ब्राह्म्य प्राप्त होता था। श्रुति का अधीनी ब्राह्मण शोभित कहलाता था। शोभित का स्वभाव या अध्ययन-कर्म शीत कहा जाता था।<sup>४</sup> एतदर्थं जगत् से वाठर्यं बर्षं उसका उपनयन कर दिया जाता था और उससे श्रुति का अध्ययन प्रारम्भ कराया जाता था। ब्राह्मण-मासक के माता पिता एतदर्थं बालक को बचपन से तैयार करते थे। उसके अनेक सांख्यिक कर्मों में सांख्यिक मास भी था जो ब्राह्मण का ही कर्तव्य था।<sup>५</sup> इस प्रकार, यह उसका कष्ट-साध्य तप-पुत्र शपित-पुत्र सांख्यिक जीवन का जितने समाज में उसे अद्वितीय प्रतिष्ठित प्रदान की थी। उसकी यह प्रतिष्ठित शक्ति के नहीं त्याग और निःस्पृहता के कारण थी।

ब्राह्मण लोग मद्य नहीं पीते थे। अम्य बर्षों की स्त्रियाँ मद्य पी सकती थीं किन्तु ब्राह्मणी के लिए मद्य सर्वथा बन्धित थी। शास्त्रों की आज्ञा थी कि मुरापा/ ब्राह्मणी को परलोक में पति का संयोग नहीं प्राप्त होता।

कुछ ब्राह्मण आयुष्यजीवी भी होते थे। ब्राह्मण के समस्त गुणों के वर्जन के साथ वे धन विद्या में जिसका महत्त्व अन्य विद्याओं से कम न था पारंग होते थे। ऐसे ब्राह्मण संमिष्ट रूप से एक साथ रहते थे। भाष्य में ब्राह्मणक जनपद का उल्लेख है।

ब्राह्मणों की संख्या समाज में अधिक थी। बहुत-से गाँवों में तो पाँच कायमूहों का छोड़कर शेष घर ब्राह्मणों के ही थे।<sup>६</sup> जहाँ ऐसा नहीं था वहाँ भी ब्राह्मणों के घर अन्तर, अर्थात् पाठ पाठ रहते थे। धाम्य ही कभी उनके बीच में बृषक-कुल रहता था।<sup>७</sup>

भाष्यकार का युग विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणों के अरम उत्कर्ष का युग नहीं था। अब

१. ६-३ १०९, पृ० ३५९।

२. भा० १ पृ० ४।

३. भा० १ पृ० ७।

४. ५ १ १२५।

५. ५ १ १३०, पृ० ३३६।

६. ६ १-८४ पृ० ११६।

७. या ब्राह्मणी मुरापी अवति मेनां देवाः पतिमोर्कं नयन्ति।—३-२-८, पृ० ३११।

८. ५-२-७१।

९. ब्राह्मणग्राम आसीत्तामित्युच्यते तत्र आचरन् पश्यन्कापनीभवति।—१ १४८, पृ० २९।

१०. १ १-७, पृ० ११५।



में पाकित का। उदाहरणार्थ इन्द्रवर्मन् अग्नि और इन्द्रपाकित वैश्य का नाम होता था।<sup>१</sup> ब्राह्मण नाम इन्द्रवत् वेदवत् यज्ञवत् आदि होते थे।

**वैश्य**—अग्नि और वैश्य की स्थिति ब्राह्मण और क्षत्र के सम्य थी। क्षत्र के अभिवादन के उत्तर में वाम्य की टि को प्युठ नहीं किया जाता था किन्तु ब्राह्मण के अन्त में वयस्य किया जाता था। अग्नि और वैश्य के अन्त में प्युठ विकल्प से होता था।<sup>२</sup> इससे स्पष्ट है कि वे व्याकरण में न विशेष बल होते थे और न उससे अनभिज्ञ ही।

वैश्य को विद् भी कहते थे। वैश्य की स्थिति अग्नि से कुछ ही नीचे थी। इनके नाम पाकितान्त या पुप्यान्त होते थे जिससे स्पष्ट है कि वे समाज द्वारा रक्षित रहते थे। वैश्य सम्पत्ति या री के उत्पादक थे। माज्य न माण्डवर्मि और कायसरकि इन वैश्य-गोत्रों के नाम आये हैं।<sup>३</sup>

**क्षत्र**—क्षत्रों का स्थान अन्तिम था। क्षत्र को प्रकार के व्यक्ति कहलाते थे—(१) वे ब्राह्मण अग्नि और वैश्य को शास्त्र-विहित स्वकर्तव्यों का पालन न कर क्षत्रवत् जीवन व्यतीत करते थे। अधिष्ठित सम्पत्तिहोत्र-विरहित अर्मयमी ब्राह्मण भी क्षत्र माने जाते थे और (२) क्षत्र माता-पिता से उत्पन्न सन्तान। इस प्रकार, कर्म-क्षत्र और जन्म-क्षत्र को प्रकार के क्षत्र थे। कर्म-क्षत्र तो ह्य दृष्टि से देखे ही जाते थे उन्हें कोई भी ब्राह्मणोचित व्यवहार प्राप्त नहीं होता था। जिस वध में कोई क्षत्र होता था उसे भी कुछ अधिकारों से वञ्चित रहना पड़ता था। उदाहरणार्थ यदि किसी ब्राह्मण-परिवार में कोई क्षत्र उत्पन्न हो जाता तो उस परिवार का वध पीढ़ी तक सौमपात का अधिकार छिन जाता था।<sup>४</sup> क्षत्र जाति की स्त्री क्षत्रा कहलाती थी। क्षत्र की भार्या उसकी स्त्री होने के नाते मरने ही वह वक्षत्रा ही क्षत्री कही जाती थी। क्षत्र स्त्रियों में अधिक सम्मानित स्त्री को महाक्षत्रा कहते थे।

क्षत्रों की बनेकों जातियाँ थी। जो लोग नृति लेकर काम करते थे वे सब क्षत्र माने जाते थे। कारवायन ने महाक्षत्र जाति भी मानी है। काशिका के अनुसार आभीर को महाक्षत्र कहते थे। भीरर भी क्षत्रों में गिने जाते थे।<sup>५</sup> भाष्यकार ने भी आभीर को क्षत्र कहा है।<sup>६</sup> रविकारों का

१ मो राजस्य विद्या वेत्ति वाक्यम् राजस्य इन्द्रवर्मिहो मो। आमुष्मानेवीन्द्रवर्मिहम् विद् इन्द्रपाकितोऽहो मो। आमुष्मानेवीन्द्रपाकितो ३ इन्द्रपाकित।—८-२-८३, पृ० ३८८।

२ वही।

३ २-२-३४ पृ० ३९१।

४ आ रेवातेतु मो विद्य।—८-२-१५, पृ० ३३९।

५ २-४-५८ पृ० ४९३।

६ एवं हि याजिकाः पठन्ति ब्रह्मपुस्तकं यत्प गृहे शूद्रा न विद्येत् स घोर्म निवेदिति।—

४-१-९३, पृ० १२०।

७ ४-१-४, पृ० २६।

८ वही।

९ महाक्षत्राणो ह्याभीरजातिवचन।—४-१-४ काशिका।

१० ४-१-१४, पृ० ३५।

११ १-२-७२, पृ० ६०७।

स्थान धूर्तों में सबसे ऊँचा था। वे त्रिवच स कुछ ही नीचे थे।' तन्नुवाय कुम्भकार, नापित स्वप्ता, कर्मार, अयस्कार, रजक चमकार य सब धूर्तों के अन्तर्गत थे। सारी 'कारि' जातियाँ धूर्त थीं। कृत्कारों का स्थान धूर्तों में भी नीचा था।

धूर्तों की संख्या बहुत अधिक थी। वास्तव में आर्यावर्तीय विषणों को छोड़कर शेष सब की गणना सामान्यतया धूर्तों में की जाती थी। इनमें आर्यवर्तित से बाहर के भी लोग थे और आर्यावर्तीय भी। बाहर के लोगों में किष्किन्ध-मन्थिन एक यवन धौर्य श्रौच आदि थे। आर्य वस्तिव्यों—ग्राम धोफ, नगर, संबाह आदि—स बाहर रहनेवाले षण्डास मूठप भी धूर्त थे। बस्ती के भीतर रहनेवाले किन्तु यज्ञ-कर्म से बहिष्कृत तथा अयस्कार रजक तन्नुवाय आदि भी धूर्त थे यद्यपि इनका दर्जा विशेष नीचा न था। जिनके द्वारा स्वर्ण क्रिये पय पात्र अयविक्र माने जाते थे वे जातियाँ भी धूर्त कहलाती थी।

धूर्त अक्षिप्त थे। व्याकरणादि का ज्ञान इन्हें न था अतः अग्निवादन क प्रत्युत्तर में इनके त्रिष्कृत नहीं किया जाता था। इस विषय में इनकी स्थिति स्थिरा जैसी थी। उणाहुरणार्थ परि तुपत्रक ब्राह्मण का प्रणाम करता तो वह उत्तर में कहता था 'कुसली तो हा तुपत्रक ?'

निरक्षिप्त—धूर्त दो श्रेणियों में विभक्त थे—निरक्षिप्त और अनिरक्षिप्त। तथा अयस्कार, रजक तन्नुवाय आदि अनिरक्षिप्त थे और षण्डास मूठप आदि निरक्षिप्त। अनिरक्षिप्त लोग त्रिवर्णों के पात्र छू सकते थे किन्तु निरक्षिप्त नहीं। निरक्षिप्त निम्नतम बोटि के धूर्त थे। य यदि किसी त्रिवर्ण के पात्र में लापी सेत य तो त्रिवर्ण इस पात्र को संस्कार द्वारा शुद्ध करने भी व्यवहार में नहीं ला सकते थे यद्यपि कुछ अन्य निम्न धूर्ता द्वारा व्यवहृत त्रिवर्णों के पात्र अन्यादि द्वारा शुद्ध करके काम में से लिये जाते थे। निरक्षिप्त धूर्त पाँचों क बाहर रहते थे। इनके और त्रिवर्णों के घरों के बीच घुसी रहती थी। इनके घर पाँच क छोर पर होते थे। यद्यपि बड़े-बड़े नगरों में वे नगर क बीच भी रहते थे।'

बृपस—बृपस को धूर्त का पर्याय कहा गया है। ब्राह्मण स धूर्ता में उत्पन्न सन्तान बृपस कही जाती थी। मनुस्मृति में अंगुष्ठ वरर लघु यवन दाक आदि क्षत्रिय-जातियों को बृपस-भाव को प्राप्त बतलाया गया है। इस दृष्टि स बृपस के प्रति समाज में द्वेष-भाव नहीं होना चाहिए, उल्टे उनका स्थान धूर्त से ऊपर माना जाना उचित था। किन्तु भाष्य में जिस प्रकार बार-बार बृपस का स्मरण किया है, उल्टे उल्टे प्रति अरपन्न हेच दृष्टि तथा द्वेषबुद्धि का पता चलता है। बृपस बस्य, चोर और दास की स्थिति लगभग समान थी। बासी और बृपसी के प्रति कामुकता

१ शैबर्मिहिस्य किष्किन्धाम्पूता रयकारजातिः ।—४ १ १५१ काशिका।

२ ४ १ १५२ काशिका।

३ ८-२-८३, पृ० ३८७।

४ १ १ ३६ काशिका।

५ एवमपि य एते महम्मः संस्थाया स्तेष्वम्यन्तरत्तच्छब्दात्ता मृतपात्रक वसन्ति ।—२ ४

का व्यवहार यद्यपि अविष्ट माना जाता था तथापि समाज में प्रचलित था और दृश्य नहीं था। बाही और बुपली का सावृत्त निम्ना का चोतक था।<sup>१</sup> भाष्य में कामुकता की पाषी के रूप में अनेक बार बाही और बुपली का साध-साय उल्लेख है।<sup>२</sup> दस्यु, चोर और बुपल को नीच स्वभाववाला माना जाता था। वास्तविकरूप में प्रसंसा-अर्थ में इन तीनों के आये रूपम् प्रत्यय कर बुपलरूप दस्युस्य चोरस्य इन शब्दों का प्रयोग सामान्य से अधिक बुपल दस्यु या चोर बतलाया है। और फिर यह कहकर कि प्रसंसार्य में प्रत्यय न करके प्रहृत्यर्थ-वैत्यष्ट्य में प्रत्यय कर देना पर्याप्त बतलाया है और उदाहरण दिया है कि यह बुपलस्य अर्थात् असली बुपल है। यह न केवल प्याज खा जा सकता अपितु उसके साथ सुरा भी पी सकता है। यह चोरस्य या पक्का चोर है। यह पाहे तो वीलों का नाजस से भाय। यह दस्युस्य या वास्तविक दस्यु है। यह भागते हुए का भी बून पी सकता है। ये उदाहरण इन तीनों के स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बुपल अमल्यभोजी और सुरापानी होते थे। समाज उनसे घृणा कष्टा था उनकी स्त्रियों को उपभोग्य बनाने में स्थानि या पाप का भय नहीं मानता था। बुपल का ताबन सामान्य बात थी। वे छातों से भी पीटे जाते थे।<sup>३</sup> एक स्थान पर उसे ब्राह्मण्य अर्थात् कुत्तों द्वारा मरवा डालने योग्य अथवा कुत्तों की मीठ मरने योग्य कहा है।<sup>४</sup> पाप श्रेय है और बुपल वेय है, यह सामान्य कहावत थी। बुपल गन्ध भी रहते थे। उनके दाँत काले और मँके होते थे। बुपल एक गाम्भी थी। असूयक यदि अग्नि-बाधन के साथ बड़े व्यक्ति का अपमान करता तो वह आधीर्वाद न देकर कहता 'नीच तु असूयक है। तू प्रत्यग्निबाध का अधिकारी नहीं। अरे वा बुपल तेरे दुकड़े-दुकड़े' हों। जब बुपल को यह स्थिति थी तब ब्राह्मण को ऊँचा और बुपल को नीचा स्थान मिलना स्वाभाविक था।<sup>५</sup> इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं यदि एक साथ नदी पार करने के लिए बुपल और ब्राह्मण पहुँचते तो मत्स्याह बुपल को तट पर छोड़कर ब्राह्मण को पहले पार उतार देता था।<sup>६</sup> भाष्य में चोर और बुपल को

१ २ ३ १९, पृ० ४५६।

२ ६ २-११ पृ० २५४।

३ २-३-६९, पृ० ४५६ तथा वात्सा सम्प्रयच्छते बुपत्या सम्प्रयच्छते। यो हि सिद्ध व्यवहारे ब्राह्मणीय-सम्प्रयच्छतीत्येव ।—१ ३-५५, पृ० १९।

४ ५ ३-६६, पृ० ४६०।

५ १ ३ २८, पृ० १६।

६ ३ १ १०७, पृ० १८४।

७ १ १-५ पृ० ३०५।

८ २-२-८, पृ० ३४३।

९ ८ २-८३, पृ० ३८८।

१० वही।

११ २-२ ११ पृ० ३४५।

१२ २-३-३६, पृ० ४३१।

संतापित करने 'साध-साध बिककारने' का इस प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे जोर और दस्यु के समान बृषभ होना ही अपराध या पाप की बात हो।

इस प्रकार, बृषभों की स्थिति धूर्तों से बहुत नीची थी। भाष्य में एक बार भी धूर्त का उल्लेख निरावार के साध नहीं हुआ है यहाँ तक कि निरक्षित धूर्तों के प्रति भी कहीं दुर्भावना की गद्य नहीं मिलती। वृषभ की स्थिति भिन्न थी। वृषभ पुरुष उच्च वर्णों की छात-गासी के अधिकारी थे और स्त्रियाँ उनकी काम-वृत्ति की वृष्टि का साधन।

आर्य और वासि—आर्य और वासि इन दोनों का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है। आर्ययुवत् आर्यकुटी आर्या आर्याणी आर्यकुमार आर्यनिवास इन शब्दों का प्रयोग आर्यों के सम्बन्ध में मिलता है। उदाहरणों में आर्य और क्षत्रियप्राय साध-साध ही आये हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्य और क्षत्रिय समीचीन व्यवस्थ थे। विवर्ण आर्य कहलाते थे। वासि आर्यों से बहिर्गत थे। सम्भवतः वे आर्यकृत होते थे और उनपर उनका पूरा अधिकार होता था। वासियों का स्तर वृषभों के समकक्ष था। वे भीभी मजदूर से बेसे आते थे पर द्रव्य वृष्टि से नहीं। क्रीत और परिश्रित वासियों में अन्तर था। परिश्रित निश्चित द्रव्य से विशिष्ट काल के लिए नियुक्त कर्मकर होते थे और क्रीत विशिष्ट द्रव्य द्वारा तबतक के लिए, जब तक वह राशि लौटा नहीं जाय। इस व्यवधि में उनके मरण-भोग का भार उनके आर्य या स्वामी पर रहता था। स्वामी या स्वतन्त्र जन का बोधक वर्ष शब्द आर्य से भिन्न था। पाणिनि ने दासी-भार शब्द का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने इस शब्दा शब्द को बहुवचन माना है। डॉ० वा० स० अग्रवाल के मत से स्वामी द्वारा दासी की प्रसूतावस्था का दायित्व तथा व्यवस्था ही दासी-भार है। अर्थात्स के अनुसार गर्भवती दासी को बिना प्रसव की समुचित व्यवस्था के रोक देना अपराध था। किन्तु, दासी के प्रसव का भार दासी-भार क्यों था। उधे तो वासि-भार मानना चाहिए यदि वह गर्भ उसके पति का हो। इस

१ २-३-५४ पृ० ४७०।

२ २-३-२, पृ० ४०५।

३ ८४ ११ पृ० ४८०।

४ ४ १ ३०।

५ ४ १ ४९, पृ० ६२।

६ ६-२-५८।

७ ६-३-१०९, पृ० ३५९।

८ ४ १ ४९, पृ० ६३।

९ १ ४ ४४।

१० ३-१ १०३ तथा आर्यस्वामी, वही, पृ० १८२।

११ ६-२ ४८, पृ० २५९।

१२ वही।

१३ इण्डिया ऐज लोन डू पाणिनि पृ० ७९।

१४ अर्थात्स अनु०, पृ० २०७।

का व्यवहार यद्यपि अघिष्ट माना जाता था तथापि समाज में प्रचलित था और दृश्य नहीं था। दासी और बृषणी का सावृत्त निम्न का घोटक था।<sup>१</sup> भाष्य में कामुकता की पापी के रूप में अनेक बार दासी और बृषणी का उदाहरण उल्लेख है।<sup>२</sup> वस्तु, और और बृषण को नीच स्वभाववाला माना जाता था। नास्तिककार ने प्रसंघा-वर्ष में इन तीनों के बारे में वस्तु प्रत्यय कर बृषणरूप वस्तुव्यय औरव्यय इन शब्दों का प्रयोग सामान्य से अधिक बृषण वस्तु या और बतलाया है। और फिर यह कहकर कि प्रसंघा-वर्ष में प्रत्यय न करके प्रकृत्यर्थ-वैतन्व्य में प्रत्यय कर देना पर्याप्त बतलाया है और उदाहरण दिया है कि यह बृषणरूप वर्णित वसन्ती बृषण है। यह न केवल प्याज का सक्ता अपितु उसका घाव घुरा भी पी सकता है। यह औरव्यय या पक्का और है। यह धाँसे तो भीनों का काजल के साथ। यह वस्तुव्यय या वास्तविक वस्तु है। यह भागते हुए का भी बूत पी सकता है। ये उदाहरण इन तीनों के स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बृषण वसन्तमोमी और मुरापायी होते थे। समाज उमर गुना कठोर या उमरकी स्त्रियों को उममोम्या बनाने में शक्ति या पाप का भय नहीं मानता था। बृषण का उदाहरण सामान्य बात थी। वे शक्तों से भी पीटे जाते थे।<sup>३</sup> एक स्थान पर उसे दबावात्य अर्थात् कुत्तों द्वारा मरवा डालने योग्य अथवा कुत्तों की मीठ मरने योग्य कहा है।<sup>४</sup> पाप ज्ञेय है और बृषण भय है, यह सामान्य कहावत थी। बृषण मन्त्रे भी रहते थे। इनके दंत फाले और मीठे होते थे।<sup>५</sup> बृषण एक गाली थी। असूयक यदि अग्नि-वाहन के साथ दड़े व्यभिच का उपमान करता तो वह धात्रीवति न देकर कहता 'नीच तू असूयक है। तू प्रत्ययिवाप का अपिकारी नहीं। अरे या बृषण तेरे दुकड़े-दुकड़े" हों। जब बृषण की यह स्थिति थी तब ब्राह्मण को ऊँचा और बृषण को नीचा स्वान मिलना स्वाभाविक था।<sup>६</sup> इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं यदि एक साथ नहीं पार करने के लिए बृषण और ब्राह्मण पहुँचते तो मस्साह बृषण को टट पर छोड़कर ब्राह्मण को पहले पार उतार देता था।<sup>७</sup> भाष्य में और और बृषण को

१ २-३-६९, पृ० ४५६।

२ ३-२-११ पृ० २५४।

३ २-३-६९, पृ० ४५६ तथा दास्या सम्प्रयच्छते, बृषण्या सम्प्रयच्छते। यो हि सिष्ट  
व्यवहारे ब्राह्मणोऽप्य सम्प्रयच्छतिषेव ।—१-३-५५, पृ० ६९।

४ ५-३-६९, पृ० ४६०।

५ १-३-२८, पृ० ६५।

६ ३-१-१०७, पृ० १८४।

७ १-१-५० पृ० ३०५।

८ २-२-८, पृ० ३४३।

९ ८-२-८३ पृ० ३८८।

१० यही।

११ २-२-११ पृ० ३४५।

१२ २-३-६९, पृ० ४३१।

संघापित करने 'साय-साय धिक्कारने' का इस प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे और और बस्यु क समान रूपस होना ही अपराय या पाय की बात हो।

इस प्रकार, रूपसों की स्थिति सूत्रों से बहुत नीची थी। भाष्य में एक बार भी सूत्र का उल्लेख निरावर के साथ नहीं हुआ है, महावक्त्र कि निरवमित सूत्रों के प्रति भी कहीं दुर्भावता की गन्ध नहीं मिलती। रूपस की स्थिति भिन्न थी। रूपस पुण्य उच्च वर्णों की कान-गाली के अधि कार्य से और स्थियाँ उनको काम-वृत्ति की सृष्टि का साधन।

भार्य और शस्त्र—भार्य और दास इन दोनों का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है। 'भार्यवृत्त' 'भार्यकृती' 'भार्या' 'भार्यानी' 'भार्यकुमार' 'भार्यनिवास' इन शब्दों का प्रयोग भार्यों के सम्बन्ध में मिलता है। उदाहरणों में भार्य और शत्रिय प्रायः साथ-साथ ही 'भार्य' है। इससे अनुमान होता है कि भार्य और शत्रिय समीची अवश्य थे। विवर्ष भार्य कहलाते थे। दास व्यापों में बहिर्गत थे। सम्भवतः वे भार्यकृत होते थे और उनपर उनका पूरा अधिकार होता था। शर्मों का स्वर रूपसों के समकक्ष था। वे भीची नगर से देखे जाते थे पर इष्य सृष्टि से नहीं। श्रित और परिश्रित शर्मों में अन्तर था। परिश्रित निश्चित द्रव्य से विशिष्ट शाल के लिए नियुक्त कामकर होने से और श्रित विशिष्ट द्रव्य द्वारा उचितक के लिए, जबतक वह शक्ति लीटा न की जाय। 'इस अवधि में उनके मरण-वीचक का नगर उनके भार्य या स्वामी पर रहता था। स्वामी या स्वतन्त्र जन का बीचक वर्ष शब्द भाष्य से भिन्न था।' पाणिनि ने शामी भार शम्भ का उल्लेख किया है। 'पत्रं बलि ने इस संज्ञा शब्द को बहुवचन माना है।' 'हां० भा० श० अष्टाशत के मत में स्वामी द्वारा दासी की प्रभुतावस्था का दायित्व तथा व्यवस्था ही दासी-भार है।' अत्रशाम्य के अनुसार यमवचनी शामी को बिना प्रथम की समुचित व्यवस्था के बच देना अपराध था।' किन्तु, दासी के प्रथम का भार शामी भार क्यों था। जसे ठो शस्त्र-भार मानना चाहिए यदि वह यम उनके पति का हो। इस

- १ २-३-५४, पृ० ४४७।
- २ २-३-२, पृ० ४०५।
- ३ ८४ ११, पृ० ४८०।
- ४ ४ १ ३०।
- ५ ४ १ ४९, पृ० ६३।
- ६ ६ २-५८।
- ७ ६ ३ १०९, पृ० ३५९।
- ८ ४ १ ४९, पृ० ३३।
- ९ १ ४ ४४।
- १० ३ १ १०३ तथा भार्यस्वामी, वही, पृ० १८२।
- ११ ६-२ ४८, पृ० २५९।
- १२ वही।
- १३ इन्द्रिया ऐत्र शेष इ पाणिनि पृ० ७९।
- १४ अर्थशास्त्र अमृ० पृ० २०७।



स्विति में पति उसका भारवाह होता स्वामी नहीं। यदि दोनों स्वामी की चर्मा में होते तो भी वह भार दास भार कहलाता क्योंकि एक तो स्वामी की अपेक्षा उसका दायित्व दास पर अधिक होता। दूसरे यदि वह भार दोनों के कारण स्वामी पर होता तो भी पुस्तक की प्रचलना के कारण तत्पुत्र्य समास में दास भार शब्द का ही प्रयोग होता। फिर, दास की बीमारी या मृत्यु के समय का भार भी तो स्वामी पर ही रहता था। ऐसी स्थिति में दास भार शब्द का व्यवहार ही मिसना चाहिए था। दासी-भार शब्द संज्ञा अर्थात् किसी विशेष भार का बोधक है और वह भार ऐसा था जो दासी का ही हो सकता था दास का नहीं। यह भार निश्चय ही उसकी प्रसूति था था। दासी प्रसूत सन्तान के पाठन-समय का भार स्वामी को ही वहन करना पड़ता था क्योंकि वह सन्तान स्वामी की होती थी। यदि स्वामी द्वारा दासी से सन्तान उत्पन्न हो तो उसका भार स्वामी को वहन करना चाहिए, यह राजकीय व्यवस्था थी और उस दायित्व से बचने के लिए वह दासी को बिना प्रसव और प्रसूति की समुचित व्यवस्था किये किसी अन्य के हाथ नहीं बेच सकता था। व्यवस्था में बर्चित दण्ड इस नियम का उल्लंघन करनेवालों के लिए ही है। स्वामी द्वारा दासियों से सन्तान होना परत-विक्रि-काक में साधारण बात थी। भाष्यकार ने दासियों के प्रति स्वामियों की कामुक-भूति का बार-बार का उल्लेख किया है, उसके प्रकाश में 'दासीभार' शब्द का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है। स्वामियों से दासी से उत्पन्न सन्तानों को बाहर कहने से और यही वह भार था जिसका दायित्व स्वामी पर रहता था। यही कारण था कि 'दासा पुत्र' शब्द गाली माना जाता था। भाष्य में 'दासभार्य' का एकाधिक बार उल्लेख है।<sup>१</sup>

आदर्श पर्वत से पूर्व कालक वन से पश्चिम हिमालय से दक्षिण और पारियात्र के उत्तर का प्रदेश आर्यवर्त माना जाता था। इस प्रदेश के निवासी आर्य कहलाते थे। इस प्रदेश को आर्य कार ने आर्य-निवास कहा है। दास कर्मकर आर्यों के घरेलू नौकर होते थे बिनकी स्थिति अन्य निम्नी वैतनिकों से कहीं नीची थी। इन्हें स्वामी से भोजन वस्त्र और यथा-कथा परिभाषा (डॉट रुपट) प्राप्त होती थी।<sup>२</sup> जनपद-निवासियों के जो नाम जनपद के आचार पर होते थे उनमें भी आर्यों तथा अन्य जनों के बीच अन्तर किया जाता था।<sup>३</sup>

१ १-१५, पृ० ६९ तथा २-३ ६९, पृ० ४५६।

२ ४-१ ११४, पृ० १३८।

३ २-१ १ पृ० २३०।

४ ६-१-१०९, पृ० ३५९।

५ ३ १ २९, पृ० ७७।

६ ४-१ १६८, पृ० १६२।

## अध्याय ३

### संस्कार

भाष्य में नामकरण-पुत्राकर्म और उपनयन-संस्कारों का ही स्वतंत्र रूप से उल्लेख मिलता है। यमं प्रबन्त प्रसव गर्भकालीन स्वास्थ्य गर्भ को पिच्छीमूत रूप से 'इदमित्यम्' पिला सकने की अक्षमता आदि की अनेकज चर्चा होने पर भी संस्कार के रूप में गर्भाधान का वर्णन भाष्य में उपलब्ध नहीं होता और न पुंसवन-सीमन्तोद्गमन आदि की ही उसमें चर्चा है।

नामकरण—नाम जन्म से दस दिन बाद रखा जाता था। दस दिन तक अतीथ मनाया जाता था। भाष्यकार का 'दशम्युत्तरकालं जातस्य पुत्रस्य नाम विचम्पात्' (भा० १ पु० ९) कथन सतपथ-ब्राह्मण की प्रतिष्मनि-मात्र है।<sup>१</sup> नाम माता और पिता मिलकर निश्चित करते थे।<sup>२</sup> एतद्वर्ष न कोई बड़ा उत्सव किया जाता था और न विशेष मण्डप बनाया जाता था। नामकरण माता और पिता मिलकर घर के भीतर ही 'संवृत अवनान' में कर लेते थे।<sup>३</sup>

नाम रखने का विशिष्ट नियम थे। नाम का प्रारम्भ 'धोयवत्' ध्वजम से होता था। मध्य में अन्तस्य स्यजन रहता था। नृष अक्षर रहित तीन पीढ़ियों के नाम के अनुसार, सन्तुर्बर्भ में अप्रतिष्ठित हो या चार अक्षरवाला इन्द्रन्त नाम श्रेष्ठ माना जाता था। तद्विनाम्य नाम नहीं रखा जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (१ १७-१) तथा ब्राह्मण धर्मसूत्र (अध्याय ४) में भी इस कथन का समर्थन मिलता है। आदवकायन में द्वयक्षर को प्रतिष्ठा तथा अनुरक्षर को ब्रह्मवर्षसु का दायक बतलाया है।<sup>४</sup> पारस्कर<sup>५</sup> और वैजवाप<sup>६</sup> ने कन्या के नाम के लिए पृथक् नियम दिये हैं किन्तु भाष्यकार इस विषय में मौन हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य नामों में भी अन्तर रहता था। ब्राह्मण नामों के अन्त में वत्तादि, क्षत्रिय नामों के अन्त में 'वर्मन्' और वैश्य नामों के अन्त में पाकित्तादि वर्णबोधक शब्द रखे जाते थे। प्रत्यभिवाचेऽमूत्रे (८-२-८३) सूत्र के ब्राह्मिक 'मो राजन्यविद्या च' की व्याख्या में भाष्यकार

१ तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात् ।—शत० भा० ६-१ ३-९।

२ धीरमिन्द्रोद्यससंस्कार प्रकाश भाष्य १, पु० २४१ में उद्धृत वैजवाप।

३ लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संकृतेऽप्यकानो नाम कुर्यात् वैचरतो पत्नवत् इति ।—१ १, पु० ९५।

४ धोयवत्तावत्स्यस्यर्षं त्रिपुष्यानाकमनसिप्रतिष्ठितं तद्वि प्रतिष्ठिततमं सवति । इयत्तर् अनुरक्षरं वा नामकृतं कुर्यात् तद्विस्तम् ।—भा० १, पु० ०९।

५ भास्व० गृ० सू० १ १५-५।

६ पार० पु० सू० १ १७-३।

७ अक्षरमीकाराणां स्त्रिया ।—वैज० धीरमिन्द्रो० भाष्य १, पु० २४३।

द्वारा दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है। लुहों के नाम तुपञ्जक जादि सूरत्वबोधक होते थे। मनु के मत से ब्राह्मण का नाम मांगस्य क्षत्रिय का ब्रह्मन्वित वैश्य का वन-संयुक्त और घृह का अनुपस्थित होना चाहिए।<sup>१</sup> ब्यास के अनुसार ब्राह्मण का नाम शर्मन्त क्षत्रिय का शर्मन्त वैश्य की गुप्तान्त और घृह का दासान्त होना चाहिए।<sup>२</sup> भाष्य में शर्मन्त और दासान्त नामों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। मनुस्मृति-काष्ठ तक आते-जाते बर्णों का पारस्परिक अन्तर बहुत बढ़ गया जान पड़ता है। भाष्यकाष्ठ में अन्तर की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। भाष्य में उल्लिखित चौकड़ों नामों में इन नियमों का अनुसरण नहीं है। इसी प्रकार, परवर्ती काष्ठ में प्रचक्षित नक्षत्र मासवेवता और कुलवेवता के नाम पर रखे गये तथा काष्ठ-बिहित इन चौहारे नामों की भी भाष्य में बर्ण नहीं है। नक्षत्र नाम पर रखे गये नामों का उल्लेख भाष्य में अवश्य है किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरे चौकड़-बिहित नाम का उल्लेख भाष्य में नहीं मिलता। मुद्गासूत्रों को भी नक्षत्र-नाम तथा चौकड़-नाम से बोधी इष्ट थे। स्मृतियों तथा ज्योतिष-ग्रन्थों में अन्व हो नामों की भी बर्ण है। इस युग में प्रत्येक काष्ठ-विभाग का एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा था। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (१ १५४) में नक्षत्र और नक्षत्र-देवता के नाम पर नाम रखने का विधान है। शंख और सिञ्चित ने पिता या अन्य कुल-बुद्ध को नक्षत्रों से सम्बद्ध नाम रखने का आदेश<sup>३</sup> दिया है। यह दूसरा नाम है। बौधायन गृह्यसूत्र में नक्षत्र-नाम को मुख्य कहा है। इसे केवल माता-पिता या परिवार के लोग ही जानते थे। आरवसायन के अनुसार इस नाम को उपनयन-काष्ठ तक अभिवादन के समय बोलना जाता था। पाणिनि ने नक्षत्र के आचार पर रखे जानेवाले नामों के सम्बन्ध में नियम<sup>४</sup> दिये हैं। कात्यायन और पर्वजन्मिके समय तक आते-जाते इस प्रकार के नामों में बिचिपता उत्पन्न हो गई थी। उदाहरणार्थ शबिष्ठा या आपाडा नक्षत्र में उत्पन्न होनेवाले क नाम शबिष्ठा या शबिष्ठीय और आपाडा या आपाडीय दोनों हो सकते थे। इसी प्रकार, पर्वजन्मिके समय में लङ्कियों के नाम भी नक्षत्रों पर रखे जाने लगे। महाभाष्य में बिना रेखती रोहिणी फलानुनी आदि कन्याओं के नाम मिलते हैं।

मार्ग्य और शंख द्वारा प्रतिपादित मासवेवता और कुलवेवता से सम्बद्ध नामों का प्रकार पर्वजन्मिका-काष्ठ में नहीं था। नक्षत्र-देवताओं से सम्बद्ध नाम भाष्य में अवश्य जाय हैं। नक्षत्र तथा उनके सम्बद्ध देवता निम्नलिखित माने जाते थे—

१ मनु० २ ३१।

२ ब्यास राजवली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० १३८ पर उद्धृत।

३ नक्षत्राचारमन्त्रकं पिता वा कुमाराण्य कुलबुद्ध इति—वीर० मि संस्कार प्र भाष १, पृ० २३७ पर उद्धृत।

४ नक्षत्रनामधेयेन द्वितीयं नामधेयं गुप्यम्।—बौधा० पृ० सू०, बीरमित्रो०, भाग २, पृ० २३० पर उद्धृत।

५ भाष्य० पृ० सू० १ १५ ९।

६. ४ ३-३४ तथा ८ ३-१००।

७. ४-३-३४ पृ० २३२।

नसत्र	देवता	नसत्र	देवता
अदिबनी	अस्त्रि	स्वाति	बापु
मरवी	यम	विशाखा	इन्द्राग्नि
हृत्तिका	अग्नि	मनुराषा	मित्र
रोहिणी	प्रजापति	ष्यष्ठा	इन्द्र
भूपधिरस्	सोम	मूल	निष्कृति
आर्द्रा	रुद्र	पूर्वाषाढा	मातृ
पुनर्वसु	अश्वि	उत्तराषाढा	विश्वदेवा
पुष्य	बृहस्पति	धनुष	विश्व
आरक्षेया	सप	घनिष्ठा	बभ्रु
मघा	पितृ	घतमिक	बभ्रु
पूर्वाषाढा	मग	पूर्वभाद्रपद	अश्वि
उत्तराषाढा	अयमन्	उत्तरभाद्रपद	अहिबुध्न्य
हस्त	सश्वि	रेवता	पुष्य
चित्रा	त्वष्ठा		

ब्रह्मकर्म—ब्रह्मकर्म को माप्यकार ने भीष्म (षोड) संस्कार कहा है।<sup>१</sup> यद्यपि इनके विषय में विरोध विचरन माप्य में नहीं मिलता किन्तु भी अन्यत्र उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति बनी मुण्डी कमी जाती और कमी दिखायी हो सकता था।<sup>२</sup> मुग्धप्राम् सम्पूर्ण सिर का कटा दिया जाता था। कमी-कमी दिखा रोप रख दी जाती थी किन्तु दिखा ना होना अनिवार्य नहीं था। सम्पूर्ण मुण्डन के लिए ही 'मद्राकरोति' या 'मद्राकरोति' शब्द माप्य में आया है। सम्भवतः मुण्डी और जटी के समान दिखायी होना भी एक केज + भूपा-भकार था। दिखाए एक स व्यक्ति भी हो सकती थी। उनकी संख्या प्रहरों के अनुसार ही होती थी।<sup>३</sup> आश्वमेध (११७) के अनुसार कुतबम के अनुकूल केच बनवान की प्रथा थी।<sup>४</sup> श्रीगाथी के अनुसार अशिष्टगोत्रीय लोग चित्ते-मध्य-भाग में एक दिखा रखते थे। अग्नि और कश्यप षण्ठी कलाम दोनों ओर दो दिखाएँ बालन करते थे। आगिरम् लोगों के पाँच दिखाएँ थीं। मृगुवधीय बिना जोटी व अर्पित् सर्वमुषिष्ठत एते थे।

ब्रह्मकर्म का बहुत महत्त्व था, क्योंकि उसके बाद ब्राह्मण को शिक्षना-पढ़ना प्रारम्भ

१ ब्रह्म प्रयोक्तव्यस्य शौकम् ।—५ १ १७, पु० ३४४।

२ देवहस्तो कश्यपि मुण्डयति शिशुमपि स्वामाख्यां न ब्रह्मति ।—१ १ १, पु० १०५।

३ ४ १-५४, पु० १६।

४ ५ ४ १७, पु० ४९८।

५ यद्यपि शिक्षां निब्रवीति ।—मातृ० पु० सू० १६-६ तथा बरहृ गृ० सू०, अ० ४।

६ यथाकुलपुत्रं केचिन्मृगु कारयेत् ।—आ० गृ० सू० १ १७।

७ वीरमिश्र०, भाग १, पु० ३१५ पर उद्धृत।

करना जाता था। चाणक्य ने भी सिंधि और संख्यान का प्रारम्भ ब्रूडाकर्म के बाद बताया है। माप्यकार ने ब्रूडाकर्म का समय नहीं बताया है। आश्वलायन के अनुसार तृतीय पंचम सप्तम या अष्टम वर्ष में जबका उपनयन के साथ ही ब्रूडाकर्म करना चाहिए।<sup>१</sup> पारस्कर और मनु प्रथम या तृतीय वर्ष का अन्त ब्रूडाकर्म का समय बताते हैं।<sup>२</sup>

उपनयन—माप्यकार ने गर्भ से अष्टम वर्ष में उपनयन का विधान किया है और कहा है कि एक बार उपनयन करने के बाद फिर उपनयन की आवश्यकता नहीं होती। उन्होंने इसे संस्कार कहा है और शास्त्र की आज्ञा<sup>३</sup> से उपनयन का विधान किया है। रथकार का उपनयन बर्षाकाल में होता था।

विवाह—विवाह की मज्जा सभी सूत्रकारों ने संस्कारों के अन्तर्गत की है। गृह्यसूत्र तो प्रायः विवाह-विधि से ही प्रारम्भ होते हैं और गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन आदि के बयान करते हुए समावर्तन पर ठहरते हैं। माप्य में ३-३ १९ सूत्र की व्याख्या में विवाह का उल्लेख है। इसके लिए स्वकरण्य और उपनयन शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। प्रत्येक विवाह पर ब्रू के पारस्परिक पाणि-ग्रहणपूर्वक स्वकरण्य द्वारा सम्पन्न होता था। इसलिए, भार्या पाणि ग्रहीती<sup>४</sup> कही जाती थी। इस विधय की विशेष बर्षा मारी क प्रकरण में हुई है।

पर उक्त भा  
२-१ १, २ ता

११६ तथा ११७।  
वर्षानु हा

—बीबा०

## अध्याय ४

### आश्रम

चातुराश्रम्य—माष्य म जीवन को चार भाग म विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग आश्रम कहलाता था। चारों आश्रमों का चातुराश्रम्य<sup>१</sup> कहत था। वर्तकाल में इन चारों आश्रमों का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके उनके कृत्यों एवं जीवन-पर्याय पर ही यत्र-तत्र विचार व्यक्त किये हैं।

ब्रह्मचारी—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य<sup>२</sup> था, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। ब्रह्मचर्य में दीक्षित बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्रह्मचारी वा प्रकार के होते थे दण्डमानव<sup>३</sup> और अन्तेवासी<sup>४</sup>। दण्डमानव अत्यायु और निम्नकक्षा के तथा अन्तेवासी बड़ी आयु एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करने-वाले ब्रह्मचारी होते थे। त्रिवर्ष में प्रत्येक बालक का उपनयन-संस्कार सालह वय की आयु के मंतर कर दिया जाता था। आयु की सर्वादा का यह अन्तिम घोर था। सामान्यतया उपनयन बाह्य वर्य की आयु के मंतर हो जाता था। ब्राह्मण का उपनयन सा गर्भ के आठवें वय में ही हो जाता था। उपनयन करनेवाले को आचार्य कहते थे। इसीलिए, उपनयन-कर्म का दूसरा नाम आश्रमकरण भी था।<sup>५</sup> उपनयन का अर्थ है, उपनेत्रा मासक को एनी विधि से पास छात्रा या त्रिसते वह उसका आचार्य बन जाता था। इसीलिए, उपनयमान और आचार्य पर्याय थे। उपनयन के बाद मासक दण्डमानव बन जाता था। उसकी यह संज्ञा पञ्चास-एक या आपात्र<sup>६</sup> साय में रखने के कारण थी। दण्डमानव और अन्तेवासी प्रायः कमण्डलु भी अपने साथ रखते थे।<sup>७</sup> हिन्दू में दण्ड-कमण्डल उठाकर चलनेवाला यह मुद्राबोध ब्रह्मचारी के इन वा उपलक्षणों के आधार पर ही बना है। मासक और ब्रह्मचारी मुण्डित होते थे। मुण्डित करने की क्रिया 'मत्राकरण'

१ ५११२४ पृ० ३६४।

२ ५११४।

३ ४३१३० काशिका।

४ वही।

५ पर्यायशब्दों ब्राह्मण उपनेत्रः इत सङ्क्रुपनीय इतः शास्त्रार्थ इत इत्या पुनः प्रवृत्तिर्न भवति।—६ १-८४ पृ० ११६।

६ १३३६ काशिका।

७ १-११००, पृ० १८२।

८ ५१११०।

९ १४-८२, पृ० २०१।

का 'परिवापन' कहलाती थी।' बौद्ध और जैन ब्रह्मचारी समूह कहलाते थे। भाष्यकार के समय में भ्रमणों के भी विहार या विद्या-प्रतिष्ठान विद्यमान थे किन्तु उनमें और ब्राह्मणों में समानता बसा करता था। यह समानता इस चरण सीमा तक था कि भाष्य में उसे काकोत्सूरीय विरोध के समान सांख्यिक कहा है।'

ब्रह्मचारी को अन्तेवासी<sup>१</sup> कहते थे। वह 'चरण' या वैदिक छात्रा के विद्यालय में रहकर अध्ययन करता था। चरण वैदिक अध्ययन सम्पादन और अनुसन्धान के केन्द्र थे। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी ही ओम्कारादि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर चुकते थे चरणों में प्रविष्ट होते थे। ब्रह्म वेद को कहते हैं। उसके लिए किया जानेवाला व्रत ही ब्रह्म कहलाता था। इस ब्रह्म-व्रतवासे की संज्ञा ब्रह्मचारी थी।

ब्रह्मचर्य की अवधि—व्रत की अवधि ऋष्य के अनुसार भिन्न थी। कुछ लोग सात वर्ष ही निष्कारण अवधि निस्वार्थ वेदाध्ययन में लगा देते थे। ये ब्रह्मचारी वैदिक होते थे। वैदिक ब्रह्मचारी दशतासीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत लेते थे।<sup>२</sup> इस प्रकार, वे आठवें वर्ष में उपनीत होकर छपन वर्ष की आयु तक अध्ययन करते थे। सामान्यतया एक वेद का अध्ययन में बारह वर्ष लगते थे। ब्रह्मचारी द्वादशवार्षिक वार्षिक मासिक और वर्षमासिक भी होते थे। ये वे लोग होते थे जो किसी विशेष विषय के अध्ययन के निमित्त सीमित होकर कुछ समय चरण में रहते थे। चरणों में इस प्रकार की व्यवस्था थी कि कोई बड़े समय के लिए भी सीमित होकर रह सके। उदाहरणार्थ कोई 'विरामवचन' (ऐत० ब्रा० ४) इत्यादि तथा आपमाया मय० (तै० आ० ११) इत्यादि में पाँच महात्मान्नी संज्ञक ऋषियों के अध्ययन के लिए ही चरण में प्रवेश ले लेता था और उतका अध्ययन समाप्त कर चला जाता था। महात्मान्नी ऋषियों के लिए किया गया व्रत महात्मान्नी कहा जाता था। ऋषियों के साहचर्य के कारण व्रत का भी महात्मान्नी कहते थे। इस व्रत में सीमित ब्रह्मचारी महात्मान्नीक<sup>३</sup> कहलाता था। इसी प्रकार आदित्य धाम (वैश्विनीय उपनिषद् ब्राह्मण) का व्रत बेनेवाल को आदित्यव्रतिक ब्रह्मचारी कहते थे। भाष्य में अचान्तर्दीवी और तिलवृषी ब्रह्मचारियों का भी उल्लेख है। अचान्तर् दीवी एक वेद के हेतु निश्चित अवधि के अन्तयत सम्पत्ती काय के लिए सीमित ब्रह्मचारी थे।

१ ५४६७, पृ० ४९८।

२ २-४ १२, पृ० ४६७।

३ ४३-१३० काशिका।

४ ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदधि ब्रह्म। तच्छ्रुतीति ब्रह्मचारी।—८ ३-८६ काशिका।

५ ब्रह्मी ब्रा० ४।

६. तदस्य ब्रह्मचर्यमिति महात्मान्म्यादिभ्य उपसत्तरयानं कर्त्तव्यम्। महात्मान्नीनां ब्रह्मचर्यं आहत्मान्नीकम् आदित्यव्रतिकम्। महात्मान्नीश्चरति महात्मान्नीकम्, आदित्यव्रतिकम्। नैव मुक्ती निर्वेदास्तच्छ्रुतीति। महात्मान्म्यो नामतो नच तद्वचर्यन्ते व्रतं तासां चर्यते। नैव बोध साहचर्यात्तावद्व्ययं भविष्यति। महात्मान्नी तह्मचर्येति व्रतं महात्मान्म्यो व्रतम्।—५ १९४, पृ० ३४१।

मासिक से अष्टपत्वारिंशक या अष्टपत्वारिंसी तक ब्रह्मचारी चरणों में प्रविष्ट होते थे।<sup>१</sup> कालविषयक ये उचार नियम इस बात के परिचायक हैं कि चरणों के द्वार प्रत्येक सत्त्वान्वेपी के लिए सदा खुले रहते थे।

बर्णी—ब्रह्मचारी वैदिक ही होते थे। इसीलिए उन्हें बर्णी कहते थे। 'बर्णात् ब्रह्म चादिभि' (५२ १३४) सूत्र की व्याख्या में कामिकाकार ने कहा है कि ब्रह्मचारी वैदिक ही समझना चाहिए। बर्णी विद्याग्रहण के लिए उपनयन के बाद व्रतचर्या करता है। ब्राह्मचारिक ऋण बर्णों को ही बर्णी कहते हैं।<sup>२</sup> बर्णी भोग किसी-न-किसी आम्नाय का अभ्यसन करते थे। प्रत्येक आम्नाय का नाम उससे आचार्य के नाम पर प्रचलित था। जैसे काठक (कठ) गौरक (गौर), कालापक (कलाप) पृष्यलादक (पिष्यसाद) छान्दोग्य (छन्दोग) आदि।<sup>३</sup> एक विषय या वेद का अभ्यसन करनेवाले सभी बर्णी ब्रह्मचारी<sup>४</sup> कहलाते थे और एक ही चरण में रहकर पढ़नेवाले<sup>५</sup> सतीर्थ्य।

मानव मानव और मानवक—मानव कुत्सित (बिहित कर्म न करनेवाले और निषिद्ध कर्मवाक) तथा मूढ (विद्याविहीन) मानव को कहते थे। मानव (मनु की संज्ञान) और मानव में इतना ही भेद था।<sup>६</sup>

माप्यकार ने मानव और मानवक में अन्तर किया है। छोटा मानव मानवक कहलाता था। आठ वर्ष से कम आयु के बालक को मानवक या मानविका (स्त्री) कहते थे। मानवक घर पर रहते और खेलते कूदते थे। इनके नाम पिता के नाम पर पड़ जाते थे। जैसे फाष्टाहृति का पुत्र माणवक फाष्टाहृत् या उपमु की पुत्री औपगवी मानविका।<sup>७</sup> खेलना-कूदना इनका मुख्य काम था।<sup>८</sup> ये बड़े पचल और जमीर होते हैं<sup>९</sup> इसलिए इन्हें धैर्यसाधन यगाने का प्रयत्न किया जाता था। मानवक जब कुछ बड़े होते थे, तब उनका उपनयन कर उन्हें आचार्य के पास भेज दिया जाता था। ये भोग बेबाध्यन की तैयारी करते थे। मित्रा माँगने जाते थे। माप्यकार ने

१ ५ १-१५, पृ० ३४१।

२ ५ २-१३४ कामिका।

३ ४ ३ १२६ तथा ४ ३ १२० पृ० २५२।

४ ८ ३-८६, पृ० ३५४।

५ ६ ३-८७।

६ अथत्ये कुत्सिते मूढे मनोरीसर्गिकः स्मृतः।

नकारस्य च पूर्वस्यस्तेन सिष्यति मानवः ॥—४ १ १६१ पृ० १५३।

७ १ ३-२१, पृ० ६२।

८ १ ३-२९, पृ० ६२।

९ १ २-४१, पृ० ५१८।

१० ५ ४ १५४, पृ० ५१५।

११ आत्मान्यस्य मानवकः ॥—१ ३-२१, पृ० ६२।



इन्हें 'अनुच' कहा है। मानवक बात रखते थे' किन्तु मानवों के बाळ मुडा रिये चाते थे।

ब्रह्मचर्य का फलन—पार्वत्यज्ञि के समय में ब्रह्मचारियों में चरित्रहीनता भी विद्यमान थी। पाणिनि ने स्वयं बौर्भो वन्तेवासियों गार्ग्यैर्को और ब्राह्मणों के निम्ननीय कृत्यों का उल्लेख किया है। पार्वत्यज्ञि ने इस प्रयोग में उदाहरण नहीं दिये हैं, किन्तु नाशिकाकार के उदाहरण पार्वत्यज्ञि-काल से चले जानेवाले परम्परामत उदाहरण ही हैं जिनसे स्पष्ट है कि कुछ ब्रह्मचारी कुमारी वृत्त ओषध बादि के लोभ से विधिष्ट चरणों में प्रवेश कर डेते थे। कोई कुमारी प्राप्ति के लोभ से दाक्ष बाम्नाय पढ़ता था तो कोई वृत्त के कासन्य से रीति का विध्य बन जाता था। वारु-भाठ के लोभ से ही कुछ ब्रह्मचारी पाणिनीय व्याकरण पढ़ने क्मते थे। छोटे कड़के भिखा के लोभ से मानव बन जाते थे।'

ब्रह्मचर्य की साधना बोध' मानी जाती थी। एक गुहकुल में जाकर व्रत-समाप्ति तक अध्ययन करनेवाला या उष्ण कक्षा का विद्यार्थी प्रान्तवासी कहलाता था। जो विद्यार्थी बार बार गुहकुल बरसते रहते थे वे निम्बिठ माने जाते थे और उन्हें 'वीर्बनाक' या 'वीर्बप्यस' कहते थे। कुछ-कुछ ब्रह्मचारी अध्ययन-समाप्ति के पूर्व ही बिना स्नातक बने और बिना गुरु की आज्ञा किये अध्ययन छोड़कर पर लौट जाते थे और गृहस्थ बन जाते थे। यह बात परम्परा के विरुद्ध थी। नियम यह था कि अध्ययन समाप्त कर समावर्तन-संस्कार के बाद (जो विशेष स्थान तथा सभारण व' साध मनाया जाता था और जिसके कारण ही अषोठी ब्रह्मचारी स्नातक और सन्धी कहलाता था) ब्रह्मचारी गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जो ऐसा न कर व्रत को लथिष्ठ कर डालता था उसे 'सद्वाकड' कहते थे। यह बचन निम्ना वा वाचक था।

गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्य के बार ब्रुसरा वाश्रम गृहस्थ या गृहपति का था। गृह में प्रवेश के अवसर पर यज्ञादि धार्मिक संस्कार किया जाता था। इस संस्कार के अवसर पर प्रयुक्त होनेवाले मान मेहानुप्रवेशनीय कहे जाते थे। आश्रम में प्रवेश करनेवाले को गृहपति कहते थे। प्रत्येक गृहपति के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना आवश्यक था। प्रत्येक वर

१ ५४-१५४, पृ० ५१५।

२ १२ ३२, पृ० ५११।

३ ६२ १९ काशिका।

४ ३-१-८०, पृ० १५५।

५ यथा तीर्षे काका न चिरं स्वात्तारो भवत्येषं यो युष्कुलाणि मत्वा न चिरंतिस्त्यक्ति स उच्यते तीर्थकाक इति ।—२ १ ४२, पृ० २९५।

६ अक्षिय स्नात्वा गृहनिरमुत्तलेन कट्वा रोडप्या। य इरानीस्तोभ्यथा करोति स उच्यते सद्वाकडोऽयं जन्मः ।—२-१-२६, पृ० २८१।

७ ५१ १११, पृ० ३४५।

८ ४१ ३३, पृ० ५१।

में माठों पहर यज्ञानि जाग्रत् रहती थी। यह जग्नि यार्हुपत्य कहलाती थी।<sup>१</sup> गृह का एक भाग इसके लिए नियत रहता था जिसे आबसय कहते थे। आबसय<sup>२</sup> की शुद्धता पवित्रता का ध्यान रखा जाता था। मूत्रानि क्रियाएँ उससे दूर की जाती थीं। आबसय में रहने के कारण ही गृहम्य का नाम आबसयिक<sup>३</sup> भी था। आबसय की यज्ञानि का नाम आबसय्य था। गृहम्य का प्रमूत्र यज्ञ पत्नी-सयाज था, जिसका सम्पादन वह पत्नी के साथ करता था और इस यज्ञ में भाग लेने के कारण ही भार्या का नाम पत्नी भी था। पत्नी-सयाज में बोले जानेवाले मंत्रों का नाम भी गृह-पति ही था। यों गृहम्य का सम्यन्त्र दक्षिणानि से भी था क्योंकि वह पत्नी-सयाज के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से यज्ञ करता था किन्तु उसका मुख्य यज्ञ पत्नी-सयाज ही था।

पर्ववलि-काल में परिवार सामान्यतया संयुक्त था। परिवार के बृद्ध पुरुष या पिता के जीवन-काल में पुत्र-पौत्र उनके अधीन या अव्यवहारी रहते थे। यदि कोई पिता के जीवन-काल में स्वतन्त्र आचरण करता तो उसे नित्य या क्रूरिष्ठ माना जाता था। यदि वह पुरुष बत्स या पर्म गौत्र का हुवा तो लोग कहते थे 'जास्म तुम बाल्य हो जाम्म तुम गार्म्य हो। अर्थात्, तुम्हें कम या बत्स की सन्तान होना छोमा नहीं देता' ऐसे अपवाच बहुत कम थे। परिवार भरे-भूरे और पुत्र-पौत्र-सम्पन्न थे। सप्रजस् और बहुप्रजस् परिवारों का बाहुम्य था यद्यपि अप्रजस् (सन्तानहीन) एवं कृप्रजस् परिवार भी थे।<sup>४</sup> जिन व्यक्ति के पुत्र-पौत्र जीवित होते थे, वह पुत्रपौत्रीय कहा जाता था।<sup>५</sup> पुत्र माता के नाम पर भी पुकारे जाते थे—यथा मार्गीपुत्र। मार्गीपुत्र की सन्तान मार्गीपुत्रकामयि मार्गीपुत्रकामयि या मार्गीपुत्रि कही जाती है। परिवार का यमोबृद्ध व्यक्ति बृद्ध या बंस्य कहा जाता<sup>६</sup> था। पुत्र और पौत्र के आगे की सन्तान योज<sup>७</sup> कही जाती थी, किन्तु यदि घर में प्रपितामह पितामह पिता ज्येष्ठ भ्राता या अन्य ज्येष्ठ पुरुष जीवित रहता तो पौत्रादि की सन्तान मुबा कहलाती थी।<sup>८</sup> एक योज के लोगों में सपरिवारता का भाव था। इसीसिद्ध यदि स्वकिरतर सपिण्ड भी जीवित होता तो भी सन्तान मुबा कहलाती थी। घर में बड़ा व्यक्ति स्वकिर कहलाता था। मुबा कहलाना गौरव की बात मानी जाती थी। इसीसिद्ध,

१ ४४-१०, पृ० २८६।

२ ४४-७४।

३ दुरात्पावसयाम्मूर्धं दुरात्पावसयैवतम् ।—२-३-३५, पृ० ४३०।

४ ४४-१०, पृ० २८६।

५ पितृतो लोके व्यपदेशवताऽव्यवहारेण प्रकृतम्यम् । य इवानीं पितृवान् स्वतन्त्रो भवति स उच्यते पार्यं त्यमसि जास्म । न त्वं पितृतो व्यपदेशमर्हसि ।—४-१ १६२, पृ० १५५।

६ ५४ १२२, २३।

७ ५-२ १०।

८ ४-२-१५९।

९ ४-१ १६३ पृ० १५५।

१० वही ४ १ १६२, पृ० १५४।

११ ४-१ १६३, ६४, ६५, पृ० १५५ से १५७।

बृह को भी सम्मान प्रवर्धित करने के लिए मुझा कह देते थे। जैसे श्रीमान् वात्स्यायन या श्रीमान् भाष्यविन। सामान्यतया बृह गार्ग्य और युवा गार्ग्यविन पुकारे जाते थे।<sup>१</sup> ये सब बातें संयुक्त परिवार प्रथा तथा रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

परिवाजक—सर्वस्व को छोड़कर बच्चे जानेवाले प्रवर्धित या परिवाजक कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टम्बक रखते थे। त्रिविष्टम्बक परिवाजक का परिचायक था। जिस प्रकार घूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है उसी प्रकार त्रिविष्टम्बक से परिवाजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।<sup>२</sup> त्रिविष्टम्बक तीन वाप्ट-संघों को एक साथ रस्मी से बाँधकर विष्टम्ब के समान बनाया जाता था।<sup>३</sup> भाष्यकार ने संकष्ट नामक परिवाजिका<sup>४</sup> तथा मस्करी परिवाजकों की बर्णना की है।<sup>५</sup>

मिशु—मिशुओं का उत्प्रेक्ष्य भाष्य में परिवाजक की अपेक्षा अधिक हुआ है। मिशु सर्वस्व का परिवार कर भिन्ना के सहारे जीवन बिताते थे। इन लोगों के आश्रम का नियामक एक मूनघन्य था जिसके प्रभेदा पाठसर्वे थे।<sup>६</sup> एक मिशुसूत्र कर्मव्यक का भी था। इन दोनों के अनुयायी क्रमशः पाठसर्वी<sup>७</sup> और कर्मन्धी कहलाते थे। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार वे स्वशिष्यरुपायी होते थे। यह मिशुघ्न था। इसलिये, मिशु स्वशिष्य कहलाते थे।<sup>८</sup> वे बस्ते समय द्वार-उपर न देखकर पीठों पर दृष्टि गड़ाये केवल कुम्कुटी-पाषाण मरु मृत्ति को देखते बस्ते थे। दृष्टि-संयम भी उनकी साधना का एक अंग था। इन अभिहितदृष्टि मिशुओं को इसी कारण कौकुटिक<sup>९</sup> कहते थे। मिशु के लिए बस्ती से दूर वरुध्य में रहने का विधान था। कुछ मिशु बस्ती से वसन्त किन्तु बस्ती के पास रहते थे। ये कौकुटिक बहते जाते थे।<sup>१०</sup> मिशु की जीवनिका का आधार भिन्ना थी। भिन्ना में उन्हें सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण मिशु सर्वान्नोन्न<sup>११</sup> कहलाते थे।<sup>१२</sup> इस साधन बर्णने उद्ये समाज प्रतिष्ठान का पात्र बना दिया

१ ४-१ १६३, पृ० १५५, १५३।

२ २-१ १ पृ० २४३।

३ यथा तद्भि त्रिविष्टम्बकं। तत्राप्यस्तः सूत्रं भवति।—१ १ १ पृ० १०२।

४ ३-२-१४ पृ० ३१२।

५ ६-१ १५४, पृ० १९३।

६ ४-३ ११०।

७ ४-३-१११।

८ ४-२ ६६, पृ० १९३।

९ ४-२-६६, पृ० १९३ तथा ४-२-१५ काशिका।

१० वैशत्यायनतया हि त्रिकुरविहितदृष्टिः पादविद्येपदेमे चक्षुः संयम्य बज्जति त उच्यते कौकुटिक इति।—४ ४ ४६ काशिका।

११ ४-४-७३ काशिका।

१२ ५-२-९, पृ० ३६९।

१३ ५-१ ११३, पृ० ३४६।

या। माय्य में उस औद्योगिक कहा है, अर्थात् मिक्षु का अभिनन्दन ही कोस पहले से करना चाहिए, यह सामाजिक मर्यादा थी।'

महामाय्य में परिभाषक और मिक्षु शब्द अत्रस्य आय हैं, किन्तु वानप्रस्थ और मर्यास आयमों का पुनक स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आयों में तीन ही आयमों की प्रथा थी—ब्रह्मचर्यं गाहस्प्य और वैश्वानस। वेदों में अथर्व और वपों में शूद्र के समान आयमों में मिक्षु या स्यास-आयम बाद में सम्मिलित किया गया। बौद्धों में संन्यास का महत्त्व था और वैदिकों में वैश्वानस का। धीरे-धीरे जब वैदिकों और बौद्धों में जब बहुत-सा सांस्कृतिक आदान प्रदान हुआ तब वैदिकों में बौद्धों के अन्तिम आयम का भी आगमनात् कर लिया। तो नीचे दोनों आयमों का अन्तर बहुत बड़ा तक स्पष्ट नहीं हो पाया। आनुपम्य का उल्लेख करते हुए नीचे विवरण तीन का ही किया गया है। कात्तिसास क समय तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के प्रारम्भ में उन्होंने तीन आयमों का ही उल्लेख किया है और तृतीय आयम को 'मुनिवृत्ति' का आयम कहा है।' अग्निमान्नाद्गुत्तरु में भी उन्होंने ब्रह्मचर्य के बाद वैश्वानस आयम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त सङ्गुप्तता के विषय में त्रिमासु मास से पूछता है—'वैश्वानस किमन्ता वज्रमाश्रयानाद् व्यासारायसि मन्त्रस्य निषिद्धम्'। कट्टर वैदिक साय चतुर्वर्ष आयम के बदलकर विरोधी ही बन रहे। बौद्धों के धम्मपुत्र में संन्यास को अमुर प्रकृतित कहकर उसकी निन्दा की है।' इसमें भी उल्लेख करने की पुष्टि होती है। इस पर साधु-संन्यासी' प्रकरण में विशेष विचार किया जायगा।

१ औद्योगिकारभियममहति इति औद्योगिको मिक्षुः। यौवनगतिको मुद्रः—  
५. १-७४ पु० ३३७।

२ शीतवेऽभ्यास्तविद्यानां यौवने विषयविषयम्।  
वार्धके मुनिवृत्तौनां योगेनाथे तनुस्यजात् ॥—रघुवंश।  
३ बौद्धा० धर्म० सु० प्रश्न २, लं० ११।

बुद्ध को भी सम्मान प्रदर्शित करने के लिए युवा कहते थे। जैसे श्रीमान् वास्त्यायन या श्रीमान् गार्ग्यमिषः। सामान्यतया बुद्ध गार्ग्य और युवा गार्ग्यामिन पुकारे जाते थे।<sup>१</sup> ये सब बातें संयुक्त परिवार प्रथा तथा रक्त-सम्बन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

परिवाराङ्क—सर्वस्व को छोड़कर जैसे जानेवाले प्रयत्नित या परिवाराङ्क कहलाते थे। वे अपने साथ त्रिविष्टम्बक रखते थे। त्रिविष्टम्बक परिवाराङ्क का परिचायक था। जिस प्रकार जूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार त्रिविष्टम्बक से परिवाराङ्क की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।<sup>२</sup> त्रिविष्टम्बक तीन काष्ठ-लक्ष्यों को एक साथ रखी से बाँधकर विदग्ध के समान बनाया जाता था।<sup>३</sup> माप्यकार ने संकृत नामक परिवारिका तथा मस्करी परिवाराङ्कों की चर्चा की है।<sup>४</sup>

मिश्र—मिश्रों का उल्लेख माप्य में परिवाराङ्क की अपेक्षा अधिक हुआ है। मिश्र सर्वस्व का परिवाराङ्क कर मिश्रा के सहारे जीवन बिताते थे। इन लोगों के आश्रम का नियामक एक मुखग्रन्थ था जिसके प्रणेता पाराशर्य्य थे।<sup>५</sup> एक मिश्रसूत्र कर्मसूत्र का भी था। इन दोनों के अनुयायी क्रमशः पाराशरी<sup>६</sup> और कर्मन्वी<sup>७</sup> कहलाते थे। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार वे स्वच्छिन्नभाषी होते थे। यह मिश्रव्रत था। इसलिये, मिश्र स्वच्छिन्स्य कहलाते थे।<sup>८</sup> वे बसते समय इधर-उधर न देखकर पैरों पर बृष्टि गड़ाये केवल कुक्कुटी-यात्र भर भूमि को देखते चलते थे। बृष्टि-संयम भी उनकी साधना का एक अंग था। इन अविच्छिन्नबृष्टि मिश्रों को इसी कारण कौक्कुटिक<sup>९</sup> कहते थे। मिश्र के लिए बस्ती से दूर अरण्य में रहने का विधान था। कुछ मिश्र बस्ती से लगभग किन्तु बस्ती के पास रहते थे। ये नैकटिक<sup>१०</sup> कहते जाते थे।<sup>११</sup> मिश्र की जीवनिका का आभार मिश्रा थी। मिश्रा में उन्हें सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। सर्वान्न भक्षण करने के कारण मिश्र सर्वाग्नीत<sup>१२</sup> कहलाते थे।<sup>१३</sup> इस साधन चर्चाने उसे समाज प्रतिष्ठा का पात्र बना दिया

१ ४११३३ पु० १५५, १५३।

२ २११ पु० २४३।

३ यथा तद्द्वि त्रिविष्टम्बकं। तथाप्यन्तः सूत्रं चर्चति।—१११ पु० १०२।

४ ३-२-१४ पु० ३१२।

५ ६-१ १५४, पु० १९३।

६ ४३-११०।

७ ४३-१११।

८ ४५-६६, पु० १९३।

९ ४-२-६६, पु० १९३ तथा ४-२-१५ काशिका।

१० वेद्यस्यान्वयतया हि मिश्रुरविच्छिन्नबृष्टिः पारविलोपवैतो चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।—४४४६ काशिका।

११ ४४-७३ काशिका।

१२ ५-२-९, पु० ३६९।

१३ ५१११३ पु० ३४६।

वा। भाष्य में उसे ऋषिघटिक कहा है, अर्थात् मिश्रु का अग्निन्दन ही कोष पहले से करना चाहिए, वह सामाजिक मर्यादा थी।'

महामाय्य में परिव्राजक और मिश्रु सभ्य अवस्थ बाये हैं, किन्तु शानप्रस्थ और संन्यास आधमों का पृथक् स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आरम्भ से वैदिक आधमों में तीन ही आधमों की प्रथा थी—ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य और व्रतान्त। वेदों में अथर्व और बर्णों में श्रुत के समान आधमों में मिश्रु या संन्यास-आधम बाद में सम्मिश्रित किया गया। बौद्धों में संन्यास का महत्त्व था और वैदिकों में व्रतान्त का। धीरे-धीरे जब वैदिकों और बौद्धों में जब बहुत-सा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ तब वैदिकों ने बौद्धों के अन्तिम आधम को भी आरमसात् कर लिया। ठी भी दोनों आधमों का अन्तर बहुत कम तक स्पष्ट नहीं हो पाया। महानाय्य में जिस प्रकार वेदों को 'वैविध' भी कहा है और 'वागुर्वेद' भी उसी प्रकार वागुराय्य का उल्लेख करते हुए भी विवरण तीन का ही दिया गया है। काम्बिदास के समय तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के प्रारम्भ में उन्होंने तीन आधमों का ही उल्लेख किया है और तृतीय आधम को 'मुनिवृत्ति' का आधम कहा है।' अग्निज्ञानघातुत्तम में भी उन्होंने गृहस्थ के बाद व्रतान्त आधम का ही उल्लेख किया है। दुष्यन्त घातुत्तमा के विषय में जिज्ञासु भाव से पूछता है—'व्रतान्तं किमनया ब्रतमायदानाद् व्यापारोपि मदनस्य निपवितम्बम्'। कट्टर वैदिक भोग अनुर्व आधम के बराबर विरोधी ही बने रहे। बौधायन धर्मशूत्र में संन्यास को बहुत प्रशंसित बहुरूप उल्लेख किया है।' इससे भी उपमूक्त कथन की पुष्टि होती है। इस पर 'वाग्-संन्यासी' प्रकरण में विशेष विचार किया जायगा।

१ कोससतावमियमनमर्षुति इति ऋषिघटिको मिश्रुः। योव्रतघटिको मुखः।—  
 ५ १-७४ पृ० ३३७।  
 २ वीद्यवेऽभ्यस्तविद्यानां योवने विपर्वविभाम्।  
 वावर्ते मुनिवृत्तीनां योवेनास्ते तनुत्सवान्॥—रघुवंश।  
 ३ बौपा० धर्म० सू० प्रश्न २, अ० ११।

## अध्याय ५ नारी

भाष्यकार ने अनेक रूपां में नारी का उल्लेख किया है। आयु की दृष्टि से शिशु, कुमारीतरु<sup>१</sup> कुमारी किशोरी युवती बपूटी जखी आदि शब्द भाष्य में मिलते हैं और सम्बन्ध की दृष्टि से कन्या बर्षा पत्नी माता भगिनी मायामही पितामही आदि। कुमारीतरु पाँच-छह वर्ष की लड़की को कहते थे कुमारी आठ-दस वर्ष की और किशोरी बारह-बीसह वर्ष की लड़की कहलाती थी।

प्रथमवयस्का—'वयसि प्रथमे' (४ १ २०) का भाष्य करते हुए परतजलि ने उत्तानक्षया सोहितपायिका द्विबर्षा त्रिबर्षा कन्या बपूटी और चिरष्टी का उल्लेख किया है। इनमें बपूटी और चिरष्टी द्वितीय वय क शोचक है। उत्तानक्षया तीन-चार महीने की लड़की को कहते हैं जो बैठ नहीं पाती और उमर, मुँह किये सोती है। सोहितपायिका सात आठ महीने की लड़की को कहते हैं, जो अपने पाँवों नहीं चला पाती थी। इसके बाद द्विबर्षा त्रिबर्षा आदि आती हैं। कुमारीतरु इसके बाद की अवस्था और कुमारी उसके अधिक अवस्था की लड़की होती है। प्रथम और द्वितीय वयस् का भेद परतजलि के मत से पुरुष के साथ सम्बन्ध न होने और होने पर आश्रित था। पुरुष के साथ असंभोग कन्या को बपूटी से पूषक करता था।<sup>२</sup> कुमारी के साथ राजकुमारी का पूषक उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।<sup>३</sup>

कुमारी और किशोरी तक की आयु की लड़कियाँ कन्या कहलाती थीं। वयस्क कन्याओं को बर्षा कहते थे। बर्षा के विवाह की प्रार्थना कोई भी कर सकता था।<sup>४</sup> इसके लिए कोई निरोध न था। पति के जयन में कन्या की भी सम्मति ली जाती<sup>५</sup> थी। इसीलिए, उसे पतिवर कहते थे। माता-पिता अभिरूप्य वर की शोक करते थे और यथासक्ति अभिरूप्यतम वर को कन्या देते थे।<sup>६</sup> बड़ी आयु में विवाह की प्रथा वैदिक काल से ही लगी जा रही थी। श्रुतेर में

१ ४-१ २०, पृ० ४४, ४५।

२ ५-३-५५, पृ० ४४९।

३ १ १ ९३ पृ० ४०९।

४ ३-१ १०१।

५ ३-२-४६।

६ अभिरूप्याय कन्या वैपेति न चागजिह्वे प्रवृत्तिरस्ति सत्रागिह्वस्तापायेति गम्यते।—

कन्या के पितृगृह में प्रौढ हो जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> तैत्तिरीय आरण्यक में भी बड़ी आयु तक कन्याओं के अविवाहित रहने का उल्लेख है<sup>२</sup> यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् म याज्ञ-विवाह का उल्लेख मिलता है और वहाँ ऐसी कन्या को आतिकी कहा<sup>३</sup> है। फिर भी सामान्यतया कन्या द्वारा स्वयं पति के वरण के प्रसंग ही ऋग्वेद से उत्तरकाशीन वैदिक साहित्य तक प्राप्त होते हैं।

वर द्वारा कन्या का पत्नी-रूप में अंगीकरण 'स्वीकरण' कहलाता था। जो अपनी नहीं थी उस अपनी बनाने का नाम स्वकरण था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि 'स्वीकरण' शब्द इस अर्थ में अधिक उपयुक्त है तथापि उद्विग्न का स्वभाव विचित्र है और यहाँ स्वकरण शब्द ही प्रयुक्त होता है। यह स्वकरण अन्य कर्मों से भिन्न था। यह कोय स्वकरण नहीं था अपितु पाणि-ग्रहणमुक्त स्वकरण था।<sup>४</sup> पाणि-ग्रहण या विवाह को उपमयन भी कहते थे। इस अर्थ में 'भार्यामुपयच्छते' भार्यामुपायत' वा 'उपायस्त' प्रयोग होता था अथवा 'उपयच्छति' बोला जाता था। विवाह के लिए दारकर्म दण्ड का भी प्रयोग प्रचलित था। पाणिग्रहण शब्द का विशेष अर्थ था। प्रत्येक दार-कर्म या विवाह वर-वधू के पारम्परिक पाणिग्रहणपूर्वक स्वकरण द्वारा सम्पन्न होता था। पाणिग्रहण द्वारा स्वीकृत भाया पाणिगृहीती होती थी यह पाणिगृहीती का विशेष अर्थ था। बिना विवाह के या ही यदि किसी कार्यवत् स्त्री का हाथ पकड़ लिया जाता तो वह पाणिगृहीता कही जाती थी। पाणिग्रहण की यह क्रिया 'हस्तेकरण' या 'पाणीकरण' कहलाती थी। विवाह करके जाने को 'हस्तेकृत्य गत' या 'पाणीकृत्य गत' कहते थे।

भार्या—विवाह कुमारी का भी होता था और स्वयंवरमर्तुका त्यक्ता और विधवा का भी। जिसने प्रथम बार पति का वरम किया हो ऐसी भार्या कौमारी कहलाती थी। ऐसी अपूर्वपति कुमारी का पति कौमार कहा जाता था। कौमारी भार्या और कौमार पति दोनों में कुमारत्व भार्या का ही रखा जाता था। पति का कुमार होना आवश्यक नहीं था। अथवा कौमारी भार्या का प्रस्तुत अर्थ न होकर कुमार पति की कुमारी पत्नी यह होता। सम्भवतः, पाणिनि-काळ में ऐसी बात नहीं थी। उस समय पति का कुमार होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इसीलिए, कात्यायन को पाणिनि ने 'कौमार्यपूर्ववचने' (४२१३) सूत्र में वर तथा कन्या दोनों पक्षों में कौमारत्व-ग्रहण के लिए वासिक जोड़ना पड़ा जिसे पतञ्जलि ने अर्थो-का-स्यो स्वीकार कर लिया। पत्नी के कुमारीत्व का विशेष रूप से उल्लेख इस बात की ओर उल्लेख करता है कि इस समय ऐसे विवाह भी पाय जाते थे जिनमें स्त्री-विवाह के समय कुमारी नहीं

१ आमाञ्जुरिब विभोः स चासती समालाघ सबसत्त्वामिवे भगाम् ।—ऋग्वे०, २-१७-७।

२ कुमारीषु कानोनीषु चारिषीषु च ये हितः ।—नैति० आर० १-२७।

३ छान्दो० उप० ११०-१।

४ भद्रा वयूर्मवति वसुपेसा स्वयं सा मित्रं वनुते वनेचित् ।—ऋग्वे०, १०-२७-१२।

५ १३-५६, पृ० ७०।

६ वही काशिका।

७ १२ १६ काशिका।

८ ४ १-५२, पृ० ६४।



रहती थी। उसका कुमारीत्व पहले ही मष्ट हो चुकता है। ऐसी स्त्री त्यक्ता त्यक्तमर्तका वा विधवा हो सकती थी। पुरुषों के लिए विवाह-काल में कुमार होता अनिवार्य न था। पतञ्जलि ने उक्त सूत्र को अनावश्यक मानकर उसका अण्डन कर लिया है। तो भी दोनों रूपों में स्त्री के कुमारी होने की बात पर उल्लेख किसी प्रकार का बाधेप नहीं किया है। स्पष्ट है कि पतञ्जलि-काल में स्त्रियों की सामाजिक समानता पर छतना ध्यान नहीं दिया जाता था।<sup>१</sup>

जनी और जन्मा—नवविवाहिता जन्मा बधु या जनी कही जाती थी। जनी को उसके पति के पास न जानेवासी या विवाह-वेद्य में उन दोनों की माँठ बाँधनेवासी उसकी सहेलियों को जन्मा कहते थे। जन्मा शब्द समावाचक वा और परिवार में महू कार्य कीन लक्ष्मिणी करेगी यह निश्चित रहता था। लक्ष्मी छोटी हो वा बूढ़ हो प्राय परिवार में जन्मा ही कहलती थी। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का था जैसा आबकल 'सहवास' (वर का छोटा भाई) का होता है। जन्मा बधु की बहनें या बयत्याएँ होतीं थीं।

जाया और पत्नी—जनी शब्द जननी का संक्षिप्त रूप था। 'संज्ञायाम् जन्मा' (४-४-८२) जननी को ही जनीभाव निपातन करता है। जनी शब्द में सन्तानोत्पादन का भाव निहित था। इसीलिए, पत्नी को जाया (जिसमें सन्तान उत्पन्न की जाय) कहते थे। जिसकी जाया युवती होती थी उसे युवजानि कहते थे और बूढ़ पत्नीवासे को बूढ़जानि।<sup>२</sup> पत्नी को वार भी कहते थे। यह शब्द वृ (विचारमार्थक) वातु से प्रेरणार्थ में बना है जिसका अर्थ है विचारण करनेवाली। अथवा जिनके द्वारा विचारण किया जाय। पत्नी शब्द का व्यवहार सामान्य नहीं था। पति के साथ यज्ञ में भाग लेनेवासी उसकी सहेलियों को पत्नी कहते थे। जिन बातियों को यज्ञ का अधिकार नहीं था उनमें भार्याओं के लिए यदि पत्नी शब्द का व्यवहार होता था तो साम्य के कारण ही। बृहस्पति और तुष्यक की जाया को 'पत्नी के समान' मानकर ही पत्नी कहा जाता था।<sup>३</sup> वास्तव में पत्निति और उनके पूर्वकाल में जब कि यज्ञ का प्राण्य या द्विजातिमान का भार्य के लिए पत्नी शब्द प्रयुक्त होता था और अस्पृशी के पति बसिष्ठ 'वा' बसिष्ठ की पत्नी अस्पृशी इह कचन का अर्थ होता था 'जिस यज्ञ का अधिकार अस्पृशी को प्राप्त है उसका फल माननेवासे बसिष्ठ' अथवा जिस यज्ञ का अधिकार बसिष्ठ को है,

१ कौमारपुर्वबचने कौमारपुर्वबचन इत्युक्तयत् सिद्धयः अपुर्वपति कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्ता। कुमार्थपूर्वपति पतिमुपपत्ता कौमारीभार्या।—४-२-१३, पृ० १७१, ७२।

२ जनी बहुन्ति जन्माः। जनी बोहारो जन्माः, जनीमवातु जन्मा इति।—४-४-८९, पृ० २८५।

३ ५-४-३४।

४ वारयन्ति इति वाराः, वीर्यते तैर्वाराः—३-३-२० पृ० ३०१।

५ पत्युर्नोपगतसंयोगे यज्ञसंयोगे इत्युच्यते तत्रैवं न सिध्यति इयमस्मपत्नी। अर्थं तर्हि स्यात्? पत्नीसंवाज इति यज्ञ यज्ञसंयोगः।—एवमपि तुष्यकस्य पत्नीति न सिध्यति उपमाना-स्तिष्ठत्। पत्नीव पत्नी।—४-१-३३, पृ० ५०-५१।

उसका फल भोगनेवासी बनवती। इस पत्नी-समाज' (यज्ञ-विद्येय) के सम्बन्ध में ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि-काल तक आठ-आठे पत्नी-समाज की प्रथा सामान्य जनों में मूढ हो गई किन्तु पत्नी शब्द जो एक बार बल चुका था चूँकटा गया। वह द्विजातियों तक सीमित न रहकर भार्या का सामान्यबोधक बन गया। पतञ्जलि के सामने पाणिनि के समर्थन का प्रश्न था और मोक्षिय होने के कारण वे सून से 'यज्ञसंयोगे' शब्द को निकारना भी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए, उन्होंने दूसरी युक्ति का सहारा लिया। पंचमहायज्ञ उनके समय में भी प्रचलित थे। इसलिए उन्होंने कहा कि पत्नी शब्द जिस पति शब्द से बना है उसका अर्थ भर्ता नहीं है। यह ऐश्वर्यवान् अर्थ में व्यबहृत वृत्त पति शब्द है। इसी से पत्नी शब्द बनता है। द्विजाति के प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए प्रतिदिन पंचमहायज्ञों का विधान है। उनके लिए प्रातः-सार्धं गृहस्व जिस ऋतु और पुरोडाश का निर्वाण करता है उसका वह ईश्वर या स्वामी होता है। वह उसके फल का भी ईश्वर होता है। इस अर्थ में पुरुष को पति कह सकते हैं और स्त्री को पत्नी।<sup>१</sup> किन्तु, इससे भी पूरी समस्या का समाधान नहीं हो सका। शूद्रों की स्त्रियों के लिए भी पत्नी शब्द का प्रचलन हो चुका था। उसके लिए भाष्यकार ने कहा कि वहाँ उपमान से काम चल जायगा। वह शूद्र पत्नी न होते हुए भी पत्नी के समान होने के कारण औपचारिक अर्थ में पत्नी कही जा सकती है।<sup>२</sup> पाणिनि-काल से पतञ्जलि-काल तक पत्नी शब्द का अर्थ-विकास समाज में सनै-सनै होनेवाले परिवर्तनों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

**बहुविवाह**—पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ परस्पर सपरनी कहलती थीं।<sup>३</sup> भाष्य में मूढ भार्याओंवाले पुरुष का उल्लेख है।<sup>४</sup> स्त्री एक साथ एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती थी या नहीं इसका भाष्य में कोई उल्लेख नहीं है। पति का मौरव पत्नी की मौरव-वृत्ति में सहायक था। मौरवपत्नी वासपत्नी जैसे शब्द क्रमशः पति के कारण पत्नी को प्राप्त होनेवाले मौरव और सुव्रता के बोधक थे।<sup>५</sup> सपत्न्यादि मग में एक बीर, दास शब्दों का उल्लेख है।

पत्नी के भरण-पोषण का भार पुरुष पर होता था। पीपित होने के कारण ही पत्नी को भार्या भी कहते थे। नबोडा भार्या को बबूटी और बिरष्णी कहते थे। ये शब्द भार्या की जीवन-सम्पत्ता को व्यक्त करते थे। इम्य और आह्य युवतियाँ आकर्षण का विद्येय केन्द्र थीं।<sup>६</sup>

१ ४१ ३३, पु० ५० ५१।

२ नैय बोध- पतिस्तम्बोऽयमैश्वर्यवतामी। सर्वेन च गृहस्वेन पंचमहायज्ञा निर्बर्त्या। यन्वाह सार्धंप्रातर्होमचतुरोडाशाभिर्बर्पति तस्यासबीष्टे। एवमपि तुयञ्जलस्य पत्नीति न सिद्धपति। उपमानात्सिद्धम्। पत्नीव ।—बही।

३ ४१ ३५।

४ ७-१ २१ पु० २६।

५ ४-१ ३५।

६ ३ ३-२८ पु० १८२।

७. ४ १-२० पु० ४४।

८. २-१ ६९, पु० ३२२।

रहती थी। उसका कुमारीत्व पहल ही मट्ट हो चुकता है। ऐसी स्त्री त्यक्ता त्यक्तभर्तृका या विधवा ही छवती थी। पुत्रों के लिए विवाह-काल में कुमार होना अनिवार्य न था। पतञ्जलि ने उक्त सूत्र को अनावश्यक मानकर उसका उल्लेख कर दिया है। तो भी दोनों कर्णों में स्त्री के कुमारी होने की बात पर उन्होंने किसी प्रकार का आशेष नहीं किया है। स्पष्ट है कि पतञ्जलि-काल में स्त्रियों की सामाजिक समानता पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था।<sup>१</sup>

जनी और जन्मा—नवविवाहिता जन्मा बच्चा या जनी कही जाती थी। जनी को उसके पति के पास संजानेवाली या विवाह-वेसा में उन दोनों की गाँठ बाँधनेवाली उसकी सहेलियों को जन्मा कहते थे। जन्मा शब्द संज्ञावाचक था और परिवार में यह कार्य कौन सहेलियाँ करेंगी यह निर्दिष्ट रहता था। सबकी छोटी हो या बूढ़ हो आय परिवार में जन्मा ही कहलाती थी। यह सम्बन्ध उसी प्रकार का था वैसे आजकल 'सहबास' (बर का छोटा भाई) का होता है। जन्मा बच्चा की बहन या बयस्याएँ होती थीं।

जाया और पत्नी—जनी शब्द जननी का संक्षिप्त रूप था। 'संज्ञायौ जन्मा' (४-४-८२) जननी का ही जनीभाव निपातन करता है। जनी शब्द में सम्प्रदानोत्पादन का भाव निहित था। इसीलिए पत्नी को जाया (जिसमें सम्प्रदान उत्पन्न की जाय) कहते थे। जिसकी जाया मुकटी होती थी उसे मुकजानि कहते थे और बूढ़ पत्नीवासे को बूढ़जानि। पत्नी को बार भी कहते थे। यह शब्द द्वु (विदारणार्थक) बाहु से प्रेरणार्थ में बना है जिसका अर्थ है विदारण करानेवाली। अथवा जिनके द्वारा विदारण किया जाय। पत्नी शब्द का व्यवहार सामान्य नहीं था। पति के साथ यज्ञ में भाग लेनेवाली उसकी सहेलियों को पत्नी कहते थे। जिन बातियों को यज्ञ का अधिकार नहीं था उनमें मार्याओं के लिए यदि पत्नी शब्द का व्यवहार होता था तो साम्य के कारण ही। बुधक और तुपजक की जाया को पत्नी के समान मानकर ही पत्नी कहा जाता था।<sup>२</sup> वास्तव में पाणिनि और उनके पूर्वकाल में जब कि यज्ञ का प्राथम्य था द्विजातिमात्र को मार्या के लिए पत्नी शब्द प्रयुक्त होता था और अस्पृश्यी के पति बसिष्ठ 'य' बसिष्ठ की पत्नी अस्पृश्यी इस रूप का अर्थ होता था 'जिस यज्ञ का अधिकार अस्पृश्यी को प्राप्त है उसका फल भोगनेवासे बसिष्ठ' अथवा 'जिस यज्ञ का अधिकार बसिष्ठ को है,

१ कौमारपुर्वबचने कौमारपुर्वबचन इत्युक्तः त्रिवयः अपुर्वत्वे। अपुर्वपति कुमारीमुपपन्नः कौमारो भर्ता। कुमार्युर्वपतिः पतिमुपपन्ना कौमारीभार्या।—४-२-१३, ५०-१७१, ७२।

२ जनी बहुलि जन्मा। जनी बोहारो जन्मा, जनीमवास्तु जन्मा इति।—४-४-८२, ५०-२८५।

३ ५-४-१३४।

४ वारयन्ति इति वाराः, वीर्ये तीर्हारा—३-३-२० ५०-३०१।

५ पत्न्युर्तोष्यस्तयोरे यज्ञसंयोग इत्युच्यते तत्रैव न सिध्यति इत्यमरमपत्नी। अयं तर्हि स्वप्न? पत्नीसंयाज इति धन्य दत्तसंयोगः।—पृथगपि तुपजकस्य पत्नीति न सिध्यति उपमाना-त्सिद्धम्। पत्नीव पत्नी।—४-१-३३ ५०-५०-५१।

उसका फल भोपनेवाली अल्पवर्ती। इस पत्नी-संयाम' (यज्ञ-विधेय) के सम्बन्ध में ही पत्नी शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि-काल तक आते-आते पत्नी-संयाम की प्रथा सामान्य घरों में मूट हो गई किन्तु पत्नी शब्द ओ एक बार बल चुका वा बलता गया। वह त्रिजातियों तक सीमित न रहकर भार्या का सामान्यबोधक बन गया। पतञ्जलि के सामने पाणिनि के समर्पन का प्रश्न था और भौत्रिय होने के कारण वे मूल से 'यज्ञसंयोग' शब्द को निकासना भी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने दूसरी युक्ति का सहारा लिया। पञ्चमहायज्ञ उनके समय में भी प्रचलित थे। इसलिए, उन्होंने कहा कि पत्नी शब्द जिस पति शब्द से बना है उसका अर्थ भर्ता नहीं है। यह ऐश्वर्यवान् अर्थ में व्यक्त हूँ पति शब्द है। इसी से पत्नी शब्द बनता है। त्रिजाति के प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञों का विधान है। उनके लिए प्रातः-सम्यं गृहस्थ जिस ऋतु और पुरोडास का निर्वाह करता है उसका वह ईश्वर या स्वामी होता है। वह उसके फल का भी ईश्वर होता है। इस अर्थ में पुरुष को पति कह सकते हैं और स्त्री को पत्नी। किन्तु, इससे भी पूरी समस्या का समाधान नहीं हो सका। सूर्या की स्त्रियों के लिए भी पत्नी शब्द का प्रचलन हो चुका था। उसके लिए भाष्यकार न कहा कि वहाँ उपमान से काम चल जायगा। वह युद्ध पत्नी न होते हुए भी पत्नी के समान होने के कारण औपचारिक अर्थ में पत्नी कही जा सकती है। पाणिनि-काल से पतञ्जलि-काल तक पत्नी शब्द का अर्थ-विकास समाज में सने-सान होनेवाले परिवर्तनों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

**बहुविवाह**—पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ परस्पर सपत्नी कहलाती थीं। भाष्य में अष्ट भार्याबोधने पुरुष का उल्लेख है। स्त्री एक साथ एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती थी या नहीं इसका भाष्य में कोई उल्लेख नहीं है। पति का गौरव पत्नी की गौरव-वृद्धि में सहायक था। वीरपत्नी दासपत्नी वैन शब्द क्रमशः पति के कारण पत्नी को प्राप्त होनेवाले गौरव और सुखता के बोधक थे। सपत्न्यादि यग में एक और, दास शब्दों का उल्लेख है।

पत्नी के मरण-शोषण का मार पुरुष पर होता था। पोषित होने के कारण ही पत्नी को भार्या भी कहते थे। नबोडा भार्या को बबूटी और बिरप्टी कहते थे। ये शब्द भार्या की पीबन-सम्पन्नता को व्यक्त करते थे। इन्में और भाष्य युक्तियाँ आनर्पण का विधेय केन्द्र थीं।

१ ४१ ३३, पृ० ५०, ५१।

२ दीप शोष पतिशाम्बोऽयमैश्वर्यवाची। तर्जुन च गृहस्थेण पञ्चमहायज्ञा निवर्त्यति। पञ्चाहः सार्यप्रातःसुमिष्वस्युरोडागाभिर्बपति तस्यासबौष्टे। एवमपि सुपञ्चस्य पत्नीति न सिद्धपति। उपमानास्तिष्ठन्। पत्नीब।—बही।

३ ४१ ३५।

४ ७-१-२१ पृ० २६।

५ ४-१ ३५।

६ ६ ३-२८ पृ० १८२।

७ ४-१-२० पृ० ४४।

८ २ १-६५, पृ० ३२२।

पत्नी का धर्म—पत्नी का धर्म पति को प्रसन्न रखना और उसकी काम-वृत्ति भी था। छत्यानीपति-भाग जो विवाह का मुख्य भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग कहा जाता है पतञ्जलि काक में आंशिक रूप से ही उल्लेख था। भाष्यकार ने कहा है, 'शेव (कामपीडा) के कारण स्त्रियों में प्रकृति होती है। शेव-विगम (काम-नाम्ति) जिस प्रकार गम्या में हो सकती है उसी प्रकार अगम्या में। तो भी इस विषय में नियम बनाया गया है कि कौन गम्या है और कौन अगम्या' सुन्दर बस्त्रों से सज्जित होकर पति को कामयमान रखी जिस प्रकार पति के सामने स्वयं को विवृत (निरावरण) करती है, उसी प्रकार नागिवृ के सम्मुख बाक उपस्थित होती है' इस प्रकार की उपमा भाष्यकार जैसे धोषिय ने निरसंकोच दी है। 'पति के निमित्त खनन करना' ऐसी उक्तियाँ संकोच का कारण नहीं थीं।'

शौन्दर्य नाटी का महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता था। स्त्रियाँ पतृधर्म सुन्दर आकर्षक बस्त्रों तथा आभूषणों का उपयोग करती थीं। पति शौन्दर्य का मूल्य समझता था। 'वदतनु' आदि सम्बोधन इसके प्रमाण हैं। भूषणों की वर्षा यथास्थान अभ्यन्त हुई है। उमर अतिक्रमण वर का उल्लेख भी हो चुका है। पति-पत्नी का पारस्परिक आकर्षण दाम्पत्य-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग था। कभी-कभी प्रेमी के हृदय पर अधिकार करने के लिए बलीकरण मंत्रों का भी उपयोग होता जिन्हें 'हृद्य' कहते थे।' बलिना कलाटिका केघनेस तथा अन्य भूषणों और मण्डनों का सूत्र प्रचार था।

विधियु—अनेक बहनों में बड़ी बहन का विवाह पहले किया जाता था। छोटी बहन का पहले विवाह होना सामाजिक दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता था। जिसकी छोटी बहन का विवाह पहले हो जाता था उसे विधियु' कहते थे और उसके पति को विधियुपति'। इससे स्पष्ट है कि समाज ऐसे मामलों पर बड़ी दृष्टि रखता था और जो अपवाद होते थे उन्हें स्मरण रखा जाता था।

भार्या के सम्बोधन—यू को भुभगमी कहते थे। यह शब्द उसने प्रति सम्मान-भावना का परिचायक है। कन्यादान के साथ पिता द्वारा कन्या को कुछ द्रव्य या बस्त्रादि दिये जाते थे। इसे 'हरण' कहते थे। हरण धर्म माना जाता था।'

विवाहित स्त्रियाँ को पति के नाम के आधार पर पुकारने की प्रथा थी। पूत्रश्रु की स्त्री

१ आ० १ पु० १८।

२ आयेय पर्ये उरुलीमुवाताः तद्यथा आयापर्ये कामयमाना मुवाताः स्वमात्मान विवृणुते ।—आ० १ पु० ८।

३ १४ ३२, पु० १६८।

४ १ ३-४८, पु० १७।

५ ४-४ १६।

६ ४ ३ ६५, ४ १ ४२ ३ २ १५१।

७ ६ २ १९।

८ ६ २-६५ विषयी, प० २७१ (पुना - संस्करण)।

पूजकामी 'बृपाकपि की बृपाकपायी' मनु की मनायी या मनायी 'गणक की गणकी योपाकक की योपाकिका महामात्र की महामात्री प्रथ और प्रथर नेता की प्रथी और प्रथरी कहलाती थी। इसी प्रकार, उपाध्याय की पत्नी उपाध्यायी या उपाध्यायानी मातुस (माता) की पत्नी मातुसी या मातुलानी आचार्य की पत्नी आचार्यानी और क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रिया या क्षत्रियाणी बही जाती थी। य आचार्य केवल पति के नाम पर आधित थीं। यह आवश्यक नहीं था कि आचार्यानी स्वयं पढ़ाती हो या क्षत्रियाणी स्वयं क्षत्रिय हो। सूर्य की स्त्री को देवता हा तो सूर्य और मानुषी हो तो सूरि (कुन्ती) कहते थे। यह इस बात का सूचक है कि विवाहोपरान्त कन्या पति क गुण-गौरव की सहभागिनी बन जाती थी। पति का कुल उसका कुल बन जाता था। सम्भवा होता बड़े भाग्य की बात मानी जाती थी। जिस स्त्री का पति प्रीक्षित हुना था उस पतिव्रती' कहते थे। पतिव्रती घर जीवित्मनुस्त्व का बोधक था।

यह आवश्यक नहीं था कि हर कन्या विवाह करे। इच्छानुसार कोई सड़की कुमारी रह सकती थी। ऐसी सड़की जबतक विवाह न करे, कन्या मानी जाती थी। समाज में वृद्ध कुमारियाँ और परल्लुमारियाँ भी पाई जाती थीं।

भैतिक बोध—भाष्य में नैतिक पठन को मूषित करनेवाले उस्तन भी कई स्थात्रा पर मिलते हैं। कन्याएँ विवाह क पूर्व भी गर्भवती हा जाती थीं। उनकी सन्तान कानीन कहलाती थी। भाष्यकार न कानीन शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि यों तो यदि कन्या है ता उसका अपत्य नहीं हो सकता और यदि अपत्य हो गया तो कन्या कहाँ रही। कन्या और अपत्य य दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। अतः, कन्यापुत्र को कानीन नहीं कह सकते। फिर भी कन्या का कन्यात्व पुत्र के साथ विवाह और उसके साथ यौन सम्बन्ध होने पर समाप्त होता है। जिनका पुत्र क साथ यौन सम्बन्ध विवाह होने क पूर्व हो जाता है, उनका कन्यात्व ता गन्त नहीं होता इमतिष्ट कन्या या कान्या पुकारती जानेवाली या कन्या मानी जानेवाली सड़की क अपत्य को कानीन कहता उचित ही है।' आरभरा शब्द भी पञ्चांगिक में आया है और भाष्यकार न 'नन्दिप्रतिपदादिभ्यो

१ ४-१ ३६।

२ ४ १ ३७।

३ ४ १ ३८।

४ ४-१ ४८, पु० ५६।

५ ४ १-४९ वा० ४ ६-७ पु० ६३।

६ ४ १-४८, पु० ६३।

७ ४-१ ३२, पु० ४९।

८ ६-२-९५।

९. कन्यायाः कनीन् च। इवं विप्रतिपिडम्—यदि च कन्या मापत्यमपात्यं न कन्या।

नैतद्विप्रतिपिडम्—कन्यम् ? कन्या शब्दोऽयं पुंसामिसम्बन्धपूर्वके सम्प्रयोगे वसते। या चैतानी प्रापतिस्सम्बन्धम् पुंसा सह सम्प्रयोगे वसति तस्यां कन्या शब्दो वसत एव। कन्यायाः कन्योक्तापटः कन्याविप्रतापः सुवर्तानायाः परपत्यं च कानीनः।—४ १ ११६, पु० १४०।

स्युगिन्यच' (३-१ १३४) सूत्र में उसके पञ्चादिवश में पढ़ने का समर्पण किया है। बार प्रति से मित्र गुण्य प्रेमी को कहते थे। भाष्य की स्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धिपा जानेवाले या बुद्धरत्न की ओर से जानावाले को बार कहते हैं।<sup>१</sup> बार को पाठने-पोसनेवाली स्त्री बारमरा कही जाती थी।<sup>१</sup> स्वामयिक है कि बार की वृष्टि घटीर और सौन्दर्य के उपभोग की ओर रहती हो। ऐसी स्थिति में अवाञ्छित गर्भ रहना भी स्वामयिक था। धर्मवती स्त्री को अन्तर्वली कहते थे।<sup>१</sup> अनुचित गर्भ बहुधा बिरा या छिपा दिये जाते थे। गर्भ को गप्ट कर देनेवाली स्त्रियाँ पुत्रहृत्ती या पुत्र-वन्धी कही जाती थीं। परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बूढ़ी स्त्रियाँ भी इस पाप में सहायक हो जाती थीं। ऐसी 'पुत्रपुत्रादिनी' स्त्रियाँ भी समाज में थीं। समाज इन्हें बूढ़ा की वृष्टि से देखता था। पाणिनि ने ऐसी स्त्रियों के प्रति समाज की आक्रोश-भाषना का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> भाष्यकार के विद्वं हुए वैदिक उद्धारकों से इस पाप-गरम्परा की गति वैदिक काल तक माकूम होती है।<sup>१</sup> भाष्य में भ्रूण-हत्या का भी बार उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup>

बाती—वासियों की स्थिति समाज में अच्छी न थी। वे मासिकों की काम-शुधा वृष्टि का सामन पगती रहती थीं। ऐसी बास-मार्याओं की संख्या बहुत थी। इनकी संतान जो दाखेर कहलाती थीं<sup>१</sup> घर में पकटी रहती थी और बही सेवा-टहल करने लगती थी। ये बासियाँ रखेस बन जाती थीं। इनके अतिरिक्त यथा-कथा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें भेजने पड़ते थे जिनमें मासिक किसी प्रकार का बायिलेब देने को तैयार नहीं होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण को गहिष्ठ मानता था। पतञ्जलि ने इसे असिष्ट व्यवहार कहा है। शिष्टता के निबर्तों से बाह्यता व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार के सम्बन्ध में सं + बम् वातु को बारमनेपक का विधान किया गया था।<sup>१</sup> संयच्छते का अर्थ है—दानपूर्वक उपयोग करना। भाष्यकार ने इस प्रकार के दासी या बृषणी के सम्बन्ध को व्यसिहार या शिमा-विनियम कहा है क्योंकि दासी और कामुक दाना का दृष्ट परस्पर एक दूसरे से छिद्र होता था।<sup>१</sup> कासिकाकार (१ ३ २३) के काल तक जाते-जाते तो बृषणी धाम-शुधों की काम-वृष्टि का सहज साधन बन गई थी।

कुमारस्वाधि में इस प्रकार की अवाञ्छित बट्याओं की आसंका के कारण ही समाज स्वत्व वैवाहिक जीवन को श्रेष्ठ मानता था। विवाह के लिए मनुष्य सम्भूज साधन एकत्र करता था

१ ३-३-३० पृ० ३०१।

२ ३-१ १३४ पृ० १९७।

३ ४ १ ३२, पृ० ४९।

४ ८४ ४८, पृ० ४९८।

५ ३-१ १०८, पृ० १८५।

६ महामाय्य शब्दकोष पृ० ८४३ ४४।

७ २-१ १, पृ० २३५।

८ ४ १ ११४ पृ० १३८।

९ १ ३-५५, पृ० १९।

१० १ ३-५५, पृ० १९।

और तदर्भ जी-जाम से परिश्रम करता था। और कुछ उपाय न मिला तो भीष्म मोंगकर ही चार पैसें जोड़ केता था और घर बघाता था।

माता—स्त्री घम्ब मातृत्व की ओर संकेत करता है। स्त्री घम्ब 'सर्प' धातु से बना है, विमला बर्ष है गर्भधारण करनेवासी। सबन में पुमान् कर्त्ता और अविचरण स्त्री मानी जाती थी। स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व न ही हो सकती है। पत्नीत्व और विवाह सब इंसक सामन हैं। इनीलिए, स्त्री पुत्र को कामना किया करती है। माप्य में प्रयुक्त पुत्रकाम्यति पुत्रीयति पुत्रीयस्ते पुत्रीयपति आवि दम् इसी कामन को पुष्टि करत हैं। पुत्र उत्पन्न होन पर बड़ा ह्य ममाया जाता था। माप्य में पुत्रीयति क ह्य में दद्य सहस्र माप्ये तक दान निय जाने का उम्भव प्राप्त होता है।

माता का संस्तान कर प्रभाव—मातृ-रूप में स्त्री का महत्त्व पत्नी से बड़कर था। संस्तान को बच्चाई या बुराई बहुत कुछ माता पर निर्भर खूवी है यह बात समाज में मान्य थी। इनीलिए, प्रसंसा निन्दा या किसी विधेय गुण-विधेय की ओर ध्यान आह्वय करन के लिए संस्तान को प्रायः माता के नाम पर पुकारा जाता था। माता अच्छी हुई तो संस्तान सीमागिनय कात्याधिनय 'मात्राह्ये' 'माद्रमातुर' या सांमातुर' कहलाती थी। माता की निन्दा प्रकट करन में कानीन, 'कौन्तेय' 'कौन्टेर,' 'बास्यापुत्र' 'बासेर,' 'काबेर' आदि शब्दों का प्रयोग होता था। मातृ-मन्त्रम्भी किसी विधेय बात को ओर ध्यान आह्वय करने में 'मातुट, 'मैमातुट, 'पापमातुर' 'मैमात्रय'

१ २-१-५१ पु० ३०२।

२ अविचरणसाधना लोके स्त्री। स्वामत्यस्या गर्भ इति। कर्त्तासाधनश्च पुमान् कृते पुमानिति।—४ १ ३, पु० २०।

३ १ ३ १ पु० १३ तथा ६ १ १५८, पु० २०० तथा ७-४-३५, पु० २३४ तथा ६ १ ४, पु० १५।

४ यस्मिन् ब्रह्मसङ्ग्रामि पुत्रे जाते गर्भा बन्धी।

बाह्यधेय्यः प्रियास्येय्यः सायमुञ्जयेन लीबति।—१ ४ ३, पु० १३१।

५ ४ १ १२६।

६ १ ४-२, पु० ११९ तथा ४ १ ११४, पु० १३८।

७ ४ १ ११५।

८ ४ १ ११६, पु० १४०।

९ ४-१ १२७।

१० ४ १ १३१।

११ ४ १ १२३।

१२ २-१-५२, पु० ३००।

१३ ४-१ ११५।

१४ १ ४ १२०, पु० १४१।



स्वुगिम्यब (३-१ १३४) सूत्र में उसके पञ्चाविण्य में पढ़ने का समर्पण किया है। पार पति से मित्र गुप्त प्रेमी को कहते थे। भाप्य की व्युत्पत्ति के अनुसार बुझापा जानेवाले या बुझत्व की ओर से जानेवाले को पार कहते हैं।<sup>१</sup> पार का पासने-पोसनेवाली स्त्री पारमरा कही जाती थी।<sup>२</sup> स्वामाधिक है कि पार की बुष्टि खटीर और सौन्दर्य के उपभोग की ओर खड़ी हो। ऐसी स्थिति में अवाञ्छित गर्भ रहना भी स्वामाधिक था। गर्भवती स्त्री को अस्तबली कहते थे।<sup>३</sup> अनुचित गर्भ बहुत पिरा या छिया बिये बाटे थे। गर्भ को नष्ट कर देनेवाली स्त्रियाँ पुत्रहृती या पुत्र खणी कही जाती थीं। परिवार की प्रतिष्ठ्य की रक्षा के लिए बूढ़ी स्त्रियाँ भी इस पाप में सहायक हो जाती थीं। ऐसी 'पुत्रपुत्राविनी' स्त्रियाँ भी समाज में थीं। समाज इन्हें पुत्रा की बुष्टि से देखता था। पाबिनि ने ऐसी स्त्रियों के प्रति समाज की आक्रोश भावना का उल्लेख किया है। भाप्यकार के बिये हुए वैदिक उद्धरणों से इस पाप-परम्परा की पति वैदिक काल तक मामूम होती है।<sup>४</sup> भाप्य में भ्रूण-हत्या का ती बार उल्लेख मिस्त है।<sup>५</sup>

दासी—दासियों की स्थिति समाज में अच्छी न थी। वे मास्कों की काम-शुधा वृष्टि का साधन बनती खड़ी थीं। ऐसी दास-भार्याओं की सख्या बहुत थी। इनकी उत्पान ओ दासेर कहलाती थीं पर में पकती खड़ी थी और नहीं सेना-टहल करने समती थी। ये दासियाँ रञ्जक बन जाती थीं। इनके अतिरिक्त यथा-कथा इस प्रकार के ऐसे अपमान उन्हें झेकने पड़ते थे जिनमें मास्क किसी प्रकार का दासित्व सेने को तैयार नहीं होते थे। समाज स्वामियों के ऐसे आचरण का नहिह मानता था। पतञ्जि ने इसे अपिष्ट व्यवहार कहा है। सिष्टता के नियमों से वाह्यता व्यक्त करने के लिए ही इस प्रकार के सम्बन्ध में सं + म् पातु को आरम्भेपक का विधान किया गया था।<sup>६</sup> संयञ्जते का अर्थ है—दानपूर्वक उपयोग करना। भाप्यकार ने इस प्रकार के दासी या वृपसी के सम्बन्ध को व्यतिहार वा क्रिया-विनियम कहा है क्योंकि दासी और कामुक दोनों का इष्ट परस्पर एक दूसरे से सिद्ध होता था।<sup>७</sup> कासिकाकार (१ ३-२३) के काल तक बाटे-बाटे तो वृपसी ग्राम-पुत्रों की काम-वृष्टि का सहज साधन बन गई थी।

कुमारत्वादि में इस प्रकार की अवाञ्छित बटनाओं की बार्धका के कारण ही समाज स्वस्व वैवाहिक जीवन को यष्ट मानता था। विवाह के लिए मनुष्य सम्पूर्ण साधन एकत्र करवा था

१ ३-३-३० पृ० ३०१।

२ ३ १ १३४ पृ० १९७।

३ ४ १ ३३ पृ० ४९।

४ ८ ४ ४८ पृ० ४९८।

५ ३-१ १०८ पृ० १८५।

६ महाभाप्य शाखकोप पृ० ८४३ ४४।

७ २-१ १ पृ० २३५।

८ ४ १ ११४ पृ० १३८।

९ १ ३-५५ पृ० ६९।

१० १ ३-५५ पृ० ६९।

और उपर्युक्त बी-जान से परिभ्रम करता था। और कुछ उपाय न मिला तो भीख माँगकर ही चार पैसे जोड़ लेता था और घर बसता था।

माता—स्त्री शब्द मातृत्व की ओर संकेत करता है। स्त्री शब्द 'स्त्री' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गर्भधारण करनेवाली। सबन में पुमान् कर्ता और अधिकरण स्त्री मानी जाती थी। स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में ही हो सकती है। पत्नीत्व और विवाह सब इसके साधन हैं। इसीलिए, स्त्री पुत्र की कामना किया करती है। माप्य में प्रयुक्त पुत्रकाम्यति पुत्रीपति पुत्रीपत्ने, पुत्रीपिपति आदि शब्द इसी कथन की पुष्टि करते हैं। पुत्र उत्पन्न होने पर बड़ा हर्ष मनाया जाता था। माप्य में पुत्रोत्पत्ति के हर्ष में बरा सहस्र गायें चक्र दान किये जान का उल्लेख प्राप्त होता है।

माता का सन्तान पर प्रभाव—मातृ-रूप में स्त्री का महत्त्व पत्नी से बढ़कर था। मन्तान की बच्चाई या बुराई बहुत कुछ माता पर निर्भर रहती है यह बात समाज में मान्य थी। इसीलिए, प्रणंसा निन्दा या किसी विशेष गुण-दोष की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्तान को प्रायः माता के नाम पर पुकारा जाता था। माता अच्छी हुई, तो सन्तान सीभागिनय कास्याजिनय<sup>१</sup> माद्रबाहेय<sup>२</sup> माद्रमातुर या सामातुर<sup>३</sup> कहलाती थी। माता की निन्दा प्रकट करने में कानीन कौष्ठेय<sup>४</sup> कौष्ठेय<sup>५</sup> दास्या-पुत्र बासेर, काजेर<sup>६</sup> आदि शब्दों का प्रयोग होता था। मातृ-सम्बन्धी किसी विशेष बात की ओर ध्यान आकृष्ट करने में हैमातुर, भैमातुर,<sup>७</sup> पाष्मातुर,<sup>८</sup> वैमात्रय<sup>९</sup>

१ २-१-५१ पृ० ३०२।

२ अधिकरणपदावना लोके स्त्री। सत्यामृत्यस्यां गर्भ इति। कततापनञ्च पुमान् सूते पुमानिति।—४-१३, पृ० २०।

३ १-३-१ पृ० १३ तथा ६ १ १५८, पृ० २०० तथा ७-४-३५, पृ० २३४ तथा ६-१-४, पृ० १५।

४ यस्मिन् बससहस्राणि पुत्रे जाते गर्वा इवौ।

बाह्यमेभ्यः प्रियास्येभ्यः सायमुष्मेन जीवति।।—१-४३, पृ० १३१।

५ ४-१ १२६।

६ १-४-२, पृ० ११९ तथा ४-१ ११४, पृ० १३८।

७ ४-१ ११५।

८ ४-१ ११६, पृ० १४०।

९ ४-१ १२७।

१० ४-१ १३१।

११ ४-१ १२३।

१२ २-१-५२, पृ० ३००।

१३ ४-१ ११५।

१४ १-४ १२०, पृ० १४१।

बैधवेय सापत्न आदि शब्द जाते थे। इस प्रकार, जो पुत्र-दोष मा विधेपताएँ माता में रहती थीं, वे उसकी सन्तान के साथ भी परिचयात्मक रूप से जोड़ ही जाती थीं। अनेक सम्बन्धों का निर्धारण स्त्रियों के सम्बन्ध से होता था। उदाहरणार्थ—मातृपुत्रसा<sup>१</sup> पितृपुत्रसा<sup>२</sup> एवं स्वसा<sup>३</sup> के नाम पर उसकी सन्तानें पितृपुत्रीय मातृपुत्रीय और स्वपुत्रीय कही जाती थी। पिता का नाम न मासूम होने पर सन्तान माता के (पौत्र) के नाम से पुकारी जाती थी किन्तु पिता का नाम न मासूम होना कुत्सा की बात थी। इसलिये, ऐसे नाम (पौत्र) से सन्तान का पुकारा जाना निन्दा का सूचक था। गार्गी (पौत्र) स्त्री की सन्तान गार्गी या गार्गिक कहलाती थी। इसी प्रकार, वातप्य स्त्रीपुत्रायन भावि वास्मयोधक नाम पड़ जाते थे।<sup>४</sup>

वश्य—माप्यकार के समय में बंध पिता के नाम पर चरता था। स्त्री बन्ध नहीं मानी जाती थी। इसीलिये, पाणिनि ने स्त्री की युवसंज्ञा का निषेध कर दिया है।<sup>५</sup> पाणिनि ने सामान्यतया अपरय नाम पिता के नाम पर ही आधुत माने हैं। स्त्रियों के नाम पर सन्तान के नाम विशेष कारणों से ही पड़ते थे। किन्तु, यह मत सर्वमान्य न था। कुछ विद्वान् माता और पिता दोनों को बन्ध मानते थे और दोनों के नाम पर अपरय-नाम स्वीकार करते थे।

पुत्र के भाव पुत्र होना प्रसन्नता की बात मानी जाती थी। ऐसे पुत्र को पुत्रानुज<sup>६</sup> कहते थे। इसी प्रकार, कुलीन माता की सुधील एवं सवाचारिणी पुत्री को कुलपुत्री या कुल्लुहिता<sup>७</sup> कहते थे। पुत्री रूप गुण और धील में बहुत कुछ माता के समान<sup>८</sup> होती है। इसीलिये, कुलीनता को इतना महत्त्व दिया जाता था।<sup>९</sup> पाणिनि ने बुज्जुल कुल और महाकुल तीनों का पृथक् उल्लेख किया है। इनमें उत्पन्न सन्तान क्रमशः कुलीन महाकुलीन<sup>१०</sup> और बुज्जुलीन<sup>११</sup> होती थी।

सामाजिक प्रतिष्ठा—प्राचीन काल का युग स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा के अपेक्षाकृत ह्रास का काल था। यद्यपि स्त्रियों में अब भी आपिचल और कासकृत्स्न-प्रणीत प्रश्नों की अभ्यन्त-

१ ६-५-३५, पृ० ३२३।

२ ४ १ १३४, पृ० १४४।

३ ४ १ १३८।

४ ४ १ १४३।

५ ४ १ १४७, पृ० १४५।

६ ४ १ १६३ ४ १ १४।

७. न स्त्री बन्ध्या—अपरमातु इत्येव धर्मो मातृबन्धः पितृबन्धवत्।—४-१ ११४, पृ० १४६, १४७।

८ ६ ३ ३, पृ० २९९।

९ ६ ३-७० पृ० ३४७।

१० १ १-५७, पृ० ३६५।

११ ४ १ १३९।

१२ ४ १ १४१।

१३ ४-१ १४२।

सीखा विद्यमान थी।<sup>१</sup> कठ कामाप और बहु-बुध धासाजों में विदुषियाँ विद्यमान थीं।<sup>२</sup> कुमारियाँ बाल्यकाल से ही बीया लेकर यमना और प्रयोजिता का जीवन बिताती थीं।<sup>३</sup> कुछ कुमारी रहकर अम्पापिका का काम करती थीं। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों की श्रेष्ठ प्रचारिकाएँ स्त्रियाँ थीं।<sup>४</sup> इस प्रकार, स्त्रियों में उच्च शिक्षा का प्रचार अब भी था तो भी वह बहुत-कुछ बाह्यणों एवं राजन्य-वर्ग तक सीमित रह गया था। स्त्रियों को व्याचार्य और उपाध्याया का पद ना प्राप्त होता था।<sup>५</sup> उच्च परिवारों में पदों की प्रथा थी। राज-परिवार की स्त्रियाँ तो 'अमूर्यम्पसा' थीं। वे सूर्य (पुस्किग) तक का मूज नहीं देख पाती थीं। स्त्रियाँ समा में नहीं जाती थीं। समा-मूह में सामुपुष्य को सम्य कहते थे किन्तु स्त्री समा में सामु नहीं मानी जाती थीं। यदि समा का अर्थ भीमम्पकर शास्त्री क अनुसार यज्ञ-समा को जिसमें विद्वान् पुरुषों का ही ज्ञान का अधिकार है मान लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों में अध्ययन की प्रकृति भी नष्ट होने लगी थी और यज्ञादि समा में उनकी उपस्थिति अच्छी नहीं मानी जाती थी। यदि समा से तात्पर्य नगर-समा या छात्रा से है तो भी यह स्पष्ट है कि स्त्रियों का पुरखों क साथ सार्वजनिक समा-रोहों में भाग लेना अच्छा नहीं माना जाता था। इसीलिए ता भाष्यकार ने कहा है कि 'तत्र साधु-मूज स्त्री के सम्बन्ध में प्रत्यय का विधान नहीं करता क्योंकि स्त्री समा में साधु (मछी) हीस लग सकती है?' पाणिनि के 'प्रत्यभिवादे सूत्रे' (८-२-८३) सूत्र पर कात्यायन का बालिक और उसपर पतञ्जलि का भाष्य इस बात का प्रमाण है कि पाणिनि के बाद स्त्री की स्थिति गिरते-गिरते लगभग सूत्रों के समकक्ष आ गई थी। पाणिनि-काल में छोटों के हाथ बढ़ा को प्रणाम करने पर बड़ों की ओर स क्रिय प्रत्यभिवाद म सूत्र के लिए प्लुत नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ यदि यज्ञवत्त गुरु को प्रणाम करता तो प्रत्यभिवाद म गुरु कहता 'मो आपुप्मानवि देववत्ता३। इस वाक्य में गुरु देववत्त के अन्तिम स्वर को प्लुत घोळता किन्तु यदि कोई गुरु प्रणाम करता और उसका नाम देववत्त होता तो वही व्यक्ति आशीर्वाद देता—'मो अमुप्मानवि तुपत्रक'। तत्र तुपत्रक का अन्तिम स्वर सुप्त नहीं किया जाता था। पतञ्जलि के समय में स्त्रियों को भी गुरुओं के साथ जोड़ दिया गया और सूत्रा के समान उनके प्रणाम के उत्तर में भी प्लुत नहीं किया जाने लगा। यदि पार्ष्णी गुरु को प्रणाम करती तो वह विना प्लुत क प्रत्यभिवाद करता—'मो अमुप्माठी अब मागि'। इस प्रकार सूत्र स्त्री और असूत्रक (अविनीत) इन तीनों का स्वात सिध्दाचार की सामान्य मर्यादा में भी निम्नकोटि का माना जाने लगा था।<sup>६</sup> स्त्रियों और पुरुषों

१ ४११४, पृ० ३६।

२ वही।

३ २-१-७०।

४ ७-३-४५, पृ० १९०।

५ ४१४९, पृ० ६३।

६ २११, पृ० २३२।

७ ४११५, पृ० ४०।

८ ४११५, पृ० ४०।

९ ८-२-८३, पृ० ३८०।

के प्रति ममस्कार-प्रवृत्ति में इसी कारण अन्तर कर दिया गया था। अपने से बड़े पुरुषों के प्रति ममस्कार-निवेदन करते समय ममस्कारकर्ता अपने नामोत्प्रेक्ष के साथ कहता था 'अभिवाद्ये देवदत्तोऽहं भी' और मुस्कन उत्तर देते थे 'आयुष्मानेधि देवदत्तः' किन्तु स्त्रियाँ ममस्कार करते समय न अपना नामोच्चार करती थीं और न उन्हें ममस्कार करनेवाला अपना नामोच्चार करता था। आधीर्वाण देते समय स्त्रियाँ बाधयात्र में प्रवृत्ति भी नहीं करती थीं क्योंकि उन्हें व्याकरण का ज्ञान नहीं होता था। माप्यकार ने व्याकरण पढ़ने का एक उद्देश्य यह भी बतलाया है कि ममस्कार के प्रत्यभिवादे में हम प्रवृत्ति करना जान कार्य अन्वया छोटे सम्बन्धी बाहर से लौटकर हमें उसी प्रकार प्रणाम करने लग जायेंगे जिस प्रकार स्त्रियों को केवल 'यह मैं आ गया' कह अभिवादन कर देते हैं।'

राजनीतिक प्रवृत्ति—यह सत्य है कि जनपदों या प्रदेश विशेष की निवासिनी नागरिका के रूप में स्त्रियों की पृथक स्थिति स्वीकार की जाती थी। महामाय में जनपदों की सदस्याओं के रूप में उनका पुरुषों से पृथक अस्तित्व स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ अजन्ती कुल कुल शूरसेन मद्र दत्त, अम्बष्ठ सौवीर पंचाल जिवेह अंग अंग ममक मगं कश्यप केकय यौत्रेय शौभ्रेय शौभ्रेय आदि की नागरिक स्त्रियाँ क्रमशः अजन्ती कुम्भी कुल शूरसेनी मद्र दत्त अम्बष्ठ्या सौवीर्या पंचामी बंदिही आंगी बांगी मागमी भार्गी काश्यपी कँकेयी यौत्रेयी शौभ्रेयी और शौभ्रेयी कहाँ जाती थीं। इसी प्रकार पर्शुरक्षा जमुरी काश्मीरी साम्नी प्राबन्धी बास्यी भास्यी श्रैगती भार्गी शौभ्रेयी आदि नाम सम्बद्ध प्रदेशों की स्त्रियों के लिए ब्यहृत होते थे।' इसी प्रकार गोत्रापर्यों में भी बहुत्ववाचक स्त्री-पुरुषों में भेद किया जाता था और स्त्री गोत्रापर्यों के लिए पृथक घरों का व्यवहार था। उदाहरणार्थ—यस्क लम्ब कुल, गर्म विद वस वनि मृग, कुल बसिष्ठ भोतम अंगिरस आदि पौत्रों की स्त्रियों (बहुवचन में) के बोधक घरों में अपर्याय प्रत्यय बना रहता था किन्तु पुरुषों के बोधक घरों में प्रत्यय का लुप (लोप) हो जाता था। इस प्रकार, यस्क क पुरुष गोत्रापर्य 'यस्का' कहलाते थे और स्त्रियाँ 'यास्क्य'। सन्धा (साध्व) दुह्या (द्वीह) मर्गा (गार्म्य) विवा (वीध) वस्था (वास्त) अजय (जानेय्य) मृगव (मार्ग्य्य) कुला (कौल्य) वासिष्ठ्य (वासिष्ठ्यः) योतमा (यौतम्य) अंगिरमा (अंगिरस्य) आदि अनेक अन्य गोत्रापर्यों में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता था।' प्राच्य पौत्रों तथा पलागाट, मन्वरपण मरत गोत्रों तथा मुषिष्ठिर, अर्जुन आदि पौत्रों में यह अन्तर प्रचलित था। किन्तु, इस अन्तर का प्रभाव उनकी सामाजिक स्थिति पर नहीं था। नागरिक के रूप में पृथक परिगणित होने से उन्हें कौन-

१ अग्निजात प्रत्यभिवादे नाम्ने ये न प्रवृत्ति विदुः।

कार्यं तेषु तु विप्रोप्य स्त्रीत्विकापमर्हं बवेत् ॥

अभिवादे स्त्री वन्मात्रम्।—भा० १ पृ० ६।

२ ४१ १७६ तथा ४१ १७७, १७८ तथा २-४ ६२ पृ० ४२६।

३ २-४ ६३ से ६६।

४ २-४-६६ काशिका।

से विशेष अधिकार प्राप्त होते थे या कौन-सी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी इसका उल्लेख भाष्य में नहीं नहीं मिलता। गोत्रापत्य के रूप में भी उनका पुरुष उल्लेख उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाता नहीं मानसू होता। वास्तव में यह अन्तर केवल सिंगमैद के लिए किया जाता था। इस अन्तर का यदि अन्य कोई उद्देश्य हो सकता था तो वह या स्त्रियों का पुररों से व्यवहार करना जिससे उनके हीनत्व की ही पुष्टि विशेष होती है। गोत्रापत्य के एकवचन और द्विवचन के रूपों में तो यों भी कोई अन्तर नहीं दिखा जाता था। बसल बहुवचन का अन्तर लोच-व्यवहार के कारण था। इसमें इससे अधिक कुछ पढ़ने का प्रयास करना व्यर्थ है।

भात्रीवचन कुमारियाँ—‘कुमार’ समजादिभिः (२ १-७०) मूत्र कथमजादिगण म पठित समजा प्रवृत्तिना कुलटा गमिणी तापमी दासी बग्भकी अभ्यापिका और पठिष्टनादभ्य पतंत्रिकासीम नारी की वास्तविक स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। कुछ नारियाँ गिता स्वाभ्याय वीराम्य और सप को सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देती थीं। य कुमारसमजा कुमार प्रवृत्तिना कुमाराभ्यापिका कुमारतावसी और कुमारपठिष्टना देवियाँ समाज का गौरव थीं। कुमारी और कुमारकुलटा कुमारगमिणी स्त्रियाँ थीं जो इस बात को स्पष्ट करती हैं कि समाज में नहीं-नहीं चुन बचकर सग चुका था और उसके वैवाहिक नियमों में ऐसे दोष या चुके थे जो समाज को चरित्रहीनता की ओर ले जाते हैं। कुमारासी और कुमारबग्भकी स्त्रियाँ समाज के बनावट और घनहीन वर्ग के वीराम्य की भार इंगित करती हैं जिसका बहू दुःखमूर्ही निर्वर्तन शक्तिकाओं को भी भंगना पड़ता था।

गणिकाएँ—अनेक स्त्रियाँ गणिकाओं और नटियों का काय करती थीं। गणिकाओं की सस्मा इतनी अधिक थी कि उनके संघ बन पय थे। नटियों की प्रतिष्ठा इतनी कम थी कि रंपत्यसम में कोई भी उनसे प्रेम की अभिव्यक्ति कर सकता था। वे भवभाव्या मानी जाने लगी थीं।



१ पठिष्टानां समूहो गणिकावयम् ।—४-२-४० पृ० १७९।

२ नटानां स्त्रियोरङ्गता यो यः पृच्छति तस्य सूर्यं तस्य सूर्यमिति तं तं तव तस्तेषाम् ।—१-१२, पृ० १३।

## अध्याय ६

### निवासी

निवास—निवास लोगों के रहने के स्थान को कहते थे।<sup>१</sup> किसी व्यक्ति का निवास ही स्थान था जहाँ वह उस समय रहता था भले ही उसके पूर्वज वहाँ न रहे हों। पूर्वजों के निवास स्थान का नाम अभिजन था। इस प्रकार, किसी का निवास और अभिजन एक ही स्थान हो सकता था। किन्तु, यदि कोई पूर्वजों के स्थान को छोड़कर अन्यत्र रहने लगता तो उसके निवास और अभिजन भिन्न-भिन्न स्थान होये थे।

भाकार, वर्षात महत्ता की दृष्टि से निवासों में अन्तर होता था। सामान्य निवास और वैशिष्ट्य निवास के लिए भी पृथक् नाम थे। निवास सामान्य घग्घ या जो जनपद से प्राप्त था के लिए प्रयुक्त होता था। निवास के नाम पर लोगों के नाम पड़ जाते थे। सुष्ण जिसका निवास होता था उसे यौष्ण कहते थे। इसी प्रकार जिसका अभिजन मन्वुष होता उसे मानुष कहते थे। व्यापक अर्थ में निवास देश का वाचक था और संकुचित अर्थ में घर का। घर के लिए माप्य में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग मिलता है—

शाळा—शाळा बहुत छोटा एक छपर का घर होता था। हिन्दी में इसका अपभ्रंस रूप शार (पद्म बाँधने का छाया हुआ स्थान) प्रचलित है। सामान्य अर्थ में शाळा घग्घ का प्रयोग किसी विशिष्ट कार्य के लिए लिखित घर होता था। जैसे नाय-बीछ बाँधने का स्थान घोशाळा<sup>२</sup> बहुत-से दण्डबाणियों के रहने का स्थान पण्डिमती शाळा<sup>३</sup> और बहुत-से मुचकों के रहने का स्थान बहुपुका शाळा कहा जाता था। मुचक बमूल करने के लिए बनाया गया छोटा-सा स्थान दुल्क-शाळा या त्रिमके बधिकारी को पीस्क-शाळिक कहते थे। शाळा समा का भी पर्याय था। यह बात 'असाला व' (२४ २४) से प्रमाण होती है। समा घग्घ संघात और शाळा दोनों का बोधक था और इस प्रकार शाळा और समा पर्याय थे। कालिका ने इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण

१ निवसस्यस्मिप्रति निवासो वेदा उच्यते ।—४ ३-८९ काणिका ।

२ ४-३-८९, पृ० २४४ ।

३ ४ ३-८९, ९० पृ० २४४ ।

४ २-४-२५ ।

५ ५ २ ९९ पृ० ४०० ।

६ ४ १ १३ पृ० ३६ ।

७. ४ ४ ६९ ।

‘बन्धन’ किन्तु है और समा का अर्थ कुटी मना है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समा बंधन बन हुआ था।

यह समा बन्धन कुटीर और कुटिबद्ध राजने के लिए बनाई गई सत्ता का भी कहते थे। मन्मथर ने इतिहास विद्वानों और बहुरूप-संज्ञाता का उल्लेख किया है। समा में लोग एक-दूसरे से ही अपने बंधन की ओर बाधक की ही विद्वान की भी बाधक थी। इसीलिए समाजके के अर्थ बन्धन बाधक को ‘समीन’ कहते थे।

धन—निवास का एक अन्य नाम था धन। धन शब्द सि (निवास) धनु से व्यपिकरण पर प्रयुक्त होकर बना है। काविकाकर ने धन शब्द के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण भी दिया है—‘धन जानुहि प्राम्भन्’। इससे धन शब्द का अर्थ गृह स्पष्ट है।

गृह—गृह शब्द से बड़ा होता था। प्रत्येक परिवार के पास एक गृह होता था। भाग्य के उल्लेखों से पाला और गृह में दो अन्तर मान्य होते हैं। प्रथम यह कि पाला गृह से छोटी या निम्न प्रकार की होती थी यद्यपि सर्वथा ऐसा नहीं होता था और द्वितीय यह कि गृह व्यपिकृत निवास को कहते थे और पाला का स्वल्प अपेक्षाकृत सामाजिक था। विनय का पर हीन था है? जैसे उल्लेख पाला के विषय में नहीं मिलते। इसी प्रकार, विनय के पर उल्लेख है यदि वाक्यों में निम्न प्रकार बच्चों के दुर्मिता या विमिता होने का संकेत मिलता है उस प्रकार पाला के विषय में ऐसे संकेत उपलब्ध नहीं हैं। श्रुतेर (२-४२ ३) आदि में गृह शब्द का प्रयोग बहुवचन में ही मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि गृह में एक-से अधिक कमरे होते थे। गृह को यह भी कहते थे। यह कुटी और मठ पर्यायवाची थे। यह या कुटी छोटे भी होते थे और बड़े भी। प्रायः कुटी पाला के समान ही एक छप्पर या कमरे की होती थी। कमरे का भाहार विनय भी बड़ा हो सकता था। छोटे आकार की कुटी को कुटीर कहते थे।

निकाय—निवास का एक भेद निकाय भी था। निकाय निवास-स्थान के अतिरिक्त संघ (प्राणिसमूह) का भी वाक्य था। यथा निसुकमिनय ब्राह्मणनिकाय या धियाकरथ निकाय।<sup>१</sup> निवास से निम्न अर्थ में निषेय शब्द का प्रयोग होता था। निवास से निकृता-युक्ता

१ ४ ३-२३, २४ काशिका।

२ ६-२ १०२।

३ ४ १ २७ पु० ४२।

४ ४ १-५५, पु० ६९।

५ ६ ३-३५, पु० ३२२।

६ ५ २ २०, पु० ३७२।

७ ६ १ २०१ काशिका।

८ १ १ २६, पु० २१९।

९ ४ १-९२, पु० ११७।

१० ६-३-४१।

११ ३-३-४२ काशिका।



एक दूसरा शब्द निकाम्य भी आवास के लिए प्रयुक्त था।<sup>१</sup> इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति प्राचिन ने निपातन द्वारा बतलाई है। निकाम्य और निकाम्य शब्दों के निवास-स्वान्त थे।

अगार—अगार गृह से बड़ा होता था। इसके कई शब्द होते थे। एक ही अगार के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न भिन्न कार्यों के लिए उपयोग में आते थे। अगार राजकीय भवन होते थे। बड़े मन्दिरों के लिए अगार शब्द का प्रयोग हुआ है। अगार की रक्षमात्र के लिए अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। देवागार, कोष्ठागार, भाष्यागार आदि के लिए नियुक्त अधिकारी देवागारिक कोष्ठागारिक और भाष्यागारिक आदि कहलाते थे।<sup>१</sup>

निपद्या—निपद्या उस निवास को कहते थे जहाँ माषी आनन्दकृतानुसार ठहरता था। निपद्या एक प्रकार की बर्मशाळा या सराय होती थी।<sup>१</sup>

विशिष्ट निवास—कुछ मकान केवल विशिष्ट व्यक्तियों के ही रहने या ठहरने के लिए निश्चित रहते थे। वे स्वान एकस्मिक या ऐक्यात्मिक कहलाते थे।

इस प्रकार, आकार भेद से तथा कार्य-विशेष के लिए निश्चित रहने के कारण निवास के अनेक भेद हो गये थे। इनमें छात्रा एकस्मिक गृह वेह कुटी मठ कुटीर, शय निकाम्य निकाम्य निपद्या और अगार का उल्लेख माध्य में मिलता है।

प्रासाद और हर्म्य—इनके अतिरिक्त दो प्रकार के निवास और थे—हर्म्य तथा प्रासाद। हर्म्य धर्मियों के घर को कहते थे।<sup>१</sup> ये अजेलाकृत बड़े और सुन्दर होते थे। हर्म्य एक से अधिक मन्दिनों के और खूब ऊँचे होते थे। हर्म्य में गृह तथा पाद-मंडोस की भूमि और पशुशाला के सम्मिश्रित रहने का आशय था (श्वि० इण्डे० १२३०)। प्रासाद राजभवन होते थे।<sup>१</sup> माध्यकार ने पाटलिपुत्र के प्रासादा की बार-बार चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि प्रासाद राजधानियों में बनाये गये बड़े बड़े महलों को कहते थे। प्रासाद भी छोटे-बड़े दोनों प्रकार के होते थे। कभी-कभी छोटे प्रासाद कुटीरों से बने होते थे।

गृहनिर्माण-विधि—छोटे-छोटे घर या मालाएँ छप्पर से किये जाते थे। छप्पर विशेष प्रकार के वृक्षां से बनते थे और छदि कहलाते थे। छदि के काम जानेबाके वृक्ष छदियेय कहे जाते थे। छदि में काष्ठी (छरकाष्ठी) का प्रयोग भी अधिक होता था। इसलिये, उसे काष्ठीर भी कहते थे।<sup>१</sup> दीवारें या भित्तियाँ मिट्टी और ईंटों की बनती थी। पक्की और कच्ची दोनों प्रकार की

१ ३१२२९।

२ ४४७०।

३ ३-३९९।

४ ५३-१०९।

५ १३-४०, ५०, ६७।

६ ११-८, ५०, १५७।

७ ३-११०, ५०, ४४।

८ ५१२, ५०, २९४।

९. भा० २, ५०, ७९।

द्वि मितिकर्म के लिए व्यवहार में आती थीं। इतों से घनी दीवार इष्टकथित और पक्की दीवार पक्केष्टकथित कही जाती थी।<sup>१</sup> अच्छे मकानों में दीबे पक्का फर्श बनाया जाता था। पक्क फर्श को 'कुट्टिममूमि' कहते थे।<sup>२</sup> मकानों के फर्श ऊँचे बनाये जाते थे जिससे वर्षा का पानी उसके भीतर न मर आय। ये ऊँचे फर्श बेदिका कहलाते थे। बेदिका या पुण्डरीक की विशेष बनावट मकानों की पहचान के भी काम आती थी। 'कतकतवतु निष्ठा' (१ १-२६) सूत्र के भाष्य में कहा गया है 'बेदकत का भर कौन-सा है यह पूछने पर किसी ने उत्तर दिया, 'जहाँ कौआ बैठता है' वो कौए के उड़ जाने पर या खो जाने पर भर भी खो जायगा किन्तु दूरवर्सी उस अस्तिर चिह्न से कोई स्थिर चिह्न यथा बेदिका या पुण्डरीक ग्रहण कर लेगा।'<sup>३</sup>

घर के कमरों में बायु तथा प्रकाश के लिए झँझरी या गवाश बनाये जाते थे। घर के भीतर माँयन रहता था जिसे जजिर कहते थे।<sup>४</sup> स्नान कं सिए पुरक स्थान निश्चित रहता था जिसे प्रस्त कहते थे।<sup>५</sup> सामान टाँपने के लिए दीवारों में सक्की की खूंटियाँ गाड़ दी जाती थीं जो संकु कहलाती थीं। घरों में दीपक रखने का स्थान भी बनाया जाता था जो घर के भीतर ऐसे स्थान में होता था जहाँ रखा हुआ दीपक सारे घर को प्रकाशित कर सके। दीपक मिट्टी के होते थे जो हुआ से ब्रुम जाते थे।<sup>६</sup>

अगार बड़ा मकान होता था। इसे बेधम भी कहते थे।<sup>७</sup> अगार के बाहरी काठे को जो गृहस्थ के घर का एक भाग था<sup>८</sup> आवसथ कहते थे। इसमें आवसथ्य अग्नि रखी जाती थी और उसमें 'रहनेवासा आवसथिक'<sup>९</sup> कहलाता था। आवसथ यज्ञ या उत्सव पर्वों के अवसर पर अतिथिया आसकर ब्राह्मण अतिथियों के स्वाफतादि के लिए बनाया जाता था (अथर्व १ ६ ३)। वैदिक इण्डेक्स में इसे कर्मशाखा का एक रूप माना है (भाग १ पृ० ६६)। अगार का ही एक भाग प्रबण या प्रबाण कहलाता था।<sup>१०</sup> प्रबण द्वार के पास के कमरे होते थे जिनमें प्रायः अगार-रखक रहते थे। द्वार मन् का बाह्य मार्ग होता था। अगारों हर्म्यों और प्रासादों क द्वार पर रखक

१ ६ ३ ६५ तथा १ १-२७, पृ० ४५५।

२ ४४-२०, पृ० २७५।

३ १ १-२६, पृ० २१८, ११।

४ ७-४-४१, पृ० २३५।

५ २ ४-५४ पृ० ४९०।

६ ३-३-५८, पृ० ३०८।

७ ५ १-२, पृ० २९८।

८ १ १ ४९, पृ० २९८।

९ ८ २-५०, पृ० ३६८।

१० १ १ ४९, पृ० २९८।

११ ५ ४ ४३।

१२ ४ ४-७४।

१३ ३-३-७९।

निवृत्त रहते थे जो शैविक कहलाते थे।' काशिका ने द्वार को अग्निद्वार-प्रवेश-द्वार का करण कहा है।' द्वार कपाटों से बन्द किये जाते थे जिससे धोर घर में प्रवेश न कर सकें।' द्वार से ही घर का नाम दुरोध पड़ा (वैदिक इण्डेक्स १ २३०)। किवाड़ परिवि या पस्वि द्वार मीठर से घट कर मिय जाते थे। पस्वि छोटे की छड़ या चटखनी होती थी।' लौह-शुद्धता का व्यवहार द्वार बन्द करने में होता था। शुद्धताएँ पशुओं को बांधने के भी काम आती थीं।' इस तरह बन्द किवाड़ों को भी तोड़-फोड़कर अक्षितघाती धोर मास-मत्ता निकाल ले जाते थे। इसीसिद्धि, वे कपाटम्न कहलाते थे।'

मकानों के ऊपर (सबसे ऊपर) बटारी या बुर्जी बनाई जाती थी जिसे वामलकी' कहते थे। छत की दीवार के बाये छम्बे बनाये जाते थे और उन्हें कलापूर्व सुवाई या कारीमरी से सजाया जाता था। छम्बे बरुमी' कहलाते थे। अस्त्रिण छम्बरों या छम्बरों की उमारी को जिससे बरसात का पानी टपकता था बरुमीक कहते थे।'

मकानों में पहली के ऊपर बनाई हुई अग्न्य मंजिले अट्टालिका कहलाती थीं। मकान में ऊपर का भाग भी अट्टालिका कहलाता था। इसी अनुकरण पर एक के ऊपर एक लगाई हुई गाँठ या वन्धन को अट्टालिका-वन्धन कहते थे।'

मकान बनाने की विद्या या कला को वास्तुकर्म वास्तोप्ययीय या वास्तोप्यत्य कहते थे। इसका देवता वास्तोप्यति माना जाता था। वास्तुकर्म से सम्बद्ध वस्तु को वास्तव्य कहते थे।''

१ ४-४-७०।

२ ४ ३-८६।

३ ३-२-५८।

४ ८ २ २२, पृ० ३४५।

५ ५ २-७९।

६ ३-२-५४।

७ ३-२-८२, पृ० २७४।

८ वही।

९ ३-१-८७ पृ० १५५।

१० ३-४-४१ पृ० ३६२।

११ ४ २ ३२ तथा ३ १-२६, पृ० १८०।

## अध्याय ७

### ग्राम और नगर

**भार्य-निवास**—भ्राप्यकार ने भार्य-निवासों के ग्राम घोप नगर और सबाहू ये नाम बताये हैं।<sup>१</sup> घोप घोड़ी-सी शोपड़िया का छोटा-सा गाँव होता था। इसमें एक प्रधान पुरुष और अन्य उसी के सबसे या उसके छोटी स्थिति के लोग रहते थे। जैसे माम्यों का घोप बास्व्यों का घोप या दाक्षिणोप।<sup>२</sup> घोप मुख्यतः गाय जैसे आदि पशु पालनेवालों की बस्ती होती थी। जिस स्थान में ब्राह्मण तथा अन्य अधिक रहते थे उसे ग्राम कहते थे। प्राकार और परिष्कारवाली बस्ती जिसमें अलग-अलग जातियों के लोग मसम मुहूर्त्तों में रहते थे नगर कहलाती थी। अधिक जनसंख्या वाले नगर को सबाहू कहते थे। इस प्रकार, घोप और ग्राम बसावट की दृष्टि से समान थे तथा नगर और सबाहू समान थे। देस ग्राम मर' जनपद' और राष्ट्र' इन चार भागों में विभक्त था।

**ग्राम और नगर में साम्य**—ग्राम और नगर अनेक बातों में समान थे। इसलिए कई बार ग्राम और नगर में अन्तर नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ यदि कहा जाता कि ग्राम्य कुक्कुट और ग्राम्य शूकर का मांस नहीं खाना चाहिए, तो लोग नागर शूकर और नागर कुक्कुट का भी मांस नहीं खाते थे। इसी प्रकार, मांस में अभ्ययन नहीं करना चाहिए, इसका अर्थ होता था कि नगर में भी अभ्ययन नहीं करना चाहिए। यह बात सामान्य विधियों के विषय में थी किन्तु बस्ती की दृष्टि से यदि ग्राम का उल्लेख होता तो उसमें नगर नहीं शामिल माना जाता था। उदाहरणार्थ यदि किसी से पूछा जाता कि आप कहाँ से आ रहे हैं और यदि वह इसके उत्तर में कहता कि ग्राम से नहीं तो सुतरां यह अर्थ समझ लिया जाता था कि नगर से आ रहा है। इसलिए ग्राम भिन्न था और नगर भिन्न। ऐतिहासिक अन्तर न होने पर भी संस्तराय (रिवाज) विधेय के कारण ग्राम घोप नगर और सबाहू ये मेर बन गये थे। भाष्य के मत से ग्राम कहने से नगर का भी ग्रहण होना चाहिए।<sup>३</sup>

**ग्राम-रचना**—ग्राम शाखा-समुदाय अर्थात् घरों के समूह को कहते थे। गाँव बह गया,

१ कः पुनराभ्यासः ? ग्रामो घोपो नगरं सबाहू इति ।—२४ १०, पृ० ४६५।

२ ४-३-१२७ पृ० २५३।

३ ६-२-८५।

४ १-१ ६३, पृ० ४१४।

५. ५ ३-७२, पृ० ४७०।

६. ७-२-१४, पृ० १८०।

इसका अर्थ 'बर पक गये' माना जाता था। गाँव के सीमा-चिह्न पत्थर, खाई आदि भी प्राग में ही अन्तर्निहित थे। गाँव में प्रविष्ट हुआ इसका अर्थ कि प्राग के सीमासूचक चिह्नों के भीतर आना था। प्राग कहते हैं प्रागनिवासियों का भी बोध होता था। गाँव गया गाँव जाया का अर्थ गाँव में रहनेवाले छोय गये या जाये ऐसा समझा जाता था। गाँव से सम्बन्ध अरथ्य स्पष्टिस और सीमा-सूचक वस्तुएँ सब गाँव का अंग मानी जाती थीं। गाँव मिळ गया' का अर्थ था कि गाँव की बस्ती बेट अरथ्य टट, नष्ट आदि सब मिळ गये। इसीप्रिय, वे दो गाँव अगन्तर या पड़ोसी माने जाते थे जिनके अरथ्य बेट तथा सीमाएँ परस्पर जुड़ी रहती थीं जैसे ही उनके बीच में नदी या पहाड़ी का व्यवधान था। इस प्रकार के व्यवधान उनके आनन्द्य में बाधक नहीं माने जाते थे।'

प्राग एक मकान के भी होते थे और बड़े भी।' प्राग सभी प्राति के छोड़ प्रागों में निवास करते थे। जिस गाँव में एक ही प्राति या बर्ब की प्रमुखता होती थी उसमें भी कम-से-कम कुम्हार, कुम्हार, बड़ई, नाई और धोबी ये पाँच कार (धिल्पी) अवश्य रहते थे।' जिस प्राति के लोग गाँव में अधिक रहते थे उसी के नाम पर गाँव का नाम पड़ जाता था जैसे 'बाह्यप्राग। गाँव का मुखिया प्रागजी कहलाता था। गाँव की सीमा से सये हुए सीमा से बाहर या भीतर के घर अन्तर-गृह कहलाते थे। चबूक मृतप आदि सोंवों के ये घर होते थे। ये लोग नगरबाह्य होते थे।' एक ही प्राग में रहनेवासे समानप्रागिक कहलाते थे।'

प्राग्य अरथ्य—गाँव चारों ओर से अरथ्यों से घिरे रहते थे। आम के बागीचे' स्वोप्रोबों के समूह धिरीप आदि के बृश बस्ती के चारों ओर समाये जाते थे। उनकी सीमाएँ या तो नदी से निश्चित की जाती थी या सीमा-सूचक चिह्न बनाये जाते थे। गिरि, कठिन (शाङ्गिया) प्रस्ता, वन' जयस आदि से भी सीमा निश्चित की जाती थी।

प्राग-पानीय—गाँव के भीतर पानीय होते थे।' सभी गाँवों में पानी की व्यवस्था थी। एतदर्थ लोग कुएँ खोदते थे। साम्यकार ने कहा है कि कूपजानक कूप खोदते समय बृक-मिट्टी

१ १ १-७, पृ० १५५।

२ एकप्रागो प्राग ।—१ १ २१, पृ० २०१।

३ बाह्यप्राग जानीयतामित्युच्यते तत्र चावतः पन्थकास्कीमवति ।—१ १ ४८, पृ० २९५।

४ १ १ ३९, पृ० २४७।

५ १ १ ३६, पृ० २३८ तथा वही काशिका।

६ ४ ३-६० पृ० २३७।

७. १ १-७ पृ० १५५।

८. १ १-५६, पृ० ३४२।

९. ४ ४-७२।

१० ७-३-२५।

११ प्रागै प्रागै पानीयम् ।—८ १ १, पृ० २५८।

से सबकीर्ण ही जाता है किन्तु जब कुएँ में पानी आ जाता है तब उस पानी से बूझ-मिट्टी तो बूझ ही जाती है अन्य भी बहुत-सा काम होता है। कुओं के पास पशुओं के पीने के लिए पानी के होन बनाये जाते थे जो निपात कहलाते थे।<sup>१</sup> आरामियों के लिए भी प्याऊ बनाये जाते थे जिन्हें प्रपा<sup>२</sup> कहते थे। निपात को आहाव भी कहते थे क्योंकि यहीं खड़ा होकर पाँव के पशु चटनेवाला आमचीन पशुओं को खोसने के लिए हाँक मारता था।<sup>३</sup> कुएँ समय-समय पर साफ किये जाते थे। जो लोग यह काम करते थे वे उदगाह<sup>४</sup> कहलाते थे। इसी प्रकार कुओं से पानी डोनेवालों को उदहार या उदकहार और जिस कौबर से वे पानी डोते थे उसे उदबीबध या उदकबीबध कहते थे।<sup>५</sup> उदहार प्रायः कहार होते थे।

ग्राम-परिसर—गाँव के चारों ओर की भूमि तीन भागों में बँटी रहती थी—सीत्या गोबर<sup>६</sup> और ऊपर।<sup>७</sup> सीत्याभूमि केदारसखों में बिभक्त थी जिसमें अन्न बोया जाता था। गोबर भूमि पशुओं के चरने के लिए नियत थी। बन्ध्या भूमि को ऊपर कहते थे। गोबर भूमि में चरनेवाले ग्राम्य पशुसंघों का उस्सेस पाणिनि ने भी क्रिया है।<sup>८</sup> गाँव का वह खेज जहाँ पाँव के पशु प्रायः बैठते थे या बँधते थे गोष्ठ कहलाता था। अहाँ एक बार गोष्ठ रहा हो किन्तु बाद में उखड़ गया हो वह स्थान गोष्ठीन कहा जाता था।<sup>९</sup> गोष्ठ गाँव के बाहर पशुओं के बाड़े होते थे जिनका स्थान आबस्यकतानुसार बदलता रहता था। जब एक स्थान आसितंगु या आसितंगभीन हो जाता था<sup>१०</sup>, तो गोपाक लोग बूसरे स्थान में गोष्ठ बना लेते थे। गाँव में खेजक और नायक भी होते थे और जिन गाँवों से वे खेज जाते थे उन्हें बिसेचक और बिनायक कहते थे।<sup>११</sup>

नगर-निर्माण—नगर शब्द मत्स्य (वाका) में नग सभ्य के अन्वये प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है मत्र अर्थात् वृक्षावाका।<sup>१२</sup> भाष्यकार ने पृथक् बालिक द्वारा नगर की व्युत्पत्ति

१ कृपसामकः कूपकनन् मूत्रा पांसुमिश्रवाचकीर्णो भवति सोऽप्यु सञ्जातासु तत एव तं युवमासावपति येन सञ्जबोवो निर्हुष्यते। नृपसा चाभ्युदयेन योगो भवति।—आ० १, प० २४।

२ ३-३-७४।

३ ३-३-५८, पृ० ३०८।

४ बही, ३-३-७४।

५ ३-३-९०।

६ बही।

७ ४४९१।

८ ३-३-११९, पृ० ३१८।

९ ४२-१०७, पृ० ४१९।

१० १२-७३।

११ ५-२-१८, पोष्ठ धर्मन समिहितगोसमुहो वैश उच्यते (का०)।

१२ ५४-६ काशिका।

१३ १४६० पृ० १९१।

१४ ५-२ १०७, पृ० ४१९।

प्रतिपादित की है। अन्यत्र भी उन्होंने नगर को बनस्पतियों से युक्त कहा है।<sup>१</sup> भाष्यकार के इन कथनों से उत्कालीन नगर बसाने की पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। नगर ऐसे ही स्थानों पर बसाये जाते थे जहाँ जल की पूरी सुविधा हो हरी भरी उपजाऊ भूमि हो और वहाँ बनस्पतियों का आधिक्य हो। ऐसे स्थान में नगरकार शीघ्र सर्वाप्रथम नगर-धीमा निश्चित करते थे।<sup>१</sup> भाष्य में नगरकार शस्य का बार-बार उल्लेख नगर-निर्माण-कला का उत्कर्ष सूचित करता है। नगर-निर्माण करने-वाले यात्रियों का विशेष वर्ग इस कार्य के लिए उत्तरवायी होता था। ये लोग पहले परिखा और प्राकार तैयार करते थे। एतदर्थ उपयुक्त भूमि का चुनाव करना पड़ता था। परिखा (कतुदिक लाई) के योग्य भूमि पारिषेयी कही जाती थी।<sup>१</sup> परिखा-युक्त नगर को पारिख और उसमें होने वाली वस्तु को पारिखीय कहते थे।

नगर-प्राकार—नगर की दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु थी उसके प्राकार। परिखा और प्राकार बाह्य आक्रमणों से नगर की रक्षा के लिए बनाये जाते थे। पुस्तकालय ने जहाँ अनेक महत्वपूर्ण नगरों का उल्लेख (प्राकार के लिए भी पहले से ही उचित भूमि और मजबूत इटों का चुनाव कर लिया जाता था)<sup>१</sup> किया है वहाँ वे उनके प्राकारों का उल्लेख करना नहीं भूलें हैं। पाटलिपुत्र<sup>१</sup> और सुष्म के प्राकारों का विशेषतः तथा शस्य नगरों के प्राकारों का सामान्यतः उल्लेख उन्होंने किया है।<sup>१</sup> प्राकार इतने ऊँचे और चौड़े बगते थे कि उनके ऊपर से आवागमन की व्यवस्था रहती थी। प्राकार इतने से बनाये जाते थे।

नगर-प्रासाद—प्रासाद नगर की तीसरी विशेषता थी। प्रासाद महलों को कहते थे जो राजा वर्गों से मिलते थे। उच्चता विस्तार और रचना सभी दृष्टियों से ये अधिक महत्ववाली थी। इनसे नगर का पीर बढ़ता था। इसीलिए, भाष्य में सुष्म<sup>१</sup> और पाटलिपुत्र<sup>१</sup> के प्रासादों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। प्राकार सम्पूर्ण नगर की वस्तु थी किन्तु प्रासाद व्यक्तिगत सम्पत्ति<sup>१</sup> थे। प्रासादवासी लोगों का सामाजिक महत्व अतिशय था। प्रासादवासी ऊपरी मंडियों में रहते थे।

१ १ १-५१ पृ० ५५१।

२ १ १ ३९, पृ० २४०।

३ ५ १ १०।

४ १ १-५८, पृ० ३८०।

५ ५ १ १६। प्राकार आसामिष्यकानां स्वस्तु प्राकाराया इष्टकः प्राकाराया वेसः।—

पृ०, कासिका।

६ ४-३-१३४ पृ० २५८ तथा ४ ३ ६६ पृ० २३९।

७ ४ ३-३९, पृ० २३३।

८ ६ ३-१२२, पृ० ३६४।

९ ५ ३-१००।

१० ४ ३ ३९, पृ० २३३।

११ ४ ३-१३४, पृ० २५८।

१२ ५ १ १३ पृ० ३०४।

सामान्य गृहवाले नीचे भूमि पर रहते थे। भाष्यकार में इन्हें 'कृम्य' प्रासादवासी और भूमिवासी कहा है। कुछ लोग उभयवासी भी होते थे। इनके पास प्रासाद भी थे और सामान्य गृह भी। प्रासाद में कई मंजिलें होती थीं। उनकी उच्चता भी ध्यान आह्वित करती थी। प्रासाद पर चढ़कर देवन का अर्थ या ऋषि अङ्कन देवता। इसीलिए, पृथों के प्रवेश-सन्कार से सम्बन्ध रखनेवाले अनुप्रबचन (यत्र) गेहानुप्रवेगनीय कहे जाते थे किन्तु प्रासाद के प्रवेश से सम्बन्ध रखनेवाले प्रासादारोहणीय। प्रबन्ध और आरोहण शब्द इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हैं।

नगर, प्राकार और प्रासाद इन तीनों शब्दों के लिए पर्यायवाची को स्वतन्त्र शक्तियों का निर्माण करना पडा है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि पाणिनि और कात्यायन के समय तक ये शब्द अधिक प्रचलित न थे। प्रासाद और प्राकार से प्रासाद और प्राकार का भेद भाष्यकार ने इन्हें छत्रिम कहकर स्पष्ट किया है।

प्रासादों के अतिरिक्त नगर में राजकीय निवास राजसभा, इनसभा कोट्यागार, माण्डमार आदि राजकीय भवार, मूल्कादि की वासाएँ, सुष्वागार, प्रपा या पानागार तथा भाषण, प्रेक्षागृह आदि होते थे। भाषारों का शक्ति उनमें नियुक्त अधिकारियों पर होता था। मूल्क-मासाधों और पानागारों की व्यवस्था के लिए भी राजकीय कर्मचारी रहते थे।

नगर भाग—नगर के दो भाग होते थे—अन्तर और बाह्य। साधारण नागरिक 'पुर' के अन्तर भाग में रहते थे। अण्डासादि की बस्ती बाह्य भाग में होती थी।

नगर-मार्ग—नगर के माग यात्र की गलियों से चीड़े होते थे—इतने चीड़े कि उनपर रथ जा-जा सके। ऐसे भाग रथ्या कहलाते थे। इधर-उधर में जानेवाले मार्ग यत्र-तत्र एक दूसरे

- १ १ १-८, पृ० १५७।
- २ २-३-२८, पृ० ४२५।
- ३ ५ १ १११ पृ० ३४५।
- ४ ६-३-१२२, पृ० ३६४।
- ५ २-४-२३।
- ६ ४-४-७०।
- ७ ४-४-६९।
- ८ २-१ १ पृ० २९८।
- ९ ४ २ १०४ पृ० २०८।
- १० ४-२-८०।
- ११ ४-४-७०।
- १२ १ १ ३६ पृ० २३८ तथा कामिका।
- १३ वही।
- १४ ५ १ ६ पृ० २९८।



को काटते थे और इस प्रकार द्विपथ त्रिपथ और चतुष्पथ बनते थे।<sup>१</sup> भाष्यकार ने शीर्षकेसी तथा बहुत स्थानोंवासी रथ्याओं का चित्र किया है।<sup>२</sup>

नगर-द्वार—प्रत्येक नगर में चार मुख्य द्वार होते थे जिनपर द्वारपाल नियुक्त रहते थे।<sup>३</sup> ये द्वारपाल आशामन पर नियन्त्रण रखते थे तथा निश्चित नियमों के अनुसार द्वार-रूपाट बन्द करते थे। द्वारों के नाम रखने का भी नियम था। नगर का द्वार जिस प्रमुख नगर की ओर खुलता था उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता था। उदाहरणार्थ यदि काश्यपुत्र्य नगर का द्वार मधुरा की ओर होता तो उसे मापुर द्वार कहते थे। इसी प्रकार शीघ्र या पाटकिपुत्र्य द्वार<sup>४</sup> थे। इन द्वारों से होकर प्रसिद्ध नगरों को जानेवाले मार्ग का नाम भी पतञ्जल्य नगर के नाम पर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ काश्यपुत्र्य से झुम्भ या मधुरा जानेवाला मार्ग शीघ्र या मापुर कहा जाता था।<sup>५</sup> भाष्यकार ने इस प्रसंग में 'अभिनिष्क्रमति द्वारम्' (४ ३-८६) सूत्र में 'अभिनिष्क्रमति' शब्द पर आपत्ति करते हुए कहा है कि सूत्र में 'अभिनिष्क्रमति' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन द्वार निष्क्रमण नहीं कर सकता। जाने-आने की क्रिया तो चेतन पर ही अवलम्बित रहती है। इसलिये, 'अभिनिष्क्रमणं द्वारम्' कहना अधिक ठीक होता। काशिका ने कहा है कि द्वार अभिनिष्क्रमण-क्रिया का करण होता है। उसकी स्वातन्त्र्य से विवक्षा की गई है। पतञ्जलि ने उक्त आपत्ति का उत्तर स्वयं ही दे दिया है कि अचेतनों में चेतनावाकों के समान उपचार देना जाता है। जैसे घर का कोना बाहर निकल आया है या घर का कोना भीतर घँस गया है। इसी प्रकार यह द्वार मधुरा के सामने निकलता है यदि प्रयोग ठीक है।<sup>६</sup>

भाष्यकार ने ऐसे अनेक मार्गों का उल्लेख किया है जो एक नगर से दूसरे नगर को जाते थे। झुम्भ साकेत मधुरा और पाटकिपुत्र्य जानेवाले मार्ग बड़े नगरों से सम्बद्ध थे।

परिक्षा प्राकार और द्वार नगर की प्रतिरक्षा के प्रमुख साधन थे। आक्रमणकारी प्राकार तोड़कर ही नगर पर अधिकार कर सकता था।

बन्धननगर—भाष्यकार ने इन नगरों से निम्न जाहू-से प्रतीत होनेवाले उक्त बन्धननगरों की भी पर्चा की है, जो दूर से तो दिखाई देते हैं किन्तु पास जाने पर हाथ नहीं सकते।<sup>७</sup>

१ २-३-५०, पृ० ४७६।

२ ४ १-५४, पृ० ६६ तथा ४ १ १३, पृ० ३४।

३ ३-२-१, पृ० २०१।

४ ४ ३-८६।

५ ४ ३-८५।

६ ४ ३-८६, पृ० २४६।

७ १ ३-२५, पृ० ६४।

८ बाह्यादिगण्य ४ १-९६।

९ ४ १ १३, पृ० १८।

## अध्याय ८

### गृह-सामग्री

सामान्य ग्रामान्तरों में रहनेवाली वैदिक उपयोग की वस्तुओं का उल्लेख भाष्य में मिलता है। इनमें धयन-सामग्री पात्र तथा बरेलू काम के हूमियार आदि हैं।

धयन-सामग्री—धयन-सामग्री में बिष्टर<sup>१</sup> बिछान या भासन के लिए प्रयुक्त होता था। बिष्टर क रंग क्रीन था इस बात का पता भाष्य से नहीं चलता। छाटी छोटें, जिन्हें मंचा या मंचक<sup>२</sup> कहते थे बालकों के मान-मुक्ताम क काम आती थीं। इन पर पड़ बालक खिलवाया करते थे। छटवा (साट) पुरुषों के सोम के काम आती थी। इसे धय्या भी कहते थे। धय्या सजा शब्द था जो साट के लिए ही प्रयुक्त होता था हर धयन के लिए नहीं। यह मच स बड़ी होती थी। सम्भव है, मंच पालने का भी कहत हों। अरु भाग भूत से मंच को मच भी कह जाते थे।<sup>३</sup> छटवा भी चर्चा भाष्य में बार-बार आई है।<sup>४</sup> भाष्य में सट्वा से वस्तुओं क खरीदन का भी पता चलता है। किसी-किसी परिवार में बहुत छोटें होती थीं। उस छटवाउक कहते थे। सट्वा धयन के सामनों में एक थी। सामान्यतया सेटने क आचार को धयन और बैजन क आचार को भासन<sup>५</sup> कहते थे। जिसके पास सट्वा नहीं होती थी वह घास-पूस भूमि पर बिछाकर सा जाता था।<sup>६</sup>

बैजने के सामनों में त्रिपदिका और त्रिपदिका बर्त में रहती थीं।<sup>७</sup> य दो और तीन पात्र की सफ़ी की त्रिपदिका-वैसी वस्तुएँ थीं।

१ ८ ३ १३।

२ भा० १, पृ० ३२।

३ मञ्जु हसन्ति।—४-१ ४८, पृ० ५९।

४ ३ ३-९९।

५ भा० १, पृ० ३२।

६ भा० १, पृ० ३४।

७ ४-१ ३, पृ० २६।

८ भा० १ पृ० ३६।

९ २-३-२८, पृ० ४२५।

१० ३-२-११० पृ० २४५।

११ १ १-५७, पृ० ३५२।

बद्धा को पयक या पयंक और सय्या भी कहते थे।<sup>१</sup> बासन्ती या बायमकुर्त्ती का भी व्यवहार होता था।<sup>२</sup> यह प्रतिष्ठित सामों का बासन था। लंगड़े या अपाहिज छोम पर्य के सहारे पस्ये थे। इन्हें पयिक कहते थे।<sup>३</sup> पर्य बैसाखी तथा पहिलेबार कुर्त्ती दोनों को कहते थे।

पात्र—दैनिक व्यवहार के पात्रों में बट बटी कुम्भ कम्ब कम्बी कुम्भी महाकुम्भ करक और कमण्डलु बसपात्र थे। पटी छोटे लोटे के बराबर का मिट्टी या भातु का पात्र था। यत्रादि में बेबी के पास अनेक चाटियों में जल भरकर रखा जाता था। पट उससे बड़ा था और सामान्यतः मिट्टी का बनता था।<sup>४</sup> कम्बकी पटी के आकार की होती थी।<sup>५</sup> कुम्भ बट से भी बड़ा होता था। कुम्भी मर्कमा या मिट्टी की छोटी-सी मटकी थी। महाकुम्भ करकी के आकार का होता था जिससे एक भग तक वस्तु समा सकती थी। कुम्भस्य एक पात्र बनते थे। जिसे पट की आवश्यकता होती थी वह कुम्भकार के पास जाकर आवश्यकतानुसार बनवा लेता था।<sup>६</sup> बटी और पटिका समान थी।<sup>७</sup> इन्हें भी कुम्भकार बनाते थे। कमण्डलु बड़े लोटे के आकार का ब्रह्मचारियों का प्रसपात्र<sup>८</sup> था। सामान्य लोटे को करक कहते थे।<sup>९</sup> छात्र प्रायः 'कमण्डलुपात्रि' होते थे।

स्वासी (बटसोई) ओदन या सूप बनाने के काम आती थी।<sup>१०</sup> पिठर घासी या छोटी वाली के आकार का (बैसा या कटोरा) था।<sup>११</sup> पिठर कसि का बनता था जो बाघ के समान बजाने के काम भी आता था।<sup>१२</sup> स्वासी के विभिन्न आकार थे। मिस-मिस परिमाण के तन्तुओं के पकाने के लिए अल्प-अल्प स्वासियाँ रखी थीं जिनके नाम उनकी पकाव की योग्यता के आधार पर पड़ जाते थे। जैसे एक श्रेण बाबल पकाने की योग्यता रखनवासी स्वासी श्रौणी या श्रौणिकी कहलाती थी। इसी प्रकार पामीना आडकीना बाबितीना झाडकिनी त्रिकुकिनीना बाबि स्वासियाँ थीं।<sup>१३</sup>

- १ ८-२ २२ पृ० ३४५।
- २ ८-२-१९, पृ० ३३७।
- ३ ४४-९, पृ० २७४ तथा ४-४-१०।
- ४ भा० १ पृ० ५ तथा ३-२ ९, पृ० २११।
- ५ भा० १, पृ० १७।
- ६ ४ ३-५६।
- ७ ३-१ १२, पृ० १६७।
- ८ भा० १, पृ० १७।
- ९ भा० १, पृ० १६।
- १० १ ४-२, पृ० ११९ तथा २ ३३ २९, पृ० ४२३।
- ११ ८ २-८४ पृ० ३९०।
- १२ २-१ ३६, पृ० ३६४।
- १३ १ ४-१०९, पृ० २०८।
- १४ ४-४-५५, पृ० २८०।
- १५ ५ १-५२ से ५५, पृ० ३२५।

स्वाकी के समान उखा या कटाह भी पकाने का पात्र था और उसके नाम भी स्वाकी के समान प्रास्थिक आदि, पकाने की योग्यता के आधार पर होते थे।<sup>१</sup>

इनके अतिरिक्त कुण्डिका या कुण्डी, अमत्र कंस या कंसपानी या कास्यपानी कपाल घराब आदि नित्य व्यवहार के पात्र थे। कुण्डी (कुंडी) पत्थर या लकड़ी की होती थी।<sup>२</sup> थोड़े बड़े मेढ़ से इनके अनेक आकार थे। नाद को भी कुण्डिका कहते थे। यह मिट्टी की बनती थी। माप्य में कुण्डिका से पानी टपकाने का उल्लेख है।<sup>३</sup> अमत्र कठीती या उसी प्रकार का अन्य पात्र था जिसमें मात आदि परोसा जाता था। कंस कटोरी या कटोरा था जो कसि या ठाँबे का बनता था। कंस द्रुम-मात लाम के काम आता था।<sup>४</sup> यह भी मिश्र-मिश्र आकारों का बनता था। सौह कंस (ठाँबे का कटोरा) इतना कमकता था कि बेंरों की टोकरी (बदर पिटक) के बीच रख देने पर ऐसा प्रतीत होता कि उसमें बेंर भरे हुए हैं।<sup>५</sup> कंस-पात्रों का प्रचार सम्पन्न घरों में ही विशेष था और यह शीश की बात मानी जाती थी। कपाल कंस से बड़े आकार के होते थे। घराब प्याले के आकार के होते थे। घराब और कपाल मिट्टी के बने होते थे। घराबों का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक था।<sup>६</sup> मिट्टी के पात्र पुराने होने पर बहस दिये जाते थे। नई कुण्डी और नई घटी का महत्त्व विशेष था।<sup>७</sup> काशिकाकार ने 'सकताप्यास्थबर्षु' (३२-७१) सूत्र के भाष्य में मिश्रा-कंस आशा-कंस और माबी-कंस शब्दों का उल्लेख किया है। कंस जिस वस्तु के लिए व्यवहार में आते थे उसी के आधार पर उनके नाम पड़ जाते थे। ऋग्वेद में भी अमत्र का उल्लेख है। यह सोमपात्र के रूप में प्रयुक्त होता था।<sup>८</sup> उखा खाद्य वस्तुओं के रखने के काम आती थी। यह कड़ाई का प्राचीन रूप था। ऋग्वेद के यज्ञ-मसपों में इसका वर्णन है और वहाँ यह मुष्मयी बतलाई गई है।<sup>९</sup>

शेयभाक्षि-साधन—भोजन से सम्बन्ध वस्तुओं में घूर्प और तितत (पालनी) आन्न को साक करने के काम आते थे।<sup>१०</sup> उकू-सक अन्न को कूटने के काम आता था। मूयक इस काम में उसका

१ ४-२ १७ तथा ५ १-५२।

२ ४-१ ४२ काशिका।

३ ३-१-८७ पु० १५५ तथा मा० १ पु० १६।

४ ४ १ ४२ काशिका।

५ १ ३-१, पु० १४।

६ १-२-३०, पु० ५०३।

७ ८ २-३, पु० ३१७।

८ मा० १, पु० १९।

९ ४ २ १४ काशिका।

१० १ १ ४४, पु० २५९।

११ ३-३-२०, पु० २९९ तथा मा० १ पु० ८।

१२ २-१ ३६, पु० २८८ तथा १ १-५०, पु० ३०७।

१३ मा० १ १६२ १३ १४, तैत्ति० सं० ४-१ ६ ३ तथा भाष्य० सं०, ११-५९।

साथी था।' तिखनीबनी प्रत्येक घर में नहीं होती थी। तेसी के घर में होती थी, तथापि उसका महत्व प्रत्येक परिवार के लिए था।

**उर्ध्वचरन-साधन**—उर्ध्वचरन उर्दक (तेल ऊपर निकालने का साधन) कुर्से से पानी खींचने की रस्सी बरमा (पीसने की छिछ) और बूपद् (बकरी) ये गृहापयोगी वस्तुएँ प्रायः सभी घरों में थीं। उर्ध्वचरन से तेल निकालने के लिए था। उर्ध्वचरन बाहु-यात्र था जिससे बड़े में से पानी निकालते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में तथा शतपथ-ब्राह्मण में उर्ध्वचरन सम्य पानी खींचने की बास्ती के अर्थ में लिखता है। रस्सी को माप्यकार ने पाणिसम्प्री कहा है। यह चुसड़ी या तिखड़ी बनाई जाती थी। रज्जु के बताने भा बटने को 'बर्तन' कहते थे। बटने के बाद रज्जु काष्ठ-स्तम्भ में रगड़कर चिकनी की जाती थी और तब यह संबुष्ट या संबुधित हो जाती थी। इसके बाद दुबारा ऐंठकर यह तिखड़ी की जाती थी और तब उससे पानी खींचा जाता था। बरमा (छिछ) और बूपद् (बकरी) ये दोनों पीसने के काम आते थे। दही मचने की मटकी तथा रई (मस्य) भी प्रायः घरों में रहते थे।

**छिछा-साधन**—असि 'परशु', बाघ 'इष्म-श्रवण' पलाश-शातन (हंसिया), आस आसुर, आसनिक या आसनिकवक बासी 'मृलादन' और शंक्रुका सामान्य व्यवहार के औजार थे। असि और परशु काटने के काम आते थे। बाघ (गड़ारी) को कहते थे। इष्म-श्रवण मुन्हाड़ी का नाम था जो सक्की काटने के काम आती थी। पलाश-शातन पेड़ों से पत्ते छीटने के

१ आ० २-१४ १।

२ ३-३-१२३ पृ० ३१८।

३ ऐत० ब्रा० ७-३२ तथा शत० ब्रा० ४ ३-५ २१।

४ ३-१ १२४, पृ० १९२।

५ १ १ ४४ पृ० २७५।

६ ५ १ ११९, पृ० ३५५ तथा १ ३-२८, पृ० ३५।

७ १ ३ १ पृ० ८।

८ ४-३ २५, पृ० २३०।

९ ५ १ ११०।

१० १ ४-१ पृ० १०९, ११०।

११ २-१ २, पृ० २६४।

१२ २-१ ३२, पृ० २८५।

१३ २-२-८, पृ० ३४२।

१४ नहीं।

१५ २-३-१२५, पृ० ३१९।

१६ ४ १ ३, पृ० १८।

१७ नहीं।

१८ २-१ १ पृ० ३२७।

काम आता था। आन्ध या आखर पत्रके को कहते थे। सोनै में इसका प्रयोग होता था। बुआदन कुम्हारी का इसका नाम था। बागी या कुम्हारी और बुआदन एक ही बीबार का नाम था। महुला सरीसे को कहते थे जो मुपारी आदि कान्ने के काम आता होया।

भरनी और कोटे—पदार्थों को रखने के लिए जिन पात्रों का व्यवहार होता था उनमें घृतपट और ठैलपट मोत्रण से सम्बन्ध रखते थे। ये अन्य घनों से भिन्न थे और केवल घृत तथा ठैल रखने के ही काम आते थे। घी या तेल निकाल देने पर भी उनकी घृतपट या ठैलपट संज्ञा अमुक्त रहती थी। घ पट कनी-कमी भी और तेल सत्र हा जाने पर अग्नि में तपाय जाते थे और तृण की कृषी से मलकर साफ भी किये जाते थे जिससे उनमें रखे गये घृत या तेल सखरव नहीं होते थे। कुतुप चमड़े की कुप्पी हाती थी जो ठैलारि रखने के काम आती थी। कुतु कुतुप से बड़ी हाती थी। कुतु आबपन थी। उसमें भरकर अन्न बोया जाता था। उट्टिका भी आबपन-पात्र था। मम्मवतः ऊपर का भाग (गरदन) ऊँट के समान सम्बा होने के कारण इसका नाम उट्टिका पड़ा था। दृति (मसक) चमड़े की पैसी के रूप में व्यवहृत होती थी। दृति में भरी हुई वस्तु, पार्ये कहलाती थी। मन्त्रा मस्त्रिका या मस्त्रका चमड़े की बनी मसक-जैसी वस्तु थी जो पदार्थ भरने के काम आती थी। सुहार की चमड़े की पीचनी को भी मस्त्रा कहते थे। गोपी और गोपी लयी बड़े और छोटे आकार की बोरियाँ थी जो प्रायः घरों में रहती थीं और अनाज भरने के काम आती थी। गोपी का प्रचलन आज भी ग्रामों में है। टट्ट पर असाहि लादनेवाले बन्दिये गोपी का ही उपयोग करते हैं। टट्ट की पीठ पर दो गोणियाँ दायें-बायें सटकाकर परस्पर जोड़ दी जाती हैं। बीबध (बीबर या बहेमी) पानी या अन्य सामान बोने के काम आती थी।

अन्न भरने के लिए मिट्टी के अनेक पात्रों का प्रयोग किया जाता था। रबी या सरीफ की उपर इनमें भरकर रबी जाती थी जिससे बूहे या कीड़े उभे नष्ट न कर सकें। ऐसे पात्रों में कुम्म कुम्हार का बनाया हुआ मटका होता था। कसग और कसगी भी जिनका अपभ्रंश रूप करसा और करवी आज भी प्रचलित है अनाज भरने के काम आते थे। कुभूल उससे बड़ा मिट्टी का बना मटका या बेहरा होता था और कुम्मी कुम्म का छोटा संस्करण। कुसूल में बहुत अधिक

१ २ १ १, पृ० २४०।

२ ५ ३-८९ कासिका।

३ ४ १ ३ पृ० २२।

४ ४ ३-५६।

५ ४ १ ६४, पृ० ७४ तथा ४ ४ १ ६ तथा १ १-७२, पृ० ४५७।

६ १ २-५०, पृ० ५४९।

७ ४-४ १७ पृ० २७५।

८ ४ ३-५६ तथा ६ ४ १७४, पृ० ५०७।

९ ८ ४ १३, पृ० ४८१ तथा १ ३-७, पृ० २७।

१० ६-१ १०२ तथा ४ १ १, पृ० ९।

११ १ ३-७, पृ० २७।

बनाज समा जाता था। इसे कन्दु या कोष्ठ (कोठा) भी कहते थे।<sup>१</sup> इनका मुँह बनाज भरने के बाद ऊपर से बन्द कर दिया जाता था किन्तु नीचे की ओर बनाज निकालने के लिए ऐसा छेद रखा जाता था जिस आनव्यक्तानुसार खोला जा सके। इस छेद को कुक्षुम-बिन्दु कहते थे। कूप और घासा क्षतियों के रूप थे। भूमि के भीतर खावकर कच्ची या पक्की क्षतियाँ भी बनाज रखने के लिए बनाई जाती थीं। इनके मुख को भी कूपबिन्दु और घासाबिन्दु कहते थे। छोटा कुक्षुम कुक्षुली कहलाता था।<sup>२</sup>

आस्तरण—बरों में भूमि पर बैठने के समय जिस आस्तरणों का उपयोग होता था उनमें कट मुख्य था। कट काश तथा अन्य अनेक तृणों से बनाये जाते थे।<sup>३</sup> चर्म का व्यवहार बिछौने के रूप में भी होता था। द्वीपी का चर्म बिछाने में श्रेष्ठ माना जाता था किन्तु वह सब बरों में उपसम्भ नहीं था।

१ २-११ पृ० २५३।

२ ४११, पृ० ९।

३ ३१९८, पृ० १६८।

४ २-३-३६, पृ० ४३१।

## अध्याय ९

### वैशम्पैय

सामान्य बस्त्र—भाष्यकार ने परिवारतीय वस्तुओं में वस्त्र और वसन का उल्लेख किया है। वस्त्रास्त और वसनास्त वस्त्र के अन्वय ही होते हैं।<sup>१</sup> उनका इस रूपन में पूरे बट्ट वस्त्र की वस्तुमा होती है। उन्होंने शीर, शीवर और बल का भी उल्लेख किया है। वस्त्र और वसन सामान्यतः मिले या बिना मिल सकते थे। शीर बिना मिलना कम चौड़ा कपड़न और छाटा वस्त्र होता था। शीवर वायु संप्यामियों के वस्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था।<sup>२</sup> जैन बौद्ध मिश्रजा में यह वायु विषय प्रचलित था। वेदक निक-मिच्छान या बिना मिल पहले हुए वस्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ नाम पड़ता है। इतनी हल्की बर्पा, जिसमें सुने स्थान में चलनेवाले के वस्त्र पीने हो जायें 'चित्तनीय' कहलाती<sup>३</sup> थी। सामान्य वसन के अर्थ में पट वायु का भी व्यवहार होता था।

तन्तु-विद्य—वस्त्र कार्पास ऊना मंगा कौशय और ऊर्पा के तन्तुओं से बनाये जाते थे। भाष्यकार ने कार्पास के लिए मृदु विधायन का प्रयोग किया है।<sup>४</sup> वे कार्पास से वस्त्र तैयार करने की शक्ति प्रकिया से परिचित थे। उन्होंने कार्पास का 'पिपय्य' कहा है।<sup>५</sup> ऊना और मंगा से बने वस्त्रों को शीय या शीमिक और भाष्य या भाषीन कहते थे। ऊर्पा या ऊन से बने वस्त्र शीर्य या शीर्यक कहलाते थे।<sup>६</sup> कोम से बने वस्त्रों को कौशेय कहते थे। कोम वस्तुतः इमि-कोम होते थे। ये इमि हरी पत्ती खाकर जीते थे और काया प्रजनन करते थे। भाष्यकार ने इस बात पर विचार किया है कि कौशेय को कोम का विकास माना जाय या कोम से समृत। अन्त में उन्होंने कोम के विकार को ही कौशेय माना है।<sup>७</sup>

गुण भव—इस चारों प्रकार के वस्त्रों में गुण या अर्हता की दृष्टि से अन्तर रहता था। भाष्यकार ने कहा है कि जिस प्रकार वस्त्र बनानेवाला अधिक वस्त्र तैयार करने का प्रयत्न करता है,

१ १-२-१०, पृ० ४८१।

२ ३-१-२०।

३ ३-४ ३३।

४ ६-२-१५७ काशिका।

५ ४ १-५५, पृ० ००।

६ ५ १-२, पृ० २१४।

७ ४ ३ १५९।

८ वही।

९ ४-२-४२, पृ० २१४।



उसी प्रकार वह उनमें श्रेष्ठता माने का भी उद्योग करता है।<sup>१</sup> वह चाहता है कि मेरे बस्त्र अधिक काबिक मूकम हों। सूक्ष्मतर बस्त्र बनाने की बात भाष्यकार ने बार-बार कही है।<sup>२</sup> उन्होंने कहा है कि बस्त्रों की बस्त्रों से स्पर्धा होती है, अर्थात् बस्त्र बनानेवाले बस्त्रों के विषय में दूसरे बस्त्र बनाने वालों से स्पर्धा करते हैं।<sup>३</sup> इन सब उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि भाष्यकार के युग में सूक्ष्म बस्त्रों को बनाने की कला बहुत उत्तम थी और इस विद्या में अत्यन्त भी बहुत जागरूक थी।

बस्त्रों की सिलाई—गहनने में दोनों प्रकार के बस्त्रों का व्यवहार होता था—बिना सिंके और सिंके हुए। भाष्यकार ने तीक्ष्ण सुई से सीने का उत्सेक्त किया है। तीक्ष्ण सुई सूक्ष्मतर बस्त्रों की सिलाई के लिए काम में आती थी। उन्होंने अच्छी तरह सीकर तैयार किये गये बस्त्रों की ओर संकेत किया है।<sup>४</sup> फटे हुए कपड़े के पुनः उत्स्यूष या रफू करने का प्रचार भी भाष्यकार के समय में था।<sup>५</sup>

उत्तरीय और अन्तरीय—काशिकाकार ने शरीर को वास्त्रयुगिक<sup>६</sup> कहा है, अर्थात् बस्त्रयुग से शरीर की सोभा बढ़ती है। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि सामान्यतः लोग शरीर पर दो बस्त्र धारण करते थे। वे बस्त्र अन्तरीय और उत्तरीय कहलाते थे। अन्तरीय शरीर में पहना जानेवाला बस्त्र था और उत्तरीय बाह्य जानेवाला। ये दोनों मिलकर उपसंभ्यान् कहलाते थे। सामान्यतया उत्तरीय बस्त्र छोटा होता था और अन्तरीय बड़ा किन्तु कमी-कमी दोनों का आकार बराबर भी रहता था। भाष्यकार ने अन्तरं बहिर्योगसंभ्यामयो. (११३६) सूत्र के वाक्यों पर टीका करते हुए योंका उठाई है कि इन सूत्र में उपसंभ्यान् शब्द ग्रहण करना निरर्थक है। उपसंभ्यान् शब्द को यदि सूत्र से निष्कास्य तो बहिर्योग शब्द शेष रह जाता है। उपसंभ्यान् शब्द उप+सम्+भैञ्+भन्तु+त्युट् प्रत्यय होकर बनता है। इसमें क्रिया का अर्थ 'आच्छादन करना' है। उसके आगे होनेवाले प्रत्यय के कर्म और करण दोनों अर्थ सम्भव हैं। इस प्रकार, उपसंभ्यान् के दो अर्थ हुए—बहु बस्त्र, जिससे आच्छादन किया जाय और बहु बस्त्र जिसका आच्छादन किया जाय। उत्तरीय बस्त्र से शरीर का आच्छादन किया जाता है और अन्तरीय बस्त्र का उत्तरीय बस्त्र द्वारा आच्छादन किया जाता है। उत्तरीय शरीर के ऊपर रहता है, इसलिए बहिर्योग कहने से उसका ग्रहण हो जायगा। अन्तरीय बस्त्र का योग या संयोग बहिर्बस्त्र से रहता है, इसलिए उरफा भी ग्रहण बहिर्योग कहने से हा सकता है। ऐसी स्थिति में उपसंभ्यान् की कोई आवश्यकता सूत्र में नहीं है। इसका उत्तर वाक्यकार ने दिया है कि कमी-कमी उत्तरीय और अन्तरीय दोनों

१. यथैवायं इत्येषु यत्ते वस्त्राणि ते स्फुरिति एवं पुत्रेष्वपि यत्ते सूक्ष्मतराणि ते स्फुरिति ।—२ १ ६८, पु० ३२६।

२. बहूः।

३. यावता वस्त्राणि तद्वत्तमपेक्षन्तेपुत्रस्तं चापेक्ष्य वस्त्रान् बस्त्रैर्युयपत् स्पर्धा भवति ।—बहूः।

४. तीक्ष्णया सूक्ष्मा सीष्यम् ।—१ २ २, पु० २६४।

५. १ १-५६, पु० ३३५।

६. पुनरुत्स्यूषं वातो वेपम् ।—१ ४ ६०, पु० १९०।

७. ५ १ १९।



जाता था। प्रावार को प्रवर भी कहते थे। पाणिनि ने प्रावार को आच्छादन कहा है। प्रावार चापर या छाल को कहते थे। बृहत्सिंहासनी आच्छादन या को प्रावार के ही समान कर्मों से बना जाता था। बृहत्सिंहासनी प्रावार से बड़ी थी और कमर के नीचे बुटनों तक पहुँचती थी। बृहत्सिंहासनी इसके सम्बन्ध होने की ओर संकेत करता है। सम्भव है, यह सम्बन्ध सिखा हुआ वस्त्र बचकन का पूर्वज हो। यह बुटनों तक सम्बन्ध कुररुत जैसा वस्त्र था। पतञ्जलि ने वस्त्र और कम्बल के साथ बृहत्सिंहासनी का उल्लेख किया है जिससे यह सम्बन्ध वास्त्र-सुस्य ओढ़ना मालूम होता है। प्रावारक का एक भव बचका भी था। तान्त्रिक अर्थ में बर्षका शब्द प्रचलित था अथवा बर्षिका शब्द का व्युत्पत्ति होता था।

कुतप—भाष्यकार ने कुतप वस्त्र की वर्णना की है। उन्होंने कुतप वस्त्र पहननेवाले शीघ्र की 'कुतप-शीघ्र' शब्दा बतलाई है। कुतप हल्का, गरम ऊनी कम्बल या धास होता था। यह पर्वतीय विद्योपत नैपासी ऊन का बना होता था।

उष्णीय—उष्णीय या पयसी बॉयने की भी प्रथा थी। भाष्यकार ने सास पयड़ी बॉयनेर कुमनवासे 'उष्णीय' की वर्णना एकाधिक बार की है। पयड़ी का प्रचार इस बात का संकेत देता है कि 'वास्त्रयुगिक' शरीर सामान्यतः घोषित माना जाता था। यह निम्नतम मर्यादा थी। बस सोच दो घ अधिक भी वस्त्र धारण करते थे। इनमें शरीर के उत्तर भाग में पहना जानेवाला वस्त्र निरिचत ही स्पृत होता था।

उपर्युक्त सब परिधान 'वासस्' कहलाते थे। पहनने के बाद इनकी ठीक तर्ह बनाकर रख देने की प्रथा थी जिससे वे गन्धे न दिखें। भाष्य में दोनों वर्णों का तर्ह बनाकर रखने का उल्लेख है। य दोनों वस्त्र उत्तरीय और अन्तरीय थे।

वस्त्रों का रंग—वस्त्र अनेक रंग के होते थे। रंग विरल वस्त्रोंवासे देवपत्त को भाष्यकार ने विचित्राभरण कहा है। 'तेन रत्त रागात्' (४२१) के प्रसंग में भाष्यकार ने नीली संश्लिष्टा शकल कर्मन नापाय हुजिा पीठ आवि अनेक रंगों से वस्त्रों के रंग जाने का उल्लेख किया है। फिर भी शुक्ल वस्त्र का प्रचार उच्च संस्कृत सोपों में अधिक था। वस्त्र घाटी और कम्बल के साथ उन्होंने सर्वदा शुक्ल विद्योपन का उपयाग किया है। कभी तो 'शुक्लवस्त्र' विद्योपन भी प्रयुक्त हुआ है। सास वस्त्र भी प्रयाग में जाते ही थे। भाष्यकार ने कहा है कि दो सास वस्त्रों के बीच रखा हुआ शुक्ल वस्त्र भी सास दिखाई देता है।

१ ५४६।

२ १२६९, पृ० ६०३।

३ ७-१४५, पृ० १९०।

४ २१६९, पृ० ३३०।

५ सोहितोष्णीया वस्त्राः प्रचरन्ति।—१ १-२७, पृ० २२० तथा २-१ ६९, पृ० ३२९।

६ प्रमुञ्चति वाससी।—१ ३-६६, पृ० ८४।

७ १४-२५० १८।

८ १-२-४० पृ० ५०३।

९ १ १ ६४ पृ० ५९६ तथा २ २-२४, पृ० ३६१।

कम्बल—कम्बल का व्यवहार प्राचीन भारत में बहुत था। साठक के समान कम्बल भी निर्दिष्ट आकार के तथा निर्दिष्ट बजन के बनते थे। सामान्यतया ये ही कम्बल बाजार में विक्रते थे और इन्हें 'पष्यकम्बल' कहते थे। 'पष्यकम्बल' विशिष्ट कम्बलों की संज्ञा थी। सामान्य तौर पर अन्य विप्रशब्द कम्बलों को भी पष्यकम्बल कहते थे पर उसके उच्चारण में समासान्तागत होता था पूर्वपद प्रकृति-स्वर महीं। पष्यकम्बल 'ऊर्जापसघटम्' से बनता था जिसका बजन लगभग पाँच सेर होता था। एक कम्बल-भर ऊन को कम्बलस्य कहते थे। 'अस' कम्बलया ऊर्जा का अर्थ पाँच सेर ऊन होता था। कम्बल बनाने के योग्य सामान्य ऊन कम्बलीय कहलाती थी। 'कम्बलस्य' संज्ञा शब्द या जो विशिष्ट परिमाण का चोटक था। पष्यकम्बलों का प्रचार बहुत अधिक था। कम्बल प्रायः दुक्स वर्ण के बनते थे। शिष्टवर्ष में दुक्सवर्णीय कम्बलों का प्रचार अधिक था। भाष्यकार ने सर्वत्र दुक्स कम्बल का ही उल्लेख किया है।<sup>१</sup> कृतप के समान रांक्ष कम्बल भी प्रसिद्ध थे जो रंक्षु-प्रदेश में बनत थे। य कम्बल वड़े मजबूत बनाये जाते थे जो बर्षों नहीं फटते थे। भाष्यकार ने कम्बल को 'अजरिता' कहा है जिसका अर्थ है 'न फटनेवाला'।

कन्या—कन्या बड़े परिचय से बलाई जाती थी। जिसके लिए पैस के साथ कन्या भी अपेक्षित थी। कन्या से सम्बद्ध वस्तु कान्थिक कहलाती थी। कन्या का प्रचार बहुत अधिक था यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि पाणिनि ने कान्थिक शब्द के लिए पृथक् 'कन्यायापठर्' (४-२ १०२) सूत्र का निर्माण किया है। बर्षु देश की कन्या विशेष प्रसिद्ध थी। बर्षु नदी का समीपवर्ती प्रदेश भी वधु कहलाता था। बर्षु क लोग कन्या दानने में विशेष प्रवीण थे। बर्षु में बनी कन्या से दैप अर्थ में कान्थिक शब्द बनता था।<sup>२</sup> कान्थिक से मिश्र कान्थिक शब्द कम्बल बर्षु की विशेषता बतलान के लिए था। कन्या आस्तरण का काम देती थी। बर्षु के समान उड़ी नर जनपद के सौधमि और आह्वर प्रदेशों में बनी कन्याएँ भी अति प्रसिद्ध थीं। सौधमि और आह्वर की कन्याओं की अर्हता तथा प्रचार अत्यन्त बनी कन्याया से अधिक था। इसलिये सौधमि-कन्य आह्वर-कन्य शब्द संज्ञा बन गये थे। पाणिनि ने उड़ीनर-जनपद में बनी विशिष्ट नामधारी कन्या का बोध करानेवाले कन्यास्त तत्पुरुष को नपुंसकस्मिन् माना है।<sup>३</sup> उड़ीनर से मिश्र प्रदेश की कन्या के साथ समास होने पर समस्त पद नपुंसकस्मिन् नहीं होता। बीरज कन्या और आह्वर-कन्या में मह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। तत्पुरुषसमास में इस प्रकार नपुंसकस्मिन् बना कन्या शब्द क उत्तर पद होने पर आद्युदात्त हो जाता था। अर्मेकन्य तथा

१ पष्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यम् यो हि पश्चित्तस्य कम्बलः पष्यकम्बल एवा-  
सी भवति ।—६-२ ४२, पु० २५९।

२ कन्यायाश्च संज्ञायाम्—इदं तर्हि प्रयोजन संज्ञायामितिर्न वक्ष्यामीति । इह भाष्यत  
कम्बलीया ऊर्जा ।—५ १ ३, पु० २९७।

३ १ १ ६४, पु० ५९६।

४ ३-१ १०५, पु० १८३।

५ ४-२-१०३।

६. २ ४ २० काशिका।

बिहारीविद्या में पठित (बिहारी मठ, मद्रास, वैतुल पटलक बिल्कण जादि) शब्दों के पूर्व हीमें पर कथा शब्द आधुवात होता था। कथा-विषयक इतने सूक्ष्म नियम उसके व्यापक उपयोग तथा उसके बनाने की उन्नत कला के परिचायक हैं।

उपानह—'वासु' क अतिरिक्त बेश की पूर्णता के लिए उपानह आवश्यक माने जाते थे। उपानह का उत्प्रेक्ष्य संविदा-काल (तैत्ति० सं० ५४४ तथा शतपथ ब्रा० ५४३ १९) से ही बराबर मिलता है। शतपथ में शूकर धर्म के बृत्तों का उत्प्रेक्ष्य है। कौशौतकी ब्राह्मण (३-३) में बृहत् और उपानह नाम धाम-साध जाये हैं। ये धर्म और काष्ठ दोनों के बनते थे। माध्य में औपानह दाह और औपानह धर्म दोनों का उत्प्रेक्ष्य है। ब्रह्मचारी तथा वैशानस दाह के उपानह धारण करते होंगे। उपानह अनुपवीन होते थे अर्थात् पाँव की माप के तैयार किये जाते थे। दाह के साथ उपानह भूषा क लिए भी उपयोग में लाये जाते थे। ब्रह्मजाकार, यज्ञावट की मद्रवती सुन्दरता और कोमलता उन्हें आकर्षक बना देती थी। इस लिए, कुछ लोगों को उपानह के प्रति विशेष आसक्ति रहती थी। माध्य में ऐसे व्यक्ति को जिसे छत्र और उपानह प्रिय हों 'ऊत्रोपानहप्रिय' बतलाया है। उपानह लकड़ी के इस प्रकार के भी बनते थे जिनमें छेद रहते थे और आधुनिक अप्सस क पट्टों के समान मूँज की रस्ती उन छेदों में इस प्रकार पिरो दी जाती थी कि वह पाँव को संभाल सके। उपानह का यह प्रकार खड़ाई से भिन्न था। इस प्रकार उपानह (पीसी) आज भी ग्रामों में पहने जाते हैं। काशिकाकार ने इन पीसियों को स्थय करके ही 'औपानह मूँज' उदाहरण दिया है। धमड़े के बृत्तों में जो कच्चे धमड़े के बनाव जाते थे कोमलता उत्पन्न करने के लिए तिल वा कम्प (तस के नीचे जमा हुआ मैल वा ठंड) लगाया जाता था।

यष्टि आदि—यष्टि आरमरसा का साधन तो भी ही भूषा के लिए भी उपयोग में आती थी। लोग सदा यष्टि हाथ में लेकर चलते थे। एश लोगों का नाम ही यष्टि के आधार पर पड़ जाता था। उदाहरणार्थ सदा यष्टि साथ में रखनेवाले मीढ्गास्य को 'यष्टिमैद्वयस्य' कहा जाता था। साधारणतया यष्टि लम्बर चलनेवाले को याष्टीक कहते थे। बृहत् यष्टि से बड़ा होता था। ब्रह्मचारी तो सर्वदा बृहत् साथ में रखते थे किन्तु उनका बृहत् भूषा के रूप में नहीं था। ब्रह्म

१ ३२-१२४।

२ ५१-२, पृ० २९४।

३ ष्टी।

४ ५२९।

५ २१-५१ पृ० ३०४।

६ ५१ १४ काशिका।

७ उपानहर्षितिलकम्—५-३ पृ० ३०४।

८ २१ ६९, पृ० ३३०।

९ ४-४-५९।

१० ४-२ १०४, पृ० २१०।

बाटी का बन्ध पसास का होता था जिसे बापास भी कहते थे। बन्ध के लिए साठ स्रव्य का भी व्यवहार होता था। अति भी शोभायें धारण की जाती थी। कमर में लटकने के कारण अति को कौशेयक भी कहते थे।

सौन्दर्यप्रिया—माषिनि और पतञ्जलि दोनों में इस प्रकार के अनेक, उल्लेख मिलते हैं जिनसे तत्कालीन सौन्दर्यप्रिया का पता चलता है। प्राचीन के आधार पर व्यक्तियों के दो वर्ग थे—नायरक और प्राकृत। नायरक जब सिद्धि तथा सुसंस्कृत थे। कामशास्त्र में नागरकों के सम्पूर्ण जीवन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 'उपमित म्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे' (२-१ ५६) सूत्र पुस्तकों की शरीर-शक्ति के प्रति जागृकता द्योतित करता है तथा 'ऊस्तरपदादीपम्ये' (४ १ ६७) एवं 'संहितघक्रुक्षवामोयव' (४ १ ७०) और उपपर भाष्यकार का संशोधन 'संहितघहान्मा पति वस्तव्यम्' इस बात के सूचक हैं कि शक्ति के साथ शारीरिक सौन्दर्य की ओर भी शेष काकी ध्यान दिया करते थे। सौन्दर्य के लिए पहली आवश्यक वस्तु है स्वास्थ्य। पुत्र्यम्याम पुस्पासिह कश्मीस्वाम्मोह, संहितोह बनना बिना स्वास्थ्य के सम्भव नहीं। बूझती सौन्दर्यवर्धक वस्तु है वस्त्र जिनकी अच्छी डिजाइनों और सूक्ष्मता के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

अलंकार—इतके अतिरिक्त अलंकारों के द्वारा शरीर को सजाने की ओर लोगों का ध्यान विशेष था। पुंस्य और स्त्री दोनों अलंकार धारण करते थे। अलंकार प्राय सुवर्ण के होते थे। यों मणियाँ और मुक्ता भी पहले जाते थे पर वे धमी-धर्म तक सीमित थे। मणिकार (बामुपय बनाने और देखनेवाले) बैकटिक (हीरे, मणियाँ काटने-तरासनेवाले) रंजक (रंगरेज) विशेषतः मीठी कुमुभरंजक मासाकार और सौमन्यिक सौन्दर्य सज्जा में सहायक थे। कामसूत्र में इन व्यावसायिकों की विस्तृत चर्चा मिलती है। भाष्यकार के समय में इन सबका महत्त्व कम था।

अलंकारों में जो आद्यकरण (सौन्दर्यवर्धक) और सुभयकरण माने जाते थे भाष्यकार ने सुवर्णालंकारों का उल्लेख किया है और वह भी विशेषतः स्त्रियों के सम्बन्ध में। 'कन्या की अलंकरण करता है' वाक्य के साथ उन्होंने सुवर्ण का अलंकार पहननेवाले पुंस्य का भी निवेदन किया है। कन्याओं में सज्जा की प्रवृत्ति बचपन से ही होती है। वे स्वयं अपने प्रसाधन के लिए चिन्तित रहती थीं। कन्या स्वयं ही अपने को मणिकर कर रही है कन्या स्वयं ही अपने को मूषित कर रही है यह वाक्य भाष्य में मिलता है। अलंकारादि द्वारा मणिकर व्यक्ति 'अनिरुप' दिखाई देता है 'दर्शनीय' मान्य होता है, यह बात वे अच्छी तरह समझते थे।

१ ८-१-५६, पृ० ४३८।

२ ४-२-१६।

३ ४-२-१२९।

४ ४-२-५६, पृ० २२०।

५ ५-२-१६, पृ० ४१८।

६ ५-२-२४, पृ० ३६५।

७ ५-१-८७, पृ० १५६।

८ १ १ १ पृ० १५।

पुंस्यो के आभूषणों में जगद कुण्डल और किरीट महत्त्वपूर्ण थे। अंगद मुद्राओं में पहने जाते थे। कुण्डल वर्तुलाकार कर्णभूषण थे। किरीट शिरोभूषण थे। श्रियेयक<sup>१</sup> धीमा वा कण्ठ में पहना जाता था जिसे कण्ठा कहते हैं। यह मोटा तथा कर्म सम्बा होता था और कण्ठ से सटा रहता था। श्रियेयक पुंस्य और स्त्री दोनों पहनते थे।

स्त्रियां अंगुलीय<sup>१</sup> तथाक कटक वस्त्र्य स्वस्तिक<sup>१</sup> कुण्डल बध्न और पुटक<sup>१</sup> पहनती थीं। कटक कसाई में पहने जाते थे। स्वस्तिक के आकार के स्वस्तिकों को कानों में पहनने की प्रथा थी। बध्न सोने की मजबूत मासा के समान बनते थे और कण्ठ तथा कटि में पहने जाते थे। कर्णिका बान में पहनी जानेवाली शक्ति<sup>१</sup> भी और ससाटिका मस्तक पर सटकनेवाला सोने का तिरक<sup>१</sup>। कर्णवेष्टक कान के आभूषण थे जो मुख की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक माने जाते थे।

मास्य—सक या मासा भी भूषणों के अन्तर्गत मानी जाती थी। मासा पहनने की प्रथा सर्वाधिक थी। मास्य में मासा का उत्कृष्ट बहुत बार हुआ है। कहा नहीं जा सकता कि सुवर्ण मासा पहनने की प्रथा थी या नहीं पर पुंस्य और स्त्री दोनों ही सक भारत करते थे। मासाभाटी पुंस्य अम्बी कहलाता था। 'मास्यमुद्राकण्ठ'<sup>१</sup> पुंस्य की शोभा ही और होती है। सम्भव है यह मास्यमुद्रा सुवर्ण का भी हो। स्नान और अनुशेष के बाद मास्य पहना जाता था। मासाएँ सभी सुगन्धित पुष्पों की बनाई जाती थीं। 'उत्पसमास्यभारिणी कन्या'<sup>१</sup> से उत्पस-मासाओं के प्रयोग का पता चलता है। उत्पस-मासाएँ आज भी ग्रामीण कन्याओं में बहुत प्रिय हैं। बाजार में भी मासाओं की बिक्री बहुत थी। 'मासासकम्' उदाहरण इसका प्रमाण है।<sup>११</sup>

केदावेदा—वेदावेद के प्रति लोका-रक्षि सर्वाधिक जायक<sup>१</sup> थी यद्यपि दन्त और अघरों का भी श्रुमार किया जाता था। जो लोग इन श्रुमारों में व्यत्ययिक जायक<sup>१</sup> होते थे वे समाज में अच्छी तरह से नहीं देते जाते थे। लोग उनके नाम रग देते थे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति केस-सज्जा में व्यस्त रहता था उसे कसक<sup>१</sup> कहते थे। इसी प्रकार बतियों और ओठों की सज्जा में उत्पस रखने-

१ १-३-२ पृ० १८।

२ ३-२-१६।

३ ४-३-३९, पृ० २३३।

४ भा० १ पृ १६।

५ ३-१-२६ पृ० ७९।

६ ४-३-६५।

७ ५-१-९९ कानिका।

८ ५-२-१२१।

९ भा० २, पृ० ४८।

१० १-१-७२ पृ० ३५५।

११ भा० २, पृ० ३६।

वासुदेव को सोय दन्तौष्ठक तथा केसों और गलों का शृंगार करने में आसक्त धन को वेश्यावृत्त कहते थे।<sup>१</sup>

पुरुषों और स्त्रियों की केश-सज्जा में अन्तर था। कुछ पुरुष केश कटवाते ही नहीं थे। वे बटिष्ठ रहते थे। तापस<sup>२</sup> तो जटिष्ठ होते ही थे अनेक अध्यापक<sup>३</sup> नट तथा सामान्य जन भी बाल नहीं कटवाते थे। नट को पर्यबसि ने सबकेसी कहा है। ह्रीं माणवक मुण्डित कर दिये जाते थे।<sup>४</sup> कुछ लोग बाल मुंडा करते थे किन्तु शिखा छेप रहने देते थे। कुछ लोग सारे बाल मुंडा डालते थे। ये लोग क्रमशः जटी शिखी और मुण्डी कहे जाते थे।<sup>५</sup> एक स्थान पर भाष्यकार न कहा है कि लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि जब कोई कहता है कि यहाँ मुण्डी बनो यहाँ जटी रहा यहाँ शिखी बनो, तब जैसा कहा जाता है वैसा व्यक्ति वहाँ उपस्थित होता है।<sup>६</sup> बपि शालु का प्रयोग बाल कटवाने के अर्थ में होता था। बाल कटवाने की क्रिया बपन कहलाती थी। श्लोक शिखी भी बनवाते थे। शिखी बनानेवाले अपने शिल्प में विशेष दक्ष होने का प्रयत्न करते थे। माणवक नापित एवं राजनापित चतुर नापितों की सजा थी। ऐसा माणवक नापित मिला गया तो और कठया हुआ व्यक्ति फिर से और कठ सेता था। शिल्प-विशेष या भोजन-विशेष के कारण और एव भोजन कर्म कर लने पर भी पुनः उस नाम में प्रवृत्ति देखी जाती थी।<sup>७</sup> केश बनवाने के इम इतने मित्र-मित्र थे कि केश बेलकर ही मायमी की पहचान कर ली जाती थी। केसों के द्वारा पहचाना गया व्यक्ति केसाच्यु या केशचण कहा जाता था।<sup>८</sup> जो लोग बाल नहीं कटाते थे उनमें बहुत-से लोग जुड़े के रूप में उन्हें बाँध लेते थे। ऐसे लोक केशचूड कहे जाते थे।<sup>९</sup> जटाओं और स्मशू से लोगों को सरसता से घोसा दिया जा सकता था। मकसी दाढ़ी-मूँछ छगाकर लोग बूदरों को प्रवर्धित करते थे। जटाओं और बड़े हुए स्मशू को बेलकर लोगों के मन में व्यक्ति के प्रति सम्मान-भाव पैदा होता है। अनेक प्रवचक इम आदर-भावना का अनुचित लान उठा लेते थे। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है 'जटाओं से बचना करता है स्मशूओं से घोसा देता है।'<sup>१०</sup>

१ ५ २-६६ काशिका।

२ १-२ ३२, पृ० ४११।

३ २ ३-२१ तथा वही।

४ २ १ ६९, पृ० ३२३।

५ ३-१-८, पृ० ४०।

६ १ १ १ पृ० १०५।

७ आ० २, पृ० ४०।

८ १ ३-१, पृ० ८।

९ मुक्तबीरच पुनर्मुक्तो हृतदमपुत्रच पुन इमशूचि कारयति।

सामर्थ्यात्तत्र प्रवृत्तिर्भवति भोजनविशेषाच्छिल्पविशेषोपज्ञा ॥—१-२ ९, पृ० ४०८।

१० १ ३-७, पृ० २६।

११ २-२-२४, पृ० ३०६

१२ ६ १ ४८ पृ० ७९



केसों के समूह को कैंस्य या कैंडिक<sup>१</sup> कहते थे। कमी-कमी उनकी सट्टें जाने मिकास ली जाती थीं। स्त्रियाँ बालों को बाने की ओर बुँधरासा बना लेती थीं या उनकी सट्टें आगे की ओर कर लेती थीं। इन्हें प्रायुष्का<sup>२</sup> कहते थे। स्त्रियों के केशवेस का नाम कबरी वा। यह नाम पुष्प लगा देने पर केशों के कबर दिखाई पड़ने के कारण पड़ा वा। भासों से मित्र कबर वस्तु कबर कहलाती थी। कबरी शब्द पीछे की ओर बनाने हुये जूड़े के लिए प्रयुक्त होता वा।<sup>३</sup> जूड़ा बाँधने का अर्थ मित्र-मित्र प्रवेशों में मित्र-मित्र वा। प्रत्येक प्रवेश के जूड़े उस प्रवेश के नाम पर प्रसिद्ध थे जैसे 'काञ्चन जूड़ाकसाप'। काञ्च-प्रवेश में जूड़ा बनाने की पीली अग्य प्रवेश से मित्र थी। इसी प्रकार अग्य प्रदेशों के अपने-अपने प्रकार थे। केश-विन्यास में माँग को सीमन्त कहते थे।<sup>४</sup> स्त्रियों की केश-सज्जा का बहु आकर्षक अर्थ था। इसीलिए, स्त्रियों को सीमान्तिनी कहा जाता वा। सीमन्त से मित्र अर्थ में सीमान्त शब्द प्रचलित वा।

नारियाँ कबरी बनाती थीं और जूड़ा भी। जूड़ा सिर के ऊपर ठठा हुआ पछता वा और कबरी पीछे की ओर। पुष्प दोनों के मण्डन थे। मल्लिका और चम्पक<sup>५</sup> के पुटों की चर्चा माप्य में आई है।

नेत्रों में काजल या अंजन छपाने की प्रथा थी। अंजन रंगे नेत्र अंकुश कहलाते थे।

अग्य प्रसाधन—स्नान और अनुशेष की चर्चा ऊपर हुई है। स्नान से पूर्व लेज की माक्षिका उबटन और उसके बाद चन्दमादि सुगन्ध द्रव्यों का सेपन एवं नारियों द्वारा मस्तक में पत्र रचना की प्रथा थी। यतिक परिवारों में एतदर्थ उरसादक उद्दत्तक परिवेषक अनुशेषक प्रसेपक विसेपक आदि परिचारक नियुक्त थे।<sup>६</sup> अनुशेषन आदि में प्रयुक्त होनेवाले सुगन्ध द्रव्यों का भी उल्लेख गणपाठ में मिलता है। उदाहरणार्थ किशरादिषण में किशर, लज्ज तगर, गुम्बु, उशीर वा परिगलन हुआ है।<sup>७</sup> ससाक एक अग्य सुगन्धित द्रव्य वा चिचका बेचनेवाला दासासुकी कहलाता वा।<sup>८</sup> अग्य का भी प्रयोग अधिक होता वा। माप्यकार ने कहा है कि पी की गन्ध तेज होती है किन्तु चन्दन की मृदु होती है।<sup>९</sup>

१ ४२-४८।

२ ४१-६०, पृ० ७१

३ ४-१ ४२ काशिका

४ काञ्चकजजूडाकसापः १—४-२ १३४।

५ ११-१४, पृ० १५१

६ २-१ १ पृ० २४०

७ अदस्त्रेप्रसिधीइत्युष्मते यतस्तिर्वा चास्तिर्वा चैतद्व्यकाशयति १—८-२-४८, पृ० ३६७।

८ पात्रकादि गण २-२-९ तथा महिष्यादि अण, ४-४-४८।

९ ४४-५३।

१० ४-४-५४।

११ २-२-८, पृ० ३४३ तथा भूतस्य तीव्रः, चन्दनस्य मृदु १—इती।

## अध्याय १०

### भोजन-पान

अन्न और ऋष्य—संस्कृतकालीन समाज को हम मानव के मापार पर दो भागों में बाँट सकते हैं—अन्न और ऋष्य। पकाय हुए धान्य या सस्य को अन्न कहते थे और उस खान-बाक को अन्न। इसी प्रकार मांस को पकाकर खानेवाले ऋष्याद कहनात थे। धान्य और मांस को बिना पकाये अर्थात् कच्चे रूप में खानेवालों का क्रमशः अन्नाद और ऋष्याद कहत था। मानव के लिए अन्नबहार शब्द प्रचलित था।

अन्नाद या सस्याद साग जिन अन्नों का व्यवहार करते थे, उन्हें वा भागा में विभक्त किया जा सकता है—मुख्य और सहायक। मुख्यांनों में निम्नलिखित का उपयोग भाष्य में पाया जाता है—

भोजन—पकाय हुए धान्य को भोजन कहते थे जिसका दूसरा नाम भक्त भी था। भक्त से ही अस्तमान शब्द 'भात' बना है। भोजन अनेक प्रकार के धान्यों का बनता था। घासि महाघासि धीहि, महाधीहि, हायन मयक, पठिक एवं तीवार ये धान्यों के प्रमुख भेद थे। घासि की पौध सावन में बोयी जाती थी और जगहन में कटती थी। इसके लिए बल की विरप आवश्यकता होती है। मयक के घासि विशेष प्रसिद्ध थे। ये बड़े और सुगन्धित होते थे। बेबिका नदी के किनारे उत्पन्न होनेवाले घासि भी प्रसिद्ध थे। ये 'बाबिका-कूठ' घासि कहलाते थे। महाघासि और भी बड़ी जाति थी। माष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि यदि वर्षा अच्छी हुई, तो घासि हो जायेगा। अन्नक कहा है 'हम वे ही घासि खा रहे हैं जो मगध में होते हैं।' घासि का भोजन स्वादिष्ट होता था। इसीलिए एक स्थान पर 'घासि का भोजन तुम्हें वृणा' ऐसा प्रशंसन विषे जाने का उल्लेख है। प्रश्नकर्ता भी पूछता है—'क्या भात घासि का है?'

१ २-३ ६८, ६९ काशिका।

२ अतः च नामाभ्यन्तरार्धमुपासीयत।—आ० १, पृ० १९।

३ १४-४९, पृ० १७३।

४ ४४-१०० काशिका।

५ ७-३-१, पृ० १७१।

६ ३-३-१४३, पृ० ३२४।

७ आ० २, पृ ४५।

८ २-१ १, पृ० २३० तथा २-१ १, पृ० २४८।

९ वही तथा ८ १-५१, पृ० २९३।

ग्रीहि सर्वाधिक प्रचलित शान्य<sup>१</sup> था। ग्रीहि भी शास्त्र के समान रोये जाते थे। आकार के अनुसार इनके छोटे और बड़े भेद होते थे। ग्रीहि की सबसे बड़ी जाति 'महाग्रीहि'<sup>२</sup> कही जाती थी। ग्रीहि और शास्त्र के लिए विशिष्ट केदार (खेत्र) निरिषत्त रहते थे जिन्हें 'ग्रीह्य और शास्त्र्य'<sup>३</sup> कहते थे। हायन रोये नहीं जाते थे बल्कि बोये जाते थे। पट्टिक<sup>४</sup> (साठ) भी बोये जाते थे रोये नहीं जाते थे। इनके लिए अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती थी। ये साठ दिन में पक जाते थे। इस प्रकार यह सब्ज सार्बक था।

मीठार छोटा और निम्न कोटि का भान था जो बिना जोते-बोये अपने-आप उत्पन्न होता था।<sup>५</sup>

तच्छुस भारत का मुख्य भोजन था। भाष्यकार ने कहा है कि एक तच्छुस मूख मिटाने में असमर्थ होता है, किन्तु उनका समूह बधितक (डेर) समर्थ होता है।<sup>६</sup> तच्छुस सं बनाये जाने के कारण ओदन को 'तच्छुस-विकार' कहते थे। किसी तच्छुस का भोजन अधिक स्वादिष्ट बनता था और किसी का कम। भाष्यकार ने शास्त्र को भक्त कहा है क्योंकि उनका भोजन विशेष रुचिकर माना जाता था। अच्छी किस्म के अन्य खाद्य भी भक्त कहे जाते<sup>७</sup> थे इसीलिए खानेवाला उत्कृष्टावस खाने से पहले पूछता है 'क्या शास्त्र का मात बना है?'<sup>८</sup>

भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक भक्त या भोजन का ही व्यवहार मुख्य भोजन के रूप में होता था। मगध में भान की उपज प्रमुख रूप से होती ही थी कश्मीर में भी खाद्य का व्यवहार होता था। भाष्य में एक स्थान पर कहा गया है 'देवदत्त तुम्हें मासूम है कि हम कश्मीर गये थे। वहाँ ओदन खाये थे। हम कश्मीर जायेंगे वहाँ भोजन खायेंगे।'<sup>९</sup> अधिक प्रचलन के कारण भक्त भोजन का पर्यायवाची बन गया था। जिस प्रकार भोजन करने के अर्थ में उत्तर भारत में 'रोनी खाना' प्रचलित है और पूर्वी भारतमें 'मात खाना' उसी प्रकार भाष्यकार ने भक्त शब्द का व्यवहार अनक बार भोजन के अर्थ में किया है। इसीलिए, जो मजदूर राटी-कपड़े पाकर मजदूरी करते थे वे 'मासिक' कहे जाते थे।<sup>१०</sup> भाष्यकार ने कहा है कि कर्मकर लोग काम करते हैं, जिससे

१ ८१४, पृ० २६५।

२ १-२-३८।

३ ५२२।

४ पट्टिका बठिरात्रेण पच्यते। पट्टिके संताप्रहय कर्त्तव्यम्। मुद्रगा अत्रि हि पठिरात्रेण पच्यते १-५ १९० पृ० ३४०।

५ १-३ ४८।

६ १२ ४५, पृ० ५३५।

७ १४-४९, पृ० १७३।

८ ३-१ १२६, पृ० ७३ तथा ४४ १०० काशिका।

९ २१ १, पृ० २३०।

१० ११ ४४, पृ० २७४।

११ ४४ ६८ काशिका।

उन्हें भक्त (भोजन) और भेष (पहनने के कपड़े) मिलें।<sup>१</sup> इसी कारण पाचक या रसोद्भए की सामान्यतया 'भक्तकर' कहते थे।<sup>२</sup>

पाचक-क्रिया—शोथन पकाने की क्रिया का भी उत्सेस भाष्य में कई बार हुवा है। पकाने की क्रिया के चार मुख्य तथा अनेक गौण अंग बतलाये गये हैं। मुख्य अंग हैं—अभिधमय (बटलोई को घुस्ते पर चढ़ाना) उदकासेचन (बटलोई में पानी भरना) तच्छुलावपन (बटलोई में चावल डालना) और एधोपकर्षण (लकड़ी लीचना या चढ़ाना)<sup>३</sup>। गौण क्रियाओं में चावल धोना बीच-बीच में आनभ्यकृतानुसार पानी डालना पके-जनपके की परीक्षा करना आदि हैं। घुस्ते पर चढ़ाये जाने के पूर्व चावल धोय जाते थे। शोथन का पानी घर की माँकियों से होकर सड़कों पर बहा करता होगा। इस पानी को देखकर रष्या में चलनेवाला व्यक्ति अनुमान कर सेता था कि इस घर में भोजन पकाया जा रहा है। पके तच्छुल की पहचान एक पुताक को देखकर कर ली जाती थी। एक चावल पक गया तो बटलोई के सारे चावल पक गये मान सम्ये जाते थे।<sup>४</sup>

पकाने की क्रिया में सहायक वस्तु के प्रामान्य के अनुसार कमी देवदत्त पकाता है कमी बटलोई पकाती है और कमी लकड़ी पकाती है<sup>५</sup> आदि वाक्यों का प्रयोग होता था। एक 'पक्षति' (पकाना) क्रिया की अंगभूत सम्पूर्ण क्रियाएँ करनेवाले के साथ पापभ्यते (पूरो तरह पकाता है) क्रिया का व्यवहार होता था।<sup>६</sup> जब देवदत्त पकाने की क्रिया में प्रमुख बिसता था तब कहते थे 'देवदत्त पक्षति'। यह तब होता था जब देवदत्त अभिधमय उदकासेचन तच्छुलावपन और एधोपकर्षण आदि क्रियाओं में स्वस्त बिसता था। 'स्पाली श्रोण भर पकाती है' माडक भर पकाती है<sup>७</sup> आदि वाक्यों का व्यवहार तब होता था, जब स्पाली या बटलोई में श्रोण भर पकाने की क्षमता या पकाने की क्रिया पर बल देना होता था। इसी प्रकार जब घसनेवाली और जलकर चावल पकाने की क्रिया करनेवाली लकड़ियों पर जोर देना होता था तब 'लकड़ियाँ पकाती हैं' यह कथन उपयुक्त माना जाता था।<sup>८</sup>

भोजन-पान—माठ खाने के लिए शराब या कांस्य-पान काम में आते थे। शराब सामान्य व्यवहार में अच्छे थे या धार्मिक विधि में काम में आते थे। शराब में परोसा हुआ भात 'शाराब'

१ ३-१-२६, पृ० ७७।

२ १-३-७२, पृ० ९०।

३ अभिधमयबोवकासेचनतच्छुलावपनैधोपकर्षणआदि क्रिया कुर्बसेव देवदत्तः पक्षती-त्युष्यते।—१ ४-२३, पृ० १५६।

४ ३-२ ११५, पृ० २४९।

५ पर्याप्तो ह्येकः पुताकः स्वाम्या निवर्तनाय।—१ ४ २३ पृ० १५७।

६ ३ १-२२ पृ० ६१।

७ १ ४ २३, पृ० १५६।

८ १ ३-२४ पृ० १५६।

९ वही।

१० ५ ४ १०१ पृ० ४५४।

कहसता था।<sup>१</sup> ये मिट्टी के बने थे। कांस्यपात्री का प्रचार उच्छ्रवर्ष में था। इस बात की कामता की जाती थी कि हमारे पुत्र कांस्यपात्र में दूध मात कर्ये।<sup>२</sup>

जिस पात्र में जोदन पकाते थे उसे स्वाधी कहते थे।<sup>३</sup> सामान्य पात्र के लिए 'अमन' शब्द का भी व्यवहार होता था। पकाने की क्रिया को 'रन्धन' भी कहते थे। इसका विकसित रूप 'रंधना' हिन्दी में प्रचलित है।<sup>४</sup> जाकर बने हुए कं लिए उद्धृत शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>५</sup> गसन की क्रिया को 'विनिश्चि' कहते थे। विनिश्चि ही 'पच्' क्रिया का मुख्य अर्थ है। इसके लिए की जानेवासी समस्त क्रियाएँ (भाजन बोलने तथा उन्हें बूझने पर बड़ाने से उतारने तक) तो पच् के अन्तर्गत मानी ही जाती थीं। प्रपच (अपने अभीष्ट काम करनेवाले व्यक्ति को आवश्यक सामग्री लाने के लिए आज्ञा देना) तथा अध्येषण (बड़े व्यक्ति से प्रार्थना-पूर्वक आवश्यक वस्तुएँ माँगना) आदि भी पच् में ही अन्तर्भूत थे। पके हुए जोदन मा भोजन को 'सिद्ध' कहते<sup>६</sup> थे।

विशिष्ट भोजन—भोजन के गुण में लक्ष्णों के गुण क अनुसार तो अन्तर होता ही था पकाने की क्रिया और घीभी भी अन्तर उत्पन्न करती थी। भाष्यकार ने लाने में विशेषस्वाह मुक्त भोजन के लिए 'मृदु' और 'विशद' विशेषणों का प्रयोग किया है। मृदु भोजन गुह्र या दसकर आसकर पकाये जाते थे। आज भी 'मीठा माठ' पकाने की प्रथा है। विशद भोजन पकाते समय उनमें बोझा दूध या भी शामिल थे जिससे उनके पुसाक या जाने बरुग-ब्रुग छिटक जाते थे। मृदु और विशद माठ एक बार भोजन कर लिये जाने के बाद भी आमन्त्रण स्वीकार कर लेने के लिए आमन्त्रित को उत्साहित करता था। भाष्य में उल्लेख है—'कोई किसी को भोजन के लिए बुलाता है। वह कहता है—'भोजन तैयार है, बसिए भोजन कीजिए'। इस पर आमन्त्र्यमाण व्यक्ति उत्तर देता है—'मैं तो काफी भोजन कर चुका हूँ। निमन्त्रण देनेवाला कहता है—'बसिए, यही मिलेगा दूध मिलेगा'। तब आमन्त्र्यमाण उत्तर देता है—'इही से ला सँगा दूध से ला सँगा। यदि माठ मृदु विशद हुआ तो ला सँगा।'<sup>७</sup> इससे यह भी स्पष्ट है कि एक ही भोजन में मृदुता और विशदता दोनों पाई जाती थी। पाचक की क्रिया को लक्ष्य करके ही भाष्यकार ने 'अच्छा पकाता है, बुघ पकाता है' शब्दों का प्रयोग किया है।<sup>८</sup>

१ ४४-१४ काशिका।

२ १३-१ पृ १४ तथा ८२-३ पृ० ११७।

३ २-१ ३६, पृ० २८८।

४ ४-२ १४।

५ २१ ३६, पृ० २८८।

६ ४-२ १४ काशिका।

७ २-४-२३ पृ० १५६।

८ अथ पचे कः प्रयागार्थ ? यातो लक्ष्णानां विक्रिति ।—३ १ २६, पृ० ७१।

९ भा० १, पृ० १४।

१० २-१ १, पृ० २४७ तथा १४ ४२, पृ० १७३, ७४।

११ २ १ १ पृ० २४७।

भोजन यज्ञ मनुष्य का मुख्य भोजन था, जब देवता तथा उसके अन्य सहचर उससे कर्षो बधित रहते । यज्ञ में जब तथा बलि-कार्यों के लिए भी भोजन का ही उपयोग होता था ।<sup>१</sup>

यशामू—भोजन के बाद यशामू का व्यवहार सर्वाधिक था । कदाचित् सक्तु ही इसके सम कन्न थे । यशामू स्वास्थ्यप्रद और शारिबक मानी जाती थी । इसीलिए, व्रतकाल में भी उसका व्यवहार बहिष्ठ था । ब्राह्मण दुग्ध पीकर, क्षत्रिय यशामू पीकर और वैश्य आमिषा ग्रहण कर व्रत या उपवास रखते थे ।<sup>२</sup> भोजन के समान यज्ञ में यशामू की आहुति दी जाती थी ।<sup>३</sup> यह भी प्रसिद्ध था कि औ का सेवन सुस्पष्ट उच्चारण की शक्ति प्रदान करता है और यशामू मूत्ररोगों को घात करती है ।

सामान्यतया यशामू यज्ञ से बनाई जाती थी । यज्ञ के समान यज्ञ के बेट भी निश्चित रहते थे । इन्हें यम्य कहते थे ।<sup>४</sup> उत्पीनर और मद्र जगपदों में औ की पैदावार अधिक होती थी ।<sup>५</sup> इस प्रकार पूर्वीय भाग का मुख्य भोजन जाबल था और पश्चिम भारत का यज्ञ । कुछ लोगों के मत से प्राचीन साहित्य में यज्ञ का कर्ष औ और गेहूँ दोनों था । यज्ञ के कर्ष का एक भाग सोलहमुने पानी में बोलकर खतक तथाते थे जबतक बसते-बसते पानी आधा रह जाता था । तब उसमें दूध और शक्कर मिला दी जाती थी । यशामू जाबल के मांड में दूध और शक्कर मिलाकर भी बनाई जाती थी । यह लगभग उसी प्रकार का भोज्य था जैसे पंजाब में फिरली बनाई जाती है । यशामू फिरली की अपेक्षा पतली भी बनती थी । इसमें दूध की मात्रा अधिक होती थी । इसे माय्यकार ने 'पयस्कम्पा' और 'बहुपया' कहा है ।<sup>६</sup> यशामू नमकीन भी बनती थी ।<sup>७</sup> सम्भवतः यह राजस्थानी राजकी-वैसी होती होगी । ठीक पकी हुई यशामू आषा या शूपित<sup>८</sup> कही जाती थी जब कि पकाये हुए दुग्ध या ह्वि भक्ष कहलाते थे । आषा यशामू का घूसरा नाम हो गया था । जिस व्यक्ति को प्रतिदिन नियमित रूप से आषा दी जाती थी उसे आशिक<sup>९</sup> कहते थे । सात्वत जनपद (सम्भवतः वर्तमान अम्बर से बीकानेर रियासत तक) में यशामू का प्रचार अधिक था और सात्वत लोग उसके बनाने में विशेष निपुण भी थे ।<sup>१०</sup> सात्वकी यशामू के लिए विशेष शब्द प्रचलित था 'सात्विका' जिसका व्यवहार वहाँ के वैश्यों और यशामू के लिए ही होता था । नमकीन और मीठी यशामू में

१ ५१२, पृ० २९५ ।

२ आ० १, पृ० १९१ ।

३ २३-३, पृ० ३०६ ।

४ २३-२४ पृ० ४१७ ।

५ ५२३ ।

६ ७-१-७३, पृ० ७० ।

७ ५३ ६७ पृ० ४६२ तथा वही ।

८ १२-५१ पृ० ५४२ ।

९ ३१-२७ पृ० ५६ ।

१० ४४-६७ काशिका ।

११ ४-२-११३, पृ० २१८ तथा ४२-१३६ ।

कुछ विशेष मसाले और मेवे मिलाकर उसे और भी अधिक स्वादु बना दिया जाता था। भाप्यकार ने यबामू का 'स्वादी' करके खाने का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> फिर भी स्वाद की दृष्टि में उसमें चाहे जो अन्तर कर लिया जाता था। उखी बहु पेय ही थी। भाप्यकार ने उसे मोम्या कहा है, यक्या नहीं। मध्य सभ्य पचाई जाने योग्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता था।<sup>२</sup> अधिक पतली यबामू जिसे भाप्यकार ने पयस्कस्या कहा है उष्णिका भी कहलाती थी। उष्णिका में अन्न का अंश बहुत कम होता था।<sup>३</sup> शीर में पकाई गई यबामू को 'क्षैरेयी' कहते थे।

यावक—यह यवक से तैयार किया हुआ मोम्य पदार्थ था। एतदर्थ यवक का पहले उमूद्रल में अक्वहनन किया जाता था। तुप तिकासकर साफ किया हुआ यावक पानी में उबाला जाता था और उसमें दूध और सर्करा मिला दी जाती थी। भाप्यकार ने कहा है यावक को संस्कृत अन्न मही मान सकते। संस्कृत अन्न बहु होता है, जो उठाकर तुल्य बना लिया जाय। यवक का संस्कार उमूद्रल में होता है, किन्तु बहु वहाँ से उठाकर खा नहीं लिया जाता। उसके बाद उसे रौधना पड़ता है। भाप्य में इसे भीमूद्रल (उल्लेख में साफ किया गया) कहा है।<sup>४</sup>

सक्तु—सक्तु का प्रकार पुस्तकालय में विशेष ज्ञान पड़ता है। बड़ी उल्लेख के साथ उल्लेख किया है 'आमते हो देवदत्त हम क्यमीर जामेने वहाँ सक्तु पियेने।'<sup>५</sup> सक्तु का व्यवहार इतना अधिक था कि वे दुबानों पर बिका करते थे। सक्तु किसी भी भुने हुए अन्न से बनते थे। सामान्यतया ब्रीहि यव और गोधूम सक्तु बनाने के काम आते थे। इनके बार्गो (धाना) को सक्तुय कहते थे।<sup>६</sup> भूतन के बाद उन्हें चक्की (दूध) में पीसना पड़ता था इसीलिए भाप्यकार ने उन्हें दार्पय कहा है।<sup>७</sup> पिये हुए सक्तु तितठ (बसनी) में छानकर साफ किये जाते थे। भाप्यकार ने व्याकरण द्वारा दूध की गई बापी की उपमा चासनी से खाने नये सक्तुओं से की है।<sup>८</sup> सक्तु दध्य 'पध' धातु (सञ्ज) से तुन् प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ है पुरोधय। अथवा कन् (गती) धातु से बर्ष-व्यत्यय द्वारा बिनसन' अर्थ में पुपोत्तराविराज्य' अर्थ में तुन् प्रत्यय होकर सक्तु अर्थ बनाया है। इस प्रकार सक्तु दध्य का अर्थ कठिनता से साफ किया हुआ अथवा फूसने या फूसने वाला होता है और यह पूर्णतः सार्थक है।<sup>९</sup> सक्तु अथिततर यव के बनते थे। यव के गुणों की चर्चा

१ ३-४ २६, पृ० ३५५।

२ ७-३-६९ पृ० २०३।

३ ४-२-७१ व्यासिका।

४ ४-२-३०, पृ० १७२।

५ ४ ३-२५, पृ० २६०।

६ ३ २ ११४ पृ० २७७।

७ २ १ १ पृ० २३०।

८ ४-१-२, पृ० २९५।

९ ४ ३-२५, पृ० २३०।

१० सक्तुमिव तितठना पुनक्तः।—आ० १ प० ८।

११ यही।

उत्तर हो चुकी है। उरूरास से कूटकर यब के तुप निकालना कठिन होता है और घोड़े भी तुप छेप रह जाने पर स्वाव में बाधा होती है। इससे यब के सक्तु पानी पड़ने पर फूस्ते भी खूब हैं। सक्तु छानने के लिए जिस तितर का व्यवहार होता था उसकी संज्ञा भी सार्बक थी। माप्यकार ने उववद् (विस्तृत) तथा सुप्रवत् (छिद्रवद्) होने के कारण चारुनी का उक्त नाम पड़ा हुआ वतलाया है। सन् (परिपक्वार्थक) घातु से भी तितर शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ 'परिपक्व' अर्थात् परिपोषन करने का साधन' होता है।<sup>१</sup> सक्तु पेय हो बेही वही मिलाकर भी खाने जाते थे।<sup>१</sup> साधारणतया वे पानी में भोजकर खाने या पिये जाते थे। इस प्रकार, उन्हें वधिसक्तु और उवसक्तु या उवसक्तु<sup>१</sup> भी कहा जाता था। सक्तुओं का समूह साक्तुक कहलाता था।

उवमन्थ—पाणिनि-सूत्र (६३६०) में उवमन्थ या उवकमन्थ का उल्लेख मिलता है। मूत्र के साथ खाने जानेवाले सक्तुओं को उवमन्थ कहते थे। माप्यकार ने मन्थ या उवमन्थ का प्रयोग दाघ अर्थ में नहीं किया है। दूध से खाने जानेवाले सक्तु मन्थ कहलाते थे। श्वेद तथा घाखा • बार० में इसे पेय कहा है। सक्तु मधुमन्थ वधिमन्थ और उवमन्थ इन तीन रूपों में खाने जाते थे। मधुमन्थ मधु में सानकर, वधिमन्थ वही मिलाकर और उवमन्थ जस के साथ खाने जानेवाले सक्तु थे।<sup>१</sup>

पिष्टक—पाणिनि ने पिष्ट के विकार को 'पिष्टक' कहा है।<sup>१</sup> पिष्टक संज्ञा शब्द वा शो वास-विशेष का वाचक था। पिष्ट किसी भी द्रव्य के पूर्ण अर्थात् भाटे को कहते थे। पिष्ट या पिष्टिका का ही विकसित रूप 'पिट्टी' हिन्दी में पिसे हुए चावल के भाटे या किसी भी पिसे हुए द्रव्य के पूर्ण क लिए प्रयुक्त है। माप्यकार ने भी 'पिष्टपिष्टी' का उल्लेख इसी अर्थ में किया है। संज्ञा (नामविशेष) से मिला अर्थ में पिष्ट से बनी हुई किसी भी सामान्य वस्तु को 'पिष्टमय' कहते थे। हो सकता है कि पिष्टक 'रोटी' का सामान्य नाम हो।

पिष्टक घाति बीहि मय गोभूम अणु बाजरा (*Panicum mibaceum*) और बनीबुटा (*Coix barbata*) आदि अन्नों से बनते थे। इनमें गोभूम और गवैमुका का उल्लेख विस्वादिगण (४३-१३६) में हुआ है।

पिष्टी—किसी द्रव्य के पूर्ण को मूत्रकर उसमें चर्करा या गुब् और भी मिलाकर बनाई जाती थी। इसे माप्य में पिष्टी और पिष्टपिष्टी कहा है।<sup>१</sup> यात्राकाल में जब भोजन बनाना कठिन

- १ भा० १ पु० ८।
- २ १-५७, पु० ३६८।
- ३ ६-३-६०।
- ४ ४-२ ३९, पु० १७९।
५. काट्यायन सूत्रमाप्य १ २-७ ८।
६. ४-३-१४७।
७. २-१-५७, पु० ३१४।
८. ४ ३-१४६।
९. २ १-५७, पु० ३१४।



होता था तब पिण्डी से काम बसाया जाता था। यों भी उपाहार के रूप में पिण्डी का प्रयोग होता था। भाष्य में पिण्डी के मक्षण का उल्लेख कई बार हुआ है।<sup>१</sup> धीमासुबेब घास्मी अम्बर ने भ्रातृ-वध पिण्डी को खजूर मान लिया है।<sup>२</sup> पिण्डी तिलों की भी बनती थी। एतदर्थं तिल पहले भून लिये जाते थे किन्तु यह बिना धर पर किली बन्व पात्र में की जाती थी। वे बून्हे पर यों ही नहीं भूने जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि 'तप्त-भाण्डं में बालने पर तिल उसमें मुहूर्त-भर भी नहीं ठहरते।'<sup>३</sup>

**अपूप**—अपूप मधुर पक्वान्न वा जो वेहूँ या औ के जाटे से बनाया जाता था। जाटे के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल औ का ही उल्लेख भाष्य में होने का यह तात्पर्य नहीं कि औ के अतिरिक्त अन्य अन्नों का प्रयोग नहीं होता था। वे सार सत्य औ पिसकर जाटे के रूप में व्यवहृत होते थे यह कहलाते थे। अपूप इनमें से कई अन्नों के बनते थे। वे सफ़ेद या गुड़ डालकर बूत में पकाये जाते थे। ऋग्वेद (१०-४३-९) में अपूप को बूतवत् कहा है। वे पीछे या पक्ष के जाटे से बनाये जाते थे। यज्ञ में भी अपूप की बाहुति दी जाती थी। भाष्य ने जब को अपूपवान् और वधिवान् कहा है।<sup>४</sup> अपूप बड़े आकार के बनते थे। इसलिए, भाषा अपूप भी खाने को दिया जाता था।<sup>५</sup> भाष्य में दो और छह अपूपों का उल्लेख मिलता है। जो कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति का भोजन रहा होगा। अपूपों के डेर को 'आपूपिक' कहते थे। चूर्ण अन्ध भरकर बनाये जाने के कारण अपूप 'बूजिन्' कहलाते थे।<sup>६</sup> यह अपूप का अन्य भेद था जिसे आशकल गुप्तिया कहते हैं और जो भीतर भूना भीठा चूर्ण भरकर बनाई जाती है। भाष्यकार ने भाण्ड में संस्कृत होने के कारण अपूपों को 'भाण्ड' कहा है। यह भाण्ड शब्द बून्हे का बोधक है। अपूप गुड़ या तिल डालकर भी बनते थे। किसी पीपमासी को मुडापूप और किसी को तिलापूप ही विशेषतः लाये जाते थे।<sup>७</sup> सम्भवतः यह वैद्यासी पूजिया थी।

**घण्टुमी**—घण्टुमी एक अन्य मधुर पक्वान्न वा जो चूर्णी होता था और औ या तेल में पकाया जाता था। घण्टुमी के समूह को 'घण्टुमिक' कहते थे। भाष्यकार ने भाषा के साथ ही घण्टुमी का उल्लेख किया है।<sup>८</sup>

१ ११-४५, पृ० ३७८ तथा १४-५२, पृ० १८३।

२ १४-४५, पृ० २७८।

३ तप्ते भाण्डं तिला क्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठते।—११-५० पृ० ३००।

४ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० २६।

५ ८-२-१५, पृ० ३३९।

६ २४-२६, पृ० ४७५।

७ १४-९३ पृ० २०४ तथा ११-१, पृ० ९४।

८ ४-१-८५, पृ० ९६ तथा ४-२-३९, पृ० १७९।

९ ४४-२३।

१० ४-२-१६।

११ ३-२-८३ काशिका।

१२ ४-१-८५, पृ० ९६।

१३ ११-४७ पृ० २९२।

मोदक—मोदक भी भूर्गान्न चर्करा और घृत से बनते थे। मोदकों के डेर को मीरकिक कहते थे। मोदक बास्त्रक में मोदशामक से और बड़े आकार से खाये जाते थे। भाष्यकार ने कहा है, 'देवराज का अग्निप्राय मादक खाने से है।' दो दो मोदकों को 'द्विमोदकिका' कहते थे।

ह्रसर—ह्रसर तिस आकार मिलाकर बनाया जाता था। इसमें कुछ मटर और मसाल मिश्र दिय जाते थे। ह्रसर प्रातराद्यादि के काम आता था। सूत्र-ग्रन्थों तथा पंचविद्य ब्राह्मण (५-२) में भी ह्रसरका उल्लेख मिलता है।

धाना और गुड़धाना—भून हुए अनाज व दाना को धाना कहते थे। भूजन का काम भाट्ट में होता था। भूजनबास या भाट्ट का प्रबलित करनेबास को भाट्टमिन्ध' कहते थे। भाष्यकार ने धाना और घण्टुसी का साथ-साथ उल्लेख किया है। धाना गुड़ की आरानी में पकाय जाते थे। वे गुड़धाना कहलाते थे। गुड़धाना का पूरा अर्थ था गुड़ में ससुष्ट' धाना।

बटक—तलकर साईं जानबारी वस्तुओं में बटक (बड़ा) का स्थान महत्त्वपूर्ण था। बटक किसी पौर्णमासी का मुख्य भाजन होता था। यह पौर्णमासी बटकिनी कहलाती थी। बटकिनी सप्ता थी। सम्भवत कार्तिकी पूर्णिमा को 'बटकिनी' कहते थे।

कुस्माप—बटकिनी के समान एक पौर्णमासी का नाम कौस्मापी' भी था। कुस्माप बुधरा को कहते थे और सम्भवत 'शुक्ली पूर्णिमा को उसका मुख्यरूपन बाह्यर होता था।

कुस्माप का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय में विभिन्न ग्रन्थों और विद्वानों में अतीवय गयी है। निरुक्त में कुस्माप को 'अबकुत्सित' बाह्यर कहा है। छात्राय्य उप० (११०-२) में भी उस दरिद्र भाजन कहा है। अमरकोश में उस सबक का पर्याय माना है। अन्य काम काविक सबक को कुस्माप मानते हैं। काविक सबक जो आकाश से तैयार हुता है मध्यप्रदेश के छतीसगढ़ क्षेत्र के दरिद्र-वर्ग में बहुत प्रचलित है। आदिवासियों में भी इसका प्रचार है और इन स्थानों में यह स्वादु माना जाता है। कुस्मापविषय जातक (सं० ४१५) में कुस्माप को 'अतिस जलधनिक' दरिद्र-भोजन बतलाया है। शरद व सुव-स्थान (२७-२६९) में उस उपो-सिक्त ईपस्त्रिक अपूरीहन यव-विष्ट कहा है, जो बर में पचता है और रस होता है। काणिका (४४ १०३) में मुख्य (मूष) को कौस्मापिक कहा है, जिससे स्पष्ट है कि कुस्माप मूष से तैयार बनाया जाता था।

- १ ४-२-३९, पृ० १७९।
- २ ५१ ११९, पृ० ३५३।
- ३ ५४ १, पृ० ४८२।
- ४ ८ ३-५९, भा० १, पृ० ४४१।
- ५ १ १-५० पृ० ३०७।
- ६ ७-३-७० पृ० ३४७।
- ७ १ १ ४७ पृ० २९२।
- ८ २ १ ३४ ३५, पृ० २९६।
- ९ ५-२-८२, पृ० ४००।
- १० ५ २-८३।

होता था तब पिच्छी से काम बढाया जाता था। यों भी उपाहार के रूप में पिच्छी का प्रयोग होता था। माप्य में पिच्छी के मसलन का उल्लेख कई बार हुआ है।<sup>१</sup> श्रीवासुदेव शास्त्री जर्म्यंकर ने भ्रान्ति-बध पिच्छी को सञ्जूर मान लिया है।<sup>२</sup> पिच्छी तिक्तों को भी बगती थी। एतदर्थं तिस्र पहले भून सिंभे पाते थे किन्तु यह क्रिया भर पर किसी बन्ध पाप में की जाती थी। वे बून्हे पर यों ही नहीं भूने जाते थे। माप्यकार ने कहा है कि 'सप्त भ्राष्ट्र में डालने पर तिस्र उसमें मुहूर्त्त भर भी नहीं ठहरते।'<sup>३</sup>

अपूप—अपूप मधुर पक्वान्न वा जो गेहूँ या जौ के आटे से बनाया जाता था। आटे के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि बेबल जौ का ही उल्लेख माप्य में होने का यह तात्पर्य नहीं कि जौ के अतिरिक्त अन्य अन्नो का प्रयोग नहीं होता था। वे सारे सस्य जो पिचकर आटे के रूप में व्यक्त होते थे यत्र कहलाते थे। अपूप इनमें से कई अन्नो के बनते थे। वे चर्करा या गुड़ डालकर बूठ में पकाये जाते थे। ऋग्वेद (१०.४३-९) में अपूप को भूतवत् कहा है। वे ग्रीहि या यत्र के आटे से बनाये जाते थे। यज्ञ में भी अपूप की आहुति दी जाती थी। माप्य ने यत्र को यपुपवान् और बभिवान् कहा है।<sup>४</sup> अपूप बड़े आकार के बनते थे। इसलिए, आधा अपूप भी आन को दिया जाता था।<sup>५</sup> माप्य में जो और छह अपूपों का उल्लेख मिलता है। जो कम-से-कम और अधिक-से-अधिक एक व्यक्ति का भोजन रखा होगा। अपूपों के डेर को आपुपिक कहते थे। चूर्ण अन्ध भरकर बनाये जाने के कारण अपूप 'चूर्णिन्' कहलाते थे।<sup>६</sup> यह अपूप का अर्थ मेह वा जिसे आजकल गुमिया कहते हैं और जो भीतर मुना मीठा चूर्ण भरकर बनाई जाती है। माप्यकार ने भ्राष्ट्र में संसृष्ट होने के कारण अपूपों को भ्राष्ट्र कहा है। यह भ्राष्ट्र शब्द बून्हे का बोधक है। अपूप गुड़ या तिस्र डालकर भी बनते थे। किसी पीपैमासी को गुडापूप और किसी को तिस्रापूप ही विशेषतः लाये जाते थे।<sup>७</sup> सम्भवतः यह वैशाखी पूर्णिमा थी।

घण्टुसी—घण्टुसी एक अल्प मधुर पक्वान्न वा जो चूर्णी होता था और पी या लेख में पकाया जाता था। घण्टुसी के समूह को घाण्टुकि<sup>८</sup> कहते थे। माप्यकार ने घाना के साथ भी घण्टुसी का उल्लेख किया है।<sup>९</sup>

१ ११.४५, पृ० ३७८ तथा १४.५२, पृ० १८३।

२ १४.४५, पृ० २७८।

३ तप्ते भ्राष्ट्रं तिस्राः क्षिप्ता मुहूर्त्तमपि मावतिष्ठन्ते।—११.५०, पृ० ३००।

४ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० २६।

५ ८-२-१५, पृ० ३३९।

६ २४-२६, पृ० ४७५।

७ १४.९३ पृ० २०४ तथा ११.१, पृ० ९४।

८ ४-१-८५, पृ० ९६ तथा ४-२-३९, पृ० १७९।

९ ४-४.२३।

१० ४.२.१६।

११ १-२-८३ काशिका।

१२ ४.१-८५, पृ० ९६।

१३ ११.४७, पृ० २९२।

मोचक—पादक भी पूर्णतः पकटा और घूठ से बनते थे। माण्डों के रंग का नैर्दोष कहते थे। मोचक वास्तव में मोचदायक थे और बड़े चाव से खाए जाते थे। भाद्रपद के नवमि, वैशख के अश्विनायक मोचक खाने से हैं।<sup>१</sup> जो या मोचकों को 'विमोचिका' कहते थे।

कुसर—कुसर विश्व चावल मिठाकर बनाया जाता था। इसमें कुछ मगर और मसाले मिला दिये जाते थे। कुसर प्रातरासादि के काम आता था। सूत्र-ग्रन्थों तथा पंचविन शास्त्र (५-२) में भी इसका उल्लेख मिलता है।

बाला और गुड़धाना—मुने हुए अनाज के दानों को बाला कहते थे। मूतन का काम प्रायः में होता था। मूतनबाधके या माप्ट को प्रशिक्षित करनबाध को माप्टमिण्य कहते थे। माप्यकारक बाला और सज्जुली का साथ-साथ उल्लेख किया है। बाला गुड़ की चावनी में पकाए जाते थे। वे गुड़धाना कहलाते थे। गुड़धाना का पूरा अर्ध या गुड़ में संयुक्त पाया।

बटक—तककर खाई जानेवाली वस्तुओं में बटक (बड़ा) का स्थान महारवजुन का। बटक किसी पीर्णमासी का मुख्य भोजन होता था। यह पीर्णमासी 'बटकिनी कहलाती' थी। बटकिनी संज्ञा थी। सम्भवतः कातिकी पूर्णिमा को बटकिनी कहते थे।

कुस्माप—बटकिनी के समान एक पीर्णमासी का नाम 'कौस्मापी' भी था। कुस्माप धूपरी को कहते थे और सम्भवतः शैवी पूर्णिमा को उसका मुख्यस्वेष आहार होता था।

कुस्माप का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय में विभिन्न ग्रन्थों और विद्वानों में मतभेद नहीं है। निरुक्त में कुस्माप को 'अवकुलित' आहार कहा है। छन्दोग्य उप० (११-२) में भी उसे बरिख भोजन कहा है। अमरकोश में उसे यवक का पर्याय माना है। अन्य कोश काविक यवक को कुस्माप मानते हैं। काविक यवक जो चावल से तैयार होता है मध्यप्रदेश के छपीसबद क्षेत्र के दरिद्र-वर्ग में बहुत प्रचलित है। आदिवासियों में भी इसका प्रचार है और इन स्थानों में यह स्वादु माना जाता है। कुस्मापविषय आतक (सं ४१५) में कुस्माप को 'अनेक अवयविक' बरिख-भोजन बतलाया है। अरक के सूत्र-स्मान (२७-२९९) में उसे जम्बोफ-विष्णु 'विपस्त्र' अपूर्णित यव-पिष्ट कहा है, जो बेर में पचता है और रुखा होता है। काविका (४८-१०१) में मुग्ग (मूँग) को कौस्मापिक कहा है, जिससे स्पष्ट है कि कुस्माप मूँग से भी बनाया जाता था।

- १ ४-२-३९, पृ० १७९।
- २ ५१-११९, पृ० ३५३।
- ३ ५४१, पृ० ४८९।
- ४ ८-३-५९, भा० १, पृ० ४४१।
- ५ ११-५०, पृ० ३०७।
- ६ ७-३-७०, पृ० ३४७।
- ७ ११-४७, पृ० २९२।
- ८ २१-३४, ३५, पृ० २९६।
- ९ ५-२-८२, पृ० ४००।
- १० ५-२-८३।

श्रीपी० के० गार्ड (म० ओ० रि० इंस्टीट्यूट ने अ २२ २५६) ने उसे चुबरी बतलाया है, जिसे महामाय्य के मूला-संस्करण ने स्वीकार किया है। डॉ वा० छ अत्रवाच में भी कुस्माय का हिन्दी पर्याय चुबरी ही स्वीकार किया है। हिन्दी में चुबरी बेर तक मिगोमे हुए जाने को कहते हैं, जिसका मेक प्राचीन कोशों से नहीं बैठता। वास्तव में कुस्माय सटास किया हुआ माँड़ होता था जो किसी पिण्ड या धातु से तैयार किया जाता था। बेर तब बासी रहने के कारण उसमें सटास या जाती थी।

**आमिसा**—माय्य में आमिसा वैश्य का उदाहार बतलाया गया है। आमिसा पेय भी, जो कच्चे मूत्र में दही मिसाकर बनाई जाती थी।

**चूर्ण**—चूर्ण शब्द से वसमान चूर्ण शब्द बना है, जो आटे का पर्याय है। माय्य में चूर्ण शब्द का प्रयोग भुने हुए तथा पकृत या गुड़ मिके हुए आटे के लिए हुआ है। इस प्रकार का चूर्ण शब्द माराजन की कथा में प्रसाद के हेतु बनाने की प्रथा है। यह चूर्ण गेहूँ का या जमान में घालि का बनाया जाता था। गुक्षिमा के भीतर यह चूर्ण भरा जाता था। इसीलिए माय्य में गुक्षिमा (अपूप) को चूर्णी कहा है।<sup>१</sup> पाणिनि ने भी भोज्य वस्तु के रूप में चूर्ण का उल्लेख किया है।<sup>२</sup> काशिकाकार ने मुद्ग और मसूर के चूर्ण का भी उल्लेख किया है। मुद्ग चूर्ण के समूह को सुपरिचित ही है।

**पसस**—माय्य में पसस-पिण्ड का उल्लेख एकाधिक<sup>३</sup> बार हुआ है और इस प्रकार हुआ है, जिससे यह सुपरिचित खाद्य जान पड़ता है। पाणिनि में पसस का प्रयोग उसके साथ होनेवाले मिथवाची तत्पुंस्य के प्रसंग में किया गया है। काशिकाकार ने इसका उदाहरण मुद्गपसस और मूत्रपसस दिया है। 'पद् च काण्डादीनि' (१ २ ३५) मूत्र में उपर्युक्त मूत्र के अमिश्रित उदाहरणों में काशिकाकार ने तिरुपससम् का उल्लेख किया है।<sup>४</sup> इन उदाहरणों से पसस बनाने की प्रक्रिया का पता चल जाता है। तिरु को मूत्र और कूटकर उनमें गुड़ और भी मिसाकर अथवा केवल तिरु से बनाई गई कटरी या तिरुकूट को पसस कहते थे।

**सूप**—सूप का व्यवहार संसृष्टि के लिए होता था। यह भोजन के साथ मिसाकर खाया जाता था।<sup>५</sup> सूप में सर्वाधिक मुद्ग (मूँस) का उपयोग होता था। मूँस को मिलाकर बनाये हुए मात को मीद्ग आदन (पिण्ड) कहते थे। सूप बनाकर खाने की वस्तु नहीं थी वह पेरों के समान पतली बनती थी। 'घासिकार (भोजन) को मुद्गविकार (मूँस की दाल) के साथ खाता है' ऐसा उल्लेख माय्य में मिलता है।<sup>६</sup> मुद्ग के अतिरिक्त माय्य का व्यवहार दाल के लिए

१ ४४-२३।

२ वही।

३ १११ पृ० ९३।

४ १२-१२८ काशिका।

५ १२-१३५ काशिका।

६ ४-४ २५।

७ वही।

८ ४३ ११५ पृ० १६५।

होता था। माप मूप और मोदन तीनों का एक साथ उल्लेख भाष्य में हुआ है।<sup>१</sup> माप पश्चिम कहा गया है क्योंकि वह अर्था ही गल जाता है।<sup>२</sup> दास के रूप में मटर का भी व्यवहार होता था। अतिथियों को भी मटर की दास और भावक खिलाय जाते थे।<sup>३</sup> माप का व्यवहार आदनाबि क साथ ही होता था। इसीलिए, भाष्य में कहा है 'माप न लाओ' यह कहने पर माप अन्य भी किसी वस्तु के साथ मिछाकर नहीं खाये जाते थे।

सूप स्रवण दासकर बनाया जाता था। स्रवणयुक्त मूप को स्रवणमूप कहते थे। समुष्ट अर्थ में स्रवण के आगे होनेवाले प्रत्यय का सुक हो जाता था। इसी का भाष्य में 'स्रवणीहृत्य' या 'स्रवणहृत्य' कहा है।<sup>४</sup> भाष्यकार न इस प्रसंग में स्रवण दास्य का प्रयोग वा अर्थों में प्रचलित ब्रह्मसाया है—रसबाधी और समुष्टनिमित्त। असंमूष्ट अर्थ में भी सवण दास्य का प्रयाप देखा जाता है। यथा स्रवणसीर, स्रवणपानीय। सीर और पानीय में विना स्रवण मित्राय ही उनका स्वात् स्रवण होता है। इसीलिए यहाँ सवण दास्य रसबाधी है। समुष्टनिमित्त स्रवण वहाँ हला है, वहाँ वह अक्षर से मिलाया जाता है। समुष्ट पदार्थ में भी जब वह अक्षर नहीं पाया जाता और चुछमिस कर एकाकर हो जाता है, तब कहते हैं 'अस्रवणमूप है या अस्रवण दास्य है।' 'तस्य भावस्त्वन्मौ' (५-१ ११९) सूत्र पर भाष्य करत हुए गुण दास्य क विवचन क प्रसंग में भाष्यकार न दास्य में दास्य जाननाक स्रवण के परिमाण के विषय में भी बचा की है। उन्होंने कहा है कि यदि कोई घर भर मूँग में सर भर नमक दास्य वे ता वह उपयुक्त नहीं माना जायगा। यदि अद् (भक्षण करना) वातु स अन्न की स्युत्पत्ति मानें ता इस प्रकार तैयार किया हुआ अन्न मूप खाया ही नहीं जायगा और यदि अन्न (जीवित रहना) स अन्न का निष्पन्न मानें ता भी इस प्रकार स मूप को खाकर कोई जीवित नहीं रहे सकता इसीलिए उस अन्न कहना समझ नहीं होगा।

स्रवण क अतिरिक्त मूप को भी कुरत्य लित्तिवीक आदि स शौकन की भी प्रथा थी।<sup>५</sup> दास्य में अक्षर स भी जी मिलाया जाता था। मूली या दूसर दास्य भी पकाने के समय दास्य में दास्य दिय जाते थे। इस प्रकार पकाया हुआ मूप 'मूठमूप' और 'मूठकमूप' कहा जाता था।<sup>६</sup>

शाब्दिक—अर्धों के कुछ उपसर्क द्रव्य भी हैं, जिनकी अर्धों क साथ ही होनी चाहिए।

१ २-१-९, पृ० २७२।

२ ३-१-९६, पृ० १८०।

३ ५ १ १९, पृ० ३१०।

४ १ १-५१ पृ० ३१८।

५ १ ४-७४, पृ० १९६।

६ ४ ४-२४ पृ० २७६।

७ संस्कृतभाषां उपसर्कित्युच्यते—यो हि मूठप्रत्यये स्रवणप्रत्ययं प्रतिपेक्षादी युक्तं स्यात् । यदि तावद्वेदेत्त्वं नाद्योऽस्यत्वं स्यात् । अपानितेरेत्त्वं नाद्योऽस्यत्वा प्राप्यात् ।—५ १ ११९, पृ० ३५५, ५६।

८ ४-४-४ काशिका।

९ ६-२ १२८ काशिका।

उदाहरणार्थं वधि ओदन के साथ मिलाकर खाया जाता था। इस प्रकार के ओदन को दध्मोदन कहते थे।<sup>१</sup> भाष्य में दध्मोदन की बर्णना अनेक रूपों में बार-बार आई है। इससे यह बहुप्रिय भोजन जान पड़ता है। वधि से ससृष्ट या संसृष्ट वस्तु शक्ति कहलाती थी।<sup>२</sup> यही में पकाया हुआ अन्न खाया भी शक्ति कहलाता था।<sup>३</sup> यही में पकाई हुई और यही से संसृष्ट की हुई वस्तु में अन्तर होता था। ओदन के अतिरिक्त पिष्टक आदि भी वधि के साथ खाये जाते थे। इन्हीं कल्प भाष्य में कहा गया है 'दही रहने दो। न सही यही तुम खाक से खा लो।'<sup>४</sup>

वधि का इतना आधिक्य था कि बहु चड़े भर भर कर जमाया जाता था।<sup>५</sup> भाष्यकार ने वधि की तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं—मन्द उत्तरक और निमीनक। मन्द कुछ कम जमा हुआ उत्तरक पूर्वतया जमा हुआ और निमीनक जमाकर कुछ बिनड़ता हुआ वधि कहलाता था। ब्राह्मण भोजन में भी दही परोसा जाता था।<sup>६</sup> भाष्यकार ने बार-बार इस वाक्य की जादृति की है 'सब ब्राह्मणों को दही परोसो किन्तु कौण्डिन्य को मट्टा थी।'<sup>७</sup> यही परोसनेवाले को 'वधिसेव' कहते थे।

ओदन दध्मुदक (मट्टे) में पकाये जाते थे।<sup>८</sup> सपू भी दही से खाये जाते थे।<sup>९</sup> भाष्य के उल्लेखों से वधि का प्रचार सूप से भी अधिक जान पड़ता है। भाष्यकार ने वधि-भोजन को धर्मसिद्धि का समीपी कहा है।<sup>१०</sup>

पायस—सुग्ध का प्रयोग पान के रूप में ही होता था उसमें शक्ति बीहि तथा अन्य अन्न मिलाकर पकाये जाते थे। पायस में पकाई वस्तु पायस कहलाती थी। जिस व्यक्ति को पायस अति प्रिय होता था उसे पायसिक कहते थे।<sup>११</sup> पायस पकाने का भी उल्लेख भाष्य में स्वतंत्र रूप से मिलता है।<sup>१२</sup> पायस धीरे धीरे खड़ी बोनों को कहते थे।

और्विचलक—उर्विचलत् सव्य भाष्य में अनेक बार आया है—उर्विचलक<sup>१३</sup> मणि

१ २-१ ३४ ३५, ५० २८६।

२ ४ ४ ४२ तथा ४ ४ ३।

३ ४-२-१८।

४ २ १ १ ५० २५०।

५ २ १ ३४ ५० २८७।

६ अथैतपुत्रे बहुबोर्जागम्यन्ते मन्वसुतरकं निमीनकम् ।—२-१ ३४ ५० २८७।

७ सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो वधि दीयतां तर्कं तु कौण्डिन्याय ।—१ १ ४७ ५० २८७।

८ १ १ ६३ ५० ४१२।

९ १ १ ६७, ५० ४२४।

१० १ १-५७ ५० ३६८।

११ वधिमोक्षणमसिद्धराशि ।—६-४ १६१, ५० ४९६।

१२ ४-२ १०४ ५० २०९।

१३ १ १-७२ ५० ४५८।

१४ ६ १-८५, ५० १२४।

तोटक' वष्पुदक' तक' मयित' आदि। चाबस तथा पिप्लक उरदिबन् म पकाये जाते थे। इन्हें औदरिवल्क मा औदरिवल्क कहते थे।' इस प्रकार के द्रव्या में तक्रौरन तथा कडी का प्रचार मान भी है।

उदम्बित् दधि से बनाया जाता था। दधि को विन्नेनेवासी रई को विद्याल कहते थे। विद्याल के मन्पदण्ड को वैशाख कहते थे।' रई की माकृति से मिश्री होने के कारण बलने के घटारे के लिए बनाई गई सकड़ी वैशाखी कहलाती थी।

सपि—दधि से बिलोकर निकाले गये परार्थ को हृयंगबीन' कहते थे बिने तपाकर बृत्त या सपि बनाया जाता था।' सपि का म्पबहार आद्य पदार्थों का ठरुने संस्कृत करने एक ब्यंजन के रूप में होता था। ब्यंजन रूप में सपि मूय एव बीदन में मिसाकर खाया जाता था।' हृयंगबीन से बृत्त बनाने के लिए उसे पकामा जाता था। जमे हुए बृत्त को मीन' कहते थे। अमि या अक उपसर्ग पूर्व होने पर अमिमीन और अमिबमान दोनों प्रयोग होते थे। मृत-बीजन को माप्यकार ने बापेय का आदि कहा है।' इधीकिए 'मृत की कामना' करता है। बृत्त की एक रूब' ही होती। ऐसे उदाहरण भाष्य में प्राप्त होते हैं। किन्तु, बृत्त और कीर सबके माप्य में नहीं था। जो माय पाठ्या था वह उनका भी-दूम लाता था। जो मूर्छी पाम सकता था उसने लिए इनका वर्णन ठठ दुर्लभ था।'

तैल—मृत के समान तैल भी संस्कारक द्रव्य था जो तिस मयका सप्य से निकाला जाता था। इधी से निकलनेवासे वी के छात्र भाष्य में तिलों के तैल की भी बर्षा है।' एक म्प्य स्थान

१ ५३-८३, पृ० ४७४।

२ ४२-१९।

३ ११-६७ पृ० ४२४।

४ ११४७, पृ० २८७।

५ ६-१-८५ पृ० १२४ तथा ५ ३-८३ पृ० ४७४।

६ ५१११०।

७ ५-२ २३ पृ० ३७३।

८ १३ ११ पृ० ४६।

९. पुषा में बहुमृतकीरमीवर्न कात्यपात्र्या मुम्बीरन्—६-२ ३ पृ० ३१७ तथा ६ २ १२८ कासिका।

१०. ६-१-२३ तथा २६।

११ ६-४-१६१, पृ० ४९६।

१२ १ ३-२५, पृ० ६३।

१३ बही।

१४ यस्य च ता गाव' सन्ति त तासां कीरं घृतं बोपमुद्भतेऽर्पयेत् प्लुमप्यशम्यन्—

१-२-४५, पृ० ५२८।

१५ १ ३ ११, पृ० ४६।



पर भी ठैलमोजन एवं कृतमोजन का उल्लेख है।<sup>१</sup> सर्प और तिल के अतिरिक्त इंसुली के ठैल का भी प्रचार था।<sup>१</sup>

**घाक**—घाक का उपयोग दो प्रकार से होता था—पकाकर और कच्चे रूप में। मूत्रक आवि मोजन के घाम यों भी काटकर खाये जाते थे। मूत्रक खाने की इस क्रिया को 'उपदेशन' कहते थे।<sup>१</sup> मूस या मूत्रक का उत्पत्ति-क्षेत्र मूत्र-खाकट या<sup>१</sup> मूत्र-साफिन कहलाता था। मूत्रक को सूप में मिमाकर भी पकाते थे अर्थात् मूत्रक का सूप (रसीला घाक)<sup>१</sup> बनाते थे। कपिल का रस निकालकर खाया जाता था।<sup>१</sup> आज भी कपिल की चटनी बनाई जाती है। इनके अतिरिक्त मछानू तितिबीक पनस बर्भिक शृंगवेर (अबरक) का भी प्रयोग किया जाता था।<sup>१</sup> पसापु पाने का भी उल्लेख माप्य म मिलता है।<sup>१</sup>

पकाकर खाया जानेवाला घाक दो प्रकार का बनता था—उपप और अल्पन। कुछ लोग उपप नहीं खाते थे।<sup>१</sup> वे अल्पन घाक और सूप का व्यवहार करते थे।<sup>१</sup> 'घाक को मोजन आवि में मिमाता या घानता है' ऐसा उल्लेख माप्य में मिलता है<sup>१</sup> जो उसके खाने खाने की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। एक स्थान पर घाक का उपयोग बर्भ के समान उपसेचक के रूप में बतलाया गया है।<sup>१</sup> घाक के लेश या स्वल्पता के क्षिप् 'घाक-प्रति' शब्द रच था।<sup>१</sup> इसी प्रकार 'माप-मति' 'सूप-मति' या 'मोजन-मति' शब्द प्रचलित थे। घाक कृत या ठैल में बनाया जाता था। कोई-कोई मृग की दास में मिठाकर पकाया करते थे।<sup>१</sup>

**फल**—फलों में दक्षिण भाषा बिम्बा (*Momordica monadelpha*) सूत्रीका (भास बंपूर) और बपर एवं कुजबी (*Qujube*) मोजन क मग थे।<sup>१</sup>

१ भा० १ पृ २६ ।

२ ५-२-२९ पृ० ३७६ ।

३ ४१४८ पृ० ६१ ।

४ ५२-२९ पृ० ३७६ ।

५ ६-२ १२८ काशिका ।

६ ४३-१५५ पृ० २६६ ।

७ २११ पृ० २५३ ।

८ २-२-३६ पृ० ३९२ ।

९ पक्षति पनताम् ।—१ १-७, पृ० १५४ ।

१० १-२-५१, पृ० ५५२ तथा ४-४-२४ पृ० २७० ।

११ बही ।

१२ ३-२-१४१, पृ० २७३ ।

१३ २-११ पृ० २५० ।

१४ २१-९, पृ० २७२ ।

१५ ६-२ १२८ काशिका ।

१६ १११, पृ० ९४ ४ ४९९ २-२-५, पृ० ३२६, १ १-५८, पृ० ३७९ तथा

६ ३४२, पृ० ३२९ ।

मांस—शाक और घृत के समान ही मांस भी ओशन का सहायक आहार था। मांस का व्यवहार समान में बहुत अधिक था। मासूम होता है कि यज्ञ में पशुबल इसके प्रचार में विशेष महत्व था। योशिय लोग प्रचार रूप में 'आग्नि-वाल्मी स्मृत्-गुपती अतद्रवाही' का मांस ग्रहण करते थे।<sup>१</sup> निरिष्ट ब्रह्मिषियों के लिए समांस मनुष्य की प्रथा बल चुकी थी इसलिए उन्हें मांसो-दक्षिण ब्रह्मिषि कहते थे।<sup>२</sup> छात्र और कपोत के भक्षण का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।<sup>३</sup> कपोत के रस या घोरसे को कपोत कहते थे। भाष्य में प्रस्तन करते हुए कहा है कि कपोत तो सकोम और सप्त प्राणी का नाम है। उसका रस बना लेने पर वह तो जीवित रहता नहीं। तब उस रस को कपोत कैसे कह सकते हैं? अच् प्रत्यय जिससे कपोत शब्द बनता है, प्राणिवाचक शब्द से ही होता है। कपोत का मांस उसका प्रथम विकार है और उस मांस का विकार रस होता है। इन दो अर्थों में दो विकारार्थक प्रत्यय न करके सीधे कपोत से ही एक अच् प्रत्यय किया जाता है। प्रस्तकर्ता का आशय यह है कि यदि कपोत से सीधे रस बनाया जाता तो प्राणिवाचक से अच् प्रत्यय होना उचित था किन्तु प्रत्यय होता है कपोत के मांस से और मांस प्राणी है नहीं। इसका उक्त भाष्यकार एक वाक्य में बोलते हैं कि 'यह बात सर्वमान्य है कि विकार में प्रकृति का सम्बन्ध रहता है। इसलिए विकार के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से कपोत के मांस के लिए कपोत शब्द का व्यवहार हो सकता है।'<sup>४</sup>

पशियों के अतिरिक्त मछलियों भी खाद्य थीं। खाने के लिए उनका शिकार करने की प्रथा थी। मत्स्य मीन बलिहा इन पपायवाची तथा शफर शकुल आदि मीन-विधियों का उल्लेख शिकार के लिए भाष्य में मिलता है।<sup>५</sup> मासायी लोग कौटो-सहित घृति-घृति मछलियों को से खाते थे और फिर घर पर प्राण्य बंध लेकर दोष फेंक देते थे।<sup>६</sup>

पशुओं में मृग का मांस मुख्यतः उच्चवर्ग में खाना जाता था। जब और अधिक का मांस सामान्य समान में खूब प्रचलित था। छाग की बलि यज्ञ में भी दी जाती थी और उसका मांस खाना जाता था। मांसोदन के लिए मृग के शिकार का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।<sup>७</sup> 'बज्ज-कादि कुते तक का मांस खाते थे।<sup>८</sup> पाँच-पाँच नखवाले प्राणी तो दास्य द्वारा मध्य ऊहृण्ये मये थे।<sup>९</sup> वे थे—उराक शास्यक बज्जी कूर्म और मोषा। भारप्य गूकर और कुक्कुट भी भक्ष्य थे।

१ मा० १ पृ० ३ ।

२ ४४ ६७ ।

३ २-२-३६, पृ० ३९२ ।

४ ४-३ १५५, पृ० २६७ ।

५ १ १ ६८, पृ० ४३५ ।

६ १-२-३९, पृ० ५१६ ।

७ ४ ३-१३१ पृ० २५५ तथा २ ३ ६१ पृ० ४४८ ।

८ २-३-१३, पृ० ४१७ ।

९ मा० १ पृ० ११ तथा (ममकयो धामकुक्कुटोऽभक्ष्यो धामगूकर इत्युक्ते मम्यत

एतवारण्यो भक्ष्य इति ।—ब्रह्मी ।

मांस सामान्यतया ओदन के साथ खाया जाता था।<sup>१</sup> माष्य के उत्सवों से ऐसा ज्ञात होता है कि मांस खाने का स्वभाव बहुत-से लोगों का वन गया था जो सदा मांस पाने की कामना किया करते थे।<sup>२</sup> मांस का छाछण बैकर लोम बूसरों को अपने पास रहने के लिए प्रलोभित करते थे।<sup>३</sup> मोक्षदा मांसीवन की ओर सुष्कौवन की अपेक्षा अधिक तेजी से बरसर होता था।<sup>४</sup>

जिस पात्र में मांस पकाया जाता था उसे मांसपत्रनी कहते थे।<sup>५</sup> मांस को कूटकर दूध या घासाका पर भूनने की प्रथा थी। यह मांस 'भुसाङ्क' कहलाता था।<sup>६</sup> यह प्रथा पाणिनि-काल में भी प्रचलित थी। शूद्र पर पकाये गये मांस को दूष्य कहते थे। इसी प्रकार उखा में संस्तुत की हुई वस्तु उष्म कहलाती थी। कभी-कभी बाघदि के द्वारा विद्व पशु को पूरे का पूरा ही पका लेते थे और कभी खण्ड-खण्ड करके।<sup>७</sup> पशु को भूनकर खा लेने की प्रवृत्ति उस समय भी कुछ लोगों में थी।

शालि-मांस का व्यवहार जन-सामान्य में था किन्तु साबक प्रती खादि मांस का व्यवहार नहीं करते थे। माष्य में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि के व्रत भोजन का विधान करते हुए कहा गया है कि शालि मांसदि खाकर भी व्रत किया जा सकता है।<sup>८</sup>

मुड़—मुड़ का प्रयोग अपूप या मोदक बनाने तथा धाना एव पलस को पागने तथा भग्य मधुर खाद्यानों में किया जाता था। स्वतन्त्र रूप से भी मुड़ खाया जाता था।<sup>९</sup> मुड़ का स्वाद मधुरिमा का प्रतिमान था और अन्य मधुर पदार्थों की मिठास जानने के लिए सापदण्ड था। माष्य-कार ने दाशा को गुडकस्या भवति मुड़ के समान मीठी कहा है।<sup>१०</sup> मुड़ दधु से बनता था और जिस दधु में मुड़ का परिमाण अधिक प्राप्त होता था उसे बीधिक दधु कहते थे।<sup>११</sup> माष्य में गुड़ और शृंगवेर (अवरक) का स्वाद परस्पर विरोधी कथलाया है।<sup>१२</sup>

१ २-३-१३, पृ० ४१७ ।

२ ३-२-१ पृ० २०४ ।

३ ३-३-१३९ पृ० ३३० ।

४ १३-१, पृ० १४ ।

५ ६१६३ पृ० ८६ ।

६ ५४६५ ।

७ ४९१७ ।

८ पशु विदं पचन्ति—भा० २, पृ० ५५ ।

९ भा० १, पृ० १९ ।

१० १४४९, पृ० १७४ ।

११ ५३-६७ पृ० ४६१ ।

१२ ४४-१०३ काशिका ।

१३ ४२-८४ ।

दर्करा—दर्करा का प्रत्यय उत्प्रेत भाष्यकार ने मधुर घाघ के अर्थ में नहीं किया है किन्तु वाचिनि ने 'दर्कराया वा' (४-२-८३) में न केवल दर्करा का नामोत्प्रेत किया है, अपितु उसने बनाई जानेवाली वस्तुजा की ओर भी उक्तेत किया है। वाचिनि के अनुसार दर्करा से बने पदार्थ को दर्करा, धार्कर, धार्करिक, धार्करिक या धार्करीय कहते थे।<sup>१</sup>

मधु—मक्षिकाज्यों द्वारा निर्मित होने के कारण मक्षिक या सारथ<sup>२</sup> कहा जाता था। भाष्यकार ने इसे द्रव्यपदार्थक और रसवाची कहा है।<sup>३</sup> मधु की साम्ना करण क स्मिर् विषय क्रिया का प्रयोज होता था। मध्वस्पति या मधुस्पति।<sup>४</sup> मधु इतना प्रिय था कि लोग उसकी साम्ना किया करते थे।<sup>५</sup>

ब्राह्म—ब्राह्म के माधुर्य को 'युद्धकल्प' कहा गया है। कपिता ब्राह्म की उत्पत्ति का प्रसिद्ध श्लोक था।<sup>६</sup> येय पदार्थ दो प्रकार के थे—पौष्टिक स्वादु एवं मादर। पौष्टिक पदार्थों में मुख्य वे थे—

धीर—धीर का मुख्य सामन पो धी, यद्यपि अन्य प्राणिमों के धीर का उल्लेख भी भाष्य में प्राप्त होता है।<sup>७</sup> गामा में कृष्णा बङ्गुलीरु मानी जाती थी।<sup>८</sup> मापीमञ्ज्व धीर के भातिदाय्य का परिचायक माना जाता था। धीर अन्य साध पदार्थों के बनाने में भी काम आता था। यवामु लीरिणी<sup>९</sup> या पवत्कन्या होती थी।<sup>१०</sup> बामिधा भी धीर से बनती थी। पायस भी धीर म पकाया जाता था। पायस के प्रेमी पायसिक<sup>११</sup> कहलाते थे और इनकी कमी न थी फिर भी, पान के रूप में धीर का महत्व सर्वाधिक था। ब्राह्मण पयोद्धत होते थे।<sup>१२</sup> माधमकों का यह मुख्य पौजन था। वे उसकी काकसा करते ही रहते थे।<sup>१३</sup> जसीनर के सोग धीर पान से सर्वाधिक प्रेमी थे।<sup>१४</sup>

१ वही ।

२ महि युद्ध इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते मृङ्गवैरजिति वा कटुकत्वम् ।—२-१ १ पृ० २५३ ।

३ ४-३-११६ पृ० २४९ ।

४ ५-२-१०७, पृ० ४१६ ।

५ ७-१-५१, पृ० ४९ ।

६ १३-२५, पृ० ६३ ।

७ ५-३-६७, पृ० ४६१ ।

८ ४-२-९९ ।

९ ६-३-४२, पृ० ३२८ ।

१० कृष्णा यवां सम्प्रलोरत्तमा ।—२-३-४२, पृ० ४३३ ।

११ १-१-२८, पृ० ५६ ।

१२ ४-२-२० पृ० १७२ ।

१३ ५-३-६७, पृ० ४६२ ।

१४ ४-२-१०४, पृ० २०९ ।

१५ भा० ३, पृ० १९ ।

१६ ७-१, पृ० ४९ ।

१७ ८-४-९ काण्डिका ।

मथित—मथित के लिए एक, मथितोरक उपनिषद् आवि शब्दों का प्रयोग प्रचलित था जो वैशाखमन्थ से मथकर बनाया जाता था।<sup>१</sup> यह दधि से निम्न कोटि का भोजन था। इतीम्पि, कौण्डिन्य का अपमान करने के उद्देश्य से कहा गया है धन ब्राह्मणों को दही दो किन्तु कौण्डिन्य को तक दो।<sup>२</sup> मथित का प्रयोग इतना अधिक था कि कुछ सोम केवल मथित वेधन का ही व्यवसाय करते थे।

गुडोरक—मुड़ का सर्वत गुडोरक कहलाता था। इसका प्रचार आज भी उत्तर भारत में अधिकता से पाया जाता है। प्रायः में बार-बार गुडोरक का उल्लेख होने से इसके प्रिय पेष होने का अनुमान होता है।<sup>३</sup>

सुरा—सुरा का प्रयोग सामान्य जनता में प्रचलित था। एतर्ष पानागार के जिनमें जाकर लोग सुरापान करते थे।<sup>४</sup> ऐसे लोगों के प्रति समाज-सम्मान का मात्र कम था। नियमित पीनेवाले पुंसवी कहलाते थे। ये कभी सुरा से तृप्त नहीं होते थे। सुरा का प्रचार प्राच्य कौर्यों में अधिक था। बाहूषीक और चौवीर लोग भी पान अधिक करते थे। गान्धार लोग क्यार्म-पान को पसन्द करते थे। सुरा यगानेवासों को दौण्डिक या आसुतीवस कहते थे। पीनेवाले के लिए 'दौण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है।<sup>५</sup> आसुतीवस सुरा पीनेने भमके से उसे टपकान (अभियन) का काम करता था।

सुरा या शृण्ड के अनेक प्रकार थे। मीरेय एक प्रकार का मद्य था जो मुड़ या मधुए से बनाया जाता था। इसे इसके व्यममूठ पत्तियों के अनुसार गुड-मीरेय या मधु-मीरेय कहते थे। उष्णकोटि के मीरेय को परममीरेय कहते थे। कासिकाकार ने जायव और मीरेय में अन्तर बतलाया है।<sup>६</sup> प्रथमा सुरा का दूसरा भेद था। यह मुड़ से बनाई जाती थी। इसका रंग लेख के समान हुआ पीला होता था। प्रायःकार ने बार-बार-इसे 'तैरुक्कना' कहा है।<sup>७</sup> कापिषायनी सुरा अमूर्तों के रस से बनाई जाती थी। इतीम्पि उसे कापिषायन मधु कहते थे।<sup>८</sup> अमूर्तों के रस के लिए मधु शब्द का व्यवहार होता था। वहाँ की द्राक्षा बहुत प्रसिद्ध थी। यहीं से द्राक्षा से बना हुआ

१ ११-८५ पृ० १२४ ।

२ ५१११० ।

३ ११४७, पृ० २८७ ।

४ ७-३-५०, पृ० १९५ ।

५ १४-२ पृ० १२४ तथा ६-१-८५, पृ० १२४ ।

६ विवति शीष्कः पत्तापारे ।—२११ पृ० २२८ ।

७ २-२-२९, पृ० ३७९ ।

८ ८४-९ कासिका ।

९ २-११ पृ० २२८ ।

१० ६-२-७० कासिका ।

११ ५३-६७ पृ० ६८ तथा ५४-१४, पृ० ४६१ ।

१२ ४-२-९९ ।

मधु अन्यत्र भेजा जाता था। कषाय हल्के नसेवासा पेय था। सामान्य कषाय धी-माँड़ (सर्पिर्मूष) तथा उमापुष्पों (अरुसी के फूल) से बनाया जाता था। एक प्रकार का कषाय बीवारिकों का पेय था जिससे यह निम्न कोटि का पेय मालूम होता है। सर्पिर्मूषकषाय उमापुष्पकषाय और बीवारिककषाय ये कषाय के भेद थे और संज्ञा शब्द थे। इनमें उच्च कोटि के कषाय को परम कषाय कहते थे।<sup>१</sup>

सुरा बनाने के मन्त्र (मन्त्रा)को आसुति<sup>२</sup> कहते थे। सुरा के घटक पदार्थों का प्रथम क्रियन्त बनाया जाता था। क्रियन्त की प्रक्रिया पूर्ण होने पर वे आसुभ्य<sup>३</sup> स्थिति में होते थे। अभिपव (सुरा खींचने) के बाद बचा हुआ अन्न कल्कविनीय कहलाता था जिसे फेंक दिया जाता है।<sup>४</sup>

ब्राह्मण लोग सामान्यतया सुरा नहीं पीते थे किन्तु सौत्रामणि आदि मशों में स्वल्प सुरा का संवन भी वे धार्मिक दृष्टि से करते थे। भाष्य में एक स्थान पर पूर्वपक्षी कहता है 'यदि ताभ्रजर्षी सुरा से मपी हुई अनेक घटी पीकर कोई स्वर्ग नहीं पहुँच सकता तो यज्ञ में बोझी-सी पी लेने पर कैसे पहुँच जायगा ?'<sup>५</sup>

सोम—सोम का प्रचार ब्राह्मणों श्रोत्रियों और ऋषिबर्षों में था। भाष्य में सोमपान का<sup>६</sup> पान पुनिक उत्सव प्राप्त होता है। सोम बनाने की प्रक्रिया बड़ी जटिल थी। सोमबल्सी मूकबन्त पर्वत या कौकटों के वेश में होती थी। इस रुता को त्वक् पर फीलाकर फिर वेसी या भिपभा पर रख कर कूटते थे अथवा मत्सा (मूसली) से ऊलस में कूटते थे। फिर इसका रस जम या जमस (कमरा) में मरते थे। कूटने या पीसने से पूर्व इसे पानी में भिगोया जाता था। भाष्य के उल्लेख से सोम के पाक (पकाने जाने) का अनुमान होता है। भाष्यकार ने सोम के सम्बन्ध में स्वात और अित शब्दों के प्रयोग को उचित ठहराया है। ये दोनों शब्द पाक अर्थात् प्रयुक्त होनेवाली भी बातु के भावे स्त प्रत्यय लगाकर बनते हैं। साधारणतया स्त प्रत्यय लगाने पर भीत शब्द बनना चाहिए, किन्तु निपाठन से भी को श्रा और अि बना दिया जाता है। स्वात का प्रयोग कहाँ हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि सोम के प्रसंग में थी को भा भाव होता है अथवा भिभाव। अित 'पितः सोमः' इत्यादि प्रयोग देखकर कह दिया है कि सोम का बहुत्व बतलाना हो तो स्वात और अन्यत्र अित प्रयोग होता है। इससे सोम का पकाया जाना भी होता है।<sup>७</sup>

भोजन-पाल के विषय में प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्दों पर विचार कर लेना यहाँ

१ ६-२ १० काशिका।

२ ५-२ ११२ ।

३ ३-१ १२६ ।

४ ३ १ ११७ ।

५ यही।

६ पशुम्बरवर्माणां घटानां मच्छलं मृत्वीर्यं न पमयेत् स्वर्गं तत्किं क्युगतं नयेत् ।—

भा० १, पृ० ५, ६ ।

७ ३-१-१४, पृ० १७८ ।

८ ६ १ १६, पृ० ६२ ।

समीचीन होना। माप्यकार के मत से भोज्य और पेय पदार्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१ भोज्य २ मद्य ३ व्यञ्जन और उपसिक्त ४ संस्तुत।

भोज्य और मद्य—भोज्य शब्द भुञ् घातु से बना है। सामान्यतया व्यञ्जहार करने के योग्य इस शब्द में व्यत् प्रत्यय होकर 'अजो कु विभ्यतो' (७-३-५२) सूत्र से कृत्प्र होकर भोज्य बनना चाहिए था, किन्तु पाणिनि ने 'भोज्यं मद्ये' (७-३-६९) सूत्र से कृत्प्रमाण कर गिपाठम से भोज्य शब्द बना लिया है। इस प्रकार पाणिनि के मत से भोज्य और मद्य पर्याय हैं। कात्यायन का मत है कि सूत्रकार को मद्य शब्द के स्वान पर व्यञ्जहार्य शब्द का प्रयोग कर 'भोज्यमभ्यवहार्ये' सूत्र बनाना चाहिए था क्योंकि भोज्य और मद्य में अन्तर है। मद्य केवल छर विद्यत् अर्थात् कड़ी वस्तु का होता है जो चबाकर खाई जाती है। भुप और यथावु छर विद्यत् नहीं हैं। वे इन होते हैं। यदि भोज्य और मद्य को पर्याय मान लेंगे, तो भुप और यथावु भोज्य नहीं कहे जा सकेंगे।

पतंजलि ने कात्यायन के मत पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि मत् घातु का व्यञ्जहार केवल छर विद्यत् पदार्थ के ही लिए नहीं होता। लोफ में व्यञ्जहार वायुमज्ज शब्दों का व्यवहार देखा जाता है यद्यपि वायु और अज् छर विद्यत् पदार्थ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मद्य छर विद्यत् से भिन्न पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार, पाणिनि और पतंजलि दोनों मद्य और भोज्य को पर्याय मानते हैं।<sup>१</sup> इसीलिए, पाणिनि ने पसस (मांस) भुप और घाक को मद्य माना है और 'मद्येन मिधीकरणम्' (२ १ ३५) के उदाहरण गुडपसस (गुड डालकर पकाया हुआ मांस), घृतपसस घृतभुप घृतघाक आदि शब्द मानकर उनमें 'पससभुपघाकं मिद्ये' (६ २ १२८) से आद्युदात्त स्वर का निर्देश किया है। उपसिक्त शब्दों में भुप छर (कठिन या कड़ा) और विद्यत् (मूल्य-असह्य वानोबासा) नहीं होता। दुसरी ओर पाणिनि ने अज् और मद्य में भी अन्तर किया है, इसीलिए उन्होंने 'अजेन व्यञ्जतम्' (२ १ ३४) और 'मद्येन मिधीकरणम्' (२ १ ३५) में अज् और मद्य का पुनरु-पुनरु उल्लेख किया है। अज् सामान्य वाद्य को कहते थे और मद्य छर विद्यत् अर्थात् चबाकर खाये जाने योग्य वाद्य को। यद्यपि माप्य और काशिका ने इन दोनों के जो उदाहरण (दध्योदन और मुडवाना) दिये हैं उनसे यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। ओदन और घाना दोनों ही मद्य हैं और अज् भी।

वास्तव में मद्य और भोज्य में शास्त्रीय दृष्टि से अन्तर था। शास्त्रीय दृष्टि से बहू प्रयाग होता था बहू भोज्य व्यञ्जहार्य मात्र को कहते थे और मद्य छर-विद्यत् को किन्तु सामान्य तया लोफ में दोनों शब्दों का पर्याय रूप में ही प्रयोग हाता था। पाणिनि ने मद्य शब्द का प्रयोग दोनों दृष्टिया से किया है इसीलिए जसमें ऊपर से देखने पर विसमति मान्य होती है।

मिधीकरण—मद्य पदार्थों को अधिक स्वादु बनाने के लिए उनमें कड़ी-कड़ी दूसरे पदार्थ भी मिलाये जाते थे। इन दोनों में एक मद्य वाद्य होता था और उसका सहायक। मुख्य वाद्यों में घाना पसस भुप घाक आदि थे और इनके मिधीकरण से मुड घृत मूलक आदि। इनके संयोग से बने मिधीकृत पदार्थों का गुडवाना मुडपुडक मुडपसस घृतभुप मूलकभुप घृतघाक और मुडगाना आदि कहते थे। इन उदाहरणों से मद्य पदार्थों की पाक-विधि पर

भी प्रकाश पड़ता है।' यथा— मांस गुड़ मिलाकर भी पकाया जाता था। शक मूषी मिलाकर भी पकाई जाती थी और शक जिस प्रकार आज शक मिलाकर पकाया जाता है उसी प्रकार पतञ्जलि-काल में भी पकाया जाता था। इसमें शक मुख्य भक्ष्य होता था और मुद्ग मिथीकरण अर्थात् सहायक। तिस भी मिथीकरण का काम बेटे थे।' मिथीकरण-मुक्त भक्ष्यों में गुडधाना का प्रचार सबसे अधिक था।'

व्यञ्जन—व्यञ्जन शब्द अन्न धानु से बना है जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करनेवाला'। जब किसी भिक्षुने पवार्य से खपवा मधुर पवार्य से इन्द्रियों की स्थिति ऐसी जड़ीकृत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नहीं चलता या चलता है, तो ठीक नहीं चल पाता उस समय जो वस्तु इन्द्रियों को अपनी स्वभाविक स्थिति वापस ला देती है, उसका नाम है राग। उसी को व्यञ्जन कहते हैं। यह नाम शार्पक भी है। भिक्षुकण अथवा मधुर पवार्यों से जिह्वा पर एक प्रकार का छेप-सा बैठ जाता है। उसका प्रतिबन्ध जा जाने पर जिह्वा को अन्नरस की वास्तविक प्रतीति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में चटनी बनिया सट्टी या अन्य चटपटी वस्तु जाने से जिह्वा का वह छेप दूर हो जाता है और जिह्वा अन्नरस का ठीक अनुभव करने लगती है। इसीलिए चटनी आदि को व्यञ्जन कहते हैं। 'अल्पोन्नपादाने (८२४८) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने व्यञ्जन की यह परिभाषा की है और अनेक व्यञ्जनम्' (२१३४) सूत्र के भाष्य में 'व्योद्यन् उवाहरथ बेकर 'दधि' को व्यञ्जन स्वीकार किया है।' काशिकाकार ने 'व्यञ्जनैक्यसिक्ते' (४४-२६) में दधि के साथ मूष और शक का भी उल्लेख किया है।' इन सबसे भाष्यकार की उक्त परिभाषा की पूर्ण संगति नहीं बैठती। प्रस्तुत उवाहरणों से नोज्य क स्वाद में बुद्धि करनेवाले उसके सहायक खाद्य से किए व्यञ्जन शब्द का प्रयोग रुज जान पड़ता है।

इस प्रकार मिथीकरण और व्यञ्जन तीन बातों में भिन्न थे। प्रथम मिथीकरण व्यक्तिगत दधि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे किन्तु व्यञ्जन सामान्य दधि पर आधारित थे। परस को मुड़ के साथ मिलाकर खाना न खाना पूर्णतः व्यक्तिगत दधि की बात थी किन्तु दधि और जोदन या दधि और मूष दधिसामान्य से सम्बन्ध था। दूधरे मिथीकरण की क्रिया खाद्य तैयार करने की दशा में पाषण करता था और भोजन-क्रिया से पूर्व ही साद्यान्न तथा मिथीकरण दोनों मिलाकर एक हो जाते थे। व्यञ्जन की स्थिति भिन्न थी। व्यञ्जन और क्षान दोनों अल्प-अल्प पकाये जाते थे

१ अरविभ्रममप्यवहार्यं नक्ष्यम्। तस्य संस्कारं मिथीकरणम् ।—२-१ ३५ काशिका तथा ६२ १२८ काशिका।

२ ६ ३-१५४ काशिका।

३ २१ ३५, पृ० २८६।

४ अन्नैक्यञ्जनव्यञ्जनं च प्रकाशनम्। पतसस्मेहेन च मधुरेण च जड़ीकृताना-दिन्द्रियाणां स्वस्तिप्रप्तनि व्यवस्थापनं स रायस्तद्व्यञ्जनम्। अन्वयं पतसवि निर्बन्धनम्। व्यञ्जयतेऽनेनेति व्यञ्जनमिति ।—८-२ ४८ पृ० ३६७।

५ २१ ३४ पृ० २६८।

६ ४ २-२६ काशिका।



समीचीन होया। भाष्यकार के मत से भोग्य और पेय पदार्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१ भोग्य २ मध्य ३ व्यञ्जन और उपविशत ४ सस्वृत।

भोग्य और मध्य—नाम्य शब्द मूत्र पानु से बना है। सामान्यतया 'अभ्यवहार करने के योग्य' इस अर्थ में अतः प्रत्यय हाकर 'अभ्योः कु' विष्ण्वतोः (७-३-५९) सूत्र से कृत्वा होकर भोग्य बनना चाहिए या किन्तु पाणिनि ने 'भोग्य मध्य' (७-३-६९) सूत्र से कृत्वावाक्य कर निपातन से भोग्य शब्द बना लिया है। इस प्रकार पाणिनि के मत से भोग्य और मध्य पर्याय है। कात्यायन का मत है कि सूत्रकार को मध्य शब्द के स्थान पर अभ्यवहार्य शब्द का प्रयोग कर 'भोग्य-अभ्यवहार्य' सूत्र बनाया चाहिए था क्योंकि भोग्य और मध्य में अन्तर है। मध्य केवल खर बिनाद, अर्थात् कभी वस्तु का होता है जो बचाकर खाई जाती है। मूत्र और यवामू खर बिनाद नहीं हैं। वे इव होत हैं। यदि भोग्य और मध्य को पर्याय मान लिये तो मूत्र और यवामू भोग्य नहीं कहें जा सकेंगे।

पतञ्जलि ने कात्यायन के मत पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि मूत्र पानु का व्यञ्जन केवल खर बिनाद पदार्थ के ही लिए नहीं होता। लोक में अन्नस्य वायुमय द्रव्यों का व्यञ्जन देखा जाता है यद्यपि वायु और जल खर बिनाद पदार्थ नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मध्य खर बिनाद से भिन्न पदार्थ भी हो सकता है। इस प्रकार, पाणिनि और पतञ्जलि दोनों मध्य और भोग्य को पर्याय मानते हैं।<sup>१</sup> इसीलिए, पाणिनि ने पठत (मांस) मूत्र और शक को मध्य माना है और 'मध्यस्य मिथीकरणम्' (१-१-३५) के उदाहरण मुदपत्तस (गुड बालकर पकाना हुआ मांस) घृतपत्तस घृतमूत्र मूत्रपाक आदि शब्द मानकर उनमें 'पत्तसमूत्रपाक' निये (६-२-१२८) से आनुदात्त स्वर का निष्पन्न किया है। उपर्युक्त द्रव्यों में मूत्र खर (कठिन या कडा) और बिनाद (जलप-अन्नम दानोंवाला) नहीं होता। इसीलिए अत्र पाणिनि ने अन्न और मध्य में भी अन्तर किया है इसीलिए उन्होंने 'अन्नम व्यञ्जनम्' (१-१-३४) और 'मध्यस्य मिथीकरणम्' (१-१-३५) में अन्न और मध्य का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। अन्न सामान्य खाद्य को कहते थे और मध्य खर बिनाद, अर्थात् बचाकर खाये जाने वाला खाद्य को। यद्यपि भाष्य और वाचस्पति ने इन दोनों के जो उदाहरण (दध्योपतन और घृतपाना) दिये हैं, उनसे यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। आदन और चाना दोनों ही मध्य हैं और अन्न भी।

वास्तव में मध्य और भोग्य में साम्बन्धीय दृष्टि से अन्तर था। साम्बन्धीय दृष्टि से जहाँ प्रयोग होता था वहाँ भोग्य अभ्यवहार्य मान को कहते थे और मध्य खर-बिनाद को किन्तु सामान्य तथा लोक में दोनों द्रव्यों का पर्याय रूप में ही प्रयोग होता था। पाणिनि ने मध्य शब्द का प्रयोग दोनों दृष्टियों से किया है इसीलिए उसमें ऊपर से देखने पर विमर्शित मालूम होती है।

मिथीकरणम्—मध्य पदार्थों को अधिक स्वादु बनाने के लिए उनमें कभी-कभी दूधरे पदार्थ भी मिलाये जाते थे। इन दोनों में एक मुख्य खाद्य होता था और उसका सहायक। मुख्य खाद्य में घासा पत्तस मूत्र गात्र आदि थे और इनके मिथीकरण के लिए घृत मूत्रक आदि। इनके संयोग से बन मिथीकृत पदार्थों को मुदपाना मुदपुत्तस मुदपत्तस घृतमूत्र मूत्रमूत्र मूत्रपाक और मूत्रपाक आदि कहते थे। इन उदाहरणों से मध्य पदार्थों की पक्क-बिबि पर

भी प्रकाश पड़ता है।<sup>१</sup> यथा— मांस गुड़ मिलाकर भी पकाया जाता था। शाल मूली मिलाकर भी पकाई जाती थी और साब जिस प्रकार आज दाल मिलाकर पकाया जाता है, उसी प्रकार पर्वजकि-काल में भी पकाया जाता था। इसमें साक मुख्य भक्ष्य होता था और मुद्ग मिथीकरण अर्थात् सहायक। तिल भी मिथीकरण का काम देते थे।<sup>२</sup> मिथीकरण-मुक्त भक्ष्यों में मुद्गधाना का प्रचार सबसे अधिक था।<sup>३</sup>

**व्यंजन**—व्यंजन शब्द व्यंज धातु से बना है जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करनेवाला'। अब किसी बिकने परार्थ से अथवा मधुर परार्थ से इन्द्रियों की स्थिति ऐसी बड़ी-हुत हो जाती है कि उससे अन्य वस्तु के स्वाद का पता ही नहीं चलता या चमत्ता है, तो ठीक नहीं बल्कि पाठा उस समय जो वस्तु इन्द्रियों को अपनी स्वाभाविक स्थिति वापस ला देती है उसका नाम है राय। उसी को व्यंजन कहते हैं। यह नाम सार्वक भी है। बिककण अथवा मधुर परार्थों से जिह्वा पर एक प्रकार का छेप-सा भैठ जाता है। उसका प्रतिवन्ध आ जाग पर जिह्वा को अन्नरस की वास्तविक प्रतीति नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में चटनी बनिया कट्टी या अन्य चटपटी वस्तु खाने से जिह्वा का वह छेप दूर हो जाता है और जिह्वा अन्नरस का ठीक अनुभव करने लगती है। इषीच्छे चटनी आदि को व्यंजन कहते हैं। 'अध्वोऽन्नपादाने' (८ २ ४८) सूत्र के माध्य में पर्वजकि ने व्यंजन की यह परिभाषा की है और अत्रेन व्यञ्जनम् (२ १ ३४) सूत्र के माध्य में 'व्यञ्जन उदाहरण देकर 'वधि' को व्यंजन स्वीकार किया है।<sup>४</sup> काशिकाकार ने 'व्यञ्जनैरुपसिक्ते' (४ ४ २६) में वधि के साथ सूय और साक का भी उल्लेख किया है।<sup>५</sup> इन सबसे माध्यकार की उक्त परिभाषा की पूर्ण संगति नहीं बैठती। प्रस्तुत उदाहरणों से मोक्ष्य के स्वाद में वृद्धि करनेवाले उसके सहायक साध के लिए व्यंजन शब्द का प्रयोग सब जान पड़ता है।

इस प्रकार मिथीकरण और व्यंजन तीन बातों में भिन्न थे। प्रथम मिथीकरण व्यक्तिगत वधि के अनुसार मिश्र-मिश्र होते थे किन्तु व्यंजन सामान्य वधि पर आश्रित थे। पछस को गुड़ के साथ मिलाकर खाया न खाना पूर्वत-व्यक्तिगत वधि की बात थी किन्तु वधि और ओदन या दधि और सूय वधिसामान्य से सम्बन्ध था। दूसरे मिथीकरण की क्रिया खाद्य तैयार करने की रीति में पाचक करता था और भोजन-क्रिया से पूर्व ही साद्यान्न तथा मिथीकरण दोनों मिलाकर एक ही खाते थे। व्यंजन की स्थिति भिन्न थी। व्यंजन और खाद्य दोनों अलग-अलग पकाये जाते थे

१ अरविश्वरामव्यवहारी ब्रह्मण्यम्। तस्य संस्कारकं मिथीकरणम् ।—२ १ ३५ काशिका तथा ६-२ १२८ काशिका।

२ १ ६-१५४ काशिका।

३ २ १ ३५ पृ० २८६।

४ अन्वेध्वोऽन्नरस्यञ्जनं च प्रकाशनम्। यत्तत्स्नेहेन च मधुरेण च बड़ी-हुताना निविद्यानां स्वस्मिन्नस्मिन् व्यञ्जनापत्तं स रायस्तद्व्यञ्जनम्। अन्वर्षं तत्त्वधि निर्बन्धनम्। व्यञ्जनेऽनेनेति व्यञ्जनमिति ।—८-२ ४८, पृ० ३६७।

५ २ १ ३४ पृ० २६८।

६ ४ २-२६ काशिका।

और भोक्ता उनका नियंत्रण करता था। इस प्रकार, मिथीकरण और व्यंजन-क्रिया के कर्ता भी मिश्र होते थे। तीसरे मिथीकरण आवश्यक न था। व्यंजन आवश्यक था। इस प्रकार स्वाद वृद्धि की दृष्टि से मिथीकरण व्यंजन से एक कोटि आगे की क्रिया थी।

उपसेचन—मुख्य अन्न में व्यंजन मिलाने की क्रिया का उपसेचन कहते थे और जिस मुख्य अन्न में व्यंजन मिलाया जाता था उसे उपसिक्त<sup>१</sup> कहते थे। जैसे वधि से उपसिक्त पदार्थ बाधक कहलाता था। इसी प्रकार दास से उपसिक्त ओदनसौपिक कहा जाता था।

संसृष्टि—मिथीकरण की क्रिया संसृष्टि कहलाती थी।<sup>२</sup> उपसेचन में दोनों वस्तुएँ अलग-अलग रहती थीं और पक्व अवस्था में परस्पर मिला दी जाती थीं। संसृष्टि वह प्रक्रिया कहलाती थी जिसमें किसी खाद्य के कटकभूत पदार्थ पकाने के पूर्व ही परस्पर मिला दिये जाते थे और वे सब मिलकर एक बन जाते थे। काशिकाकार ने भी संसृष्ट पदार्थों को एकीभूत अमिश्र<sup>३</sup> माना है। वधि में पकाई गई वस्तु, यथा कमी आदि बाधक कहलाती थी। इसी प्रकार, मरीचि स संसृष्ट बाह्य शाक आदि मारीचिक शूभवेर से संसृष्ट ध्यागबेरिक<sup>४</sup> विप्यवी से संसृष्टपैप्यलिक कहलाते थे। शूर्प से संसृष्ट अपूप या धानाशूर्पी<sup>५</sup> कहे जाते थे। मुद्गा से संसृष्ट ओदन (सिचड़ी) तथा यमायु की मीरुग संज्ञा थी।<sup>६</sup> क्वचन से संसृष्ट मूष शाक या यमायु को सक्च ही कहते थे। सक्चशाक नमकीन शाक का बाधक था। ये पदार्थ खाद्य पकाने के पूर्व ही डाल दिये जाते थे।

कारणामन से सक्च के संसृष्ट-निमित्त माने जाने पर आपत्ति की है। उनका कथन है कि सक्च शब्द रसवाची है। वह छह रसों में एक है। सक्चयुक्त (नमकीन) इस अर्थ में सक्च शब्द का प्रयोग नहीं होता। वह कटास की तरह रस का बोध कराता है। खाद्य इस अर्थ का सक्च शब्द स्वतन्त्र है और सक्च पानी सक्च रूप आदि प्रयोग नगक न मिलाये जाने पर भी होते ही हैं। कमी-कमी नमक डालने पर भी जब दास दास आदि नमकीन नहीं लगते तो सोग उन्हें अकोना कह देते हैं। इसलिये सक्च शब्द से संसृष्ट अर्थ में प्रथम कर फिर उसका मुक करके सक्च शब्द की सवण से संसृष्ट अर्थ न निष्पत्ति करना व्यर्थ का प्रयत्न है क्योंकि इस अर्थ में सक्च स्वतन्त्र शब्द है ही।

१ ४-२ २६ काशिका ।

२ ४४-२२ ।

३ ४४-२२ काशिका ।

४ ४४-२२ काशिका ।

५ ४४ २३ ।

६ ४४-२५ ।

७. ४४-२४ ।

८ रस बाध्योप सक्चप्रत्यो नैव संसृष्टनिमित्तः। अतश्च रसवाची। असंसृष्टेऽपि हि सक्चशाको वर्तते। तद्यथा सक्चं क्षीरम्। सक्चं पानीयम्। संसृष्टेऽपि च यथा गोपलम्पैतै तदाऽऽह असक्चं सूयः, असक्चं शाकमिति ।—४-४ २४ पृ० २७६ ।

संस्कृत—विद्यमान वस्तु में उत्कर्ष की वृद्धि करने का नाम संस्कार है। खाद्य पदार्थों को दही मिर्च अदरक आदि के साथ मिलाकर पकाने की प्रथा उसे स्वादिष्ट बनाने के लिए थी। कुम्भ्य (कुम्भ्या) तिलिबीक (इमली) और हर्षभक भी संस्कार के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। इनके द्वारा संस्कृत खाद्यों को क्रमशः वायिक, मारिचिक, धांग्बेरिक, क्रीकत्य, तिलिबीक और हर्षभक कहते थे।<sup>१</sup>

संस्कृत अन्न सामान्यतया पकाने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। भ्राष्ट्र (बुस्त्रे) पर पकाई हुई भोग्य वस्तु भ्राष्ट्र कहलाती थी। इसी प्रकार घृल (घासाका) एवं उला (कड़ाही) पर पकाये गये मांसादि शूष्य और उस्य कड़े जाते थे। दही मट्ठे और दूध में डालकर पकाई हुई वस्तुएँ वायिक, औत्रस्वित या भीदस्वित्क और धीरेय कहलाती थीं। दही तक आदि में मस्कृत और दही, तक आदि से संस्कृत वस्तुओं में भेद होता था। जो वस्तुएँ बधि आदि में संस्कृत होती थीं उनके लिए बधि केवल आभारमृत होता था किन्तु उसका संस्कार (स्वाशोत्कर्ष) कबआदि से किया जाता था और जो दही आदि से संस्कृत होती थीं उनमें स्वाद-वृद्धि का साधन मात्र बधि आदि होता था<sup>२</sup> आभारमृत वस्तु अन्य कोई उद्धृती थी।

भोजनार्थ निमन्त्रण—अपने घर पर दूसरों को भोजन के लिए बुलाने की प्रथा बहुत पुरानी है। सोय विशेष अवसरों पर मिर्चों, सम्बन्धियों और ब्राह्मणों को अपने घर पर भोजन के लिए बुलाते थे। निमन्त्रण के बुलावे दो प्रकार के होते थे। आमन्त्रण और निमन्त्रण। आमन्त्रण भोजनार्थ सामान्य बुलावे को कहते थे। यह आमन्त्रित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था कि वह आमन्त्रण स्वीकार करे या न करे किन्तु निमन्त्रण स्वीकार करना आवश्यक होता था। निमन्त्रण इष्य या कष्य के दिये जाते थे। यज्ञ या धाद-सम्बन्धी भोजन के लिए की जानेवासी प्रार्थना निमन्त्रण कहलाती थी। निमन्त्रण को मस्वीकार करना अशर्म माना जाता था। किसी-किसी के मत से भोजन की सामग्री पास होने पर समीपस्थ व्यक्ति का जाने के लिए कहना निमन्त्रण कहलाता था और भोजन तैयार होने से पहले दूर से किसी को बुलाना आमन्त्रण कहलाता था।<sup>३</sup> निमन्त्रण ब्राह्मणों को दिये जाते थे। और उन्हीं के लिए यह नियोग था। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण धाद में भोजन नहीं करते थे वे अथादभोजी कहलाते थे। जो सोय धाद-भोजन स्वीकार करते थे, वे सोय सामान्य थे। धाद में न जानेवाले अथादभोजी कहे जाते थे। कुछ परिवार हृष्य कष्य भोजनों में परस्पर एक दूसरे को ही न्येत्य लेते थे। निमन्त्रण स्त्रियों को भी दिये जाते थे और यह परस्पर निमन्त्रण की प्रथा उनमें भी थी। कभी-कभी एक ही ब्राह्मण को कई निमन्त्रण

१ ४४-३ ४ काशिका ।

२ ४-२ २६, ४४ १७ १८, १९, २० तथा ४४-१८ काशिका ।

३ सत्रिहितेन निमन्त्रण भवत्यसत्रिहितेनामन्त्रणम् । यत्रियोगतः कस्य्य तत्रिमन्त्रणम् । किं पुनस्तत्? हृष्यं कष्यं वा । ब्राह्मणेन सिद्धं भुङ्क्षतामित्युन्नेऽशर्म प्रत्याख्यातु । आमन्त्रणे कामचारः ।—३-३-१६१ पृ० ३३५ ।

४ ३-२-८० पृ० २२९ ।

५ ८ १ १२, पृ० २७७ ।

प्राप्त हो जाते थे। ऐसी दशा में वह एकाधिक स्थानों पर भी भोजन कर लेता था। मृगु विद्युत जोदन और दूध-बही का लालच देकर भोजन के लिए आग्रह करने का उल्लेख भाष्य में है और एक बार भोजन कर लेने पर भी निर्मात्रित व्यक्ति बहि दूध वीर मृगु विद्युत जोदन के लालच से आमन्त्रण स्वीकार कर लेता था।<sup>१</sup>

सहभोजन—सहभोजन को समाप्त कहते थे।<sup>२</sup> समाप्त में भी भोजन परीक्षा जाता था। समाप्त में धाराओं (पात्र) का व्यवहार होता था। जिनको हीन युष्टि से देखा जाता था वे पंक्ति से अस्त्र मा बाद में बिठाने जाते थे। 'माठर और कौशिक्य बैठे रहें। वे अमी (सब के साथ) भोजन नहीं करेंगे। 'सब ब्राह्मण भोजन करें। माठर और कौशिक्य बैठे रहें। वे अमी (सब के साथ) भोजन नहीं करेंगे। 'सब ब्राह्मणों को वही दो किन्तु कौशिक्य को मट्ठा दो' में उल्लेख भाष्य में कई स्थानों पर मिलते हैं।<sup>३</sup>

उपवास—बिष्टिष्ट ब्रह्मसंघों पर सौम व्रत या उपवास भी करते थे। ब्राह्मण दूध दधिय यथाव् और वैश्य आमिषा पीकर उपवास करते थे। कमी-कमी छोड़ केवल एक पीकर और कमी निराहार एव निर्जस रहकर व्रत रखते थे। ये लोग अन्नस और वायुमय कहलाते थे।<sup>४</sup> उपवास के दिन का भोजन निर्दिष्ट रहता था। उस दिन शाकि-मांसादि खाना बर्जित था। वैदिक काल से यह प्रथा चली जाती थी।

वर्जित भोजन—ब्राह्मण के लिए सुरापान वर्जित था। मूक से भी सुरापान करनेवाला पतित माना जाता था।<sup>५</sup> केवल यज्ञकर्म इसका अपवाद था। सुरापान सामान्य जनों के लिए भी बर्जित नहीं माना जाता था। मांस के विषय में कोई निषेध भाष्य में नहीं उपलब्ध होता। हर्ष पांच पंचनख प्राणियों का मांस खाना जा संज्ञता है, यह कथन अवश्य प्राप्त होता है। ये पंचनख प्राणी ब्राह्मणों के भी भक्ष्य थे। घाम-शुकुट और घाम-शुकर अवश्य भक्ष्य थे किन्तु आरप्य भक्ष्य थे। घाऊँ पक्षी का मांस का भी अवश्य जान पड़ता है। भाष्यकार ने पसाण्डु भक्षिती के साथ घाऊँजन्वी का उल्लेख किया है।<sup>६</sup> घाऊँ का पुनक नाम-ग्रहण ही उसके भक्ष्यता के हीनत्व का चोख है। पसाण्डु स्वयं भक्ष्य पाशों में था। केवल पसाण्डु भी भक्ष्य माना जाता था। जो कोई उसके मांस मुरा भी गिये उसका तो कहना ही क्या। भाष्यकार ने ऐसे व्यक्ति

१ १४ ८९, पृ १७३।

२ १-१-७२ पृ ४४७।

३ भा० २, पृ ७१ तथा १४-४७ पृ० २८७।

४ भा० १ पृ० १९।

५ भा० १ पृ० १४।

६ भा० १ पृ० ५।

७ १-२-६४ पृ० ५८७।

८ भा० १ पृ० ११।

९ २-२-३६ पृ० ३९२।

को बुधब्रह्म कहा है।<sup>१</sup> ब्राह्मणी के लिए तो सुरापान निशान्त महित था। सुरापी ब्राह्मणी परलोक में पति का सहवास नहीं प्राप्त करती यह विदवाय था।<sup>१</sup>

सामान्यतः भूमि पर बैठकर भोजन करने की प्रथा<sup>१</sup> थी। बुभुक्षा और पिपासा होने पर खान की इच्छा के लिए तथा बिना भूख-प्यास के भी छालबयस खान की इच्छा के लिए पूजक क्रियामों का प्रयोग होता था।<sup>१</sup> इससे कुछ सोमा की भोजन-मन्त्रा पर प्रकाश पड़ता<sup>१</sup> है। बहुत खानेवालों को कुण्डोपर कहते थे।<sup>१</sup> ऐसे छाग प्रबस संवादक और संवादकी (स्त्री) कह जाते थे। ऐसे सोम और किसी काम को ता जाते नहीं बस भोजन के समय उपस्थित ही जाते हैं। इसीलिए इन्हें पात्रसमित कहते हैं। जात्र के बाद पात्र में छोड़ा हुआ मात्रण उद्भूत<sup>१</sup> कहलाता था।

निसुक्त—कुछ छाग मात्रणाय केवल मिश्रा पर निर्भर करते थे। मिश्रा प्रचुर और स्त्रजनवती भी मिल जाती थी। इनके खानब से कुछ छाग एक स्वान पर स्थायी रूप से टिक जाते थे।<sup>१</sup> माँपनेवालों की संख्या बहुत थी। गृहस्म उनसे लंग आ जाते थे। पर क्या करते! निसुक्तों के बरस मात्रण बनाना तो बन्द नहीं किया जा सकता था।<sup>१</sup> मिश्रा के समूह को मैश<sup>१</sup> कहते थे। मिश्रा से ही सुमिश्र (सम्पन्न) शब्द बना है। पैदावार मच्छी होने के कारण मिश्रा सरसता से मिल जाती थी।<sup>१</sup>

१ ५३-६६, पृ० ४६०।

२ ३-२-८, पृ० २१०।

३ ३१-१४, पृ० १७८।

४ ७-४ ३४।

५ ३-२ १०८ काशिका।

६ २१-४८।

७ ४२ १४ काशिका।

८ २४ ३७ तथा ५२ १४, पृ० ४१०।

९ मिश्राशेषाणि प्रचुरा व्यञ्जनवस्यो रुज्यमाना वासं प्रयोजयन्ति। मिश्रा वासयन्ति।—

१-१-२६ पृ० ७२।

१० न च निसुक्तः सन्धानि ह्यात्स्यो नापिधीयन्ते।—६ १ १३ पृ० ४।

११ १-२ ६४, पृ० ५७७।

१२ १-२-५२, पृ० ५५४।

परिवहन

बाह्य या बाह्यन—याथायात न मुख्य साधन शकट और रथ वे। मं स्पष्ट-मन् से व्यक्तिमें एक वस्तुओं को से जाने के काम आत वे। सामान्यतया इन्हें 'बाह्य' कहते थे। बाह्य का अर्थ बा से जाने के साधन शकट आदि। जहाँ करण या साधन अर्थ जमीण नहीं था वहाँ 'बाह्य' शब्द का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे 'बाह्य' शब्द का प्रयोग कम हो गया और उसके स्थान पर 'बाह्यन' शब्द का प्रयोग होने लगा। 'गाड़ी से बोई जानेवाली वस्तु 'बाह्य' कहलगी थी।'

बाह्यनों के प्रकार—बाह्यन दो प्रकार के थे स्वसीय और जसीय। स्वस-बाह्यनों में शकट और रथ मुख्य थे और जल-बाह्यनों में नौ। जल के बाह्यनों को उदवाहन या उदकबाहन कहत थे। कभी-कभी ये परस्पर भी एक दूसरे के बाह्यन बन जाते थे। नाय्यकार ने कहा है कि स्वस में गाड़ी नाव को होती है और जस में मात्र गाड़ी को।'

शकट—शकट सवारी के काम आते थे और बोझ ढाने के भी। वे मनुष्यों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जान के साधन थे।' कृषि आदि की पैदावार भी उन्हीं से बोई जाती थी। नाय्यकार ने वस्तुविशेष से भरी हुई गाड़ी तथा वस्तुविशेष भरने के लिए उसके पास बाड़ी की गई गाड़ी के लिए विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ ईल से भरी हुई या घर से भरी हुई गाड़ी को इक्षुबाह्य और घरबाह्य कहत थे। यदि गाड़ी में भरने के लिए इक्षु या घर उसके पास रखे होते थे तो भी उन गाड़ियों को इक्षुबाह्य और घरबाह्य ही कहते थे। किमी-किमी आचार्य के मत में जो भी वस्तु गाड़ी में भरती हो या जो व्यक्ति गाड़ी में सवार हो उसके नाम पर गाड़ी के लिए विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता था—जैसे मगबाह्य। किन्तु, यदि गर्ग की गाड़ी खुली हुई हो तो उसके लिए मगबाह्य शब्द ही आता था।

१ यहाँ करणम् बाह्यनमेनेति बाह्यं शकटम् बाह्यमप्यत् ।—शु० ११०२ काशिका।

२ ८४४।

३ बाह्यनं बाह्याविति वक्तव्यम् ।—वही।

४ ६३-५८ काशिका।

५ १११ पृ० १२०।

६ १-२-२४ पृ १६०।

७ बाह्यनमाहितान् आहितोपस्थितयोरिति वक्तव्यम् इहापि यथा स्यात् इक्षु-बाह्यम् शरवाह्यम् ।—८५४ पृ० ४७९।

८ अपर बाह्य, बाह्यनं बाह्याविति वक्तव्यम् पराहि गर्वाणां बाह्यनमपिचिदं तत्र मानुत् पर्यवहनम् ।—शु०।

गाड़ियां आकार के अनुसार बड़ी और छोटी होती थीं। बड़ी गाड़ी एकट और छोटी एकटी कहलाती थी।<sup>१</sup> एकट और एकटी एकट हुए शब्द करते थे।<sup>२</sup> यदि घुटी में तेज न पड़ा हुआ दो गाड़ी कुजती हुई चलती थी। व्यापार-वस्तुएँ होने के लिए गाड़ियों के सार्व (समूह)<sup>३</sup> एक साथ निकलते थे। एकट-सार्व मेंलों न बजसर पर भी चलते होंगे। भाष्यकार ने गाड़ियों के शब्द करने का उल्लेख करते हुए कहा है कि शाकटायन नामक बैयाकरण को रथ्य मार्य पर बैठे हुए होने पर भी पास स जाते हुए एकट-सार्व का पता नहीं चल पाया।

मार्ग के तसा एकटी और एकट बनाते थे। एकटों में कुछ बहुत बड़े होते थे जिन्हें खीचने के लिए बाठ बैस एक साथ बोलते जाते थे।<sup>४</sup> मार्ग ठीक न हुआ तो कमी-कमी चलते हुए एकट टूट जाते थे इसलिये एकटबाहक को मार्य के ऊँच-नीच होने का ध्यान रखना पड़ता था।<sup>५</sup> कमी कमबोर होने से गाड़ी क अक्ष टूट जाते थे। सब बड़ई नये अक्ष बनाकर डालता था। एक स्थान पर भाष्य में कहा गया है कि इस अक्ष ने गाड़ी का बैसा साथ नहीं दिया बैसा पहले-बाते ने दिया था।

एकट से माक होना एक व्यवसाय था और आम का साधन था। कुछ लोग केवल यही कार्य करते थे और इसीलिए बैस पासते थे।

रथ—एकट सामान्य किसान का वाहन था। कृषि-कार्य में तथा वास होने में ही उसका विशेष उपयोग होता था। कम्बी यात्रा के लिए रथ का व्यवहार होता था। सम्पन्न लोग रथ रखते थे और उसी पर सवारी करते थे। भाष्यकार ने कुछ या वन एक जाने के लिए रथ के उपयोग का उल्लेख किया है।<sup>६</sup> उन्होंने पैदल बाड़े पर और रथ पर भी गई यात्राओं को उत्तरोत्तर पीछठर काल न सम्पन्न होनेवासी कहा है। रथिन बहुत गीघ्र चलता है, कुछसवार उससे धीरे और पचाति<sup>७</sup> उससे धीरे चल पाता है। एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने इन तीनों साधनों का साथ-साथ मिश्र क्रम से उल्लेख किया है—'मड़क हुए भोड़े से गिर पड़ा बीइते हुए

१ यत्कृजति एकटम् यतो कृजति एकटी, यत्ररथ कृजति।—८ १ ३० पृ० २८८।

२ १ ३-२१ पृ० १२।

३ बैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गं आसीत् शाकटसार्वं यान्त मोपसम्भे।—

३-१ १५५, पृ० २५०।

४ २ ३-५, पृ० ४०८।

५ ६ ३-४६, पृ० ३३४।

६ अनेन वेदुपास्यति न एकटं पर्यावधिष्यति।—३ ३-१५६ पृ० ३३४।

७ २ १ १०, पृ० २७२।

८ पौर्यं एकटं बहुति गौतरोज्यं यः एकटं बहुति तीरं च।—५ ३-५५, पृ० ४७५।

९ आ० २, पृ० १९।

१० १ १-७० पृ० ४४५।



रख से गिर पड़ा जाते हुए सार्व से भटक गया।' रख की सवारी सुखर मानी जाती थी। रख कहते ही उसे वे जिसमें बिहार किया जाय।'

रख के छिपे विधिष्ट मार्ग बनाये जाते थे। ये मार्ग खीड़े और समतल होते थे। एकट्टे सँकरे और ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी चलते जाते थे किन्तु रख के छिपे प्रचलित मार्ग अपेक्षित होता था। गति तीव्र होने से विपय मार्ग में उसके उछटने या टूट जाने का भय अधिक रहता था। तीव्र गति से चलता हुआ रख भीषे सब पीछों की बड़ें तक उखाड़ देता या टूड़ी कर देता था। इसीलिए, उसे 'मूस-बिमुब' कहते थे।' रख के मार्ग को रप्या कहते थे। रप्या पर चलता हुआ रख मूढ बोध करता चलता था।'

प्रवेता या प्राजिता —रख के हाँकनेवाले को सारधि कहते थे। वह रख में बाईं मार बैठता था इसलिए वह सम्प्रेषण भी कहलाता था।' सारधि के लिए सूत शब्द भी प्रयुक्त होता था जिसका अर्थ वा अन्वयी प्रकार हाँकनेवाला। इसी अर्थ में प्रवेता और प्राजिता शब्द भी बनते थे। इनमें प्रवेता व्याकरण की दृष्टि से सुद्ध था किन्तु लोक में विशेषतः सारधियों में प्राजिता का शब्द प्रचलित था। भाष्यकार ने अत्यन्त 'बन्' को 'बी' कायेव करने के प्रसंग में 'प्राजिता' शब्द की निष्पत्ति पर एक मनोरञ्जक वार्त्ता दी है। उन्होंने 'प्राजिता' शब्द का उल्लेख कर प्रश्न किया है कि क्या यह प्रयोग उचित है? और उसका उत्तर 'हाँ' में देते हुए निम्नलिखित वाद उपस्थित किया है—

कोई ब्याकरण किसी रख को देखकर बोला 'इस रख का प्रवेता (सारधि) कौन है?' सूत ने उत्तर दिया 'आमुष्मन्' इस रख का प्राजिता मैं हूँ। ब्याकरण ने कहा 'प्राजिता तो उपपद्य (अमृद) है। सूत बोला 'बिबानाप्रिय (आप) ब्याकरण से निष्पन्न होनेवाले शब्दों की ही आनकारी रखते हैं किन्तु व्यवहार में कौन-सा शब्द इष्ट है यह नहीं जानते। 'प्राजिता' प्रयोग व्याकरणकारों को मात्थ है। इस पर ब्याकरण चिढ़कर बोला 'यह बुद्ध (बुद्ध सारधि) तो मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है। सूत ने धान्त भाव से कहा 'महोदय मैं सूत हूँ। सूत शब्द 'बिब' पातु के आगे क्त प्रत्यय और पहले प्रसंसारक 'मु' उपसर्ग लगाकर नहीं बनता है, जो आपने प्रसंसारक 'मूत्' निकालकर क्रुत्सारक 'बुद्' उपसर्ग लगाकर 'बुद्ध' शब्द बना लिया। सूत 'मून् पातु' (प्रेरणार्थक) मैं बनता है और यदि आप मेरे लिए क्रुत्सारक प्रयोग करना चाहते हैं, तो आपको मुझे 'कुमूत्' कहना चाहिए 'बुद्ध' नहीं।'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सारधि सूत और प्राजिता तीनों शब्दों का प्रचलन

१ १४२४ पृ० १६१ ।

२ रमनोऽस्मिन् रख इति।—१-२ २५, पृ० १६१ ।

३ ३२५ पृ० २१० ।

४ रथाय हिता रप्या।—५ १-६०, पृ० २९८ ।

५ ८१३० पृ० २८८ ।

६ ८३-९७ पृ० ४६२ ।

७. १४-५६, पृ० ४९९ ।

हूँकनेवाले के लिए वा। व्याकरण की दृष्टि से प्रवेता शब्द शुद्ध माना जाता था। इसी प्रकार 'सूत्र' की व्युत्पत्ति के विषय में भी वैयाकरणों में मतभेद था।

**परिवृत रव**—रव वस्त्र से मड़े जाते थे। उनकी टाप या छत्र वस्त्र से छाई हुई रहती थी। इसी प्रकार, चारों पापसं भाग वस्त्र से ढके रहते थे। ऐसे रव वास्त्र कहलाते थे। जिस वस्त्र से वे परिवृत रहते थे वह भी रव का ही एक भाग होता था।<sup>१</sup> रवों के बैठने के स्थान तथा अन्य भाग कम्बल से भी मड़े जाते थे। जर्म का म्बलहार भी रव को समस्त (चारों ओर से) मड़ने के लिए होता था। ऐसे रव कम्बल और चार्मण कहलाते थे।<sup>२</sup> वास्त्र कम्बल और चार्मण शब्दों का प्रयोग रव के लिए ही होता था। वस्त्र से ढके हुए छटीर को वास्त्र मल्ली कहा जा सकता था। अधिक बनवान् लोग अपने रवों को पाण्डुकम्बल से परिवृत करते थे। पाण्डुकम्बल अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् होता था इसलिए इसे राजास्तरण कहते थे। यह रंगीन होता था या इसमें किनारे किनारे-रंगीन पट्टी रहती थी। इस कम्बल का स्वाद चाटी से सारे भारत में निर्यात होता था। पाण्डुकम्बल से परिवृत रव पाण्डुकम्बली<sup>३</sup> कहलाता था। यह शब्द भी रव के लिए ही प्रयुक्त होता था। द्वीपी और व्याघ्र के जर्म भी रवों पर मड़े जाते थे। इन जर्मों से मड़े रव वैप और वैयाघ्र कहलाते थे।

**रवबाहक**—रवों का समूह रव्या या रवकट्या कहलाता था।<sup>४</sup> बाहक पशु या पात्र के अनुसार रव के आकार में अन्तर होता था। रव में जुतनेवाले पशुओं में अश्व लघु और मर्चम के नाम माव्य में आये हैं। इनके रव क्रमशः वास्त्र लघु और मर्चम होते थे।<sup>५</sup>

**रवाङ्ग**—यत्र या बाहुन के अनुसार रवों के आकार तथा लकड़ी में अन्तर होता था और पाहनों के अनुसार ही रव के अङ्ग बनाये जाते थे। रव के अङ्गों को अपस्त्र कहते थे। रवाङ्ग से भिन्न अर्थ में अपस्त्र शब्द का प्रयोग होता था। रवाङ्गों में अङ्ग मुख्य था। रव के अङ्ग को रव्य कहते थे।<sup>६</sup> रव्य अङ्गबाहक पशुओं के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार के होते थे। इसी प्रकार युग का आकार भी भिन्न होता था। इसीलिए, भिन्न भिन्न बाहुनों के रवों के अङ्गवि अङ्गों के लिए अस्त्र-अस्त्र शब्द निश्चित थे यथा वास्त्ररव औष्टरव या मर्चमरव<sup>७</sup> अङ्ग। रव्य शब्द रव और अस्त्र के अङ्गों का अन्तर भी सूचित करता है। अस्त्र के अङ्ग रव्यों के समान पुष्ट और कसापूर्ण

१ ४-२ १०, पृ० १७१ ।

२ बही, काशिका ।

३ ४ २ ११ काशिका ।

४ ४ २ १२ काशिका ।

५ ४-२-५० तथा ५१ ।

६ ४ ३-१२३ पृ० २५१ ।

७ ६ १ १४९ काशिका ।

८ ४ ३-१२१ ।

९. एतन्ति वैनेति पत्रमस्त्राविकं बाहुनमुष्यते—वास्त्ररव अङ्गम् औष्टरव मर्चम रवम् ।—४ ३ १२२ काशिका ।

नहीं होते थे। आम्बरप आदि का प्रयोग भी रथियों के लिए ही होता था। आम्बरपादि से सम्बद्ध अन्य बातों के लिए नहीं।<sup>१</sup> चक्र के भी अनेक अंग होते हैं, जिनमें नामि नम्य अर, अक्ष का उत्प्लेख भाष्य में हुआ है। जिस प्रकार नामि सम्पूर्ण शरीर का केन्द्रबिन्दु होती है उसी प्रकार चक्र की नामि भी पहिये का केन्द्र-स्थल होती है। पहिये की बीच की गोलाकार लकड़ी को नामि कहते थे और पहिये के बाह्य गोलाकार काष्ठों को नम्य। नामि और नम्य को जोड़नेवाले थे अर। नामि के मध्य छिद्र को जिसके भीतर अर बाँधा जाता था उसे वक्र कहते थे। वक्र में घुस या घू रहती थी। वक्र कोई का होता था और घुस लकड़ी की।

भाष्यकार ने नामि और नम के पारस्परिक अन्तर पर पर्याप्त विचार किया है। नामि से नम्य अक्ष की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए भाष्य में संका की गई है कि नामि की प्रकृति नम्य की नहीं माना जा सकता और अत् प्रत्यय विवृतिवाचक अक्ष से उसकी प्रकृति बतलाने के लिए ही होता है। गोलाकार पहिये के बाहरी मण्डलचक्र का नाम नम्य होता है। इसका उतर देते हुए भाष्य में कहा गया है कि नामि अक्ष को आसादियत्र (५३-१०३) में पढ़ना चाहिए और उसे ह्रस्व कर देना चाहिए। इस प्रकार 'नामि के समान' इस अर्थ में 'य' प्रत्यय होकर नम्य अक्ष निष्पन्न हो जायगा। यदि पूछा जाय कि नामि और नम्य में कौन-सा ऐसा साम्य है जिसके कारण इस मूल से 'य' प्रत्यय होगा तो कहा जा सकता है कि अक्ष को वाचक करना और नमना दोनों समान है। दूसरे ब्रह्माकरण के मत से लेख लेखना और उसे पास के रथियों पर फैलाना दोनों में समान है। इसी प्रसंग में भाष्यकार ने अरोंवाले चक्रों तथा अर निकले हुए चक्रों का भी उल्लेख किया है जो यह सूचित करता है कि भाष्यकार रथ के समस्त अंगों और उपानों की पूर्ण जानकारी रखते थे। इसका ही नहीं के बुरा में लेख चुपड़ने तथा नम्यादि के छिद्रों में लेख डालने की आवश्यकता और प्रक्रिया से भी अवगत थे।<sup>२</sup>

बुरा या बुर शकट और रथ के मध्य में रहती थी। रथ या शकट का सारा बोझ बुरा को झेलना पड़ता था। इसलिए, इसका पुष्ट होना आवश्यक था। एतदर्थ रथकार पुष्ट काष्ठ-वाले बुरों को ही चुनते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि रथकार हाथ में जारी और मुस्थाड़ी लेकर मूल से ऊपर तक बुरों को काटते और लकड़ी छीटते हैं।<sup>३</sup> भाष्यकार बुरा की दृढ़ता का महत्त्व भली भाँति जानते थे इसीलिए उन्होंने 'दृढ बुरावाले अक्ष' की चर्चा की है। अक्ष कोई के होते हैं छिद्र भी उनका पुष्ट होना या न होना लोहे की योग्यता पर निर्भर होता है। कमजोर अक्ष का 'कस' कहते थे तथाकि नम्य बनानेवाले लकड़ों को कहते थे जिन्हें लोहमापा में पुट्टी कहते हैं। जिस काष्ठ से बनी उपधि होती थी उस औपधेय कहते थे। इस प्रकार उपधि और औपधेय व्यावहारिक रूप में एक ही वस्तु थी। काष्ठ पर बल देना होता तो औपधेय

१ ४-३-१२० पृ० २५२।

२ ५१-२ पृ० २१६

३ ४१३ पृ० १८

४ दृढपूरस. १—५४-७४ पृ० ५०२।

५-५३ १०४।

। परिवहल

और रसांग पर बस देना होता था उपवि शब्द प्रयुक्त होता था। उपवि विकृति है और औप-  
 शेय प्रकृति इन विषय को लेकर भाष्यकार ने पर्याप्त विचार किया है। उन्होंने कहा कि उपवि  
 श औपशेय शब्द नहीं बनना चाहिए क्योंकि औपशेय उपवि विकृति की प्रकृति नहीं है वह तो  
 स्वयं रसांग है।<sup>१</sup> उपवियों को ही ऊबड़-खाबड़ मार्ग के बन्दे मोलने होते हैं। इसलिए उनका  
 बहुत पुष्ट होना आवश्यक होता है। सम्भवतः 'औपशेय' शब्द पुष्ट काष्ठ की ओर रवकार का  
 ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही व्यवहृत हो गया था। इसी प्रकार नामि के लिए भी मजबूत सफ़ी  
 गिरावा की सफ़ी नामि के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। उपवि या नम्य के लिए भी उसी  
 सफ़ी का प्रयोग होता था।<sup>२</sup>

परमरस्य—सकड़ी सकड़ी और पुष्ट म हुई, या रवकार ने बनाने में कोई नुटि कर दी  
 तो रस सफ़ी नहीं बन पाता था। ऐसे रस को कश्य' कहते थे। इसी प्रकार श्रेष्ठ सुन्दर कला  
 पूर्ण रस परमरस कहलाता था। परमरस के चक्र, पुरा आवि संग परमरस्य कहलाते  
 थे। सम्भवतः परमरस बड़े आकार के रस को कहते थे। उसके संग भी अपेक्षाकृत बड़े  
 होते थे।

प्राग्भङ्गत्व—घाट और रस के संगों का पुष्क-पुष्क निर्माण कर उन्हें यथास्थान  
 बिठाना भी कौशल की अपेक्षा रखता है क्योंकि रसांग या घाटांग कितना ही पुष्ट और सुन्दर  
 क्यों न हो जकेसे यात्रा का साधन नहीं बन सकता। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—'रस क  
 बन्धन-अलग अंग या अवयव समन के साधन नहीं बन सकते किन्तु उनका समुदाय-रस रस समन  
 के काम आ सकता है। रवकार द्वारा प्रत्येक अवयव के ठीक-ठीक बिठा देने पर भी कुछ काम योग्य  
 रह जाता है और वह ही मुरी तथा युग को रसियों से बाँधना। पहिले बल म फँसे रहते थे।  
 मुरी के बलने से वे चलते थे। किन्तु मुरी पर जमा कर रखी हुई गाड़ी का बाँधा चक्का लगते ही  
 जसे हट सकता था। इसी प्रकार 'युग (युग) को घाटयुक्त या रसयुक्त से बाँधना आनुस्यर'  
 था। रस में चारों ओर बन्ध कन्धल या चर्म सया दिया जाता था किन्तु घाट म ससे हुए बन्धों  
 का मध्य भाग रज्जु से पूरा जाता था। इस तरह रज्जु से यथास्थान बाँधने के बाद ही घाट या  
 रस चलने योग्य होते थे। बन्धन द्वारा घाट या रस को यात्रा-योग्य बनाकर जाने के लिए 'प्राग्भ  
 ङ्गत्व मत्' ऐसा वाक्य प्रयुक्त होता था। 'प्राग्भङ्गत्व' का अर्थ था 'बाँध-भूँधकर यात्रा के अनुकूल  
 बनाकर'। जहाँ बन्धन की आवश्यकता नहीं थी वहाँ 'प्राग्भङ्गत्वा गत' ऐसा प्रयोग हो  
 सकता था।<sup>३</sup>

१ ५३-१३ पृ० ३०३।

२ ५१-२, पृ० २९७।

३ ६३-१०२।

४ ११-७२, पृ० ४५४।

५ १४-७८ काशिका।

रथ यात्रा के साधन तो मे ही के सेना के भी महत्त्वपूर्ण अंग थे।<sup>१</sup> सेना चार भागों में विभक्त होती थी—हस्ती अथवा रथ और पदाति।<sup>२</sup>

पत्र-बाहन—पशुओं को पत्र कहते थे। पत्र उसे कहते थे जिसके द्वारा जाया जाय। सवारी के पशुओं के लिए बाहन अथवा भी प्रयुक्त होता था। इस प्रकार, पत्र और बाहन पर्याय थे। जो पत्र गाड़ियों में जोते जाते थे वे युग कहलाते थे। बैल अथवा हस्ती उष्ट्र और गर्भ मृग्य पत्र थे।<sup>३</sup>

बाहनों के नाम—पशु जिस गाड़ी में जोते जाते थे उसके अनुसार उनका नाम पत्र जाता था। घटक में जुतनेवाले बैल को घाकट कहते थे। हक जोतनेवाले बैल होखिक या सैभिक कहे जाते थे।<sup>४</sup> इसी प्रकार रथ खींचनेवाला बैल रथ्य कहलाता था और बड़े रथ को खींचनेवाला परमरथ्य। पुष्ट बैल या अस्वावि कमी-कमी दो रथों को भी एक साथ खींच लेते थे। एक साथ दो रथों को खींचने की शक्ति रखनेवाले पशु को द्विरथ कहते थे मने ही वह दो रथों में जुता हुआ न हो। दो रथों में जुते हुए और उन्हें बहन करते हुए पशु को द्विरथ्य कहते थे। भाष्यकार ने इन दोनों घट्यों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'रथ को डोला है' एक बात है और रथ को डोनेवाला दूसरी मने ही एक ही पशु दोनों अर्थों का वाचक हो।<sup>५</sup> गाड़ी के दोनों ओर बाधरथ्यकृतानुसार जुतनेवाले मृग्य सर्वभूषण कहलाते थे और केवल एक ओर ही बसनेवाले एकभूषण। दाईं या बाईं ओर बसने की दृष्टि से उत्तरभूषण दक्षिणभूषण आदि शब्द भी प्रचलित थे। काशिकाकार द्वारा सूत्र का योग-विभाग कर इन घट्यों को निम्नप्रमाण मानना उनके प्रचलन का दल्लक है।<sup>६</sup> सामान्यतया गाड़ी या रथ खींचनेवाले पशु पुर्य या धीरेय कहे जाते थे।<sup>७</sup> बैल सामान्यतया घकट में जोते जाते थे। यों रथ में भी उनका प्रयोग होता था। श्रेष्ठ बैल ही रथ में बसते थे। भाष्यकार ने खनवान् को बटरथ कहा है।<sup>८</sup> अथवा और गर्भ भी बाहन खींचते थे। इसी प्रकार उष्ट्र और हस्ती भी। जिस वाहन को अथवा खींचता था उसे भास्व कहते थे। गावर्भ और उष्ट्र बाहनों का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।<sup>९</sup>

बाहक—बैल उष्ट्र अथवा और हस्ती स्वतन्त्र रूप से भी पत्र या बाहन माने जाते थे। घकट आदि में भी जब वे जुते थे तब घकट इनका 'बाहक' कहलाता था। सूत्रकार ने दोस्तारथि के

- १ १-१-७२, पृ० ४४७।
- २ बह्नि तथा २-४-२ काशिका।
- ३ ३-१-१२१ काशिका।
- ४ ४-४-८१ ८०।
- ५ बह्नि।
- ६ ४-४-७६, पृ० २८४।
- ७ ४-४-७८, ४-४-७९ काशिका।
- ८ ४-४-७७।
- ९ २-२-२४, पृ० ११६।
- १० ४-३-१२० पृ० २५१।
- ११ बह्नि।

साध गोसाव और गोसावि दार्यों का भी उल्लेख किया है।<sup>१</sup> उट्टरादी वो सामान्य बात है।<sup>२</sup> अरक-बार या अरकबास का उल्लेख माप्य में मिलता है।<sup>३</sup> हापी के हाईस को हस्तिपक कहते थे। माप्य में कहा है—'महावत हापी पर बैठते हैं। लोग स्वस में हापी पर बैठते हैं और हापी उन्हें अपने ऊपर बिठाता है।'<sup>४</sup> गोसाव उट्टराव आदि लोग गोसारभिया अन्य सारभियों से भिन्न होते थे। सुत्रकार ने युक्तारोही शब्द का भी उल्लेख किया है जो सम्भवतः 'बुद्धसवार अधिकारी' के लिए है।<sup>५</sup> इसी प्रकार परिक्खन्द शब्द का प्रयोग प्राच्य तथा भरत लोगों में होता था। अन्य प्रदेशों में परिक्खन्द शब्द का प्रचलन था। परिक्खन्द रथ के दायें-बायें चसनेवाले रथको के लिए प्रयुक्त होता था।<sup>६</sup> सर्वपत्री लोग सब बाहना के हाँकने में निपुण होते थे। अद्व के सवार को आसिक कहते थे। रथ की गति अस्व से तीव्र होती थी।<sup>७</sup> साधारण अद्व एक दिन में चार योजन चसता था किन्तु अच्छा घोड़ा आठ योजन तक प्रतिदिन चल सता था।<sup>८</sup> बोबा एक दिन में बिलनी मंडिक तय करता था उतने को आस्वीन कहते थे। आस्वीन अच्छा साधारण और बिशिष्ट घोड़ों के भेद से चार और आठ योजन दूरी को कहते थे।

बलबाहल—यह वो हुई स्पष्ट के संबन्ध की बात। जस के बाहल की समस्या इससे भिन्न थी। माप्यकार देश के चारों ओर के बिस्तृत समुद्र से परिचित थे।<sup>९</sup> समुद्र का उल्लेख उन्होंने बार-बार तथा इस ढंग से किया है जैसे वे उसके महत्त्व से पूर्ण परिचित हों। एक स्थान पर उन्होंने पाटियात्र पवत के समीपवर्ती समुद्र की भी चर्चा की है।<sup>१०</sup> देशब्यापी घम्मीर नदियों से वे परिचित थे ही। दोनों ओर जस से बिरे हुए द्वीप भीतरी प्रदेश तक जस से बिरे अन्तरीय प्रकृष्ट बस से मुक्त प्राप्त पुराण और अकप्राम अनूप से वे परिचित थे।<sup>११</sup> उदधि की अवावता से वे अभिन्न थे।<sup>१२</sup> ऐसी स्थिति में यह स्वामाधिक था कि वे जस को पार करने के

१ ६-२४१ ।

२ ६-२४० ।

३ ८२-१८, पृ० ३४२ ।

४ १३-६७ पृ० ८५ ।

५ ८-२-८१ ।

६ ८३-७५ ।

७ ५२-७ ।

८ ११-७१ पृ० ४७५ ।

९. अश्वोप्यै वरवत्वारि योजनानि पण्डति अश्वतरोऽथ योऽथो योजनानि पण्डति—

५ ३-५५, पृ० ४४६ ।

१० ५-२ १९ ।

११ १४-२४ पृ० १६२ ।

१२ ८१४ पृ० २६४ ।

१३ ११-५४ पृ० ३२९ तथा ६ ३-९७ काजिका तथा ६-३-९८ ।

१४ ६-३-५८ ।

साधनों से भी परिचित होते। उस पार करने के साधनों को उबवाहन या उबकवाहन कहा गया है।<sup>१</sup>

नौ—उबवाहनों में नौ मुख्य थी। नौ से पार करने योग्य बस या नदी को नाव्य कहते थे।<sup>२</sup> नौ के लिए नौका शब्द का प्रयोग भी मिलता है।<sup>३</sup> माप्यकार ने कहा है कि एक बूसे पर निर्भर रहनेवाले अर्थात् इतरेतत्काल कार्य पूरे नहीं पड़ते। जैसे एक नाव में बेंधी बूसे ही नाव परस्पर एक बूसे को पार नहीं लगा सकती। नावें अरिष या बौड़ के सहारे चलती थी।<sup>४</sup> नावों से पार करनेवाले या नाव चलातेवाले को नाविक कहते थे। नाव ड्राफ्ट पार होनेवाला भी नाविक कहा जाता था।<sup>५</sup> नदी को पार करने की क्रिया नदीतर कही जाती थी। नौकारों भार होन का काम भी करती थी और यात्रियों के ले जाने का भी। बस में इनकी स्थिति शकट के समान थी। राज्य की ओर से घाट पार करने के लिए जो नावें रहती थी उन्हें 'राजनी' कहते थे। राजनी राजा की सर्वथा निजी व्यक्तिगत व्यवहार की नाव भी कही जाती थी। मास से जानेवाली नावें शकटों के समान 'सार्थ' बनाकर भी चलती थी। दो या अधिक नौकाओं द्वारा डोई हुई वस्तु हिमावलय या हिमाचलस्थ कहलाती थी। इसी प्रकार तीन या अधिक नौकाओं से लाई हुई वस्तु के लिए त्रिनावस्थ्य अर्थात् शकटों का प्रयोग होता था। एक-एक व्यापारी अनेक नावें चलाता था। उदाहरणार्थ पाँच नावें चलातेवाला, अर्थात् पाँच नावों पर मास लादकर जानेवाला पंच नावचन कहलाता था। कभी-कभी अत्यन्त मास ल जाते हुए व्यापारी मार्ग में उचित बाजार पाकर मास बँच देते थे और वहाँ प्राप्त होनेवाला मास बूसे ही नाव म भर केते थे। उदाहरणार्थ पाँच नावों में भर हुआ मास बेचकर दूसरा खरीद सिमा हुआ मास 'पंचनी' कहलाता था। संबोत्रा (नाव पर मास लादनेवाले) की सम्पत्ति अर्थात् नाव पर सवे मास को 'सोबहिन' कहते थे।<sup>६</sup>

उडुप—उडुप छोटी नाव थी जो वर्तमान डोंगी के समुद्र थी। उडुप से पार करनेवाले को उडुपिक कहते थे।<sup>७</sup> समुद्री के तल्ले छोड़कर जलपर भी लोग साधारण गहरे जल को पार कर सेते थे। समुद्री के तल्ले पानी में बहाकर भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक

१ ६३-५८ ।

२ ४-४९१ ।

३ भा २, पृ० ८६ ।

४ १११ पृ० १०२ ।

५ ३-२ १८४ ।

६ ४४-७ ।

७ ११-२२, पृ० २०५ ।

८ ५४९९ काशिका ।

९ वही ।

१० ४३-१२० पृ० २५२ ।

११ ४४-५

पहुँचाये जाते थे। भाव्य में पाँच सौ उड़ुपों और पाँच सौ फलकों के एक साथ तीर्न होने का उल्लेख है।'

भस्त्रा—भस्त्रा फूल हुए धर्म को कहते थे। पशुओं के पूरे बमड़े को सीकर बिसक भीतर हुआ मधि रहती थी पानी पर तीरामा जाता था। भस्त्रा बनसप के बकों के समान पानी पर तीरती थी। भस्त्रा से पार करनेवाले को भास्त्रिक कहते थे।' भस्त्राविषय में उल्लिखित मरुट सम्भवतः फलक बीसा ही होता था। उत्संगारि गज में उत्संग के अतिरिक्त पिटक उड़ुप और उत्पट का भी उल्लेख है।' उत्संग लकड़ी के बड़े पोसे को भीतर से पोपका करने बनाते थे। पिटक बसि की बनी छोटी नाव पनमुहया जैसी होती थी। उत्पट मछुओं की लम्बी नाव के समूह थी।

धस्त्रिक—इनके अतिरिक्त घट भी तरण के काम आते थे। चार घटो को उमटकर उनमें लकड़ी बाँधकर उनको धरतई, जिसे बज भापा के कबि ने 'धरताव' कहा है बना सते थे। ताजाव या झीक के बेंबे पानी में इसका उपयोग होता था। साम और बेम को भी भाव्यकार ने तरण का साधन माना है।' बीक की पूँछ फकड़कर धारा को पार करनेवाले 'वीपुष्पिक' कहे जाते थे।'

१ ५१-५२, पृ० ३३३

२ ४४१६।

३ ४४१५।

४ घटेव तरति धस्त्रिकः।—भा० २ पृ० ३१।

५ ४११ पृ० ६।

६ ४४६।



## अध्याय १२

### मनोरंजन

मनोरंजन की दृष्टि से सगीत नाचित्र नृत्य नाट्य चित्र और आख्यान का स्थान प्रमुख था। ये सार्वजनिक मनोरंजन के साधन थे। इनके विषय में अल्प विवरण रूप से वर्णन ही पाई है। आख्यान के अन्तर्गत प्रकथन कथा कहानी तथा वर्णन आते थे। आख्यान सारी रात चलते थे और लोग बड़े चाव से सुना करते थे।

मृगया—इनके अतिरिक्त मृगया प्रहरण शीबा पुष्पावचायिका उद्यान-यात्रा बलश्रीडा और आपानक-गोष्ठी का उल्लेख भाष्य में मिलता है। मृगया का प्रचार तो यहाँ तक था कि उसका अपना पृथक शास्त्र बन गया था। मृगया के अन्तर्गत न केवल मृगों का ही शिकार, अपितु समस्त पशुपक्षियों का बन् जाता है। इधीलिए, मोर-शेरे शिकार के पशु मृग शब्द के शाब्दिक मत लिये जाते हैं। वास्तव में सब पशु जिनका शिकार अन्वेषणपूर्वक किया जाता था मृग कहलाते थे। सामान्यतः शिकार धनुष-बाण द्वारा किया जाता था। मृगया मनोरंजन का भी साधन था और व्यवसाय भी। आखेटक लोग मृगया के लिए कुत्ते पालते थे और पशुपक्षियों का पीछा करने के लिए उन्हें प्रशिक्षित करते थे। कुछ लोग बड़ी रातों में कुत्ते पालते थे और उन्हें मृगया के लिए किराये पर देते थे। सम्भवतः ये लोग मृगया का एक अंग स्व-युक्त के रूप में ले लेते थे। ये लोग 'इवागणी' या स्वागणिक कहलाते थे। इसी प्रकार कुछ लोग जाल या आनाय रखते थे। जाल को बागुरा भी कहते थे। ये कई प्रकार के होते थे और मुसालि पशु पक्षी तथा मत्स्य पकड़ने के काम आते थे। जाल भी कुछ सुस्के लेकर मृगयार्थ उधार दिये जाते थे। जाल या बागुरा को किराये पर देनेवाले या मृगया के समय जनता प्रयोग करनेवाले मूठक बागुरिक कहलाते थे। शिकार बहुत कुछ तुरंग पर चढ़कर ही जाती थी और उसके लिए निपानबन्दी स्थिर (कर्म बिहीन) मृग गवय तथा पशुपक्षी स भरी-भरी अरुण-भूमि चुनी जाती थी।

मृगया को मृगरमण भी कहते थे। इस वर्ष में रजपति किया प्रयुक्त होती थी। उदाहरणार्थ 'बहु मृगों का रजन करता है (रजन नहीं) यह वाक्य प्रचलित था। मृगरमण के अनुभव इतने मनोरंजक होते थे कि वे मार्ता या गोष्ठी के स्वतन्त्र विषय माने जाते थे।

१ ४१११ काशिका ।

२ १-३-२४ काशिका ।

३ इवागणिकबागुरिकः प्रथमास्थितं व्यपगतानसवस्यु विवेका छ—स्थिर तुरङ्गमभूमि-निपानकभ्यागवयो गवयोपचितं वनम्—रघुवंश ९१३ ।

४ १४२४ पृ० ४०७ ।

व्याकरण में मृगरमण का ऐसा वर्णन करने के लिए, जो थोटा में उसे स्वयं देखने की आकांक्षा उत्पन्न करे, स्वतंत्र वाक्य 'मृगान् रमयति' बनाने का नियम दिया गया है।<sup>१</sup> मृगरमण के विषय में व्याकरण के ये दोनों नियम मृगया की अत्यधिक लोकप्रियता के सूचक हैं। मृगया को सुम्ब-योग भी कहते थे।<sup>२</sup> मृग का शिकार करनेवाला 'मार्गिक' कहलाता था। इसी प्रकार, हारिणिक औंकारिक सारिणिक आदि शब्द प्रचलित थे।<sup>३</sup> बाण सपत्र होते थे। बाण से मृग को बाध करना 'सपत्राकरण' कहलाता था। इसी प्रकार बाण को छरीर के बार-बार निकाल देना 'निष्पत्राकरण' कहा जाता था। सपत्र बाण बहुत पीडा पहुँचाते थे इसीलिए वे 'अतिभयन' कहे गये हैं। सुम्बकों की माया में बाहिनी और बायल किया हुआ मृग 'दक्षिणैर्मा' कहा जाता था।<sup>४</sup> दक्षिणांग का आशय उठमा घातक नहीं होता जिधना नाम अंग का। दक्षिणैर्मा मृग चोट लाकर भी माग निकलता है। ऐसे मृग की यह विशेषता थी। आबेटक लोग बोली से मृग की आति पहचान लेते थे। कुछ मृग रात्रि में बोलते हैं कुछ प्रत्येक के समय। इसी प्रकार विभिन्न मृगों के बोलने का समय निर्दिष्ट होता है। सुम्बक बोली के आधार पर मृगों की आति पहचानकर उनका शिकार करते थे। मिस्र में बोलनेवाले मृग नैद्य या नैशिक और प्रदोप में बोलनेवाले प्रायोप वा प्राशोपिक<sup>५</sup> कहलाते थे। इन कार्यों में बोलनेवाले अन्य पशुओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग नहीं होता था।

मृगों के समान पक्षियों का शिकार भी मनोरंजन का साधन था। पक्षियों के आबेटक को पाक्षिक या साकुनिक<sup>६</sup> कहते थे। विशेष पक्षियों के नाम पर भी उनसे आबेटकों के नाम पड़े जाते थे। जैसे—मायूरिक तैतिरिक आदि। पक्षियों के शिकार के लिए आबेटक लोग स्वेन पाकते थे। स्वेन छूटते ही पक्षियों को दबोच लेता है। कभी-कभी कीडा के रूप में बनेक पाक्षिक एकत्र होकर अपने-अपने बाज छोड़ते थे जो पक्षियों को दबोचने के लिए एक साथ उन पर टूटते थे। यह कीडा स्वेनम्पाता कहलाती थी।<sup>७</sup> जारु या आनाय के सहारे जपवा अग्य साधनों से मछलियाँ पकड़ना भी मनोरंजन का साधन था। मछली का शिकार करनेवाले मैनिज शाफरिज या साकुनिक कहे जाते थे।<sup>८</sup>

प्रहरण-कीडा—प्रहरण-कीडा भी मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण अंग थी। माठी माला

१ मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयतीति। बुभ्यार्पायामिति किमर्थम्? यदा हि ग्रामे मृगरमणमाचष्टे मृगरमणमाचष्ट इत्येव तथा भवति ।—३-१ २६, पृ० ७६ ।

२ ५४१२६ काशिका ।

३ ११६८, पृ० ४३५ ।

४ ५४६१ काशिका ।

५ ५४१२६ ।

६ ४-३-५१ काशिका ।

७ ११६८, पृ० ४३५ ।

८ ६-३-४७१ काशिका ।

९ ११६८, पृ० ४३५ ।

तत्काल आदि में निपुण व्यक्ति पर्वदि आनन्दोत्सवों पर एकत्र होकर अपने नैपुण्य का प्रदर्शन करते थे। इनमें पक्ष-प्रतिपक्ष अपनी-अपनी विजय का प्रयत्न करते थे। काठी या पक्ष के प्रहरण जिस भीड़ा में दिखाये जाते थे उसे वाग्धा कहते थे। इसी प्रकार मुष्टि-ग्रहण की भीड़ा मीष्टा कहकारी थी।

**मस्त्रविद्या**—मस्त्रविद्या का महत्त्व इनसे भी अधिक था। मस्त्र लोग नियमित अभ्यास व्यायाम और संयम द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। वे मस्त्रों की प्रति योगिता जनसाधारण के मनोरंजन का विषय थी। प्राप्यकार ने 'मस्त्र मस्त्र के लिए पर्वति है मस्त्र कुमरे मस्त्र के लिए समर्ष है' आदि उदाहरण लेकर मस्त्रविद्या के प्रदर्शनों की ओर संकेत किया है। मस्त्र लोगों के शिव-येचों और पकड़ के लिए 'संघाह' शब्द का प्रयोग होता था। मुष्टिक की पकड़ के लिए भी संघाह शब्द ही आता था। मस्त्रविद्या और मुष्टिक-विद्या बड़ी लोकप्रिय थी। काशिकार ने भी स्पर्धा वर्ष में आ+हो वातु का उदाहरण 'मस्त्रो मस्त्रमाह्वयते' ही दिया है। स्पर्धा संघर्ष या पराभिभवच्छा को कहते हैं। इस वर्ष में आह्वान करने पर 'ह वातु आरमणेपदी हो जायी है।

**पुष्पावचय**—पुष्पावचय प्राचीन भारत की अत्यन्त प्रिय भीड़ा थी। इसमें उदात्त पुष्पमयिका, बाल्यपुष्पप्रचायिका, पालमयिका, तालमयिका, जीवत्पुष्पप्रचायिका आदि प्रमुख थीं। विभिन्न ऋतुवा में सामूहिक रूप से विविष्ट पर्व के अवसर पर इन भीड़ों का आयोजन होता था। इनमें अन्तिम उत्तरी भारत में प्रचलित थीं और देव पूर्वी भारत में। इनमें धार को छोड़कर शेष पुष्पचयन से सम्बन्ध रखती थीं। ऊँची ढाल पर लगे हुए पुष्पों का अधिक परिमाण में चयन करना स्पर्धा का विषय था। भंत्रिका दाय्य ढाल में लगे हुए फूलों को तोड़ने और प्रचायिका धार भूमि पर गिरे हुए पुष्पों के चयन का बीजक है। काशिकार ने मेघदूत में विविधा का वर्णन करते हुए पुष्पसाधियों का उत्सव किया है। ये भीड़ें सम्पन्न वर्ग में प्रचलित थीं और गुप्त काल तक इनका प्रचार रहा।

**उद्यान-यात्रा**—उद्यान या उपवन मगर से बाहर होते थे। लोग सारा दिन वहाँ बिताते थे और मनोरंजन के लिए वहाँ अन्व भीड़ों का भी आयोजन करते थे। कामधूम में इन भीड़ों का ममस्य भीड़ा या सम्भूय भीड़ा कहा है जिनमें अनेक लोग एक साथ भाग लेते थे। पुष्पावचय

१ ४ २-४७ काशिका ।

२ २-३-१६ पु० ४१८ ।

३ ३-३-३६, पु० ३०३ ।

४ १ ३-३१ ।

५ २ २-१७ काशिका ।

६. प्राचा भीड़ायाम्—उदात्त पुष्पमयिका । प्राचामिति किम्? जीवत्पुष्प

प्रचायिका । इयमुरीचा भीड़ा ६-२-७४ तथा जीविकार्य इति किम्? इज्जुमसिकां नै वाप्यति—  
६ ३-७३ काशिका ।

कीटों के विषय प्रकथित थी किन्तु उद्यान-यात्राओं में पुष्प और स्त्री समान रूप से प्राण लेते थे।

भापाल-मोडी—भापाल-मोडियों की प्रथा पत्र-कलि-काल में उनकी नहीं थी ब्रितानी जनक उतर काल में मिलती है। पत्र-कलि के समय में भी पानागार थे जिनमें जाकर लोग मछादि का सेवन करते थे। उन्होंने पानागार में शौच के पान करने का उल्लेख किया है। पाना म मधु मय मीरय कापिभावन आदि का प्रचार था जिनका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

दूत—पान से निकट सम्बन्ध का दूत। दूत का प्रचार प्राचीन भारत में बहुत अधिक रहा है। माध्य में ब्रितानी वार दूत का उल्लेख हुआ है उतनी वार अन्य किसी चीज का नहीं। दूत मध्य दिग् वायु में बना है। शब्द (२-२९-५) में दूत लेखनेवाले को कियत कहा है। वाग्जनेपी संहिता (३-१८) में अर्थाधिक दूत लेखनेवाले को समास्पृच संज्ञा दी है। महीनर और साम्पने तैत्तिरीय शा० (२४ १६ १) में समा (दूतस्मान) में स्तम्भवत् स्थित अर्थात् सदा बलवत्ता बनाया है। दूत अन्न से बना जाता था। अन्न विभोक्तक वृक्ष की लकड़ी से बनते थे और वे वायु या भूरे रंग के होते थे। अन्न धरनेवाला अन्नदूत कहलाता था। अन्न फेंकना प्राण या ब्रह्म कहा जाता था। इसमें लगाई जानेवाली बाजी बिज् कहलाती थी। कुछ लोग अन्नदूत में विषय निपुणता प्राप्त कर सत से और प्रसिद्धि पा जाने थे। कुछ लोग छल और भूर्त्ता से लोक में विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये लोग अन्न-भूर्त्त और अन्न-कियत कहे जाते थे। अन्न से लेखनेवाले जीतनेवाले व्यक्ति और जीती हुई सम्पत्ति मद्य आधिक कहलाते थे। अन्नदूत प्रायः वैर का भी कारण होता था। लिलाड़ी के कथन या भूर्त्ता का पता चल जाने पर अन्नवा जीत, हुआ अन्न न देने पर दूत वैर में परिणत हो जाता था। यह वैर आद्यदूतिक कहलाता था। विजिगीषा ही अन्नदूत का उद्देश्य थी। कागिजाकाग ने कहा है कि पाने जीतने की इच्छा से ही फेंके जाते हैं। जीतने की इच्छा में दूतवम्भ का प्रयोग होता था अन्यथा दिग् वायु के धामे कत प्रत्यय लगाने पर दूत मध्य बनता था।

दूत-यात्रा—दूत यमाकाशों से भी लेखा जाता था। अन्न पर कुछ अन्न या चिह्न बने रहते थे। यह चिह्न यमाकाशों पर भी होते थे पर अन्न यमाकार बनते थे और यमाकाशों आपता कर। अन्न की लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई बराबर होती थी किन्तु यमाकाशों का आनाम

१ ३-१ १ पृ० २२८ ।

२ अणु० ७-८६ ६ तथा अर्ध-विकारवर्तिता २०-४-६ ।

३ १-४-२, पृ० १२३ ।

४ अणु० ८-८१ १ तथा १०-३४ २ ।

५ २-१ १ पृ० २२८ ।

६ २ १-४०, पृ० २९४ ।

७ ४-२-२ ।

८ ४४ १९ ।

९ ८-२-४९ कागिजा ।

बीफार्ड और डैफार्ड से अधिक होता था। खेल में जिसका पर्याय या बार होता था वह अल या सलाकार, 'फैट' पर फेंकता था और बंक ऊपर होने पर बिजयी माना जाता था। यदि पहले फेंका गया पास सीमा पड़ा और बार में फेंका गया उल्टा 'तो उल्टे पासे और सलाकार को अलपरि और सलाकारपरि कहते थे। खेल में पाच अल या सलाकार खड़ी थी। पाचों सीमा या पाचों उल्टी पड़ती थीं तो फेंकनवाले की जय होती थी। एक बार जय के पश्चात् एक अल या सलाकार उल्टी पड़ी तो 'एकपरि' शब्द का व्यवहार होता था। इसी प्रकार 'द्विपरि' 'त्रिपरि' और अधिक-से-अधिक 'चतुष्परि' खेल हो सकता था क्योंकि पाचों के सीमे या उल्टे पड़ने पर तो जय ही मानी जाती थी। पाचों की संख्या पाँच होने के कारण इस खेल को 'पंचिका' कहते थे। सलाकार और अल के एकवचन होने पर ही अलपरि और सलाकारपरि खेल कहलाता था। इस प्रकार अलपरि का अर्थ होता था 'अल इस प्रकार ऐसे नहीं पड़े जैसे पहले पड़े थे।' अलपरि शब्द शब्द पारिभाषिक से और कित्तब व्यवहार में ही प्रयुक्त होता है। खेलश्रीवा का दूसरा नाम कित्तब-व्यवहार भी था। इसमें जीत के पासे को कृत् और हार के पासे को कलि कहते थे। पासे सीमे पड़े तो कृत् कहलाते थे और उल्टे पड़े तो कलि। सीमे पासे फेंकने की क्रिया को 'कृतयति' और उल्टे पासे फेंकने की क्रिया को 'कलियति' कहते थे।

पच या गह—अलखेल में भारतीय लोग जीत के लिए बल या अन्य वस्तुओं की बाजी लगाते थे जिसे पच या गह कहते थे। अल से भिन्न प्रसंग में गह शब्द प्रचलित था। सी का पचन या व्यवहार व्यापारक बात थी। गणिनि में खेल के प्रसंग में प्रयुक्त 'व्यवह और 'पच' शब्दों के साथ गह बस्तु के लिए पच्छी का विधान किया है। 'इसी अर्थ में प्रयुक्त विद् शब्दों के योग में भी पच्छी होती है।' उदाहरण पहले रहने पर विद् शब्दों के योग में पच्छी विकल्प से होती है। बल के साथ भोग वाय भीमा शब्दों की बाजी लगा देते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में इनका उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद् शब्दों के योग में इसी अर्थ में गह बस्तु के लिए द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता जाता है।

१ ३१२१ पृ० ५९।

२ ३३-७०।

३ २३-५७।

४ २३-५८।

५ २३-५९।

६. अस्तवेदं न तथा कृतं यथा पूर्वविति अलपरि, सलाकारपरि—अलसलाकारयोश्चैव बद्धमस्तयोरिति बराह्मणम् इह मामृत, अध्यात्म्यां कृतम् अलकृतम्।—२-११० पृ० २७२ तथा पञ्चरात्रनाम कृतं चञ्चलिरसौ सलाकारनिर्वा भवति तत्र यदा सर्वे सलाकारः पतन्त्य-वाञ्छोवा तथा पतन्तिता जयति। तत्तदेव विपक्षोऽप्यथा पते तसि जयते।—बही, काशी०।

७. २११० पृ० २७२।

८. द्वितीया ब्राह्मणे २-११० गां प्रवीम्यन्ति पामस्य तद्गुं सनायां बीम्येषु।—३२-१०, पृ० ४४८।

'द्वितीया ब्राह्मणे' (२३ ६०) मूल की व्याख्या में भाष्यकार द्वारा दिय गये ब्राह्मण-ग्रन्थ के उद्धरण 'समा म उच्यते इत्युक्ती गाय का मुमा बल' से प्रकट होता है कि घृतकीटा समा म होती थी। अन्वय यह कहा जा चुका है कि प्रायः शायों और नगरों में समागृह हाय म। ये समागृह सर्वसाधारण से अन्वय रखनेवाली प्रमाथी गोपियों श्रीशायों और उत्सव का काम प्राप्त था। भाष्य म अन्वय भी 'समाप्रयत्न' शब्द मिलता है। समा म अन्वय या याम्य व्यक्ति मन्व कहा जाता था। वैदिक भाषा में अन्वय के लिए 'समय' शब्द का व्यवहार मिलता है। इन मनामा म स्त्रियों प्राय नहीं सती थीं। इसीलिए, भाष्यकार ने स्त्रियों को सत्य का कहा है कि 'मना स्त्री घना में साधु होते सग सखी है ?'<sup>१</sup>

स्त्रियों क मनोरंजन के कुछ अन्य साधन थे। तीक्ष्ण-रसाहारा का जहाँ बर्णित महत्त्व था वहाँ सामाजिक भी। इन अवसरों पर घरों में बिगोय बहुसं-दल्ल हा जाती थी। बिगोय परबान बनाय जाते थे। यौव भर की स्त्रियाँ एक स्वान पर पूजा के लिए एकत्र होती थीं। एम उन्मवा में मुद्यापिका तिसापूिका बटकिनी और कौम्पावी पीमामियों का उत्सव भाष्यकार म क्रिया है। इन पीनमाथियों का गृह क पुण्य, तिस क पुण्य या तिस-मित पुण्य, बड़ और कुस्माय या कुण्य धान का महत्त्व था।

गारघृत—घृत क समाय ही औरद का भी प्रचार था। इसमें गह नहीं हाता था अथ यह बिगुय मनोरंजन था। इसक लिए वा वस्तुएं आकर्षक थीं। आकर्षक त्रियवर चीनत्र दिहाय जाती थी और शार' अर्थात् गाटिया। आक्षय एक श्रीकार खानशार या काष्ठमय फलक हाता था। आक्षय में कुशाक व्यक्ति आक्षयक रहताथा था। गाटिया आक्षय के कोष्ठ म इपर-उपर घुमती थीं। गाटिया का एक खाने से दूसर खाने में से जाना परिपाय रहताथा था। परिपाय का अर्थ था जोर क जाना। पाविनि शार क पैर का भी घृत मानत हैं। काशिकावार न कहा है परिपाय से शारो को मारता है। निर्मित गति से चलती हुई गीनी मरि बिरोधी गीनी पर पड़ी ता बहु उच्यता हस्त करती है। घृत से मित्र अर्थ में परिपाय क बरह परिपाय शब्द का प्रयोग होता था। भाष्यकार के मत स आक्षय के उच नीतरी कोठ को 'अपानय' कहत थे तिसन गीनी के पहुँच जाने पर उचे कार्य गोटी काट मही सकती थी। इस खाने म पहुँची हुई गीनी को अपाननीम कहते थे। अथ का अर्थ था बीमा और अन्वय का अर्थ था बीमा। दाने-दाने चलनवासी गीटिया तिसमें अन्वय पाँच नहीं रख सकती थीं उचें अयानय कहते थे। अयानय का अर्थ योय्य इस अर्थ में 'अपाननीम' शार का प्रयोग होता था।

१ समासप्रयोगेभ्य ।—१ १-७३ पृ० ४६० ।

२ ४४ १०५, १०६ ।

३ अर्थ नाम स्त्री समायां साधु स्यात् ।—४ १ १५, पृ० ४० ।

४ तदस्मिन्मयर्न प्रायेण संज्ञायाम् गुद्यापिका पीममासी, तिसापूविरा—प्राय संज्ञायाम् शारकेय्य इतिर्वक्तव्यः—बटकिनी पीममासी ५ २-८२ तथा कुस्मावाचम् ५ ९-८३ पृ० ४०० ।

५ ५-२ १४

६ घृते तावत् परिपायेन शारम् हस्ति समन्ताप्रयत्नेन —३ ३ ३७ काशिका ।

७ अयानयं देय इत्युच्यते तत्र न आपते, कोयः कोजय इति । अथ प्रवक्षिष्याम अन्वय

बसपूत और धारपूत का प्रचार कितना रहा होगा यह इस बात से समझा जा सकता है कि इन दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले संज्ञा-शब्दों का उल्लेख भाष्य या अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है।

समाज—मनोरंजन-श्रीदार्प सामूहिक रूप से चलती थीं जिनमें भाव लेने के सिद्ध बड़ी संख्या में लोग एकत्र होते थे। श्रीदार्प एकत्र जग-समुदाय को 'समाज' कहते थे।<sup>१</sup> पशुओं का समुदाय 'समाज' कहलाता था। इस प्रकार, मनुष्यों और पशुओं के समुदाय का अन्तर स्पष्ट किया गया था। आबस्मक गृही था कि समाज मनोरंजन के लिए ही हों किसी भी प्रकार के जग-समुदाय समाज कहलाते थे। विचार-मोष्टी के लिए भी समाज होते थे। समाज यहाँ एकत्र होता था उसे 'समस्या' कहते थे। भाष्यकार ने भी उस स्थान को समस्या कहा है, यहाँ काम इच्छते होते हैं। इस प्रकार समस्या समा और समाज प्रायः समानार्थी जान पड़ते हैं। इस अर्थ में समुदाय शब्द का भी प्रचलन था। भाष्यकार ने कहा है कि समाज समाज और समुदाय में 'बैठिए' कहने पर स्वयं प्रत्येक व्यक्ति बैठ जाता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति से बैठने को नहीं कहा जाता।<sup>२</sup> परिपक्व इससे बड़ी संख्या भी जिसमें किसी विषय पर विचार-विमर्श के लिए ही लोग एकत्र होते थे।<sup>३</sup> भाष्यकार ने समुदाय में समवेत होने, अर्थात् समुदाय में जाकर उसका एक अंग बन जाने की चर्चा की है।<sup>४</sup> समुदाय में समवेत होनेवाले सामवायिक समाज में जानेवाले सामाजिक और परिपक्व के सरस्य 'पारिपक्व' कहे जाते थे। समा के सरस्य के लिए 'सम्य' शब्द प्रचलित था। समुदाय और समाजिक के सरस्य शर्षकों से भिन्न होते थे। इनका काम इस प्रकार के समझनों की व्यवस्था एवं बाधित संभासना था। ये भाग भी सामवायिक और सामाजिक ही कहे जाते थे।<sup>५</sup>

इस प्रकार, हम देखते हैं कि कलाओं के अतिरिक्त सामूहिक या वैयक्तिक श्रीदार्प मनोरंजन का मुख्य साधन थी। श्रीदार्पों में प्राच्य उदीच्यादि वेद मेह से अन्तर था। श्रीदार्प में जग समवेत को आश्रीडी कहते थे।<sup>६</sup> शर्षकों की श्रीदार्प का भाष्य में अल्प उल्लेख किया है। श्रीदार्प के साथ शश्रीदार्प परिश्रीदार्प आश्रीदार्प अशुश्रीदार्प आदि शब्दों का भी प्रचलन था।<sup>७</sup>

प्राच्यम्। प्रवृत्तिप्रसव्यमामिता आरव्यां यस्मिन् परैः पदानामसदाशिसां सोऽप्यत्यय। अथत्ययं मेयोऽप्यन्यीनां धारः।—यही।

१ ३-१ ६९ काशिका।

२ समजति तस्यां समज्या, ३ ३-९९, ५० ३१३।

३ ३ ३ ६९ काशिका।

४ समाजेषु समादोषु समवायेषु आश्रयतामिसुषते न बोध्यते प्रत्ययत्वमिति प्रत्ययत्वमासते, १ १-५० ५० ३०९।

५ ३ ३ ९९, ५० ३१३। ६ ४-४ ४३ का।

७ ४ ४ ४४

८ ६ ४ ३३ काशिका०।

९. ३ २ १४२। १० १ ३-२१ ५० ६९।

खण्ड ५

आर्थिक स्थिति





## अध्याय १

### कृषि

कृषि का अर्थ—पशुचरित्र के समय में कृषि नारण का मुख्य व्यवसाय था। नाप्य मे स्थल-स्थान पर जो उपाहरण प्रस्तुत किए गए हैं उनमें स प्रतिकीय कृषि-व्यवसाय और धानीय वीषन स सम्बद्ध हैं। कृषि नाम 'कृप्' धातु स बना है जिसका अर्थ है कृष्ट बनाना या जोतना। मण्ठी में इनके लिए बहुत उन्मुक्त मन्त्र प्रयुक्त होता है 'मागरना। पशुचरित्र क समय तक कृषि मन्त्र में नन सब क्रियाओं का सम्मिलन न था बुझा या जा थाज इस व्यवसाय के अन्तर्गत विनी जाती है। इनमें जातना खोना बामा निराना बाटना गाहना सजाना आदि मनी काय मा जाते हैं। 'हनुमति च' (३१ २६) सूत्र का नाप्य करते हुए पशुचरित्र न कहा है कि कृप् धातु के अर्थ के नीतर बहुत-सी क्रियाएँ मानी हैं। कृप् केवल जातन क अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं जाता उनका अर्थ प्रतिविधान भी है। जलनेवाले को ठिथाना-विधाना बीज तथा बीजों की व्यवस्था या प्रति विधान करना भी कृषि के अर्थ क भीतर है। जिस दिन वह उषन बाते का प्रबन्ध नहीं करता उष दिन कृषि का काम ही नहीं हो पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषक कबल जोतनवाला ही नहीं बुनाई कउनवाला भी माना जाता था। इनी सूत्र क नाप्य में धाम चलाकर उन्मुक्त कहा है—'एकाम्' में बुनबाव बीजे हुए पुन्य के लिए भी काम बहुत है कि यह पाँच हलों की खेती करता है। एष प्रसंग में कहना चाहिए कि पाँच हलों को मेत्री करवाता है। इस धरा का समाधान करते हुए न कहते हैं कि कृप् धातु में अनक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इनलिए, पाँच हल चलाता है, यह कहना भी उचित है, क्योंकि वह स्वयं हल न चलाकर हल चलाते क साधन प्रस्तुत करता है।

हयक—बीज और हल कृषि के मुख्य साधन थे। अहातक कृषि-क्रियाओं का सम्बन्ध है उन्हें विज्ञान स्वयं करता था या बतन देकर नूनकों से करवाता था। विज्ञान क लिए कृषीवत्स' मन्त्र का व्यवहार होता था। बतमान किमान मध्य माती श्रयान (कृप्—मानच्) का अन्तर्गत कर है या श्रयान के अन्तर्गत मध्य से कासास्तर में अन्त-विन्त्य होकर विकसित हुआ है। अधिक

१ मन्त्राधिक्यः कृषेः। नावस्य कृषिबिलेखन एव वसति। कि तर्हि? प्रतिविधाने-  
प्रति वसति। यद्यत्तौ वसतबीजवसतीवर्षे, प्रतिविधानं करोति सोऽपि कृष्यः। अतएव प्रतिविधानेऽपि  
वसति।—३-१-२६, पृ० ७३।

२ वही, पृ० ७३।

३. ५-२-११२।

४ अ० ४-५०-८।

सम्भावना यह है कि कृप पातु का प्रयोग पहले आत्मनेपद में होता रहा है और जो आये पसकर अन्य हा गया। आत्मनेपदी मानु मानकर उसके आये एकबार जो धान्य प्रत्यय बस पड़ा सो चलता रहा। इसीलिए किमान क कर्म के लिए 'किसतई' शब्द जो कि 'किसान' से ही व्युत्पन्न हुआ है, आज भी कृपक-वर्ष म प्रचलित है। यदि कीनाद्य धान्य इसका मूल होता तो उससे बननेवाले अन्य शब्दा पर भी उसका प्रभाव पड़ता।

यो या अनड्वान्—बैल कृपि का मुख्य साधन रहा है। सारा कृपि-कार्य बैलों के ही कौशे था। बस को यो अनड्वान् और बसीवर्षे कहते थे। ये हल चलाने के ही काम न आते थे। पकट और रप भी खींचते थे। दोनों काम करनेवाले बैल केवल बाकी खींचनेवाले या हल चलानेवाले बैला की अपेक्षा ध्येष्ठ<sup>१</sup> माने जाते थे। जब बैल को हल या गाड़ी में जोता जाता प्रारम्भ किया जाता था तो उस 'वस्य' कहते थे।<sup>२</sup> वस्य जिस गाड़ी में जोतकर प्रशिक्षित किया जाता था उसे मराठी में आज भी 'वसती' कहते हैं। वस्य बैल 'उद्या बन जाता है और फिर बसी बर्द। उद्या युवा बैल को कहते थे। उद्या के तीन आयुकास हैं—मध्यम जब उसके चार दाँत निकलते हैं। तृतीय जब उसके बाया दाँत निकल आते हैं और तृतीय जब उन दाँतों का निघना प्रारम्भ हो जाता है। इन आयु के बैला को कमरा जाताद्य महोद्य और बृहोद्य कहते थे। येतों की जोत और बोनी 'ग्रीके मराय की' भाष्य में एक स्थान पर कहा है कि 'इस व्यक्ति ने बैलों के सहारे गन बाये' तथा 'बैल जो हा रहे हैं। इसम स्पष्ट है कि कृपक न कबल जोत के लिए, अपितु फल बाने के लिए भी बैलों पर निर्भर था।'<sup>३</sup>

हल या सीर—हल और सीर पर्यायवाची था। हल कृपक का दूसरा सपी था। इसे चलाने-बाला विमान हालिक या सैरिक कहलाता था। हल का एक अन्य नाम लोणक भी था। भाष्य बार ने सामयवर्ष<sup>४</sup> का उल्लेख किया है। बड़े हल को हकि कहते थे जिसका दूसरा नाम त्रिये भी था। इसी त्रिये म पामीन शब्द जाता (दूसरे का एक बैल मानकर जोतना) बना है। हकि और त्रिये बड़ी भूमि जोतने के काम आते थे। धान्य भी उत्तर भारत में दो प्रकार के हलों का व्यवहार होता है जिन्हें हल और हपी कहते हैं। हलों में आठ दस और बाण्ड तक बैल जोते आते थे। अर्धवेद (९ ११) तथा काण्ड-महिता (१५ २) में इसका उल्लेख है। ऋग्वेद (६ ९१ १) में भी छठ म बारह तक बैलों को जोते जाने का उल्लेख मिलता है। पर में हल बैल और

१ १-२-७२ पृ० ६०७।

२ गौरवं शब्दं बहुति योनरोम्यं च शब्दं बहुति सीरं च।—५ ३५५, पृ० ४४५।

३ १११ पृ० १०५।

४ ५४-७८ पृ० ५०४।

५ २-१ ३० पृ० २८३।

६ १४-५२ पृ० १८२।

७ ४४-८१।

८ ६-२-१ पृ० २१०।

९ ३११०।

बच्चों का होना सामान्य का सूचक माना जाता था और तदर्क गुदजन आक्षीर्षाव भी देते थे।<sup>१</sup> जिसके पास हृत्त्व होता उसे अहृत्त्व अपहृत्त्व अपसीर या अपलांस कहते थे। जिसका हृत्त्व लक्षण होता उसे ब्रह्म और जिसका हृत्त्व अशुद्ध होता उसे सुहृत्त्व कहते थे। मराठी का 'नागर' संस्कृत सांसक का अपभ्रंस रूप जान पड़ता है। संस्कृत हृत्त्वति अत्रहृत्त्व,<sup>२</sup> आदिके समान मराठी में गानर (हृत्त्व) शब्द का व्यवहार क्रियाकर्तों में भी हुआ है।

भूमि—हृत्त्व से जोती जानेवाली भूमि हृत्त्वा<sup>३</sup> कहलाती थी। जुवा हुआ बैठ सीत्य कहा जाता था। अहृत्त्व भूमि ऊपर<sup>४</sup> (रेड या नमकीन मिट्टीवाली) होती थी। गोबर (बरापाह) इन (पशुघासाएँ) और गोष्ठ (बाड़े) ऊपर भूमि में होते थे।<sup>५</sup> क्षेत्रोंको कैदार भी कहते थे। कैदारों का समूह कैदार्य कैदारिक या कैदारक कहा जाता था। हृत्त्व भूमि धुनासीरीय<sup>६</sup> भी कही जाती थी क्योंकि धुन (वायु) और सीर (आबित्य) उसके बैठता माने जाते थे। एक हृत्त्व से जोती जाने योग्य भूमि हृत्त्वा<sup>७</sup> और दो या तीन हृत्त्वों से जोती जानेवाली त्रिहृत्त्वा या त्रिहृत्त्वा कही जाती थी। मजबूत नैलोंवाले लोग सामान्य रूपकों की अपेक्षा एक हृत्त्व से अधिक भूमि पर सेती कर लेते थे। यह भूमि परमहृत्त्वा या परमसीत्त्वा कही जाती थी।<sup>८</sup> सामान्यतया जोसने योग्य भूमि को कर्प कहते थे।<sup>९</sup> एक हृत्त्व होता सामान्यतः परिवार की निर्भरता का सूचक था। अन्तः बसहाम लोग एक हृत्त्व चलाते थे। सम्पन्न परिवार कई-कई हृत्त्वों की सेती करते थे।

क्षेत्रों के नाम—हृत्त्व भूमि क्षेत्रों में विभक्त थी। क्षेत्रों के नाम दो प्रकार से निश्चित किये जाते थे— जममें बोई जानेवाली फसल के आधार पर और क्षेत्र में पड़नेवाले बीज के परिमाण के अनुसार। जिस क्षेत्र में किसी साम्य का एक प्रसन्न बीज बोया जाता था, उसे प्रास्थिक कहते थे।<sup>१०</sup> उसी प्रकार कारिक और शौणिक क्षेत्र होते थे। पात्र कुम्भ उष्ट्रिका आदि माप से जममें से क्षेत्र में बीज डाला जाता था। इन उनके निश्चित परिमाण थे। पात्र कुम्भादि परिमाण ही थे। क्षेत्रों का नाम भी इनके आधार पर पानिक आदि पड़ जाता था।<sup>११</sup> साम्य में मापकुम्भमाप तथा

१ १-३-८३ पृ० ३५३।

२ १-१-११ पृ० ५९, ६०।

३ ४४-९७।

४ ४४-९१।

५ ५२-१०७।

६ ३-३-११ तथा ५२-१८।

७ ४२-४०, पृ० १७१।

८ ४२-३२।

९ ४-४-९७।

१० १-१-७९, पृ० ४५४।

११ ४-४-९७ तथा ६-१-१५९, पृ० २०४।

१२ ५-१-४५ का०।

१३ ५-१-४६ काशिका।

उट्टिका-आवपन के उल्लेख मिलते हैं। फसल के अनुसार खेतों के मौजूगीन (जिसमें मूँब बोई गई हो) वैहेय (वीहिवाला) घाल्य (धान का खेत) यध्य (जिसमें जौ बोय जाय) यबक्य (जई का खेत) पट्टिक्य (साठी धानवाला) तिल्य या तैलीन (ठिकवाला) माप्य या मापीन (उरख की फसलवाला) भांग्य या भापीन (पटसन का खेत) उम्य या औमीन (अकसी का खेत) और अलम्य या आलमीन (ज्वार-बाजरा का खेत) आदि नाम होते थे।<sup>१</sup> जिस खेत में फसल बोई जाती थी उसे 'बाप' कहते थे।<sup>२</sup>

कर्म या खेत—भूमि की कृषि का आधार ही है। इसी की बुलाई को पतंजलि ने 'वृहस्प कर्म' कहा है। इस करने से भूमि में जो कूड़े बनता है उसे छीटा कहते थे। एक ही खेत में दो तीन बार या अनेक बार बुलाई की जाती थी। खाद उरखी भी होती थी। एक पुरुष हंस की मूँठ पकड़े हुए बीसों क पीछे खेता था और दूसरा उसके पीछे-पीछे खेत में बीज छोड़ता जाता था। दोहरी सेहरी उरखी जोत और वपन के साथ जोत की क्रिया की 'द्वितीया करोति' तृतीया करोति सम्वा कराति और बीजा करोति' कहते थे। बोहरी गहरी या दुबारा खेत के द्वारा खेत की शक्ति बढ़ जाती है। ऐसी दोहरी जोत के लिए 'द्विमुखा करोति खेचम्' प्रयोग भी प्रचलित था।<sup>३</sup> जोतने के लिए बिलेयन घण्ट का व्यवहार होता था। जोतने के बाद खेत की भारंटा की रखा के लिए काण्ड द्वारा खेत की मिट्टी बराबर कर दी जाती थी। उम्यवा खेत की भीठरी मिट्टी घूस जाने पर बीज के न उगने का मय रहता था। मिट्टी के समीकरण की यह क्रिया हक एक लम्बे मारी काण्ड को रस्सी में बाँधकर और उसमें बीज नापकर स्वयं सकड़ी पर सड़ा होकर करता था।<sup>४</sup>

जोतने के लिए बील युग या जुये में नाबे जात थे। इसीलिए बीसों का युग कहते थे। युग में जुते हुए बील नाब से दो कोम तक की दूध पर जाकर खेत जोतते थे। क्योंकि प्रायः गाँवों के धेनपल में इतनी दूर तक की हल्य भूमि सम्मिश्रित रहती थी। कमी-कमी पड़ोस के कपक के साथ गाँव में आना होने के कारण भी इतनी दूर जाकर जोतना-बोना पड़ता था। जुये में जुते बील खिलनी दूर तक जाकर खेत जोतते थे वह दूरी 'पशुति' कहलाती थी जो लगभग बा कोम होने के कारण पहले मानुमानिक और बाद में दो कोस की निश्चित सञ्जा बन गई।

खेतों के जोतने जो इतने में नहीं जोते जा सकते थे खेत दिया जाते थे। जिस बीजार से जोत गोद जाने थे उस भाग्यन आगान आल भाग्यन, भाग्यनिक या धान्यनिकनक कहते थे। पारसों में यह अन्तर स्पष्ट भेद के कारण आ गया था।

१ ५-२१ से ५-२४ पृ० ३६७-६८।

२ ५-१४५।

३ ६-१५६, पृ० २०४।

४ ५-४४८।

५ ५-४५९।

६ १-४४९, पृ० २९८।

७ ३-१२५, पृ० ३१९।

वपन—भाष्यकार ने वपन का उल्लेख अनेक बार किया है तथा इस व्यक्ति ने बौद्धों के घहारे घट बोये उरद बोनेवासी 'वीहि बोनेवासी चड़े भर उरद' या वीहि बोये जाने माय्य वेत उरद का वपन आदि।<sup>१</sup> दो भाष्यों को एक साथ मिलाकर बोने की भी प्रथा थी। किसान लोग उरद और तिल मिलाकर बोते थे।<sup>२</sup> घेठ उरद बोने के लिए तैयार किया जाता था। उसमें माय्य के रूप में उरद बोये जाते थे किन्तु गौण रूप से तिल भी बो दिये जाते थे।<sup>३</sup> यदि उरद के साथ तिल भी हो गये तो अच्छा अन्नाभा कोई बिधेय हानि नहीं। तिल का बीज ही कितना पक्का है।

फलकों के नाम—वेतों के समान फसल के नाम भी उनके बोये या काटे जाने की ऋतु या काल के अनुसार निश्चित किये गये थे। तैत्तिरीयसंहिता (७-२ १० तथा ५ १-७) में फसलों का समय दिया हुआ है। जब गरमी में तथा धान वसन्त में बोये जाते थे और वर्ष में दो फसलें काटी जाती थीं। हेमन्त में बोये जाने के कारण जो को हेमन्तिक कहते थे।<sup>४</sup> शरद में पकने के कारण दासिक धारक कहलाते थे। ग्रीष्म में पकने के कारण मेहुँ भरहर आदि ग्रीष्म या ग्रीष्मक अन्न कहे जाते थे। परमी में बाप जानेवाले वीहि भी ग्रीष्म थे। वर्षा में मार्ग प्राम अन्नकट्ट रहते थे। शरद आते ही मदिनों का जल स्वच्छ हो जाता है। मार्गों का कर्म मूख जाता है। व्यापारि यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। रथ और गाड़ियाँ जोती जाने खपती हैं। मह मुहूर्त शरदपूर्णिमा को होता था। इस दिन बोड़े रथ में जात जाते थे इसीलिए शरदपूर्णिमा को आदवपुत्री भी कहते थे। आदवपुत्री को बोये जानेवाले उरद आदि अन्नों का नाम आदवपुत्र था।

सिंचाई—माय्य में कई स्वानों पर बंधों की सिंचाई का प्रयत्न या अप्रयत्न उल्लेख है। बोने के बाद वेतों को सींचने की आवश्यकता होती थी। सींचने तथा साँट डालने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आती थी। ऋग्वेद में साँट की कारिय और सिंचाई को सनित्रा कहा है।<sup>५</sup> साँट मोमय की होती थी। माय्य में कारीय तथा आरभ्य मोमय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वर्षा (७-१०१ ३ १०-१०५ १ आदि) के लिए तथा उर्वरता बढ़ाने के लिए अनेक स्वाना पर प्रार्थनाएँ मिलती हैं। बहुत-सी सिंचाई तो वर्षा से ही चली थी। वेती के लिए वर्षा पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था। मेघ कृपकों के देव थे। संस्कृत-साहित्य में उन्हें बार-बार देव

१ ४१४८, पृ० ३० तथा ८४११, पृ० ४८०।

२ ८४१३, पृ० ४८१।

३ ८२१ पृ० ३३१ तथा १४-४७, पृ० २८९।

४ तिलैः सह मायान् वपति। तिलैर्मिथीहृत्य मत्वा उप्यन्ते।—२ ३-१९, पृ० ४२१।

५ यदा तु जगु कन्वाभिम्यापवीजावाप उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रमुपासितं तामाभ्यवपि किञ्चिदुप्यते यदि अवप्यति।—२-३ १९, पृ० ४२१।

६ ४-३-४४।

७ ४-३-४३।

८ ४-३-४५।

९ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० १८२।

कहा है।<sup>१</sup> पानी के लिए वर्षा ही मुख्य आवाह भी इसलिये भाव्य में एक व्यक्ति कहता है कि यदि वर्ष बरस गया तो बान ही जायेगे। इस पर दूसरा कहता है कि इस वाक्य में सुधार की आवश्यकता है। यों कहो कि पानी बरसा तो समस्त बान ही गये। वर्ष हुए पानी की माप कितान अपने हिसाब करते थे। कपड़े भीगने भर को बरस गया, यों के दूर का मूँड भरने भर को बरसा<sup>२</sup> बूढ़े के बिल भरने योग्य बरसा या हंस के बूँड-भर बरसा<sup>३</sup> इस तरह के उल्लेख भाव्य और कासिका में मिलते हैं।

नदियों से भी सिंचाई करने की प्रथा भी हो सकता है, कुस्या नदियों से निकाली जाती हैं। तालाबों से तो निरासी ही जाती थी। कुछ नदियों के तट मैदी के योग्य होते थे। नदी तट पर थोड़ी सई फसल आज क समाज तक भी नदी से ही सीधी जाती होगी इसीलिये, भाव्य-कार ने शालि को वेविका-मूख कहा है।<sup>४</sup> वेविका (नदी) क तट पर बोये जाने से ही यह नाम पड़ा था।

सिंचाई का तीसरा साधन था छोटी-छोटी नहरें, जिन्हें कुस्या कहते थे। गहर गढ़े या कुएँ खोदकर, मासियाँ और नहरें बनाकर उनसे सिंचाई का काम सिमा जाता था। भाव्यकार ने कहा है कि शालि (बान) के लिए मासियाँ बनाई जाती हैं। उनसे पानी पिया जाता है, स्नान भिन्या जाता है और बान सींच जाते हैं। तालाबों को बाँधकर उनके पानी से सिंचाई की व्यवस्था साधन भी करता था। गिरनार के मुखसंग तडाग का निर्माण ठा मीर्मकास में ही हो गया था।

कुएँ सिंचाई के प्रमुख साधन थे। सबसे अधिक सिंचाई कुओं से होती थी। बागी और कुएँ प्रत्येक गाँव में होते ही थे। सिंचाई क किए छोटे-छोटे कुएँ भी आवश्यकतानुसार बना सिमे जाते थे। दानमु और कर्कमु का उल्लेख भाव्य में हुआ है। बिपाया क दोनों ओर के किमारों के कुओं का उल्लेख पाणिनि ने किया है। प्रत्येक गाँव में कुछ बाँग सिंचाई का काम करने में निपुण होने थे। ये लोग 'मूर्ति' पर काम करते रहे हीं। इनके कामों में कुस्याबा का प्रयोग और कूप-गहन भी था। भाव्य में एक एने गाँव की आर सकेत है जिस छोड़कर सेबक सींग बने बने हैं। कूप-गहन को लेकर कूप-गहन-ग्याय ही बन गया था। कुओं कीवत्ता हुआ आबमी यद्यपि मिट्टी और मूस से ढक जाता है, किन्तु कुएँ में पानी निकल जाने पर उस वह सुविधा प्राप्त हो जाती है

१ वेविकारमुप्यौ सम्पत्त्यनौ शालय इति। स उच्यते भैरं शोकः। सम्पत्ताः शालय इत्येवं ब्रूहि।—३३ १३३ पृ० ३२४।

२ वेसकनोरं मुप्यौ वेवः।—३-४ ३३ पृ० ३६०।

३ गोल्परं मुप्यौ वेवः।—४ ३ ३२ पृ० ३६०।

४ ४ ३ ३२ कासिका।

५ वही।

६ ७-३-१ पृ० १७१।

७. ८ १ ६५, पृ० ४५०।

कि बूल-मिट्टी का बोध तो दूर ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-सा कल्याण होता है।' इसी को कृषिज्ञानकल्याण कहते थे। इस कवन में अन्व 'बहुत-सा कल्याण' यह कवन सिर्वाई की ओर ही संकेत करता है। 'सामों के सींचे जाने का उत्प्रेक्ष भी भाष्य में मिलता है।' बावड़ियों से सिर्वाई का काम किया जाता होगा।' उदकोद्वन 'बारिजम्' और खण्डिकारियण में पठित पुन-करना से पठा चलता है कि भाष्य-काल में बीजों के सहारे रहूँट से पानी निकालकर सींचने की प्रथा थी। पुन-करना कुएँ में बीजों हुई रस्सी या बरत को कहते हैं। उदकोद्वन बासटी का दुसरा नाम है। गोबरम अष्टाजिन आदि का उपयोग पानी सींचने के लिए होना सम्भावित है। 'रस्सी कुएँ से ऊपर खींचता है' आदि कथन केवल रस्सी से पानी खींचने का बोध कराने हैं। दक्षिणापथ में ताकाओं की अधिकता थी। वहाँ बड़ ताकाओं को सरसी कहते थे।<sup>१</sup> य सरसियों आज क समान वष भी सिर्वाई का साधन थीं।

कमी-कमी बर्षों के बादल साय नहीं देते थे। कुएँ, बावड़ी तथा सब मूलने लगत थे। पर्वस्य महोबा होते हुए भी कल्याण-जल की बर्षा नहीं करते थे। भाष्य में एक स्थान पर केवल भिपत्त छोड़कर सैप चारों ओर बर्षा होने की बर्षा है।<sup>१</sup> ऐसी स्थिति में लोग बर्षा के लिए पूजा-पाठ करते थे। भाष्य में 'अप के बार' या साकस्य की 'सहिता' के पाठ से बाद बर्षा का हाता बतलाया गया है।

इस प्रकार सींचने से उपज कई गुनी बढ़ जाती है। भाष्य में कहा है कि घात का एक भी बीज फल-शुद्धकर अच्छी तरह पक गया तो कृषक का सम्पन्न बना देता है<sup>१</sup>।

१ शास्त्रार्थ कुस्यः प्रतीयन्ते, ताम्बाश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते शाकपयश्च भाष्यन्ते ।—

१ १ २२ पु० ५४ तथा १ १ २३ पु० २१२, कृषि जलन यद्यपि नृवा पात्सुनिरचावकीर्षो बभूवति सोऽप्यु सञ्जन्तानु तत एव तं गुणं समत्सादयति येन स बोधो निर्हस्यते भूयसा आभ्युदये योयो भवति ।—आ० १ पु० २४ ।

२ आ० १, पु० ३१ ।

३ आ० १ पु० १९ ।

४ १ ३ १२३ पु० ३१८ ।

५ ५ १-२, पु० २९४ ।

६ १ ३-२८, पु० ३५ ।

७ १ १ १९ पु० १९० ।

८ ४-३-२५, पु० २३१ ।

९ ५४ १३१ पु० ५११ ।

१० ८ १-५, पु० २७० ।

११ अपमनू प्रावर्षत ।—२ ३-८ का० तथा शाकस्यस्य संहितामनु प्रावर्षन् ।—

१ ४-८४ पु० २०० ।

१२ वही ।

१३ एको बीहिः तस्यन्नं मुनिर्न करोति ।—१ २-५८ पु० ५५८ ।



खेतों की रक्षा—खेतों की रक्षायामी कृषि का महत्त्वपूर्ण अंग है। भाष्य में कई स्थानों पर पशुओं द्वारा खेतों के लिये जाने की चर्चा है। घाछि-खेतों में पशु अधिक नहीं पाए जाते, किन्तु भी उरर और मेरू के लहसड़े तब उनके लिए विषय आकर्षक होते हैं। बैलगाड़ी या हल में जुते हुए बैल की पाश के खेत में मुँह मार देते हैं।<sup>१</sup> फसल को चार स्थानों से हानि का डर रहता था—बोर, पालतू पशु, बन्ध पशु और पत्नी। परिवारों से खेत को बचाने के लिए खेतों में चंचा (बास का आदमी) बड़े किये जाते थे जिनके डर से पत्नी सिमाट, मृग बाबि नहीं आते थे।<sup>२</sup> जन-साधारण में यह बिरबास का कि नुलों में पीब होता है और हरी बनस्पति की हानि पहुँचाना भीब-हिंसा है। यह चारबा भी पालतू पशुओं से खेतों की रक्षा में सहायक थी। उरर की मोर से भी कड़ाई बरती जाती थी और खेतों में पशु छाड़नेवालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। पशुपाक उरर के खेतों से गाय-बैलों को दूर रखता था क्योंकि वह जानता था कि यदि बायें खेत में गईं तो भाष्य का नाश होगा। इसमें अक्षर भी है और उररदण्ड का मय भी।<sup>३</sup> फिर भी मृग गीक गाय बाबि आरम्भक प्राणी तब खेत ला ही जाते थे। चंचा का मय भीरे-भीरे कम हो जाता था किन्तु कोई कोई उनके डर से भाष्य बोना बन्ध नहीं करता था। उनकी रक्षा के लिए रक्षकसे नियुक्त कर दिये जाते थे। भाष्य में यक्षपाल का नाम आया है।<sup>४</sup>

वैवी आपत्तियों से रक्षा क बमा सामन्य यह तो मामूल नहीं है, किन्तु अनुभव के आधार पर कृषक भाषी विपत्तियों का पूर्वानुमान अबदय कर लेते थे और समय रहते उनके लिए तैयारी कर लेते थे। उदाहरणार्थ वे जानते थे कि बादल उमर और कपिसवर्षा बिजली कौबी तो तेज वायु चमगी। यदि साक कौप हुई, ता तेज धूप निकलेगी। पीली कौप फसल के लिए हितकर होती है। किन्तु यदि कीचटी बिजली का रग संकेत हुआ तो दुमिल पड़ता है।<sup>५</sup>

काटना—पत्नी फसल की कटनी को सवन लाव या अभिसाव कहते थे और काटनेवाले को सावक। जब फसल बहुत पन जाती थी तब उसे अबदयलाय्य कहते थे। काटने के लिए एक तन में बहुत-से सोब जुग दिये जाते थे जिनसे सारा खेत एक ही दिन में कट जाय। काटने वाल कुछ तो भास या अघ मृति क रूप में लेकर काटते थे और कुछ बरसे में कटवाने के लिए

१ बहूतिहो गी।—१ १ ४७ पृ० २९१।

२ १ १-५२ पृ० ५५५।

३ मावेम्यो गा बारपति। पन्थस्ययं धवीमा गावस्तत्र गच्छति ध्रुवं तस्यविनायः।  
सायविनायोऽधर्मः राजवयं च।—१ ४ २७ पृ० १६४ तथा १ ४-५२, पृ० १८३।

४ न च मृगाः समीति यथा नोप्यस्ये।—१ १ ३९, पृ० २५३।

५ १ २-७८।

६ वाताय कपिला विद्यवातपापातिभोहिनी।

यिता धवति सरयाय दुमिभाय तिता अबेन्।—२-३-१३ पृ० ४९७।

७. १ १ ३ पृ ११७ तथा आ० २, बा० ७ तथा १ १-५० पृ० ३०५।

८ १ ३ ३६, पृ० ९०।

काटते थे।' मास्य में इन दोनों प्रकारों का कथन है। कुछ मास्य काटे जाते थे और कुछ बड़े से उखाड़े जाते थे।' जो काटे जाते थे।' कमी बालों काटकर काष्ठ बाद में भी काटे किये जाते थे।' उड़क-भूंग बड़े से उखाड़े जाते थे।' काटने का काम होंसिये से किया जाता था जिसे प्राण्य प्रवेश में शक्ति और उत्तरप्रवेश में शक्त कहते थे।' बस के समान शरकाष्ठ" आदि भी काटे जाते थे जो छपर बनाने के काम आते थे। शेत काटने से जो बालें या दाने भूमि पर गिर जाते थे उन्हें सिरु या कथ कहते थे। इन कर्मों को दीनने का नाम उम्बु था।' प्रवेशों के अपने लक्षण का ढंग भी मिला था। कोई शीघे काटता और सूत बाल्य को एक पक्ति में रखता था। कहीं एक-एक ब्यारी को काटने की प्रथा थी। मद्र जनपद के लोग छूत बाल्य को अव्यवस्थित फेंकते आते थे।' ईस बरखर या बस्य कहीं फसल को 'स्तम्बकृत' से काटते थे।' बहु गड़ास वा उसक वीसा बीमार होता था। कमी-कमी लोहे की छड़ें मारकर भी ये शेत गिरा दिव जाते थे। हो सकता है, यह कुस्हाड़ी बीसा कोई बीमार हो। इसे स्तम्बध्वा स्तम्बहेति या स्तम्बहनी कहते थे। काटा हुआ धान्य फूलों में बाँधकर एकत्र किया जाता था।' कटी हुई फसल बड़े-बड़े ढेरों में एकत्र कर दी जाती थी। एकत्र किये हुए धान्य की भी आदि की आकृतियाँ बना दी जाती थी जिन्हें धान्यधन कहते थे। इसी प्रकार, वृषादि भी काटकर पहचानने के लिए सिंहादि की आकृति में एकत्र कर दिने जाते थे जो वृष-सिंह कहलाते थे।"

बस्य—कटने के बाद सारी फसल एक स्थान में एकत्र की जाती थी। कटी फसल को चाल और उसके स्थान का सत्य कहते थे।' सत्य स्याग का अपभ्रंश रूप सतिहाम आज भी प्रचलित है। सत्य का अर्थ सत्य के लिए उपयोगी होता है। सत्तों के समूह को सस्या या सत्तनी कहते थे।' गाँव के सब या अधिकांश किसान अपनी सारी फसल एक ही बस्य में रखते थे। बस्य

१ १३-१६ पृ० १०।

२ २-३-७०, पृ० ४५७।

३ वही।

४ ३-२-१, पृ० २०४।

५ ४४-८८ का०।

६ अ० १ पृ० २१।

७ ३-२-१ पृ० २०४।

८ ४४ ३२ काशिका।

९ १४३ पृ० १३१।

१० उपसर्ग मद्रका कुम्भित।—६-१ १४० पृ० १९०।

११ ३-३-८३, पृ० ३१०।

१२ २-४ ३० पृ० ४७६।

१३ ६-२-७२ काशिका।

१४ ५ १-७।

१५ ४-२-५०, पृ० १८४।

स्वान प्रत्येक गीष का निश्चित रहता था। सारी फलस एकत्र रखने में सुरक्षा की सुविधा रहती थी। कुछ पान्यों का सबहनन होता था। सबहनन के लिए उष्णकल रहते थे।<sup>१</sup> शेष को बीसों द्वारा बाह्य किया जाता था। उत्तर भारत में आज भी इस क्रिया को गाहना ही कहते हैं। बाह्ये समय भाग्य को बार-बार पकटना होता है जिससे नीचे दबा हुआ भाग्य ऊपर आकर कट सके और छोटा-छोटा मुस बन सके। पकटने की यह क्रिया सक्की से बने एक विशेष साधन से की जाती है, जिसमें बंगुली की आकृति की तीन या पाँच लकड़ियाँ लगी रहती हैं। इसे इर्ष्युस (परि दो लकड़ियाँ हों) अंबुस या पंचामुल बाह कहते थे।<sup>२</sup>

निष्पाव—गाही हुई फलस सैकापी जाती थी। सैकाने की क्रिया निष्पाव कहलाती थी। निष्पाव वायु सबबा बड़े धूपों के सहारे होता था।<sup>३</sup> राशि छोटी हुई, तो धूपों से काम चल जाता था अन्यथा वायु में मूसा उड़ाया पड़ता था। बाह फलस का काम भी धूप-निष्पाव ही कहलाता था। फलस के बाद बानों एवं मस्य भाग्यों की राशि लगा दी जाती थी। कमी-कमी भाग्य-राशिओं का परिचालन सी-सी हजार खारी तक होता था।<sup>४</sup> तिल और तम्बुलों के डेर का भाग्य में उत्सव है।<sup>५</sup> तम्बुस तो उष्णकल में सबहनन द्वारा ही तैयार किये जाते होंगे। निष्पाव भी भूति पर आदमी नियुक्त करने मसबा बदल में करवा देने के आश्वासन पर कराया जाता था। देववत का भाग्य लोग सैसा रहे हैं, परम्पर एक बुरे का निष्पाव कर रहे हैं—ये कथन भाग्य में आये हैं। इसी प्रकार वस मे पड़े हुए औ मुस कटे हुए औ मुस नष्ट हुए तथा नष्ट होते हुए औ और मुस के लिए निपातन द्वारा निष्पाव घस्य भाग्य में आये हैं।<sup>६</sup> संहृतयव संक्षिपमाणयव संहृतमुस और संक्षिपमाणयव का भी भाग्यमें उल्लेख है।<sup>७</sup> ये समस्त मस्य कल की क्रमिक प्रक्रियाओं के सूचक हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि मस्य की राशि एकत्र कर लेने के बाद मूसा एकत्र किया जाता था। 'जने बुगम् जग स्थिति की ओर इंगित करता है जिसमें मूसा उल्लिखित में ही पड़ा रह गया है।

कमी-कमी साधनहीन निर्धन के लिए यह कठिन हो जाता था कि वह सारी फलस के कट कर माटे जाने और मैसाने तक प्रतीक्षा करे। पर म मस्य की कमी उसे बीच-बीच में गेठ से बोझ-पौड़ा भाग्य काट लेने को बाध्य करती थी। वह बोझ-बहुत अनाज काटकर घर से जाता और

१ २-१ ३६ पृ० २८८।

२ ५४ ११४ वासिष्ठा।

३ ३ ३ २० पृ० २९०।

४ ३ ३-२० पृ० २९८, २९९।

५ ५ १-५८ पृ० ३२७।

६ ३ ३-२० पृ० ३८९।

७ देववतारय भाग्य व्यक्तियुक्ते।—१ ३ १४ पृ० ५७।

८ १ ३ १६ पृ० ६०।

९ ३ १ १७ पृ० २७५।

१० बरी।

वहाँ पीट-पाटकर बनाम निकाल केना और काच, पुत्रास आदि अल्प मात्र देता था।<sup>१</sup> यहाँ की चाँद के काचों के मुख्य अंग बृश कहलाते थे। चाँद और पसास के मूत्र को तुप कहते थे और उसके पुत्रास को पसास।

इस प्रकार समस्त प्रक्रियाएँ ठीक-ठीक हो गईं तो वेत में मापी हुई एक कुराली भी तैकड़ों ज़ारी बग्न दे जाती थी।<sup>१</sup>

उपज—भाष्यकार ने दो प्रकार की फसलों की बर्षा की है—कृष्टपथ्य और अकृष्ट पथ्य। उन्होंने कहा है कि जुते वेत में स्वयं ही अन्न पकता है अर्थात् बिना बोये ही कुछ धान्य उग जाते हैं, वे कृष्टपथ्य कहलाते हैं। बिना जुटी भूमि पर अपने-आप उगने और पकनेवाले अन्न अकृष्टपथ्य कहलाते हैं। जैसे नीवार, कुन्ती, चाँद आदि। जिस अन्न के पैदा होने की सम्भावना जुटी भूमि में हो अर्थात् जो बोकर उगाया जा सकता हो उसे कृष्टपथ्य कहते हैं।<sup>१</sup> इनमें पाषाण शकें तन्तुवृक्ष (इन्डुजी) तैलवृक्ष मसाले और मृगवृक्ष (चम्पन भी) फल सिन्धु और साक्षा—ये उपजें प्रमुख थीं।

बीहि—यह यहाँ की भूमि का अन्न था। बी ब्रह्मण्ये का विचार है कि बीहि चीन में २००० बी० सी० में पैदा किया जाता था। लिमाल (Lyal) के मत से आशुत प्राचीन काल से भारत में बीहि की खेती होती रही है। अन्य देशों में इसके नाम भारतीय नाम के आधार पर रहे मये थे। उदाहरणार्थ फारसी में बिरिन्जी अरबी में अरब पीक में ओर्पाज। वेतों की उपज में बीहि का स्थान प्रमुख था। बीहि छोटा अन्न है, जो बग्यात का अन्न होने-होते तक पक जाता था। इसके लिए बाहुपी पानी की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी। बर्षा का ही पानी बीहि के लिए पर्याप्त होता है। बीहि की उपज भी प्रति बीघे पर्याप्त होती थी। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि यदि बीहि ठीक प्रकार पक नय ता सुविध कर देता है। इसीलिए, बीहि बनसाधारण का अन्न था। पर में बीहि का होना सम्पन्नता का परिचायक था। बीहिमान् और बहुबीहि सम्पन्नता का तथा अबीहि निर्पन्नता का चिह्न था। बीहि के ही आरुत सामिक कार्यों में व्यवहृत होते थे। बीहि के दो भेद हैं। एक में तुप या मूली को अल्प कर देन के बाद सात बावल निकरता है और दूसरे में सफ़र। आम भी ये भेद उत्तर भारत में पाये जाते हैं। बीहि का ही एक भेद पठिक होता है। यह साठ दिन में पक जाता है।<sup>१</sup> इस प्रकार यह नाम शार्क है। यों मृग भी साठ दिन में पक जाती है, पर उसे पठिक नहीं कहते।<sup>१</sup> आस्तव में पठिक चाँदि पहले विधेयप

१ अथर्व्य कडिवरमार्गी द्यामिकलापं स्तूर्णं सपकासमाह्वरति नाम्नीपच्यवान्। त माववादेप ताववावाय तुपपलासाम्युत्तुमति।—४ १-२२, पृ० ११५।

२ एकेन कुहालकेन ज़ारीतह्वान्।—२-१ ६९, पृ० ३२५।

३ कृष्टे बध्यन्ते स्वयमेवकृष्टपथ्यान्व मे अकृष्टपथ्याश्च ये। यो हि कृष्टे बस्तप्य-कृष्टपाथ्य-स भवति।—३ १ ११४, पृ० १८९।

४ पठिकः पठिकानेन बध्यते।—५-१-९०।

५. वही तथा पठिके संज्ञापूर्व्य कर्तव्यम्। मृग्या अपि हि पठिकानेन पथ्यन्ते तत्र मा-मृत्।—५ १-९० पृ० ३४०।

के रूप में प्रयुक्त होता था। बाद में यह संज्ञा बन गया। मृग्य का परिचय पण्डित के बाद होने के कारण वान के लिए यह शब्द पहले ही रूढ़ हो गया। भाष्य में व्रीहि को स्तम्भकरि कहा है, क्योंकि उनमें बड़ी-बड़ी बालों के गुच्छे (मंजरी) झटकते हैं।<sup>१</sup> व्रीहि की ही एक जाति महाव्रीहि होती थी।<sup>२</sup> काश्मिरकार ने नीबार और हायन को व्रीहि का ही भेद माना है।<sup>३</sup> बरु को छोड़कर बढ़ने के कारण व्रीहि को हायन कहते थे। व्रीह्य में बोये जाने के कारण व्रीहि व्रीह्य मत्त कहलाता था।<sup>४</sup> व्रीहि पहले भारत के आग्नेय भाग में ही होता था इसीलिए ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है। वैजितीय संहिता में अथर्व्य सफेद और काले भावस की तुलना की है।

घासि—घासि बड़ी जाति का घान होता है। इसे रोपा जाता है। भावस में इसकी पोष रुपाई जाती है और अवहन में यह काना जाता है। इसीलिए इन्हें धारद कहते थे।<sup>५</sup> पर्याप्त वर्षा न होने पर घासि को सींचने की आवश्यकता होती थी। इसीलिए, घासि नीची भूमि पर, तालाब या नदी के किनारे किनारे पर, जहाँ पानी भर रहा रहता हो बोये जाते थे। इन्हीं के लिए भाष्यकार ने तुम्पा बनाने की बात कही है। घासि की जड़ें मिट्टी में घड़ी जाती थी। पुस्तकालिका में इसीलिए इन्हें ग्यशोब-भूत सर्वात् नीचे की ओर जड़ें फैलानेवाले कहा है। घासि में काल छिन्नकपाला की एक विधि जाति होती थी। किसी-किसी भाग में साठ घासि की ही उपज विद्येय होती थी। घासि की ओर भी बहुत-सी किस्में थी। मगध में विद्येय प्रकार के घासि उत्पन्न होते थे। एक स्थान पर भाष्य में कहा है 'इमं वे ही घासि का रहे है वा मगध में खाते थे।'<sup>६</sup> घासि का मात मांस के साथ भी खाया जाता था।<sup>७</sup> केवल व्रत-काल में घासि-मांस-योगन असह्य बर्जित था। मृग के साथ जाने की प्रथा ही सामान्य थी।<sup>८</sup> सम्भव है काल प्रायस की ही घासि कहते हों। डॉ० बा० ए० अग्रवाल के अनुसार 'घासिकानि मूसादि का' पालक इनी घासि से बना हुआ विद्येय है। घासिक-मूसा जाति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। मूब मरी हुई बालों के घासि या घान्य को सस्यक कहते थे।<sup>९</sup>

१ स्तम्भकरि व्रीहि:—३२ २४ पृ० २१४।

२ १-२ ३८।

३ हायना नाम व्रीह्यः जहृत्पुत्रकमिति इत्यादि—३-१ १४८ काशिका।

४ ४ ३ ४३ काशिका।

५ ३ ३-४८ काशिका।

६ ४ ३ ४३ का०।

७ ४-३ ४३।

८ ७-३ १ पृ० १७०।

९ २ १ १९ पृ० ३२३।

१० भा० २ पृ० ४४।

११ भा० १ पृ० १९।

१२ ४ ३ १५५ पृ० २६५।

शास्त्रि को कूटकर तण्डुल तैयार किये जाते थे। कूटने की यह क्रिया ब्रह्महृत्न कहलाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि शास्त्रि कार्यों में मरे हों, तो भी उनके शान के लिए पहले ब्रह्महृत्न की आवश्यकता होती है।<sup>१</sup> इससे यह भी पता चलता है कि सम्पन्न सत्य का मरण के लिए कृपक कोटियाँ और सतिमाँ बनाने प। कूटकर इकट्ठा किया हुआ चावल सम्पन्न-निषाम कहलाता था।<sup>२</sup> निषाम बनाने के पहले मूष-निषाव द्वारा तुष अलग कर दिये जात थे।<sup>३</sup> म तुष भाग बलान के काम आत थे। तुष की अग्नि बहुत ठेक होती है और टिकती भी है। जाड़े के दिनों म अमान अगाने में इसका उत्तम उपयोग होता है। तुष की अग्नि को मुर्मुर् कहत थ।

तण्डुल की राशि को श्वितक कहते थे। भाष्य में कहा है कि 'एक चावल मूष मिटाने म असमय होता है' किन्तु उनका समुदाय श्वितक समर्थ होता है।<sup>४</sup> बड़ा शान्य पति का शास्कार शर्मन करते हुए एक स्थान पर उसकी तुलना शिन्ध्य स की है। इसम शिन्ध्य की कम ऊँचाई और श्वितक के महत्त्व दोनों की और सम्म है।<sup>५</sup>

यह—यह अर्थों में शास्त्रि के बाद ही आता है। महत्त्व एव श्याप की दृष्टि से भी उसका स्थान द्वितीय है। भाष्य ने सम्भवतः महत्त्व और उपज क क्षय की श्यापकता क अनुसार ही शीहि यक माप मुद्रग तिक म पाँच शान्य गिमांम है। इनमें पूष-पूषं अन्न उत्तर की शपशा अधिक महत्त्व के हैं। शास्त्रि शीहि में ही समाविष्ट है। इनमें यक रबी की और शीहि शरीक की फसल है। यक यमादि म आहुति के काम आते थे। इत में यवागू शान को मषा की। यवागू जी स तैयार की जाती थी। जो क सगू बनत थ जो मोरन के महत्त्वपूर्ण घटक थ। सम्भव है, चावल क भी मलू बनाये जाते हों। इसीलिए अनुपबमत्क देम सम्मान की दृष्टि से बला जाता था। अमक श्वित्यता का शोषक था।<sup>६</sup> मद्र और उशीनर जतपनों म यक की उपज तुष होती थी।<sup>७</sup> भाष्यकार ने कहा है कि मद्र क समान बी है, शर्पा है तो दोनों जगह हैं और नहीं है तो दोनों जगह नहीं है। इसक कबल तात्कालिक उपज क विषय म कोई निश्चय बात नहीं मालूम होती। ही यष दोनों स्थानों में कुछ शोय आत म यह मकत अवश्य मिळता है।

१ अक्षय्यं जस्यपि कोष्ठमत्रैश्वर्यं शास्त्रिभ्रह्महृत्नप्रतीतिं प्रतीक्याणि।—३-३-२३३, पृ० ३२५।

२ ३-३-२० पृ० २९९।  
 ३ ३-३-२० पृ० २९९।  
 ४ ८-२-७२, पृ० ३८०।  
 ५ १-२ ४५, पृ० ५३५।  
 ६ शिन्ध्यो श्वितकम्।—१ ४-२४, पृ० १६२।  
 ७ तण्डुलया शान्यः।—५ १-२, पृ० २९५।  
 ८ ४-१ १, पृ० १३।  
 ९ ४ १-२६, पृ० ४७।  
 १० उशीनरपत्रेषु यषः। सति न सतीति।—४-१-९०, पृ० ११०।

वराह जी को यवानी कहते थे।<sup>१</sup> बीच और मूब भी का घेत लूब जाते थे।<sup>२</sup> बैलों को ही यह फलस होनी भी जाती थी। यवक जी का एक भव था। सम्भवतः यह आकार में छोटा हुंसा था।<sup>३</sup> इसी को आज कई कहते हैं। जी का मुस तैमार होता था, जिसके अस्थिहान में पड़े रहने की चर्चा पीछे हो चुकी है। जी रबी की अण्य सब फलस भी खाने के बाद अन्त में हेमन्त में बोये जाते थे।<sup>४</sup> रबी का बीना सरलपुणिमा से प्रारम्भ हो जाता था। यव का बाप अन्त में होता था। वीष्म में जी पकते थे।<sup>५</sup> डॉ० वा० डा० अग्रवाल के मत से जी भावभी पुणिमा को बोय जाते थे। आजकल और सिधिर में बाये तथा अन्त के प्रारम्भ में काने जाते हैं। इस दृष्टि से उक्त समय में कमलग बी मास का अन्तर पड़ता है।

भाष्य में अयव और सुयव शब्द आये हैं जो सम्भवतः उस प्रदेशों के लिए हैं, जिनमें यव नहीं होता था या पृथ होजा था।<sup>६</sup> यव के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता होती है, इस बात से भाष्यकार परिचित थे। गण्ट हुए यव के लिए 'पुनयव' शब्द का व्यवहार होता था।<sup>७</sup>

जी का पुरानी फारसी में यजा (Yao) कहते थे। यव बिरब की प्राचीनतम उपादा में से है। अश्वेह में भी इसका उल्लेख मिलता है। कुट विद्वान् यव को सामान्य अन्न मानते हैं। जी यहाँ आदि का भी बावक था।

योमुम—योमुम का उल्लेख भाष्य में प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। अन्त यवपाठ में यह शब्द मिलता है। भीनाउपलक्षण अण्योपाध्याय (एकनामिक लाइफ एण्ड प्रोसेस इन एनसिपेक्ट इण्डिया पृ० ५१) यहाँ का इतिहास वैदिक काल तक पुराना मानत हैं। डे क्लोले (De Clodolle) प्रागैतिहासिक काल के बिरब के सभी सम्यता-केन्द्रों में यहाँ की उपज स्वीकार करते हैं। हिजर (Hicer) को स्विटजरलैण्ड के शीस-बासिया के उण्डहूर्तों में यहाँ मिले थे। १४०० ई० पूर्व के मिरी पिपामिडों में भी यहाँ मिले थे। मापावैज्ञानिक लोग के आधार पर भी बिरब के सभी प्राचीन राष्ट्रों में यहाँ का अस्तित्व सिद्ध होता है। भारत में यहाँ का प्रचार, सम्भवतः आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। फिर यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन सभ्यता-ग्रन्थों में यहाँ का उल्लेख बहुत कम मिलता है। मैथिली (१-२-८) तथा राजसूनेयी (१८ १२ १९ २२) ग्रन्थों में योमुम शब्द प्रायः बहुवचन में आया है और वहाँ इसे धानि और मक से पूबक माना है। छठपय (५-२ १ ६) ब्राह्मण में एक वचन में भी योमुम का प्रयोग हुआ है।

१ ४ १ ४९, पृ० ६३ ।

२ १ १ ३९, पृ० २५३ ।

३ ५-२ ३ ।

४ ४ ३ ४८, पृ० २३५ ।

५ ४ ३ ४४ काशिका ।

६ ४ ३ ४३ काशिका ।

७ इण्डिया ऐंड बीन इ पाणिनि पृ० २०७ ।

८ ५ ४-५० पृ० ४९५ तथा ६-३ १०८, पृ० २०८ ।

९ ८-४ ४४, पृ० ३६२

अणु—अणु का उल्लेख पालिनि मे (५ २-४) किया है, जिसमें प्यार और बाबरा दोनों सम्मिलित हैं? इसके लिए ब्रीहि की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता होती थी। माप्यकार ने बल्य से अणु की चर्चा नहीं की है, यद्यपि उसकी कृषि आदिम काल से होती आई है। अणु के अनेक भेद हैं, जिनमें कुछ क विषय में यह निश्चित नहीं है कि उनका मूल स्थान भारत ही है।

माप्य—प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार की दालें भारत में उत्पन्न की जा रही हैं, यद्यपि यह बहुपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनका मूल स्थान भारत ही था। इतना तो निर्विवाद है कि षट्मेघ को छोड़कर शेष संहिताओं के समय इनकी पैदावार होती थी। षट्गितर संहिताओं में मुद्ग, माप्य मसूर और कुसुम्ब का उल्लेख मिलता है।

भी के बाद माप्य का स्थान था।<sup>१</sup> माप्य धारवी पूर्वमा वा उसके भास-भास बोमे जाते थे।<sup>२</sup> उन्हें तिर्षों के साथ मिछाकर भी बोते थे। पशुओं से उनकी रसवाली करली पड़ती थी जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। राजमाप्य भी माप्य का एक भेद था। इसके लिए विशेष उर्वर क्षेत्र की आवश्यकता होती थी।<sup>३</sup> वे हर क्षेत्र में नहीं पनपते थे। माप्यों का साथ नहीं उमूलन होता था। माप्य को विज्ञान 'घर्षबहु' भी कहते थे क्योंकि वे धारीर में बामु उत्पन्न करते हैं।<sup>४</sup>

मूँग—मुद्ग मूँग का नाम था। मुद्ग भी माप्य के समान सूय के काम आते थे। इनके बोने और काटने का समय माप्य से कुछ पहले होता है, इसीलिए मुद्ग को धारवक कहा है। ये दोनों मान्य आबकस क्षरीक की फसल के साथ भाव्य के प्रारम्भ में बो दिये जाते हैं और कार्तिक में काट लिये जाते हैं। मुद्ग जैसा पहले कहा जा चुका है, साठ दिन में पक आते थे। घालि के मुद्ग के साथ श्राये जान का उल्लेख भी पीछे हो चुका है। मुद्ग भी मूल्य बाल्य है क्योंकि यह भी पड़ से उखाड़ा जाता था काटा नहीं जाता था।<sup>५</sup>

तिल—भारत की अपनी उपज है। अति प्राचीन काल से इसकी खेती की जाती रही है। अथर्ववेद (२-८ ३ १८ ३ १९) में बार-बार तिल का उल्लेख है। अन्य संहिताओं में भी तिल की चर्चा है। ऐतिहासिक काल क प्रारम्भ से इसका निर्यात होता रहा है।

तिस का स्थान उपर्युक्त साधारणों के बाद सर्वाधिक महत्त्व का था। तिस के दो भेद थे—हृष्य और श्वेत।<sup>६</sup> कुछ क्षेत्र वाले तिसों के लिए ही विशेष उपयुक्त होते हैं।<sup>७</sup> किसी-किसी

१ वाट एकानामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया पृ० १०३९ ।

२ ४-१ ४८, पृ० ९० ।

३ ४-३-४५ काशिका ।

४ २-३ १९३ पृ० ४२१ ।

५ ५ १-२० पृ० ३१२ ।

६ ३-२ २८, पृ० २१५ ।

७ ४ ३-२७ ।

८ ४ ४-८८ काशिका ।

९ २ १-५७ पृ० ३१३ ।

१० ५ १ २०, पृ० ३१२ ।



तिस के देह मे फली नहीं लगाती और सर्मा भी तो उसमें दाने नहीं पड़ते। बागों के स्थान पर काका मरु रहता है। ऐसे तिसों को तिसपिज या तिसपेज कहते थे। वैदिक भाषा में ऐसे तिसों के लिए तिलपिज शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>१</sup> य शब्द ऐसे तिसों के लिए भी प्रयुक्त होते थे जिनमें तस नहीं निकसता क्योंकि वे भीतर से सूने होते हैं। उच्छ्रित और मृति परिमाणविशेष के द्योतक थे। भाष्य में एक तिसोच्छ्रित तथा दो मृतियो का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> उच्छ्रित शब्द सामान्यतया राशि के लिए प्रयुक्त हुआ है। तिस से तस निकाला जाता था।<sup>३</sup> तस वेरनेवाले कोस्तु को तिसनीदनी कहते थे। तस निकालने के बाद बची हुई धाँसी या डेप को तिसकूट कहते थे।<sup>४</sup> तस वेरनेवाले तैसी की सजा तिसन्तुप थी।<sup>५</sup> प्रारम्भ में तिस के ही बिकार को तस कहते थे। बाद में उपचारार्थ सर्पप इगुवी आदि के बिकार को भी तस कहने लगे। धीरे-धीरे तस प्रत्यय मान लिया गया और तिस-तस प्रयोग भी प्रचलित हो गया। भाष्यकार ने एक स्थान पर तिसों को नाकगुह कहा है। कौओं से सँगासकर न रत्ता ती खेत में वे ही उसे समाप्त कर हैं। वास्तव में अन्य तसों के लिए तस शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है।<sup>६</sup> भाष्यकार ने कहा है कि तस शब्द प्रत्यय है बिकार अर्थ में प्रसिद्ध तस शब्द उससे बिसकृत्क भिन्न है। इसलिए 'तिस-तस' प्रयोग भी ठीक है।

सर्पप—सर्पप की लेटी मणिना-कास के अन्त में होने लगी थी। इसका सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य (३ १४ ३) पञ्चविदा ब्राह्मण (५ २) तथा शान्तायन धीत्यू० (४ १५-८) में मिलता है। सर्पप मरुतों का नाम है। इससे बंग लहटा राई आदि भेद आज भी प्रचलित हैं। भाष्यकार छोटी और बड़ी दो प्रकार की मरुतों में प्रचलित थे।<sup>७</sup> पीत या नीर सर्पप का भी उन्हें ज्ञान था।

मधुक—इसके भीषण्य पुत्रों की बर्षा मृधुत करक तथा अन्य प्रत्नों में मिलती है। इससे तैयार की हुई मुरा को मध कहते थे।

गर्मुत—गर्मुत मरुत का एक भेद था। जा बिना बोये ही उत्पन्न हो जाता था। तैत्तिरीय (२ ४ ४) तथा मैत्रायणीय (२ २ ४) महित्नामो में गर्मत और गर्मुत का उल्लेख मिलता है। काठक-मणिना में भी गर्मुत में बनाई हुई वस्तु को गर्मुत कहा है। भाष्यकार ने सारप मधु

१ ४ २ ३६, पु० १७७ ।

२ ३ ३ १ पु० २९८ ।

३ १ ३ ११ पु० ४६ ।

४ ३-३ १२६ ।

५ ५-२-२९ ।

६ ३ २-२८ ।

७ ५ २ २९ पु० ३७६ ।

८ ३-२-५ पु० ३१ ।

९. तैत्तिरीयस्य प्रत्ययो वस्तुतः प्रकृत्यन्तरे तैत्तिरीयो बिकारे वस्ति। एवं च कृत्वा निष्कर्तव्यमिति सिद्धं भवति।—५ २ २९ पु० ३७६ ।

१० ५ ३-५५, पु० ४४५ ।

के साथ सामुद्र और पीतल का उल्लेख किया है, जिसमें प्रतीत होता है कि य तीनों मनुष्य भी थे।

उमा—उमा या अल्मी की गणना भी तैल-बीजों के अन्तर्गत है। उमा के तेल का व्यवहार पतञ्जलि के समय में किन्ता और किम प्रकार होता था कहा नहीं जा सकता। माप्य में उमा का उल्लेख है, किन्तु उमा-तैल का नहीं। फिर भी उमा का तेल निकाला जाता था यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है क्योंकि उमा-कूट (अल्मी की सती) शब्द माप्य में अत्यन्त हुआ है।

अस्य उपर्ये—इसके अतिरिक्त अक्षावू' (लौकी) कक्ष्यू (जमनी बेर) उपयोग में आते थे। एक स्थान पर अक्षावूक' शब्द भी आया है। माप्य में अक्षावू' तिम उमा और भगा क छार निकल हुए आम के लिए इन शब्दों के भागे कक्ष्यू प्रत्यय का विधान मिलता है, जिसमें इन चारों के छार निकाल जाने और उसमें बर्फी हुई बेर का उपयोग और व्यवहार का ज्ञान होना है। इन चारों की बेर का स्वतंत्र महत्त्व एसा है। साथ ही संघा का स्वतंत्र वास्तिक से उल्लेख भी इस बात का दायक है कि अक्षावूक घट्ट का प्रचलन बाद में ही प्रारम्भ हुआ था।

मूत्र ४ २ १३६ के माप्य में विस्वाग्निष्य क अन्तर्गत गवेबुका मय्य के पाठ पर भी विचार किया गया है। गवेबुका जने मा मय्य (Cox barbata) को कहते थे। इसी विस्वाग्निष्य में उपर्युक्त धान्यों के अतिरिक्त मयूर और मायूम का उल्लेख है।

भक्षु—भक्षु के अतिरिक्त दृष्टि की उपर्ये में मल का महत्त्व बहुत अधिक था। सन को माप्य में मंगा कहा है और उसे धान्यों में परिगणित किया है। माप्य में इस बात पर विचार किया गया है कि उमा और भगा का धान्य माना जाय या नहीं। तीर्तरीयसहिता (अध्याय ४-७-४) के बीह्वरच में आदि प्रकरण में वा १२ धान्य गिनाये गये हैं उनमें उमा और भगा सम्मिलित नहीं हैं। पतञ्जलि में इस विषय पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि भक्षु ही अन्वय इनकी गणना धान्यों में म की गई हो फिर भी ये धान्य हैं। धान्य धान्य धिनि धान्य में मंगा है, जिसका अर्थ है प्रसन्न करना। और धान्यों के समान उमा और भगा भी कृषकों को आनन्दित करते हैं। इसलिए इन्हें भी धान्य मानना चाहिए अथवा सन को सम्मिलित कर सबह धान्य होने हैं। इस सबह धान्यों में पीच मुख्य छह उपकारक या सहायक तीन तुल्यधान्य और तीन अर्पक हैं। धान्य में पीच और अर्पक इन दोनों प्रकार के धान्यों में इन सब का समावेश हो जाता है। उमा और

१ ४३-११६, पृ० २५० ।

२ ५२-२९ पृ० ३७५ ।

३ ४१-६६ पृ० ७६ तथा ६६-६१ पृ० ३३९ ।

४ इति ।

५ ५-२-२९, पृ० ३७५ ।

६ ४३-१३६, पृ० २६१ ।

७. विभोक्तैर्धान्यम्। एते चापि विभूतः। अथवा अथतत्त इत्यादि धान्यानि—

५-२-४, पृ० ३६९ ।

भंगा अर्धकर बाध्य हैं। माप्यकार ने उमाकट के साथ ही भंगकट की भी खर्चा की है। उन्होंने उन की फली का भी नामास्तस्य किया है। उन रस्सी (रज्जु) और कपड़ा बनाने के काम आता था।

कार्पास—यह भारत की अपनी मिट्टी का उपज है और यहीं से रोप बिस्व में फैली है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बिस्व के सभी पुरातन राष्ट्रों ने कपास का नाम भारत से ही उधार लिया है। संस्कृत कार्पास से ही हिन्दू का कपास (Kapas) बना। बुक ऑफ् ईस्वर (Cathar) में इस वस्त्र का प्रयोग हरित सूटी के लिए हुआ है। ग्रीक और लैटिन में इस वस्त्र का रूप कार्पासिओ (carpasos) या कार्बासिओ (carbasos) हो गया। ग्रीक में सबसे पहले कपास का उल्लेख थेसिपस (Kicelas) ने तथा बाद में थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) और हेरोडोटस (Herodotus) ने किया है। उन्होंने इसे वुडोर्षा (Wool of tree) कहा है जिससे उनकी एत्रिययक अनभिज्ञता प्रकट होती है। बिस्व में अत्यन्त कहीं इसकी पैदाईश का प्रमाण नहीं मिलता। चीन में सर्वप्रथम १३वीं ईसवी शताब्दी में कपास बोई गई थी। मिश्र में भी कपास की पैदाईश नहीं होती थी। लैसन ने (Lassen) एक बार ममी (Mummy) खनने के कार्पासीय होने की कल्पना की थी। किन्तु, इस विषय के विशेषज्ञ थीपामसन (Thompson) ने उनका खण्डन कर दिया।<sup>१</sup>

भारत में कार्पास का सर्वप्रथम उल्लेख आरबशासन घोसमून (९४१७) में मिलता है। वैदिक साहित्य में इस वस्त्र का अनुस्तम्भ इस बात का बोधक है कि उस समय तक अर्ध भोग दक्षिण या पूर्व कार्पासात्पादक क्षेत्र तक नहीं पहुँच पाये थे।

माप्यकार ने अनेक बार कार्पास का उल्लेख किया है। उन्होंने कार्पास की मृत्ता की भी खर्चा की है।<sup>२</sup>

कपास की उपज पर्याप्त मात्रा में होती थी। माप्य में न केवल कार्पास का अपितु बरत बनाने तक की सारी प्रक्रियाओं का उल्लेख है। कपास पीजनी या झोटी चाहिए, यह वे जानते थे।<sup>३</sup> कपास की मृत्ता को उन्होंने जपमान भी बनाया है। 'हल्की होने के कारण वह तुम्हा पर बहुत खड़ी है। लोहे के बाट की तुम्हा में तुम्हा पर डगकी ऊँचाई और बिस्तार कहीं अधिक होने है यह बात माप्यकार ने बतसाई है।'<sup>४</sup>

इसु—इसु की उपज भी काफी होती थी। इसु की प्रचुरता के स्थान<sup>५</sup> इसु होने की

१ जनक मोक्ष रचित ऐंगिमादिक तोताखरी ।—१८९८, पृ० २५० पृ० ।

२ ४१-५५, पृ० ७० ।

३ वही तथा २४-२ कर्णिक ।

४ ७-२ ४४ पृ० १३१ ।

५ इह समाने अर्थात् परिचादे आन्यतुल्यं अस्ति जोह्यस्यान्यकार्पासात्पात् ।—

५१११५, पृ० १५४ ।

६ ४-२-७५, पृ० १९४ ।

माकी<sup>१</sup> और इलु-साकी<sup>२</sup> (इलु का घेत) का उल्लेख भाष्य में मिलता है। इनके अतिरिक्त गुड़ की खर्चा बार-बार आई है।<sup>३</sup> गुड़धाना जो इसका बहुत प्रिय और प्रशंसित भोजन मान पड़ता है, बिना गुड़ के बन ही नहीं सकता था। गुड़ खाने की स्वतन्त्र खर्चा भी है। धर्कण का भी प्रचार था जो ईल की छेती ब्यापक परिणाम में किये जाने का प्रमाण है।

मूलक—मूसी<sup>४</sup> गाजर<sup>५</sup> आदि पदार्थ भी साध के चटक में थे। इनकी उपज का भी पता भाष्य से चलता है।

कुस्तुम्बुह—कुस्तुम्बुह शमिसे को कहते थे। इन सबकी गणना शाक के अन्तर्गत है। भाष्य में शाकिन् और पलासिन् का उल्लेख हुआ है। ये बड़े शाक या बड़े पत्ताक के बीजक थे।

हरिद्रा—हरिद्रा की छेती भारत में बहुत प्राचीन काल से होती आई है।<sup>६</sup> और यहीं से यह अन्य देशों में फैली है। संस्कृत से फारसी में जाकर यह अरबई बन गई।

द्राक्षा—द्राक्षा ईसा-पूर्व सातवीं शती में भी उत्पन्न की जाती थी। कपिला की द्राक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध थी। वाट (Walt) के अनुसार भारत के पाँच मधुर पीपों में इलु और द्राक्षा मुख्य थे। इलु का उल्लेख अथर्ववेद (१ ३५-५) तक में मिलता है। इलु से चर्करा बनाने की प्रथा बहुत पुरानी है। अरबी का शकर, लैटिन का सक्करम् (Saccharum) फ्रेंच का सुके (Sucre) और इंग्लिश का सुगर (Sugar) चर्करा से ही बना है।

शय—शय का उपयोग रस्सी बनाने के लिए होता था। यह भी भारत की अपनी उपज थी। अथर्ववेद (२ ५-५) में इसे शारप्य कहा है। शतपथ-ब्राह्मण (३-२-१-२) तथा अन्य सूत्र-ग्रन्थों में शय का उल्लेख है। शय और उमा (श्रीम) वैदिक काल से ही हृदि की उपज में सम्मिलित थे।<sup>७</sup> वाट (Walt) ने पृ० ७२-२१ पर इसका उल्लेख किया है। सुमुत्संहिता में भी उमा या अलसी के तेल की मीथय उपभोगिता का प्रतिपादन है।

पिप्पली—भाष्य में पिप्पली और अर्धपिप्पली शब्द आये हैं।<sup>८</sup> लैटिन में पीक पेपेरी (peperi) और लैटिन पिपेर (piper) को संस्कृत पिप्पली का ही अपभ्रंश म्य माना है।

- १ ८५८, पृ० ४७९।
- २ ५२-२९, पृ० ३७६।
- ३ १५५०, पृ० १७४।
- ४ ५-२ १०५, पृ० ४१६।
- ५ ४ १५८, पृ० ३१।
- ६ ४ ३-१६६, पृ० २७२।
- ७ ६-१ १५३।
- ८ ४-२-१७, पृ० १६६।
- ९ ५ २-१०९, पृ० ४१४।
- १० ५-२ ४, पृ० ३६९।
- ११ १ २-४६, पृ० ५२४ तथा सुपिप्पला जोषबीलहृदि ।—६ १-८६, पृ० १३६।

बहुत प्राचीन काल से दक्षिण भारत के पश्चिमी किनारे पर इसकी खेती की जाती रही है।<sup>१</sup> मिश्रियों तथा हिब्रू लोगों को विपसी का ज्ञान नहीं था। पापुवात्य लोगों को इबिड व्यापारियों द्वारा इसका पता चला। यह भारत से निर्यात होनेवाली महत्वपूर्ण वस्तु थी जिससे भारत को बड़ा आर्थिक लाभ होता था। फिनी के अनुसार एक पीण्ड पीपस के लिए १५ दीनार मिलते थे।<sup>२</sup> अलेरिक (Alaric) ने रोम के घेरे को बूझ करने के लिए सोने और चाँदी के साथ ३०० पीण्ड पीपस माँगी थी।<sup>३</sup>

**गुंजबेर**—गुंजबेर या अजरक भारत की मूल उपज थी। यही स इसका प्रचार अन्य देशों में हुआ। अरबी जजबुल (Janjabul) तथा चीक जिबिबेर (Zangiber) को कुछ लोग गुंजबेर सम का मूल इबिड रूप मानते हैं और कुछ लोग इसे घसकृत गुम तथा इबिड बेर की खिचड़ी स बना हुआ ठहाराते हैं। भाष्यकार ने गुंजबेर का स्वाद मुड़ का ठीक विरामी और कट्टु बताया है।

**केसर**—नागिनि के किसपदि वन में केसर, नरक नरक आदि शब्द आये हैं। केसर का मूल स्थान कुछ लोग दक्षिण-पश्चिम यूरोप मानते हैं। भारत में इसका उत्पादन कश्मीर तक सीमित रहा है। सुमुत्सहिता तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में कुंडुम का उल्लेख मिलता है।

**नरक**—नरक या जटामामी बाइलों महीने खेतीवाला पर्वतीय तुल था। वहाँ से यह देश के अन्य भागों में फैला। वैदिक साहित्य तक में इसका उल्लेख मिलता है। चिकित्सा-शास्त्र के ग्रन्थों में बार-बार इसका उल्लेख हुआ है। अजबवेद में बाग्युनि बराटकी और टीलनग्युनि (मुगपित इष्य) के साथ नरक या नरकि नाम आया है। नरक भी नरक के समान ही सुगन्धित एवं पस की जाति का तुल था जो भारत स रोम के बाजारों को भेजा जाता था और वहाँ प्रति पौण्ड ४ स ७५ दीनार (Denaric) तक के भाव विक्रता था। नरक का प्रतिदिन के अजबेसों में प्रमुख स्थान था।

रामायण और चरकसहिता तक में उल्लिखित कर्बग शब्द भाष्य में नहीं मिलता और न एका की ही चर्चा भाष्य में हुई है।

**तुल**—सामान्य तुलों में तुल, मूँज और काण्ड खेत की मेंड़ पर या परती मूमि में उत्पन्न कर स्थि जाते थे। धारकाण्ड के दो भाग होते हैं—धर और काण्ड। धर (धर) पर छाने के काम में आते थे और काण्ड (इष्टी) का प्रयोग छप्पर में छकड़ी के स्थान पर किया जाता रहा है। धरकाण्ड की अपरिपक्व अवस्था में उससे मूँज निकाली जाती थी। इसी मूँज की मेखला बनती थी जिसे मींज-मेगला कहते थे। यज्ञोपवीत-संस्कार के समय बह्यचाटी को मूँज की मेगला पहनाई जाती थी। नार्पित-नुन के यज्ञोपवीत के प्रचलन से पूर्व मींज धारक की ही प्रथा थी। महाराष्ट्र में आज भी उपजपन को मूँज ही कहते हैं। कड़ी हुई, अर्थात् काण्ड निकाली हुई मूँज

१ स्काळे: पैरिप्लस पृ० २१३ से।

२ फिनी, १२ १४।

३ गिबन डिक्साइन एण्ड फॉल अप्पाय ३१।

४ ८४-८ पृ० ४७९।

को विपुल कहते थे।<sup>१</sup> काण्डों के साथ में परिधम और समय दोनों अधिक लगते थे। पतञ्जलि ने काण्डकाय का पुषट् उल्लेख भी किया है।<sup>२</sup> काण्ड और घर के बड़े-बड़े पुरुष बचि जाते थे। इसी दुर्गाई का उल्लेख उमर हुआ ही है।

घर और भुस भाय तुल्याने के काम जाते थे।<sup>३</sup> ये भाग को धीघ्न पकड़ते हैं।

साह—कृषि के लिए खाद अत्यावश्यक है। यह कृषि का खाद्य है। चिरकाम से योबर का उपयोग खाद के लिए होता आया है। श्राप्य में योमय शय्य कई बार आया है। आरभ्य यामय आह्वयामय और शुष्कयोमय का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। उन्हें ज्ञात था कि गोकाम<sup>४</sup> और अहितोम मिट्टी में मिलाने से उससे दुर्वा उत्पन्न होती है<sup>५</sup> और योबर (विशेषतः मैस का गाबर) से बिन्दू पैदा होते हैं।

१ ३-१ १७।

२ ३-२-१।

३ २-१ ३३, पृ० १८५।

४ ३-२-२४ पृ० २१४।

५ योमयाद्दुर्वाश्चको जायते ।—१४ ३०, पृ० १६६।

६ योतोमाहितोमयोर्दुर्वा जायते । अथकामन्ति ताम्लेभ्यः ।—शुद्धी ।

## अध्याय २

### वन-सम्पत्ति

वन का अर्थ—माप्य में विदिष्ट और सामान्य दोनों रूपों में वन का उल्लेख हुआ है। सामान्य वन के विषय में पत्र-तत्र जो बर्णन है, उससे वनजीवन-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री प्राप्त होती है। यथा—आरभ्यक मार्ग आरभ्यक बिहार (मठ या आमोल-यमोद) आरभ्यक मनुष्य आरभ्यक<sup>१</sup> हस्तौ आरभ्यक बोमय (बोबर) और आरभ्यक पुष्य।<sup>२</sup> इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आरभ्य पूर्वतः निर्बल नहीं थे। उनमें मनुष्य रहते थे। वन सर्वथा अगम्य भी नहीं थे। लोग वनमें होकर आते-जाते थे। बिहार, मनोविनोद आलेख जाति के लिए वनों का भ्रमण साधारण बात थी। वनों से पकड़कर हाथी नयनों में लाये जाते थे और वहाँ प्रकृतित किमे जाते थे। बड़े आरभ्य को आरभ्यामी कहते थे।<sup>३</sup> आरभ्यामी अगोप्यव कही जाती थी क्योंकि उसमें जो के संचार की सम्भावना तक नहीं होती थी। वैदिक इण्डेक्स (१३३) के अनुसार श्वेद में आरभ्य शब्द ग्राम और कृष्य भूमि के विरोध में आया है, जिसमें चोर छिपते थे और मुनि निवास करते थे। उसमें आरभ्यामी का प्रयोग वन-वेकटा के लिए हुआ है। पुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—ग्राम्य और वारभ्य। माप्यकार यह जानते थे। वन्य पुष्य अपेक्षाकृत छोटे आकार के एवं कम पत्तबाले होते हैंकि। पसी वन में ही आनन्वित रहते हैं। सबल इष्टिमा का उन्मुक्त मावक धातावरण उनके प्राचीन में उन्मुक्त और कष्ट में मपुरिमा उदक देता है। पंजी किसी कारण से वन छोड़कर बरती में आ भी गया तो भी उसका मन वन की ओर उड़ता रहता है। माप्य में कहा है कि 'कोकिल वन-गुह्य का स्मरण करता है या वन-गुह्य स्वयं कोकिल का स्मरण करता है।'<sup>४</sup> एक स्थान पर वनराजि को स्मय कर उठे कोट भर तक रमणीय कहा है।<sup>५</sup> कोई प्रिय बलिबि जब बापस कौट्या या या कोई आत्मीय वन परदेष्ट पाता या एक लोग वन की सीमा प्रारम्भ होने तक उसे भेजने जाते थे या उदक-स्नान तक भेजकर कौट जाते थे। अधिक-से-अधिक द्वितीय या तृतीय वन-बोधी तक साथ जाने की प्रथा थी। वन वृक्ष-समूह को कहते थे। वनगुह्य

१ ४-२-१३५, पृ० ११६।

२ ४-२-१०४, पृ० १०४।

३ ४१४५, पृ० १३।

४ अगोप्यवाग्यरभ्यामि।—६-१ १४५, पृ० १९१।

५ ११-६७ पृ० ८७।

६ २३-५, पृ० ४०९।

७. लोके भावनास्तासोदकस्तासु प्रियं पाण्डवमुपजेतु। द्वितीयं तृतीयं च वनान्तमुदकान्तं वाज्जुवजति।—१-४-५६, पृ० १८७।

अर्थ में भी केवल वन शब्द का प्रयोग होता था यह आवश्यक नहीं था कि वन कोस-यो कोस तक फैला ही हो। वाय और दक्षिण तक वन कहलाते थे। इसलिए दस्ती से बाहर की झाड़ियाँ और एकत्र वृक्ष-समूह सामान्यतया वन वाच्य था। वन का पर्यायवाची अरथ्य शब्द जो अरजि (पारस्परिक लड़के आगे उत्पन्न करनेवाली सड़की) से बना है इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में वन एक वृक्ष से लिए भी प्रयुक्त होता था। 'वन-गुल्म' शब्द भी जिसका उल्लेख रूप्यद्रुषा है, इसी कथन की पुष्टि करता है। मनुष्य में भी वन शब्द का प्रयोग वृक्ष-अर्थ में मिलता है। आगे चलकर जब वन वृक्ष-समूह का बोधक बन गया तब बीरे-बीरे उसमें समूह अर्थ का प्राधान्य होता गया और वृक्ष अर्थ गौण पड़ गया। तब लुप्त सता, बीरुष तब सभी का समूह वन कहलाते लगा। इसीलिए 'वमलवन' प्रयोग भी छाह्य हो गया। दस्ती से दूर हाथ के कारण व्याप्तिक रूप में वन का अर्थ प्रदेश या दूर प्रदेश भी था।<sup>१</sup> गुल्म अर्थ में शृपात्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है।<sup>२</sup>

अनेक वर्गों के समुदाय का कुण्ड कहते थे। भाष्य में कहा है—'कुण्डादि के उखात करने में उनके समुदाय का ग्रहण करता चाहिए। यदि कुण्ड शब्द वन-समुदाय का बोधक हो तभी उखातत्व होया। यहाँ वर्गों से तात्पर्य है गुल्म।

वृक्ष—पशुजलि ने वन शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है—(१) प्राकृतिक रूप से विकसित वृक्ष सता-वृक्ष आदि के समूह यथा व्यवस्थित वन घिरीय-वन। इसकी वृद्धि और विस्तार में मानव प्रयत्न अपेक्षित नहीं था। (२) मनुष्य द्वारा रोप और संरक्षित क्रिये गये उपवन, यथा आश्रम वन कश्मीरवन। इन्हे रोपवन, नियमित सीधकर संरक्षित करना पड़ता था। भाष्य में चारों ओर से काटो का भंग बनाकर वृक्षों की रखा का उल्लेख किया गया है।<sup>३</sup> विस्तार की दृष्टि से गुल्म वन अरथ्य और अरथ्यानी उत्तरोत्तर बढ़े थे।

वृक्षादि सम्पत्ति भी कई भागों में विभाजित थी। वृक्षों में पुष्प और फल दोनों होते हैं। वनस्पति शब्द उन बढ़े-बढ़े तरंगों के लिए प्रयुक्त होता था जिसमें फल आते थे। ओषधि शब्द का प्रयोग छोटे पौधों और जड़ी-बूटियों के लिए होता था जिसमें फल नहीं होते। फैलने या पौढ़ने-वाली छोटी-छोटी वनस्पति लता वस्तु ही वृत्तित या बीरुष कहलाती थीं। इसके फलान या मुरमुठ को अन्नताम कहते थे।<sup>४</sup> वृक्ष, लट, घट, तिमिर आदि फल-फूल एवं विही भास-जैसी वृक्षवृत्ति इधमें थी।<sup>५</sup> 'विनापीपथिवनस्यतिम्' (८४६) म पाणिनि ने भी ओषधि और वनस्पति में भेद किया है। काचित्कार ने ओषधि का उदाहरण दूर्वावधम् मूर्धावधम् तथा वनस्पति का सिरीष-वधम्, बधरीवधम् दिया है। इस मूष में उल्लिखित वेवदाक-वन मत्रदाक-वन, हरिका-वन तथा चिरिका

१ भाष्य ७-१ १९ ।

२ १ १-५० पृ० ३०१ ।

३ परिभारयन्ति कष्टकर्वताम् ।—३-१-८७ पृ० १५५ ।

४ ३-१ १४० पृ० १९९

५ कर्त्तु वनस्पतिष्वोयो वृक्षाः पुष्पकलोपयत् ।

लोपयत् कसपाकान्ता कनापुस्मात्तव बीरुषः ।—८४६ काशिका ।



वम का भी नाम-ग्रहण प्रत्युदाहरण के रूप में किया है। पाणिनि ने भी 'पाककर्मपर्यप्यमूलफलमासांतरपदाच्च' (४ १ १४) सूत्र बृक्ष के प्रायः सभी अंगों का परिचयन कर दिया है। बृक्षों की सूची रुकड़ी को सुपिर<sup>१</sup> कहते थे।

बृक्षां के नाम वैज्ञानिक आधार पर रखे गये थे। बृक्षों के नाम उनके मूल तनों परतों शाखाओं फूल एवं फल के आधार पर निश्चित किये गये थे। वे सब सार्यक होते थे। पुष्पों और फलों के नाम बृक्षों के आधार पर होते थे। जो नाम बृक्ष का होता था वही उसके फल और फूल का। उदाहरणार्थ बृक्ष भी कदली और फल भी कदली कहलाता था। फल गपुंसकर्मिण होता था वृक्ष जैसे ही पुंस्किण हो। किंग भेद द्वारा ही सामान्यतया फल और बृक्ष में भेद किया जाता था। यथा मात्र (बृक्ष) पुंस्किण है किन्तु मात्र (फल) गपुंसकर्मिण। इसके अभाव में यथा-कदा मिलते थे यथा कदली। भाष्यकार ने फलार्थ में होनेवाले प्रत्यय के अक्षर की व्यर्थता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि बृक्ष का परिणाम फल में होता है। बृक्ष को ही चरम परिणति फल में है। बृक्ष और उसके अवयवों का भाष्यकार ने उल्लेख किया है। उन्तेति कहा है कि चकनेवाला बृक्ष अपने अवयवों के साथ ही चकता है। बृक्ष कहने पर एक शब्द सुनाई देता है।<sup>२</sup> बृक्ष अकारणत है और सकार प्रत्यय है। उससे एक वर्ण का भी बोध होता है और वह यह कि वह एक है और उसमें बड़ ठने फल और पत्ते हैं। भाष्यकार ने बृक्षों के दो मुख्य भेद किये हैं—शीरी और कष्टकी।<sup>३</sup>

बृक्षा म निम्नलिखित के नाम महामाय में आये हैं—

स्यप्रोष ( *Ficus indica* )—यह वृक्ष का दूसरा नाम है। स्यप्रोष क्षीरीबृक्षों के अन्तगत है। इसकी जड़ें नीचे की ओर फैलती हैं और जटाएँ भी निम्नता होती हैं। जटाएँ नीचे की ओर फैलकर बृक्ष का रूप लेती जाती हैं, इसीलिए इसका नाम स्यप्रोष है अर्थात् नीचे की ओर फैलनेवाला। इसके पत्ते बड़े और मोटे होते हैं। इसे अकरोह्वाम् क्षीरी और पुपुपर्ण कहा है।<sup>४</sup>

प्लव ( *Ficus infectoria* )—प्लव भी स्यप्रोष के समान क्षीरीबृक्ष है। इसकी भी प्रकृति स्यप्रोष के समान नीचे की ओर फैलने की है। भाष्यकार ने प्लव की व्युत्पत्ति पर ध्यान करते हुए कहा है कि यदि दारण (दुग्ध-मात्र) के कारण इसका नाम प्लव माना जाय तो स्यप्रोष को भी प्लव कहना चाहिए क्योंकि दूध तो स्यप्रोष से भी निकलता है और यदि नीचे की ओर फैलने के कारण प्लव का नाम स्यप्रोष ही तो प्लव का भी नाम स्यप्रोष होना चाहिए क्योंकि प्लव

१ ५-२ १०७ ।

२ पुत्र इत्युच्यते कश्चिच्छब्दः सुपते बृक्षाद्यन्तो अकारणतः सकारणतः प्रत्ययः अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्वरूपफलपलासवानेकत्वं च ।—१ २ ४५, ५० ५३३ ।

३ ५ २ १४ ५० ४०९ ।

४ १ २-२९, ५० ३८३ ।

५ ये क्षीरिणोऽकरोह्वस्तः पुपुपर्णस्ते स्यप्रोषाः ।—१ १-२६, ५० ३४२ ।

भी नीचे की ओर फैलता है।<sup>१</sup> इसलिये, ये द्रव्य वृक्ष-विशेष के लिए रूढ़ मानने चाहिए। भाष्य में प्रायः प्लक्ष और न्यग्रोध का उल्लेख साथ-साथ ही हुआ है।<sup>१</sup> एक स्थान पर कहा है कि प्लक्ष भी इत्यर्थक है और न्यग्रोध भी। अर्थात्, इनका एक अर्थ रूढ़ है और एक व्युत्पत्ति-व्यय। प्लक्ष का फल भी न्यग्रोध के समान छोटा-सा होता है। इसे पाकर कहते हैं।

खदिर (*Acocia catechu*)—यह कल्पे का वृक्ष है। इसकी बर्षा भी प्रायः प्लक्ष और न्यग्रोध के साथ ही मिलती है।<sup>१</sup> इसने तनों की सफ़ेदी मछेद रग की होती है और पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। खदिर में कटि होते हैं।<sup>१</sup> इसकी सफ़ेदी बहुत कड़ी होती है। जलाने पर इसके कोयले खूब दहकते हैं।<sup>१</sup> इसीलिये, भाष्यकार ने इनकी उपमा कुरम्ब बने हुए मुष्ण कुंडलों से दी है। खदिर से ही खैर या कस्था तैयार होता है जिसका उपयोग पान के साथ तथा औषध के रूप में होता है। इसे खदिरसार कहते हैं।<sup>१</sup> खदिर की सफ़ेदी मत्त-स्तम्भ या यज्ञरूप के ऊपर अंगूठी के आकार का अपास मसाने के काम आती थी।

पलाश (*Butea frondosa*)—पलाश या टेसू प्राचीन काल से जति प्रसिद्ध तथा उपयोगी वृक्ष रहा है। उसके पत्ते तथा सफ़ेदी दोनों का उपयोग धार्मिक कृत्यों में होता है। पल में पलाश की समिधाएँ काम आती हैं। प्लक्ष-न्यग्रोध के साथ पलाश का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है।<sup>१</sup> दण्ड भाष्य (विद्यार्थी) पलाश का ही दण्ड साध रखते थे। यों पलाश शब्द का व्यवहार पर्ब अर्थ में भी होता था। पेड़-बकरी पासनेवाले पलाश-व्ययन करते थे।<sup>१</sup> पल कान्ठे के लिए एक औजार होता था जिसे पलाशपातन कहते थे।<sup>१</sup> यह हँसिया या इसके समान होता हुआ। पलाश में पत्ते अधिक होते हैं और वे ही विद्यय काम में आते हैं। इसलिये आसन्निक रूप से पलाश द्रव्य बाव में पलाश-पत्र के अतिरिक्त सामान्य पर्ण अर्थ में व्यवहृत होने लगा।<sup>१</sup> पलाश में फूल बहुत काल होते हैं। मानों उन्होंने सप्टा ने अपने हाथ स रँगा हा।<sup>१</sup>

१ २-२-२९, पृ० ३८३।

२ ५-३-७२, पृ० ४७०।

३ २-१-१ पृ० २५७।

४ खदिरवर्तुरी गौरकाण्ठी सूक्तपत्रोः। ततः पञ्चाशद् कष्टकमान खदिर इति —

१-१-४६, पृ० २८३

५ आ० १ पृ० १६

६ ३-३-१७, पृ० २९५

७ ५-१-२, पृ० २९६।

८ ४-३-१५५, पृ० २६६।

९ २-१-१ पृ० २५७।

१० ३-३-१२६, पृ० ३१९।

११ २-२-८, पृ० ३४२।

१२ २-२-२४, पृ० ३५७।

१३ वैश्वदेवः किञ्चनः—३-१-७९, पृ० १३९।

भाप्यकार ने ध्याकरण पढ़ने का फल पलाय का शुद्ध उच्चारण कर सक्ता भी माना है।<sup>१</sup>

बर्बुर—तने की सफेदी एवं पत्तों की छोटाई में बर्बुर खविर के समान ही होता है। अन्तर इतना है कि खविर में कण्टि होते हैं किन्तु बर्बुर में नहीं।<sup>२</sup> बर्बुर ओपबि-बर्ब के बूतों में है।

शमी (*Prosopis Spicigera Mimosae Suma*)—शमी की रूकड़ी बहुत कड़ी होती है। प्राचीन लोगों का विचार था कि शमी में अग्नि रहती है। शमी यज्ञानि प्रयत्नित करने के काम जाती थी। शमी का छोटा बूट शमीर कहलाता था।<sup>३</sup> शमी से उत्पन्न हुई वस्तु शमीज कही जाती थी<sup>४</sup> जिसे शामीस या शामीबी (स्त्री ) भी कहते थे।<sup>५</sup>

बंस—काष्ठ और कुष्ठ के साथ भाप्यकार ने बंस का उल्लेख किया है।<sup>६</sup> बंस के रन्ध्रे सट्टे को बंसस्तम्ब कहते थे। बड़ी-सी वस्तु से छोटा-सा काम लेने के अर्थ में एक-एक कहावत ही चल पड़ी थी—बंसस्तम्ब से सट्टा लीचना। बंस बूट है और बेषु उसका काष्ठ।

शिरौष (*Anacle Sirissa*)—यह शीघम का एक भेद है, यद्यपि यह उससे बहुत बड़ा होता है। शिरौष के बूट बड़ी संख्या में गाँवों के पास पाये जाते थे। बाज भी गाँवों के किनारे केतों और बागों की मेड़ों पर शिरौष रोपने की प्रथा है।<sup>७</sup> प्राचीन लोग बूटों में भी जीव मानते थे और जममें सामान्य प्राणि-विद्याओं का दर्शन करते थे। उन्होंने शिरौष को सँसे हुए देखा था।<sup>८</sup>

शास (*Vatica Robusta*)—शामू अपनी रूकड़ी के लिए प्रसिद्ध है। यह बहुत मजबूत और टिकाऊ होती है। शास के बूट भुष-के-भुष एक साथ बन के रूप में उगते हैं।<sup>९</sup> भाप्यकार ने शासमार (*Asa Foetida*) का भी उल्लेख किया है।<sup>१०</sup> शास के व्यापार पर व्यक्तियों के घासमुत्त आदि नाम रखे जाने का पता भाप्य से चलता है।<sup>११</sup>

निंशपा (*Delbergia Sissoo*)—शीघम का नाम है।<sup>१२</sup> यह ठँपा बूट अपनी रूकड़ी

१ जा० १, पृ० ३२ ।

२ खविरबर्बुरयोः खविरबर्बुरी गौरकार्षी सुकमपची। ततः पयथावाह । कष्यकबाल खविर इति ।—१ १४६, पृ० २८३ ।

३ ५३-८८, पृ० ४७६ ।

४ ६-२-८२, पृ० २७४ ।

५ ४३-१४२ ।

६ १११३ पृ १८२ ।

७ शीघ्यं महतो बंसस्तम्बास्तम्बाहृष्यते ।—जा० २ पृ० ५२ ।

८ १-२-५१ पृ० ५५० ।

९ ३-१-७ पृ० ३० ।

१० १११ पृ० ९२ ।

११ ३३१७ पृ० २९५ ।

१२ १११ पृ० ९२ ।

१३ ३-१-५७ पृ० ३१४ ।

की मजबूती के लिए प्रसिद्ध है। कभी-कभी छिछपा इतना ऊँचा बढ़ जाता है कि आकाश छूने लगता है।<sup>१</sup> बृक्ष से भिन्न अन्य किसी वस्तु का काम छिछपा नहीं होता।<sup>१</sup>

पीलू (*Cereya Arborea* or *Salvadora Persica*)—एक विशेषेय वृक्ष का नाम है। कुछ लोग खजूर को ही पीलू मानते हैं। पीलू का फल भी पीलू कहा जाता था।<sup>१</sup> यद्यपि बृक्ष वृंस्त्रिय, किन्तु फल मधुसर्ज्जित्य हुआ है। जिस मीषम में पीलू पक्ये थे। उसे पीलूकुच कहते थे।<sup>१</sup> पीलू क मूल के पास वी हुई वस्तु या किया हुआ काम पैलूमूस होता है।

सप्तपर्ष (*Abstemonia Scholaris*)—इसमें सात-आठ पर्शों के पुच्छे होते हैं।<sup>१</sup> यह भी शीरीषुष है। इनका दुग्ध बहुत सुगन्धित होता है।

कारस्कर—यह एक बहुविकीय पीषा होता है जो शोषण के रूप में काम आता है।<sup>१</sup>

देवदाह (*Pinna Devadru*)—देवदाह को सरल भी कहते हैं क्योंकि यह मीषा ज्वर की मोर बढ़ता है। देवदाह की लकड़ी पत्र-मणिभाजों के काम आती थी। देवदाह बीड़ (*Pinus Longifolia*) का एक भेद है। यह बहुत लम्बा होता है। इसकी लकड़ी काटकर बहुत-से अन्य कामों में भी काई जाती है। भाष्य में देवदाह-वन का उल्लेख है।<sup>१</sup> देवदाह देव-वृक्ष माना जाता था। मन्दार, पारिजात सन्तान, कम्प-वृक्ष और हरिबन्धन य पाँच देववृक्ष गिने जाते थे। इसी प्रकार सरलथ आदि सात ब्रह्मवृक्ष कह जाने थे।<sup>१</sup> देवदाह की लकड़ी देवदाह कही जाती थी।<sup>१</sup>

विभीतक—इसके सकल फलों का उपभोग होता था। इसकी लकड़ी का मजबूत भी समता है, जिसे विभीतक कहते थे।<sup>१</sup>

बन्धन—बन्धन अपनी मन्थ के लिए प्रसिद्ध है।<sup>१</sup> पर यह मन्थ तीव्र नहीं होती।<sup>१</sup>

शृपम—यह एक विगिष्ट शोषणीय वनस्पति है। यह नदी के किनारे अधिक होती है।

१ ५ १२, पृ० २९७ ।

२ ५ १-२, पृ० २९७ ।

३ ७-१-७४ पृ० ७२ ।

४ ५ १-९७, पृ० ३४४ ।

५ पर्वणि पर्वणि सप्तपर्षाग्नित्य सप्तपर्ष ।—८ १ १ पृ० २६० ।

६ ६ १ १५७, पृ० ११४ ।

७ ३ १ ९७, पृ० १८० ।

८ ८-४ ३, पृ० ४७८ ।

९. सप्तकाः देववृक्षाः ।—५ १-५८, पृ० ३२६ ।

१० ४ ३-१३६ ।

११ ५ १-२ पृ० २९६ ।

१२ २-२८, पृ० ३४३ ।

१३ २-२८, पृ० ३४३ ।

और कगार के बाहने में सहायक का काम करती है।<sup>१</sup> सम्भवतः इसकी बड़ों कूट में दरार पैदा कर देती है। भाष्य में प्रचुर ज्ञापनवाले बन का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup>

कंक—माम का एक भेद है।

कुरर (Capparis Aphylla)—बृक्षविशेष। भाष्य में कहा है कि बृक्ष से पत्ता गिरता है।<sup>१</sup> पत्ता नहीं कंक या कुरर का पत्ता गिरता है। कंक और कुरर पत्ती भी होते हैं। उनके पंख को सेकर भी सम्येह होता है।

बह—एक फसवान वृक्ष है, जिसकी सफ़री की घम्या (एक यज्ञपात्र) बनाई जाती थी। इससे पंटी या बैस के बुये में किनारे पर बाली हुई सफ़री जो बैस को बुये से बाहर निकल जाने से रोकती है बनती थी।

आम्र—यह फसवृक्ष है। आम्र के फस को भी आम्र कहते हैं। सेवा-सिचन द्वारा आम्र के पेड़ बड़े हो पाते हैं। फलों के लिए आम्र सेवा चाहते थे। भाष्य में 'एक पत्त दो काब' के अर्थ में एक कहावत दी है। आम्र भी सिच गये और पितर भी प्रसन्न हो गये। इसे त्रिगत हेतु कहते हैं। इससे अनुमान होता है कि लोग दैनिक तर्पण आम्र के आसपास में कर लेते थे। आम्र के बगीचे सर्वांगों के चारों ओर बनाने की प्रथा थी और आम्र भी है।<sup>१</sup> एक स्थान पर कहा है कि आम्र के पेड़ गाँव के पूर्व की ओर हैं। 'पूछे बैठ की कहे कठिहान की' इस अर्थ में आम्र को सेकर एक कहावत बस पड़ी थी—'पूछी आम्र की कहीं कोविदार की'। आम्रफल से बनी हुई काष्ठ वेप बस्तुओं को आम्रमय कहते थे। व्यक्तियों के नाम तक आम्र के आचार पर रखे जाते थे। यथा आम्रगुप्त साधुगुप्त। इनकी सन्तान 'आम्रगुप्तायनि' कहलाती थी।<sup>१</sup>

कदली (Musa Sapientum)—कदली का फस तो उपयोगी है ही उसका स्तम्भ पुष्प कायों में काम आता था। कदलीस्तम्भ काटना दूषित नहीं माना जाता था।<sup>१</sup>

बदरी—बदरी का फस बदर कहलाता था।<sup>१</sup> बैर खाने का प्रचार प्राचीन भारत में अधिक मामूज होता है। शोन भर बदर एकत्र कर रखे जाने की जहाँ एक स्थान पर उदाहरण रूप में आई है।<sup>१</sup> इतना ही नहीं शोन बैरों को सुखाकर पेटियों और पिटाखियों में रखते थे।

१ ज्ञापनं कूलमृद्वजम् ज्ञापनं कूलमृद्वहम् ।—१४-८० पृ० १९९ ।

२ १४-९० पृ० १९९ ।

३: १४-२३ पृ० १५५ ।

४ २११ पृ० २५८ ।

५. आम्रावह सिक्ताः पितरवह प्रीयिता ।—८-२-३ पृ० ३१६ ।

६ ११-५६ पृ० ३४२ ।

७. आम्रान् पुष्टः कोविदारतावसते ।—१-२-४५, पृ० ५३२ ।

८ ४-३-१५६ पृ० २६९ ।

९. १११ पृ० ९२ ।

१० आ० २, पृ० ४८ ।

११ २-२-५, पृ० ३३६ ।

१२ वही ।

माष्यकार ने तद्बन्धुता का उदाहरण देते हुए कहा है कि बेरों की पिटाटी में कोई तबि की कटोरी या पात्र रस दिया जाय तो वह भी बेरों से भरा हुआ दिखने लगगा।

बबर का वृक्ष बदरी कहलाता था। इसमें नन्हें-नन्हें कण होते हैं। यह मयूर फलवाला वृक्ष है। माष्यकार ने बदरी की परिभाषा उक्त प्रकार से की है। 'बदरी से बनी बन्तु बाबर होती है।'

विस्व—विस्व की गणना फल और वीषय दोनों प्रकार के वृक्षों में है। विस्व का फल भी विस्व (मयु०) कहलाता है। विस्व से बनी बन्तु या उसके अन्वयण को बैस्व या विस्वमय कहते हैं। जिस भूमि में विस्व के पेड़ लगाये जाते थे उसे विस्वकीय कहते थे। विस्वकीय से भावार्थ में विस्वक राज्य बनता है। बैस्वक विस्व-भूमि में उत्पन्न किसी भी वृक्षकृता आदि को कह सकते हैं। विस्व-वृक्षों का समूह विस्व-वन होता है और उसमें रहनेवाले बैस्ववन।'

कपित्थ—यह ओपधि-वर्ग का वृक्ष है। कपित्थ का रस ओपधि के काम आता था।'

पिप्पल (Ficus religiosa)—यह फल म्प्रोष-वर्ग का क्षीरीवृक्ष है।'

कटुबदरी—एक पीले का नाम है। माष्य में एक घाम का उल्लेख है जिसका नाम कटुबदरी के समीप होने के कारण कटुबदरी हो गया था।'

हरीतकी—यह ओपधि-वर्ग की वनस्पति है। इसके फल भी हरीतकी कहलाते हैं।'

वाडिम—फलवृक्ष है। इसका फल भी वाडिम (मयु०) कहलाते थे।'

आमलकी—आमलकी का फल आमलक होता है।' आमलकी आदि के (Embbia Myrabalan) के फल पकने पर लाल और पीले पड़ जाते हैं।' फिर भी वे आमलक और बबर ही रहते हैं। आमलकी से उत्पन्न फल या अन्य बन्तुओं के लिए आमलकीय शब्द थाया है।' बबर और आमलक का उल्लेख कई बार साब-साब हुआ है।'

१ बबरपिटके रिस्तलो लोहकसस्तवृषुण उपलभ्यते ।—१-२-३०, पृ० ५०३।

२ बदरी सुश्रमकृष्टका मधुरा बूल इति ।—१-२-५२, पृ० ४४५।

३ ६४ १५३ पृ० ४९१ तथा ४३ १३६, पृ० २६१ तथा ४३-१४३, पृ० २६३।

४ ६-४ १५३, पृ० ४९१।

५ ४-२-५९, पृ० १९४।

६ ४३ १५५, पृ० २६६।

७ आ० २, पृ० ६६।

८ १-२-५१, पृ० ५५०।

९ १-२-५९ पृ० ५५५।

१० १११ पृ० ९४।

११ १-५-८ तथा आमलकादीनां फलानां रसात्तयः बीताद्ययश्च गुणाः प्राकृत्यन्तयामलकं

बबरमित्येष भवति ।—५ १ ११९, पृ० ३५५।

१२ वही।

१३ ६-२-८२, पृ० २७४।

१४ २-४-१२, पृ० ४६६।

जम्बू—जामुन को कहते थे। इसका फल भी जम्बू कहा जाता था।

पिप्पली (Peper Langum)—पीपस के बूझ और फली दोनों को पिप्पली कहते थे।<sup>१</sup> पिप्पली का आभास भाग वर्षपिप्पली कहलाता था।<sup>१</sup>

उदुम्बर—उदुम्बर या गुडर का फल लास होता है। भाष्य में कहा है कि उदुम्बर में कास फल पकता है। इसीलिए, तबि के छोटे को भी उदुम्बरवर्ष कहा है।<sup>१</sup> यह साम्य उदुम्बर फल के रस से ही है।<sup>१</sup>

शृंगवेर—अदरक का पुराना नाम शृंगवेर था। यही शम्भ खोठ के बिय भी प्रयुक्त होता था। इसका स्वाद तीखा बन्धा होता है।

कोशातकी (Trichosanthes dioeca or Luffa ocutangulla or Luffa Pentendra)—बजुरे का बूझा नाम है। इसके फल को भी कोशातकी या कोशातकिना कहते हैं।

बुग्गु—बोपधि-बुध है।<sup>१</sup> इसका गोंद बोपधि-रूप में व्यवहृत होता है।

मपू—महुए का बूझ है। इसे मधूक भी कहते हैं।<sup>१</sup> इसके फल उपयोगी होते हैं।

नीसी—यह भी बोपधि बनस्पति है।<sup>१</sup> इसकी खेती की प्रथा रही है।

कोबिहार (Bohinia versigata)—एक स्वर्गिक बुध।<sup>१</sup>

लास—संस्कृत-साहित्य में लास बुध (ताड़) का अस्वास्थ्य के कारण अमर हो गया है। कारु आकर बैठा कि लास अमानक मिर गया<sup>१</sup> और कारण न हल्ले हुए भी उत्तम कारण-कार्य-नाम रिचने लगा। वास्तव में दोनों क्रियाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है।

पनस—कटहल को पनस कहते हैं, या साक के काम आता है। भाष्यकार ने पनस को पकान की बात कही है।<sup>१</sup> पनस का फल भी पनस (मपू) होता है।

१ ४-१ ११९, पृ० १३८ ।

२ १-२ ४४, पृ० ५२४ ।

३ १ २-७२, पृ० १०६ ।

४ तत्प्रादुम्बरः सजोहितं कर्त्तव्यम् ।—३ १-८७, पृ० १५४ ।

५ आ० १, पृ० ५ ।

६ न हि गुड इत्युक्तं मधुरत्वं यन्मते शृङ्गवेरमिति वा कटुत्वम् ।—२ १ १, पृ० २५३ ।

७ ५ ३-७२, पृ० ४६९ ।

८ ४ १-७१, पृ० ७७ ।

९ ४-१-७१, पृ० ७७ ।

१० ४ १ ४२, पृ० ५५ ।

११ १ २ ४५, पृ० ५३२ ।

१२ ५ ३-१०६, पृ० ४८० ।

१३ १ १-७, पृ० १५४ ।

१४ ५ १-२, पृ० २९६ ।

तुम्बूह—(Carlander or Dioshyros Embryoptens) पनियाँ को कहते हैं।  
इसका फल भी तुम्बूह कहलाता है।

बपुस—फलविशेष। दही और बपुस एक साथ खाने से स्वर जबबस्य बढ़ जाता है। साम्प्र  
कार ने दही और बपुस की प्रत्यक्ष उबर कहा है।<sup>१</sup>

कुवसी—एक विशेष प्रकार की स्वादिष्ठ बेरी या मकोम होती है। कुवसी ये बनी वस्तु  
को कौवल कहते हैं।<sup>२</sup>

अलाबू—झींझी और कपड़ का पुराना नाम है। इसका फल अलाबू कहा जाता था।<sup>३</sup>

ककम्पु—जंगली बेरी (शरवरी) के साइ को कहते थे। इसका फल भी ककम्पु (कपुं०)  
कहा जाता था।<sup>४</sup> काठक सं० (१२ १०) मैत्रा० सं० (३-११ २) के अनुसार कुवस और बदर  
की इसी श्रेणी के हैं।

बुल्लु—यह भी एक फलवृक्ष की संज्ञा थी।<sup>५</sup>

बीसु—फलवान् वृक्ष है। महाभारत के अनुसार धारकोट तथा पंजाब में पीसु-वृक्षों का  
वापिक्य था।

उपर्युक्त वृक्षों के अन्तर्गत बिना फलवाले एवं फलवान् वृक्ष कुछ छटाएँ, जो ओषधि के  
काम आती हैं, एवं कुछ वनस्पति भी आ गये हैं। इनमें दो प्रकार के वृक्ष आये हैं। एक वे  
जो बाह्य द्वाय देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और अर्ध-व्यवस्था के स्थायी भंग हैं।  
इसकी लकड़ी मकान आदि क निर्माण का मुख्य साधन है। दूसरे प्रकार के वृक्ष वे हैं, जो फलों के  
द्वाय बहुत कुछ बाघ पशुओं की पूर्ति करते हैं और इस प्रकार देश की जन्य में वृद्धि करते हैं।  
वे भी प्रत्यक्षरूपेण राष्ट्र की अर्थ-सम्पत्ति के भंग हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छटाएँ हैं, जो या तो वृक्षों के सहारे बढ़ती हैं या कभी-कभी  
स्वतन्त्र रूप से फैलती हैं। इनमें कुछ फलवती हैं और कुछ केवल पुष्पमयी। कुछ उपपरिबिहीन  
हो सकती हैं। नीचे भाष्य में बर्णित छटाओं, मूकों एवं पुष्पों की सूची प्रस्तुत की जाती है।

ब्राह्मा—यह छटा-वर्ग के अन्तर्गत है। ब्राह्मा मधुरफला होती है। भाष्यकार ने ब्राह्मा  
को बुद्धय्या कहा है।

बिम्ब—इसका फल लाल होता है। जोष्ठ की लाली का मुद्रविद्य उपमान बिम्ब है।<sup>६</sup>

१ ११ ४७ पृ० २९०।

२ दधिबपुसत प्रपञ्चो उबर ।—१ १-५९, पृ० ३८५।

३ ४ ३-१५६, पृ० २६९।

४ ६ ३ ३१ पृ० ३३९।

५ वही

६ वही।

७ ५ ३ ३७ पृ० ४६१।

८ ६ १-९४, पृ० १५१।



सुवर्षला—सूर्यमूली को कहते हैं। इसका पुष्प पूर्वाभिमुख ही रहता है। माप्यकार ने कहा है कि सुवर्षला सदा सूर्य के पीछे-पीछे घूमती है।<sup>१</sup>

उत्पल—कमल का एक नाम है। इसके पुष्प मासा के रूप में भी धारण किए जाते थे।<sup>१</sup> आज भी ग्राम-कल्याण पुष्करिणियों से उत्पल तोड़कर उतकी मालाएँ बनाकर पहनती हैं। कमल के ताल को बिंदु कहते हैं।<sup>१</sup> बिंदु पानी में पड़ा-पड़ा अपने-आप बढ़ता रहता है। बिंदु बहुत कोमल होता है और बचने पर उसके बिकार नहीं दिखाई देते।<sup>१</sup> मृगाल और बिंदु के मूल की मृगाल और बिंदु ही धारणा थी।<sup>१</sup>

मस्त्रिका—मस्त्रिका बूही का प्राचीन नाम है। यह सुपन्विष पुष्पोत्पत्ती कता है। माप्य ने जवलिनी मस्त्रिका की कलियाँ की बर्षा की है। मस्त्रिका के पुष्प को भी मस्त्रिका ही कहते थे।

बम्बक—बम्बक के पुष्प की गन्ध मस्त्रिका से भी तीव्र होती है। बम्बा कता है और बम्बक पुष्प। बिना किसी धम्मा की कर्त्तों को बम्बक-पुट कहते हैं।<sup>१</sup>

सत्पुष्पा प्राक्पुष्पा काष्ठपुष्पा श्रान्तपुष्पा सतपुष्पा (शीघ्र) एकपुष्पा ये पुष्पवर्गी कताओं के विविष्ट नाम हैं या उनके वर्ग।<sup>१</sup> इनमें प्रत्येक नाम सार्थक हैं। सत्पुष्पा सुन्दर पुष्पोत्पत्ती कता है। प्राक्पुष्पा में पुष्पों की सामान्य श्रुति में धर्म कताओं से पहले फल आते हैं। काष्ठ पुष्पा की कताओं पर ही फूल लगते हैं—वनस के फलों के समान। वृक्ष पर फूल नहीं लगते। कुछ कताओं में ऊपर की कतारे पर भी पुष्प आते हैं। किसी की एक सत्र-सत पुष्पों से गोब भर जाती है और किसी में केवल एक ही फूल रिक्तता है।

करवीर—करवीर पुष्पवान् होता है। इसके पुष्प को भी करवीर कहते थे।<sup>११</sup>

संफला—संफला मत्स्यफला अजितफला पिच्छफला सप्तफला और त्रिफला में अंतिम को छोड़कर शेष विविष्ट कताओं के नाम हैं। संफला श्रेष्ठ फलवाली मत्स्यफला बड़े बौद्धनी जैसे फलवाली, अजितफला जिनसे छिन्नके फलवाली पिच्छफला सम्भवतः पिच्छकजूर, सप्तफला सप्त और त्रिफला यामिसे हरड़ और बड़े का नाम है।<sup>११</sup>

१ सुवर्षला भाशियमनुपपेति।—३-१-७ पु० ३०।

२ १-७२ पु० ४५५।

३ १-५० पु० ३०७।

४ आसीतं बभूवे विषम्।—३-२-१२६, पु० ३६५।

५ ३-२-१२३ पु० २५७।

६ ४-३-१६६ पु० २७२।

७ २-१-१ पु० २४०।

८ ४-३-१६६, पु० २७२।

९ २-१-१ पु० २४०।

१० ४-१-६४ पु० ७४।

११ ४-३-१६६, पु० २७२।

१२ ४-१-६४ पु० ७४।

पलाण्डु—प्याज का संस्कृत नाम है। पलाण्डु का प्रचार उष्ण बर्णों में नहीं था। तामस भोजन में इसकी गणना थी। यद्यपि यह खाद्य माना जाता था।<sup>१</sup>

मूलक—मूषी के लिए प्रयुक्त हुआ है। मूषी काटकर खाई जाती थी। उसके साथ अन्य भोज्य पदार्थों का योग रहता था।<sup>२</sup> पाटल-मूष सम्भव है, गाबर का कहते हैं।<sup>३</sup>

पाटलि—पाटलि के मूल का प्रयोग होता था। इसका मूल को पाटल कहते थे। पाटलि शब्द तिल्वारिगम (४३ १३६) में परिगणित है। पाटल-मूल सास वान को भी कहते थे। माप्य में पाटल-मूलों का उल्लेख है।

फैलनेवाली सलाखों का बूझ सं स्वतन्त्र अस्तित्व है। बूझ का काट दिया जाय, तो भी सलाख का कुछ बिपड़ता नहीं। हेमन्त में जब सलाखों और वृषों के पत्त झड़ जाते हैं, तब उन्हें प्रपसाय कहते थे।<sup>४</sup>

वृषों में निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य में मिलता है—

पूठीक—वृषों में पूठीक का प्रयोग सोम के अनाज म यज्ञादि कर्मकाण्डों में होता था।<sup>५</sup> इसे बिछाकर लोप छोटे भी था।

नद्वल—नद्वल क रस से पाँचों में महाभर का काम लिया जाता था।<sup>६</sup>

इपीक—इपीक एक वृम जाति है, जिससे सीकें निकालकर झाड़ बनती है।<sup>७</sup> शतपथ में इपीक से बने शूर्प का उल्लेख है।

मुञ्जिवीक—यह इपीक से बड़ी जाति की होती है।<sup>८</sup> इससे छप्पर छाने जाते हैं। बड़ी जाति की इपीक का प्रयोग पतली लकड़ी (शरकाण्ड) के रूप में होता है। बड़ी हुई मूँज को विपूय कहते थे।<sup>९</sup> इसी से मूँज निकालकर रस्सी बनाई जाती है। शरविगम (४३ १४४) में शर, बर्मे सोम बस्त्र का परिगणन किया है।<sup>१०</sup> वम और दर्मकाण्ड का उल्लेख कई बार मिलता है। बर्मे के वम पर्याय माना में थे। इन बर्मे के समुदाय को कुण्ड कहते थे। माप्य में दर्मकुण्ड का

१ २-२ ३६, पृ० ३९२ ।

२ ४-१ ४८, पृ० ६१ ।

३ ४३ १३६, पृ० २७२ ।

४ १-२-६४ पृ० ५९७ ।

५ १४१, पृ० १०७ ।

६ १-५६, पृ० ३४१ ।

७ ३-२ ११० पृ० २४५ ।

८ १-५६, पृ० ३८५ ।

९ १-७२, पृ० ४५५ ।

१० वही ।

११ ३१ ११७ ।

१२ ४३ १४४ ।

उत्प्रेषण आया है।' फूल वाले पर इपीकों से कई-बैसा भुर्बा निकलता है। मूँच निकालन पर सिन्धु (डीक) घप रह जाती है।'

बल्लभ—तृण जालि है, जिससे रस्सी बनती है। माप्यकार ने कहा है कि एक बल्लभ बाँधने में अष्टमर्श होता है, किन्तु समक समूह से बनी हुई रस्सी बाँध सकती है।'

बीरब—यह तृण है जिससे चटारि बनाई जाती थी।

तृणोत्पत्तम्—पानी की बाध होती है।' उसप जस को कहते हैं।'

भुर्बा—अंगक-पुनन आदि के काम आती है। भुर्बा पड़ी-पड़ी बढ़ती रहती है।

इनके अतिरिक्त कुछ काष्ठ छर बर्ष धीमे आदि का भी उत्प्रेषण मिलता है, जिससे सब परिचित हैं। भार्मी रज्जु बर्ष की बनी होती थी।'

१ ६-२ १३५, पृ० १८१ तथा ६-२-१३६ पृ० १८१ ।

२ ४३-१५१ का० ।

३ १-२ ४५, पृ० ५३५ ।

४ १४-८० पृ १९८ ।

५ १२-४५ पृ० ६०८ ।

६ वही ।

७ ३-२-१२६ पृ० ३६५ ।

८ ४३ १५१ वाणिज्य ।

## अध्याय ३

### पशु-पक्षी

**वर्गीकरण**—महाभाष्य में उल्लिखित प्राणियों को वर्गों की सुविधा के लिए पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—ग्राम्य भारण्य जलीय शकृन्ति और क्षुद्र जन्तु। सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर सुविधानुसार भिन्न दृष्टिकोणों से उनका वर्गीकरण किया है। एक स्थान पर उन्होंने पंचमख प्राणियों की एक खेपी मानी है।<sup>१</sup> अन्यत्र सहज विरोध वाले जीवों के एक पृथक् वर्ग की ओर संकेत किया है।<sup>२</sup> एक स्थान पर गन्धर्व महाबिक गर्हक प्रभृति पशु एक साथ परिगणित किये गये हैं।<sup>३</sup> मृग, शकृन्त और क्षुद्र जन्तु ये वर्ग भी देखने को मिलते हैं।<sup>४</sup> इनके अतिरिक्त पशु, शकृन्ति मृग जैसी श्रेणियाँ भी मिलती हैं।<sup>५</sup> किन्तु, भाष्यकार या सूत्रकार के ये वर्ग किसी विशेष वैज्ञानिक आधार पर नहीं प्रामुख्य-प्रयोग-विधि की सुविधा पर आधारित हैं।

**ग्राम्य पशु**—ग्राम्य पशुओं में भी अरब अत्र अत्र चट्ट, कुक्कुट खर, महिष स्वा और मूकर पाए जाते हैं। प्रायों के रूपि-अवधान होने के कारण इन पशुओं की उपयोगिता सर्वाधिक थी। इनमें कुछ तो रूपि के अविनाशक अंग थे और भेष उनके सहायक। ग्राम्य पशुओं में भी वा का महत्व सर्वाधिक था।

**गो**—गो शब्द का व्यवहार गाय और बैल दोनों के लिए होता था। गो सम्पत्ति और समृद्धि की सूचक थी। भाष्य में कहा है कि देवदत्त धनी है क्योंकि उसके पास घो, अश्व और हिरण्य है।<sup>६</sup> परिवारों में विधेयता ब्राह्मण-परिवारों में ग केवल गाय अपितु बैल भी पालने की प्रथा थी। उपाध्यायों एवं पुरुषों को अडा की प्रतीक गाय भेंट में भी जाती थी।<sup>७</sup> गाय पालनेवाला सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।<sup>८</sup> मोमान् परिवार या व्यक्ति से प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र क्रिया का प्रयोग

१ भा० १ पृ० ११ ।

२ २-४९, पृ० ४६४ ।

३ २४११ पृ० ४६६ ।

४ २४१२, पृ० ४६६ ।

५ भा० १, पृ० १ ।

६ देवदत्तस्य गावोऽपि वा हिरण्यं च । आह्वो वैश्वेय ।—१ १-९, पृ० २८ ।

७ ७-१-७२, पृ० ६२, ६४ ।

८ १४३२, पृ० १६७ ।

९ ७-२ १८, पृ० १५१ ।

मिलता है। किसी-किसी परिवार के पास सैकड़ों सहस्रों गायें होती थीं। भाष्यकार ने उदाहरण के रूप में बार-बार और अनेक उदाहरणों के बीच सर्वप्रथम गाय का उल्लेख किया है।

गा के बर्णों एवं बर्णों के विषय में प्रश्न करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'क्या सात्वा साम्ना क्रुद्ध और विषाण गो शब्द का अर्थ है जबका दृक्ता नीला पीला काका कपिला वा बपीली रंग गो शब्द का अर्थ है? बिन्न या सवन्न रंग की गायों और बैलों का उल्लेख भी अनेक बार हुआ है।' गायों के स्तन गाय को ऊग्रस् कहते थे। ये ऊग्रस् शूब भरे-भरे, बट के समान होते थे। एक स्थान पर कहा है कि जो व्यक्ति गाय को नहीं पहचानता उसे गाय की सन्निध या काम पकड़कर कोई बलाता है कि यह गाय है। भाष्य में बड़े-बड़े और सामान्य विद्वे (पुण्ड्र) वाली गौ का उल्लेख है। स्थान भेद से पर्वजलि के समय में गाय को बाबी पोनी पोपाठिका आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था।

गाय के विभिन्न नाम—जायु-मेह से गाय के अनेक मेह थे। बधिया को बत्सुतरी परमवती होने योग्य गाय को उपसर्ग 'प्रथम-गर्भा को उपसर' पहली बार ब्याई हुई को गृष्टि' सुत-बर्षा को बेहु' आबकक में ब्यानेवाली को बघसवीना' दूध देती हुई को पेनु' छह मास पहल ब्याई हुई को बण्मयी' तथा छेँबी जाति की गृष्टि को महामृष्टि कहते थे। गिरबी रबी बई गाय पेनुव्या कही जाती थी।

१ ७-१-७० पृ० ६०।

२ २ १-५१ पृ० ३०५ तथा ५ २-११८, पृ० ४१९।

३ भा० १ पृ० १।

४ कि तद्दि सात्वात्ताङ्गसकृदविवाध्वर्षस्य स क्षम्य? नेत्याह। पराहि तच्छूनको भीतः

दृष्यः कपिलः बपीत इति स क्षम्यः ।—भा० १ पृ० १।

५ १ १-५६, पृ० ३५०।

६ ६ १-२८, पृ० ५६ तथा ४ १-२५, पृ० ४७।

७ १ १ १ पृ० १०१।

८ भा० १, पृ० ३।

९ भा० १ पृ० ५।

१० ३ १ १०४।

११ ३-३-७१।

१२ २ १ १५।

१३ ५-२-१३।

१४ २-१ ६५।

१५ बही।

१६ बही।

१७ ६-२ ३८, पृ० २५८।

१८ ४-२-८९, पृ० २५८।

कुछ यार्बे प्रतिबर्ष जननेवासी होती हैं और कुछ तीसरे बर्ष। प्रतिवर्ष जननेवासी गाय तीसरे बर्ष जननेवासी से अच्छी मानी जाती थी। प्रभृति में सछड़े की अपेक्षा बछिया का महत्त्व अधिक था। ऐसा भाव्य होता है कि जितनी भूमि कृषि के उपयोग में आती थी, उसके लिए बैलों की संख्या पर्याप्त थी। वे सँहमे दारों पर नहीं बिकते थे। उसकी तुलना में गायों की संख्या कम रही होगी। यज्ञादि कर्मकार्यों एवं वैश्वदेव की आयस्यकृताओं की पूर्ति के लिए भी और दूध की आवश्यकता अधिक थी। विशेषतः उम परिवारों में जो कृषिबीधी नहीं थे। बैल की अपेक्षा गाय का मुख्य अधिक था, इसीलिए भाव्यकार ने बछड़ा जननेवासी गाय की अपेक्षा बछिया जननेवासी गाय को अष्ट माता है।<sup>१</sup>

मध्य—गायों से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ मध्य कहलाती थीं। दूध को पिलाने के बाद बछड़ों को बाँध दिया जाता था। घेप दूध पाकक अपने उपयोग के लिए निकाल लेता था। कालिदास ने 'पितृप्रतिबद्धवस्ता' तथा 'वस्तस्य होमार्थविवेचन धेयम्' द्वारा इसे सूचित किया है। इन गायों के घेप कूड़े और घड़े के समान होते थे। दूध दुहने के लिए उपयोग में जानेवाला पात्र 'योरोहन्' कहलाता था।<sup>२</sup> दूध को योरोह कहते थे। दूध दुहने की क्रिया भी योरोह कहलाती थी।

बिना समय दूध दुहा जाता था वह काम 'तिष्ठद्गु' कहलाता था 'क्योंकि इस समय दूध दुहाने के लिए गायें स्थिर लड़ी रहती हैं।' तैत्तिरीयसंहिता (७-५ ३ १) के अनुसार प्रातः, सँगव और रायं ये तीन दोहन-काल हैं। तैत्तिरीयसंहिता (१४ ९ २) के अनुसार वे तीन बार करने जाती थीं। कुछ सोयों के मत से मध्य में वे संगविनी में ठहरती थीं। यह भ्रान्ति सगव का बर्ष न समझने के कारण हुई है। दूध के लिए गाय ही पाली जाती थी। दुग्ध का बर्ष ही भोग्य होता था। माहियं पय का सर्व्वेभ्य भाव्य में नहीं भी नहीं मिथ्या यद्यपि तोषुक' गोक्षीर और मोषारु की चर्चा पुन-पुन आई है। गायों में कृष्णा अधिक दुपार होती है, इस बात से भाव्यकार परिचित थे।<sup>३</sup>

दुग्ध से दधि एवं दधि से तक्र और बस्त्रम तैयार होता है। दधि का प्रयोग वैश्वदेव भोजन में बहुत होता था। भाव्य में दधि के साथ भात खाने की चर्चा बार बार आई है। तक्र के लिए भाव्यकार ने मथित और उदस्विन्त् सख्यों का प्रयोग अधिकतर किया है। मूठ्ठा बेचकर

१ गीरियं वा समासमा विजाम्भते। घोतरैर्षं वा समासमा विजाम्भते स्त्री वस्ता च।—

१ १-५५, पृ० ४४५।

२ रघुर्वंश, सर्ग २।

३ ३-२-१२३, पृ० ३१८।

४ २ १ १७, पृ० २७४।

५ १ ५-४८ पृ० ५४५।

६. भोग्य कृष्णा बहुक्षीरा। कृष्णा यर्वा तस्यसधीरता।—४-३-४२, पृ० ४२३।

७. १ १ ४७, पृ० १८७।

कुछ सोय बीबिका चमाते थे। इन छागों को मासितिक कहते थे<sup>१</sup>। मन्थन के लिए ह्यंगवीन मध्व का व्यवहार होता था।<sup>२</sup> उसी से घृत तैयार किया जाता था। घृत आयुर्वेदिक माना जाता है। इसीलिए भी आमू है<sup>३</sup> इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था। इससे स्पष्ट है कि गाय भारतीय परिवार का विशिष्ट अंग बन गई थी। इसी कारण गृहस्थ भोजन में अन्नबलि गाय के लिए निकालते थे।

गोधारक—धेनुओं का समूह धैनुक कहलाता था।<sup>४</sup> खासे धेनुक को चराने के लिए नियुक्त थे। ये गाँव-भर की गायों को एक साथ चराने के आते थे और संध्या के समय गिनकर उन्हें वापस कर जाते थे।<sup>५</sup> इसके लिए उन्हें प्रत्येक घर से मासिक या पाश्चात्तिक वृत्ति मिलती थी। बछड़े घर पर रह जाते थे और संध्या के समय बाहर चरकर आने के बाद बछड़े तथा गाय इकट्ठे बाँध दिये जाते थे। गाय चरानेवाला म्वाला गोपाकक वा आगवीन कहा जाता था। जो गायों या बैलों को चराने आदि के लिए उनके पीछे रहता वा चमत्ता वा उस गोपाकक को अनुगामीन कहते थे। आगवीन गायों के लिए उत्तरवासी होता था। उसे सावधान रहना पड़ता था क्योंकि लोग अजंन भय भिक्षण या अपहरण द्वारा जैसे भी हो बायें प्राप्त करने का यत्न किया करते थे।<sup>६</sup> गाय सपति का अंग वी इसलिये जिस गाँव या प्रदेश में अधिक गायें होती थीं वह आभ्यन्तान् माना जाता था।<sup>७</sup> जिस प्रदेश में बायें चरती-भूमती रहती थी उसे गोप्यब कहते थे। जहाँ गायें नहीं जातीं वा पहुँचती थी उसे अगोप्यब कहते थे। अगोप्यब शब्द धने अरण्याँ के लिए व्यवहृत होता था। प्रमाण अर्थ में भी गोप्यब शब्द का प्रयोग होता था जैसे गोप्यब क्षेत्र वा गोप्यब घर बर्ण। यहाँ गोप्यब शब्द छोटाई वा अस्पृशता का बोधक था।

गोष्ठ—गायों के बाँधने के स्थान को घर कहते थे। ये बाड़े थे। यों ४ ३ ३५ सूत्र में इसके लिए गोस्थान और गोभाल<sup>८</sup> शब्द भी आये हैं। गोधाल के समान अन्नघाला भी पुनक होती थी। बछड़ों को बाँधने का स्थान अन्नम रहता था, जिसे बल्लघाला कहते थे।<sup>९</sup> जिस स्थान

१ ५ ३-८३, पृ० ४७४।

२ ह्योवीरोहस्य विहारः ह्यंगवीनं घृतम् ।—५ २-२३, पृ० ३७३।

३ १ १-५७, पृ० ३८५।

४ ४ १-८५, पृ० ९५।

५ ४ २-५५, पृ० १८२।

६ १ ३-६७, पृ० ८७।

७. गावी विवत्तं अरितकरया यो मस्याः प्रसवी भवति तत्र स्र्ग शरते ।—१ १-५० पृ० ३०९

८. वा शस्य यो प्रतिबलत्तु कर्मकारी आगवीनः कर्मकरः ।—५ २ १४ पृ ३७१।

९. २ १-५१ पृ० २९८।

१० ५ १ ११९, पृ० ३५५।

११ ४ ३ ३५।

१२ ४ ३-३६।

पर वह गायें बैसती रही हों किन्तु बाद में अन्य उपयोग में आने लया हो उसे गोष्ठीय कहते थे।' परकर सौन्दर्य के बाद गाय जहाँ बाँधी जाती है, उस स्थान को गोष्ठ कहते थे।' धीरे-धीरे यह स्थान साधारण पद्म-शाळा का बोधक बन गया और गोगासा को गोष्ठ एव मेड़ बाँधने के स्थान को अविगोष्ठ कहन लये। धीरे-धीरे कुछ स्वतंत्र शब्द जब प्रत्यय बन गये तब स्थान-बोधन के लिए कट्ब् पटब् और योग्य प्रत्यय प्रयुक्त होने लये। और इस प्रकार, अविगट उट्टकट, अविपट, उट्टगोमुम, अरगोमुम तत्तत्सम्बन्धी स्थानों के बोधक शब्द बन गये।'

माप्यकार को शास वा फि उच्छ्रिया रूप रंग बाहृति धुधारपन भादि अन्य गुणों में अपनी माता के समान होती है।' प्राम देखा जाता है कि जो गायें प्रतिवर्ष जननेवासी होती हैं, उनकी संस्तान भी प्रतिवर्ष जमती है। वे जानते थे कि पुराबात (पूर्वी हवा) गायों के गर्भ-धारण की प्रेरक होती है। इस काल में य प्राम गर्भिणी हो जाती है।' प्रतिवर्ष जननेवासी गाय को समासमीना कहते थे।' मैथुनेच्छा के कारण जब गाय बैस के लिए रैमाती थी तब उसके लिए एक विशिष्ट क्रियापद का प्रयोग होता था 'बुपस्वति'। वही याम मति विना मैथुनेच्छा के बैस की संवति चाहती थी उसके लिए 'बुपीमति' क्रियापद का प्रयोग होता था।

शक या सक्षण—गायें जब घरने के लिए छोड़ी जाती हैं, तब बछड़े भी उनके साथ जाने के लिए भाहुल हो उठते हैं। चलते समय तो जान के डर से एव अन्यदा बोरी भादि से बचाने के लिए पालक भावों के शरीर पर विशिष्ट बिल्ल बना देते थे। गाय-बैस स्व या सम्पति के अंग थे। हर व्यक्ति अधिक-से-अधिक परिमाण में उनके समाहार का इच्छुक रहता था और यह समाहार या स्व चार प्रकार से ही प्राप्त किया जा सकता था—अथ अपहरण मित्रम और विनिमय से। प्रथम और अनुर्य के लिए मरुत् बन या अन्य वस्तु चाहिए थी और तृतीय के लिए याव्यता या बहृता। द्वितीय ही सरल हो सकता था।' एतवर्ष वे उनके शीशों को रँग देन या छील देते थे। कभी किसी विशिष्ट स्थान को जसाकर दाग देते थे। कभी पूँछ के बाळ काट देते थे। कभी गले में कियोप रंग की रस्सी या धडी बाँध देते थे। इस प्रकार दागी हुई गाय अर्घ्यों के वीच में सरलता से पहचानी जा सकती थी। इस प्रकार दागी गई गायें अर्पित कहलाती थीं।' अर्पित शब्द

१ ५-२ १८ ।

२ ५ २ २९, पृ० ३७५ ।

३ वही ।

४ मत्स्य गणपतिपुराणी—१ ३-२१ पृ० ६२ ।

५ ६ १-५५, का० ।

६ ५-२ १२ पृ० ३७१ ।

७ ७-१-५१ पृ० ४९ ।

८ ६ ४-१६, पृ० ३८१ ।

९ समाहृतं समाहृतः । कः पुनर्गर्भा समाहृतः ? यत्तर्जनं कर्मणं विसर्जयत्यहृतं वा ।—२-१-५१ पृ० २९८ ।

१० अर्पिता गाय इत्युभयन्तेऽप्याग्नौ गोम्यः प्रकाशयन्ते । अर्पितेऽर्कोऽप्युज्ज्वल प्रकाशयन्तु।— ८-२ ४८, पृ० ३९७ ।



अथ वायु से बना है, जिसका अर्थ है प्रकाशन। प्रकाशन के लिए कान या अंघ्रा में विशेष चिह्न बनाने की प्रथा अधिक थी। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि गाय की अंघ्रा या कान पर बनाया हुआ चिह्न उस गाय का ही विशेषक होता है, सम्पूर्ण गोमन्त्रक का नहीं।<sup>१</sup> अथ वा कान का उल्केस शब्देन (६ २८ ३) तथा मैत्रायणीय संहिता (४-२-९) में भी लिखता है।

बीजों का अथ-विक्रम भी अस्मत्ता ही था। विक्रम के लिए उपस्थित बीज को 'पम्पयव' कहते थे।<sup>२</sup> बीजों के अच्छे-बुरे छस्त्रों की पहचान करने में निपुण लोग जिन्हें 'बीजज्ञानिक' कहते थे वे बीजों की परीक्षा कर उनका मूल्य निर्धारित करते थे।<sup>३</sup> सात्व्य और शंक्रु अतपव के बीज प्रसिद्ध थे। बीजों को तथा अक्षरों को नियमित रूप से ममक दिया जाता था जिसका परिमाण निश्चित था। इस आधार पर गोमन्त्रक और अम्बलबन राज्य ही निश्चित परिमाण-बोध के लिए रुढ़ (संज्ञा) बन गये।<sup>४</sup>

बीज—गाय के बछड़े बल्ल कहलाते थे। बीड़े वस्त्र का बल्लतर कहते थे। युवा बीज को उख और उससे बड़े अक्षेड़ उख के बीज को उखतर कहते थे। समस्त बीज को श्रुपम कहते थे किन्तु जब वह बुर्बल हो जाता था तब उसे अतपमतर कहते थे।<sup>५</sup> जो बछड़ा बामे परकर घोट बीज बननेवाला होता था उसे अर्पम्य कहते थे।<sup>६</sup> बल्ल पहले बम्प और फिर बछीबर्ब बनता है। बम्प अकस्मा को प्राप्त होने पर बल्ल बुए में पौठा जाता था। बीरे-बीरे उसे माड़ी और हल सींचने में प्रयुक्त किया जाता था। छाबारण बीज केवल गाड़ी के काम आते थे। अच्छे बीज से माने जाते थे जो माड़ी और हल दोनों में काम आये।<sup>७</sup> बीज रथ भी खींचते थे।<sup>८</sup> प्रदेशों में होने वाली विशेष मस्त्रों के आधार पर बीजों की योग्यता और मूल्य निर्धारित किये जाते थे। कच्छ रंक्रु और सात्व्य के बीज विशेष प्रसिद्ध जान पड़ते हैं। काशिकाकार ने उनका पूषक उल्केस किया है।<sup>९</sup> इन प्रदेशों के बीज प्रायः कमध-काच्छ रंक्रव या रंक्रवामण और सात्व्यक कहे जाते थे। बड़ी जाति के बीज की संज्ञा महोग थी और बुद्ध की बुद्धोद्य।<sup>१०</sup> श्रुपम और अनड्वान् युवा बल्ल के अन्य नाम थे। जो दो बीज एक गाय गाड़ी में या हल में जोड़े जाते हैं उन्हें सम्बद्ध कहते

१ गोपे सप्तमि कर्षे वा कृतं लिङ्गं पीरेव बिभ्रेयत् मवति न तु गोमन्त्रकस्य।—१ ३-६२  
पृ० ८१।

२ ६ २-४२, पृ० २५९।

३ ४ २ ६० पृ० १८७।

४ ६-२-४ का० १।

५ ५ ३-९१ पृ० ४०६ तथा ५ ३ ९१ का० १।

६ ५ १ १३ पृ० ३०५ तथा ५ १ १४।

७ १ १ १ पृ० १०५।

८ पीर्यं अथर्वं बहुति। गोतरोत्यं वा अथर्वं बहुति पीरं च।—५ ३-५५, पृ० ४४५

९ २-२-२४ पृ० ३३६।

१० ४-२-१०० तथा ४-२-१३४ तथा ४-२-१३६।

११ ५ ४-७८, पृ० ५०४।

ये।<sup>१</sup> सम्बद्ध बीसों को 'संयुक्त' भी कहते थे। संयुक्तों में परस्पर बड़ा प्रेम होता है। वे एक दूसरों को देखकर रँमाते हैं और स्नेह-अदर्शनार्थ धाम्य करते हैं, इस बात की ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।<sup>२</sup> गोयुक्त जुते बीसों की जोड़ी अर्थात् पुष्प का कहते थे।

बड़े होने पर बीस बाँधकर रखे जाते थे। मारक या 'बंभल' बीसों को प्रायः बधिया कर दिया जाता था।<sup>३</sup> बधिया बीस बधिका कहे जाते थे। रोप वालीचर्द।<sup>४</sup> यह बात धाम्य बीसों पर ही लागू होती थी। आरभ्य बीसों को पकड़ना सम्भव नहीं था। सीढ़ी भी नहीं पकड़े जा सकते थे। उनका बधिया बनाना कैसे होता? फिर सभारी या बिम्बी की तो बात ही नहीं उठती।<sup>५</sup> उच्छ्रय मीक तीन तीन रस्सियों से बाँधे जाते थे और ओर से बहाइते थे। एक रस्ती उनके गले में और दो बाई बाई ओर नाभ में बाँधी जाती थीं। मये-मये उदा मीकम मय मे उच्छ्रयस हो जाते हैं और रस्ती तुड़ाकर इधर-उधर भागते फिरते हैं। ओतने पर गाड़ी इधर-उधर से जाते हैं। ऐसे बीसों के गले में एक सम्बी मारी छकड़ी बाँधी जाती थी जो दौड़ते समय उनकी टाँगों में लगती थी। यह छकड़ी प्रायः कहलाती थी और इसे संयुक्त बीस प्रसाम्य।

बीसों के बड़े-बड़े सींगों को बिम्बुकट भी कहते थे और ऐसे सींगोंवाले बीस की भी विद्यास या बिम्बुकट संज्ञा थी।<sup>६</sup> जानम में मग्न बीस की बहाइ को अपस्किरण कहते थे।<sup>७</sup> बाड़े के दिनों में ठण्ड से बचाने के लिए उनपर झूले या मोटे प्रचारक डाले जाते थे। जिन बीसों पर झूले नहीं पड़ती थीं वे मारे ठण्ड के ठिकुरकर दुसले हो जाते थे।<sup>८</sup> भाष्यकार का यह कथन विशेष ठण्डे प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश या पंजाब के विषय में अधिक लागू होता है।

गोपालक—बीस भी पायों के समान एक साथ चलने जाते थे। गाँव का ग्वासा एक साथ सारे बीसों को चलाने से जाता था। बीस एक साथ ही एक ढण्डे से हँकि जाते थे। भाष्यकार ने अधिकारयुक्त की उपमा एक-ढण्ड प्रपट्टित गोयुक्त से की है।<sup>९</sup> मरभ्य में ग्वासे एक जगह बीस

१ सम्बद्धाभिर्भौ बन्धाविरपुष्पेते धाम्यम्योर्न्यं न बिहोत।—२-११ पृ० २४३।

२ धाम्येतानि गोयुक्तकामि संयुक्तकानि भवन्ति ताव्यम्योर्न्यं पश्यन्ति द्वार्यं कुर्वन्ति।—

१-५०, पृ० ३०९।

३ १-२-७२, पृ० ६०९।

४ १-२-५२ पृ० ५५५।

५ १-२-७२, पृ० ६०९।

६ १-२-७३ पृ० ६०९।

७ आ० १ पृ० ६।

८ ६११६१ पृ० २०४।

९ ५-२-२८, पृ० ३७४।

१० ६-११४२, पृ० १९०।

११ गौरिबाहुतमोक्षाटः प्रायस्य सिद्धिरे कृतम्।—३-३-२१, पृ० ३०२।

१२ गोयुक्तकामि कारा। तद्यथा गोयुक्तमेकवृत्तप्रपट्टितं सर्वं समं धोयं दधयति।—

४-२-७० पृ० १९४।

मपस्य क्रिया करते थे और पशु स्वतन्त्र चर कर रहे थे। गाय बैल और बकगियाँ एक साथ चर करती थीं। सहा किसी प्यासे का ध्यान पशुओं की ओर जाता तो साबियों से पूछ बैठता कोई बैलों की भी रसवासी कर रहा है या नहीं। कोई गायों को डूबनेवाली क्रिया अनुपवी कहलाती थी। गाय-बैल स्वतन्त्र बातावरण में पूछें उठाकर खेचते या भागते थे। कुछ लोग बसाने के लिए और कुछ काम के लिए जंगल से मोबर भीम लाते थे। जंगल में मोबर (गोमय) पटा पड़ा रहता होगा। मोबर जलाये जाने की चर्चा भाष्य में है। आर्द्र और शुष्क गोमय की पृथक्-पृथक् चर्चा होना से गाबर के उपले बनाये जान का भी संकेत मिलता है।

**बैलों के विशेषण**—बैल रथ खींचने जुए में जुठने आदि के काम आते थे इसका उल्लेख उपर हुआ है। कभी-कभी दो रथ एक घुसरे में जोड़ दिये जाते होंगे और बैलों की एक ही जोड़ी उसे खींच लेती होगी। भाष्यकार ने ऐसे बैल को जो दो रथ जो रहा हो द्विरथ्य कहा है? जो बैल दो रथों का एक साथ खींचने की क्षमता रखता था या खींचना करता था उसे द्विरथ्य कहते थे। भाष्यकार रथ युग (जुवा) और प्रासंग का बहान करनेवाले बैल के लिए क्रमशः रथ्य युग्म और प्रासंग्य धर्मों की लिप्यति करने के बाद कहा है कि डोन या खींचने के अर्थ में रथ शकट, हल और सीर से प्रत्यय करने के लिए अलग सूत्रोल्लेख की आवश्यकता नहीं क्योंकि 'तस्वधर्म' से ही काम चल जायगा। फिर इसका उत्तर देते हुए कहा है कि धर्मों में अन्तर है इसलिए पृथक् प्रत्यय-विधान की आवश्यकता हुई क्योंकि 'रथ खींचता है' और 'रथ को खींचनेवाला' दोनों एक ही बात नहीं है। जो दो रथ खींचता है उसे द्विरथ्य कहते हैं और जो दो रथ खींचने के योग्य होता है वह द्विरथ्य कहलाता है। शक्ति और कार्य के अनुसार बैलों के लिए पृथक्-पृथक् विशेषणों का व्यवहार होता था। जैसे बुध्नं प्रीरेय सर्वबुध्नय एकबुध्नय या एकधुर, शाकट, हासिक शैरिक रथ्य युग्म द्विरथ्य द्विरथ्य आदि। ये नाम जोड़ी के साथ या उनके जूतनवाले गाड़ी हल रथ आदि में चलनेवाले युग (जुए) में जोड़े जानेवाले दो रथों के खींचनेवाले आदि बैलों के लिए प्रयुक्त होते थे।

साल बैल को लोहित काले को कृष्ण और सफेद बैल को श्वेत कहते थे। बिना बैल श्वेत का प्रयोग किये केवल 'लोहितो वाचति कृष्णो वाचति' का अर्थ भी क्रमशः 'छात्र बैल रीढ़ता है,

१ १ २-७२, पृ० १७८।

२ १ २-५८, पृ० ५५९

३ ५-२-९०।

४ १ ३ १७, पृ० ८९।

५ ८४ ३८, पृ० ४९४।

६ ४ ३ १५५, पृ० २६६।

७ ४ २ १२९, पृ० २१६

८ अन्यो हि शकरो रथ बहस्यन्वो रथस्य बोधेति। इी रथी बहति स द्विरथ्यः। यो

इयो रथयोर्बिहा स द्विरथः—४४६, पृ० २८४।

९ ४-४-७७ से ८१ तक तथा बहो काशिका।

काला बैल चौड़ा है, यही होता था। माप्यकार न कहा है कि दण्ड सर्वत्र नियत-विषय देखे जाते हैं। बैल साल हो और घोड़ा भी तो बैल को लोहित कहते हैं और बोरे का धोण। इसी प्रकार काले और सफेद बैल को क्रमशः कृष्ण और श्वेत कहते हैं, किन्तु बाटे को हम और कर्क। कृष्ण बृषभ का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।

रथ और हल में चलते बैल मार्ग के पास लड़ी फल में मुँह मार देते ही हैं। यह बात भी माप्यकार की दृष्टि से सुनी न थी। बैलों को हाँकनेवाले या उन्हें बैठाने उठाने अर्थात् उनकी परिचर्या करनेवालों को क्रमशः मासारथि और घोसाय या गोसादि कहते थे।

अदब—गो और बृष के बाद सर्वाधिक उपयोगी पशु अदब था। वह सचारी क काम तो भाटा ही था रथ भी लीचता था। अदब और बृष दोनों रथ में जोते जाते थे। रथ में कई घोड़े एक साथ जुते थे, इसलिए साधारण घोड़े की अपेक्षा उसकी पति तीव्र होती थी। साधारण बन्धु जिन में चार पात्रम भाटा या और अच्छी नस्ल का अदब आठ योजन। पणति की अपेक्षा आसिक कम समय में मार्ग तय कर लेता था और आसिक की अपेक्षा रथिक। जितना मार्ग सामान्य बन्धु एक दिन में चल लेता था उसे आसिक अर्धा कहते थे। सामान्य अदब चार योजन और अर्धा घोड़ा आठ योजन प्रतिदिन चलता था। घोड़े के सवार को अदबवार या अदबपास कहते थे। अदबों से युक्त (युताहुमा) रथ अदब-रथ कहलाता था। अदब युद्ध में भी काम आते थे। गिनित अदब हाथी को पराजित कर सकते थे। अदबरथ तो संशय का अनिवार्य अंग था। बैलों द्वारा चलाया जानेवाला रथ घो-रथ कहलाता था। इसी प्रकार उष्टररथ और गर्वभरथ भी होते थे। बन्धु का सवार अन्वारोह और सार्ध अदबवार या अदबवाल कहलाता था और रथ के सवार को रथिक कहते थे। अदबपाला को 'मन्धुरा' कहते थे।

१ २-२ २९, पृ० ३८४।

२ १ १४ पृ० १३७।

३ ३ १४७, पृ० २९१।

४ १ २ ४१ काशिका।

५ अस्वीर्यं यावत्वारि योजनानि गच्छति। अस्वतरोर्यं योष्यती योजनानि गच्छति।—

५ १-५-५५, पृ० ४४६।

६ १ १-५० पृ० ४४५।

७ ५ २ १९।

८ ८ १ १८, पृ० ३४२।

९ २ १ ३४, पृ० २८७।

१० १ १-७२, पृ० ४४७।

११ ४ १-१९० पृ० २५१।

१२ १ १-२९, पृ० ६४।

१३ ८२ १८, पृ० ३४२।

१४ १ ३ २५, पृ० ६४।

१५ १ १ ३, पृ० १०९।

घोड़ी को 'बडवा' कहते थे।' उसके लिए हमी शब्द भी प्रचलित था।' घोड़े बैस या गाय के ठीक विपरीत पिता ने स्वपुत्रानुसारी होते हैं।' वे चंचल होते ही हैं। सरकता से उन पर बैठी सबाएँ गिर सकती हैं क्योंकि वे छोटी-छोटी बात से चौंक उठते हैं। यैषी घोड़ियाँ रन्वी तुड़ाकर भाग जाती होती हैं।' बडवा नीले रंग की भी पाई जाती थी।' बडवा जिससे गामिन जाती थी वह (बडवा का पुंसह्वार) बाह्येय कहा जाता था। भूप शब्द प्रायः सभी पशुओं के 'नर' के लिए कृत् हो गया था। मास अस्त्र को दीव्य काये अयव को जैम और सकेय घोड़े को कर्क कहते थे। माया में अस्त्र पर आश्रित एक प्रयोग ही बल पड़ता था—'गप्टास्त्रह्वारबक्त्' अर्थात् मेरे घोड़े को घने और तुम्हारा रथ टूट गया। मेरा रथ और तुम्हारे अस्त्र मिश्रणर काम चल सकता है। गर्म बारण की इच्छा से जब घोड़ी घोड़े के लिए हींघटी थी तब 'अस्त्रस्वसि बडवा' प्रयोग होता था। कामेच्छा के अतिरिक्त यों ही साहचर्य के लिए इच्छा करने पर 'अस्त्रीयति' प्रयोग होता था।

सिन्धु-प्रवेस के घोड़े प्रसिद्ध थे। इसलिये घोड़े का सामान्य नाम ही सैम्बल हो गया था।" पारसी घोड़ों के अङ्गकोप कुटवाकर उन्हें भी बैसों के समान बधिया कर लिया जाता था। ऐसे घोड़े बड़ी अल्प कहलाते थे।" अस्त्र को किन्तोर भी कहते थे।"

अस्त्रर—घोड़ी (बडवा) और गर्दम के संयोग से अस्त्रर या अस्त्ररपी की उत्पत्ति होती है। अस्त्रर भार होने के काम आते हैं।" अस्त्रर का उत्प्रेक्ष अयव में और उसके बाह्य पृष्ठ है। वे शकट खींचते थे।"

गज—गजा तथा गज्य बनी-मानी भोग गज पाछते थे। गज तो द्विप भी कहलाते थे " क्योंकि वह भुग तथा घुंङ दो-दो स्थानों से पी सकता है। गज के अय नामों में 'स्तम्बेरय' भी"

- १ २-४-१२ पृ० ४६८।
- २ ४ १ ६३ पृ० ७४।
- ३ पतञ्जलिभाष्य अनुक्रमेण — १ ३-२१ पृ० ६२।
- ४ १ ४-२४ पृ० १६१।
- ५ ४ १-२७ पृ० ४७।
- ६ ४ १ ४२ पृ० ५५।
- ७ ४ १ १२० पृ० १४२।
- ८ १ १-५० पृ० ३१३।
- ९ ७१-५१ पृ० ४९।
- १० १ १ ४ २०४।
- ११ १ २-९१ पृ० २७५।
- १२ ५ ३-९१ पृ० ४७६।
- १३ १-२-६५ पृ० ५९८।
- १४ वैदिक इतिहास १ ४३।
- १५ ३-२ ४ पृ० २०९।
- १६ ३-२ १३ पृ० २११।

एक था क्योंकि हाथी स्तम्भ (बुल-गुल्म) में रमण का प्रेमी होता है। स्तम्भ टूट या क्षमों को भी कहते थे जिसमें हाथी का पाँव अजीर से बाँधा जाता था। हाथी का एक नाम मिस्रगम था क्योंकि उसकी पाठ बड़ी नियमित और मन्बर होती है। गर्जों का समूह गजवा और हस्तिमों का समूह हास्तिक कहलाता था।<sup>१</sup> हाथी पाल्शु होते थे और बंगली भी। जयभी हाथी को भारप्य मज कहते थे। हिमालय की ठसहटी हाथियों के लिए प्रसिद्ध थी। इसी उपत्यका से पाल्मे के लिए हाथी पकड़कर लाये जाते थे।<sup>२</sup> हस्तिपक उन्हें प्रचिणन लेकर बसना सिसझाते थे।<sup>३</sup> सवारी के लिए हाथी बैठ जाता और आठोड़क उसपर चढ़ लेते थे। युद्ध का तो वह अनिवाय भग था ही। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि हाथी और मछक का सन्निकष समान है, मद्यपि हाथी में प्राणिक की मात्रा विधेय है। हाथी-दाँत घवा से ही लोगों के आकर्षण के विषय रहे हैं। दाँतों के लिए काम हाथी का बध करते थे।<sup>४</sup>

हाथी को जो कुछ उड़द आदि मध्र खाने को दिया जाता था उसे हस्तिविवा कहते थे।<sup>५</sup> डेबाई या गहराई नापने (उम्मान) के लिए हस्ती प्रतिमान था। हाथी-बराबर गहराई की वस्तु हस्तिद्वयस या हस्तिमात्र कही जाती थी।<sup>६</sup> हाथी जब नमी स्तम्भ से झुस जाता तब मगर म हाहाकार मचा देता था। लोगों को खूबता-कुपछता सड़कों पर बूमता या बैसा कि माम्ठी-माभव में बगित हुआ है।<sup>७</sup>

उप्यु—उप्यु माक होने और सवारी के काम आता था। वह गाड़ी में भी जोता जाता था।<sup>८</sup> रप सीपता था। डैट बाँधने का स्थान उप्युमोठ कहा जाता था।<sup>९</sup> पतंत्रिकि ने कहा है कि उपमान या साधुपन के कारण कर्त्री-कमी वस्तुमों का कोई नाम प्रपक्षित हो जाता है। मूलतः सो बाँधने के स्थान को मोठ कहते थे। वाय म किसी भी पशु को रहने का स्थान मोठ कहलाने लगा। इसी प्रकार, सो बैलों की जोड़ी को गोयुम कहते थे। वाय में उपचारयु डैनों की जोड़ी भी उप्यु-गोयुम कही जाने लगी। डैनों का समूह उप्युकट कहा जाता था।<sup>१०</sup>

- १ ३-२-३८, पृ० २१६।
- २ ४-२-२३।
- ३ ४११ पृ० १०।
- ४ ४-२-२२६, पृ० २१६।
- ५ ५-२-१४ पृ० ४०८।
- ६ १३-६७, पृ० १५।
- ७ हस्तिमजकपोस्तुम्भ सन्निकर्ष प्राणिभूषणस्य तु ।—१४-१०९, पृ० २१८।
- ८ २-३-३६ पृ० ४३१।
- ९ २१३६, पृ० २८९।
- १० ४११, पृ० १०।
- ११ अपरपल्लो हस्ती ।—३-२-३३ पृ० २१९।
- १२ ४३-१२०, पृ० २५१।
- १३ ५२-२६, पृ० ३७५।

बैलों के समान ऊँटों को भी नमक दिया जाता था। नमक की इच्छा होने पर बैलों के समान ऊँट भी मिट्टी चाटने लगता है। ऊँट की इस कामना के लिए संस्कृत में एक विशिष्ट श्रियापद 'स्मरणस्वयति' का प्रयोग होता है। 'उष्ट्र-सर, उष्ट्र-गर्भम उष्ट्र-करम और 'मासो न गर्भम' जाति प्रयोगों में उष्ट्र और गर्भम का बार-बार साप-साप उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनों पशुओं का उपयोग-साम्य या साहचर्य था। ऊँट के बालक को उष्ट्रप्राय कहते थे।<sup>१</sup> ऊँट के अंग उपमानों का काम देते रहे हैं। ऊँट क समान सभी गरदनवाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुखवाले उष्ट्रमुख कहे जाते थे।<sup>२</sup> इसी प्रकार, सरमुख भी होते थे। ऊँटों का बैठना भी बालन का एक प्रकार था।<sup>३</sup> बैठने की यह मुद्रा उष्ट्रासिका कहलाती थी।<sup>४</sup> सम्भवतः साक्ष्य के कारण ही ऊँची बरबलवाली बटी (माप) उष्ट्रिका कही जाती थी। व्याघ्र के समान ऊँट की काल भी उपयोग में आती थी। कहा नहीं जा सकता कि किस प्रकार इसका उपयोग होता था। ऊँट को करम भी कहते थे। उसे शूलका में बाँधकर रखा जाता था।<sup>५</sup> वास्तव में यह गृध्रकावती रस्ती ही होती थी जो नरक के रूप में उसे पहुँचाई जाती है। ऊँट के सवार या सईस को उष्ट्रसादि कहते थे।<sup>६</sup> उष्ट्र या तो मठ-प्रदेश में मिलते थे या बहुत पहले ही बाहर से भारत में लाये गये थे। वैदिक काल तक वे हम उर्गें बोम होते और शकट खींचते पाते हैं।<sup>७</sup>

**गर्भम**—उष्ट्र के समान खर भी मार-बहन एवं शकट-बहन के लिए पाला जाता था। उक्त उल्लेख प्रायः उष्ट्र के साथ हुआ है। ४ ३ १२ सूत्र के माप्य म गर्भम द्वारा खींचे जाने वाले शकट को गर्भम नाम दिया है। खर को भी गर्भम कहा है। इससे अनुमान होता है कि खरखर या गर्भम खर में भी जोते जाने थे। ऊँचे स्वर से विस्थाने के कारण इसे (ख=सिद्ध+र=वाला) खर कहने लगे थे। गर्भम मुख्य रूप से मार डोने के काम आते थे।<sup>८</sup> खर पालन की प्रथा के आविर्भाव का पता गोस्वान मोपास और अदबस्वान क समाम (४ ३ ३५) सूत्र में खरपास के उल्लेख से चलता है। यार्थों म प्रत्येक प्रकार के पशुओं के बाँधने के लिए धामाएँ रहती थीं बिचका अपभ्रंश रूप 'घार' आज भी प्रचलित है। कुडुघार का 'घार' भी इसी धामा का अपभ्रंश है। नवे पर सवाती

- १ ७-१५१ पृ० ४९ ।
- २ ३-२१ पृ० २०१ ।
- ३ ११६३ पृ० ४०७ ।
- ४ ११-७० पृ० ४४२ ।
- ५ ३ ११७ ० १२६ ।
- ६ कही ।
- ७ ४१३ पृ० २२ ।
- ८ ४३६० पृ० २३८ ।
- ९ ५-२-७९, पृ ३९९ ।
- १० ६२४० ।
- ११ अर्थ० २०, १२७-१३२ ।
- १२ ८ ३ ३३, पृ० ३५४ ।

भी की जाती थी।<sup>१</sup> गर्भों की जोड़ी को श्वरसाम्य कहते थे।<sup>२</sup> एक स्वान पर माप्य में गर्भ के कापाय रंग के कार्मों का उत्सृष्ट मिलता है।<sup>३</sup> मुर रंग के यथा की स्वतन्त्र मस्त की चर्चा एक स्वान पर है। सर आरम्भक भी होते थे।<sup>४</sup> यह ही निर्विवाद है कि सर बाज क समान अम्युस्य नहीं था। गर्भ के जो पाँवों क कापाय (येस्मा) रंग का उत्सृष्ट भी मिलता है।

महिय—महिय और महिपी पत्रबलि-युग में विशेष साकप्रिब मही थे। सारे पत्र में उन्हें पाकने की प्रथा नहीं जान पड़ती। वे प्रायः अरभ्यों में रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग में उनका उपयोग होता है और किसी में नहीं। तबरा मँसों को, जिनके सींग निकल रहे हों, कटाह कहते थे।<sup>५</sup>

अजा और अजि—अजा को ह्यक लोम घन मानते थे।<sup>६</sup> भाष्यकार ने कहा है कि देवदत्त क पास अजा और अजि-घन है। यह नहीं कह सकते कि किसक पास अजा-घन है और किसके पास अजि-घन। इन दोनों को बम म गिनने का कारण भी था। प्रारम्भ में अजिकोम भारतीय किसान भड़-बकरियाँ पालत थे। वैदिक काल में ये सम्पत्ति मानी जाती थी इसलिए इनक पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गान्धार और पदधी की अजबाली भड़ों का उत्सृष्ट आग्नेय में बार बार मिलता है। बार में हिमालय-प्रदेश अजा का प्रमुख स्रोत बन गया। थैड़ो और बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊँस और मांस प्राप्त करना ही था।

गो क बाद सबसाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राप्ती अजा थी। हाथी अदब आदि को सब लोग मही पास पाते थे। अजा भूष देती थी। बर्ष में बहुत सारे अजब देती थी। बकर का मांस खाया जाता था। उसक चमड़े मशक आदि के काम आते थे। इसलिए, अज और अजि को घन कहा है। अजि का ऊँस और मांस दोनों काम में आते थे। जिस बेल में वे पत भर बैठ जातीं वह छात्र पाने के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यशों में भी बकरे की वस्ति थी जाती थी। जो और अज दानों यज्ञ म बलि किय जाते थे।<sup>७</sup> अज को बकर मी कहते थे।<sup>८</sup> अज अनेक सफवाला प्राणी है।<sup>९</sup> इस प्रकार भाष्यकार ने प्राणियों के विशेष और अतकथक वे वर्ग भी बतलाये हैं। अज छोटा पशु है। उस आठे-जाते लोप अपने साथ एक गाय

१ १-२-५० ।

२ ५२-२९, पृ० ३७३ ।

३ कापायी गर्भस्य कर्मा ।—४-२-२, पृ० १६६ ।

४ २-१ ६९, पृ० ३२३ ।

५ १ १-२२, पृ० २०६ तथा ४-२-८७, पृ० १९६ ।

६ अजाविचनी वैवतस्यवतौ न ज्ञाने कस्याजापनं कस्याबय इति — १ १ ४६, पृ० २८० ।

७ गीरनुबध्योऽधोमिवोमीय ।—४ १ ९२, पृ० ११५ ।

८ वही ।

९ १ २ ६५, पृ० ५९८ ।

१० १-२-७३, पृ० ६०९ ।



बैलों के समान अँटों को भी समक दिया जाता था। समक की इच्छा होने पर बैलों के समान अँट भी मिट्टी चाटने लगता है। अँट की इस कामना के लिए ससृज्त में एक विशिष्ट क्रियापर 'लवणस्यति' का प्रयोग होता है।<sup>१</sup> उष्ट्र-सर, उष्ट्र-वर्षम उष्ट्र-करम और 'मारवो न वर्षम' आदि प्रयोगों में उष्ट्र और वर्षम का बार-बार साब-साब उल्लेख होने से अनुमान होता है कि इन दोनों पशुओं का उपयोग-साम्य या साहचर्य था। अँट क 'बासक' को उष्ट्रप्रणाय कहते थे।<sup>२</sup> अँट के अथ उपमानों का काम देते रहे हैं। अँट के समान लम्बी गरदनवाले उष्ट्रग्रीव और उष्ट्र जैसे मुखवाले उष्ट्रमुख कह जाते थे।<sup>३</sup> इसी प्रकार, सरमुख भी होते थे। अँटों का बैटना भी आसन का एक प्रकार था।<sup>४</sup> बैटने की यह मुद्रा उष्ट्रासिका कहलाती थी।<sup>५</sup> सम्भवतः सायुष्य के कारण ही अँटों पर रत्नवासी पटी (माप) उष्ट्रिका कही जाती थी; ब्याघ्र के समान अँट की आस भी उपमोय में आती थी। कहा नहीं जा सकता कि किस प्रकार इसका उपयोग होता था। अँट का करम भी कहते थे। उसे गृंसला में बाँधकर रखा जाता था।<sup>६</sup> वास्तव में यह गृंसलापटी रस्सी ही होती थी जो नकेस के रूप में उसे पहनाई जाती है। अँट के सवार या सर्बस को उष्ट्रसावि कहते थे।<sup>७</sup> उष्ट्र या तो मरु-भ्रमण में मिस्ते थ या बहुत पहले ही बाहर से भारत में लाये गये थे। वैदिक काल तक म हम उन्हें बोझ बोते और सफ़ट खींचते पाते हैं।<sup>८</sup>

वर्षम—उष्ट्र के समान खर भी मार-बहन एवं सफ़ट-बहन के लिए पाला जाता था। उसका उल्लेख प्रायः उष्ट्र के साथ हुआ है। ४३१२ सूत्र के माध्य में गर्भम द्वारा खींचे जाने-वाले सफ़ट का वर्षम नाम दिया है। खर को भी गर्भम कहा है। इस अनुमान होता है कि खच्चर या वर्षम रूप में भी बोते जाते थे। अँटों से बिल्काने के कारण इसे (स—छिद्र+र—वास) सर कहने लगे थे। गर्भम मुख्य रूप से मार होने के काम जाते थे।<sup>९</sup> खर पालने की प्रथा क आशिक्य का पता गोस्वान पोशाक और मयस्वान क समान (४३-३५) सूत्र में सरसास के उल्लेख से पकड़ा है। गाँवों में प्रत्येक प्रकार क पशुओं के बाँधने के लिए आसार्प रकृती की जिसका अपभ्रंश रूप 'सार' आज भी प्रचलित है। मुड़घार का 'सार' भी इसी धासा का अपभ्रंश है। नये पर सबायी

- १ ७-१५१ पृ० ४९ ।
- २ ३-२१ पृ० २०१ ।
- ३ ११६३ पृ० ४०७ ।
- ४ ११-७० पृ० ४४२ ।
- ५ ३१६७ ० १२६ ।
- ६ वही ।
- ७ ४१३ पृ० २२ ।
- ८ ४३६० पृ० २३८ ।
- ९ ५-२-७९ पृ० २९९ ।
- १० ६२४० ।
- ११ मयसं० २०, १९७-१३२ ।
- १२ ८३३३, पृ० ३५४ ।

भी की जाती थी।<sup>१</sup> यमों की जोड़ी को करगोपुग कहते थे।<sup>२</sup> एक स्थान पर भाष्य में गर्वम के कापाय रंग के कानों का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> भूरे रंग के यमों की स्वतंत्र नस्ल की चर्चा एक स्थान पर है।<sup>४</sup> कर आरम्भ भी होते थे।<sup>५</sup> यह तो निर्विवाद है कि कर आज के समान व्यस्यम्य नहीं था। गर्वम के दो पाँवों के कापाय (गैरजा) रंग का उल्लेख भी मिलता है।

महिष—महिष और महिषी पर्वजलि-युग में विशेष लोकप्रिय नहीं थे। सारे देश में उन्हें पालने की प्रथा नहीं जान पड़ती। वे प्रायः अरण्याँ में रहते थे। आज भी भारत के किसी भाग में उनका उपयोग होता है और किसी में नहीं। तरुण मैदानों को जितने सीम निकर खड़े हों कटाह कहते थे।<sup>६</sup>

। अजा और अजि—अजा का कृपक भोग बन मानते थे।<sup>७</sup> भाष्यकार ने कहा है कि वेधरत क पास अजा और अजि-जन है। यह नहीं कह सकते कि किसके पास अजा-जन है और किसके पास अजि-जन। इन दोनों को धन में गिनने का कारण भी था। आरम्भ में अजिक्रांश भारतीय किसान भेड़-बकरियाँ पालते थे। वैदिक काल में य सम्पत्ति मानी जाती थी इसलिए इनके पालन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। गाण्धार और पदरभी की ऊनवाली भेड़ों का उत्कृष्ट शून्वेध में बार बार मिलता है। बाद में हिमालय प्रदेश ऊर्जा का प्रमुख स्रोत बन गया। भेड़ों और बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊन और मांस प्राप्त करना ही था।

पा क बाद सर्वासाधारण के सर्वाधिक उपयोग का प्राप्ति अजा थी। हाथी अथवा आदि को सब लोग नहीं पाल पाते थे। अजा दुध देती थी। वर्ष में बहुत सारे बच्चे देती थी। बकरे का मांस खाया जाता था। उसके चमड़े मरक आदि के काम आते थे। इसीलिए, अज और अजि को धन कहा है। अजि का ऊन और मांस दोनों काम में आते थे। जिस क्षेत्र में वे रात भर बैठ जातीं वह बाद पान के कारण अधिक उपजाऊ हो जाता था। यज्ञों में भी बकरे की बलि दी जाती थी। पा और अज दोनों यम में बलि दिये जाते थे।<sup>८</sup> अज को बकर भी कहते थे।<sup>९</sup> अज अनेक शक्याका प्राप्ति है।<sup>१०</sup> इस प्रकार, भाष्यकार न प्राणियों के शिकार और अनेकपक्ष ये वर्ग भी बतलाये हैं। अज छोटा पशु है। उसे माते-माते भोग अपने साथ एक पाँव

१ ६-२-५० ।

२ ५-२-२९, पृ० ३७६ ।

३ कापायौ पर्वमस्य कपी ।—४-२-२, पृ० १६६ ।

४ २-१ ६९, पृ० ३२३ ।

५ १ १ २२, पृ० २०६ तथा ४ २-८७, पृ० १९६ ।

६ अजाविषयी वेधरतयज्जदती न जायते कस्याजापनं कस्याजय इति —१ १ ४६, पृ० २८० ।

७ पौरमुष्योऽश्विनियोमीय ।—४-१ ९२, पृ० ११५ ।

८ अजि ।

९ १-२-६५, पृ० ५९८ ।

१० १-२-७३, पृ० ६०९ ।

से दूसरे गाँव से जाया करते थे।<sup>१</sup> अज-असि की पत्नी तो अनेक स्थानों पर है। एक स्थान पर इन्द्र और अग्नि को छाग की हडि बने का उल्लेख है।<sup>२</sup> बाज और मेढ़े का साथ उल्लेख भी मिलता है।<sup>३</sup> महात्त बड़े बकरे का पावक था और उरुद्र मेढ़े का। भाष्यकार ने अलोमिका एडका का उल्लेख किया है। ऊन काट लेने के बाद भेड़ अलोमिका हो जाती है। ऊन काटनेवाले व्यक्ति को अविभजन कहते थे।<sup>४</sup> ऋग्वेद में अग्नि का बार-बार उल्लेख है। बार में उसका उल्लेख अज के साथ समस्त पद में प्रायः मिलता है। बृक इसका सबसे बड़ा सत्रु था। सोमरस छानने की वासनी भेड़ की ऊन की बनी थी। गन्धार की भेड़ ऊन के लिए प्रसिद्ध थी। डॉ० पिपल के मत से पक्ष्मी (रावी या इरावती) नाम ही पक्ष् से बनी होने के कारण पड़ा था।

अग्नि का मांस भी बकरे के समान खाया जाता था। अग्नि के मांस को आधिक कहते थे। आधिक शब्द की व्युत्पत्ति आधिक शब्द से मानी है। अज ऊँची-नीची किसी भी जगह पर जा सकता है। इमल्पि, मानव-सुर्याम सुँदरे पार्श्व को अजपथ कहते थे।<sup>५</sup> कृष्ण भोग भेड़-बकरी खरीबने-बेचने का व्यवसाय करते थे और उसी से गुजारा करते थे।<sup>६</sup> तैत्तिरि इसी प्रकार के व्यवसायी थे इमल्पि उनका नाम ही अजा-तैत्तिरि पद मया था।

भाष्यकार ने 'अजाहृपाणीय' शब्द का उल्लेख किया है।<sup>७</sup> जो अजा और हृपाथ-सम्बन्धी किसी बहानी की ओर सज्ज करता है। बकरे के चर्म का उपयोग अनेक प्रकार से होता था।<sup>८</sup> भेड़ का दूध भी व्यवहार में आता था। भेड़ के दूध को अक्सिद अक्सिदुस या अक्सिरीस कहते थे।<sup>९</sup> भेड़ें जब एक दूसरी से सटी हुई सहस्रों की संख्या में सेठ में बैठ जाती थीं तब ऐसा समझा जा कि सेठ में स्वेत वस्त्र बिछा हुआ हो। इसीलिए भेड़ों के इस प्रकार बैठने को अक्सिपट और भेड़ों के समूह को अक्सिपट कहते थे।<sup>१०</sup> भेड़ों के बैठने या

१ १४-५१ पृ० १७९।

२ इन्द्राग्निर्मांसां हविर्बर्वा मरुः प्रसिक्तं प्रेत्य ।—२ ३-६१, पृ० ४४८।

३ २४ १२ पृ० ४६७।

४ २ ३-५० पृ० ४४२।

५ ३-३-१२६।

६ वे० इण्डे० १४१।

७ अजेर्वात्तमिति विवृष्ट्याधिकशब्दाव्युत्पत्तिर्भविष्यत्याधिकमिति ।—४ १-८८,

पृ० १०२।

८ ३-१ १४ पृ० ५४।

९ २ १ ६९ पृ० ३३०।

१० २ १ ३ पृ० २६७।

११ १ १ १ पृ० ९४।

१२ ४-२ ३६ पृ० १७७।

१३ यथा मन्त्राः प्रतीर्षा संपास्तः कट एवमवयः संहता अक्षिपटः। यथा कटः प्रतीर्षा एवमवयः प्रतीर्षा अक्षिपटः ।—५ २-२९ पृ० ३७६।

रहने का स्थान अवियोष्ठ कहलाता था।' मन्त्र के लिए हितकर यन्त्र को ब्रह्म्या कहते थे।'

रोमन्ध—ये सब यन्त्र रोमन्धकारी हैं। एक साथ मोहन निगलकर वाद में पीरे-पीरे उसे ब्रह्मके की क्रिया रोमन्ध कहलाती है। भाष्यकार ने ३ १ १५ सूत्र के भाष्य में रोमन्ध की व्याख्या की है। उन्नीयन वा मन्वीयन का मन्ध करना रोमन्ध कहलाता है, किन्तु उसमें हनु भी बनना चाहिए। यन्त्र के लिए 'रोमन्ध्याये' एसा प्रयोग होना है, किन्तु कीट के लिए नहीं। कीट के लिए 'रोमन्ध बर्त्तयति' एसा ही प्रयोग इष्ट है। यदि ब्रह्मीयं (अपानमाग स बाहुर निरुवा हुमा पदार्थ) का मन्ध भी रोमन्ध माना जाता है, तो कीट की ब्रह्मीयन-मन्धक्रिया भी रोमन्ध मानी जायगी और उसने लिए भी 'रोमन्ध्याये' प्रयोग होने लगेगा। 'हनु चत्ने' कहे वेन पर कीट की मन्ध-क्रिया रोमन्ध में नहीं आती, क्योंकि उसमें हनु बनन नहीं होता।' काणिका में पदत्रय के लिए अष्टम सन्ध का प्रयोग किया गया है। 'भातपस्वर्जया कन्दुकी च' (५ ३-५१) की व्याख्या में 'अष्टम पा' ब्रह्मसमा भाग कहा है।

इवा—हुता मानव का बड़ा पुण्य मित्र है। कुरु-कुरु करने के कारण इस कुकुर भी कहल वे।' ठंभी मन्ध क कुत्ते को कौनेयक कहल ये।' बहु वेत्तो म फल की रक्षा करता था। इस क वेत्तो को श्रुगाक के खाने से बचाता था क्योंकि कुत्ते और श्रुगाक का पारवर्तिक बिरोध है।' भाष्य कार कुत्ते की प्रकृति म परिचित था। उन्नीयन कहा है कि जब हुता आभ्यन्ध्याम की तस्य में होता है, तब वह कू-कू करता है।' म इत बात में भी अलगत था कि इवा और बराह की घबुता जन्मजात होती है। इस घबुता का रवाचराहिका कहते थे। कुत्तो क रहन क लिए भी कुछ घरों में पुषक करते बना दिये जाते थे यह संकेत गोष्ठरथ से प्राप्त होता है।' ये दवागोष् के साल बनवाते थे जो अक्षयय क रूप में कुत्त पासन का काम करत था। ये लोय दवागमिक कहलाते थे।' स्वागमिक लोय निश्चित धन लेकर उपयोग के लिए कुत्ते देते थे। मृगया क लिए आसटक लोय दवागमिकों को साथ ल जाते थे। राजाओं के अपने निजी दवागमिक होते थे। पागल या दवागमिक कुत्ते मरवा दिये जात थे।' हुता तद्वन-तद्वनकर बड़ी वेवैनी स मरता है, इसलिये स्वपान या 'कुत्ते

१ ५-२-२९, पृ० ३०५।

२ ६ ३ १५, पृ० ३२२।

३ ब्रह्मीयन्ध बाह्वीयस्य मन्धौ, रोमन्धः। यद्यप्य हनुचत्ने इति ब्रह्मन्धमिहामातुः कोटो रोमन्ध बर्त्तयति ।—३-१ १५, पृ० ५५ ।

४ ८-२ १ पृ० ३१२ तथा ८-२-७८, पृ० ३८०।

५ ४-२ ९९, पृ० २०२।

६ २ ४-१२, पृ० ४६७।

७ १ ३-२१ पृ० ६२ तथा ६-१ ४२, पृ० १९० ।

८ ४-२ १०४ पृ० २१०।

९ ४ २-७७ पृ० ५०४।

१० ७-३-८, पृ० १७७।

११ ३ १ १०८, पृ० १८५।

की मीठ' एक मुहावरत भी बन गया था। मरने के बाद कुत्ते सड़क पर बसीट्ये हुए साम जाते थे। यह उपेक्षा और अपमान की भावना भी 'कुत्ते की मीठ' में अभिव्यक्त है। भाष्यकार ने बृषल को स्वभाव्य कहा है।<sup>१</sup> कुत्ते अपराधियों के बंध करने के काम में भी लाये जाते थे। कभी-कभी तबड़ या पाँव की किसी गली में बहुत-से कुत्ते एकत्र हाकर भूँकते<sup>२</sup> थे जिससे वहाँ से निकलना कठिन हो जाता था। कुछ लोग कुत्ते का मांस भी खाते थे।<sup>३</sup> य छोटा निम्नतम धेनी के थे। कुत्ते को लोग प्यार से रखते थे पुत्रवारते थे। एक स्थान पर 'कुत्ते को चाटनेवाला बूढ़ा पछा है' ऐसा उल्लेख है। कुत्ते जब मरने को होते हैं तब एकान्त में जाकर पड़ जाते हैं। उनकी चौंसे सूजी और ऊमर बढ़ी हो जाती है।<sup>४</sup> दवा का लेकर व्याकरण में एक न्याय भी बल पड़ा था कि जैसे पूँछ काट लेने पर भी कुत्ता जखम या गधा नहीं बन जाता अपितु कुत्ता ही रहता है, वैसे ही एक भाग के मर्य हो जाने पर भी पर्याय बही रहता है, बूझत नहीं बन जाता।<sup>५</sup> कुत्तों का मारने या बाधन करनेवाली सेही को दवाकित् कहते थे और उसके मांस जादिको छोयाबिज। भाष्यकार ने दण-मस्त्रिका का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह सुहार की धौकनी रही होगी जो बमके की बनती थी।<sup>६</sup>

माज्जर—माज्जर प्राण्य प्राणी है। जो पाला भी जाता था और अपास्त्रि भी वस्ती में रहता था। भाष्यकार ने इसका मुख्यकार्य बूहे मारना बतलाया है।<sup>७</sup> भोग विहास स्मृतीतु कहलाता था।<sup>८</sup> विहास काले और बन्धेदार भी होते हैं। इन्हें क्रमशः कासक और पुष्पक कहते थे।<sup>९</sup>

कुक्कुट—कुक्कुट पाकने की प्रथा भी बड़ी प्राचीन है। पाणिनि में स्वरों में ह्रस्व दीर्घ और व्युत्त की पहचान के लिए कुक्कुट के स्वर का ही आशय किया गया है।<sup>१०</sup> मुर्गे का मांस भी खाया जाता था यद्यपि प्राण्य कुक्कुट अमरय था।<sup>११</sup> कुक्कुट के व्यर्थों का बार-बार उल्लेख होने से अनुमान होता है कि कुक्कुट के अच्छे लाये जाते होंगे।<sup>१२</sup> मुर्गा भुस काने पर कुट-कुट करता है,

१ ३११०७ पृ० १८४।

२ ४११३, पृ० ३४।

३ ३-११३४ पृ० १९७।

४ १११४ पृ० ८८।

५ इषान् सस्त्रियं भुमूर्ध्वं एकान्तशीलाः शूनास्तासुच भवन्ति ।—३-१-७ पृ० २९।

६ दवा कर्षो वा पुच्छे वा छिद्रे इवैव भवति प्रायो न सर्वम् ।—१-१-५६ पृ० ३३९।

७ ४३-१५६ पृ० २७०।

८ ७-३-८ भा० ३।

९ ३-२-८४ पृ० २३४।

१० ६१-९४ पृ० १५१।

११ ६११५८ पृ० १९५।

१२ १२-२७।

१३ भा० १, पृ० ११।

१४ ६-३-४२, पृ० ३२७।

इस ओर भी भाष्यकार की दृष्टि गई थी।<sup>१</sup> न जान कितने सहस्र वर्षों से कुक्कुट प्रातर्जागरण में लोगों की सहायता करता रहा है। भाष्यकार ने एक धरण उद्धृत किया है—'सुत्वरि, मुझे बोलने समय। सवेरा हो जाता।'<sup>२</sup> कुक्कुट के पाँच हारिज (पीसे) रंग के होते हैं।<sup>३</sup>

शूकर—शूकर पाक्षि भी होते थे और आरष्यक भी। पाक्षि शूकर मांस तथा बासों के लिए उपयोग में आते थे। शूकर के मांस में चर्बी विशेष होती है। ग्राम्य शूकर का मांस अमल्य माना जाता था। बाक निकालने के लिए शूकर को बाँध लेते थे फिर उसका एक-एक बाक खींचकर उखाड़ते थे।<sup>४</sup>

### आरष्य पशु

मृग—आरष्यक पशुओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पुण्यधर्मोत्तरी तथा मांसमयी। अर्मांसमलियों में मृग मुख्य है। भाष्यकार ने उसे बाठमर्ग<sup>५</sup> अर्थात् वायु के समान क्षीघ्रगामी कहा है। मृगों की अनेक जातियाँ थीं। ऋक्ष भी एक भेड़ या जिसकी मादा को रोहित कहते थे। चमड़ी पर बाणबाले पशु जिन में हिरन भी सम्मिलित हैं, चर्मविस कहलाते थे।<sup>६</sup> चर्मविस मृग की पीठ पर चकते रहते हैं। काले मृग को कृष्ण चारंग कहते थे।<sup>७</sup> और, मृग भी मृग की एक जाति थी।<sup>८</sup> इसकी पीठ पर छन्द चकते रहते थे। चमरी उस मृग को कहते थे जिसकी पूँछ का चमर बनाया जाता था। चमर के लिए चमरी का शिकार किया जाता था।<sup>९</sup> इसी प्रकार पुष्कलक मगधमृग था।<sup>१०</sup> इसकी मांसि में कस्तूरी मानी जाती थी। कस्तूरी एक अश्मजोप के लिए पुष्कलक का बब किया जाता था। द्वीपी भी मृग का भेड़ या जिसका चर्म अति सुन्दर होता था। द्वीपी का जाघेट चर्म के लिए किया जाता था।<sup>११</sup> मृग का मांस खाया जाता था। मृगमा का विषय होने के कारण ही इसका नाम मृग पड़ा। बर और पृषत् जाति के मृगों का उल्लेख भी भाष्यकार ने किया है।<sup>१२</sup>

१ अयस्किरते कुक्कुटो मसार्थो ।—६ १ १४२, पृ० १९० ।

२ बरतनु, सम्प्रबन्धि कुक्कुटः ।—१ ३ ४८, पृ० ६७ ।

३ हारिजो कुक्कुटस्य पादौ ।—४ २ २, पृ० १६६ ।

४ भा० १ पृ० ११ ।

५ किला पासेन शूकरी ।—८-२ ४४, पृ० ३६२ ।

६ ३-२-२८, पृ० २१५ ।

७ ६ ३-३४ पृ० ३१८ ।

८ ८ २-८, पृ० ३३४ ।

९ २ १ ६७, पृ० ३२० ।

१० २-१-६७, पृ० ३२५ ।

११ केदोषु चमरी हन्ति ।—२ ३ ३६, पृ० ४३१ ।

१२ सीम्नि पुष्कलको ह्य ।—श्लो० ।

१३ चर्मणि द्वीपिनं हन्ति ।—२-३-३६, पृ० ४३१ ।

१४ २-४-१२, पृ० ४६६ ।

पूषत मन्वेदार मृग के। हरित और हरिण जाति की स्त्री हरिणी रोहित की रोहिणी कही जाती थी।<sup>१</sup> मृगी के ब्रह्म से भाव्यकार परिचित जान पड़ते हैं। मृगी का खीर 'मृगशीर' कहलाता था। मृगी की जाति का पुमान् मार्गार कहा गया है।<sup>२</sup> मृगतृष्णा शब्द के निर्माण में मृग ही कारण रहा है। प्यासे मृग बालू में भागते हुए सूर्य की तेज किरणों को पानी की बारा मान लेते हैं यद्यपि वह बहाना नहीं होती।<sup>३</sup> भाष्य में हरिण की एक जाति म्यक्रु भी बतलाई गई है।<sup>४</sup>

मृग जी के लत बर जाते थे। इसलिये, वेतों की रक्षा के लिए कुपनों को सदा सजग रहना पड़ता था। फिर भी यह नहीं होता था कि मृगों के बर से जो ही न बोयें जायें।<sup>५</sup>

शब्य—अन्य समांसमोत्री शब्य पशुओं में शब्य का उल्लेख भाष्य में हुआ है। शब्य नाम के समान होता है और शब्य को देखकर शब्य को सरलता से पहचाना जा सकता है।

मीली शाय—मीली गी शाय के समान ही होती है। यह आरभ्य होती है और हरिण के समान शायती है। नीके रंग की सामान्य शाय 'मीला गी' कहलती थी।

सिंह—मांसाहारी शब्य जीवों में सिंह शृगाल बृक शस्यक शायि प्रमुख हैं। सिंह हिन्दु बालु से बग-विपर्यय हारर बना है।<sup>६</sup> ब्याघ्र सिंह आदि से परिपूर्ण बन का उल्लेख भाष्य में है।<sup>७</sup> सिंह का शर्म अनेक कामों में जाता था। बर की घोमा तो वह था ही बलकम में भी बालन किया जाता था। ब्याघ्र-शैल पैर हान के कारण श्म्वेद के एक श्मपि भी ब्याघ्रपाद हुए हैं, जिनकी कृति 'ब्याघ्रपाद' कही जाती है।<sup>८</sup> ब्याघ्री का उल्लेख भी एक स्थान पर मिलता है।<sup>९</sup>

शृगाल—शृगाल को कोष्ट भी कहते थे। इसका स्त्रीस्मिण रूप कोष्टी जाता है। भाष्य<sup>१०</sup> में शृगाल के 'हुआ-हुआ' करने का उल्लेख है।<sup>११</sup> शृगाल का कुत्ते से सहज बँर होता है।<sup>१२</sup> शृगाल

१ १-२ ६४ पृ० ५०३ ।

२ ६ ३ ४२, पृ० ३२७ ।

३ ४ १ १२० पृ० १४२ ।

४ मृगतृष्णावत्। यथा हि मृगास्तृष्णावत् धारा पश्यन्ति न च तदा सन्ति ।—  
४ १ ३ पृ० १७ ।

५ १-२-७ पृ० ६८ ।

६ न च मृगाः शयन्ति यथा शोष्यन्ते ।—१ १ ३९, पृ० २५३ ।

७ गौरिब शब्यः। यस्य शब्यो निर्वातः स्यात्पौरनिर्वातः तेन कर्तव्यं स्यात् शब्य इह

गीरिति ।—२ १-५५, पृ० ३०८ ।

८ ४ १ ४२, पृ० ५५ ।

९ ३-१ १२३ पृ० १९१ ।

१० ५ २ ११५, पृ० ४१८ ।

११ १ १-५७, पृ० ३५२ ।

१२ ४ १ ४८, पृ० ६० ।

१३ ७-१-९६ पृ० ९९ ।

१४ १ ३ २१ पृ० ६२ ।

१५ २-४ १२, पृ० ४६७ ।

को मरुत भी कहते थे।' शृगालों का बन्ध्याप वन में ही है।' बस्ती में लोग उन्हें मार डालते हैं किन्तु यदि वन में उचित आहार न मिला, तो वे कुष्ठ हो जाते हैं।

**बुक**—पतञ्जलि ने बुक का उल्लेख बार-बार किया है।' बुक से लोग बहुत डरा करते थे। बुक वीरों की आँखियों में रहते थे और मेड़-वकरियाँ उठा ले जाते थे। वे प्रायः मायमी पर भी चोट करते थे। यह मायमी में बिखरे अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है। 'तुम्हें पापघीठ बुक न पकड़ सकें' यह आशीर्वचन भी इस ओर संकेत करता है। बुक का भय वन में होकर यात्रा करनेवालों को विशेष रहता था। जो बतुर होते थे वे पहले ही सोच लेते थे कि यदि बुक ने मुझे बेस किया तो मृत्यु निश्चित है, अतः वे उस ओर जाते ही नहीं थे।' बुक का स्त्रीलिंग बूकी होता है। घेठ जाति की बूकी को बूकति कहते थे। 'बुक बहुत खामक मापी होता है। वह छिरकर तिरछा देखाता है और चुपके-चुपके पीछे से साकर माफमज करता है। इसी कारण 'बुक के समान देखनेवाला' 'बुक के समान बंधक' ये विशेषण भी व्यवहार में थे।'

**घास्यक**—सास्यक आरभ्यक पशु हैं, जिसका शरीर पर रोमों के स्वान पर काटे रहते हैं। पंख पंखनलों में भी इसकी गंधना है। घास्यक के काँटे इतने तीक्ष्ण होते हैं कि कृता उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता उल्टे बही कुत्ते को घेस डालती है। कुत्ते को घायल करनेवाली होने के कारण ही उसे घास्यक कहते हैं।' घास्यक का मांस घीवायिष कहलाता है।

**घास**—आरभ्यक बराह, महिष और भुजकुट का उल्लेख उग्र हो चुका है। लोग मीर नस नामे ये घास्यक शृगाल सिंह, कुता आदि पशु अपवित्र माने जाते थे और इनका स्पर्श कर पृथ होमे का विधान था।' आकैट-पशुओं में घास महत्त्वपूर्ण था। 'उसका उल्लेख भी एक स्वान पर हुआ है।

**ज्वाल**—ज्वाल हिलक पशु है। इस ज्वालक भी कहते हैं।' भाष्यकार ने ज्वालक घास का भी व्यवहार किया है जिसका अर्थ स्पष्ट है।'

१ ११४०, पृ० २८८।

२ ७-११६, पृ० १२।

३ १४-२ पृ० १२७।

४ वही।

५ ना तथा बुला मयापवी विवन् ।—३ १-८, पृ० ३४।

६. य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारो जवति स पश्यति परिमो बुकः पश्यति शुभं में मृत्यु रिप्ति। संवृष्ट्या सम्प्राप्य निवर्तते ।—१४-२७, पृ० १६२।

७ ६३ ३५, पृ० ३२२।

८ वही।

९. बुकवल्की, बुकपेली ।—६-२-८० पृ० २७३।

१० आ० १ पृ० ४० तथा ४३ १५६ पृ० २७०।

११ लोमजं स्पृष्ट्वा घीष कर्त्तव्यम् ।—आ० २, पृ० ६२।

१२ आ० १ पृ० ३२।

१३ ७-३ ४५, पृ० १८९।

१४ १४ ६०, पृ० १९१।



जस-जीव—नक्तं और वाह्यं जस के मयंकर मांसाहारी जीव हैं।

गोषा—जमीय जीवों में मकर और नक्त के बाव गोषा का स्थान है। गोषा के पुमान् को गोषेर कहते थे।<sup>१</sup> एक स्थान पर कहा है कि गोषा छर्ष जाति की नहीं होती। केवल सरफ-सरफकर चलने के कारण ही उद्ये बहि नहीं कह सकते।

कण्ठ्य—कण्ठ (दलदल) से पीने के कारण इसे कण्ठ्य कहते हैं।<sup>२</sup> कण्ठ्य के स्त्री सिम को कण्ठपी या हुषी कहते थे।<sup>३</sup>

मण्डूक—मण्डूक उच्छक्त-उच्छक्तकर चलते हैं। व्याकरण में 'अधिकार' भी इसी प्रकार चलते हैं। बीच में छुनों को छोड़कर वे मण्डूक की तरह अगले सूत्र में अनुवृत्त होते हैं।

मत्स्य—मत्स्य भोजन के काम भाते थे और भाते हैं। ताकाव से जो कोई मछली पकड़ कर खाता था वह कटी-सहित पुरा-पुरा से खाता था और घर में लाकर उनके कटि साफ करता था और उन्हें टुकड़-टुकड़े करता था। मत्स्य का एक भेद 'विष्टार' भी होता है। तिमिगिष्ठ भी मत्स्य को कहते हैं या तिमि (बड़े आकार की मछली) को निगल लेती है। तिमिगिष्ठमिष्ठ तिमि गिष्ठ को भी निगल लेती है।<sup>४</sup> मछली जलजीव है। जब वह चम्टी है, तब पानी और वह दोनों घाप-घाप चलते दिखते हैं। मत्स्य का स्त्रीरिगि रूप मत्सी होता है। मत्स्य का चिकार करने-वाला मात्स्यक कहलाता था। इसी प्रकार मत्स्य के विशेष प्रकार, अफर और शकुल का चिकार करनेवाला मात्सरिक और शकुलिक कहते हैं। मीन का चिकारी मीनिक कहा जाता था।<sup>५</sup>

पक्षी—पक्षी का शकुनि भी कहते हैं और शकुन्त भी। भाष्यकार ने कहा है कि पक्षी तेज चलन के कारण जाने से उड़ते ही दूर पीछे दिखाई देते हैं।<sup>६</sup>

काक—पक्षियों में काक सबसे बृत्त होता है। काक की संज्ञान भी काक नहीं जाती है।<sup>७</sup>

१ ६ ३-७५।

२ ७-४ ४१ पु० २३५।

३ ४ १ १२० पु० १४२।

४ बहि गोषा तर्ष्यती तर्ष्यवावेवाहिर्यति ।—१ १ २३, पु० २१२।

५ ३-२-४ पु० २०९।

६ ६ ३-३४ पु० ३१७।

७. मण्डूकप्लुतयोऽधिकारः। यथा मण्डूका उच्छक्तयोऽप्युच्छक्तं च कण्ठ्यं तत्त्ववधिकारः।—

१ १ ३ पु० ११२।

८ १ १ ३९, पु० ५१६।

९. ६ ३-७० पु० ३४७।

१० ८ ३-७३, पु० ४५३।

११ ४ १-६३ पु० ७४ तथा १ १ ६८, पु० ४३५।

१२ शकुलं मानुषमित्वात् पुरस्तादुत्पत्तितं वरवाद्बुभुक्षते ।—आ० २, पु० ४२।

१३ १ १ ४५, पु० २७८।

काक का स्वीकृत रूप काही होता है। काक का काव्य्य प्रसिद्ध है। काक और उलूक का सहज बंध है। इसको भाषार मानकर पंचतन्त्र के काकोसूचीयं तन्त्र की रचना हुई है। भाष्य में काकोलूकम् को साप्सवतिव विरोध के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया है। कौए की बोली को बाघ कहते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने बिरौबी पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि कौआ बोल् मया इसलिए अपिकार की निवृत्ति नहीं हो पाया करती। काक कमी-कमी बाघ के समान हुयककर चोट करता है। इसलिये, 'कौआ स्वयं ने समान भावरम करता है' यह उदाहरण भाष्यकार ने किया है। काकस्तालीयन्याय (काकस्यायमनं ताकस्य च पतनम्) काक को भाषार मानकर ही संस्कृत में बल पडा था।

स्वेन—स्वेन का उल्लेख भाष्यकार ने प्रायः काक के साथ ही किया है। स्वेन की सन्तान भी स्वेन ही कही जाती थी। स्वेन के समान परबाले को स्वेनपाव् कहते थे। स्वेन छोटी छोटी चिड़ियों का शिकार करता है। वह बटेर को मार डालता है।

कपोत—कपोत शब्द को प्यार करता है और उल्लुब्धापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करता है। यह मांसाहारियों के भोजन का अंग रहा होगा या भोज्य-वप में उसका घोरबा दिया जाता होगा जो 'कापोत रस' इस कथन से स्पष्ट है। कपोतों के समूह को कापोष कहते थे। कपोत की घन्तान कापोति कहलाती थी।

मयूर—मयूर को भाष्यकार ने ब्यंसक(धूर्त) कहा है। मयूर का नृत तो सुबिहित ही है। मयूर और मयूरी साज-साज नृत्य करते हैं। मयूर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए नाचता है। मयूरी को इकवाकू भी कहते थे। जिस ऋतु में मयूर बिसैय माचते हैं, उसे कमापी काम कहते थे। मयूरी की पूंछ कबर होती है।

लौकिक—बनगुस्म ने भीतर विहार करनेवाली कोयल यदि वन से बिच्छुइ प्राय तो उसका स्मरण करेगी ही। अथवा ऋतु को अबकोकिल कहते थे, क्योंकि उसमें कोयल बिसैय रूप

१ ३-४२, पृ० ३२८।

२ २-२८ पृ० ३४३।

३ २-४ १२ पृ० ४३७।

४ ३-१८, पृ० ३९।

५ १ १ ३ पृ० २६७।

६ १ १ ५, पृ० २७८।

७ १ १-५७ पृ० ३५३।

८ ६-१ ४८, पृ० ७९।

९ कपोत शब्द वच्यसाते।—७-३-८७, पृ० २१२।

१० ४ ३ १५६, पृ० २६७।

११ ४-२-३९, पृ० १७८।

१२ ४ १ ९० पृ० १०९।

१३ ३-१-७२, पृ० ३३०।

१४ २-३ १७,

१५ प्रियां मयूरः प्रतिवर्त्ततीति—पृ०

५३४, ७-३-८७, पृ० २१२।

१६ ४ १ ६६, पृ० ७६।

१७ ४ ३-४८, पृ० २३५।

१८ ४ १-५५, पृ० ३९९।

१९ १ ३ ६७, पृ० ८७।

से बोसती थी।<sup>१</sup> कोकिल की बोधी को अबकीय कहा है। उसे म्याहूट भी कहते थे।<sup>२</sup> स्त्री-कोकिल को पिकी कहते थे।<sup>३</sup>

हंस—हंस संसृज के साहित्यकारों एवं टाकिकों का मिय और जादर्य रहा है। माप्य में स्त्री-हंस को बरटा कहा है।<sup>४</sup> हंस धव्य हन् वासु से बना है, जिसका अर्थ है मार्ग का हनन (ममन) करनेवाला।<sup>५</sup> माप्यकार ने अस के समीपवासी होने की दृष्टि से हंस बक्रवाक को एक साथ हर्गकत्व के उदाहरण के रूप में रखा है।<sup>६</sup>

घासानी—माप्य में घासानी नामक सङ्गति का भी उल्लेख मिलता है।<sup>७</sup>

उम्क—उम्क का उल्लेख केवल काक के शास्त्रिक विरोधी के रूप में हुआ है। उम्क की बोधी भयंकर होती है।<sup>८</sup> घासानी की आकृति उम्क के पंख के समान और सेना की व्यूह रचना उम्क की पूँछ के समान की जाती थी।<sup>९</sup>

बक—बक-समूह को बसाका कहते थे। बसाका जब आकाश में उड़ती है तब उसकी धुल्लता दर्शनीय होती है।<sup>१०</sup> बसाका सूर्य को उद्वेग्य कर उड़ती है।<sup>११</sup>

बक्रवाक—यह जमीय पक्षी गरी क फिलारे रहता है।<sup>१२</sup> बक्रवाकी को कोकी भी कहते हैं।<sup>१३</sup>

दार्बाघाट—सपट्ट-फोड को दार्बाघाट कहते थे। यह स्मरणी में छेद करता है।<sup>१४</sup>

शुक—शुक का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है।<sup>१५</sup> शुक की चर्चा सगिदर और उम्क के साथ आई है।<sup>१६</sup>

१ अथकृतः कोकिलम्याःकोकिलो बसन्तः ।—२-२ १८ पृ० ३५० ।

२ २-३ १७, पृ० ४५३ ।

३ ४ १ १३ पृ० ७४ ।

४ हंसस्य बरटा घोमिन् ।—६ ३-३४ पृ० ३१८ ।

५ हन्तेर्हंसः हन्तपञ्चानमिति ।—६ १ १३ पृ० ४३ ।

६ २-४ १२, पृ० ४६६ ।

७ ३-२-५३, पृ० २१९ ।

८ २-४ १२, पृ० ४६७ ।

९ ४-२-४५, पृ० १८१ ।

१० ४ ३-५५, पृ० ३९१ ।

११ २-२-८ पृ० ३४३ ।

१२ १ १-५८, पृ० ३७६ ।

१३ २ ४ १२ पृ० ४६६ ।

१४ ४-१ ६३ पृ० ७४ ।

१५ ३-२ ४९ पृ० २१८ ।

१६ ४ १ १३ पृ० ७४ ।

१७ ४ २ ४५, पृ० १८१ ।

बटका—छोटी चिड़िया गौरैया को कहते हैं। बटक का अपत्य को बटकेर कहते थे।  
 मुपय—गडक का दूसरा नाम मुपय है जो पत्तों की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है।  
 कौब—कौब का उल्लेख कोकिल के साथ हुआ है। यह रामायण का प्रेरक पक्षी हंस  
 प्राचीन है।

भंगारक—भंगारक विशेष पक्षी का नाम है। सम्भवतः यह नाम उनके झाल या कासे  
 बने के कारण पड़ा है। इनकी स्त्रियों को कालिक कहते थे।

कुकबाहु—मूर्ख का दूसरा नाम है।

कपिबस—बकुर को कपिबस भी कहते थे। बकुर का अपत्य कपिबसि कहलाता था।

कुररी—बाज की जाति का मत्स्यभोजी पक्षी है।

किकिरीबी—यह नीलकण्ठ है, जिस चाप भी कहते थे। किकि मारिकेस बृष का  
 नाम है। उसपर विशेष रहने या कीड़ा करने के कारण किकिरीबी नाम पड़ा जान पड़ता है।

गूब—मूष मांसाहारी पक्षी है। मूष-सम्बन्धी वस्तु को गार्भ कहते हैं।

कंक—सारस पक्षी का नाम था। इसके पंख बाण के अग्रभाग में लपका जाते थे।

बलिहा—छोटा-सा पक्षी बटेर, जिस द्यन सपट लता है।

बिकिर और विकिर पक्षी का सामान्य नाम है। पत्तों के कारण ही पक्षी संज्ञा बनी  
 है। पत्तों के मूस को पदाति कहते थे।

सुद्र जन्तु—इनके अतिरिक्त अनेक सुद्र जन्तुओं के नाम यत्र-यत्र माध्य में जाये हैं।  
 उनके मत से जो प्राणी कुबक देने पर भी म मरें वे सुद्र माने जाने चाहिए। किन्तु सुद्र जन्तु की  
 यह परिभाषा मान लेना पर मच्छर, मूँ आदि सुद्र जन्तुओं की परिधि म न जा सकेंगे। इसलिए,  
 उन्होंने अस्त्रविहीन जन्तुओं को सुद्र माना। जिनमें अपना रक्त नहीं होता एवं सृष्टियों की संख्या

१ ४११२८, पृ० १४२ ।

२ ४-१६३, पृ० ७४ ।

३ ४-११४, पृ० ३८ ।

४ ४११२०, पृ० १४२ ।

५ अङ्गारका नाम घञ्जुनः। तेषां कालिकाः स्त्रियः ।—६३ ३४, पृ० ३१८ ।

६ ४१६६, पृ० ७६ ।

७ ४-१-९०, पृ० १०९ ।

८ ४-१-९३, पृ० १२५ ।

९ ४-२-४५, पृ० १८१ ।

१० ४३ १५६, पृ० २६९ ।

११ १४२३, पृ० १५५ ।

१२ ६१४८, पृ० ७९ ।

१३ विकिरः हाकुनी विकिरी भेति वस्तव्यम् ।—६१ १५०, पृ० १९२ ।

१४ ५२ २५, पृ० ३७३ ।

में मारने पर भी मनुष्य पाप का भागी न बने वे शूद्र जन्तु मान जाने चाहिए। सबसे सीधी परिभाषा यह है कि नकुल (नेबसे) के आकार तक के प्राणी शूद्र जन्तु होते हैं।<sup>१</sup> भाष्य में निम्नलिखित शूद्र जन्तुओं के नाम आये हैं—

**नकुल**—नकुल का उत्प्रेक्ष्य सर्प के घातवतिक विरोधी के रूप में हुआ है।<sup>१</sup> नकुल गरम स्वभाव पर एक क्षय भी नहीं टिकता। नाक-बसूक स्वा-बराह और सर्प-नकुल जन्मजात शत्रु होते हैं। इसी बात को लेकर अस्मिन् व्यक्ति के व्यवहार के लिए 'अवतप्ये नकुलस्वितम्' कहावत तक पड़ी थी।<sup>१</sup>

**सर्प**—सर्प चिरकाल से मनुष्यों का शत्रु रहा है। प्रतिवर्ष हजारों मृत्युएँ सर्प के काटने से होती थी। 'सर्प द्वारा मारा हुआ' कहकर भाष्यकार ने इस ओर संकेत किया है। सर्प बस्मीक में रहता है।<sup>१</sup> काले रंग को कृष्णसर्प कहते थे। काले रंग का हर साँप कृष्णसर्प नहीं कहलाता था। जहाँ जाति न बतलानी हो केवल काले रंग का कोई भी साँप हो वहाँ समास न होकर 'कृष्ण-सर्प' ऐसा प्रयोग होता था। इसीलिए, काले साँप (जाति) वाला बस्मीक इस अर्थ में 'कृष्णसर्प' नाम बस्मीक प्रयोग होता था और साधारण सर्प अर्थ में 'कृष्णसर्पों बस्मीक' प्रयोग होता।<sup>१</sup>

साँप सरलता बसता है, इसीलिए उसका नाम 'सर्प' पड़ा है। उसकी चाल को सुप्त कहते थे। गाँव के पास वा भीष में सर्पन के पिछे बेलकर लोग साँप निकलने का अनुमान करते थे। साँप जब क्रोध में होता है, तब फन उठाकर फुफ्फुकारता है। इस अवस्था में सर्प का 'खोबाममान' कहते थे। साँप को मारना बुरा नहीं माना जाता था। साँप के फन को बबि कहते थे।

**बुधिचक**—बुधिचक को साड भी कहते थे। साड का अर्थ है अड (डक)-सहित।<sup>१</sup> बुधिचक को मणिपुच्छी और बिपुच्छी भी कहते थे।<sup>११</sup>

१ कौत्सव्या जन्तव (शूद्रजन्तव)। यत्तेषां युक्तानि न कुटीरिणीसिक्कमिति न तिप्यसि। एवं तद्द्वान्तिवकाः शूद्रजन्तव अववा येषां तेषां घोषितं नास्ति ते शूद्रजन्तव अपवा देवामातह्लावज्जन्तिं पुर्यते ते शूद्रजन्तव। अववा नकुलपर्यन्ताः शूद्रजन्तव। —२४-८, पृ० ४६४।

२ ४२१०४ पृ० २१०।

३ अवतप्ये नकुलस्वितं त पतत् ।—१४-१३ पृ० १४३।

४ २१३२ पृ० २८५।

५ २१६९, पृ० ३२३।

६ आवावाप्रमितसम्बन्ध कियते। इत्यस्यो नाम सर्पजाति ताप्रतिभू बस्मीकेऽस्ति। यथा ह्यन्तरेण जातितद्वत्प्रमितसम्बन्ध कियते इत्यस्यो बस्मीक इत्येवं तथा भविष्यति ।—२१६९, पृ० ३२६।

७ २३-६० पृ० ४५४।

८ ३१११ पृ० ४५।

९ ७-३ १०९ पृ० २१७।

१० ८ ३-५६ पृ० ४३९।

११ ४ १-५५, पृ० ६९।

मूयिक—नमुस सप का और सर्व मूयिक का पशु है। मूयिक को मालु और मार्जार को मालुहा कहते हैं। मूयिका का पुमान् मीयिकार कहलाता था।<sup>१</sup>

हासम—हासम को पर्यय कहते हैं।<sup>२</sup> बीटिमा इन्हें सीखकर ब्रिह में ९ जाती और मध्य बनाती है।

मकड़ी—इस तन्तुवाय भी कहते हैं क्योंकि यह तन्तुओं से ब्रह्म बनाती है।<sup>३</sup>

पिपीत्तिका—बीटी पत्रग का मुख सा जाती है, एमा एक स्थान पर उल्लस्य है।

मन्त्रिका—मन्त्रिका स माप्यकार का तात्पर्य मन्त्रमन्त्री स है।<sup>४</sup> मन्त्रिक मन्त्र की सज्ञा है।

इमे पामुत भी कहते हैं।

मूका—मू बहुत छोटा कौड़ा है। केजों से निकली मूका का उल्लेख माप्य म है।<sup>५</sup>

मिषा—यह मूका के अण्ड क सवय होती है। इसकी चर्चा सुद्वजन्तु के विवेचन म आ ही गई है। माप्य में उल्लिखित जन्तुओं में यह सुद्वतम है।

ऊपर वर्णित जीवों में पाण्डू प्राणी वा निश्चित ही भारत क आदिम जीवन क अंग थे। भारप्यक पशुओं न कुछ फसल को चरकर, कुछ आहार का अंग बनकर और कुछ पालतू पशुओं क मलक के रूप में आदिम जीवन का प्रभावित करते थे। पक्षियों में कुछ मांस द्वारा आहार क अंग स मा जन-जीवन में सहृण्य या मित्र का काम देते थे। जमीय जन्तुमा मे मन्त्र्य भोजन का अंग था। इनमें अनेक जन्तुओं का अर्ध उपवास में आता था। सुद्व जन्तुमा में भी उन्ही का उल्लेख हुआ है आ था तो मारक या पीडक स मा मन्दिन सम्पर्क में आते थे।

पञ्चनल—पौष मन्त्रबान्द पर्याओं म पौष को गाम्त्र न मन्त्र्य माना था। ये स—रायक रायक सङ्गी कूर्म और योष। धामगूकर और धामकुक्कुट अभरण स। भारप्य गूकर और कुक्कुट मन्त्र्य माम आते हैं।

१ ४ १ १२० पृ० १४२ ।

२ १-२-४, पृ० २०९ ।

३ १-२-५७ का० ।

४ व्याख्यते पिपीत्तिका पतञ्जमुषम् ।—१ ३ २० पृ० ६१ ।

५ ४ ३ ११६, पृ० २४९ ।

६ तिच्छेयी मूका ।—४ १-५४ पृ० ६९ ।

७. पञ्च पञ्चनला मन्त्र्यः। मन्त्रयो धामकुक्कुटः, मन्त्रयो धामगूकरः ।—का० १

## अध्याय ४

### शिल्प

लोह और उहूँव—भाष्यकार ने पाणिनि के समान कला और कौशल दोनों के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग किया है। उनके शिल्पी की श्रेणी में एक ओर गायक माधक आदि आते हैं तो दुमरी ओर बाघों व निपुण ताल बनेबासे वादक।<sup>१</sup> मार्वीक पैठरिक् माड्डुकिक् शार्मरिक् और बार्वरिक् भी शिल्पी हैं और पाणिन टाडव नी। कनक रजक कुम्मकार, तन्तुबाध<sup>२</sup> और मापित<sup>३</sup> भी शिल्पी हैं। जिनका शिल्प मूर्धग है उनसे लिए प्रयुक्त होनेवासे मार्वीक शब्द की निष्पत्ति पर शक्य करते हुए उहूँनि कहा है कि शिल्प के कारण वादक को माधगिक् कहा जाय तो कुम्हार को पहले माधगिक् कहना चाहिए क्योंकि मूर्धग का मुख्य शिल्पी वही है। इस शक्य के समाधान के लिए उहूँनि शिल्प का अर्थ 'शिल्प क समान शिल्प' माना है, जिससे कुम्हार के समान ही मूर्धग का वा अन्य शिल्पी (वादक) है उसके लिए भी मार्वीक शब्द का व्यवहार हो सकता है। जो बात मार्वीक क विषय में है, वही बात पैठरिक् वैगिक् पाणविक शार्मरिक् आदि क विषय में कही जा सकती है। इसी प्रकार, एक बुलाह की अपेक्षा अधिक मण्डे मसाले से बोकुर अधिक मुक्त बस्त्र उत्पन्न कामवाले बुलाहे के शिल्प की प्रशंसा की गई है। एक वार दाही-मूँछ बनवाकर और बास कटवाकर कमी-कमी सोग फिर से शीर कराल बैठ आते थे। इसका कारण उनके आधिक सामर्थ्य की शिरोपना या शिल्पी (गार्ड) की अधिक योग्यता ही थी। इन प्रकार, पतञ्जलि के शिल्प का श्रेष्ठ हाथ से काम करने में अनुर गार्ड से भकर वादक गर्तक और गायक तक है। शिल्पियों की अपने कार्य में प्रवृत्ति शिल्प की उपासना के लिए नहीं थी। वे अपनी उन्नति के लिए

१ ३१ १४५, १४६, १४७ तथा ४४ ४५, ४६।

२ ३ २-५५।

३ ४४ ४५।

४ ३-१ १४५।

५ ६ २-७६।

६ ६ २ ६२।

७. कि पाय मुदङ्ग शिल्पं लकारङ्गिकः? कि चारु? कुम्भकारे प्राप्नोति। एवं तह पुंस्तपह लोपो इष्टव्यः। शिल्पविध निम्नम्। मुदङ्गकारणं शिल्पमस्य मार्वीकिक-पैठरिक्:।—४४-५५, पृ० २८०।

८ ५ ३-५५, पृ० ४४६।

९ ६ १ १२७ पृ० १८०।

कार्य करते थे। बम्भी कृति से उनका उद्देश्य होता था पारिव्यमिक और मन्त्रे प्रवर्तक ब्राह्मण पामा।<sup>१</sup>

गायक, वादक पाणिप और ताडप के अतिरिक्त माप्य में मिम्मलिखित सिन्धियों का उल्लेख है—

**कुम्भार**—भारतीय ग्रामों में मिट्टी के पात्रों का वस्त्र बहुत अधिक रहा है। घट तो घण्टि कांघ मिट्टी के होते थे। घट बनाने के कारण कुम्भार का कुम्भकार कहते थे। कुम्भार के लिए कुम्भकार नाम का ही प्रचलन अधिक था।<sup>२</sup> जिसे घट की आवश्यकता होती वह कुम्भार के घर जाकर घट बनाने का आदेश देता।<sup>३</sup> कुम्भार गीली मिट्टी का पिण्ड लेता। पिण्ड को ठोड़-मोड़ कर छोटे-बड़े घट बनाना चाहता तो गीली मिट्टी से छोटी बड़ी कुड़ियाँ या मार्से तैयार करता था। बड़े-बड़े घटके पत्तुर कुम्भार ही बना सकता था जिसे महाकुम्भकार कहते थे।<sup>४</sup> वह मिट्टी के सिन्धिये बनाता था। बाघों के सन्धि और बाघों का मिट्टी से बना भाग तैयार करता था। खामे के लिए कटोरियाँ (भराव) जो मजक भी काम आती थीं कुम्भार बनाता था। यमार्थ छोटी घटियाँ उसी से प्राप्त होती थीं।<sup>५</sup> घट और घटी मिट्टी के दो पृथक् पिण्डों से बमार्ई जाती थी जो कपाठ कहलाती थीं।<sup>६</sup> कुम्भार के बनाये पात्रों को कौसासक कहते थे।<sup>७</sup>

**तला**—उक्षा ग्राम-जीवन का अति महत्वपूर्ण अंग था। वह हल की मूर्ते तथा बाप्य काट-भाग बनाता था।<sup>८</sup> सक्की छीकता और उससे कपाट तथा छत में बालने की कड़ी तयार करता था।<sup>९</sup> कृषि की उपज होनेवाली तथा सबाठी के काम आनेवाली यादियों का निर्माण तला क बरोसे था।<sup>१०</sup> मजक किए आवश्यक मूष भी बही छीकता था।<sup>११</sup> छीकने तरासने का काम करने के

१ ३-१ २६, पृ० ७७ ।

२ १ ३ ३, पृ० २३ ।

३ आ० १, पृ० १७ ।

४ मूल कपाटिहाकृत्वा धूमता पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमूष चक्रिणः चिन्त्यते। घटिकाकृतिमुपमूष कुम्भिका चिन्त्यते।—आ० १, पृ० १६ ।

५ ३-१-१२, पृ० १६७ ।

६ ४४ ३४ ।

७ ४४-२५, पृ० २८० ।

८ १ १-७२, पृ० ४४७ ।

९ ६४ १००, पृ० ४५४ ।

१० १ १ ४४, पृ० २५९ ।

११ आ० १ पृ० १९ ।

१२ ४-३ ११६, पृ० २५० ।

१३ ८-२-१, पृ० ३२७ ।

१४ ७-१-७२, पृ० ६४ ।

१५ २ ३-५, पृ० ४०८ ।

१६ ७-१ १२, पृ० ४४ ।



कारण ही उसे तथा कहते थे।' तथा क सामर्थ्य में भाष्यकार ने बाणी (बसुला) का उल्लेख किया है।' काविकाकार ने मित्राभिराम में धत्री के रूप में आरा का उल्लेख किया है। धत्री से मित्र बर्ष में आरा के स्वान पर अति शब्द प्रचलित था। यह आरा बड़ई का प्रचलित आरा था।' तथा यूप और शकटादि के लिए अलग-अलग काष्ठ-संग्रह तैयार कर लेता था।' शकट के अनेक अंग होते हैं— अक्ष, नेमि, आर, नाभि, पू, अक्ष। तथा सबको अलग-अलग बनाकर उनका समोजन करता था।'

रथकार—रथकार का काम और कठिन था। रथकार तथा से मध्य होते थे जो मुख्यतः रथ बनाने का ही काम करते थे। रथ दोनों प्रकार के बनते थे—पहले समय शब्द करनेवाले और निःशब्द करनेवाले।" शब्द करनेवालों (रथों) में श्रोत्राभिराम ध्वनि की व्यवस्था की जाती थी। बैठनेवालों के आरुम के लिए कपड़े चमड़े या सफेद कम्बल रथों पर मड़ दिये जाते थे।" रथकारता स्वतंत्र व्यवसाय था। रथकार साधारण तथा से ऊँची कोटि का होता था। उसे कुम्हारों की हाथ में लेकर ऐसे बड़े बख की लकड़ी काटनी होती थी" जो रथ के योग्य हो क्योंकि रथ के पहिये बहुत मजबूत होते थे।' शिवाय का वृक्ष इसके लिए विशेष उपयुक्त माना जाता था। अतः रथकार को नागरक रथकार कहते थे।" नागरक शब्द प्राचीन का बोधक था।

तथा चाहे शाकारण ही या रथकार दो प्रकार के होते थे— ग्रामस्था और कौत्तस।" ग्रामस्था गाँव के सभी निवासियों का काम करता था। वह उनके घर पर जाकर भी दूध-छूट ठीक करता था। इसका लिए उसे वर्ष में एक या दो बार फसल तैयार होने पर एक निश्चित अन्न

१ ३-१-७६ तथा २-१-३६ पृ० २९२ ।

२ ४-१-३ पृ० १८ ।

३ ३-३-१०४ का० ।

४ २-१-३६ पृ० २९२ ।

५ ३-२-१७१ पृ० २७८ ।

६ वही।

७ अथेव हि तन्मण्डसकानां अण्डसकं तन्मन्त्रियुष्यते—नात्रिरिक्तम्यमिति ।—

५१-२, पृ० २९६ ।

८ ५-४-७८ पृ० ५०२ ।

९ १-२-४५ पृ० ५३५ ।

१० ८-१-३० पृ० २८७ ।

११ ४-२-१० ।

१२ ४-१-३ पृ० १८ ।

१३ ५-४-७४ पृ० ५०२ ।

१४ ५-१-२ पृ० २९७ ।

१५ ४-२-१२८ काविका ।

१६ ५-४-९५ ।

राशि मिली थी। कौटिल्य स्वतन्त्र व्यवसाय करता था। वह अपने घर वींठार काम करता था और अन्य काम के लिए उचित मूल्य लेता था। राजतन्त्र अपना स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं कर पाता था। राजतन्त्र में प्रवृत्त होने पर उसे न अपने व्यवसाय के लिए अबकाश या और न अधिकार।<sup>१</sup> राजतन्त्र होगा गौरव की बात मानी जाती थी। प्रत्येक गाँव में तसा का एक घर होता ही था। किसी जिनगी ग्राम में दस-पाँच घर भी होते थे।<sup>२</sup>

छक्की छीलने समय बड़ई जिस काष्ठ पर रखकर अन्य काष्ठ छीलता है, उसे उठान कहते थे।<sup>३</sup> तसा को सन्तान को टाक्य या टाक्य्य कहते थे।<sup>४</sup> तालण प्रयोग उत्तर में ही प्रचलित था।

बनुष्कार—बनुर्मुद का प्रपञ्चन होने के कारण बनुबिधा शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग थी। गाँवों में लोय बाब चलाने का अम्मास करते थे।<sup>५</sup> एतदप्य कुछ लोय बनूप बनाने का ही काम करते थे जो बनुष्कार कहलाते थे।<sup>६</sup>

अयस्कार—माप्य में तसा के साथ ही अयस्कार का उल्लेख मिलता है। वास्तव में एक दूसरे के पूरक होने के कारण आज भी सोहार-बड़ई साथ-साथ याद किये जाते हैं। राजस्वान्तर्गत निकसी हुई मायावर जाति 'सुहार-बड़ई' आज भी दोनों साथ काम करती हैं। अयस्कार को अयस्करु भी कहा है। कुण्डलिका (सड़की) से पकड़कर सोहे का पीटने के कारण उसे कौटिलिक भी कहते थे।<sup>७</sup>

तसा के समान अयस्कार भी कृषि के लिए आवश्यक औजार बनाता हूँ के पत्रक पीटकर मुकीसे करता एक कील-कटि बनाता था। 'रज्जु या अयस् (सोहे) के तार से बंधा हुआ काष्ठ कीला जाता है'<sup>८</sup> ऐसा उल्लेख माप्य में हुआ है। 'काहे के तार या शृंगला से कील में जुड़ा हुआ अर्थात् शृंगला से कूटि में बंधा हुआ पशु उससे सम्बद्ध माना जायगा'<sup>९</sup> यह कथन भी एव स्थान पर मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सोहे के तारों शृंगलाओं (लम्बी बंजीरा) और कीलों तथा पशुओं के बाँधने के काम मानेवाले कूटों का प्रपञ्चन गाँवों में था यद्यपि रज्जु और शृंगु का भी प्रयोग होता

१ पुरयोध्य परकमणि प्रवर्तमान स्वयं कर्म गृहति। तसया तसा राजकर्मणि प्रवर्तमान स्वयं कर्म गृहति।—२११ पृ० २३९।

२ २४३० पृ० ४०६।

३ ३-३-८०।

४ ४११५३, पृ० १४९।

५ १३३१, पृ० ६२।

६ ३-२-२१।

७ २४१०।

८ ३३११, पृ० ३५५।

९ ४४१८।

१० ८३-३७, पृ० ४२२।

११ २११ पृ० २४३।

वा। परन्तु लकड़ी काटने के काम आता था। यह प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु थी। लंकुआ (सरौता) कुरुहाड़ी (इष्म प्रकल्पन) होंसिया (पष्पास-खान) वगैरह तथा अन्य इसी प्रकार की साधारण व्यवहार की वस्तुएँ अपेक्षित बनाता था। कीलों की चर्चा तो अनेक स्थानों पर मिलती है।

सुहार का मुख्य साधन वा मस्त्रा (बिकनी) जो चर्म की रहती थी। इसी से हवा करके वह अग्नि प्रज्वलित रहता था। लोहे को तपाकर वह अयोधन से पीटा जाता था। दुर्जन और कुटिलिका उसके दूसरे सहायक औजार थे।

कर्मार—कर्मार घण्टा का व्यवहार सुहार और ठोठ रोनों के लिए होता था। इसका काम ब्रह्मपयोगी धातु-मात्र बनाता था। छाटी-बड़ी सब माप की स्वाक्षियाँ (बटलोइयाँ) भगोले बटोरियाँ छोटे और बड़े कर्मार बनाता था। "बड़ सोहे के भी बनते थे।" बटी ठाँबे की भी बनती थी। पूजा-मात्र प्रायः ठाँबे के बनते थे। लीह छन्द का प्रयोग ठाँबे के लिए होता था। लीह कंसर्को का व्यवहार ज्ञेय था। लीहपात्र कंसि के पात्रों से थोड़ा माने पाते थे।

कर्मार की सन्तान कार्मायायनि कहलाती थी।

मूर्तिकार—मूर्तिकार की गणना भी कर्मारों में होती चाहिए। मूर्तिकार धातु को पिघलाकर साँभों द्वारा मूर्तियाँ ढालते थे। ये मूर्तियाँ भीतर से पोसी रहती थीं और अग्नि द्वारा भीतर से गरमकर साफ की जा सकती थीं। मूर्तियाँ प्रायः पद्मों की होती थीं। अस्त्र की प्रतिकृति

१ ५१-८, पृ० २९४।

२ १४-२३, पृ० १५६।

३ २-११, पृ० २२७।

४ २-२-८, पृ० ३२४।

५ २१३२, पृ० २८५।

६ २२६, पृ० ३३९।

७ ७-३४०, पृ० १९१।

८ ३३-८२।

९ ४४१८।

१० ३-३-८९।

११ ४११५५, पृ० १५०।

१२ १४-२३, पृ० १५६।

१३ ४११, पृ० ११।

१४ मा० १, पृ० ५।

१५ १३१, पृ० १४।

१६ ४११५५, पृ० १५०।

१७. घोमना मूर्ति मुञ्जिरामनिराम प्रविश्य इहति।—आ० १, पृ० १०।

मूर्ति को बरकर करते थे।' देव-पूजा के लिए भी मूर्तियाँ बानी जाती थीं। इन्हें देवने की प्रथा नहीं थी। ये पुजारियों की जीविता का साधन थी। बाद में मौर्य राजा ने मूर्तियाँ बनाकर उनका पण्य (बिक्रय) प्रारम्भ किया। पण्यार्थ बनाई जानबानी मूर्तियाँ जिन देवता की होती थीं उसके भाव 'क' प्रत्यय का प्रयोग होता था। जैसे मित्रक स्तम्भक। बिना विक्रय की मूर्तियाँ स्तम्भ देवताओं के नाम से ही पुकारती जाती थी। हो सकता है मौर्यों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ परवर की हों। इस विषय में निबिवाह रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर भी इनका स्पष्ट है कि मूर्तियाँ और निम्नोक्त बानु, प्रस्तर एवं मिट्टी तीनों के वस्तु थे। बानु की मूर्तियाँ कर्मापों का ही एक वर्ग बानुता था। मिट्टी की मूर्तियाँ और चिमीने नीम रूप से कुम्भकार बनाते रहे होंगे। प्रस्तर की मूर्तियों के निर्माताओं का पण्यक सिल्विबर्ष था।

सुवर्णकार—महामाष्य में सुवर्ण और सुवर्णकार का वाच-वार उल्लेख हुआ है। इससे पता चलता है कि विक्रयों तथा बामुपण्यो के रूप में सुवर्ण का सुव प्रयोग होता था। सुवर्ण के बामुपण्यदि सुवर्णकार बनाता था। मुनार की छोटी-सी मट्टी होती थी। यह कुटिलिका (संज्ञी) से पकड़कर मट्टी में सोने को तपाता और पीटता था। बाधनकतामुनार यह सुवर्ण को एक मा अधिक बार तपाता था। एक बार तपाने की क्रिया के लिए कहा जाता था निष्पति सुवर्ण सुवर्णकारः किन्तु बार-बार तपाने के लिए 'निष्पति' प्रयोग होता था। अधिक तपाने के लिए 'उत्पति' क्रिया का व्यवहार होता था। माष्य में अगद किरिट, कुम्भक बरक, स्वम्भिक आदि अनेक वाभरपों के नाम आये हैं। एक स्थान पर कहा है कि पिण्ड-रूप में सुवर्ण की एक आकृति होती है। पिण्ड रूप को मिटाकर उसके बरक बनाये जाते हैं। रक्कों को गलाकर उनमें कटक बना लिये जाते हैं। कटकों को बरककर उनके स्वस्तिक बनाये जाते हैं। फिर, उन्हीं सुवर्ण-पिण्ड को दूनरी आकृति में बरक से तो उसके लहर के बहनत कोपलों के समान कुण्ठ बन जाते हैं।

पानक—यागिनि के विधिपिष्णुम् (३ १ १५५) सूत्र पर शाक्ययान का बालिक है—'वृद्धिभिरिभ्यन्परि वस्तुभ्यम्'। इस बालिक ४ अनुसार निष्पन्न होनेवाला 'अनक' शब्द पिष्णी का बोधक था। यह बात इससे और भी स्पष्ट है कि शाक्यकार ने 'उगामस्वानेम्प' (४ ३-७५) सूत्र के उदाहरण में 'आकरिकम्' को भी संगृहीत किया है और आकर को वाय-स्वान अर्थात् राज्य को कर देनेवाला स्थान माना है। अत्रय्य (४ ४-५०) की व्याख्या में यह बात और स्पष्ट हुई है। अत्रय्य उस कर को कहते थे जिसे बुधाने के बाद वस्तु बाजार में ले आकर

१ ८-३ १०२ ।

२ वही ।

३ ८-३ १०२ ।

४ १ ३ २७, पृ० ६४ ।

५ अर्षदी, कुम्भकी, किरौडी—विधिबामरय ईशुभो देववत इति ।—१ ३-२, पृ० १८ ।

६ सुवर्ण कपाडिकाकृत्या पुस्तं पिष्णो भवति । पिष्णाकृतिसुवर्णक बरकः कियन्ते । कृष्णाकृतिसुवर्णक कटका कियन्ते । कटकाकृतिसुवर्णक स्वस्तिकाः कियन्ते । पुनरावृत्तः सुवर्ण पिष्णः पुनरावृत्तकृत्या पुनः अदिरात्तारसवर्णं कुम्भते भवत ।—आ० १ पृ० १६ ।

बेचने की छूट प्राप्त हो सके। यहाँ भी आकरिक का उल्लेख है। इससे यह निर्दिष्ट है कि खदानों से बालु और रत्न खोज निकालने का काम पर्याप्त मात्रा में होता था और आकर राज्य की आय के अच्छे स्रोत थे।

आकर से जोरकर निकासी हुई बालुओं में हिरण्य का उल्लेख अनेक बार मिलता है।<sup>१</sup> बिना साफ किये हुए जातरूप हाटक का भी बार-बार उल्लेख हुआ है।<sup>२</sup> रजत सीसा कोहा और अयस भी साधारण व्यवहार में आते थे।<sup>३</sup> भुपु (टीन) को तो भाष्यकार ने बालु के साथ बार-बार स्मरण किया है। कांस का उल्लेख कर्मर के प्रसंग में हो चुका है।<sup>४</sup> इन कच्ची बालुओं का खोजन कर अयस्कार, कर्मर और मुषर्षकार उपयोग करते थे।

जनक बालुओं के अतिरिक्त रत्न भी निकालते थे। भाष्य में मणियों का उल्लेख कई प्रसंगों पर हुआ है।<sup>५</sup> सोहितक काम को कहते थे। मणि अर्थ में सोहित (रजत) सख से कन् प्रत्यय होकर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। पत्ता या मरकत मणि के लिए सत्यक शब्द का व्यवहार होता था। भाष्यकार ने मणि को साधारण कहा है।<sup>६</sup> यह नाम चैकड़ों किरनों से प्रकाशित होने के कारण पड़ा होगा। शीशारंष्ट्र भी एक विशिष्ट मणि का नाम था।<sup>७</sup> वैबूर्ज नाम तो संस्कृत साहित्य में गुपचिहित है। यह बिदूर पर्वत से प्राप्त होती थी। बिदूर का दूसरा नाम बालुवाय था। बयाकरन शीश बालुवाय को बिदूर कहते थे। कुछ लोगों के मत से बालुवाय और बिदूर दो अलग स्थानों के नाम थे। वैबूर्ज मणि बालुवाय में उत्पन्न होती थी और बिदूर में साफ की जाती थी।<sup>८</sup> मणियाँ प्रस्तर से निकलती हैं, इसलिये उन्हें आरम भी कहा जाता था।<sup>९</sup>

रजक—अर कहा था चुका है कि चिम्पिनि ध्युन् ( १ १ १४५) मूत्र के बालिक नृति खनिरञ्जिम्य इति बस्तम्यम् में रजक की गणना भी चिम्पिमा में की गई है। अयस भी भाष्यकार ने कण्टक रंग का स्पष्ट उल्लेख किया है।<sup>१०</sup> एक कथ्य स्वान पर रजक रजन और रज शब्दों की निष्पत्ति उन्होंने बतलाई है।<sup>११</sup> इससे यह तो साफ ही मान्य होता है कि भाष्यकार के समय में

१ ५ २-१५, पृ० ३९९ ।

२ ४४ १५३ ।

३ ४-३-१०४ ।

४ १ १ ४७ पृ० २९० ।

५ ८-२ ३, पृ० ३१७ ।

६ १ १-२७, पृ० २२८ ।

७ ५ ४-३० ।

८ ५-२ ६८ ।

९ १ १ ११५, पृ० १७४ ।

१० ७-३-८, पृ० १७७ ।

११ बालुवायान् अयसति बिदुरे संत्सियते ।—४ ३-८४ पृ० २४२ ।

१२ ६४ ११४ पृ० ४८१ ।

१३ ६४ २४ पृ० ४०७ ।

१४ ६४ २४ पृ० ४०८ ।

कपड़े रँगनेवालों का एक स्वतन्त्र सिन्धु का और कुछ लोगों की जीविका इसी पर निर्भर थी।

बन्ध जिस रंग में रँगा जाता था उसी के नाम से बुकारा जाता था।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—कपाय से रँगे बन्ध को कपाय कहते थे। साल राचना 'सकल कदम' भीसी पीठ 'हृत्त्रि और महारजन' से बन्धों के रँग जाने का वर्णन भाष्यकार ने किया है। इन रँगों से रँगे गये बन्ध कदम साक्षिक रौप्यनिक पाकलिक कादमिक नीलक पीठक हृत्त्रि और महारजन कह जाते थे। लासा को जनु भी कहते थे। जनु से रँगे बन्ध की संज्ञा भी जानुप। रोचना हस्ताल का वूसरा नाम था। सकल टूटे हुए मिट्टी के पात्रों के टुकड़ होते थे। कदम (लासा के नीचे की मिट्टी) से बन्ध रँगने की प्रथा आज भी उत्तरप्रदेश में उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में पाई जाती है। इसका रंग नीला काका मिश्रित-सा जाता है। डॉ० वा० दा० अग्रवाल का यह अनुमान है कि कदम मोटे कपड़ की पहली बुवाई के उपयोग में आती रही होगी। लास रंग का भी प्रचार काफी था। श्रुतिक साग काल रंग की पयवी बंधते थे।<sup>२</sup> महाराष्ट्र और निमाड़ में आज भी लास पयवी बंधन की प्रथा है। साल रंग से रँगे बन्ध को 'सोहितक'<sup>३</sup> और काले रँगे बन्ध को 'कालक' कहते थे।<sup>४</sup> जनु का व्यवहार बन्ध रँगने के अतिरिक्त बानिय में भी होता था। कोई-कोई रंग सरसठा से ही बन्ध पर चटकीला उत्तरता है। ऐसे ही बन्ध को सकल कर एक स्मान पर कहा गया है कि बन्ध अपन-आप ही रँग गया।<sup>५</sup> कभी-कभी एक बन्ध के भिन्न-भिन्न-भागों को असम-असम रँगों से रँगते थे। य बन्ध चित्रवाससु कहलाते थे।<sup>६</sup>

तन्तुबाय—तन्तुबाय का उत्कृष्ट माप्य में रजक के साथ मिलता है।<sup>७</sup> तन्तुबाय बन्ध बनाते थे। घर-घर में मूल काठन की प्रथा थी। कटा हुआ मूल तन्तुबाय को दे दिया जाता था। तन्तुबाय स्वयं भी मूल तयार करते हैं। किन्तु माप्य में तन्तुबाय के घर जाकर उसे मूल लेकर

१ ४-२-१।

२ ४-२-२।

३ बही, पृ० १६६।

४ बही।

५ बही।

६ बही पृ० १६६।

७ ३११ पृ० ५।

८ इण्डिया एज मोन टु पाणिनि, पृ० २३१।

९ सोहितोत्पयो श्रुतिक प्रचरन्ति—११२७ पृ० २२०।

१० ५४-३२।

११ ५४-३३।

१२ ३१९०, पृ० १५७।

१३ ११२७ पृ० २२०।

१४ २-४-१० पृ० ४६५।

वस्त्र बुनवाने की बर्बा है। कोई तन्तुबाम का सूत देकर कहता है कि इसकी बोली बुन दो। तन्तु बाम सोचना है कि यदि बोली है, तो बुनने की क्या आवश्यकता? और यदि बुनना है, तो बोली नहीं हो सकती। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मुझे सूत को इस प्रकार बुनना है कि बुनने पर इसका नाम घाटक हा जाय। इसकी घाटक सजा यमी होनेवाली है है नहीं।<sup>१</sup>

बुनाई के सामान—तन्तुबाम कंठुरी-बेमा को जिसपर वह वस्त्र बुनता था याबाय कहते थे।<sup>२</sup> उसका बेमा तन्त्र कहलाता था।<sup>३</sup> जिससे वह बुने हुए सूत को सभन करता जाता था उस (Shallia) की सजा भी प्रबाणि बर्बात्तिससे बुना जाय। यह तन्तुबाम की सजाका भी ऐसा काश्चिका म कहा है। तन्तुबाम पहले सूत का उतना कम्बा चौड़ा फैला लेता था जितना कम्बा चौड़ा वस्त्र उसे बुनना हो। इस तन्त्र को वास्तीय करना कहते थे।<sup>४</sup> साद में वह चौड़ाई में सूत विरोधा जाता था। प्रबाणि से बुनकर तुरन्त हटाया गया वस्त्र निष्प्रबाणि कहलाता था। कम्बल की बुनाई का प्रकार भी यही था। इसलिए कम्बल का निष्प्रबाणि कहा जा सकता था। तन्त्र पर से हटाया हुआ बर्बात्तिस तुरन्त बुनकर उतारा हुआ वस्त्र तन्त्रक कहा जाता था।<sup>५</sup> तन्त्रक और निष्प्रबाणि बातों बन्धों का अर्थ होता था तुरन्त बुन हुए वस्त्र।

पुलाई के मसाले—बुनने के बाद तन्तुबाम बस्त्रों को मसाले से धोते थे जिससे मटमेंसे सूत के वस्त्र भी दूरक हो जाते थे।<sup>६</sup> सुकृष्टता में भी अन्तर होता था। माध्यकारक व वस्त्र के सुकृष्ट और सुबलतर ये भेद किये हैं। सुबलता और सूत के अन्तर से बस्त्रों के अर्थ में भी अन्तर रहता था।<sup>७</sup> बराबर कम्बाई और चौड़ाई होने पर भी काष्ठी में बने वस्त्र का मूल्य मधुर में बने वस्त्र से निम्न रहना था। इसका कारण बस्त्रों का गुण-भेद था। बनानवासे बुझाहे धीठ को वृक्ष मसाले से धोते थे औपचारिक का दूसरे से और माध्यमिक को तीसरे से। इस प्रकार के किसी वस्त्र को वृक्ष धीठ बना देते थे किसी का औपचारिक और किसी को माध्यमिक। बस्त्रों के मूल्य भेद का यही कारण म था। उनकी सूक्ष्मता की उत्तमवत्ता भी मूल्य के

१ ११४५, पृ० २८० ।

२ ३३-१२२ ।

३ ५२-७० ।

४ ५४१६० ।

५. मासिर्षं तन्त्रम् प्रीतितान्त्रम् ।—१४-५४, पृ० १८४ ।

६. वही ।

७ ५४१६० काश्चिका ।

८. तन्त्रावधिवापहतः तन्त्रकः षटः तन्त्रकः प्रावाः । प्रायथा नव उच्यते ।—५-२-७०,

काश्चिका ।

९. ११११ पृ० १०६ ।

१० ५३-५५, पृ० ४५२ ।

अपकपोत्सर्प का कारण होती थी। सूक्ष्मता का दायित्व सूत्र या तन्तु काठनेवाले पर निर्भर रहता था।<sup>१</sup>

रेशम के बस्त्र—कार्पास-बस्त्र के अतिरिक्त तन्तुधाम रेशम के भी बस्त्र बनाते थे। भाष्यकार ने इन्हें क्षीम बस्त्र कहा है।<sup>२</sup> ये धुमा से बनते थे। बस्त्र कौशेय भी होते थे। भाष्यकार ने उल्लेख किया है कि कोश से उत्पन्न होने के कारण इन्हें कौशेय कहते हैं। यों वे कासा में नहीं उत्पन्न होते अपितु काश ने विकार होते हैं। यों तो धूल भी कौशेय से होती है। कोश को अला हो तो उसकी धूल भी कौश का ही विकार मानी जायगी। कोश में उत्पन्न मार्ग तो रेशम का बीड़ा भी तो कोश में ही रहता है फिर भी कीड़े या धूल या भस्म के लिए लोक में कौशेय का प्रयोग न होकर बस्त्र के लिए ही होता है।

भारत में क्षीम के प्रारम्भ का पता लगाना कठिन है। क्षीम में रेशम के कीड़े २७वीं बी० सी० शती में पासे जाते थे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार बोटन के राजकुमार के साथ एक चीनी राजकुमारी का विवाह हुआ था और वह क्षीम से खोरी-खोरी रेशम के कीड़े तथा घड़ूत का पीषा से भाई थी। कुछ विद्वानों के मत से भारत में रेशम का आगमन ७ठी बी० सी० में भारत-चीन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप हुआ। यद्यपि यह इस बात का प्रमाण है कि भारत के पूर्वीय भाग में रेशम के कीड़ों के अनेक भेद पहले से ही विद्यमान थे।

भारत में ७वीं बी० सी० से रेशम का पर्याप्त प्रचार था। अर्थशास्त्र में भारतीय रेशम के साथ चीनपट्ट और चीनभूमिज रेशम का भी उल्लेख है।

शीर्ष बस्त्र—कम्बल या ऊनी के बस्त्र बनातेवालों को भी तन्तुधाम ही कहना चाहिए, यद्यपि कम्बल या ऊनी बस्त्र बनानेवालों का एक स्वतन्त्र वर्ग था। सूती बस्त्र सूत्र से बनते थे। कमी हुए ऊन के तारे से लिए तन्तु का व्यवहार होता था। इस प्रकार, कुछ अभिप्राय की दृष्टि से तन्तुधाम इन्हीं का कहना चाहिए। भाष्यकार ने कहा भी है—'एक तन्तु स्वभा की रखा नहीं कर सकता किन्तु उनका समुदाय सग कम्बल कर सकता है।'<sup>३</sup>

कम्बल—कम्बल सफेद रंग के बनते थे।<sup>४</sup> शाले या पाटल भी बनते होंगे। दुर्लभ कम्बल का उल्लेख भाष्यकार ने कई बार किया है। यों तो कम्बल मिश्र-यंत्र मायाम और विस्तार के वपते थे तथा उनका माटाई और बजल में अन्तर रहता था किन्तु एक विशेष प्रकार के कम्बलों का प्रथम अधिक था, जिनकी लम्वाई-बीड़ाई और वजन निश्चित था। ये निश्चित परिमाण के कम्बल बाजार में अधिक मिलते थे। सामान्य कम्बल कहीं से इन्हीं का बोज होता था। यद्यपि

१ इहास्यापि सुक्ष्मानि बस्त्राण्यस्यापि लक्ष्माणि वस्त्राणीति परद्वारातिमायिक-प्राप्नोति—सूक्ष्म बस्त्रपरद्वार्य—५ ३-५५, पृ० ४५२।

२ ८ ३ ३७ पृ० ४२२।

३ कौशस्य विकारः कौशेयम्। न ह्यत्र कोने लम्बवति। किं तर्हि कौशस्याद्यो विकारः—बस्यापिकौशस्य विकारः।—४ ३ ४२, पृ० २३४।

४ १-२-४५, पृ० ५३५।

५ १-२-५९, पृ० ६०३।



सामान्य परिमाण के तथा दूसरे विक्रय-योग्य कम्बुकां को पष्यकम्बल ही कहते थे फिर भी दोनों अर्थों में प्रयुक्त इस शब्द के उच्चारण में अन्तर था। सामान्य कम्बल जिसका औसत वजन १०० पल या ५ सेर रहता था उच्चारण में पूर्वपर प्रकृति-स्वर रहता था किन्तु अन्य पष्यकम्बलों के उच्चारण में समासान्तोन्नात बोला जाता था। पूर्व-पर प्रकृति-स्वरवाला 'पष्यकम्बल' शब्द संज्ञा बन गया था। निश्चित परिमाण के इस कम्बल में लगनेवाली ऊन का वजन भी संज्ञा बन गया था। इसे कम्बलस्य ऊर्णा कहते थे। कम्बलस्य शब्द १० पल ऊन का पर्यायवाची बन गया था। उससे भिन्न परिणाम के कम्बल में काम जानेवाली ऊर्णा को कम्बलीय कहा जाता था। कम्बलस्य शब्द परिमाण की संज्ञा बन गया था। कम्बलस्य से अन्व-विक्रय का नाम चलता था। यथा दो कम्बलों से खरीदी वस्तु द्विकम्बलस्य कही जाती थी।

पाण्डुकम्बल—कमी-कमी बेशबिधेय में बनने एवं प्रसिद्धि पा जाने के कारण वहाँ के कम्बलों का नाम उस प्रबंध के नाम पर पड़ गया था। उदाहरणार्थ रंजु-प्रदेश में बने कम्बल रंजुव कहलाते थे। इसी प्रकार, पाण्डुकम्बल भी विशिष्ट कम्बलों का नाम पड़ गया था जो पाण्डुरंग के लोहते ही थे किन्तु पाण्डुरंग के साधारण कम्बल न थे। डॉ० वा० ए० अग्रवाल के अनुसार ये उड़ियाण या स्वात पाटी में बनाये जाते थे और वहाँ से बेश मर में निर्यात होते थे। ये बहुमुख्य थे और काशिका के अनुसार राजास्तरण के काम आते थे। रवों के आसनास्तरणों के रूप में इनका प्रयोग होता था। रवों का अन्तर्मणि सामान्यतया तीन वस्तुओं से मड़ा जाता था—वस्त्र वर्म और कम्बल। सामान्य कम्बल से मड़ा हुआ रथ काम्बल रथ कहलाता था किन्तु पाण्डु कम्बल से मड़े हुए रथ का वैशिष्ट्य-सूचन के लिए उसे पाण्डुकम्बली कहते थे। सामान्य कम्बल के ऊपर इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए ही इसे राजास्तरण कहा जाता था। इसकी किमारी रगीत होती थी।

डॉ० अग्रवाल ने कम्बल की प्राचार और बर्लका नामक दो जातियाँ और मानी हैं पर बालक म ये कम्बल के भेद नहीं है। प्राचार या प्रवर ऊनी सूटी या रेशमी किसी भी प्रकार की चादर को कहते हैं जो उसका गिण्यायक मूल 'बुजोतेराण्छादने' (३३-५४) से स्पष्ट है। यदि यह गण संज्ञा होता तो 'मी अर्थ म त्रितीय शब्द प्रवर न बनता क्योंकि संज्ञा पश्य कम्बल होते हैं। तन्प्राचरिण्यदने (५२-७०) मूल के काशिकावाच्य 'ताम्रक पट' ताम्रक प्राचार

१ पष्यकम्बल संज्ञापात्रित्त वस्तुष्यं यो हि पचित्तस्यः कम्बल पष्यकम्बलः एवाती भवति। ६२-४२, पृ० २५९।

२ ५१३ पृ० २९७।

३ ४२-१०० काशिका।

४ ४२-११, पृ० १७१।

५ ४२-१० पृ० १७०।

६ ४२-११ पृ० १७१।

७. पाण्डुकम्बले शब्दो राजास्तरणाय वर्णकम्बलस्य वाचकः—४-२-११ का०।

८. इण्डिया एज मोन हू वाचिनि पृ० २३२।

में पट से पुयक प्रकार का उत्प्रेषण उसके तान्त्रिक होने में प्रमाण नहीं माना जा सकता। बर्भका किसी भी ऊनी वपड़े को कह सकते हैं। उसका कम्बल होना आवश्यक नहीं है विशिष्ट जाति का कम्बल होना तो दूर की बात है। केवल तान्त्रिक (तन्तु से बना हुआ) बर्भ में बर्भका पत्र प्रयुक्त होता था।<sup>१</sup> ऊर्ध्व से बने वस्त्र को साधारणतया भौण या भौर्भक कहते थे।<sup>१</sup>

इस प्रकार, तन्तुबान भारतीय वार्षिक जीवन का अनिवार्य और प्रमुख अंग था। वह अपने तन्तुओं का स्वामी होता था और मायिक दृष्टि से उन्नत था। तन्तुबान के द्वितीय में प्रति पोषिता के कारण पत्रबन्धि-काक में पर्याप्त प्रगति हुई जान पड़ती है। महतीक कि काशी मयुरा मध्यमिका (चित्तौड़) के बस्त्र अपने द्वितीय-वैशिष्ट्य के कारण अन्त-अलग पहचाने जा सकते थे। इस प्रतियोषिता के कारण ही बस्त्रों के रूप रंग और सूक्ष्मतादि गुणों में पर्याप्त उन्नति परि मथित होती है।

तन्तुबान की सम्पत्त तान्तुबान्य कहलाती थी। उत्तर में तान्तुबानि शब्द का प्रचलन था।<sup>१</sup> इसी प्रकार जयस्कार के अरण्य को जामस्कारि, छोहकार के पुत्र को लीहकारि और नापित की सम्पत्त को नापितायनि कहकर पुकारा जाता था।

बर्भकार—बर्भकार मर पशुओं का बर्भ उभड़ता उसे समाकर भुलायम बनाता और उससे व्यावस्यिक वस्तुएँ तैयार करता था। वार्ध बर्भ तथा रक्तमिथित बर्भ को बहु व्यवहार में लाता था।<sup>१</sup> धिकार में मार हुण पशुओं का लाजा जमड़ा प्रचुरता से प्राप्त हो जाता था क्योंकि धिकार की प्रया पत्रबन्धि-काक तक सूब थी। बर्भकार वार्ध (बड़ी) नद्दी (नदी) बरजा (बरत) कोय (तस्वार यादि के म्यान) सनयु (बर्भ-वस्तु) छदि (भाबरज) और उपानयु (जूते) बनाता था। इनके द्वितीय प्रयुक्त होनेवाले बर्भ की संज्ञा माप्यकार ने वार्ध (वार्ध)<sup>१</sup> 'भारज' (बरजा) सनगब्ध' (सनयु) छदिपेय (छदि)<sup>१</sup> और औपानयु<sup>१</sup> (उपानयु) बतलाई है। जमड़े क तस्वार क म्यान या रय को बार्भकोय कहते थे।<sup>१</sup> रयकार के बँठने का जग जमड़े से मड़ा जाता था। ऐसे रय को बार्भण कहते थे।<sup>१</sup> उपानयु जमड़ और छकड़ी बनें के

- १ ७-३ ४५, पृ० १९०।
  - २ ४ ३ १५८।
  - ३ ४ १ १५२, पृ० १५३।
  - ४ ४ १ १५८, पृ० १५३।
  - ५ ७-१ ३९, पृ० ४४।
  - ६ ५ १ १५।
  ७. वही।
  - ८ ५ १-२, पृ० २९४, २९५।
  ९. वही।
  १०. वही।
  - ११ ६ ४ १५४, पृ० ४८३।
  १२. ४-२-१० का०।
- ४१

बनते थे। 'चर्मकार पौर की नाप लेकर जूता तैयार करता था जिसे अनुपवीत कहते थे।' कुछ चर्मकार जूते की लमी में गत्ता डकड़ी या अन्य ऐसी वस्तु भर देते थे। कुछ जूते केवल चर्म के बनते थे जो सर्वचर्मोक्त कहे जाते थे। 'सर्वचर्म का अर्थ यहाँ पूर या समूचा चर्मड़ा नहीं है। इसलिए, सर्वचर्मोक्त का अर्थ बिना काटे हुए समूचे चर्मड़े से बनी हुई वस्तु नहीं है। यह कापिकाकार ने स्पष्ट किया है। सर्वचर्मोक्त के स्वान पर सर्वचर्मोक्त पद का भी व्यवहार हो सकता था।

**नगरकार**—माप्य में एकाधिक बार नगरकार शब्द का प्रयोग हुआ है, जो सम्भवतः पत्नी के अर्थ में आया है। जिस प्रकार माप्य में वास्तु-कला क वर्गों की चर्चा है उससे यह तो संकत मिलता ही है कि वास्तु-विद्या क विद्यार्थियों की संख्या देश में पर्याप्त रही होगी। उन्होंने वास्तुकर्म के वर्गों को वास्तव्ये कहा है और वास्तु का स्वतन्त्र उल्लेख भी किया है। एक स्वान पर मूत्रग्रह की भी चर्चा है, जो राज या मिस्री का बोधक है। 'यदा-कदा मूत्र पकड़नेवाले के लिए मूत्रग्रह शब्द का प्रयोग हुआ था। मूत्रग्रह संज्ञा शब्द है। नगरकार का उल्लेख हर बार कुम्भकार के साथ होने से यह अनुमान होता है कि नगरकार शब्द का प्रयोग मिस्री या राज (mission) क लिए ही हुआ है।

**कटकार**—कट और कटकार शब्दों का प्रयोग महाभाष्य में जिस प्रचुरता से हुआ है उससे स्पष्ट मालूम होता है कि कटकारों की एक स्वतन्त्र योगी बटाइयाँ बनने का ही व्यवसाय काली थी। जोय काष्ठ तुल या पुलाक के पूछ इन्हें देते थे और कट बुनवा लेते थे। बीरब की बटाइयाँ बकरी बनती थी। 'इसके साधन थे रज्जु, कीक और पूल।' इनसे काटकर मोटी पतली छीन्नी बड़ी बकरी हस्की साधारण और विचित्र दार्शनिक बटाइयाँ बनाते थे।' इससे प्रतीत होता है कि कट का व्यवसाय विषय का स्वल्प ग्रहण कर चुका था। भाष्यकार ने एक स्वान पर कट को बैनी-सा तुल्य कहा है 'जिसका तात्पर्य मुषायम बिकने और सरलता से मुड़कर वह बन जानेवाले कट से है। यह नाम धनम् (पहल) पु (पी) = चोचर्म से बने होने के कारण पड़ा था।

१ ५११४।

२ ५-२-९ कापिका।

३ ५-२-५ कापिका।

४ १११९, पृ० २४७।

५ १११६, पृ० १८०।

६ सूत्रे च पार्ये च ग्रहेष्वसंख्यातम् सूत्रग्रहः। पार्येऽर्धे इति किमर्थम्? यो हि सूत्रं गृह्णाति सूत्रग्रहः स भवति।—३-२-९, पृ० २११।

७ १११ पृ० २३ तथा १११९, पृ० २४७।

८ ११-१२, पृ० १८।

९. तुट्टकराणि बोरवाति।—१४-८०, पृ० १९८।

१०. समस्तं रज्जुकोतकपूल-पार्ष्णिं बुद्ध्वा त इच्छा पश्यते।—३-१-७ पृ० २९।

११ २३१ पृ० ३९८।

१२ ३-२-१०२ पृ २३९।

एक स्थान पर कहा है कि जो कष्ट बनाना चाहता है वह कहता नहीं फिरता कि म कष्ट बनाने का रहा हूँ। उसे रस्ती कीलें और पूरु छिपे कुछ करने को उद्यत देखकर उसकी इच्छा का पता पड़ जाता है। छोटी चटाई को गटी कहते थे। सामारण चटाई के छिए तुर्गों के दो पुर्छों की आवश्यकता होती थी।

**रज्जुकार**—रज्जु बनाना भी शिल्प था। सूँच को मोटा-पतला बटना राघ आदि को मोटा या सूक्ष्म काटना ऐँटना और बोहरा वेहरा या चौकड़ मिलाना कौशल की अपेक्षा करता था। भाष्य में इसके संकेत यत्र-तत्र मिलते हैं।

**आकर्षिक**—आकर्षिक श्रेण भी स्वतंत्र व्यवसायी जान पड़ते हैं। आकर्षिक श्रेण सुवर्ण परीक्षा में निपुण होते थे। गाँव में बन्धक रहे जानेवाले बामुपकार्य काम में आनेवासे तथा क्य-बिन्ध्य में ब्यबहृत होनेवासे सुवर्ण की परीक्षा के लिए आकर्षिक को बुछाया जाता था जो कुछ पारिभ्रमिक लेकर सुवर्ण की परीक्षा करता था। आकर्षिक और आकर्षिक के भेद को स्पष्ट जानना आवश्यक है। डॉ० वा० श० अग्रवाल ने लोगों को एक मान किया है। आकर्षिक सामारण सुवर्णकार है जो अपने व्यवसाय के अंग के रूप में सुवर्ण परीक्षा में भी निपुण होता था किन्तु आकर्षिक की जीविका का सहारा यही था। वह लोगों के घर जाकर काम करता था।

**राजशिल्पी**—आजकल राजबैद्यों के समान पतंजलि-काल में भी कुछछटा ब्यस्त करने के लिए शिल्पी श्रेण अपने नाम के पूर्व राज शब्द का ब्यवहार करते थे। जैसे राजनापित राज कुलाह। यह कर्मभारत समास-युक्त पद था। इसका अर्थ राजा का नापित नहीं समझना चाहिए। राज शब्द श्रेष्ठ वाची है। इसका ठीक विरोधी शब्द ग्राम-नापित या ग्राम-कुलाह था।

**जीविका के अर्थ साधन**—जीविका के कुछ अर्थ भी महत्त्वपूर्ण साधन थे यद्यपि वे शिल्प की कोटि में नहीं आते। आसुतीबल भ्रमकेसे सराव खींचता और बेचता था। यही उसकी जीविका का साधन था। कुछ श्रेण शिकार बेलकर और बेचकर जीविकार्जन करते थे। इनमें मैनिक मुख्य थे। ये श्रेण जाल रखते थे और उससे मछलियाँ पकड़ते थे। पक्षी फँसने के लिए भी जाल का प्रयोग होता था। जाल को आनाय भी कहते थे। पक्षी पकड़कर उन्हें बेचनेवासे व्याप

१ ३१-७, पृ० २९।

२ ३-१-९९, पृ० १६८ तथा ६-१-८४ पृ० ११५।

३ ११४४, पृ० २७५।

४ ५२-६४।

५ ४२-९।

६ इण्डिया एज तोल दू पाणिनि, पृ० २३५।

७ ६-२३३।

८ ६-२-६२।

९ ५-२११२।

१० ११९८, पृ० ४३५।

११ ३३-१२४, पृ० ३१९।

होते थे। मीनों की विशेष जातियों के नाम पर भी इनके नाम रख दिये जाते थे जैसे साफरिफ प्राबुमिक। सामान्यतया ये मात्स्यिक मैमिक पाक्षिक या मार्गिक आदि कहलाते थे।<sup>१</sup> अर्थ व्यवस्था को प्रभावित करने के कारण ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है। यद्यपि ये शिम्पी की कोटि में गढ़ी आते।

शिम्पियों की संख्या बेश में अधिक थी। ऐसा शायद ही कोई गाँव होगा जिसमें अमस्कार, बबकि (बहुई) कुसाळ नाफि और रबक न रहते हों।<sup>२</sup> मावेश ने इनका परिचय किया है।

सामान्य शिम्पी को काठ कहते थे।<sup>३</sup> उसके लिए 'कारि' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।<sup>४</sup>

१ ४४३५।

२ ब्राह्मण नाम आनीपतामित्युच्यते तत्र चावरतः पञ्चकारकी जगति।—१ १४८, पृ० २२५।

३ ४११५२।

४ वही।

## अध्याय ५

### व्यापार और वाणिज्य

व्यवहार और वाणिज्य—महामाध्य में व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ है। सी मा ह्वार स्वये का लेन-देन करने के अर्थ में 'घटस्य व्यवहरति' या 'सहस्यस्य व्यवहरति' का प्रयोग होता था। यों पणु धानु भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होती थी किन्तु उसका अर्थ अपेक्षाकृत संकुचित था और 'घटस्य पणते' से यही समझा जाता था कि व्यक्ति सी स्वये की वस्तु सरीरता या बेचता है।<sup>१</sup> अरीरने के अर्थ में क्रय बेचने के अर्थ में विक्रय और दोनों के संयुक्त अर्थ में क्रय-विक्रय शब्द प्रचलित था और व्यापारी क्रय-विक्रयिक कहलाते थे।<sup>२</sup> व्यवहार का जो व्यापक अर्थ था उसके लिए वाणिज्य शब्द था और वाणिज्य करनेवाले के लिए वाणिज।<sup>३</sup> इससे कुछ संकुचित अर्थ में बणिक् शब्द प्रचलित था जिसका साधारण अर्थ था व्यापारी। बणिक् और तुला का संबंध अविच्छेद्य-सा माना जाता था। इसीलिए, एक स्थान पर वणिक् शब्द से तसम्बन्धी तुला-सूत्र का ग्रहण किया गया है। जिस रस्सी को पकड़कर तराबू उठाई जाती है उसे तुला-प्रवाह कहते थे। तुला प्रवाह को लेकर घुमनेवाले या उससे जीविका कमानेवाले सामान्यतया बणिक् और यथा-कथा कोई दूसरे भी होते थे। इससे यह भी पता चलता है कि व्यापार या वाणिज्य अनिवार्य रूप से बणिक् (जाति) के ही हाथ में नहीं था।<sup>४</sup> हाँ ब्राह्मण लोग बणिक्प्रवाह में कम प्रवृत्त होते थे। एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है कि उरर के समान काले जादमी को तुलान में बैठा देखकर कोई नहीं समझेगा कि यह ब्राह्मण है।<sup>५</sup>

वाणिजों की श्रेणियाँ—वाणिजों के नाम या श्रेणियाँ दो आमारों पर भी—एक उनके वाणिज्य के स्थान के नाम पर और दूसरे वाणिज्य की वस्तु के नाम पर। अन्तर्राष्ट्रीय (और तत्कालीन भाषा का प्रयोग करें, तो अन्तरराष्ट्रीय) वाणिज्य के प्रमाण भाष्य में मिलते हैं, यद्यपि भारत से बाहर माल के आने-जाने का पता हमें नहीं चलता। पश्चिमी तट पर वाणिज्य की सीमा

१ २-३-५७ काशिका।

२ ४४ १३ काशिका।

३ ६२ १३।

४ — वणिजान् बणिकसम्बन्धेन च तुलासूत्रं लक्षयते न तु वणिक्शतसम्। तुला

प्रवाहते वैत सूत्रेण च प्रव्यायं। तुलाप्रवाहेण चरति तुलाप्रवाहं चरति वणिगण्यो वा।—

३-३-५२ काशिका।

५. नहीं कालं मायराशिबर्धमापने आसीनं बुष्टवाग्म्यवस्वयं ब्राह्मण इति।—२-२ ६,

५० १५१।

भुगुण्डल ज्ञान पढ़ती है। मद्र कस्मीर, गान्धार आदि में जाकर व्यापार करने का उस्सेस काविका में स्पष्ट है। सम्बन्ध पाणिनि-सूत्र भी बग्य प्रवेश में जाकर बाणिज्य करने की बात कहता है और इस आभार पर बाणिज्यों की श्रेणियाँ निरिचत करता है। यथा—मद्रबाणिजं काश्मीरबाणिजं। वस्तुओं के आभार पर बस्वबाणिज बोबाणिज आदि नाम उनका बाणिज्य करनेवालों के पड़ जाते थे। बंधकठिन (बन्ध-सम्पत्ति या बंध) का व्यवहार (व्यापार) करने-बांसे को बंधकठिनिक बध्नं या तुन्-विशेष का व्यवहार करनेबांसे को बध्नकठिनिक और बनिज ब्रह्मों के व्यापारी को प्रास्तरिक कह्ये थे।<sup>१</sup> पाणिनि ने संस्थान शब्द का भी प्रयोग किया है। संस्थान व्यापार-संघों को कह्ये थे। उनके सन्त्य के रूप में व्यापार करनेबांसे की संज्ञा संस्थानिक थी।<sup>२</sup>

सार्व—भाष्य में सार्विक का भी उस्सेस है। काविकाकार 'ठरगच्छति पथि द्रुतयो- (४ १-८५) के प्रत्युदाहरण के रूप में सुम्न जानेबांसे सार्व का उस्सेस किया है। सार्व बनाकर बसनेबांसे सार्विक होठे थे। यात्रा में विशेषतः व्यापार-सम्बन्धी यात्रा में सार्वबहन का बहुत महत्त्व था। यदि कोई बकेला भी चल पड़ा तो कान्ठार जाने पर रुक जाता था और किसी सार्व में सम्मिच्छित हो जाता था। कान्ठार निकल जाने पर वह फिर सार्व छोड़कर स्वतन्त्र चलने लगता था। और और बटमार मार्गों के किनारे छिपकर बैठ जाठे थे और बकेले-बुकेले निकलने-बांसे पणिकों को सूट फेठे थे। इसीसिद्ध, और को पारिपन्थिक कह्ये थे।<sup>३</sup> इससे कान्ठारों में सूट-पाट का मय बना रहता था यह बात स्पष्ट है। सार्व का उद्देश्य ही सूट-पाट से बचना था। कभी कोई सार्व से बिछुड़ जाता था।<sup>४</sup> क्योंकि सार्वबाहू रात्रि के विषाम-काल को छोड़कर अन्यथा चल्ये रह्ये थे। उन्हें कम्बी यात्रा तय करनी रह्यी थी। इस प्रकार छत और छाप चलनेबांसे बधिकों को अणरस्पर<sup>५</sup> सार्व कह्ये थे। केवल सार्व बनाकर चलनेबांसे सातत्य-विरहित छाब के सिद्ध अणरपर<sup>६</sup> विशेषण का प्रयोग होठा था। कभी-कभी कई सार्व एक स्थान पर ही जाकर ठहर जाठे और पठ बिठाठे थे। कभी-कभी किसी विशेष संकट-स्थल में अनायास ही बनेक अपठिचिन व्यापारियों का सार्व बन जाता था। सार्वों के पड़ाब के स्थान प्रायः निरिचत रह्ये थे।<sup>७</sup> भाष्यकार ने कहा है कि एक प्रतिभय में टिकनेबांशं बनेक सार्व सबेरे उठकर अपने-अपने पन्थस्य स्थान को चल पड़ने है और उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होठा।

१ ६२१३ का०।

२ ४४-७२ का०।

३ ४४२।

४ कठिबतकान्ठारे समुपस्थिते सार्वमुपावसे। स यथा निष्कान्ठारीभूतो भवति तथा सोर्षं ब्रह्मति।—११-७४ पु० ४६३।

५ ४४३६।

६ ११-२४ पु० १६१।

७ ६११४४।

८ सार्विकानामेकप्रतिभय उचितातां प्रातस्स्थाय प्रनिष्ठमानानां न कठिबत् परस्परं सम्बन्धो भवति।—२-२४ पु० ३७०।

पण्य—अगर कहा जा चुका है कि व्यापार के लिए व्यवहृत (वि+व्य+हृ) तथा पण्य शोना पातुओं का प्रयोग होता था। यद्यपि पण्य का क्षेत्र संकुचित था। पण्य का प्रयोग सामान्य दुकानदारी के लिए होता था। बची जाने योग्य वस्तु पण्य कहलाती थी। जो व्यक्ति पण्य का काम करता था उसके नाम अनेक बार पण्य वस्तुओं के आभार पर निर्दिष्ट किये जाते थे। यथा अणुप बेचनेवाले को आणुपिक चाण्डाली बेचनेवाले को चाण्डालिक और मोरक बेचनेवाले को मोरकिक कहकर पुकारा जाता था। जिस लोगों का पण्य अन्न था वे अन्नवाणिज्य और जिसका पण्य गो या ब घोषाणिज्य कहे जाते थे। जिस स्थान पर खरीद-बिक्री की जाती थी उसके नाम बाण्य होता था। जो वस्तु दुकान पर प्रदर्शनाय रखी जाती थी उसे क्रय्य कहते थे। विक्रयार्थ रखी हुई वस्तु का ही क्रय्य कहते थे। वन्य (क्रैतव्य) अथ में क्रैतव्य का व्यवहार होता था। दुकान पर बैठा हुआ वाणिज्य एक वस्तु को तोलकर उसका हिसाब कर लेता था सब प्रथम ग्राहक से निकल हो जाने के बाद दूसरे के लिए कोई वस्तु ठोकता था। खरीदी हुई वस्तु नीचे होती थी और मूल्य के आभार पर उसका विशेष प्रयुक्त होते थे। यथा—सा सौ से खरीदी हुई त्रिमता त्रिण्य से खरीदी हुई त्रिकिक दो शूर्प अन्न से खरीदी हुई त्रिगुण और उससे खरीदी हुई वस्तु त्रिशीर्षिक ' अर्ध कार्पाणिज्य अर्ध्यर्ध सुबर्ध और त्रिषतमान से क्रय की हुई वस्तुएं क्रयण भाषिक ' कार्पाणिज्य " अर्ध्यर्ध सौषणिक " और त्रिषतमान ' कही जाती थीं।

सत्याकरण—मूल्यवान् वस्तुएं यथा पण्य आदि खरीदने के लिए पहले बयाना या साईं देने की प्रथा थी। ग्राहक भाषणिक को श्रेयच्छा का प्रमाण देने के लिए दो-एक रुपये पहन देता था वह मोस-भाष करता था। यह निर्दिष्ट मूल्य पर सौदा ठप करके अपने बचन की विदवास्पता के प्रतीक-रूप घोड़ी-सी राशि जो प्रायः दो एक कार्पाणिज्य होती थी देता था। रोप अन्न बाद में दिया जाता था। साईं स देने के बाद भाषणिक या वाणिज्य उस वस्तु को अल्प क्रिमी के हाथ नहीं बेच सकता था मसेही नाम में उसे वस्तु का मूल्य अधिक मिलता हो। इस क्रिया को 'सत्यापयति' कहते

- १ ३११०१।
- २ ४४-५१ का०।
- ३ ६२१३ का०।
- ४ ३-३ ११९, वही।
- ५- ६१-८२, पृ० ११२।
- ६- वही।
- ७ ३१११ काशिका।
- ८- ५११९, पृ० ३०७।
- ९- ५१-२० पृ० ३१२।
- १० ५१-२५, पृ० ३१६।
- ११ वही।
- १२ ५१-२६, पृ० ३१९।
- १३ वही।



के अतिरिक्त अथ वा बात पक्की करना । 'साईं सेने की क्रिया को 'सत्याकरोति' कहते थे ।' काशिका कार ने भाष्य के सत्याकरण का उल्लेख किया है । 'सत्यकार' की यह प्रथा क्रय-विक्रय के अतिरिक्त अमिकादि को नियुक्त करने में भी प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है । जो अमिक एक मात्रिक क लिए साईं अ देता है, वह उसक लिए पक्का हो जाता है ।

पथ्य वस्तुएँ—पथ्य वस्तुओं की संख्या बहुत अधिक है फिर भी अिनका उल्लेख भाष्य में प्रथम रूप से प्राप्त होता है, वे ये हैं—

पाषाण—गुड़<sup>१</sup> मूत्र<sup>२</sup> जी सब प्रकार के जस<sup>३</sup> दाह<sup>४</sup> द्वैयंगवीन (पी) वही उदरिबत् कृत्स्नाय अपूप सप्तकुसी मौडक फाष्<sup>५</sup> सर्पप<sup>६</sup> कवण<sup>७</sup> मांस<sup>८</sup> ।

शाक—दाक<sup>९</sup> तथा दाडिम<sup>१०</sup> शाखा<sup>११</sup> बिस्व (४-३-१३६) बदर आदि फल ।

पेय—मज्जित<sup>१२</sup> मद्य<sup>१३</sup> मुरा मेरेय<sup>१४</sup> मुड़ या महूए से बनाई हुई एक प्रकार की घराब । मुप<sup>१५</sup> जी से भी तैयार की जाती थी । आसुत<sup>१६</sup> (ममके स जींजी या चुमाई हुई घराब) कापिनामन<sup>१७</sup> (मंपूर से बनी घराब जो उत्तरी अफगानिस्तान के कापिजी प्रदेश से आती थी) ।

१ ३-१-२५, पृ० ६५ ।

२ ५४ ६६ ।

३ ५४ ६६ का० ।

४ ३-३-७० पृ० ३४६ ।

५ ४-४ १०३

६ ३-२ ९३ पृ० २३६ ।

७ ५-२-२३ पृ० ३७३ ।

८ ४४-५१ का० ।

९ आ० २ पृ० ६२ ।

१० ४४-५२ ।

११ ६२ १२८ ।

१२ वही ।

१३ १-२-४५, पृ० ५२७ ।

१४ ४-२-९८, पृ० २०३ ।

१५ ५-३-८३ पृ० ४०४ ।

१६ ३-१ १० ।

१७ २-२-२५, पृ० ३७९ तथा ६-२-७० का० ।

१८ ४-२ २५ ।

१९ ५-२ ११९ ।

२० ४-२-९८, पृ० २०३ ।

बल्ब—डोरोपे<sup>1</sup> लीम या लीमक<sup>2</sup> (Limen) लीपे या लीमक<sup>3</sup> मंगार (पटसन) से बने बल्ब कार्पासिक<sup>4</sup> (मूली) इनके विशेष प्रकार यथा उपरोक्ताने<sup>5</sup> माध्वारन<sup>6</sup> मूहृत्तिका<sup>7</sup> प्रावार, घाटी, घाटक<sup>8</sup> कम्बळ पाण्डुकम्बळ<sup>9</sup> पम्पकम्बळ<sup>10</sup> तथा कौरोप उमा कर्गा मंगा कार्पासिक<sup>11</sup> तुळ<sup>12</sup> आदि।

सुगन्ध—किघर<sup>13</sup> भरद, लम्प सुमंषक तपर, गुम्फुत, उलीर, हृत्तिया सात्तासु<sup>14</sup> चन्दम<sup>15</sup> इन बस्तुओं को बेचनेवाला आपणिक भी सुगन्ध कहलाता था।<sup>16</sup>

अर्त्तकार—मौमे-बादी के आमूषण तथा कौचका लत्ताटिका<sup>17</sup> इषक कृन्डक स्वस्तिक कटक<sup>18</sup> अगार<sup>19</sup> फिट्ट आदि तथा लौहृत्तिका<sup>20</sup> मन्दक<sup>21</sup> बंदूर्य<sup>22</sup> आदि मन्थियाँ।

संपीत-सागरी—बाघ यथा मङ्गुक<sup>23</sup> शर्मर (अमभा मुरंग तथा मंजीर) बीजा<sup>24</sup> मूरज पमब पिठर (मंजड़ी) मरी<sup>25</sup> आदि।

मूर्त्तियाँ—प्रतिकृतियाँ मिट्टी अथवा धातु की बनी यथा अरवकादि<sup>26</sup> तथा शिबक स्फन्दक, विद्यालक आदि मूर्त्तियाँ।<sup>27</sup>

मास्य—मात्तार<sup>28</sup> तथा पुष्प उत्पसादि।<sup>29</sup>

राग—सब प्रकार के रंग यथा मीली<sup>30</sup> सासा रोचना पीता हृत्तिया महारजन<sup>31</sup> कपाम आदि।

धम—सब प्रकार के अजिन<sup>32</sup> तथा डीपी (बीजा) व्याघ्र<sup>33</sup> (बाघ) उद्यु<sup>34</sup> मिह आदि

१ ४-३ ४२, पु० २३४।	१९ ४३ ६५।
२ ४-३ १५८।	२० भा० १ पु० १६।
३ वही।	२१ १३-२, पु० १८।
४ ७-४ ४४, पु० १३१।	२२ ५ ४-३०, पु० ४९०।
५ १ १ ३६ का०।	२३ ५ २-६८।
६ ४ ३ १४३।	२४ ४-३-८४, पु० २४२।
७ ५ ४ ६।	२५ ४ ४-५६।
८ १ १ ३६ पु० २३८।	२६ ३-३ ६५।
९ वही।	२७ ४-४-५५, पु० २८०।
१० ४-२-११ तथा ४ १-२२ का०।	२८ १ १-७० पु० ४४५।
११ वही।	२९ ५ ३-९६।
१२ ३-२-४२, पु० २५९।	३० ५ ३ ९९, पु० ४७९।
१३ ४ ३-१३६।	३१ ६ ३ ६५।
१४ ३ १-२५।	३२ ४-१ ४२ पु० ५५।
१५ ४-४-५३।	३३ ४-२-२, पु० १६६ १६७।
१६ ४ ४-५४।	३४ ६-२-११४।
१७ २-२-८, पु० ३४३।	३५ ४-२-१२।
१८ ५ ४ १३५, पु० ५११।	३६ ४ ३ ६० पु० २३८।

के चर्म, ओ रपादि पर मड़ने के काम भी आते थे पमड़े की बनी कुपियाँ या कुतुप<sup>१</sup> चमड़े से बने जूते<sup>२</sup>, नधी<sup>३</sup> बाघी, बरना सनगु, छदि आदि बस्तुएँ तथा लकवार के म्यान आदि<sup>४</sup>।

पात्र—मिट्टी तथा बालु के पात्र—जमन<sup>५</sup>, बट, बटी<sup>६</sup> छयब<sup>७</sup> कपाल<sup>८</sup> तथा कांस्यपात्र-पात्रियाँ<sup>९</sup> स्यासी<sup>१०</sup> पिठर आदि तथा जम लेक आदि बस्तुएँ भरने के पात्र—बोरे, आचपन तथा घोषी<sup>११</sup> कुतुप, उट्टिका आदि।

पशु—बैल (बो<sup>१२</sup>) बस्व हाथी सास्व<sup>१३</sup> के प्रसिद्ध बैल कानुक के बोड़े<sup>१४</sup>, भेड़ बकरियाँ<sup>१५</sup> जैट<sup>१६</sup> आदि।

मीजार—बाग<sup>१७</sup> कुन्धी<sup>१८</sup> मुग<sup>१९</sup> अस<sup>२०</sup> खनिज<sup>२१</sup> बरिज<sup>२२</sup> तग्न<sup>२३</sup> प्रबाभि<sup>२४</sup> हुक<sup>२५</sup> बाघी<sup>२६</sup>।

पालु और पालु-निर्मित बस्तुएँ—सोहे की मृच्छला<sup>२७</sup> ओ पशु बाँधने के काम आती थी अय-शुम<sup>२८</sup> (कीस-काँटे) सोहे के तार<sup>२९</sup> शंक्रुका<sup>३०</sup> छोटी कटियाँ<sup>३१</sup> इष्म-प्रवचन<sup>३२</sup> (कुस्थाड़ी) पञ्चासवातन आदि सोहे की चीजें तथा सोना-चाँदी सोहा<sup>३३</sup> टाबा<sup>३४</sup> रीया चीसा टीन आदि पालुएँ चुम्बक<sup>३५</sup> तथा अन्य पदार्थ यथा बालु (कास) जिसका व्यापार काशी विस्तृत था। कासा का प्रचार भारत में बहुत था। कासा का उत्प्रेक्ष सर्वप्रथम अपर्बेद में मिलता है। सूत्र साहित्य में तो कासा की बार-बार चर्चा है। बालुओं से बने अस्त्र—अकित<sup>३६</sup> यष्टि और उसकी मूँठ,

१ ५३-८९।

२ ५११४।

३ ३-२१८२।

४ ५१-२ पु० २९४।

५ ६४१४४, पु० ४८३।

६ ४२१४।

७ ३-२९, पु० २११।

८ ११-७२ पु० ४४७।

९ ४१-८८, पु० १०१।

१० ४२३ पु० ३१७।

११ १४१०१, पु० २०८।

१२ ४१-८२।

१३ ६२-१३ का०।

१४ ४२१३६।

१५ ६३-४२ पु० २५८।

१६ २-१९९, पु० ३३०।

१७ ४२६० पु० २३८।

१८ ३-२-१८२।

१९ ४-१४२ का०।

२० ४४-७६।

२१ ६-३-१०४।

२२ ३-२१८४।

२३ बही।

२४ ५-२-७०।

२५ ६४१६०।

२६ ३-१२६, पु० ३।

२७ ४४-२।

२८ ५२७९, पु० ३९९।

२९ ५-२-७६, पु० ३९९।

३० ११४९, पु० २९८।

३१ २-११ पु० २२७।

३२ २-२-६, पु० ३३९

३३ २-५-८, पु० ३४२

३४ ३-१-७ पु० ३०

३५ ४३-१२८।

३६ ३-१-७ पु० ३०।

३७ ४४-९५, पु० २८१।

कायस (हस्त का फाल) मंजुस, धोमर, वनुष-बाण (छोहे की फाल बाटे<sup>१</sup>) अंसि, परगु<sup>१</sup>, मारि, छोहे के पत्रे<sup>१</sup> तथा अन्य पात्र ।

गुहा—तपन, ठीकने के बाट, परिमाण वारि जिनका उल्लेख सम्बन्ध प्रकरण में किया गया है ।<sup>१</sup>

बाह्य—सकट<sup>१</sup> शकटी<sup>१</sup> रत्न<sup>१</sup> नौका<sup>१</sup> । तेक बेचना बुरा माना जाता था ।<sup>१</sup> मांस बेचना नी बजित<sup>१</sup> था किन्तु तेक के बीच सरसों ठिठ तथा मांस के साधनमूठ पशु बेचने पर प्रतिबन्ध न था । सोम का विक्रय भी शास्त्र-वजित मानता था ।<sup>१</sup> बान्य-विक्रय पर प्रतिबन्ध न था । मयित बेचना कुछ लोगों का नियमित व्यवसाय था ।<sup>१</sup> ये लोग माचिकिक कहे जाते थे ।

इनके अतिरिक्त वैतन्विय आबन्धकटा की और बहुत-सी वस्तुएँ भी जैसे वृषपु<sup>१</sup> (बकरी) सूची<sup>१</sup> (सूई) । इस प्रकार की वस्तुएँ उदाहरण-रूप में भाष्य में यत्र-तत्र बिली हैं ।

कर्म-विक्रय—यव्य-व्यवहार दो प्रकार से होता था—वस्तुओं का मुख्य सिक्कों के रूप में देकर वा बबखे में बूझती वस्तु देकर । प्रथम विधि को कर्म और द्वितीय को अपमित्य कहते थे ।<sup>१</sup> अपमित्य द्वारा की हुई वस्तु आपमित्यक कहलाती थी । भाष्यकार ने माप (ताम्रमुद्रा), कार्पापन (राजतमुद्रा) और निष्क एक सुवर्ण से खरीदी हुई वस्तुओं के अनेक उदाहरण बिये हैं । छोटी-छोटी चीजें जैसे सक्तु, मथित चायि माप से खरीदी जाती थीं । भाष्यकार ने एक स्वान पर आपनीय वस्तुओं के आडक का उल्लेख किया है ।<sup>१</sup> उन्होंने द्विदोषार्थ श्रम्य से बान्य, पंच पस्वर्ष हिरण्य से पशु और सहस्र हिरण्यों से अस्त्रों के कर्म का उल्लेख किया है । बान्य पशुओं और बरसों का कर्म सुवर्ण-मुद्रा से भी होता था ।<sup>१</sup> निष्क से श्रेष्ठ वस्तु को नैष्किक कहते थे ।<sup>१</sup> सौ निष्क वा कार्पापन द्वारा खरीदे हुए अस्त्र को श्रितिक या शरय कहते थे ।<sup>१</sup> सौ कार्पापन की सौ शोठियां बिक्री थीं । इस भाव से खरीदी हुई शोठियों को शरय कहते थे ।<sup>१</sup> पाँच (कार्पापन) से खरीदी वस्तु की पंचक संज्ञा होती थी ।<sup>१</sup> बीस और सौ (कार्पापन) से ली हुई वस्तु बिद्यक

१ ३-२-९, पृ० २१० ।

२ १४१, पृ० १०९ ।

३ १४२३, पृ० १५६ ।

४ ४११, पृ० ११ ।

५ ४४-११ ।

६ १११, पृ० १०२ ।

७ ८१३०, पृ० २८८ ।

८ वही ।

९ १११, पृ० १०२ ।

१० तैत्ति न विद्येतव्यम् मांसं न विद्येतव्यम्

इति व्यपवृत्तं च न विधीयते व्यपवृत्तं च गावश्च

कर्त्तव्यं विधीयते ।—मा० २, पृ० ६२ ।

११ वही ।

१२ ५-२-१३, पृ० २३६ ।

१३ ६३-३५, पृ० ३२४ ।

१४ २३-३०, पृ० २५४ ।

१५ २-१-२, पृ० २६४ ।

१६ ४४-२१ ।

१७ २११, पृ० २३० ।

१८ २-३-१८, पृ० ४२० ।

१९ ५-१-२०, पृ० ३११ ।

२० ५-१-२१, पृ० ३१३ ।

२१ वही ।

२२ ५-१-२२ ।

और भिद्यक कही जाती थी किन्तु यदि वह संज्ञावाची हुई, तो उसे विसर्गिक, त्रिसंस्कृत कहते थे।  
इसी प्रकार अर्ध (कार्पापण) कार्पापण सप्तमं भिद्यतिक सहस्र सुवर्ण, काकिणी धाम पण  
पाद माव आदि मुद्राओं से नकर रूप-विषय के उदाहरण भाष्यकार ने प्रचुर संख्या में दिये हैं।

विनिमय—विनिमय में अन्न का प्रयोग ही मुख्यतः होता था। दो मूष तीन मूष या  
अधिक अन्न देकर बस्तुएँ खरीदने की प्रथा साधारण थी। मूष्य और माप देकर बस्तुएँ  
खरीदी जाती थी। कंस (कनोप) भर बनाम से अन्न वस्तु कंसिक कही जाती थी। इसी  
प्रकार, बरछे में लट्वा बैस मरु आट्टी बरु आदि देकर एव धिम्पी या कृपक बूसरे सिम्पी  
या कृपक से बस्तुएँ बदल लेता था। पाँच-दस लट्वा देकर खरीदी वस्तु, पाँच कोट्टियों को देकर  
अन्न रत्न एक मूष्य देकर एक बैस अन्न (अधिक या बूसर) देकर दो बैस और अन्न देकर तीन  
बैस खरीदने की प्रथा भाष्य में मिलती है। पाँच गाम या बैस देकर बरछे में खरीदी हुई वस्तु  
(बड़ा बैस भूमि बाग) आदि को पचगु कहते थे।

परमबोपुच्छ—भाष्यकार ने परमबोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को परमबोपुच्छिक  
कहा है। गोपुच्छ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० मध्वारकर ने इसे बोपुच्छ का ही  
और डॉ० बा० ध० अग्रवाल ने गो का बोधक माना है। मुझे डॉ० मध्वारकर का मत उचित जान  
पड़ता है। वीटिरीय संक्षिप्त (७-५९) में भूमिबुभुभि का वर्णन है, जो आग्नीध्र-मध्वप में एक  
गर्द पर आर्ध्वर्ण फेलाकर बोपुच्छ से बनाई जाती थी। ये बनानेवाले बोपुच्छ जिस  
व्यक्ति से खरीदे जाते थे, उसे सबसे में जो वस्तु भी जाती थी वह बोपुच्छिक कहलाती थी और  
परम-बोपुच्छ देकर खरीदी हुई वस्तु को परमबोपुच्छिक कहते थे। भाष्यकार के समय में जबकि  
पत्तों का प्रचार बढ़ गया था इस प्रकार के सेन-देन की संभावना की जा सकती है। बोध्या अतिथि  
भी होते थे जिनके सम्पूर्ण के लिए गाय या बछिया मारी जाती थी। इन बोपुच्छों का कर्पा

- १ ५१२६ पु०, ३१५।
- २ ५१२९ पु० ३१९ तथा ५१३२ तथा वही। पु० ३२० तथा ५१३४, ३५।
- ३ ५१३७ पु० ३२१।
- ४ वही।
- ५ ५१२५।
- ६ ४१३ पु० २६।
- ७ ४१-५० पु० ६४।
- ८ १९६ पु० ८६।
- ९ आहारवाधिता मध्येन हि वस्तेनैकाङ्गा श्रीकस्यायेन द्वावयेन त्रीन्।—११३६,  
पु० २४२।
- १० वही।
- ११ १-२४४ पु० ५२५।
- १२ ५१२०, पु० ३११।
- १३ इस सूचना के लिए मैं लंगीतादाय वं० ओंकारनाथ डाकुर का कृतज्ञ हूँ।—नै०

व्यवहारसंबन्ध है। ५१२७ सूत्र में पाणिनि ने वसन से भी वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है। वसन से खरीदी वस्तु को वासन कहते थे। आजकल हिन्दीभाषी ग्रामों में वहाँ पुराने कपड़ों से बरतन खरीदने की प्रथा है वासन वाच्य का व्यवहार बरतनों के लिए होता है। सम्भवतः प्रारम्भ में पुरान वस्त्र देकर खरीदे गये पानों के लिए ही वासन वाच्य का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे इसका प्रयोग सामान्य रूप से हर बरतन के लिए होने लगा।

जिस वस्तु का मूल्य सौ (कार्पापण) होता था उसे सस्य या शतिक कहते थे। इसी प्रकार सहस्र (कापापण) मूल्यवाली वस्तु साहस्र नहीं जाती थी। 'जा वस्तु सौ की होती थी उसी कार्पापण उसका वस्त्र कहा जाता था।' काशिकाकार ने तो १२४९ और १२५० सूत्रों में सूची और सप्तमि देकर वस्तु खरीदने का उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रसंग योजि खारी और आशित (वाच्य-परिमाण) से वस्तुएं खरीदने का उल्लेख भी भाष्य में प्राप्त होता है। पचनी और दसनी प्राँच तथा दस नावों से विनिमय की ओर संकेत करते हैं। पुरानी नावें (जो काम में नहीं आती) को बेचकर बदले में किसी वस्तु के खरीदने से आराम हो सकता है या इतनी ही नावों में नयी हुई विक्रीय वस्तुओं के बदले बूझा मास खरीदा जाता होगा। विदेशी मास का इस प्रकार विनिमय प्राप्त खरीदा जाना अधिक संभावित है। यह भी हो सकता है कि तथा नावें बनाकर बेच बेते हों और बदले में कोई मूल्यवान् वस्तु से लेते हो।

निमान—वस्तु-विनिमय का बहुत सुन्दर उदाहरण 'सख्यामा मुनस्य निमाने मयट' (५२-४७) सूत्र के भाष्य में मिलता है। 'यदि कोई प्रथमात्त पद पुण (माय या वस्तु का अर्थ) के निमान (मूल्य) के रूप में वर्तमान हो और संख्यावाची भी हो तो उससे 'इसका' इस पठ्यर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। उदाहरणार्थ 'जी के दो भाग जिस उद्विबत् के निमान या मूल्य होत उस उद्विबत् (मट्टे) को द्विमय उद्विबत् कहते थे। इस प्रत्यय के लिए आवश्यक था कि जिस वस्तु का मूल्य बताया हो उसका नाम एक हो और उसके मूल्य-स्वरूप जो वस्तु ही जाय वह एक से अधिक माय हो। इसलिये, जब के दो माय यदि तीन माय उद्विबत् का मूल्य हो तो मयट् प्रत्यय नहीं होता और 'दो भागी यवानां त्रय उद्विबते' ऐसा वाक्य ही रहता है। इस सूत्र में दो बातें महत्वपूर्ण हैं—प्रथम तो निमान शब्द मूल्य का वाचक ण और जिससे गुण (वस्तु) के भाग या अंश का मूल्य जाना जाय उस निमान कहते थे। जिसका देने पर कोई वस्तु मिले वह निमान और जो वस्तु मिले वह निमेष। दूसरे विनिमय-योग्य वस्तुओं में कौन किससे कितने मूल्य मूल्य की है यह निर्धारण कर द्योते, इन विमुने क हिसाब से वस्तु-रूप मूल्य लेकर वस्तुएं बेचने की प्रथा थी। पर के काम की छाटी-मोटी वस्तुएं इसी प्रकार ठोककर बेची जाती थीं। यह प्रथा आज भी गाँवों में जारी है।

१ घतमर्हति प्रत्यः शतिकः साहस्र । यं प्रतमर्हति अतं तस्य वस्तो भवति—५११९, १० ३०९ ।

२ येनाधिगम्यते तन्निमानं यदधिगम्यते ।—तस्मिन्नेयम् आदि—५-२ ४७, पु० ३८५

मूल्य और लाभ—किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल कहते हैं। जबकि मूल वह व्यय या, जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या उपर्य प्राप्त करने पर आता था। व्यापारी उस पर लाभ मिटाकर जो (धन) प्राप्त करना चाहता था उसे मूल्य कहते थे। इस प्रकार मूल+लाभ का नाम मूल्य था और मूल्य—मूल का नाम लाभ था। जपवा मूल्य-लाभ—मूल (वस्तु की लागत) होता था। लाभ के अतिरिक्त प्राप्त राशि को लाभ कहते थे। जिस वस्तु से अतिना लाभ प्राप्त होता उसी नाम पर वस्तु को पुकारने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ जिस वस्तु पर पाँच रुपया लाभ मिळता उस पंचक कहते थे। इसी प्रकार सप्तक अष्टक, नवक दसक आदि विद्यमान बनत थे। प्रागिक अर्थिक का उद्देश भी माध्य में मिळता है। पंचक आदि विद्यमान समस्त प्रतिष्ठत लाभ को दृष्टि में रखकर निश्चित किये जाते थे। सम्भव है, प्रतिवस्तु लाभ की भार भाष्यकार की दृष्टि हो। अर्ब और भाग कापयिन के लिए अर्थात् धन प्रयुक्त हुआ है। मूल से आनाम्य या अतिभवनीय को मूल्य कहते थे। पदाधिकों की उत्पत्ति का कारण मूल होता है। मूल्य के द्वारा उसे अतिमूल किया जाता है। मूल्य मूल को समुग बनाता है। इस प्रकार पटमूल के बचपद या मूल्य कहलाता था जिसका अर्थ था उपादान के बचपद परिमाण' था।

वस्तिक—लाभ के लिए अय-विक्रय करनेवाले और जीविका के लिए उनपर निर्भर रहनेवाले जिस प्रकार अर्थिक, विक्रयिक या अयविक्रयिक कहलाते थे उसी प्रकार वस्तु के सहारे जीविका उपाजित करनेवालों को वस्तिक कहते थे। वस्तु का अर्थ है विक्री का मूल्य और वस्तिक का अर्थ हुआ—विक्री से प्राप्त होनेवाले लाभ से जीनेवाला। इस प्रकार, अय-विक्रयिक और वस्तिक पर्यायवाची होने चाहिए थे किन्तु उनमें अन्तर था। वस्तिक विक्री के लिए किसी को नियुक्त कर देता था जबकि अयवा लगाकर किसी का हुकाम या व्यापार कर देता था। हुकाम पर विक्रय करनेवाला एक निश्चित रकम पाता था। उसका लक्ष्य निकालकर सेप मात्र वस्तिक लेता था। इस प्रकार वस्तु लबा देने के बाद अय-विक्रय स्वयं न करके केवल 'लाभ का उपयोग करनेवाले वस्तिक कहलाते थे। कमी-कमी वस्तिक व्यापार के लिए एक निश्चित वस्तुविक्रि की को देकर लाभ में अपना भाग लय कर लेते थे। यह धन कमी साझेदारी के रूप में इस पाँच व्यापारियों के लाभ के व्यापार में लगा दिया जाता था और कमी किसी एक ही व्यापारी की वस्तिक (Financer) के रूप में दे दिया जाता था और उस पर होनेवाले लाभ में अपना अंश लय जाता था। इस प्रकार वर्तमान कम्पनियों के शेयरों के समान ही जो शेयर लौटने

१।

२।

३।

४।  
उपादान

शेरीकियते।

—४-४ ९१

वासों को छान का बंध विच्छिन्न कर देती है। उदाहरणार्थ—छान में से पाँच बत्न या माग पावे-वाका बस्त्रिकपत्रक कहलाता था।<sup>१</sup> ग्रामीण बसनी शब्द जो कपड़े की छिड़ी हुई और लम्बी कमर में बाँधी जानेवाली स्त्रियों की पैनी के लिए व्यवहार में आता है, वस्त्र से सम्बद्ध है। व्यापारी माक की विक्री का वन उसमें रखते हैं और सुरक्षा की दृष्टि से कमर में बाँध लेते हैं।

**द्रव्यक**—पाणिनि ने द्रव्यक का भी उल्लेख किया है।<sup>१</sup> द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जानेवाला उठाकर रखने या डोनेवाला और उत्पन्न करनेवाला द्रव्यक कहलाता था। पाणिनि ने इन क्रियाओं के लिए क्रमशः हरति बहति आबहति का प्रयोग किया है और काशिककार ने इनका अर्थ स्पष्ट किया है।<sup>२</sup> काशिका के अनुसार परदेश को द्रव्य ले जानेवाले की द्रव्यक संज्ञा होती है। पाणिनि के 'तद्वरति बहुत्याबहति भारद्वाज्यादिभ्यः' सूत्र से यह भी पता चलता है कि द्रव्यक बंध (बाँस) कुटब (Holarrhena antidy senterica) पत्तन (Eleusine indica) (बाँस) मूल मस (पुरी) स्पृभा (छट्टे) जदमन् (पत्थर) मश्व इषु और खट्वादि ले जाते थे। इनमें कुछ द्रव्य मश्वय ही विक्री के लिए ले जाये जाते होंगे। काशिकाकार ने हरति का अर्थ बुराना भी स्वीकार किया है। कामाधि लेकर दूसरे देश को जानेवाला उसे पुरानेवाला, लेकर धारण करनेवाला और उत्पन्न करने या बनानेवाला बस्त्रिक था। द्रव्य लेकर छान बनानेवाला और उसे लेकर नर लौटनेवाला द्रव्यक भी बस्त्रिक कहा जाता था। बस्त्रिक और द्रव्यक का यह अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। डॉ० अण्णभ ने एक स्थान से रवाना होने की स्थिति को हरति मध्य स्थिति को बहति और पहुँचने की स्थिति को आबहति मानते हुए व्यापारार्थ बचादि को परदेश से जानेवाले को द्रव्यक और उन्हीं स्थितिमें से मुक्त हुए मूष्य (लान-सहित) लेकर लौटनेवाले उसी व्यक्ति को बस्त्रिक माना है। किन्तु इस कल्पना का आधार उन्हीं स्पष्ट नहीं किया है। हरति प्रविष्टिमात्रों से तो यह व्यक्ति नहीं निकलती।

**व्यापार-भार्य**—मत्र कश्मीर और यात्रादि देशों में जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देशों में भास ले जाते थे और वास्तिक के रूप में वही भर कर छोड़ते थे। यह तभी सम्भव था, जब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हों। महामाप्य दूर-दूर प्रदेशों को जानेवाले लम्बे मार्गों का उल्लेख करता है। पाणिनि ने पथिक और पथक में अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे किन्तु पथक कुशल यात्री की संज्ञा थी।<sup>३</sup> कुछ लोग बचकर यात्रा किया करते थे। उनका व्यवसाय यही रहता था। ये लोय पान्थ होते थे। पान्थ

१ ५१६।

२ ५१-५१।

३ हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा। बहुस्पृक्षाम्य धारयति। आबहति उत्पा-  
वयति।—५ १-५० काशिका।

४ इण्डिया एज मोन दू पाणिनि, पृ० २४१।

५ ५१-५५।

६ ५२-६३।

७ ५१-५६।



मूल्य और काम—किसी वस्तु की वास्तविक लागत को मूल्य कहते<sup>१</sup> थे, जबकि मूल्य वह व्यय था, जो किसी वस्तु को विक्रय के योग्य तैयार करने या वर्षर्ष प्राप्त करने पर जाता था। व्यापारी उस पर काम मिलाकर जो (धन) प्राप्त करना चाहता था उसे मूल्य कहते थे। इस प्रकार मूल्य+काम का नाम मूल्य था और मूल्य—मूल्य का नाम काम था। अथवा मूल्य-काम—मूल्य (वस्तु की लागत) होता था। लागत के अतिरिक्त प्राप्त पण्डि को काम कहते थे।<sup>२</sup> जिस वस्तु से जितना काम प्राप्त होता उसी काम पर वस्तु को पुकारने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ जिस वस्तु पर पाँच रुपया काम मिलता उसे पंचक कहते थे। इसी प्रकार सप्तक अष्टक नवक दशक आदि विशेषण बनते थे। मासिक अथवा वार्षिक का उल्लेख भी भाष्य में मिलता है।<sup>३</sup> पंचक आदि विशेषण संभवतः प्रतिघट काम की दृष्टि में रखकर निरूपित किये जाते थे। सम्भव है प्रतिवस्तु काम की ओर माध्यकार की दृष्टि हो। अर्ब और माय कार्यालय के लिए अर्बाड अथ प्रयुक्त हुआ है। मूल्य से जानाम्य या अभिमवनीय को मूल्य कहते थे। पचासियों की उत्पत्ति का कारण मूल्य होता है। मूल्य के द्वारा उसे अभिमूत किया जाता है। मूल्य मूल्य को सगुण बनाता है। इस प्रकार पटमूल्य के बटवर या मूल्य कहलाता था जिसका अर्थ था उपादान के बटवर परिभाषा<sup>४</sup> वाला।

बलिक—काम के लिए क्रय-विक्रय करनेवाले और जीविका के लिए उनपर निर्भर रहनेवाले जिस प्रकार क्रयिक विक्रयिक या क्रयविक्रयिक कहलाते थे उसी प्रकार बलिक के सहारे जीविका उपायित करनेवालों को बलिक<sup>५</sup> कहते थे। बलिक का अर्थ है बिन्नी का मूल्य और बलिक का अर्थ हुआ—बिन्नी से प्राप्त होनेवाले काम से जीनेवाला। इस प्रकार, क्रय-विक्रयिक और बलिक पर्यायवाची होने चाहिए थे किन्तु उनमें अन्तर था। बलिक किसी के लिए किसी को नियुक्त कर देता था अथवा रुपया सपाकर किसी को बूकान या व्यापार करा देता था। बूकान पर विक्रय करनेवाला एक निरिक्त एकम पाठा था। उसका अर्थ निकालकर सेप काम बलिक होता था। इस प्रकार बन सगा देने से बाव क्रय विक्रय स्वयं न करके केवल 'काम का उपभोग करनेवाले बलिक कहलाते थे। कमी-कमी बलिक व्यापार के लिए एक निरिक्त बनपण्डि किसी को वकर काम में अपना भाग रख कर लेते थे। यह बन कमी साझेदारी के रूप में दस पाँच व्यापारियों के साथ के व्यापार में सगा दिया जाता था और कमी किसी एक ही व्यापारी की वंशिक (Financer) के रूप में दे दिया जाता था और उस पर होनेवाले काम में अपना अंश तप कर लिया जाता था। यह प्रथा वर्तमान कम्पनियों के शेयरों के समान थी जो शेयर बटोवते

१ ४४-९१।

२ ५१ ४७, ४८, ४९।

३ वही।

४. कृतेमाताम्यभिमवनीयवदारीनामुत्पत्तिकारणं मूलं तेन तवभिमवते शैवीकियते। मूल्यं हि तपुर्षं मूलं करोति। मूलैः समो मूल्यः पटः। उपादानेन सधानकल इत्यर्थः।—४४ ९१ काशिका।

५ ४४ १३।

बाहों को काम का बंध वितरित कर देती है। उदाहरणार्थ—काम में से पाँच बत्न या भाग पाने वाला बस्त्रिकर्षक कहलाता था।' ग्रामीण बस्त्री सब जो कपड़े की सिधी हुई और सम्पी बमर में बाँधी जानेवाली स्पर्शों की पैकी के लिए व्यवहार में आता है, बत्न से सम्बद्ध है। व्यापारी माऊ की बिक्री का धन उसमें रखते हैं और मुरझा की वृष्टि से बमर में बाँध लेते हैं।

**द्रव्य**—पाणिनि ने द्रव्य का भी उल्लेख किया है।<sup>१</sup> द्रव्य को एक स्थान से दोरान्तर को से जानेवाला उठाकर रखने या डोनेवाला और उत्पन्न करनेवाला द्रव्यक कहलाता था। पाणिनि ने इन क्रियाओं के लिए क्रमशः हर्षति बहति भाषहृति का प्रयोग किया है और काशिकाकार ने इनका अर्थ स्पष्ट किया है।<sup>२</sup> काशिका के अनुसार परदेश को द्रव्य से जानेवास की द्रव्यक उत्रा होती है। पाणिनि के 'उदरति बहत्याबहति भाषाद् बंधादिभ्यः' सूत्र से यह भी पता चलता है कि द्रव्यक बंध (बाँस) कुट्टन (*Holarthena antydysenterica*) बन्बज (*Eleusine indica*) (बँबई) मूष बल (धुरी) न्युगा (लट्ठे) मधमन् (पत्थर) अद्व इजु और सट्वादि से आते थे। इनमें कुछ द्रव्य अवश्य ही बिन्नी के लिए से जाये जाते होंगे। काशिकाकार ने हर्षति का अर्थ धुराता भी स्वीकार किया है। सामाज्य लेकर बूसे बंध को जानेवाला उसे धुरानेवाला लेकर धारण करनेवाला और उत्पन्न करने या कमानेवाला बस्त्रिक था। द्रव्य लेकर काम कमानेवाला और उसे लेकर घर छोड़नेवाला द्रव्यक भी बस्त्रिक कहा जाता था। बस्त्रिक और द्रव्यक का यह अन्तर स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। डॉ० मधवाक न एक स्थान से रवाना होने की स्थिति को हर्षति मध्य स्थिति को बहति और पहुँचने की स्थिति को भाषहृति मानते हुए व्यापारिक बंधादि को परदेश से जानेवाले को द्रव्यक और उन्हीं स्थितियों से गुजरते हुए मुख्य (आभ-अहित) लेकर लौटनेवाले उसी व्यक्ति को बस्त्रिक माना है। किन्तु इस कल्पना का आधार उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। हर्षति प्रतिक्रियाओं से तो यह ध्वनि नहीं निकलती।

**व्यापार-मार्ग**—मत्र कमीर और गान्धारदि देशों में जाकर व्यापार करने की चर्चा पीछे हो चुकी है। द्रव्यक लोग दूर-दूर देशों में मास ले जाते थे और वास्तिक के रूप में पैसी भर कर लौटते थे। यह वही मन्मथ वा अब यात्रा के सरल साधन उपलब्ध हों। महाभाष्य दूर-दूर प्रदेशों को जानेवाले सन्धे मार्गों का उल्लेख करता है। पाणिनि ने पथिक और पथक में अन्तर किया है। पथिक साधारण यात्री को कहते थे किन्तु पथक कुशल यात्री की संज्ञा थी।<sup>३</sup> कुछ लोग बराबर यात्रा किया करते थे। उनका व्यवसाय यही रहता था। वे लोग पान्य हाते थे। पान्य

१ ५१५।

२ ५१-५१।

३ हर्षति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा। बहृत्पुत्रिभ्यः पारयति। भाषहृति उत्पन्नयति।—५ १-५० काशिका।

४ इच्छिया एव भोज हू पाणिनि, पृ० २४१।

५ ५१-७५।

६ ५-२-१३।

७ ५१-७६।

और पथिक सेकड़ों कोसों और योजनों तक पाया माखे थे। खम्बी यात्रा ही व्यापार में आमदायक हो सकती थी। क्रोसचटिक या योजनचटिक पथिक बिना सुपथ के यात्रा नहीं कर सकते थे। पाथिनि ने सीधे सरक मार्ग के लिए 'वण्डमाथ' शब्द का प्रयोग किया है।<sup>१</sup> रथ बैलगाड़ियाँ जोड़े तथा सार्ब इन मार्गों पर दौड़ते चले जाते थे। रास्ते एक देव (प्रदेव) को ब्रूते से जोड़ते थे। इन मार्गों का नाम उन प्रदेवों के नाम पर होता था जहाँ तक वे जाते थे। जैसे सुम्न जानेवाला मार्ग मीप्न कहा जाता था।<sup>१</sup> इस मार्ग से ब्रूम्य तथा पशु आदि सुम्न से ले जाते और ले जाते थे। साकेत तथा सुम्न के लिए प्रसिद्ध मान थे।<sup>१</sup> ये मार्ग मधुप से बताये गये हैं। इन मार्गों के किनारे किनारे कूप बनाये गये थे। एक स्थान पर पाटलिपुत्र जानेवाला कोई बतमाता है कि यह जो मार्ग पाटलिपुत्र तक जाता है इसमें बीच-बीच में कुएँ मिलेंगे।<sup>१</sup> मधुप से पाटलिपुत्र जानेवाला मार्ग कौशाम्बी और साकेत होता हुआ जाता था। इसमें बीच-बीच में पड़ाव थे और लोग निश्चित स्थानों पर रुकते एवं विधाम करते थे। कौशाम्बी और साकेत इस मार्ग के ऐसे ही पड़ाव थे। 'मविप्यति मर्यादायचनेज्वरस्मिन्' (३-३ १३६) में वासिकाकार ने उदाहरण दिया है कि यह जो मार्ग पाटलिपुत्र तक जायगा उसमें कौशाम्बी के बाह्य दो बार भोजन करेंगे अर्थात् दो बार पूरा विधाम करेंगे। यात्री सोच यात्रा पर निकलते समय तैयार साध वस्तुएँ साथ ले जाते थे और उन्हें ही यात्रा दिन काट करते थे। कई दिन बाह ही नहीं रुककर वे भोजन बनाते-जाते थे। कौशाम्बी के बाह्य दो बार रुकने का उत्क्रेम मार्गों में यात्रा-विद्यमान था ही चोतक है। वाप्यकार ने इसी उदाहरण में कौशाम्बी के स्थान पर साकेत का प्रयोग किया था। उत्तरपथ भारत का सबसे बड़ा व्यापार-मार्ग था जो उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक जाता था।<sup>१</sup> यह मार्ग वर्तमान प्रायद्वीप रोड के समान था और देश की प्रायः बड़ी-बड़ी नदियों को पार करता एवं बड़े-बड़े नगरों से गुजरता था। रात्मन्तन के अनुसार यह अनेक भागों में विभक्त था—सीमाप्रान्त के पुष्करावती (Peukelaota) नगर से तससिमा तससिमा से सिन्धु पार करता हुआ सेसम तक सेसम से व्याम और सतकत्र तक सतकत्र से यमुना और यमुना से इस्तितापुर होता हुआ गंगा तक गंगा से राडाका (Rhodopha) नगर और वहाँ से कलिनिर्वेनस (समवत कल्पकृष्ण) एवं कनीत्र से प्रयाग और प्रयाग से पाटलिपुत्र।<sup>१</sup> इस प्रकार यह मार्ग देश के प्रमुख जनपदों तथा

१ ५ १-७४ पृ० ३३७।

२ ४-४-३७ काशिका।

३ ४ ३-८५।

४ १४-५१ पृ० १८१।

५ १ ३-२५ पृ० ६४।

६ ३-३ १३३ पृ० ३२६।

७ ३ ३ १३६ पृ० ३२८।

८ वही।

९ ५ १-७७।

१० रात्मन्तनः इष्यर कोर्त विरबीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टरन वर्ल्ड, पृ० ४२ तथा दि रिस्तेन्त विरबीन दि स्टेजेंड बाल दि रोपल रोड, बरिपिण्ट, पृ० ६४।

नगरों में होकर निकलता था। बेच के सभी प्रसिद्ध नगर मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

एच-वेद—सब मार्ग एक-से नहीं थे। कोई अधिक चौड़े थे कोई कम। कोई सीधे थे और कोई पक्करदार। कोई मैदान से होकर जाते थे और कोई कान्तार से हाकर। नाप्यकार ने इनके भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ<sup>१</sup> कार्पिय (अरुमार्ग) जिनमे गीका द्वारा व्यापार होता था अंगलपय स्वरुपय कान्तारपय और अरुपय। अरुपय इतने सँकरे तथा पड़ाव उतार के हाते थे कि उनपर अरु ही चल सकते थे। बकरे-बकरियाँ दुगम-से-दुगम स्थानों पर आ सकते हैं। अरुपय नाम सँकरेपय तथा बुधमता की दृष्टि में रजकर दिया गया था। इसमें एक साथ दो व्यक्ति नहीं चल सकते थे। शंक्रुपय ठकवे होते थे। इन मार्गों से जानेवाले व्यक्ति का तथा साईं गई वस्तु का नाम इन्हीं के आधार पर हाया था। यथा कार्पियिक अंगल-पयिक स्वारुपयिक कान्तारपयिक अरुपयिक और शंक्रुपयिक। कान्तार-पय सम्भवतः सानेत से कौशाम्बी उज्जैन विदिशा पण्डरपुर होते हुए मृगुरुच्छ तक जानेवाले प्रसिद्ध व्यापार मार्ग का नाम हागा। हो सकता है, वन में हाकर जानेवाले मार्ग की यह सामान्य सजा हो। मिच और महुण स्वरुपय से छाये जाते थे इसलिये इन्हें स्वारुपय कहते थे।<sup>२</sup>

'वेवपयदिभ्यश्च' (५ ३ १००) सूत्र में सूत्रकार ने वेवपय का भी उल्लेख किया है और आदि में पूर्वोक्त पर्वों के अतिरिक्त रवपय करिष्य राजपय सिंहपय और हसपय का भी परिमणित किया है। रवपय का ही वृसरु नाम रखा था।<sup>३</sup> करिष्य जुसु मार्ग हाते थे जिनके ऊपर बुसों की डालें झुकी नहीं रहती थीं। राजपय शासन द्वारा निर्मित पक्के मार्ग थे। हंसरपय पन्न आकास के सिधे व्यवहृत होता था। वेवपय का अर्थ ऊँचा आकाशीय मार्ग था। बाद में सांख्यिक रूप से उसका प्रयोग रक्षा-युय के सबसे ऊँचे भाग या प्राकार के ऊपर के मार्ग के सिधे होने लगा।

मार्ग-व्यवस्था मीनों के समय में ही उन्नत हो चुकी थी। कौटिल्य (अनु० पू० ५०) के अनुसार सड़कें बनवाना राजा के प्रमुख कर्तव्यों में एक था। मैगास्थनीज के अनुसार हर एक विषयों (stages) के बाद सड़कों के किनारे दूरी-दर्शक तथा मार्ग-निर्देशक पत्थर लगे थे। प्लिनी के अनुसार इस मार्ग की दूरी तथा पड़ाव इस प्रकार थे—

१ बेटो (Bocto) और डियोनेटस (Diognetus) नामक सिकन्दर के सर्वे अधि कारियों द्वारा पुष्करावती (Peukeloats) से व्यास (Hypbasus) तक मानी गई दूरी (क) पुष्करावती से तक्षशिला—६० मील (ख) पुष्करावती से विहस्ता या मोलम तक—१२० मील (ग) पुष्करावती से व्यास तक— ३२० मील थी।<sup>४</sup>

१ ५ १-७७ पु० ३३८।

२ वही।

३ ५ १ ६, पु० २९८।

४ सर्वप्रथम अधि० २, अ० ३।

५ प्लिनी १ ६-२१।

२ व्यास से यंपा के मुहान तक सेल्युकस निकेटर (Seleukos Nikator) द्वारा मापी गई दूरी—(क) व्यास से हेसीड्रस (Hesydrus) तक १६८ मील (ख) हेसीड्रस से यमुना तक १६० मील, (ग) यमुना से यमो तक ११२ मील, और (घ) गंगा से रामगंगा (Rhodaphe) तक ११९ मील थी।<sup>१</sup>

इस समय गौ-वाणिज्य खूब उन्नत था। 'नाबो द्विगो: (५४९९) धूम अनेक नावों के समाहार (समूह) का सूचक है। उक्त सूक्त पर काशिकाकार ने द्विनावहनः, पण्यनावप्रियः, पण्यमिनीभिः शौतः पण्यनौ बधानी आदि जो उदाहरण दिये हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि स्वस-व्यापार के समान वारिषय से हमेवाका व्यापार भी दूर-दूर प्रदेशों तक यड़ी भाषा में चलता था। बड़े व्यापारी पाँच-पाँच ही तक नावें रखते थे जिन्हें वे या तो बाहन-गुल्फ केकर मास बान के लिए देते थे या स्वयं उनसे मास का पाठायात करते थे। भाष्यकार ने जो पाँच ही उड़्यों और पाँच ही फसलों के तीर्थ होने का उल्लेख किया है वह भी इस बात का पौषक है।<sup>२</sup>

गुल्फ—उच्च व्यापार पर कर देता था जिस गुल्फ कहते थे।<sup>३</sup> एतदर्थं राज्य की ओर से गुल्फ-शासक बनी थी जो वतमान तटकर सुहो और बुयी-नाकों के समान रही होंगी।<sup>४</sup> इनका अधिकारि घौस्करातिक होता था जो निश्चित वस्तुओं पर नियत परिमाण में गुल्फ वसूल करता था। कर देने क बाद ही कोई वस्तु विक्रय के लिए अर्हता-प्राप्त मानी जाती थी। बहुत प्रायः करन की इस शिमा का अवश्य कहते थे।<sup>५</sup> अवश्य राज्य की आय का साधन था। इसीलिए, गुल्फ-शासक आय-स्वार्थी में गिनी जाती थी।<sup>६</sup> वे नगर में बिक्री के लिए जानेवाली वस्तुओं पर कर वसूल करती थीं। इसक अतिरिक्त आपन-कर, बाकर-कर तथा गुल्म-कर लेन की भी व्यवस्था थी। ये कर धर्म माने जाते थे। गुल्फ अवतन व्यापारी पर नार न बन वाम तदतक धर्म माना जाता था। केवल दो शर्तें थी। एक यह कि वह लोकपीडक न हो और दूसरे घालन द्वारा निश्चित सीमा का अतिक्रमण न करे। वस्तुओं के विदेपन कई बार उन पर लगनेवाले कर क अनुसार भी प्रयुक्त होते थे।<sup>७</sup>

लोक में गुल्फ को वार भी कहते थे।<sup>८</sup> वार और देय में अन्तर था।<sup>९</sup> देय ऐच्छिक कर्तव्य

१ एब० जी० रासमसनः इण्डरकोर्स ब्रिटिशन इण्डिया एण्ड बि वैस्तरन वर्ल्ड, पृ० ६४।

२ ५१-५९ पृ० ११३।

३ ५१-५७, पृ० १२३।

४ ४-१-७५ काशिका।

५. अवकीर्णतेऽनेत्यवश्यं विगडक उच्यते। गुल्फशासकः अवश्यं घौस्करातिकः, नाव्यमोऽपि धर्ममेव ? नैतदस्ति लोकपीडया वर्मातिकनेवाप्यवश्यमेवति—४४-५० काशिका।

६ ४१-७५ काशिका।

७ ४४-५० काशिका।

८ वही।

९ ५१-५७, पृ० १२३।

१० ६३-१० पृ० ३०३।

११ ६३-१० काशिका।

वा और कार अनिवार्य। भारत के पूर्वीय प्रदेस में लगनेवासे कुछ विशिष्ट करों का संकेत कार नाम्नि व प्राचां हलादी (९३-१०) सूत्र से मिलता है। भाष्यकार ने इस प्रकार के करों में एक व्यापारिक कर 'अधिकटोरण' का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> भेड़ों के समूह पर एक उरण या मद्रा कर-स्वरूप देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक प्राप्पकरों में 'सूप घाम' (प्रत्यक बूझे पर एक घाण) 'दुपदि मापक' (प्रति बकरी एक माप) 'हृष्ठ द्विपदिका' (प्रति हृष्ठ दा पाद कार्यापण) 'नवी दाहनी' (प्रतिनाब एक कुर्ची दूम नाम्य कर) 'मुकुटे कार्यापण' (प्रति व्यक्ति या प्रति सिर एक कार्यापण) का उल्लेख काशिकाकार ने किया है। धूय-मणु अप्राप्प कर या जिसमें प्रति पणुमूय एक पणु कर-स्वरूप लिया जाता था।<sup>२</sup> ये कर नियमित नहीं थे। मुकुटे कार्यापण रुपरि मापक एक हृष्ठे द्विपदिका या हृष्ठे त्रिपदिका आकस्मिक आवश्यकताओं क अवसर पर छपाय जाते थे। आबतक पाँच में आवश्यक अवसरों पर इसी प्रकार सामाजिक या स्थानीय घासकीय कर छपाये जाने की प्रथा रही है।

स्पष्ट है कि कुंवी या उत्पादन-दुस्तक प्रायः वस्तु या पदार्थ के रूप में लिया जाता था मुद्रा के रूप में नहीं। हाँ बड़े उत्पादनों पर या वा प्रतिपत्त निरिचत या या मुद्राएँ नियत थीं।

१ ९-३१०, पृ० ३०३।

२ वही, स्थानिका।

## अध्याय ६

### लौक, माप और नाप

परिमाण और संख्या—लौक माप और नाप की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने किन्हीं प्रचलित शब्दों की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

ऊर्ध्वमानं किलोत्तमानं परिमाणं तु सर्वतः ।

आयामस्तु प्रमाणं स्मात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥१॥

मेघनाथं श्रुतीत्यायौ नैवा मानं कुतश्चन ।—५-१-१९ पृ० ३०८

और इसपर टीका करते हुए बतलाया है कि ऊर्ध्व या ऊपर उठाकर जिससे इयत्ता मासूम की जाती है, उसे उगमान कहते हैं।<sup>१</sup> चारों ओर से जिससे मात्र मासूम किया जाय उसे परिमाण कहते हैं क्योंकि परिमाण में परि का अर्थ है 'सब ओर से'।<sup>२</sup> ऊर्ध्वाह, विस्तार या फैलाव मासूम करने का मान प्रमाण है।<sup>३</sup> संख्या इन तीनों से भिन्न है। यह केवल दो वस्तुओं का अन्तर बतलाती है मान नहीं। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि छोटी-छोटी वस्तु से लेकर अपरिमाण पदार्थ तक के भेद-आव का ज्ञान संख्या से होता है। उदाहरण के लिए दो बगहूँ सेर-सेर तर अन्न रपिए। उसका अन्तर न तो उगमान से मासूम होया न परिमाण से, क्योंकि प्रत्येक के पात्र में भरने से उनकी ऊँचाई, ऊर्ध्वाह और चौड़ाई बराबर ही जायेगी। प्रमाण भी इनका अन्तर नहीं बता सक्ता। केवल संख्या से उनका अन्तर मासूम होगा क्योंकि दोनों प्रद्वों के दानों की संख्या में अन्तर होगा। भाष्य की इस परिभाषा के अनुसार तुला से तोलना उगमान सब ओर से अपरिमाण किसी वास्तविक में अर कर मात्र मासूम करना परिमाण और गहूँ-ऊँचाई आदि की नाप का नाम प्रमाण था।

पद्वों के अर्थ दो प्रकार के होते थे—स्व और लौक—प्रचलित।<sup>४</sup> धास्त्रय कोप प्रकरणा मुखार शब्दों का प्रयोग स्व अर्थ में करते थे। सामान्य कोषों में उनका प्रयोग व्यापक अर्थ में होता था। परिमाण शब्द की भी यही स्थिति थी इसीलिए पाणिनि-सूत्रों में उसका प्रयोग दोनों प्रकार से देया जा सकता है। वहीं तो परिमाण के अर्थ में संख्या अन्तर्भूत है और कालबाधक भी और नहीं।

१ ऊर्ध्वं पत्नीपते तदुत्तमानम् ।—५ १ १९, पृ० ३०८।

२ वही।

३ आयामविचलयायं प्रमाणमित्येतद् अवति ।—वही।

४ वही।

५ ३ ३-२०।

६ ४ ३ १५६, पृ० २३८।

तीस माप और माप

दोनों उसकी सीमा से बाहर है। उदाहरणार्थ सब भातुओं से ब्रह्म प्रत्यय करनेवाले परिमाणान्याय्यो  
 धर्मो (३ ३-२०) तथा विकारादि अर्थों में ठक प्रत्यय करनेवाले 'कीठबत्' परिमाणान्  
 (४ ३ १५५) आदि सूत्रों में परिमाण से संख्या का भी ग्रहण होता है किन्तु 'तदहेति अर्थ में ठक  
 प्रत्यय का विधान करनेवाले 'आहीदोपुच्छसंख्यापरिमाणोठक' (५ १ १९) सूत्र में परिमाण से  
 संख्या का बोध नहीं होता। इसीलिए, इस सूत्र में संख्या का पृथक् उल्लेख किया गया है। इस सूत्र का  
 भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने कहा है—'संख्या का उल्लेख पृथक् क्यों किया है? संख्या भी तो परिमाण  
 है। परिमाण का निष्करण करने से संख्या का निष्करण स्वतः हो जायगा। यदि यह बात है तो  
 संख्या का पृथक् उल्लेख इस बात को ज्ञापित करता है कि संख्या अन्य बस्तु है तथा परिमाण अन्य  
 बस्तु। इसका फल 'अपरिमानविस्तारितकम्बलेभ्यो न तद्विस्तारिक' (५ १ १९) सूत्र में स्पष्ट  
 दिखाई पड़ता है। इसमें अपरिमाण कहने से अन्य परिमाणबोधन शब्दों का तो बहिष्कार होता  
 है किन्तु संख्या का नहीं। फलतः दो ही से कीठ (स्त्री०) बस्तु द्विधता या त्रिधता ही बहुलाती  
 है। नहीं तो इनमें भी द्वीप प्रत्यय का नियोग महाता और द्वयात्कौ आदि के समान द्विधती विधती  
 रूप होने सकते। 'यह सिद्धान्त स्थिर करने के बाद भाष्यकार ने उन सब ब्रह्मिणियों का समाधान  
 किया है, जो संख्या को परिमाण से भिन्न मानने के कारण उत्पन्न होती है।' 'ज्ञापक न हो तो भी  
 यह बात न्यायसिद्ध है कि संख्या केवल वा बस्तुओं में अन्तर बतलाती है।'

परिमाण शब्द तथा संख्या शब्द पदार्थ की निश्चित इयता का बोध करते हैं।  
 उदाहरणार्थ जब हम पाँच या सात कहते हैं तब उनसे पाँच या सात संख्यावाले पदार्थ या पदाव्यों  
 का बोध होता है, न उनसे कुछ कम और न कुछ अधिक का। इसी प्रकार दोन दारी या आठक न  
 अपने से कम और न अधिक के बोधक होते हैं। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनसे यथेच्छ बस्तु का बोध  
 किया जा सकता है। चाति शब्द तथा गुण शब्द इसी प्रकार के हैं। ठक मूठ कहने से लारी मर  
 ठक या मूठ का ग्रहण हो सकता है और दोन मर का भी। इसी प्रकार शुक्ल नील पीठ हिमालय  
 वैसे महान् पदार्थ के लिए भी व्यबहृत हो सकता है और बटबीज के लिए भी। परिमाण और संख्या  
 निश्चित इयता के ज्ञापन के लिए हैं।  
 इयता मापन के दो प्रकार थे। एक ठपानू पर तोड़कर और दूसरे किसी जाली पात्र  
 में भरकर। लम्बाई की माप बट्ट आदि लम्बी बस्तुओं से की जाती थी। जिनसे इयता मापी  
 जाती थी उन्हें माप कहते थे। मान का काम अतिशक्ति बस्तु का निर्जन करना था।

१ ५ १ १५, पृ० ३०७।

२ वही।

३ न्यायसिद्धमेवंतत्। मेवमात्रं संख्याऽह्—५ १ १५, पृ० ३०८।

४ इह कैचिच्छब्दा उक्तपरिमाणानामर्थानां बाधका भवन्ति च एते संख्यामन्वाः  
 परिमाणप्रकाराश्च। पञ्च तन्नेत्येकानामप्यप्येते न भवन्ति। दोषः कार्यार्थकमिति नैवापिके  
 भवन्ति न न्युते। केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेवाहुर्व्यं एते क्षान्तिव्या गुणशब्दाश्च—

१ १-०२, पृ० ४५१

५. मानं हि नामानिर्जातात्संमुपादीयते निरुद्धमर्थं तास्यामीति—२-१-५५, पृ० ३०८।



उन्मान—तुला या तपत्र पर टोळने को उन्मान कहते थे, क्योंकि इसमें वस्तु को उर्ध्व उठाकर उसका भार मासूम किया जाता था। तुला से समित वस्तु तुल्य कही जाती थी।<sup>१</sup> जिस रस्सी का पकड़कर तुला ऊपर उठाई जाती थी उसे प्रब्रह्म या प्रप्राह् कहते थे।<sup>२</sup> कुछ लोग उसने मापने का व्यवसाय करते थे जिन्हें माटा कहते थे।<sup>३</sup> तुला मान का अनिर्धार्य साधन थी, क्योंकि अन्न तो निश्चित मान के पात्रों में भरकर मापा जा सकता था। कपास और कोहू का मापना सम्भव नहीं था। समान वजन के होने पर भी दोनों पदार्थों की आकृति या आकार में बड़ा अन्तर होता है। समान आकृति के इन पदार्थों के भार में अन्तर होता है। कारिका के उल्लेख से पता चलता है कि मूल राज्यों में से किसी ने सारे देश में समान मापों का प्रचलन किया था।<sup>४</sup> इसके पूर्व भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मान प्रचलित रहे होंगे।

पतञ्जलि ने मान को श्रौतय अर्थात् नाष्ट का बना कहा है। यह कल्पन आयाम मापने-बासे इच्छादि तथा अन्न की माप करनेवाले प्रसन्न श्रौत आदि के विषय में उत्पन्न है। तोलने के बात नाष्ट के नहीं होते थे क्योंकि वे पानी से भीषण अधिक भारी हो सकते थे फट सकते थे या सरलता से क्षिप्त हो सकते थे। अर्धशास्त्र ने इसीसिद्ध अयोमय (कोहू के) तथा मागध-मेकसादि पर्वतों के पत्थरों (कच्चे पत्थर के नहीं) से बने प्रतिमानों (घाटों) का निर्देश किया है। कोहू और पत्थर के मान न तो पानी में फूँककर भारी हो सकते हैं और न सूखकर हल्के। इस प्रकार के न फूँकने और न सूखनेवाले मान और भी किसी पदार्थ के बनाये जा सकते थे।<sup>५</sup> मूलकार ने द्रु (काष्ठ) से बननेवाले दो शब्दों इक्ष्म और बुबध का अन्तर स्पष्ट किया है। प्रथम द्रु के सामान्य अक्षय या विकार के लिए प्रयुक्त होता है और द्वितीय विकार-विशेष में मान के लिए। उन्मानों में निम्नलिखित का उल्लेख भाष्य में मिलता है—

माप—यह तोल का छोटा भाग था। कृष्णक इससे भी छोटा होता था, जिसका वजन एक सेन से कुछ अधिक था। माप का वजन कार्यापण का दूँरे मान होता था। जरर की साधारण कमी में १६ दाने होते थे और १६ माप का कार्यापण होता था। इसलिये, जरर को भी माप कहने लये। कार्यापण के भार में स्वान-श्रेय से अन्तर अवश्य होता था, किन्तु माप का वजन सर्वत्र

१ ११-९, पृ० १५८।

२ ३३-५२ का०।

३ १-२ ६४ पृ० ३७२।

४ ५-१ ११९, पृ० ३५४।

५ ५२-१४ तथा २४-२१ कारिका।

६. प्रतिमानाण्यपयोग्यानि मायबदेकलगतनदानि धानिपालीहकप्रतीराम्या बुद्धिम् गच्छेदुत्तम वा ह्युत्तम्।—अर्धशास्त्र अधि० २, अ० १८।

७ ३४ १६१ तथा १७।

८. ब्रह्मणस्य पतवासीन् धोटाणामावः कार्यापणं धोटाकलारव मापशब्दस्य।

१२ ६४, पृ० ५९८।

समान था। माप मीरु माने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है बजन मासूम करना।' माप सोना तोलने के काम आता था और पाँच कुण्डल के बराबर होता था। चाँदी का माप २ रत्ती के बराबर था।

घाण—घाण का भार महानाटक में ३ शतमान या १२३ रत्ती बतलाया है। पतञ्जलि-काण्ड में घाण ४ माते का मान था। माप के समान यह सिक्का भी था। इतने ही बजन का कसा हुआ सुवर्ण सिक्के के रूप में व्यवहृत होता था। भाष्यकार के समय में सिक्कों में अन्य धातुओं का मिश्रण नहीं होता था और प्रत्येक सिक्का धुंध धातु रहता था। इसलिये, छोळ मान और सिक्के बराबर रहते थे। घाण का अर्धभाग भी सिक्के के रूप में व्यवहृत था जिसे घाणार्ध कहते थे। भाष्य के अर्धघण से निष्पन्न रूप इस कथन की पुष्टि करते हैं।'

बिस्त—सुवर्ण तोलने का मान था जो अस्ती रत्ती के बराबर था। ऐसा कथना है कि कार्पाण्य और निष्क के समान बिस्त भी कहीं-कहीं सामान्य से बड़ा व्यवहृत होता था। भाष्य में बिस्त के सात परमबिस्त का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।' बिस्त को विद्वानों ने सुवर्ण कर्प और अक्ष का पर्याय माना है। इसलिये, इसका बजन भी जन्हीं के बराबर रहा होगा। निम्नलिखित मान जन्मान और परिमाण दोगां थे। ये तण्डू से तोलने के बाट भी थे और मापने के पात्र भी। मापने के पात्र लकड़ी के भी बनाये जाते थे और सनधतुर्माण सिद्ध होते थे अर्थात् इनकी ऊँचाई सब ओर छ समान होती थी' और इनकी गहराई इतनी होती थी कि निश्चित जमान भर अक्ष समा सके। महाराष्ट्र तथा बम्बई में अनी तक पात्र सेर, पायकी (५ सेर) पात्र-रूप में भी प्रचलित हैं। ये लोह के होते हैं।

कुडब—कुडब अन्धारि तोलने और मापने का बाट तथा पात्र था। यह प्रस्थ का चतुर्थांश होता था। पात्र कुडब भार अंगुल चौड़ा और इतना ही गहरा होता था। इसमें १२ तोला या मुद्गी-भर अन्न समाता था। कहीं-कहीं इसे १३। वन अंगुल गहरा और कहीं ६४ वन अंगुल गहरा बतलाया है। कहीं-कहीं इसकी गहराई १। अंगुल और लम्बाई चौड़ाई तीन-तीन अंगुल मिलती है, जिसमें ३२ तोलन या २ प्रमुवि भर अन्न समाता था। सामान्यतया कुडब अक्षिक के बराबर होता था और उसका पर्यायवाची भी।

मुष्टि—मुष्टि भी परिमाण-बोधक थी। साङ्गैरसंहिता के अनुसार इसका वजन एक पल था। अर्धमात्र ने पल का परिमाण १० धरम माना है।' भाष्यकार ने मुष्टि का उल्लेख परिमाण के रूप में किया है। 'उ होने 'समि मुष्टी' (३ ३ १६) सूत्र के भाष्य में कहा है, यह सूत्र धर्म्य है क्योंकि मुष्टि के परिमाणबाधक होने के कारण परिमानाख्यायां सर्वेभ्यः (३ ३ २०)

१ १-२-६४ पृ० ५९७।

२ ५ १ ३६, पृ० ३२०।

३ १ १-७२ पृ० ४५२।

४ मुख्यसारवाक्य 'समि चतुर्मापिधिलं मानं कारयेत्।—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।

५ ५-२-३७ पृ० ३७९।

६ बघारजिह्वं पलम्—अर्थ०, अधि० २, अ० १९।

पूत्र से ही पुत्र प्रत्यय हो सकता है।<sup>१</sup> मुष्टि नाम मुट्ठी में समाने भर अन्न-परिमाण के आकार पर निया गया जान पड़ता है। अञ्जलि पूर्ण आवि परिमाणों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मुष्टि नाम का कोई स्वतंत्र मान या पात्र या इत्तम उन्हेह है।

प्रस्य—यह निरूपय ही मान भी बा और परिमाण-पात्र भी। यह चार कुड्डय या अञ्जलि (समभव ५ छटाक) के बराबर होता था। माप्यकार ने प्रस्य की परिमाया बेटे हुए कहा है कि इसमें बान्य समते हैं।<sup>१</sup> इससे इसके मापक मात्र होने की पुष्टि होती है। अस्यत्र भी उन्हेने कहा है कि प्रस्य समानाकृति होता है। प्रस्य भर अन्न यदि दो बगह रत्न बिया जाय तो समानाकार होने के कारण उगमान परिमाय या प्रमाज इनमें किसी भी प्रकार से अन्तर नहीं मामूम हाया।<sup>१</sup>

श्रोण—चार प्रस्य का एक माडक होता था। माप्यकार ने अन्न-परिमाण के रूप में माडक का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> इसे पायसी (५ सर) कहते हैं।

श्रोण—चार माडक या पधरी का एक श्रोण होता था। इस प्रकार, इसका बजन वर्तमान बीस सेर के बराबर था। कौटिल्य ने दण्डधरम का एक पत्र और १८७॥ पत्र (अन्नमाय) का एक श्रोण माना है।<sup>१</sup> सामान्यतया १०२४ मुष्टि=२०० पत्र=१६ पुष्कल=४ माडक=१ श्रोण प्रचलित परिमाण थे। सम्भवतः श्रोण पात्र या श्रोण मान के कम उन्वेपन को सेकर ही पाटी स्त्री के लिए श्रोणी सरय विद्येपण के रूप में चल पड़ा। माप्यकार ने इसी अर्थ में श्रोणीमार्य (गाटी पत्नीबाला) धस्य का प्रयोग किया है।<sup>१</sup> अन्न के अतिरिक्त अन्य भी कई वस्तुओं का मान इन पात्रों से मामूम किया जाता था। बेटों की तोल भी परिमाण-पात्रों से की जाती थी।<sup>१</sup> आज भी दक्षिण भारत में बेटों की बिनी उन्ही मापक पात्रों से भरकर होती है।

घारी—घारी का परिमाय ३ श्रोण या १॥ पूर्ण से १८ श्रोण तक मिलता है। यह भेद स्वात वृत्त है। जैसे १२० ताले के ४० सेर से ८० ताले के सेर के १४ सेर तक के मन आत्र भी वेद में प्रचलित हैं। कहीं-कहीं घारी ६६ गोली की बतलाई गई है। अर्धघात्र में घारी का परिमाण १६ श्रोण और चरकसंहिता में ४ श्रोण बतलाया है। अन्न की बड़ी-बड़ी राशियाँ घारी से मापी जाती थीं। माप्यकार ने घात और सहस्र घारी की अपराधियों की कर्षा

१ ३-३ ३६ पु० ३०३।

२ प्रतिष्ठन्ते अस्थिप्रति धान्यानि प्राक्—३-३-५८, पु० ३०८।

३ प्राक्स्य च समानाकृतेन कुतश्चिद् विद्येते धस्यते न कोम्यात्तो न परिष्कतो न प्रमावत—५ १ १९, पु० ३०८।

४ १ १-७२, पु० ४५१।

५. विप्रतिशोभितो भारः, दधपारबिर्क पत्तम् सपतासीतिपत्र इतमर्धपत्र च प्यावहारिकम् (श्रोणः) पोडसं श्रोणः घारी विप्रतिशोभिक कुम्भः, कुम्भैर्दन्निर्बहः—अर्थ० अवि० २ अ० १९।

६ ६-१ पु० ३१२।

७ २ २-५, पु० ३३६।

८ अर्थ० घा० अवि० २, अ० १९।

है।<sup>१</sup> सारी से शीत वस्तु सारीक कहलाती थी। इसी प्रकार, अर्धसर्प सारीक द्विसारीक । उन वस्तुओं को कहते थे जो डेढ़ या दो सारी परिमाण से शीत की गई हो।<sup>१</sup> प्राच्यों के लोग बड़े सारियों को द्विसार और अर्धसारी को अर्धसार भी बोझते थे।<sup>१</sup> इससे पता पार् है कि प्राच्य लोगों में सारी को सार बोलने की प्रथा थी।

यत्रराशि प्रायः सारी से तौली जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि एक कुदात्मक से १ सारी अन्न उपजाया जाता है। यह कचन भूमि की उर्वरता की ओर भी संकेत करता सारी को अष्टिका भी कहते थे।<sup>१</sup>

भाष्य में द्रोण आठक और सारी का उल्लेख अनेक बार साय-साय हुआ है। सारी गणितेषु वा मानपात्र सम्मन्वत नहीं वा। द्रोण सारी आठक तीनों को भाष्यकार ने परिमाण कहा है। इससे इतना स्पष्ट है कि ये तीनों निश्चित परिमाण थे।<sup>१</sup> ऐसा नहीं कि योड़ा-बहुत कम-अधिक होने पर भी उनके विशिष्ट परिमाण होने में बाधा न आये। एक स्वान पर द्रोण और आठक वा साय उल्लेख करते हुए भाष्य में कहा है कि अथ है तुवीय जिसमें (दो में) ऐसे २॥ द्रोणों को 'अर्धतृतीय द्रोण' कह सकते हैं क्योंकि जिस सस्त्र का प्रयोग समुदाय के लिए हो सकता है, उसका उस समुदाय के अवयव के लिए भी हो सकता है। इसीलिए, द्रोण को भी द्रोण कहना उचित है। किन्तु, यह बात उसी अवयव के लिए है जो उस समुदाय का अवयव बटक हो। दो द्रोण और आठक को 'अर्धतृतीय द्रोण' नहीं कहते, क्योंकि आठक द्रोण का आवश्यक बटक नहीं है, उल्टे आठक द्रोण का बटक है। द्रोण सारी का एक अवयव वा इसीलिए सारी में एक द्रोण अधिक है या सारी में द्रोण अष्ट्याठक है, इस प्रकार के कचन संगठ माने जाते थे।<sup>१</sup>

परिमाण के आकार पर पात्रों के नाम—इन परिमाणों के आकार पर भोजन पकाने के पात्रों तथा सेतों के नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ—जिस पात्र में एक द्रोण आबस पक सकते थे उस स्वामी को द्रोणी या द्रोणिकी<sup>१</sup> कहते थे। इसी प्रकार, आठक से आठकनीना इयाठकनीना आचिषीना (आचित=परिमाणविशेष) पात्रीना (पात्र=परिमाणविशेष) या इयाठकिकी आठकिकी आचितिकी पात्रिकी अथवा इयाठकी इयाचिता द्विपात्री द्विपात्रीया इयाचितीना<sup>१</sup> आदि। दो कुल्लिज (परिमाणविशेष) भर आबस या कोई अन्न जिसमें पक सके उसे द्विकुल्लिजिकी

१ ५१-५८, पृ० ३२७।

२ ५१-३३, पृ० ३२०।

३ ५४-१०१।

४ एकेन कुदात्मकेन सारीसहस्रम्—२ १९७, पृ० ३२५।

५ ७-३-४५, पृ० १९०।

६ ११-७२, पृ० ४५१।

७ २-२-२४, पृ० ३७१।

८ ५१-५२, पृ० ३२५।

९ ५१-५३।

१० ५१-५५, पृ० ३२५।

त्रिकुलिबीजा त्रिकुलिजा त्रिकुलिजिकी कहते थे।<sup>१</sup> प्रत्य कुडन खादी-भर अथ जिनमें एक सके उन्हें क्मस प्रास्थिक क्रीडिक एवं घारीक<sup>१</sup> कहते थे। ये ही शब्द उन पापों के लिए भी प्रयुक्त होते थे जिनमें उक्त परिमाणों का अथ वा अन्य बीजें समा सकें। जिन शेषों में प्रत्य शोक खादी या पात्र भर बीज बोया जाता था, उन्हें क्मस प्रास्थिक त्रीपिक क्षारीक और पाथिक कहते थे।<sup>१</sup>

कंस—बरसु म्पवहार का पात्र था। छोटे और कटोरी कंसि के बनेते थे और कंसि-पात्र कहलाते थे। कंस म्पवहार का पात्र पान पढ़ता है, जिसका आकार निश्चित होगा किन्तु बरसु में कंस का जो परिमाण दिया है, उससे यह साधारण पात्र नहीं परिमाणबिधेय मासूम होता है। ८ प्रत्य या २ बात्रक का एक कंस होता था। कंस से भीत वस्तु को कंसिक कहते थे।

मन्व—मन्व का उल्लेख पाथिति ने 'कंसमन्वयुर्पाम्यकाण्डश्रिणी' (१२ १२२) मूम में किया है। यह परिमाणवाचक है, किन्तु इसका निश्चित परिमाण बतसाना कठिन है। कंस और युर्प के बीच उल्लेख होने से सम्भव है इन दोनों के बीच का हो। मन्व मटके के लिए भी प्रयुक्त ही सकता है, जिसका आकार मट्ठा बिलोत के मटके के बराबर हो।

शूर्प—शूर्प दो शोक के बराबर होता था। दो शूर्प अथवा भीत वस्तु त्रिशूर्प और तीन से भीत त्रिशूर्प कही जाती थी।<sup>१</sup> मन्व के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि शूर्प का प्रचलन सेन-देन से बहुत अधिक था। अर्धशूर्प का भी निश्चित परिमाण था और वह भी क्म-विक्रम में प्रयुक्त होता था। डेड शूर्प से भीत वस्तु अर्धशूर्प शूर्प और साढ़े चार शूर्प से भीत वस्तु अर्धशूर्प शूर्प कही जाती थी। त्रिशूर्प (दो शूर्पों से भीत) वस्तु से कटीवी हुई वस्तु को त्रिशूर्पिक इसी प्रकार त्रिशीपिक<sup>१</sup> कहते थे।

कुम्भ—कुम्भ और उट्टिका<sup>१</sup> परिमाण थ और प्रतिकाण्ड या प्रतिवण्ड आपबीज निश्चित करने में सहायक थे। माप्यकार ने माप-कुम्भ-वाप<sup>१</sup> और त्रीहि-कुम्भ-वाप<sup>१</sup> दोनों का उल्लेख किया है। इन शेषों में कुम्भ पर माप या घीह का बीज पढ़ता था। उट्टिका नाम ऊँ के समान ऊँची या सम्भी बरहन होने के कारण रखा गया था। इस कुम्भों को वह भी कहते थे।<sup>१</sup> कुम्भ २० शोक के बराबर होता था। कुम्भी इससे बहुत छोटी सम्भवतः चड़े के बराबर होती थी<sup>१</sup>

१ ५ १-५२ तथा ५४।

२ ५ १ ४५ तथा ४६।

३ ३-१३ पृ० १८।

४ मम्पावडो शोकः क्षार्पाम् अथिको शोकः क्षार्पाम्—५-२-७३ पृ० ३९८।

५ ५ १-२०, पृ० ३१२।

६ १ २-२३ पृ० २१३।

७ ५ १-२०, पृ० ३१२।

८ ४ १३, पृ० २२।

९ ८ ४ १३ पृ० ४८१।

१० क्षार्पणो अथि० २, अ० १९।

११ १ ३-७ पृ० २७।

वाशिय की निर्भरता प्रकट करने के लिए माप्यकार ने उस कुम्भीयाम्य कहा है। पाँच उष्ट्रकामों का एक घट होता था।<sup>१</sup> घट, कुम्भ, कसघ पर्यायवाची थे। कुम्भ और कुम्भी लोहे के बनते थे।<sup>२</sup>

योमी—धरम के अनुसार योमी और छाटी पर्यायवाची हैं। योमी छोटी बारी की कहते हैं। मामूली टट्टू पर दो योमी भर मात्रकर बनिये अनाज बंधन निकलने हैं। योमी अन्न परिमाण होता है। इनकी माप आज भी बराबर होती है। सम्भवतः एक टट्टू पर सरी सा योमियों के बोझ की योमी भर अन्न की योग्य कहते हैं। योमी भर अन्न की गीमा कहते थे।<sup>३</sup> इसी प्रकार पाँच या षट् योमी भर अन्न पबगोषी या इधयोमि कहा जाता था।

भार—एक भार म स्वस्य मनुष्य जितना बोझ से जा सकता था उसे भर कहते थे। भार ८०० कपें या २॥ मन का होता था। अर्धघास में २० तुला—१ भार बतलाया गया है।<sup>४</sup> तुला १०० पल की होती थी। यह परिमाण ठण्डू से एक भार में लोहे गये बजन (५ सेर) के लिए था। इस प्रकार की भार २॥ मन का ही सिद्ध होता है। भार एक व्यक्ति द्वारा ले जाये जाने योग्य (काँचर द्वारा) वजन को कहते थे। यह बात भाष्य में उल्लिखित मारवाह<sup>५</sup> तथा बाण्डार शब्दों से भी पुष्ट होती है। मारवाह को आन्ध्रदेशिक लोग पंचभार या वास्वभार के आन्ध्रदेशीय ब्राह्मणिक या वास्वभारिक कहते थे। ये कर्मकर योमी के होते थे जिनका काम भार को एक घाम से दूसरे घाम पहुँचाना होता था। महाभारत भार से बहुत बड़ा था यद्यपि इसका वजन निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। वाशिय-सूत्र ६२ ३८ में महाभार का उल्लेख है।

माषित—माषित एक यादों भार को कहते थे जो १० भार या २५ मन के बराबर होता था। सम्भवतः इसी का नाम महाभार था। माषित भार भी सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार का होता था। विशेष भार को परमाषित कहते थे।<sup>६</sup> यह अन्तर छोटी-बड़ी यादों के भेद के कारण था। जो माषितों से क्रीत वस्तु को द्वायाषित द्वायाषिता (स्त्री०) कहते थे। इसी प्रकार द्विपरमाषिता भी प्रयोग होता था। जिसमें माषित भर वस्तु समा जाये उस द्वायाषिता कहते थे।<sup>७</sup>

पात्र कुम्भिय पाप्य पण्डक कम्बस्य पंचलोहित और पचकपाल भी परिमाण थे। पात्र भर बीज बोन योग्य घेत वा पात्र भर अन्न समाने या पका घरने योग्य स्वासी या पात्र को कम्बघ

१ पञ्चभारामुष्ट्रकामां पुराणो घटः—५-२-४८, पृ० ३८७।

२ ४ १ १, पृ० १०।

३ १ २-५० पृ० ५४९।

४ कही।

५ अर्ध०, घा०, मयि० २, अ० १९।

६ ३-२-१, पृ० २०१।

७ ५ १-५०।

८ १ १-७२, पृ० ४५२।

९ ५ १-५३।

पात्रिक' एवं पात्रीया' कहते थे। इसी प्रकार, दो कुलिक अन्न रखने या पकाने योग्य पात्र त्रिकुलि-  
त्रिकी' त्रिकुलित्रिकी त्रिकुलित्रिकीता या त्रिकुलिजा कहलाता था। शरक ने पात्र को आइक  
का पर्याय माना है। पाप्य बतमान पायसी (बम्बई) पाई (पंजाब), प्या (पश्चिमोत्तर-प्रदेश)  
का प्राचीन नाम जान पड़ता है। पट्टक' अन्न के पट्टोंय राज-कर मापने का पात्र जान पड़ता है जो  
द्रोणादि में से कोई हा सकता है। कम्बल्य सर्वाधिक प्रचलित परिमाण के कम्बल में लगनेवाली  
ऊन का परिमाण (पाँच सेर) था। पंचलोहित से कीत वस्तु पांचलोहितिक और पचकपाल से  
कीत वस्तु पांचकापालिक नहीं जाती थी। इसका वास्तविक परिमाण क्या था निश्चयपूर्वक  
नहीं कह जा सकता।

प्रमाण—भाष्यकार के अनुसार वायाम अर्थात् लम्बाई की माप को प्रमाण कहते हैं।  
यद्यपि अट्टाप्यायी में एकाच स्वार्थों पर इसके अपवाद मिलते हैं जिनमें प्रमाण में वजन या संख्या  
का भी सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी सामान्यतः प्रमाण का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही  
हुमा है।

सम्बाई की माप लकड़ी से बने मापकों से की जाती थी जिन्हें हुबय कहते थे' किन्तु  
इनके अतिरिक्त अन्य सामग्री द्वारा भी सम्बाई मापी जाती थी। भाष्य में वायाम क निम्न  
ल्लित प्रमाणों का उल्लेख मिलता है।

अंगुलि—यह निम्नतम प्रमाण-बोधक थी। अंगुलि से भी छोटा मापक यद्यपि तो भी  
उसका प्रयोग व्यवहार में कम होता था। पाणिनि ने प्रमाण-रूप में अंगुलि का उल्लेख किया है।  
अंगुलि ३ इंच के बराबर थी। प्राचीन ग्रन्थकार ८ यज—एक अंगुलि मानते थे। इस प्रकार यज  
सबसे छोटा प्रमाण था और अंगुलि उसके बाद।

विटि—अंगूठ और तर्जनी का फँलाकर मापने से उनके मध्य की जो लम्बाई होती है  
उसे विटि कहते थे। इसे मराठी में टीच कहते हैं जो परिमाण का ही बोधक है। विटि को  
प्रायेय भी कहते थे। भाष्यकार ने कहा है कि सत्रह धामिपेती आचार्य पढ़कर समिचार्य रली  
जाती है किन्तु एक ही बार सत्रह प्रायेय भर लम्बी समिचार्य नहीं रत भी जाती।<sup>११</sup>

- १ ५१-५२ तथा ५४।
- २ ५१-४५ तथा ४६।
- ३ ५१-५५, पु० ३२५।
- ४ ३१ १२९, पु० १९४।
- ५ ५३-५१।
- ६ ५३ ३ पु० ९२७।
- ७ ५१ २८, पु० ३१८।
- ८ ६२ ४० तथा ६-२ १२।
- ९ ४-२-१६२।

- १० ५४-८६।
- ११ ६२ १ पु० २५०।

१२ सप्तयज प्रायेयानामो रास्वत्वी सन्निवोऽभ्यावधीतेति न सप्तयज प्रायेयानात्र काण्ड-  
नम्यापीयते—आ० २ पु० ६२।

वितस्ति—वितस्ति<sup>१</sup> का प्रमाण बारह अंगुल था। इसी से वीत या बीता बना है। अंगुल और द्विगुनी को फेंकाने से माप्य की लम्बाई वितस्ति या वासित्त होती है। एक दशक-वातिक में तथा अथ सूत्रों के माप्य में उदाहरण रूप से दिष्टि<sup>२</sup> और वितस्ति<sup>३</sup> का उल्लेख हुआ है। दो या तीन वितस्ति लम्बी वस्तु को त्रिवितस्ति या त्रिवितस्ति कहते थे। इसी प्रकार आयाम के प्रमाण के लिए ही माप्य में त्रिविष्टि<sup>४</sup> द्विविष्टि<sup>५</sup> और त्रिष्टि-मात्र धार्यों का उल्लेख मिलता है। स्वयं सूत्रकार ने 'त्रिष्टिवितस्त्रयोदश' (६-२-३१) में इन प्रमाणबोधक धार्यों का प्रह्वन किया है। दिष्टि और वितस्ति के समग्र प्रमाणवासी वस्तु का दिष्टि-मात्र और वितस्ति-मात्र कहते थे।<sup>६</sup>

अरलि—कुछ लोगों का मत से मुठठी वस्तु हस्त को अरलि कहते थे। यह २४ अंगुल की होती थी। माप्य में 'पंचारलि वषारलि' का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा है कि सत्रह मात्र पढ़कर सत्रह समिषार् यत्रकुण्ड में रखी जाती हैं। पर, सत्रह अरलि लम्बी एक ही समिषा उनके बदले नहीं रख दी जाती। इससे यह स्पष्ट है समिषा की लम्बाई एक अरलि होती थी। अरलि का मूल अर्थ कोहनी था। ऋग्वेद (८-८०-८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (८-५) में भी इसका उल्लेख है। कोहनी से अंगुल्यप्रमाण तक का प्रमाण अरलि था।

धाम या हस्त—दो वितस्ति को धाम या हस्त कहते थे।<sup>७</sup> दो और तीन धाम लम्बी वस्तु द्विधाम और त्रिधाम कही जाती थी। समयग एक धाम लम्बी वस्तु को धाम-मात्र कहते थे।<sup>८</sup>

दण्ड—चार धाम या हस्त का एक दण्ड होता था।

काण्ड—एक दण्ड लम्बा और एक दण्ड चौड़ा अर्थात् १६ हाथ लम्बाई की भूमि काण्ड कहलाती थी। यदि सत्र न हो तो १६ हाथ लम्बी रज्जु या अन्य वस्तु काण्ड प्रमाण मानी जाती थी। यदि दो-तीन काण्ड को सत्र-पर्याया होती तो उसे त्रिकाण्डा या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्ति कहते थे, किन्तु यदि इसी प्रमाण की रखी होती तो उसे त्रिकाण्डी रज्जु कहते थे। क्षेत्रभक्ति दण्ड क्षेत्र की लम्बाई चौड़ाई—क्षेत्रफलवती भूमि के लिए प्रयुक्त होता था।<sup>९</sup> इस प्रकार, यदि लम्बाई की दृष्टि से देखें तो दण्ड और काण्ड दोनों बराबर (४ हाथ) थे। इसीलिए, बालमनोरमा ने उन्हें पर्यायवाची मान लिया है यद्यपि दोनों में अन्तर है। इस पर्यायवाचिता के ही कारण

- १ ६-२-१, पृ० २५०।
- २ वही।
- ३ ५-२-३० पृ० ३७८, ७९।
- ४ वही।
- ५ वही।
- ६ वही।
- ७ २-१-५, पृ० ३०१।
- ८ भा० २, पृ० ६२।
- ९ ५-२-३०, पृ० ३७८।
- १० वही।
- ११ ४-१-२३ काशिका।



कुछ विद्वानों ने घम को सोलह हाथ माना है। वास्तव में दण्ड केवल आयाम का बोधक है और काण्ड आयाम × विस्तार वा।

रज्जु—वेतों को मापने के लिए रज्जु प्रमाण का व्यवहार होता था। रज्जु की सम्बाई दस दण्ड के बराबर मानी जाती थी।<sup>१</sup> दण्ड रज्जु का अन्वय था।

किष्कु—‘पास्तकरप्रमूठीति प संज्ञायाम्’ (१ १ १५७) सूत्र के भाष्य में किष्कु का भी उल्लेख है। काशिका न इसे प्रमाण कहा है। किष्कु २४ अंगुष्ठों की चौड़ाई-भर का प्रमाण था। अथसास्त्र के अनुसार इसका मापारण प्रमाण ३२ अंगुल था। किष्कु कर या हस्त के लिए भी व्यवहृत होता था।

तस्त्र—४०० किष्कु का एक तस्त्र होता था जिसका प्रमाण लगभग एक फर्सांग था। महामाय्य में तस्त्र का उल्लेख नहीं है।

क्रोश—क्रोश की चर्चा भाष्य में कई बार आई है। लम्बी डूरी की माप क्रोशों से की जाती थी। क्रोश बहुत प्रचलित प्रमाण था। भाष्यकार ने ‘क्रोश भर सोटा है, बनपति क्रोश भर रमणीय है नदी क्रोश भर टेढ़ी है’<sup>२</sup> ऐसे दूर या ईर्ष्य-वर्चक प्रसंगों में क्रोश शब्द का ही उपयोग किया है। यात्री क्रोशों के द्वारा ही यात्रा की सम्बाई का अनुमान करते थे। छी क्रोश बढने वाला क्रोशाण्डिक कहलाता था। जिस व्यक्ति का अभिलम्बन छी क्रोश से पहले से करना चाहिए, एवं भिक्षु या महारामा को क्रीडाण्डिक कहते थे।<sup>३</sup> सैनिक एक क्रोश की डूरी से बाण का निशाना मारने का अभ्यास करते थे।<sup>४</sup>

गम्भूति—दो क्रोश की लम्बाई को गम्भूति कहते थे।<sup>५</sup> परिमाण अर्ध में ही गम्भूति शब्द का प्रयोग होता था अथवा बोधूति शब्द का व्यवहार होता था। रॉय के अनुसार श्रुम्भेय में गम्भूति (१-२५ १६ ३-६२ १६) धनु को चराने के लिए छोड़ी हुई बाण की मूमि का नाम है। वहीं स इसका व्यवहार डूरी मापने के लिए प्रारम्भ हुआ। पंचविंशब्राह्मण (१६ १३ १२) में यह शब्द डूरी की माप के लिए प्रयुक्त है।

योजन—दो गम्भूति या चार क्रोश का योजन कहते थे। योजन ४ मोस्त का होता था।<sup>६</sup> इस प्रकार क्रोश और मोस्त का परिमाण बराबर था। अर्थशास्त्र में ४ अरत्ति—१ दण्ड वा धनु (बर्ग की माप) जो १०८ अंगुल का होता था माना है और १ ०० धनु का एक गोस्त बतलाया है तथा चार गोस्त का एक योजन। भाष्य में योजनशत की मात्रा कहेवाले को

१ वही।

२ १४-५१ पृ० १८० तथा २-३-५, पृ० ४०८।

३ ५ १-७४ पृ० ३३७।

४ २-३-७ पृ० ४१०।

५ ६ १-७९, पृ० ११२।

६ अतयो-रत्नयो वम्भो धनुः बर्हंपायमष्टशताङ्गुलं धनुःसहस्रं गोस्तम् चतुर्विंशति—

अर्थ० शा०।

७ वही।

योजनघटिक कहा है। जिसका अभिनन्दन सहस्र योजन पहलू से होना चाहिए, ऐसे मुक आदि के भी योजनसहस्रिक विशेषण प्रयुक्त होता था। 'साधारण घोड़ा एक बार झूठकर ४ योजन बूटा जाता है, किन्तु अच्छा घोड़ा आठ योजन।' यह कथन भी भाष्य में मिलता है। एक शहर से दूसरे शहर की दूरी भी योजनों में मापी जाती थी। जैसे मवीयुमान् से सांकारय चार योजन था।

ये वस्तु की छम्बाई और चौड़ाई मापने के प्रमाण थे। गहराई या लंबा प्रमाण के लिए व्यवहृत होनेवाले कुछ शब्द भी भाष्य में मिलते हैं। भाष्यकार ने प्रमाण और ऊर्ध्वमान में भेद किया है और प्रमाण द्वयसम्प्रत्ययान् (५-२ ३७) सूत्र से प्रमाण अर्थ में होनेवाले द्वयसम्प्रत्यय और मासम्प्रत्यय में प्रथम दो को ही प्रयोग ऊर्ध्वमान में माना है। इस सूत्र के श्लोक-वार्तिक में तथा यत्तद्वेद्ये परिमाणे वगुप् (५ २ ३९) के भाष्य में अहाँ उन्होंने प्रमाण परिमाण और सख्या के पृथक्त्व एव भेद को ब्रह्मण्यता है, वहाँ प्रमाण और ऊर्ध्वमान का भेद भी दित्तकाने की श्रेया की है। उन्होंने कहा है कि इन प्रमाणवाचक प्रत्ययों में से मैं दो को ही ऊर्ध्वमान में स्वीकार करता हूँ। ऊर्ध्वमान के तीन माप-शब्द भाष्य में मिलते हैं—

उच्च—गहराई मापने के लिए उच्च सबसे छोटा प्रमाण था। उच्च वचन गहरी परिखा या जल आदि को ऊर्ध्वयत् उर्वयत् या उर्वयत् कहते थे।

पुष्प—पुष्प प्रमाण साधारण मनुष्य की हाथ ऊपर उठाने पर जो ऊँचाई होती है उसका वाचक था। पुष्प शब्द गहरी परिखा को द्विपुष्पी वा द्विपुष्पा कहते थे। एक पुष्प गहराई का जल पौषप पुष्पद्वयम् पुष्पद्वयम् या पुष्पमात्र कहा जा सकता था।

हस्ती—ऊर्ध्वमान का सबसे बड़ा प्रमाण हस्ती था। हस्ती शब्द गहराई (ऊँचाई के आधार पर) के जल आदि को हस्तिन, हस्तिद्वयम् हस्तित्रयम् या हस्तिमात्र कहते थे। दो हस्तियों के लिये द्विहस्ति इसी प्रकार त्रिहस्ति द्विहस्तिनी त्रिहस्तिनी आदि शब्दों का व्यवहार होता था।

१ ५ १-७४ पु० ३३७।

२ ५ ३-५५, पु० ४४३।

३ २-३ ३८, पु० ४२५।

४ ५ २ ३७ पु० ३७९।

५ ५ २ ३९, पु० ३७९।

६ प्रथमस्य द्वितीयाच्च ऊर्ध्वमाने मती मत्—५-२ ३७, पु० ३७८।

७. वही

८ ४ १ २४।

९ वही

१० ५-२-३८ काशिका।

११ वही।

सूत्र 'हिरण्यपरिमाणवने' (५२-५५) तथा भाष्य के अन्तिमवचन राजानो हिरण्यमभवति न च प्रत्येकं दण्डयति' (१११ वा० १२ पु० १०३) से स्पष्ट होती है। यहाँ 'गर्गा' शब्द 'दण्डयन्ताम्' (बही) के 'शत' में मूत्रा तथा हिरण्य से सामान्य सोने का भाव स्पष्ट हो है। इसी प्रकार एक स्थान पर कहा है कि जितने हिरण्य से दो ब्रह्म भाष्य मिल सकता है उतने भाष्य और जितने हिरण्य से एक हजार घोड़े मिलते हैं उतने हिरण्य से घोड़े खरीवता है।' यहाँ से स्पष्ट ही हिरण्य शब्द का प्रयोग किसी निश्चित मूत्रा के लिए न होकर सामान्य मुक्कन के लिए ही है। इसी अर्थ में भाष्य में अष्टापद शब्द भी मिलता है।

### राजत मुद्राएँ

सतमान—राजत मुद्राओं में शतमान सबसे बड़ा वा जो १०० रत्ती के बराबर होता था। यह बात इसके नाम से ही सिद्ध है। वैदिक साहित्य में 'मान' इण्डक या रत्ती के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वैदिक साहित्य से शतमान के मुक्कन-मुद्रा होने का भी पता चलता है। किन्तु गतपथ ब्राह्मण से ही उसका राजत तथा १०० इण्डक भर होना भी मासूम होता है। कुछ विद्वान् तदगिम्सा के मिड टीसों पर आर्क मार्चक द्वारा पाये गये टेड़े क्षत्ताका-सण्डों को राजत शतमान मानते हैं। मनु ने शतमान का वजन १० परण या ३२० रत्ती माना है। पतञ्जलि ने बड़े शतमान से शीत वस्तु का अर्थार्थ शतमान तथा अश्वर्ष शतमान कहा है। इसी प्रकार दो शतमानों से शीत पदार्थ को द्विशतमान या त्रिशतमान बतलाया है।

शाण्ड—शाण्डादी का सिक्का वा जिसका वजन महाभारत के आरभ्यक पर्व के अनुसार शतमान होता था। इस प्रकार, शाण्ड १२॥ रत्ती या २२॥ घन का प्रचलित जान पड़ता है। अरकसंहिता में शाण्ड को मुक्कन या कर्प के बराबर बतलाया है। इस प्रकार, इसका वजन २० रत्ती के बराबर ठहरता है। अरक के इस कथन से शाण्ड सोने का सिक्का मासूम होता है। पाणिनि ने 'परिमाणान्त्यासंशाखाययो' (७-३ १७) सूत्र में शाण्डको परिमाण मानते हुए उसके अहिर्भाग के लिए 'असंशा शाण्डयोः' कहा है। काशिका ने इस सूत्र में प्रत्युदाहरण न रूप में 'आम्ना शाण्डाम्ना शीतं शीशाण्डम् शैशाण्डम्' कहा है। नयन सिक्कों से ही सम्भव था। तब शाण्ड सिक्का भी वा और परिमाण भी? और क्या एक ही वस्तु सिक्के और परिमाण दोनों का काम देती थी? पाणिनि और काशिका कृति दोनों को मिलाकर देखने से तो यही पता चलता है। बात यह है कि मुद्रा के रूप में प्रचलित वे शारे सिक्के ठाक के आचार पर बने थे। प्रत्येक सिक्क का एक निश्चित

१ द्विद्वीयेन हिरण्येन धान्यं त्रीणाति साहस्रेण हिरण्येनाश्वान् त्रीणाति ।—२ १-१८, पु० ४२०।

२ तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि बलिषा ।—शात० वा० ५-५-५ १६।

३ ५१२९, पु० ३१९।

४ शत० वा० १३४२ १०।

५ मनु० ८ १३७।

६ महाभारत प्रा० पर्व १३४ १४।

बजन वा। सिक्कों के साथ-साथ कासमिन रूप में उनके विविध बजन की भी यही संज्ञा बन गई। साथ यदि १२॥ रसी का होता था तो उसे टोल्मनाभा १२॥ रसी का बाट (भार) भी मान का एक घटक बन गया और बहु तथा जतने ही बजन का सोना या चांदी भी पाण कहमाने लगा। कमी-कमी ये सिक्के स्वयं मार्गों के रूप में व्यवहृत होते थे जिस प्रकार आज रुपया और उसके अंश मान का काम देते हैं। पाणिनि ने उसी अर्थ में धातु को परिमाण कहा है, जिस अर्थ में रुपये को एक हीका परिमाण कहते हैं। मुख्य रूप से धातु सिक्का ही था। भाष्यकार ने इसी रूप में उसका उल्लेख किया है। सुवर्ण के विषय में यही बात कही जा सकती है।<sup>१</sup> यथा वेद धातु से शीत वस्तु अथर्वधाम्ना या अथर्वधातव्य पाँच धातुओं से शीत पंचधातु या पंचधातव्य, दो धातुओं से कीट द्विधातु, त्रिधातु या त्रिधातव्य एवं तीन धातुओं से कीट वस्तु त्रिधातु त्रिधातु या त्रिधातव्य। प्राण्य प्रबंध में हर ब्रह्मे पर धातु ऋ-स्वरूप लिखा जाता था। जिस मूषेधातु कहते थे। यदि किसी परिवार की भूमि या परिवार संयुक्त भी होता किन्तु भीतरी बँटवारा हो गया होता और भोजन बलग्न-बलन बनता होता तो प्रायेण विभक्त परिवार को कर देना होता था।<sup>१</sup>

कार्यापन—पाणिनि-काल में पत्र धातु का अर्थ अन्व-विक्रय तथा व्यवहार करता था। केन-वैन की क्रिया पवन कहलाती थी और अन्व-विक्रय की वस्तु पत्र। जिस वस्तु से दूधपी वस्तु सरीदी जाती थी उसे पत्र कहते थे। पत्र या केन-वैन अन्व-विक्रय या व्यवहार का माध्यम। पहले वस्तुएँ फिर सोना चाँदी-ताँबा आदि धातुएँ और बाद में इनसे बने सिक्के पत्र का काम देते थे। जो सिक्का सबसे अधिक प्रचलित था वही पीरे-पीरे पत्र रह गया और रोप ने विविष्ट नाम प्राप्त कर लिया। कार्यापन का पत्र मुद्रा के इसी विकसल को मोर संकेत करता है।

कार्यापन विवेच्य काल की सर्वाधिक व्यवहृत मुद्रा थी। कार्यापन सुवर्ण का भी चलता रहा। बाद में इसी परिमाण का सिक्का सुवर्ण कहलाने लगा। तबि का भी कार्यापन बनता था। यद्यपि प्रचलन राशत कार्यापन का ही विशेष था। कौटिल्य ने इसके लिए 'पत्र' शब्द का प्रयोग किया है। कार्यापन यदि चाँदी का होता तो उसका बजन सोलह माप के बराबर होता था। यही बात सुवर्ण कार्यापन के संबंध में रही थी, किन्तु पत्रांश के समय में या ही सुवर्णमाप का चलन बन्द हो गया था या सुवर्ण कार्यापन का बबरा दोनों का। यह भी संभव है कि इनके आनुपातिक मूल्य में अन्तर हो गया हो। भाष्यकार ने माप (उरर) नाम पढ़ने के विषय में एक भाष्य का रूप उद्धृत किया है कि 'पुराने समय में सोलह माप का एक कार्यापन होता था और सोलह ही बाने उरर की फली में होते थे। इस धातुय से उरर का नाम माप पड़ गया। उक्त कथन में 'प्राचीन काल शब्द भाष्यकार ने समय में बदले हुए माप और कार्यापन के आनुपातिक मूल्य की ओर इंगित करता है। फिर भी माप कार्यापन का घटक था। भाष्य में माप और कार्यापन के

१ ६-२-५५।

२ ६-३ १० कासिका।

३ ५ १ ३५, पृ० ३२०।

४ अपर माह—पुरातन्य पत्रांशोत् पीड्यामाता कार्यापनम्। पीड्या कलाशक मापार्थवदयः। तत्र तस्या सामान्यात् सिद्धम्।—१-२-६४, पृ० ५९८।

अवयववाचिसम्बन्ध का कथन बार-बार हुआ है यद्यपि वे समानजातीय नहीं थे। इसलिये ही से ग्याह् अधिक होने पर 'एकादशघट मापाजाम्' प्रयोग तो होता था किन्तु यदि ती कार्पापनों में ग्याह् माप अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग तो होता था किन्तु यदि ती कार्पापनों में ग्याह् माप अधिक हुए, तो उनके लिए उक्त प्रयोग नहीं हो सकता था। 'कजन' के जाने 'उ' प्रत्यय होने के लिए दोनों का समानजातीय होना आवश्यक था।<sup>१</sup> एक स्थान पर भाष्यकार ने कहा है— 'इस कार्पापण से इन दोनों को एक-एक माप दो। होनेवाला एक-एक माप देकर पूछता है कि घेप का क्या करे ? यदि उससे फिर कहा जाय कि यह कार्पापण इन्हें माप-माप करके दो तो यह माप माप करने उन्हें देकर चुप बैठ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि माप और कार्पापण का निकट सम्बन्ध वर्तमान आने और रुपये वैसे था। एक-एक माप करके या एक-एक कार्पापण करके देने का उल्लेख भाष्य में अग्यत्र भी मिलता है।<sup>२</sup> जो कार्पापण के अग्य अवयवों की अपेक्षा माप से उसका अधिक निकट ब्यहारिक सम्बन्ध सूचित करता है।

कार्पापण शब्द का प्रयोग पुस्तिक और नपुंसकलिङ्ग दोनों में होता था।<sup>३</sup> उसका ब्यपहार ब्यापक था। भाष्यकार ने प्रसंगवत्त कहा है कि 'यह वही कार्पापण है, जो मधुघट में किया था।<sup>४</sup> संभवतः, यह बात पाटलिपुत्र से कही गई है जा इस मुद्रा के ब्यापक प्रचार का शोचक है। वास्तव में वही इस काष्ठ की सर्वाधिक प्रचलित मुद्रा थी। कार्पापण से शीत वस्तु कार्पापणिक या कार्पापणि (स्त्री०) कही जाती थी।<sup>५</sup> प्रति का प्रयोग भी कार्पापण के अर्थ में होता था और प्रति से शीत वस्तु की प्रतिक या प्रतिकी (स्त्री०) संज्ञा थी<sup>६</sup> किन्तु यदि एक से अधिक कार्पापण से वस्तु का अर्थ किया जाता तो उस वस्तु के दो विशेषण हो सकते थे। उदाहरणार्थ डेढ़ कार्पापण से शीत वस्तु अर्ध्यकार्पापण या अर्ध्यकार्पापणिक कही जा सकती थी।

काश्चित्कार ने कार्पापण को ही प्रति आदेश का विधान कर अर्ध्यकार्पापणिक द्विद्वार्यापणिक और त्रिकार्यापणिक के स्थान पर अर्ध्यप्रतिक द्विप्रतिक और त्रिप्रतिक रूप मान लिया है। यह इस बात का शोचक है कि काशिका काष्ठ तक आते-आते कार्पापण के अर्थ में प्रति शब्द का प्रचलन बन्द हो गया था और विद्वान् दमे स्वतन्त्र शब्द न समझकर आदिष्ट शब्द मानने लग गये थे।

१ तदस्मिन्नधिकमिति वशास्तादृक्: इह कस्मात् अवति एकादश मापा अधिकान् कार्पापणशते समानजाता अधिक इष्यते।—५-२ ४५, पृ० ३८२।

२ अत्रमात् कार्पापणाविह अवद्व्यां मायं वैहि। अवद्व्यां मायं मायं वैहि। मायं भावमती इत्था दीयं पुच्छति किमतेने कियतामिति। य- पुनवच्यते इयं कार्पापणविद्वमवद्व्यां मायं मायं वैहीति मायं भावमती इत्था तुष्णीमसते।—८ १ १२, पृ० २७५।

- ३ ८ १ १ पृ० २५८।
- ४ २ ४ ३१ पृ० ४७७।
- ५ ५ १ २५ पृ० ३१६।
- ६ २ १ २७ पृ० ४७७।
- ७ वही।

पाणिनि और पल्लवलि ने अनेकदा घटसहस्रपादिसहस्रक मुद्राओं का उल्लेख किया है किन्तु मुद्रा का नाम नहीं दिया है। यथा 'घटमानविघटिकसहस्रवचनादण्' (५ १ २७) में सहस्र सं श्रुत वस्तु साहस्र 'विघटि विघट्म्या इवुन् संज्ञायाम्' (५ १ २४) में विघटि सं श्रुत विघट्, विघट् से श्रुत त्रिशक (भाष्य पृ० ३१५) के उपाहरण 'घटाच्च ट्न् यवायघटे' (५ १ २१) में घट से श्रुत सत्य घाटकघट (मा० पृ० ३१३) पञ्चभिः श्रुत पञ्चकम् (भाष्य ५ १ ३७ पृ० ३२१) तथा 'विभाषाकार्पापसहस्राभ्याम्' (५ १ २९) के अर्थ साहस्र द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र भावि प्रयोगों में मुद्रा के नामोल्लेख से विरहित संस्कार् कार्पाप (राजत) की बोधक है। संस्कृत साहित्य में कार्पाप का उल्लेख किये बिना 'देवदत्त के घी उपार है' भावि प्रयोग चल पड़े थे जो इस बात के प्रमाण हैं कि इनका प्रयोग सर्वाधिक होता था। स्वयं भाष्यकार ने बिना मुद्रा का नामोल्लेख किये साधारण बर्धा-प्रसंग में प्रायः संख्या-यात्र का उल्लेख कर दिया है। धन-प्रसंग में उल्लिखित संख्या में कार्पाप अन्तर्निहित-सा माना जाता था। शरी के कार्पाप में सोलह पण होते थे जिनके बरत १२८० कौड़ियाँ मिलती थीं। तब का कार्पाप ८० रत्ती या १७९ घेन का होता था।

विसतिक और त्रिशक—पौण्ड्र माप के कार्पाप के अतिरिक्त दो प्रकार के अन्य कार्पाप भी प्रचलित थे जिनका वजन क्रमशः बीस और तीस माप के बराबर था। प्राचीन कार्पाप सोलह माप का ही होते थे किन्तु बाद में किसी-किसी प्रदेश में सम्भवतः मगध और पांचाल में तत्कालीन राजाओं ने उनसे बड़ा परिमाण के कार्पाप प्रचलित किये। भाष्य का उपर्युक्त कथन कि 'किसी विद्वान् का कहना है कि प्राचीन काल में सोलह माप का कार्पाप होता था' इस बात की पुष्टि करता है। 'विघटि विघट्म्या इवुन् संज्ञायाम्' (५ १-२४) में भाष्यकार ने त्रिशक और विसतिक को संज्ञा माना है और इनकी विपत्ति पर विचार किया है। पाणिनि ने भी घटमानविघटिकसहस्रवचनादण्' (५ १ २७) में विसतिक का उल्लेख किया है। विसतिक से श्रुत वस्तु विसतिक और अर्थ द्वि तथा त्रिविसतिक से अर्थ की हुई वस्तु आशय विसतिकीन, द्विविसतिकीन तथा त्रिविसतिकीन कही जाती थी। बाद में इन मुद्राओं का प्रचलन बन्द हो गया।

अर्ध और मास—ये दोनों कार्पाप के अर्ध पाण के बराबर दिक्के परस्पर पर्यायवाची थे। आज भी हिन्दी में रुपये के अर्ध मास को अचेली कहते हैं। अर्ध और मास का उल्लेख क्रमशः 'पूरुषार्धादृन्' (५ १-५८) तथा 'मासाच्च' (५ १ ५९) सूत्रों में हुआ है। जिसके लिए अर्ध और मास मुद्राएँ युक्त बट्टि काम या उपरा में ही जाती हों, वस धनराशि को अधिक तथा मास या मासिक कहते थे। भाषिक 'राष्' का प्रयोग स्वतन्त्र होता है। अर्ध के पूर्व और कोई शब्द नहीं जोड़ा जा सकता। विस वस्तु का मूल्य अर्ध (कार्पाप) हो उसे अर्धिक या अर्धिकी (स्त्री०) कहते थे। भाषिककार ने भी अर्ध का इत्यकार्पाप

- १ देवदत्ताय शर्धं पारपति।—१ ४-३५।
- २ १ २-६४, पृ० ५९८।
- ३ ५ १ २५, पृ० ३१६।

के अर्ध मान के लिए स्व कृत्वाया' है, जिसका अर्थ स्पष्ट ही ३ कार्पाण सिकता हुआ।

पाद—कार्पाण का १.४ भाग पाद भी स्वतन्त्र सिकके के रूप में प्रचलित था। कर्मकर लोगों को एक पाद प्रतिदिन वेतन मिलता था। वे इसी कारण से काम करते थे।' दो-दो पाद को 'द्विपरिका बदाति' तथा दो पाद दक्षित होने या खान करने के लिए 'द्विपरिका दक्षित' या 'द्विपरिका बदाति' प्रयोग होता था। दो पाद का चार बार प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पाद का सिकता स्वतन्त्र था। अर्धपाद पाद या द्वि-त्रिपाद से नीचे वस्तु को अर्धपाद, द्विपाद और त्रिपाद कहते थे।

कौटिल्य से भी उक्त कथन की भी पुष्टि होती है। अर्थशास्त्र के अनुसार पण अर्धपाण पाद और अष्ट भाग के सिकके बाण जाते थे। नीचे की ओर उतरते हुए मापक अर्धमापक कारुणी और अर्धकारुणी के सिकके तबि के बनाये जाते थे जिनमें उचित परिमाण में अन्य धातुओं का भी मिश्रण रहता था। मिश्रण की विधि के सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्र में स्पष्ट आदेश हैं—'सुद्राभ्यञ्ज जिहं कृत्वाभ्यञ्ज कृत्वा है, एतत् सिकको का निर्माण चार मापक ठाँबा तथा एक-एक माप जपु, चीसादि धातु मिलाकर मुद्रा बनवाता था।'

अष्टभाग—अष्टभाग के स्वतन्त्र सिकके का संकेत महाभाष्य या अष्टाध्यायी में नहीं मिलता। 'पणपाणमापताघत्' (५ १ ३४) केवल अर्धपाद तथा संख्यावाची शब्द पूर्व रहने पर माप शब्द से माहीय अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करता है। इस प्रकार, अर्धपाण्यम् त्रिमाण्यम् त्रिमाण्यम् आदि रूप बनते हैं। इससे द्विमापक सिकके की कल्पना करना बुरा है। ही मान का सिकक क रूप में प्रचलन इस सूत्र से अवश्य सिद्ध होता है।

माप—कार्पाण का सर्वाधिक प्रचलित भाग माप या मापक था। पणपादमाप तनाघत्' (५ १ ३६) सूत्र में क्रमशः तीनों अनिश्चित प्रचलित सिककों का उनके मूल्य के अनुसार उल्लेख किया गया है। माप सुवर्ण चाँदी और ठाँबा तीनों का बनता रहा। सुवर्ण मापक का उल्लेख तो महाभाष्य में पृथक् नहीं मिलता। ही वह सुवर्ण-कार्पाण का १.१६ भाग होता था जो सुवर्ण का रहता था। सुवर्ण माप का वजन ५ हज्जस या १७ प्रम सुवर्ण के बराबर था। चाँदी का मापक राजस कार्पाण का १६ भाग होता था। जो २ रत्ती या ३ ६ प्रेम के बराबर होता था। रज्यमाप सिकके प्रचुर परिमाण में प्राप्त हो चुके हैं। ताम्रमापक ताम्रकार्पाण का ३६

१ अर्थशास्त्रो ह्यकार्यस्य षड् ५ १ ४८ काशिका तथा माणस्योत्रिय ह्यकार्यस्य

वाचकः—५ १ ४९, इही।

२ कर्मकरः कुर्वन्ति पारिकम्हर्तृत्त्वामहे।—१ ३-७२ पृ० ९०।

३ ५ ४ २१, पृ० ४८२।

४ ५ १ ३४ काशिका।

५ पणमपणं पादअष्टभागमिति। पादातीर्थं तादृशस्य मापकमर्धमापकं कारुणी-मर्धकारुणीमिति। लक्षपाण्यशः अनुर्जापताघं ह्यपर्यं तीक्ष्णपुतोताम्भ्रनामानम्यतमं माप बीजपुत्रं वारयेत्।—अर्थशास्त्र अधि० २, अ० १२।

भाग होता था जिसका वजन ५ रती रहता था। स्व्यमापक का ही प्रचलन विशेष था। भाष्यकार ने कहा है कि 'एक माप से बढ़ते-बढ़ते ही सहस्र कार्पापण हो जाते हैं। अर्धशास्त्र के तुष्टामात्र बन्धिकरम के अनुसार ये माप इस प्रकार थे—५ गुंजा या १० मापबीज—१ मुबर्भमापक। १६ मुबर्भमापक—१ मुबर्भ या कर्प। ४ कर्प—१ पल। ८८ गौर सर्प १ स्व्यमापक। १६ स्व्यमापक या २० घैम्य बीज—१ धरम। २० पावरु—१ मधिवरम।' अर्धमापक मापक दो मापक चार मापक और आठ मापक की मुद्राएँ प्रचलित थीं।

### ताम्र सिक्के

अधमाप—ऊपर कहा जा चुका है कि ताम्र कार्पापण का १/३ माप ताम्रमापक था जिसका वजन ५ रती होता था। पीछे यह भी कहा जा चुका है कि अर्धशास्त्र में निम्नलिखित सिक्कों के मार अधमाप काकिनी और अर्धकाकिनी नाम मिलते हैं। उपर्युक्त सूत्र 'पञ्चपादमापान्ताष्टत् (५ १ ३४) में अधर्धमाप से आर्हीय अर्ध में यत् प्रत्यय का विभाग है, जिससे अधर्धमाप्य उच्यते सिद्ध होता है। इससे इतना ठा स्पष्ट है कि अधर्धमाप का अणना स्वतन्त्र अस्तित्व भी था।

काकिनी—भाष्यकार ने एक काकिनी से श्रौत वस्तु के लिए काकिनी<sup>१</sup> तथा षेड काकिनी से श्रौत वस्तु के लिए अधर्धकाकिनीक उच्यते का व्यवहार बतलाया है। इसी प्रकार दो काकिनियों से श्रौत वस्तु को द्विकाकिनीक कहते थे। काकिनी और अधर्धकाकिनी का चलन पाणिनि-काक में नहीं था। काकिनी १/३ माप या बीस कड़ी के बराबर होती थी।

रुप और रुपतर्क—कार्पापण के जो सिक्के राज्य की जार से बाले जाते थे उनपर 'माहृति' (Punch) द्वारा सक्षण (गौ अक्ष आदि) अंकित करने की प्रथा थी। राजाओं के अपने-अपने सक्षम निरिचित थे। राजप्रचारित मुद्राओं पर ये सक्षण या चिह्न बना दिये जाते थे। केवल माहृत या सक्षमयुक्त मुद्राएँ ही प्रमाणित मानी जाती थी। 'वपादाहृतप्रसंसयोर्षु' (५ २-१२०) सूत्र माहृत और प्रसंसा अर्ध में रुप अक्ष के आगे यत् प्रत्यय का विभाग करता है। इस प्रकार रुप युक्त का अर्ध रुपान् या मुद्रार रुप्य होता था और रुप्यकार्पापण का अर्ध माहृत या तादृश अर्धान् राजसक्षण युक्त कार्पापण। तादृशिक रुप से इसका दूसरा अर्ध प्रमाणित कार्पापण भी होने लगा। पीरे पीरे कार्पापण गीष पड़ गया और रुप्य (छोटे सरक सव्य) का ही प्रयोग अस्तिष्ठ रह गया। कार्पापण ही माहृत होता था दोष सिक्के केवल बाले जाते थे। वे माहृत नहीं होते थे। यत् कार्पापण चाँदी की मुद्रा थी। इसलिए जब रुप्यकार्पापण का उत्तर पद अग्रयुक्त रहने लगा और केवल

१ एकेन मापेन सतसहस्रम्।—२-१ ६९, ७० ३२५।

२ आश्वमेत्या इत मुबर्भमापकाः पञ्च वा पञ्जाः। ते षोडश मुबर्भ कपो वा। अनुः कर्ष पलम्। अष्टाश्रौतिपीर सर्षपा रुप्यमापकः। ते षोडश धरमम्, दीम्यानि वा विजति। विजति तद्गुणं धर्यधारणम्। अर्धमापकः द्वौ, आचार अष्टौ मापकः। अक्ष० शा०, तुष्टामात्र-प्रकरणम्।

३ ५ १ ३३ ७० ३२०।

४ गृही।



स्य बन्ध गया तो स्य का ही अर्थ कार्पापण हो गया और रजत भी। आगे चल कर संस्कृत-शास्त्रियों में स्य शब्द चाँदी का भी पर्याय बन गया। हमारे वर्तमान रुपये (स्य) का भी यही इतिहास है। कार्पापण के अन्वय (अर्थ पाद द्विमाप माप अर्थमाप आदि) भी रुपये के वर्तमान भावों के रूप में अभी तक वर्तमान हैं।

कार्पापण या पण (अर्थशास्त्र) में आहुति भार, बाहु आदि की सम्यक् परीक्षा के लिए राज्य की ओर से एक अधिकारी रहता था जिसे 'अर्थशास्त्र ने स्पदर्शन' कहा है। कौटिल्य ने कहा है कि 'स्पदर्शन' कार्पापण के टकरास से बाहर जाते समय तथा बाहर से कोष में आते समय उसकी शुद्धता की परीक्षा करे। वह व्यावहार में आनेवाले रूप (मुद्राओं) तथा कोष में वापिस लौटने वाली मुद्राओं का निरीक्षण करे।' इसी बात को सव्य में रखकर भाष्यकार ने कहा है—'पश्यति स्वतर्कं कार्पापणम्—दर्सयति स्वतर्कं कार्पापणम् अर्थन् स्वतर्कं कार्पापणं को वेत्तता है। स्वतर्कं को कार्पापणं विवक्षता है।' स्वतर्क यही अधिकारी है जिसे अर्थशास्त्र ने स्पदर्शन कहा है।

१ स्वतर्कः नमयात्रा व्यावहारिकी कोमप्रवेष्टया च स्थापयेत् ।—अर्थ० शा०, अधि० २ अध्याय १२।

२ १४-५२, पृ० १८२।

धन और व्यवहार

धन—भाष्यकार न सम्पत्ति या धन के अर्थ में स्व धन और अर्थ शब्द का व्यवहार किया है। स्व शब्द के अनेक अर्थ थे—जाति आत्मा आरमीय और धन। धन अर्थ में 'स्वे याव' और स्वा गाव जैसे पदों का व्यवहार होता था।<sup>१</sup> र शब्द भी इसी अर्थ में आता था।<sup>२</sup> र चाहने के लिए 'रियति' क्रिया प्रयुक्त होती थी। धनवान् व्यक्ति को साधारणतया आर्य्य कहते थे। किसी ग्राम या नगर में कुछ परिवार आर्य्य हुए, तो वह ग्राम या नगर भी आर्य्य माना जाता था।<sup>३</sup> आर्य्यता कई बातों से आँकी जाती थी। यो अर्य्य और हिरण्य सामान्यतया आर्य्यता के परिचायक थे।<sup>४</sup> धान्य भी धनबत्ता का ज्ञापक था। गो का अधिक होना ही अर्य्यता धनबत्ता का प्रमाण था क्योंकि धन को व्युत्पत्ति है—'धिनोतीति धनम्' प्रीणन (प्रसन्न) करनेवाली वस्तु धन कहलाती थी। इस अर्थ में बैल घोड़ा और धान्य भी न थे। जिस देश में पशु, धन और धान्य विधेय होता था वह प्रदेश गुणवान् और धनवान् समझा जाता था।<sup>५</sup> यों स्वशब्द सब प्रकार की सम्पत्ति के लिए व्यवहृत होता था। किसी के लिए एक कम्बल भी 'स्व' हो सकता था।<sup>६</sup>

धनबत्ता—धनिकता रुपयों-सिक्कों से भी मापी जाती थी। एक सौ कार्यापण या निष्क बपान्कर रखनेवाला ऐकशतिक कहलाता था।<sup>७</sup> कुछ सोम निष्कशतिक या निष्कसहस्रिक<sup>८</sup>

१ १३-३५, पृ० २३७।

२ ११-५० पृ० ३०६।

३ वही।

४ १२-२९, पृ० २३४।

५ १२-४५, पृ० ५२७।

६ वैश्वसत्य पाषोश्रवा हिरण्यं च। आर्य्यो वैश्वस्ये।—१३-९, पृ० २८।

७ इह तावद्वागो धनमिति धिनोतेर्धनम्। एको पुनः स च प्रापाम्येन द्विवसितः।—

५-५९, पृ० ३३३।

८ २१-३० पृ० २८३।

९ ५-११९, पृ० ३३५ तथा अर्थबालर्षे वैश इत्युच्यते धस्मिन् गावः सप्तानि च

वर्तन्ते।—५-२-१३५, पृ० ४२३।

१० ८-२६, पृ० २८६।

११ ५-२-११८, पृ० ४१९।

१२ ५-२-११९।

कहे जाते थे। इस प्रकार हर तरह की सम्पत्ति—विद्या गाय बैल भस्व धाँवी (कार्पापज) और सुवर्ण आदि मन माने जाते थे।<sup>१</sup> राजा छोड़ अधिकाधिक सोना बटोरने की चिन्ता में रहते थे।<sup>२</sup> यतवता या आद्यमता कितने पसुवन से मानी जाय इसकी कोई निश्चित मर्यादा न थी। बैलिक आनस्यकृत्यों की पूर्ति से अधिक पसु-वन मनुष्य को आद्यमता की ओर से जाता था। आनस्यकृता की पूर्ति किसी परिवार की चार मायों से भी हो जाती थी। उनसे उसकी जोत के लिए पर्याप्त बैल पीने के दूध और आगे के लिए बछड़े मिलते रहते थे और किसी परिवार का यह काम ही मायों से भी पूरा नहीं पड़ता था।<sup>३</sup> स्व की प्राप्ति चार प्रकार से हो सकती थी—बुरीदकर, बुराकर, माँसकर या बयसकर। इन्हीं उपायों से परधन अपना बन सकता था।

सामाजिक सम्बन्ध और वर्ण—व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध भी चार बातों पर निर्भर थे जिनमें माप्यकार ने वर्ण को प्रथम स्थान दिया है। आधिक सम्बन्ध के अतिरिक्त यौन (विद्या पुत्राणि) मौल (गुरुशिष्यादि) तथा शौच (पुरोहितयजमानादि) सम्बन्ध माने जाते थे।<sup>४</sup> आधिक धर्मान् सेन-देन स्वामिसेवक उत्तमर्ष-अधमर्ष के सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण थे। इसीलिए, लोग धन कमाने के लिए चिन्तित रहते थे। धन और हिरण्य की प्रबल इच्छा को धनक और हिरण्यक कहते थे।<sup>५</sup> गाधारभृतया वन बाहना और वात है और उसके लिए पापक रहना भिन्न बात। साधारण इच्छा के लिए 'बनीयति क्रिया का प्रयोग होता था और धर्म या सारुच के लिए 'पनायति' वा। धन के लिए कुप्य शब्द का भी व्यवहार होता था। रक्षणिय होने के कारण गोप्य से भिन्न संज्ञा धर्म में इस शब्द की निष्पत्ति बताई गई है। स्वापतेयं शब्द भी इसी वर्ण में जाता था। यजिर्णों में परस्पर स्वर्षा बसती थी किन्तु यह स्वर्षा तमी होती थी जब उनका अन्तर 'बदूर' का हो। एक निष्पत्त्या ही निष्कवासे से स्वर्षा नहीं करता था।<sup>६</sup>

धन—पीछे कहा जा चुका है कि धर्म सम्बन्ध का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। धर्म सम्बन्ध स्वामी और भृत्य का ही सकता था भेटा-विभेता का हो सकता था और उत्तमर्ष अधमर्ष का भी होता था। आनस्यकृता पढ़ने पर सहायताार्थ काम की आशा से किसी को उधार देने

१ ११६८, पृ० ३३४।

२ ६१५, पृ० २१।

३ ५-२-९४ पृ० ४१०।

४ यदेतन् स्व नाम अनुमिरैतत्प्रकारैर्भवति। अयमाद्यपहरजाद्यान्वाया विभिन्नवाकिते।

२ ३-५० पृ० ४४२।

५ लोक बहुबोधमितम्बन्धः आर्षा यौना मौलाः शौचादयः—१ १४९, पृ० ३००।

६ ५-२-९५, पृ० ३९६।

७ ७-३-३४।

८ ३ १११४ पृ० १८८।

९ ४४१०४।

१० ५ ३-५५, पृ० ४४६।

बाले को ये उत्तमर्ग' कहते थे और सेनेवाले को अधमर्ग'।' ये शब्द सम्बन्ध व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति के बोधक थे। उबार दी गई रकम शून्य कहलाती थी। शून्यवान् होना भारयति' क्रिया द्राष्ट व्यक्त किया जाता था। किसी पर सौ रुपये शून्य होते तो कहा जाता तब भारयति। अधमर्ग होने की स्थिति 'आधमर्ग्य' होती थी। 'उबार का बाधक शून्य' था जो देय भी कहा जाता था। श्री हुई वस्तु को लौटाने की क्रिया का नाम प्रतिदान था।' कमी-कमी शून्य देनेवाले अपना रुपया डूब जाने का भय रखते थे। ऐसी स्थिति में अधमर्ग के अतिरिक्त एक से अधिक व्यक्तियों को और बीच में डाल देता, जो उसकी जमानत देते थे और रुपये के लिए उत्तरवाची भी माने जाते थे। ये सोम प्रतिभू कहलाते थे। शून्य देते समय कमी-कमी साक्षी' की भी आवश्यकता होती थी।

व्याज—शून्य कमी-कमी जितना लिया जाता था उतना ही लौटा दिया जाता था। कमी-कमी उससे अधिक भी देना पड़ता था। आधिक्य की राशि 'बुद्धि' यिनी जाती थी। भाष्य में पाँच साठ आठ नौ दस रुपये (कार्यापण) बुद्धि-स्वरूप पाने की चर्चा है। जिस शून्य पर ये राशियाँ अधिक मिलती थीं उन्हें क्रमशः पचक सप्तक अष्टक नवक और दशक' कहते थे। ये संख्याएँ उपलक्षणमात्र हैं। इसी प्रकार अर्ध (कार्या०) जिस राशि पर बुद्धि-रूप मिलता था उसे अर्धक' तथा भाग (आधा कार्या०) जिस राशि पर मिलता था उसे मान्य या भागिक' कहते थे। यह अर्ध या भाग सौ कार्यापण का मासिक व्याज है या बस्य अर्धधि का निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि काशिकाकार ने 'भागिकसतम्' के साथ ही 'भागिकाविसति' भी उदाहरण में दिया है। एक ही बाल में पाँचपुने अन्तर की कल्पना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। वास्तव में ये उदाहरण-मात्र हैं और बाड़े जितने समय में हो सत और बिताति पर प्राप्त कुस व्याज को सूचित करते हैं। हो सकता है आज सत उबार सेनेवाला कर १००३ लौटा जाय ऐसी स्थिति में इन उदाहरणों के आधार पर व्याज की किसी दर का अनुमान लगाना तर्क-संभव नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'पचक' राशि पर प्राप्त पाँच (कार्या०) व्याज के आधार पर याचक से आप्रहायण तक

१ १४ ३५।

२ ३३ १००।

३ १४-३५।

४ ३३-१००।

५ ४३ ४०।

६ १४ ९२।

७ ३-२ १०९।

८ २३-३९।

९. पञ्चबुद्धिर्वाऽऽभोवात्ताभो वा सुस्को धोपवा वा बीयतेऽस्मि पञ्चकः सप्तकः अष्टकः

नवकः दशकः 1-4 १ ४०, पृ० २३३।

१० ५१ ४८।

११ ५१ ४९।

की अवधि तथा बस पर प्रतिमास एक व्याज की डॉ० बा० ए० अग्रवाल द्वारा की गई कल्पना भी ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि प्रथम तो आशय में ऋण लेने का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। ग्रामीण जीवन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नये बर्ष के लिए बैंक ब्येण्ड दरहारे से पूर्व खरीद सिव जाते हैं। आपाद के प्रारम्भ से तो जुटाई होने लगती है। इसके लिये त्रित ऋण लेना होता है वह आपे स्पष्ट तक के लेता है। आशय में केवल बाग रोपा जाता है जिसके लिए ऋण की आवश्यकता नहीं होती। यह रोप मँहगी नहीं बिक्री और इपक इसे स्वयं बो भी लेते हैं। खरीद की रोप फसलें आपाद में ही बोई जाती हैं और उनमें बीज बहुत ही कम पड़ता है। अतः पंचक 'बरीकाबदा' पद्धति से आशय से आपादायणी पीर्णमासी तक का व्याज है, यह धारणा भी युक्ति-संगत नहीं मानी जा सकती। और, यदि इसे ठीक मान भी लिया जाय तो भी शक्य है बराबर तक के महामास्य के उदाहरणों का क्या होमा जो कायिका से बहुत पुण्ये हैं। फिर, ये उदाहरण केवल व्याज (बुद्धि) के नहीं हैं—आय शुल्क साम और उपचा के भी हैं।

बरीकाबदा—कुछ लोग आवश्यकता पड़ने पर परिचित व्यक्ति को ऋण दे देते थे और साधारण व्याज भी ले लेते थे। उनका यह काम नाकस्मिक या किन्तु कुछ लोगों का व्यवसाय ही क्या उधार देना और उसपर व्याज लेना था। ये लोग कुसीबक और स्त्री बुद्धि, तो कुसीबकी बहूलायी थी। 'दस रुपये देकर म्याह् सेने की भी प्रथा थी।' जो लोग इस प्रकार ऋण देते थे वे बरीकाबदायिक (म्याह् सेने के लिए ? सेनेवाले) और बरीकाबदायिकी (स्त्री) बहू जाते थे। बुद्धि के लिए पन सेनेवाले को वार्षिक कहते थे। वार्षिक कमी-कमी दुगुना और त्रिगुना तक ले लेते थे। समाज इस प्रकार के व्याज-व्यवसाय को नहीं मानता था। यदि बैर तक ऋण न चुका सकने के कारण वह बढ़ता-बढ़ता दूना हो जाता तो उस दूनी राशि को सेनेवाला निन्द्य नहीं होता था। बैर तक प्रतिदान न कर सकने के कारण कमी-कमी मूल ऋण बढ़कर दुगुना हो जाता था। इस ऋण को प्रबुद्ध कहते थे। जब यह प्रबुद्ध (चक्रव्याज) अगनी सीमा पार कर मूल के दुगुने से भी अधिक हो जाती थी तो उस ऋण को महा-प्रबुद्ध कहते थे किन्तु इसमें गह्रा का भाव न था। निन्द्य वह होता था जो इत उद्देय से बोझा उबार देकर बहुत ले। इसलिये, त्रिगुणिक (तीनगुना लेनेवाला) द्विगुणिक (दुगुना सेनेवाला) आदि शब्द निन्द्या के द्योतक थे। कुसीबक की निष्पत्ता का प्रभाव परिवार पर नहीं पड़ता था। इसलिये, कुसीब सेनेवाली स्त्री कुसीबकी किन्तु कुसीब सेनेवाले (कुमिद) की पत्नी कुसिबायी कही जाती थी। प्रथम में निन्द्या या नहीं गम्यमान

१ ४४-३१।

२ एकाबदाबाबदा बर्षाबदा दारदेनोष्यन्ते ।—बही, काशिका ।

३ ४४ ३० पु० २७७ ७८ ।

४ त्रिगुणं नि स्यादिति प्रयच्छति द्विगुणिकः ।—बही ।

५ दारसावत्त्वं दत्त्वा बहु गृह्णाति तद् माहृतम् ।—बही ।

६ ४४ ३० काशिका ।

७ ६२ ३८ पु० २५८ ।

८ ४१ १० ।

रहती थी, द्वितीय में नहीं। यह भेद दोनों में अन्तर बतलाने के लिए किया गया था और फिर कुसुमायमी कुसीदक की पत्नी होती थी किन्तु स्वयं सूदखोर नहीं।

'दशैकादश' में व्याज की दर प्रतिशत पर निर्भर न रहकर निश्चित अवधि के लिए निश्चित व्याज के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। यद्येकादशिक अपना घन एक राश नहीं सेता था। उसका प्रतिदान देने के लुरस बाद ही मासिक रूप में प्रारम्भ हो जाता था और प्रतिमास मूक कम होता जाता था। इसलिये, 'दशैकादशिक' में एक और तो व्याज की दर कम रहती थी और दूसरी ओर देनेवाले पर भार भी नहीं पड़ता था।

'दशैकादश' में एक की वृद्धि मासिक नहीं थी। लगभग यही प्रथा आज उत्तर भारत में 'दशैकादश' के रूप में वर्तमान है। इस रुपये लेकर प्रतिमास एक रुपया देता हुआ पूरे वर्ष में बारह रुपये लेकर अक्षमर्ण ऋण-मुक्त हो जाता है। पंचक आदि शब्दा का अर्थ भी इस भूमिका में स्पष्ट हो जाता है। इस रुपये ऋण का एक बटक होता है। यदि किसी ने इस प्रकार पचास रुपये उधार लिये तो वह पाँच ऋणबटकों का दायी होगा और वर्ष में इस रुपये व्याज में होगा। अब दशैकादश की प्रथा रही होगी सब पचास रुपये पर वर्ष में पाँच रुपये वृद्धि होती होगी। सतर पर सत अस्सी पर आठ आदि। इस प्रकार पंचाशत की पंचक सप्तति को सप्तक अष्टति को अष्टक नवति को नवक और दशक को दसक कहते थे। दशक तक उदाहरण देने का आशय ऋण को दश पर समाप्त करना था। यह प्रथा ठीक इसी रूप में आज भी बची जाती है। हाँ अब व्याज की दर अक्षय्य दूनी हो गई है। उत्तर भारत में जहाँ सौर भास का प्रचलन है मासिक किन्तु अमावस को चुकाई जाती है। अन्तर इतना ही है कि पतञ्जलि-काल में कार्तिक की अमावस को रिया गया इस प्रकार का ऋण अक्षर की अमावस को चुकता हो जाता था। अब वह कार्तिक की उसी अमावस को चुकता होता है और जितने ऋण-बटक अक्षमर्ण पर देय होते हैं उतने ही रुपये प्रतिमास वह चुकता जाता है।

ऋणों के नाम—ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋणों के नाम रख दिये जाते थे। मासभर में चुकाया जानेवाला ऋण 'मासिक' कहा जाता था और संबत्सर में अर्ध क्रिया जानेवाला 'संबत्सरिक'। कुछ ऋण छी मास में चुकायेजाते थे। ये फसल बोन के समय लिय जाते रहे हैं। आज भी कार्तिक में ऋण लेकर बैशाख में लौटाने की प्रथा है। यह ऋण रुपयों के रूप में भी हो सकता है और अन्न के रूप में भी। पाणिनि ने इस ऋण को 'वैष्णव' कहा है। वैष्णव वीष्ण के अन्त में सवाये या इयोड़े परिमाण में लौटाया जाता था। यह प्रथा अब भी विद्यमान है। इयक कार्तिक में बोनी के अक्षर पर अन्न लेकर बैशाख में लौटाते हैं। तरबूज, करबूज आदि की फसलें पैदा करने में भी वैष्णव ऋण की प्रथा बहुत व्यापक है। ज्येष्ठान्त में लेकर आषाढायणी पूर्णिमासी को प्रतिदिन खरीफ का ऋण आषाढायणिक' कहलाता था।

१ ४४-४७।

२ ४-३-५०।

३ ४३-४९।

४ ४-३-५०।

प्रीत्यक्त' और आग्रहायणिक दोनों ऋण पाष्माधिक थे। इस वर्ष लेकर आगे वर्ष सौटमा जानेवाला ऋण आबरसमिक कहलाता था।<sup>१</sup>

ऋण सेने के कारण—कुछ ऋणों को कक्षापी-काल अस्वत्व-काल और यवबुस-काल में चुकाने जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> कक्षापी-काल उस काल को कहते थे जब गोर कक्षाप बारण करते हैं या मन्त होकर नाचते हैं, अर्थात् वर्षाकाल। अस्वत्व काल उस-काल को कहते हैं, जब उद्यमें फसियाँ आती हैं और यवबुस-काल जी का बुस तैयार होना का समय माना जाता है। ये कृषकों के अपने धर्म थे। इन कालों में निम्न ऋणों का प्रतिदान होता था उन्हें क्रमशः कक्षापक अस्वत्वक और यवबुसक कहते थे।

सूत्र १ १-८९ के बा० ७ में उदाहरणों में माप्यकार ने बसतरार्ध कम्बलार्ध और बसतार्ध तथा बा० ८ में ऋणार्ध तथा वसार्ध का उल्लेख किया है। ये शब्द इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि सामान्य प्राचीन किन-किन बातों के लिए प्रायः ऋण लेता था। खेती के लिए बैल लीयना सबसे आवश्यक बात थी। इसके बाद अपना घरीर बनाने की बात उठती थी। शीत में एक कम्बल चाहिए। घर में बसत चाहिए। स्वयं के लिए बसत आवश्यक है। यदि किसी साह उपज न हुई तो बस्तुर्पे की ऋण लेकर खरीदनी पड़ती थी। पुराना ऋण चुकता न हो सके तो दूसरे साहकार से उधार लेकर पहले का ऋण चुकाने का प्रबन्ध किया जाता था अन्यथा अबधि पूरी होने पर ब्याज के मूलभन में जुड़ जाने से बचनृद्धि भी देनी पड़ती और साह भी माटी जाती। वसार्ध का सम्बन्ध दहीनाच ऋण से माकूम होता है। दहीनाच की फिस्त बया न कर सकने की स्थिति में उसे चुकाने के लिए किसी भग्य से उधार किया हुआ दूसरा वसार्ध ही सकता है। प्रार्थ बड़े ऋण को कहते थे जो विवाहादि बड़े अवसरों पर किया जाता था। प्रार्थ को छोड़कर य शेष ऋण प्रीत्यक्त या आग्रहायणिक ही होते थे।

मापमित्यक्त—बा० ७ स० अग्रवास में अन्न ऋण को मापमित्यक्त प्रथा कहा है जिसका प्रचलन वर्षासात्र-काल में भी मामूम होता है। कौटिल्य ने प्रापमित्यक्त का भी उल्लेख किया है। 'मापमित्यक्त' ऋण में प्राप्त अन्न को उसी परिमाण में खीटाने जाने को कहते थे। सम्भव है, पाणिनि काल में यह प्रथा उही हो किन्तु पाणिनीय सूत्रों से इस बात का समर्थन नहीं होता। 'मापमित्यक्त याचिनाम्ना क्वकप्रौ' (४४ २१) और 'उबीषामादो व्यतीहारे' (१ ८ १९) ये दोनों सूत्र अन्नके सहारे उक्त मत्त का प्रतिपादन किया गया है केवल इतना बतलाते हैं कि उत्तर के विद्वानों के मत से 'माप्यकर बरलता है' के बरल 'बरलकर मापता है' प्रयोग भी ठीक है। व्यतीहार वस्तु या कियत की दो व्यक्तियों में बदला-बदली को कहते हैं। मैत्र पातु का प्रयोग भी विविधय वर्ष में होता है। विविधय तात्कालिक बदला-बदली की ओर संकेत करता है। प्रतिदान की शक्ति दानमें से नहीं निकलती।

१ ४ ३ ४९।

२ वही।

३ कामादिति बसते न च कक्षापी नावद्यातीरिस्त। नैव शेष साहवर्दानाध्यायत

प्रतिप्यनि। कक्षापि सहवर्ततः कालः कक्षापीकाल इति १-४-१ ४८, पृ० २३५।

परिष्कार—जब कोई व्यसमर्ग बन के बड़के में धन का प्रतिदान नहीं कर सकता था तब वह एक निश्चित समय के लिए अपना या अपने परिवार का धन उत्तमण को सौंप देता था। यह पद्धति परिष्कार<sup>१</sup> या दण्य कहलाती थी जैसे सौ से बीसों हुआ। व्यसमर्ग उत्तमर्ग के पास कर्मकर बनकर रहता था और श्रम के भर-प्राई हो जाने पर मुक्त हो जाता था।

किसी किसी श्रम के बड़के में किसान अपनी दूध देती गाय का दूध उत्तमण को दे देता था। गाय को बिछाडा-पिछाडा स्वयं या कित्नु दूध दुहाने के लिए उसे उत्तमण के पास भेज देता था। ऐसी गाय 'सेनुप्या'<sup>२</sup> कहलाती थी।

१ परिष्कारोऽस्यप्रदानमस्यतमस्याम् ।—१ ४ ४४ तथा अकर्मणो पञ्चमी । २ ३-२४ पञ्चाद्वयम् ।

२ अजायां सेनुप्या या सेनुप्यतमर्गाय श्रमप्रदानाद्दोहकार्यं दीयते सा सेनुप्या ।—४ ४-८९ ।



## अध्याय ९

### धम और धमिक

धमिक—माप्य के अनुसार घाटीरिक्त धम से जीविका चलायेवालों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—धिसी और धमिक। धिसी-धर्म पर पीछे चर्चा हो चुकी है। धमिक से कहे जाते व भिनमें किसी व्यवसाय या कौशल की योग्यता नहीं होती थी। इसलिए, वे निर्वाहार्थ किसी घनी व्यवसायी कृपक या धिसी जादि को अपना घाटीरिक्त धम बेचकर उसके बहके में इष्य भ्रम बरन या इषी प्रकार के उबर-धुति के सामन प्राप्त करते थे। धम को लटीबनेवाले स्वामी का धर्म कहते थे।<sup>१</sup> निरिधत धन-धुति कर निरिधत धमिक के लिए धमिक का धम लटीब सेनवाला धमिक 'मककटा' कहलाता था और धम की इस प्रकार की क्रिया 'परिधमन' नहीं जाती थी। सो पाँच सी या हजार कार्यापण पर साल हो साल या अधिक क लिए धमिक नियुक्त कर मिय जाते थे।<sup>२</sup> यह एक प्रकार से ठीके की पद्धति थी धम नहीं।

धमिकों के घेद—सेवा और पारिधमिक की दृष्टि से धमिकों के घेद क्रिय जा सकते हैं। माप्य में उनके बनेव नाम मिससे हैं। उवाहरणार्थ—कर्मकर, मूठक परिधीत मूठक प्रसाधक वास और धमिक। धमिक का नियुक्त करना भी 'उपनयनकर्म' कहलाता था जिसका धर्म वा 'वेतन बेकर पास लागता'। वेतन का दूसरा नाम 'मूठि' भी था।

वेतन की दर—कर्मकर निरिधत वेतन पाते थे। दूसरों के दर काम करते जानेवाले धिसी का धमिक पारिधमिक भी वेतन कहलाता था। वेतन पर नियुक्त कर्मकर 'धैतिक' कहे जाते थे। वेतन के रूप में ३ कार्यापण बेन की प्रथा थी।<sup>३</sup> इस प्रकार सामान्यतया कर्मकर को ७३ कार्यापण मासिक वेतन मिलता था। मूठक और मूठक प्राक समानार्थी थे। मूठकों के भी पारिध (३ कार्यापण) का उम्सेल माप्य में गई बार मिलता है। स्वामी का कर्तव्य माना जाता था कि वह कर्मकर क भरण-धुति की व्यवस्था करे। इसलिए, मूठक को भरणधुति भी कहते थे।

१ ३११०३ पृ० १८२।

२ पारिधमन नियतकाल वेतनवादिता स्वीकरण नरवस्तिकः धम एव १-१४४४ काशिका।

३ १३३६ काशिका।

४ ४४१२।

५ कर्मकरः कुर्वन्ति पारिधमहर्षमप्यामह इति १-१३७२ पृ० ९०।

६ पात्रका मन्तरेणापि धमिं गालमले मूठकाश्च पारिधम् १-वही।

७ ३२१ पृ० २५४।

परिष्करण के द्वारा नियुक्त कर्मकर को परिश्रित कहते थे। पारिवारिक आबन्धनता होने पर निर्बन्ध परिवार धनी स जो श्रम लेते थे उससे बन्धे थे स्वयं या परिवार के किसी सदस्य को धनी का कर्मकर बनाकर श्रम चुकाते थे। श्रम राशि की भरपाई ही जाने पर कर्मकर स्वतन्त्र हो जाता था। भारत के अनेक भागों में यह प्रथा अभी तक प्रचलित रही है और 'कर्मकर' शब्द ने 'कर्मकर' रूप ग्रहण कर लिया है।

बेतन की साधारण दैनिक दर 'मासिक' भी किन्तु कार्य के अनुसार उसमें अन्तर भी रहता था। मासिक दर दैनिक की दृष्टि से कुछ भिन्न रहती थी। कभी-कभी मासिक बेतन पाँच कार्पायण दिया जाता था कभी छह और कभी दस तक। कर्मकरों के नाम भी उनके मासिक बेतन के अनुसार चल पड़ते थे। जैसे पाँच कार्पायण मासिक पानवाले कर्मकर पञ्चक कहे जाते थे इसी प्रकार सप्तक या अष्टक नाम होते थे।<sup>१</sup> दस रात-दिन स्वामी की सेवा में उपस्थित मान जाते थे। उनके दैनिक बेतन निश्चित नहीं किया जाते थे। इनपर स्वामी का पूरा अधिकार रहता था और यह दर प्रायः कुत्सा का बोधक बन गया था। इसीलिए, 'दास्या-पुत्र' शब्द व्यक्ति की निम्नता प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त होता था। स्त्रियाँ भी दासी होती थीं और उनकी सन्तानें 'दासेर' कहलाती थीं।<sup>२</sup> वासर शब्द भी निन्दा का बोधक था क्योंकि रात-दिन परिवार में रहने के कारण वे कभी कभी स्वामी की कामुकता की पात्र बन बैठती थीं। मास्य में दस स्थानों पर दासी के प्रति कामुकता का उल्लेख है यद्यपि इसे अतिष्ट व्यक्तहार माना है। दस-दासियों का भावन-वस्त्र मिसले थे और यथा-कदा डाँट-फटकार। ये ही तीन बातें उनके कार्य की प्रेरक थीं। उनकी स्वभूति की परिभाषा में भक्त श्रेय और डाँट से बचाव ही सम्मिलित थे। दस और कर्मकर की स्थिति एक दूसरे से बहुत भिन्न थी। यह बात इससे स्पष्ट है। मासिक लोग केवल नियमित भोजन पाते थे।<sup>३</sup> सम्भवतः वे निम्न श्रेणी के कर्मचारी थे जो हल जोतते थे और गिन म कुछ घण्टे काम करते थे। मासिक हल जाननेवालों का उल्लेख सूत्र ३ १ २६ के मास्य में मिसला है जिनमें कहा गया है कि चुपचाप बैठे हुए व्यक्ति के लिए भी कहा जाता है कि वह पाँच हल की खेती करता है क्योंकि खेती करने का अर्थ हल चलाना ही नहीं है जो भक्त शीघ्र और बैलों की व्यवस्था करता है वह भी कृषक माना जाता है। इससे हल जोतने के लिए मासिक धर्मियों को नियुक्त करने की प्रथा का पता चलता है।<sup>४</sup> आज भी इस प्रकार के कर्मचारी गाँवों में पाये जाते हैं। वे काम प्रायः पारिवारिक (पर के भीतरी) काम करते हैं।

मास्य में धर्मियों के कुछ कार्यों की ओर भी संकेत है। प्रसावक स्वामी की सेवा-दृष्ट

- १ ५ १-५६।
- २ १ ३-५५, पु० ६९ तथा २ ३ ६९, पु० ४५६ तथा ४ ६१-४४ पु० १३८।
- ३ यदेतद्दासकर्मकरं मामतेऽपि स्वभूषणमेव प्रवृत्तये भक्तं धैर्यं च सप्त्यामहे परिभावाच्च न नो भविष्यन्ति।—१ १ २६ पु० ७७।
- ४ ४ १ १६८, पु० १६२।
- ५ ४ ४ १८ तथा मस्तबीजवलीवर्षे प्रतिविचारं करोति।—३ १-२६, पु० ७३।
- ६ वही।

करते थे? इस मासिक करना नहसना हाव-भाव दबाना जैसे कार्य इनके थे। स्वामी के घाटीरिफ' गुक के लिए इनकी निवृत्त होती थी और वे घनी परिवारों की शोभा थे। 'छत्रवार' राज्यों या पनियों का छत्र लेकर चलते थे। 'उदहार या 'उदकहार' पानी मरने के लिए निवृत्त होते थे। काबर से बस्तु को डोनेवाला, 'बीबधिक' भारतीय प्रामों के लिए बहुत पुण्या है। काबर ने सहारे यमिक दूना बोज के जा सकता है। कन्या के घर से दहेज की सामग्री भेजने में आज भी बीबधिक से ही काम किया जाता है। 'भक्तकर' भोजन पकाने का काम करते थे। 'बायबीम' पाप के पशुओं को प्राण-काम परने से बाते थे और सामकाल को लौटा जाते थे। 'बायमारिक' बोज डोने का काम करते थे। बंधमार सभ्य घाटी बोज के लिए, जिसका बजन लयमग निश्चित था ब्यबहृत होता था। 'प्रेय्य' एक गाँव से दूसरे गाँव सम्बेश से जाते निमन्त्रण या आमन्त्रण पहुँचाते और एक ही गाँव के भीतर बस्तुएँ, सन्देश के जाने-से जाने और काराधिक काम करने के लिए होते थे। एक प्रेय्य कई स्वामियों का काम करता था। आज भी नाई, मासी बीबर बाकि हम प्रकार के कामों के लिए निवृत्त किये जाते हैं। कई स्वामियों के बीच निवृत्त एक प्रेय्य पारी पारी से उनका काम करता था। कभी-कभी वो स्वामी एक साथ ही निम्न विद्याओं में कार्य के लिए जाने की आज्ञा देते थे। ऐसी स्थिति में यदि वह एक से बिरोध मोल नहीं लेना चाहता था तो वह दोनों के काम को टारु देता था। ऐसा न करने से उन दोनों स्वामियों के भावस में घमड़ जाने का नय होता था या किसी एक के कोप-यात्र बनने की आशंका रहती थी।

अधिकों के नाम—ऊपर कहा जा चुका है कि अधिकों का उनके वेतन के आधार पर बर्गीकरण किया जाता था। पाँच छह या दस कार्यात्म पातेवासे पंचक सप्तक दसक बचवा पंचक मासिक सप्तक मासिक या दसक मासिक' कहे जाते थे किन्तु इसके अतिरिक्त वे बितने समय के लिए निवृत्त किये जाते थे उसके आधार पर भी उनके नाम पड़ जाते थे। उदाहरणार्थ जिस अध्यापक को बच्चे-बच्चे प्रतिदिन पढ़ाने के लिए निवृत्त किया जाता था उसे मासिक अध्यापक कहते थे। इसी प्रकार जिस कर्मकर को प्रतिदिन कुछ बच्चे काम करने के लिए निवृत्त किया जाता था उसे मासिक कर्मकर कहते थे। कर्मकरों की निवृत्ति मासिक आधार पर होती थी। फुटकर

१ मुस वैद्यके प्रसापको वैद्यकस्य १-३-१ १८, पृ० २५४।

२ १२-७५।

३ १३९०।

४ ४४ १७, पृ० २७५।

५ १३-७९ पृ० ९०।

६ ५२-१४ पृ० ३७१।

७ ५१-५०।

८ ५१-५५ पृ० १२१।

९ १९, पृ० ५०९।

१० मुतो नाभी नहसती नासमधीते। कि तहि? मुहूर्तमत्तावधीव्ये-  
महूर्तती मासः १-५ ७ ३३९।

कर्मकर वैदिक पारिव्रजिक पर सुला काम भी करते थे। कर्मकर का मास पचांग मास से निम्न भी हो सकता था। जिस तिथि से उसे नियुक्त किया जाता था उससे लेकर अगले मास की उसी तिथि तक का मास उसके वेतन के लिए गिना जाता था जो संबन्धर मास से निम्न होता था। यह मास मृतकमास कहलाता था।<sup>१</sup> मास के अतिरिक्त वो तीन या अधिक दिनों के लिए, वर्ष भर या दो तीन या अधिक वर्षों के लिए या संबन्धर (मृतक वर्ष से निम्न) या अधिक संबन्धरों के लिए करार द्वारा नीकर रहे जाते थे।<sup>२</sup> ऋषि के कर्मकरों पर यह बात विशेष रूप से लागू होती थी। किसान का वर्ष वर्षों से प्रारम्भ होता है इसलिए वार्षिक कर्मकर आषाढ से अश्विना तक काम करता था। सांस्कारिक ऋतु से फास्म्युन तक के लिए नियुक्त किया जाता था। समीन वर्ष के किसी महीने से नियुक्त किया जाता था और नियुक्ति के मास तथा तिथि के बाद वर्ष-भर काम करता था। जिसने समय के लिए ये लोग नियुक्त किये जाते थे उसी के आधार पर इनके वेद किये जाते थे। उदाहरणार्थ—समीन द्विसमीन या द्वैसमिक। द्विरात्रीय या द्वैरात्रिक इयहीन या द्वैरात्रिक द्विसंबन्धरीय या द्विसंबन्धरिक द्विबर्षीय द्विवर्ष या द्विवापिक आदि। इस प्रकार, वेतन और नियुक्ति की अवधि के आधार पर कर्मकरों का वर्गीकरण भाष्य में पाया जाता है।

मृति पर काम करनेवालों के अतिरिक्त कुछ और लोग थे जो अपने पारिवारिक वर्ष में न तो शिल्पियों में परिगृहीत होते हैं और न श्रमिकों की श्रेणी में जाते हैं। इनमें दन्त-छेदक (दाँतों को रंगनेवाले) गन्ध-छेदक (शास्त्र रंगनेवाले) मन्त्र-शोधक आदि का संश्लेष अष्टाध्यायी में और नामोत्सेस काविका में मिलता है।<sup>३</sup> इस प्रकार के अन्य श्रमिकार्थी भी रहे होंगे यह सुनिश्चित है। सेतिहर मन्त्रद्वारों का उत्सेस ऋषि के प्रकरण में हो चुका है।

शीतक-उत्पन्न—कर्मकर यद्यपि काम के लिए ही मृति या वेतन पाते थे तथापि वे सदा ईमानदारी से काम करते हों ऐसी बात नहीं थी। कुछ कर्मकर कम में ध्यान नहीं देते थे और बेसते रहते थे कि कहीं स्वामी तो नहीं आ रहा है। उनका ध्यान दूर से स्वामी के अछाट की ओर रहता था और उसे देखते ही वे दिवाने के लिए काम में व्यस्त होने का अभिनय करने लगते थे। इस प्रकार, के कर्मकरों को 'छात्ताटिक' कहते थे। उसी प्रकार कुछ लोग बहुत धीरे-धीरे काम करते थे और एक दिन का काम दो दिन में समाप्त कर पाते थे। ऐसे श्रमिकों को 'शीतक' कहा भी गई थी। साधारण से अधिक फुटी से काम करनेवाले बहुत श्रमिकों को 'उत्पन्न' कहते थे जो शीघ्र करने योग्य कामों को शीघ्र ही कर डालते थे।

१ संबन्धरपर्वणीति वस्तुष्यं स्यात्, मृतकमासे माभूत् ।—४४-२१, पृ० १७३।

२ ५१-८५, ८६, ८७, ८८।

३ ६३-७३।

४ ३-२-२२।

५ ४-४ ६६ काशिका।

६ य आगु कर्तव्यान्श्रमिकेण करोति स उत्पन्ने शीतक इति। य पुनरागु कर्तव्यान्श्रमिकेण करोति स उत्पन्ने उत्पन्न इति।—५ २-७२, पृ० ३९७।

७ वही।

राजकर्मी मनुष्यों का भाष्यकार ने एकाधिक बार स्वतन्त्र उल्लेख किया है। इन मौक़ों में परस्पर ईर्ष्या रखती भी और वे केवल दिखावे के लिए काम करते थे। एक काम कर लिया तो दूसरा करने में आनाकानी करते थे। यदि उनसे किसी ने कहा कि जो वह कट तो बनाओ, तो पुरख उत्तर मिलेगा—'अब मैं कट नहीं बनाऊँगा। मैंने अभी बड़ा सा दिया है। उन्हें तो काम का बहाना चाहिए।' एक स्थान पर राजकर्म करनेवाले तथा के विषय में कहा है कि राजा का काम करके फिर वह अपना काम नहीं कर सकता। उसे सारा समय वहीं मगाना पड़ता है। राजपुरुष कहने का आशय ही यह है कि वह पुरुष राजा को छोड़कर और किसी का नहीं है। अन्य स्वामियों की निवृत्ति उसके नाम से ही हो जाती है।<sup>१</sup>

अधिक नियमित परिश्रम द्वारा जीविकार्जन करते थे किन्तु ऐसे लोगों की संख्या कम न थी किन्तु परिश्रम स्वीकार्य न था। वे शोच या तो माँसकर खा लेते थे या चुरा लेते थे। माँसनेवालों की संख्या अधिक जान पड़ती है। मांजन तैयार हुआ कि वे खा गये। फिर भी भोजन तो बढ़ाना ही पड़ता है। मिछुकों के कारण बटखोई बढ़ाना तो बन्द नहीं किया जा सकता। यह बात तत्कालीन याचकाधिनय की ओर संकेत करती है। फिर, पेट भर जाने पर भी इन मिछुकों को संतोष नहीं होता। दूसरे बर पर्याप्त मिल गया तो भी वे पहला बर नहीं छोड़ सकते। संभव<sup>२</sup> में अन्य बातें हैं।

जो लोग बिना परिश्रम किये सेंब मगाने का काम करता निकाल के जाते थे, वे भी जात। वे लोग सुख-के-सुख खाते रहते थे। इनके रहने का न तो निश्चित स्थान था और न जीविका के लिए निश्चित वृत्ति। अबसर पाकर वे लोग चोरी करते थे। घातों की अनेक बातियाँ थीं—बीसे कपोतपाक<sup>३</sup> या कपोतपाक कौश्यायन आदि। इनके अपने संघ थे। वे शोच प्रारम्भ में वायुम बीबी के और बीरे-बीरे इस रूप को प्राप्त हो गये। सम्भवतः, इनकी स्थिति बड़ी रही होगी जो कुछ समय पूर्व तक कंधड़ों बगारों पाशियों आदि की रही है। घात-कर्म से जीविकार्जन को घातीय कहते थे।

१ १४-५० पृ० १७४।

२ पुरुषोत्तम परकर्मणि प्रवर्तमानं स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तथा राजकर्मणि प्रवर्तमाना स्वं कर्म जहाति।—२११ पृ० २३९।

३ २-२-१ पृ० २४०।

४ ११३९ पृ० २५३।

५ २११ पृ० २४१।

६ ५३-११३।

७. घातेन जीवति घातेन जीवतिपुष्यते किमिदं वदति नाम ? मत्तावतीना अतिव्यत वृत्तयः घातेपजीवितं सङ्गः घातः। तेषां कर्म घातम्। घातकर्मना जीवतीति घातित।—५-२-२१, पृ० ३७२।

खण्ड ५  
राजनीतिक स्थिति



राजसम्वत् शसन

राजाओं की अधिपति—एतदयं बाह्यग (८ १४) में राज्य वैराज्य स्वाराज्य, मीर्य और साम्राज्य व राज्य के अथवा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप बतलाये हैं। इनक घासकों की उपाधिवाँ राजा विराट् स्वराट् भोज और सभ्राट् पी। राजा सामान्य नाम वा और विविष्ट एवर्ष की ओर संबिध न करता हुता तो राजा राज्य इन सबके लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त हो सकता वा। चाहे इन कारण से हो वा इसलिए कि पतंजलि के समय में शेष सब का अस्तित्व समाप्त हो चुका वा भाष्य में केवल राज्य के अधीनकर का ही उल्लेख किया गया है। सभ्राट् और साम्राज्यादि सब भाष्य में नहीं आये हैं। भोज भोजपुरी भोजबुहिता राज्य जहाँतक अनुमान है, जनपद विषेय के घासक क सम्बन्ध में ही व्यवहृत हुए हैं। वे घासक अथक-द्विषि व भोज्य के अधीनकर नहीं।

राजा के पुत्र—राजा नृपति कहा गया है। यह शब्द ही राजा के मुख्य कर्तव्य और महत्त्व का परिचायक है। भाष्यकार ने उसस सम्बद्ध शब्द का जो वाक्य उद्धृत किया है, वह भी यह स्पष्ट करता है कि राजा शुचि तथा नृपालक होने से ही उस पद का अधिकारी माना जाता वा। 'मही उचका मार्तय वा जिसका उल्लेख भाष्यकार ने अनेक बार किया है। 'नृप शब्द भाष्य में केवल एक बार आया है। 'पुम्बी वा ईश्वर होने के कारण वह पवित्र कहलाता वा। पतिनि के सार्वभौम के दर्शन भाष्य में नहीं होत।' इन और ईश्वर शब्दों को भी भाष्यकार ने राजा का पर्यायवाची माना है।' इनमें ईश्वर शब्द सामान्यतया स्वामी क अर्थ में व्यवहृत होता वा। एवर्ष ईश्वरत्व वा ईश्वरभाव ईश्वरका गुण है। उमका यह ईश्वरत्व उसी स्व या सम्पत्ति पर काम् होता वा जो उसके अधीन थी। पाणिनि द्वारा स्वामी ईश्वर और अधिपति वा एक शब्द उल्लेख जिन्हें भाष्यकार ने पर्याय माना है, इस कथन का परोच है। इसी अर्थ में पतंजलि ने

१ ६ ३-७०, पृ० ३४।

२ त्वं नृणां नृपते जायते शुचि।—अपु० २ १ १—६ १ १७७ पृ० २२०।

३ ८ ३ १५ पृ० ४०८।

४ ५ १ ४५, पृ० ४५२।

५ ५ १ ४१ ४२।

६. तत्रात्तजामनुष्यपूर्वा पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति। कि प्रयोजनम्? राजाधर्मकम् इनसमम् ईश्वरसमम्। तस्यैव न भवति—राजसमा। तद्विषयवचनो न न भवति—दुष्यन्तिर उमा। अत्रगुणतया।—१ १ ६८, पृ० ४३४।



ब्रह्मरक्ष को पंचाल का ईस्वर या अग्नि (पति) कहा है और पंचाल की देववत्त में आप्त (अग्नि)। अर्धशब्द भी इसी कोटि का है और इन सबका प्रयोग यदि राजा अर्थ में मिलता है, तो औपचारिक रीति से। पाणिनि-सूत्र १.४.४७ तथा २.३.९ तथा उनसे सम्बद्ध भाष्य में ईस्वर राजा का पर्याय नहीं है। ईस्वर शब्द भाष्य में वेद के लिए भी आया है। वह भी औपचारिक अर्थ में ही है।

राजन्वान देश—राजाओं को उनके गुणों के अनुसार पूजित या शेष का विषय माना जाता था। सुराजा और निराज शब्द क्रमशः उक्त अर्थों में प्रयुक्त होते थे। अतिराजा शब्द भी राजा की महत्ता का चोकर था। जिस देश में शान्ति एवं सुख्यवस्था होती थी वही तथा राजा सम्पन्न होता था उस देश को राजन्वान कहते थे।

राजस्य—राजा सामान्यतया क्षत्रिय होते थे इसीलिए राजा के अपत्य के लिए प्रयुक्त होनेवाला राजस्य शब्द कात्यायन-काष्ठ ने आठे-आठे क्षत्रियवाचक बन गया था। पतंजलि ने राजस्य को आतिवाचक माना है यद्यपि पाणिनि-काष्ठ में यह केवल राजपुत्र का बोधक था। क्षत्रियनिष्ठ राजपुत्र को राजस्य कहते थे। भाष्यकार ने राजस्य शब्द का प्रयोग सर्वत्र क्षत्रिय अर्थ में किया है। वास्तव में क्षत्रिय अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पहले यह शब्द मूर्खानिमित्त क्षत्रियों के अर्थों के लिए ही प्रयुक्त होता था सामान्य क्षत्रिय के लिए नहीं। पंचाल आदि जनपदों के प्रतिष्ठापक और शासक सब क्षत्रिय थे। इसीलिए, जनपदों और उनके निवासी क्षत्रियों तथा उनके राजा के लिए एक ही शब्द काम में आता था। पंचाल जनपद के निवासी क्षत्रिय और उनका राजा दोनों पंचाल कहलाते थे।

राज-परिवार—महामाय में राजा के पारिवारिक सदस्यों तथा उनकी पद-प्रतिष्ठा के विषय में भी संकेत है। राजाओं का समूह राजक राजस्यों का राजस्यक तथा राजपुत्रों का राजपुत्र कहलाता था। पाच, दस तथा अनेक राजाओं के समूह को व्यक्त करने के लिए 'पंचराजम्,

१ यस्य अर्धशब्दमीश्वरतेश्वरमावस्तस्मत् कर्मप्रवचनीयमुक्तात् अग्निब्रह्मरक्षे पञ्चालः आप्तस्तास्ते तस्मिन् न बन्ति अग्निब्रह्मरक्षः पञ्चालेषु। आप्तः स्तेषु सञ्चति—१-३-९  
पु० ४-१-२।

२ १-१-४७ पु० २८७।

३ २-१-१ पु० २५६।

४ ८-२-१४।

५ राजां पत्ये आतिपहर्षं कर्तव्यम् राजस्यो नाम आतिः। न च माभूत् राजस्य इति।—  
४-१-१३७ पु० १४४।

६ ८-२-८३ पु० ३८८।

७ ६-२-३४ काश्रि०।

८ ४-१-१६८, पु० १६३।

९ ४-२-३७ पु० १७८।

वधराजम्' आदि शब्द माप्य में आये हैं।<sup>१</sup> पाटलिपुत्र मगध मंत्र कन्दीर आदि के राजाओं का पतञ्जलि ने विशेषतः उल्लेख किया है।<sup>१</sup> राजमहिषी अपनी घाम तथा सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध होती थी। इसीलिए, माप्यकार ने कहा है कि दूर पर अभ्यन्त मनुष्याकार सौन्दर्य देखकर लोग अनुमान करते हैं कि यह महिषी का या बाह्यणी का रूप है।<sup>१</sup> राजा की महिषी से निम्न पत्नियों राजदाग कहलाती थीं। इन्हें राजप्रासाद से बाहर जाने का अधिकार प्राप्त नहीं होता था इसलिए वे अधूर्वम्परा होती थीं।<sup>१</sup> राजशरा के लिए राजश्री शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।<sup>१</sup> राजन या राजन्य के अतिरिक्त राजपुत्री का भी विशेष स्थान था।<sup>१</sup> उत्तरकासीन सस्कृत-साहित्य में राजपुत्रियों के पाठन-दीपन एवं शिक्षण-संस्कार के विषय में बतक उल्लेख मिलते हैं। कथा सरित्सागर एवं राजतरंगिणी में राजकन्यका के महत्त्वपूर्ण स्थान का वर्णन है। राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजकुमार होता था। इसकी वयस्कता-कनक-भारण काश से मानी जाती थी। बतक राजकुमार कनकहर कहलाता था। राजकुमारी और राजकुमार राजा की विवाहिता बली की ही सम्मान होते थे।<sup>१</sup> इनमें राजा का प्रथम उत्तराधिकारी राजप्रथेना कहलाता था।

राज-परिचर—पारिवारिक सचियों के अतिरिक्त राजा के प्रासाद में तथा बाहर कर्मचारियों की बड़ी संख्या रहती थी। ये राजपुरुष कहलाते थे और इन्हें राजा की ओर से विशेष सम्मान प्राप्त रहता था। महोदक कि राजपुरुष-पुत्र तक इस सम्मान के भागी होते थे। माप्य में तो राजपुरुष-पुत्रों के भी कर्मचारियों का सादर उल्लेख मिलता है। राजा मानकों में श्रेष्ठ वा मीथिष्ठ था। इसलिए, किसी बर्ग या वस्तु की श्रेष्ठता व्यक्त करने के लिए उसने पूर्व राज शब्द का प्रयोग विशेषतः रूप में किया जाता था। राजास्य औषी जाति के राजा के अर्थों के लिए प्रयुक्त होता था। महोदक कि राजमाय, राजदत्त (भगला बड़ा दाँत) आदि शब्दों में राज शब्द केवल श्रेष्ठता के बोधन के लिए जोड़ा जाता था।

राजपुत्र्या में द्वारपाल सचदार और चामरप्राह प्रमुख थे।<sup>१</sup> चामर या सदेसहर का स्थान भी अबस्य ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा। अभ्यर्थों में वह शीघ्र जानेवाला होता था।<sup>१</sup> ये कर्मचारी नियुक्त श्रेणी थे थे। चमर चमरो जाति की मूली के बालों से बनाया जाता था। माप्य में केन्द्रा के लिए चमरी के मारे जाने का उल्लेख है। राजा के व्यक्तिगत सचकों में परिवारक

- १ २-२-११ पृ० १४६ तथा २ १ २, पृ० २६३।
- २ ४ १ १, पृ० ११।
- ३ १-२ ६, पृ० ६०४।
- ४ अधूर्वम्पराणि मुञ्जानि।—३-२-८०, पृ० २२९।
- ५ १ १-७२, पृ० ४५७।
- ६ १ ३७०, पृ० ३५७।
- ७ ३-२ १०।
- ८ ४-१ १ पृ० १२।
- ९ ३-२-१ पृ० २०१।

१० पाषण्ड्यवार्ता धीमतम।—२-२-१० काशिम०।

परिषद स्नापक उत्साहक और उद्बर्तक ये नाम याज्ञवल्क्य में मिलते हैं।<sup>१</sup> इसी प्रकार महिष्यादिगण में प्रलेपिका विधेयिका अनुस्येपिका मणिपात्री अनुचारक और मृत्यों का परिवहन है।<sup>२</sup> बन्तपुर में स्त्रियाँ ही परिवारिकाएँ रहती थीं। रैवत्यादिगण (४ १ १४९) में अरवपात्री मणिपात्री द्वारपात्री और बन्धुग्राह नाम आये हैं। राजा के अन्य सामान्य कर्मचारी राजकर्मी कहलाते थे जिनमें लखा से लेकर कुम्भान और कटकार तक सम्मिलित थे। इन लोगों को सम्मान विधेय के प्रबन्ध के लिए राजतला और राजनापित्त आदि कहा जाता था।<sup>३</sup> विधेयिका के कार्य और उसे प्राप्त होनेवाले वेतन को वैधेयिक कहते थे। राजा की स्नान-सामग्री तथा स्नान-व्यवस्था की देखरेख के लिए भी एक निरीक्षक अधिकारी होता था जो सौस्नायिक कहलाता था। इसी प्रकार शय्यागृह का निरीक्षक अधिकारी सौखरायिक होता था। राज में राजा की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी अधिकारी को सौखरायिक कहते थे। राजा के पशुओं की रखा करने के लिए गोवस्त्रक वस्त्रवस्त्रक आदि अधिकारी रहते थे। उनकी संख्यादि की सिखा-पड़ी और गणना के लिए नियुक्त कर्मचारी गोसंख्य अस्त्रसंख्य और पशुसंख्य आदि कहलाते थे।<sup>४</sup>

राज्याभियेक—राजा अभियेकपूर्वक सिंहासनासक्त किया जाता था। इस अवसर पर उसे राजसूय यज्ञ करना पड़ता था। इस यज्ञ के पश्चात् ही राजा के रूप में उसका प्राहुर्मान होता था इसीलिए इस यज्ञ का नाम राजसूय था।<sup>५</sup> सतपथ ब्राह्मण (५ १ १ १२) में भी इसका उल्लेख है। राजसूय सामान्य राजा का यज्ञ था। सम्राट् को राज्याभियेक के समय बाजपेय यज्ञ करना पड़ता था। भाष्य में राजसूय बाजपेय और अश्वमेध का नाम आया है वद्यपि पुनरभियेक और ऐत्र महाभियेक की चर्चा उसमें नहीं है।

रत्नगण—राजा के रत्नियों में सेनानी का स्थान प्रथम था। न केवल सेनानी अपितु, सेनानिकुल प्रतिष्ठा का पान था। सेनानिपुत्र<sup>६</sup> सेनानीकुमारी सेनानीकुमारी-पुत्र सब विशेष सम्मान के अधिकारी माने जाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि राजा के समान सेनानी का पद भी यथासम्भव पौरुष होता था। पुरोहित के विषय में विशेष जानकारी भाष्य में नहीं मिलती।<sup>७</sup>

१ केस्येयु जनरी हन्ति।—२-३-३६, पृ० ४३१।

२ ४४४८।

३ १४४९, पृ० १७४ तथा २ १ १ पृ० २३९।

४ ४-४ १ पृ० २७३।

५ ३-२-५२, पृ० २७०।

६ राजा सोतस्य राजा वा इह सृप्यते इति राजसूय कर्तुः।—३-१ ४४ काशिका।

७ १ १ ६० पृ० ३९२।

८ १ १ ३९६।

९ ३ १-७७।

१० १ २ ४८, पृ० ५४४, ४५।

११ ५ १ १२८।

मूत मूनपुत्री मूतबुहिता<sup>१</sup> मूतपुत्र ग्रामणी ग्रामपिपुत्र ग्रामणिबुल<sup>२</sup> भात्रि का उल्लेख माप्य में अनेक बार हुआ है। ग्रामणी सामान्यतया वैश्य होता था।<sup>३</sup> यद्यपि मुख्य ग्रामरक्षक क रूप में उसका सीनिक होना भी सम्भावित है। वह गाँव के मुक्तिया के रूप में ग्राम तथा राजा के बीच की कड़ी था। माप्य में सेनानी और ग्रामणी तथा मूत और ग्रामणी का बार-बार साथ उल्लेख आने से सहज अनुमान होता है कि ये तीन पद राज्य में बहुत अधिक महत्व के तथा परस्पर निकट रूप से सम्बन्ध थे। रत्नी शोय राजहस्ता कहलाते थे क्योंकि अभिषेक-काल में इन सबकी स्वीकृति से ही राजा सिंहासन पर बैठता था।<sup>४</sup>

मन्त्रिपरिषद्—राजा की सलाहकार-परिषद् में अमात्य रहते थे। महामात्र परिषद् का प्रमुख होता था। वह प्रभाग मंत्री के नाते सब मंत्रियों के ऊपर था। महामात्र म सुमन्त्र और संख्य महामात्र कहे गये हैं यद्यपि वे मूत थे।<sup>५</sup> राजा अमात्यों से परामर्श अवश्य करता था किन्तु निर्णय करन में स्वतन्त्र था। बिरोध परिस्थितियों में राजा परिषद् के स्थान पर केवल महामात्र से परामर्श करता था। ऐसे परामर्श अत्यन्त गुप्त होते थे और अपेक्षित<sup>६</sup> कहलाते थे। अमात्य राजा के अधीन काम करते थे। वे राजा की उपस्थिति में परलम्ब होते थे किन्तु किसी बिषय में राजा द्वारा निर्णय के क्रिये आने पर उसे कार्यन्वित करने में स्वतन्त्र रहते थे। इसीलिए, माप्यकार ने अमात्यों को राजा के समकाम में परलम्ब और अप्यनाप में स्वतन्त्र कहा है।<sup>७</sup> राजा के बीच अमात्यों की स्थिति राजा के बाव सबसे ऊँचा थी। यह केवल राजा की ही अपेक्षा अधिकार में स्थूल थी।<sup>८</sup> अमात्य का अर्थ है समीपस्थ। यह शब्द यवार्थ था।<sup>९</sup> प्रधान मंत्री या महामात्र प्रायः ब्राह्मण होता था। माप्यकार का राजब्राह्मण संभवतः प्रधान मंत्री ही है। राजब्राह्मण के साथ माप्यकार ने राजब्राह्मणी का भी उल्लेख किया है। राजब्राह्मण के कारण इसे भी बिरोध सम्मान होता था। भार्यब्राह्मण और राजब्राह्मण पर्याय जात पड़ते हैं।<sup>१०</sup> सम्भवतः जिस समय पुराहित और मन्त्र क पद संयुक्त थे उस युग में राजब्राह्मण और भार्यब्राह्मण दोनों शब्द एक ही व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होते थे। बाद में जब दोनों पद अलग-अलग हो गये तब राजब्राह्मण शब्द बचक पुराहित

१ ७-१-५६ पृ० ४४ तथा ६ १-७१ पृ० १०३।

२ वही।

३ बं० इण्डेक्स १ २४७ तथा २ ३३४, शास० शा० ५ ३-१ ९।

४ ७-१-५६, पृ० ५४।

५ महामात्र १५ १६-४।

६ ३-२ १५।

७ ५ ४-७।

८ अमात्यादीनां राजा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यस्राये स्वतन्त्रम्—७-१-२३

पृ० १५८।

९ परस्मिन्स्युक्तानामेति यवामात्य स्थिते मृषे।—५ ३-५५, पृ० २३

१० ४ २-१०४ पृ० २०४।

११ ४ १ १, पृ० १९।

के लिए रुठ हो गया और राजशाहानी का स्वाग भक्त-पुर में पुरोहित के समान सम्मान बना रहा। राजकुमार और राजकुमारी के साथ ही राजशाहान और राजशाहानी का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि राजशाहान का पद मंत्री के समकक्ष था। राजसस भी मंत्री के समकक्ष था। यह राजा का नर्मसचिव तथा व्यक्तिगत सलाहकार होता था। परवर्ती संस्कृत नाटकों का विषुपक राजसस ही है।<sup>१</sup>

मंत्रियों का समूह विचार-विमर्श-वास में परिपद् कहलाता था। परिपद्-मुक्त राजा को परिपद्भक्त कहते थे। परिपद् में किये गये निर्णय परिपदीर्ण कहलाते थे।<sup>२</sup> भाष्य में विहित होता है कि राजकीय परिपद् के अतिरिक्त नाभिक परिपदों भी होती थीं जिनमें स्वीकृत मत या सिद्धान्त मान्य समझे जाते थे। कुछ सिद्धान्त किसी विशेष परिपद् द्वारा स्वीकृत होते थे और उसके विशेष क्षेत्र में ही प्रमाण माने जाते थे। कुछ सिद्धान्त सर्वमान्य होते थे जिन्हें सब परिपद् स्वीकार करती थी। उदाहरणार्थ-याज्ञिकीय व्याकरण सर्ववेद-पारिपद् सास्य था। सामाजिक परिपदों भी इस युग में थीं। सम्भव है, इनका स्वरूप जातिविशेष की पंचायतों-सीसा हो। परिपद्-सम्बन्धी विषयों या बातों को पारिपद् कहते थे। परिपदों में भाग लेनेवाले पारिपद्य कहलाते थे।<sup>३</sup>

सभा—प्रत्येक राज्य में एक सामान्य सभा होती थी जो राजसभा कहलाती थी।<sup>४</sup> चन्द्रमुक्त मौर्य और पुष्यमित्र की भी अपनी राजसभा थी। इसे इनसम और ईस्वरसम भी कहते थे।<sup>५</sup> सभा शब्द जो अर्थों में प्रचलित था—व्यक्तियों का संघात या समूह और गृह या शाखा। ग्रामसभा जो ग्राम या नगर की सामान्य सम्पत्ति होती थी सूत सेसने तथा अन्य मनोरंजनों के काम आती थी। इसी में ग्रामजी के नेतृत्व में सामान्य हित की बातों पर विचार-विमर्श होता था।<sup>६</sup> राजसभा में राज्य-भर के प्रतिष्ठित जन भाग लेते थे। वे लोग सभासद कहलाते थे। सभासद का पद सम्मान का माना जाता था। सभासद लोग सामान्य प्रजा से उपहार भी प्राप्त करते थे।<sup>७</sup> इन सभाओं में स्त्रियाँ नहीं भाग लेती थीं।<sup>८</sup> सभा में भाग लेने का अधिकारी या उनमें श्रेष्ठ बनता शस्य कहलाते थे।<sup>९</sup> सभा का संज्ञात्मक या नेतृत्व सभासमन्वय कहलाता था। सभासमन्वय से

१ २१-२४, पृ० २८०।

२ ३-३ १०८, पृ० ३१७।

३ ५२-११२।

४ ३३-७२, पृ० ४५८।

५ ४४-४४।

६ ११९८, पृ० ४३५।

७ ४-२-२३ २४।

८ ११९८, पृ० ४३५।

९ सामान्य शब्दः सभायां शीष्येषु।—२-३-६ पृ० ४४८।

१० यां ध्वस्ति, शीष्यस्ति, सभासदृष्यः उपहारस्ति।—२-३-६ पृ० ४४८।

११ कर्ष नाम स्त्री सभायां तावु स्यात्।—४ १ १५, पृ० १४०।

१२ ४-१ ११५।

सम्बद्ध व्यक्ति को सामासमयन कहते थे।' बेर में सम्य के लिए समेय शब्द व्यवहृत हुआ है और संवाक के बीर होने के साथ-साथ उसके समेय होने की भी कामना की गई है।'

दुर्ग—राजा का एक दुर्ग होता था जिसके लिए राज्य के केन्द्रीय स्थान में भूमि का खपन किया जाता था और उसमें दृढ़ दुर्ग का निर्माण होता था।' दुर्ग शब्द ही उसकी अप्रवेयता का सूचक है। माप्य में दुर्ग के विषय में अधिक विवरण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके प्रकार और परिखा आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है। काशिकाकार के अनुसार परिखा दो या तीन पुरुष गहरी होती थी।' दुर्ग बनाने के लिए ऐसी भूमि ढूंढी जाती थी जिसमें परिखा बन सके। इस भूमि को पारिखेयी कहते थे।'

कोप—कोप की वृद्धि के अनेक साधन थे। कुछ वन उपदा और उपहार से प्राप्त होता था। कुछ दण्ड से जाता था और कुछ कर से। पतञ्जलि ने राजाओं को हिरण्यार्थी कहा है जो येन केन प्रकारेण दण्ड की रधि बसूक करना चाहते थे।' कर को शुल्क कहते थे। राजा उन नगरों और ग्रामों से बहुत प्रसन्न रहता था जिनमें सब प्रकार शान्ति रहती थी और अच्छी पैदावार होती थी। इसके लोग कुछ बचाकर भी रख लेते थे। इन्हीं पुरों से राज्यकोप को भी उचित भाय की वाधा रहती थी।' माप्यकार ने जायस्थानों का उल्लेख किया है। जिन स्थानों से राजा को कर हाव वन की प्राप्ति होती थी वे जाय-स्थान कहलाते थे। नगर में बिकने के लिए आनेवासे मार्ग पर शुल्क लिया जाता था। आपण मुस्म (वनसम्पत्ति) जनि तथा नदीतर जाय के छादन थे। नदी-शुल्क को तरपय्य कहते थे।' माप्यकार ने शुल्क के अनुसार उसे बसूक करनेवासे अधि कारियों के नाम दिये हैं। ये अधिकारी शुल्क के आचार पर पंचक सप्तक अष्टक नवक दशक आदि कहे जाते थे।

राजा के कर्त्तव्य—राजा का मुख्य कार्य था—आक्रमण एवं अन्य संकटों से प्रजा की रक्षा।'' अपनी भूमि की रक्षा तो अपने अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थी। इसी कार्य के कारण राजा को महीपास 'नृपति और मूप कहते थे। इसके लिए उसे दुर्ग कोप और सेना की आवश्यकता होती थी।

- १ १-४३, पृ० ४६०।
- २ बीरो समेयो यजमानस्य पुत्रो जायताम्।—४४-१०६।
- ३ ३-२४८, पृ० २१७।
- ४ ३-२-१०१ पृ० २३६।
- ५ ४-१२४, काशिका०।
- ६ ५११७।
- ७ ५१४७, पृ० ३२३।
- ८ १११ पृ० १०३।
- ९ क्षेत्रे भूमिर्ज्ञे हस्तसम्पत्तयानि पुराणि राजांविनयन्ति कोपम्।—५४ ६८, पृ० ४९९।
- १० ११२२, पृ० २०५।
- ११ प्रजामेको रक्षत्युर्भवेत्।—११-२४, पृ० २१६।
- १२ ७-२-२३ पृ० ११७।

मन्त्रपरिवत् समा तथा दुर्ग और कोयादि से सम्बद्ध राजा के ऐश्वर्य को राजवर्षस् कहते थे।<sup>१</sup> प्रतिरक्षा के लिए राजा सेना रखा था। सेना में स्वामी और अस्वामी दोनों प्रकार के योद्धा होते थे। भाष्य में राजा को वृद्धसेन कहा है।<sup>२</sup> राजा की बड़ी संख्या में गज और अस्व पाण्डे थे।<sup>३</sup> सेना की उत्तमता और विद्याकृता उनपर निर्भर करती थी। भाष्यकार ने कहा है कि केवल बाटें करने या 'न न' कह देने से विपत्ति नहीं टल जाती बल्कि राजा लोग हाथी-घोड़े न पाण्डे केवल 'न न ही कह देते।'<sup>४</sup>

अधिकारी—पाणिनि ने आयुक्त मुक्त नियुक्त अधिकारियों विभागाध्यक्षों एवं भाष्यकारिक आदि विशिष्ट उच्चाधिकारियों का उल्लेख किया है।<sup>५</sup> भाष्यकार ने सम्पूर्ण राज्याधिकारियों के दो विभाग किये हैं—ग्रामीण और नागरिक। ये कर्मचारी अधिकृत कहलाते थे और इनकी नियुक्ति राजा के निर्देश से होती थी और वे उसी से निर्दिष्टमान कार्य करते थे।

राज्य के उच्चाधिकारियों में राष्ट्रिय का पद बहुत महत्वपूर्ण था यदि राज्य बड़ा होता तो राजा अपने युवराज या किसी अन्यपुत्र अथवा विद्वस्त जन को राज्य के एक भाग का राष्ट्रिय नियुक्त कर उसके हाथ में वहाँ का सारा आन्तरिक प्रबन्ध सौंप देता था। मौर्य राजाओं, खडगामा एवं पुष्यमित्र समी ने अपने राज्य में राष्ट्रिय नियुक्त किये थे। अशोक स्वयं विविधा में राष्ट्रिय रहा था। इसी प्रदेश में पुष्यमित्र ने भी विविधा में अपने पुत्र अग्निमित्र को राष्ट्रिय पद पर नियुक्त किया था। गिरनारस्व खडगामा के सिंहासेस में भी अश्वगुप्त मौर्य के राष्ट्रिय वैश्य पुष्यगुप्त का उल्लेख है। पाणिनि और पठञ्जलि दोनों राष्ट्रिय पद से परिचित थे।

दूत राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी था। वह अन्य राज्यों से सार्व सम्बन्ध का माध्यम था। दूतों के नाम उस देश के आचार पर रखे जाते थे बित्तके लिए उनकी नियुक्ति की जाती थी। उदाहरणार्थ—मुञ्ज को भेजे गये दूत को औञ्ज कहते थे।<sup>६</sup> दूत का कार्य दूत्य कहलाता था। दूत के द्वारा भवा जानेवाला सन्देश 'वाचिक' कहलाता था। उस सन्देश के अनुसार किया

१ ५४-७८, पृ० ५०४।

२ २४-१९, पृ० ४०१।

३ २-२-६, पृ० ३३९।

४ वही।

५ परेतम्रजोमाहात्म्यं स्यात्त ज्ञातु विद्याजालो हस्त्यस्व विजुमुन्देव राजागो ब्रूयः ।—

२-२-६, पृ० ३३९।

६ २-३-४०, ४४-७०, ६-२ ६६, ६-२-६७।

७ लोकेऽविद्वतोऽसौ प्राप्तेऽविद्वतोऽसौ वय इत्युच्यते यो वय व्यापारं वच्छति । निर्दिष्ट-  
ज्ञानमविद्वत् गम्यते ।—१ ३-११ पृ० ४२।

८ ४ २-९३ पृ० २०२।

९ १ ३-१०, पृ० ४०।

गया काम 'कर्मण' कहा जाता था।' राजा छोटा नगर एवं राज्य के समाचार लाने के लिए गुप्तचर रखते थे। ये छोटा कर्षेजप या सूचक कहलाते थे।'

राज्य में कार्य अनेकवृष्टियों से क्रिये जाते थे। राजा के हित की दृष्टि से क्रिये जानेवाले कार्य राजसभ्यीन सभी के होते थे। सेनानिभोगीन और ग्रामीणभोगीन कार्य सेनानी और ग्रामणी हित की दृष्टि से होते थे। बड़े-बड़े मामलों के अनुसूच कार्य माहाजनिक कहलाते थे। ग्राम समा या पंचायत के हित के कार्यों को पंचजनीन कहते थे। सार्वजनिक हित की बातें सार्वजनिक सर्वजनीन विश्वजनीन सर्वेष या सार्व होती थी।'

१ बाबो व्याहृताध्यायम् तदुक्तान् कर्मणोश्च तदित्यनेन किं प्रतिनिदिश्यते ?  
 बामेव वाचा व्याहृदयते तत्कमना चिन्तते।—५ ४ ३५, ३६ पु० ४९२।

२ ३-२ १३, पु० २११।

३ ५ १ १० पु० ३०२।



## अध्याय २

### संघ-शासन

#### गणसम्प्र

संघों के प्रकार—दूसरे प्रकार के जनपद पतनत्र थे। वे संघ कहलाते थे। भाष्यकार ने संघ शब्द का प्रयोग समुदाय या समूह के अर्थ में किया है।<sup>१</sup> पाणिनि ने पशुओं के समूह को संघ कहा है।<sup>२</sup> मानव-संघ या समूह तीन प्रकार के होते थे—छात्रों के संघ जो वीरों के क्षमण-संघों या मित्र-संघों के समान थे। पठा नहीं इनका अपना कोई विधान था या नहीं। भाष्य ने केवल औद्योगिक कामरथ आदि छात्रसंघों के लिए संघ शब्दों के नाम दिये हैं जिनसे इतना ही पता चलता है कि उनके समय में एक गुण की समस्त सिष्य-प्रशिष्य-मण्डली संघ के रूप में संगठित होती थी।<sup>३</sup> दूसरे प्रकार के संघ सामाजिक थे जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होते थे। वीरों के संघ इसी प्रकार के थे। तीसरे प्रकार के संघ राजनीतिक थे जो शासन-पद्धति की दृष्टि से एक-राज-पद्धति के ठीक उल्टे थे।<sup>४</sup> इस प्रकार के संघों में शासन की ओर एक राजा के हाथ में न रखकर जनपद के मूल निवासी क्षत्रिय जाति के अनेक प्रभावशाली लोगों के हाथ में रखती थी। ये प्रभावशाली जन क्षत्रियबंधीय होते थे और राजन्य कहलाते थे। डॉ० जायसवाल (हि० पा० पृ० २८) के मत से क्षत्रिय संघ राजनीतिक संघों का अनुकरण-मात्र थे। उनकी धारणा है कि पाणिनि ने संघ शब्द का प्रयोग सदा राजनीतिक संघ के अर्थ में ही किया है। इस बात की पुष्टि वैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, पाणिनि-सूत्रों से नहीं होती।

अभिविक्त बंध्य क्षत्रिय—संघ-शासन में सक्रिय एक राजा के हाथ में केंद्रित न होकर समग्र क्षत्रिय जाति में बिभक्त रखी थी। क्षत्रिय राजा के क्षत्रिय अपर्यों को राजन्य कहते थे। राजन्य शब्द भाष्यकार के अनुसार जातिवाचक था। ये राजन्य भोग ही संघ के वास्तविक सासक होते थे।<sup>५</sup> प्रत्येक परिवार का कुलमुकुल संघ-सना का सदस्य होता था। औक्तिक भोग के स्वविराट,

१ मानुषाणां सङ्घः ४ १ १२१ पृ १२३; स्त्रीचालां सङ्घः—४ १-८३, पृ० ९७।

२ प्राण्यपशुसङ्घेष्वतश्चक्षुः स्त्री ।—१-२-७३।

३ औद्योगिकानां सङ्घः औद्योगिक ४ १-७८, पृ० ८१ कामरथानां सङ्घः ४ १ १५१, पृ० १४८।

४ उत्तरेष्वजीविनां सङ्घानामाः ।—५ २-२१, पृ० ३७२।

५ क्षत्रियाद्येकराजादिति वचनार्थं सङ्घप्रतिषेधार्थम् ४ १ १६८—पृ० १६२; संख्यायां संज्ञासङ्घसुवाच्यनेषु ।—५ १-५८

६ राज्ञोऽप्ये जातिप्रहृषं कर्तव्यम् । राजन्यो नामजातिः क्व नाम्नु ? राजन इति ।—४ १ १३७, पृ० १४४।

ध्यायान् युवा ये बर्य इव वात की ओर संकेत करते हैं कि महत्त्वपूर्ण विषयों में परिवार का स्व विरुद्ध सबस्य ही परिवार का प्रतिनिधित्व करता था।<sup>१</sup> इस प्रकार संघ के अनेक शासन होते थे और वे सब राजा कहलाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने जनपद के राजा के लिए एकवचन का और संघ के राजाओं के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है।<sup>२</sup> सम्भवतः, इसीलिए पाणिनि ने अन्यक-वृत्तियों-कुलों के राज्यों के बहुवचन वृत्त का ही उल्लेख किया है।<sup>३</sup> इस सूत्र की कायिकाकृत व्याख्या से यह भी पता चलता है कि एक क्षत्रिय जाति में सारे परिवार या उप-जातियाँ राजन्य नहीं होतीं थे। राजन्य केवल अनिषिक्त बंसव कहलाते थे। उदाहरणार्थ अन्यकों और वृत्तियों में स्वात्मक बंसक, पोषक धिति और वामुदेव राजन्य वे किन्तु द्वैप्य और हैमायन राजन्य नहीं थे। इस प्रकार अन्यक-वृत्तियों में राजन्यता कुछ विदिष्ट कुलों तक ही सीमित थी। अन्यक और वृत्ति पुराणों में सात्वत कहे गये हैं। एतरेय (८ १४) में धारवर्तों में इन्हें भोज कहा है। महा भारत (समा० पर्व ३७-५) के अनुसार दशार्ण (वृत्ति) राजहीन थे। कौटिल्य (१ ६ ३) ने इन्हें संघ मामा है। हैमायन को अप्रसन्न करने का कारण ये अवस्था को प्राप्त हुए। इनके ईसा-पूर्व प्रथम शती के मघ के नाम के सिक्के मिले हैं। इनपर राजा का नाम नहीं है। कनिषम के मठ से विना राजा के नामवाले सिक्के मघ के नाम पर हैं। यथा—'भार्जुनायनानाजय (कनिषम क्वाइम्स आफ एम० इण्डिया, पृ० ७० ७७ ७९ प्लेट-संख्या ४ ६ ८)। यौवनों के सिक्के मन्त्रयरां और यम दोनों के नाम पर हैं। वृत्तियों के सिक्के सबसे मिन हैं, जो यम और राजन्य दोनों के नाम पर हैं। अमरकोश (अ० १०) के अनुसार राजाओं की सामान्य समा (कार्तिसल) को राजक और यम (सिनेट) को राजन्य कहते थे। प्राच्य देश में लिच्छिवे-संघ में राज्यों की संख्या बहुत अधिक थी। वहाँ लिच्छिवियों का प्रत्येक कुल-बृद्ध राजन्य माना जाता था और संघ का सदस्य था।

आयुधबीजिसंघ—संघ-साधित जनपदों के शासन-विधान एक-से नहीं थे। इनमें कुछ विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थे और कुछ सुसंगठित। भाष्यकार के विभिन्न उद्धरणों से अनुमान होता है कि अन्यक वृत्ति, शूद्रक मारुव यौमेय पञ्चाक और विवेह (?) समुदाय संघ थे।<sup>४</sup> अधिकृत संघ आयुधबीजी थे। पाणिनि ने स्वामणिकों, वेतनजीवियों, बस्मकों और कर्मविनिधि कों के साथ आयुधीयों या आयुधिकों का उल्लेख किया है। इन आयुधीय या आयुधिक लोगों की जीविका के साधन उनके आयुध थे।<sup>५</sup> पतंजलि ने आयुध तन्त्र की जो व्याख्या की है उसका अनुसार ये आयुधिक माय योद्धा क्षत्रिय जातियों के थे और सैनिक का कार्य करते थे। कौटिल्य ने आयुधबीजियों को सार्वभौमीय कहा है जो राजघण्टोपजीवी के ठीक विपरीत हैं। डॉ० जामसवात

१ ४ १ १६३, १६५ पृ० १५५ से १६१।

२ ४ १ १६८, पृ० १६२।

३ ६-२ ३४।

४ द्वैप्य हैमायनः राजन्य बहुवृत्तानि विस्मयं यानां क्षत्रियानां बहुवचनम्। एते

च अनिषिक्तबंसवः—बहुो कादि०।

५ ४४ ११ से १४ तक।

६ आयुधमते तेनायुधम्।—३ ३-५८, पृ० ३०८।

के मत से जिनके शासन-विभाग में युद्धकला का सर्वोपरि महत्त्व था वे शासनापत्नीकी तथा जिनके विभाग में 'राजा' उपाधि प्राप्त करने का अधिकार सामारण जनता को था वे जनपद राजसभ्यो-पत्नीकी कहे जाते थे। बौद्ध साहित्य में उचित प्रजातन्त्र में निर्वाचित समापति को राजा का पद मिलता था। यों नागरिक भी सामारण तौर पर राजा कहे गये हैं क्योंकि वे ही सर्वोच्च सत्ता का निर्माण करते थे और उनमें प्रत्येक राजा चुनावाने का अधिकारी भी था (हिन्दू पार्लियंटी पृ० १४)। राज उचिद्धस (बुद्ध इच्छिया पृ० १४) के अनुसार गणराज्यों में एक समापति चुनावाना था। यह समा का सब व रक्षणे पर राज्य का समापति होता था। उसे राजा की उपाधि प्राप्त रहती थी। पाणिनि के अनुसार आयुधियों के सब आयुधजीविसंघ कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय तथा अन्य लोग भी थे। क्षत्रियों में भी राजसभ्य तथा सामान्य क्षत्रिय ये दो भेद थे। इससे स्पष्ट होता है कि ये सब राजनीतिक थे और इनका अपना शासन-विभाग था। सत्ता राजसभ्यो के हाथ में थी। इन सभों में खुदवाके ब्राह्मण भी आयुधजीवी थे या नहीं यह पूर्वतया स्पष्ट नहीं है किन्तु अधिक संकेत इस बात के हैं कि वे भी आयुधजीवी थे। वैसे आयुधजीविसंघ से इतना ही स्पष्ट होता है कि इन सभा की शासन-सत्ता आयुधजीवियों के हाथ में थी। ये सभ बाह्यिक प्रवेश में थे और उसके बाहर भी। बाह्यिक में इनका बाहुल्य था।<sup>१</sup> भाष्यकार कौषीबुस सुदृक और मातृव इन आयुधजीवी सभों से परिचित थे। मोपाक्य ब्राह्मण और शासकायन राजसभ्य बाह्यिकस्य आयुधजीवी सभ थे। मरुत और वतस्य संघ बाह्यिक के अन्तर्गत थे किन्तु आयुधजीवी नहीं। काशिकाकार ने सभर और पुच्छिन्ध ये बाह्यिक-बाह्य आयुधजीवी सभ वतसाये हैं। काशिकाकार ने कौषीबुस सुदृक और मातृवों को बाह्यिकस्य कहा है।<sup>२</sup> भाष्य में कौषीबुस और वतस्यों का उल्लेख सम्मान के साथ हुआ है। कौषीबुसीवन्दारिका कौषीबुस्य वन्दारिका वतस्यी वन्दारिका और वातस्य वन्दारिका शब्द इन सभों की स्थितियों के प्रति आदर के परिचायक हैं। केवल एक स्थान पर वतस्य स्त्री की शिवा की गई है और उसके कारण उसकी सन्तान को भी निहित कहा है किन्तु उसमें वतस्य का महत्त्व नहीं है। वह 'व' प्रत्यय के शिवा की सार्थकता के प्रमाण के लिए उदाहरण बताया गया है। फिर भी कौषीबुसों और वतस्यों का उल्लेख उनकी स्थितियों के सम्बन्ध में ही सर्वत्र हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है। क्या आजकल की वस्तुस्थिति स्थितियों के समान थे स्थितियाँ भी दूर-दूर तक आठों-आठों थीं और इसीलिए दूर प्रान्तों के लोग भी उनसे परिचित थे? ऐसा ही ठीक मोत स्त्री के वृत्तित होने के कारण उसकी सन्तान का 'वातस्य वानस' कहा जाना और अधिक सार्थक हो जाता है। जो ही वतस्यों से लोग सुपरिचित थे। वतस्य आभिरथ थे और उनसे निघ्न भी। आभिरथों के अत्यन्त वातस्य कहलाते थे और अन्य लोग वातस्य।<sup>३</sup> भाष्यकार ने उनके आभिरथ लोग का ओर बेकर उल्लेख किया है।

१ आयुधजीवी सभ्याज्ज्यस्य बाह्यिकेणब्राह्मणराजसभ्यात्—५ ३ ११४।

२ वही काशिका।

३ १ ३ ३४ पृ० ३१५।

४ गोवत्स्थितः कुत्सेन नव वतस्यो वानस—४ १ १४७, पृ० १४५।

५ ४ १ १०८, पृ० १३४।

बृह साम्यादि (शामनी औषधि आरुष्यती काठुलि काकदलि चामुत्तपि सारं सेनि बिन्दु मल-त्रायन उरुम और सावित्रीपुत्र) त्रिगर्तपट्ट (कौण्डोपरय दण्डकि कौटकि आसमानि बहुमुप्लीय आमकिया जालकि) पर्व्यादि (पशु असुर रसत् बालीक बप्य मस्य द्यार्हं पिनाब विद्यास जयनि कार्पाषथ सत्सत् और बसु) तथा यौधेयाणि (भीषय कौटोय औसय शौक्य शौभ्य शाल्य शाल्य जाबाल्य विवर्त भरत और उशीमर) ये वाहीक प्रयोग से बाहर के आयुर्वेदीय मन्त्र थे। यह श्री मतोरंजक बाह है कि वाहीक-संघों के समान पर्व्याणि और यौधेयादि संघों की स्थियों के भी संवत्सरात्मक नामों के लिए पृथक नियम थे। उदाहरणार्थ—शबिय बर्तों तथा उनके जनपदों में स्व-स्वामिमात्र सम्बन्ध की चरमोत्कृष्टता बनाने के लिए उनका रूप एक ही होता था। अङ्ग या पर्वत यह बहुवचनान्त प्रयोग भोग या पशु शत्रियों और जनपदों के लिए समान होता था किन्तु स्थियाँ अङ्ग या पार्ष्ण्य कहलाती थीं। पुग बल तथा समस्त आयुर्वेदीय-संघों में स्त्री-मुष्णों के बीच यह अन्तर किया जाता था। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि जनपदों का स्वतन्त्र अस्तित्व उनके योद्धा पुरषों के कारण माना जाता था स्थियों के कारण नहीं। पशु रसस और असुर जनपदों की पशु रसा और असुरी स्थियों का उल्लेख आप्यकार ने किया है एवं यौधेयादि संघों की स्थियों का सामान्यतः नाम-ग्रहण किया है।

बृह या शार्य्य तथा यौधेयादि गणों में विगर्तपट्ट भरत और उशीमर से आप्यकार शनी भाँति परिचित थे। उरुदृष्ट और उद्वत यौधय भव के विषय में कोई जानकारी भाष्य से नहीं प्राप्त होती। पाणिनि ने पर्वताभिजनीय आयुर्वेदीयों के लिए क्षीप प्रत्यय का विधान किया है। काणिकाकार ने हृद्योल् धन्वकवर्त और रोहितगिरि पर्वत को आयुर्वेदीयों का अभिन्न बतलाया है। उन्होंने संकाष्य को इनका निवास कहा है। इससे पता चलता है कि आयुर्वेदीय शबिय पहले इन पर्वतों के ही निवासी थे। वहाँ से वे धीरे-धीरे उत्तर और मध्य देश में फैल गये। डॉ० या० ग० अक्षयल के मत से (पा० पू० ४३५) आयुर्वेदीयों का प्रदेश कम्पीर के अफगानिस्तान (रोहितगिरि) तक फैला हुआ था। हिन्दोल जलालाबाद बिन्दे का वर्तमान हिंदू और धन्वकवर्त अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वी त्रिकोण अन्दरूई है। आयुर्वेदीय संघ उत्तर भारत में सिन्धु के पश्चिम हिन्दुकुश के दोनों ओर, सीमान्त-देश एवं अफगानिस्तान के एक भू-भाग में थे। इनमें इतिम्नान की जातियाँ भी शामिल थीं। आप्यकार भारत संघों

- १ ५३११५ से ११७।
- २ ५३११९ तथा २-४ ६१।
- ३ ४११७७, पृ० १६५।
- ४ ४११६१ पृ० १५४।
- ५ ८१-५, पृ० २७०।
- ६ २-४-६६ पृ० ५०४।
- ७ २-४-११, पृ० ४००।
- ८ ४३११ काणिका।

से सुपरिचित थे। उन्होंने इनका उल्लेख तो किया ही है। शारदिका परब बुन्दारिका या शारद बुन्दारिका की भी वर्णना की है।<sup>१</sup>

वास्तीन—इनके अतिरिक्त माप्यकार ने ब्राह्मणों का वर्णन किया है। ये संघ सम्भवतः राजनीतिक न होकर जीविकामुसक के बिनमें अनेक जातियों के लोग सम्मिलित रहते थे। इनकी कोई निश्चित जीविका न थी। ये लोग उत्सेव द्वारा निर्वाह करते थे। इनके कारण इनके जीविका-कर्म का नाम भी घाट पर बया या और जो लोग घाट-कर्म द्वारा जीविकार्जन करते थे वे भारतीय कहे जाते थे। पाणिनि ने भी घाट-कर्म को जीविका का साधन बताया है।<sup>२</sup> काशिकाकार ने उत्सेव शब्द का अर्थ शरीर माना है और उत्सेवजीवी का अर्थ शरीरमांस से जीनेवाला। उन्होंने घाट-संघ के सदस्यों की ही वास्तीन कहा मानी है। सब से बाहर के उत्सेवजीवी भारतीय नहीं कहलाते थे।<sup>३</sup> काशिकाकार ने ऐसे संघों में कुपोषपाक ब्रीहिम्सु कौजायन और शान्नायन का नामो-स्तेख भी किया है। शाल्य वैदिकशास्त्री संघ हैं। शतपथ ब्रा० (४१५) में गाँव-गाँव घूमने वाले श्रमण मानव का वर्णन है। सम्भवतः वर्तमान कंबड़ तथा अन्य घुमककड़ जातियाँ जो आज भी शारीरिक श्रम और उत्सेव दोनों से निर्वाह करती हैं वास्तीनों के ही अवशेष रूप हैं। इनके नाम प्रायः काशिका में उल्लिखित नामों से मिलते-जुलते हैं। इन जातियों में प्रायः बरायतनेशा हैं। डॉ० बा० स० अग्रवाल वास्तीनों को राजनीतिक संघ मानते हैं। उनके मत से वे एक जाति के लोके जिसकी स्थिति ग्रामजी के समान ही थी और जो लामक के बिहू के रूप में राजतनिक (बामुपन) पहनता था संघठित थीं। ये लोग राजनीतिक विकास की पहली सीढ़ी पर थे।<sup>४</sup> पंचाङ्ग ब्राह्मण (५१८) भी वास्तीनों से परिचित है। वैदिकीय संहिता (२३-१०३) तथा मीमांसीय सं० (२-२-१) के अनुसार ग्राम ब्राह्मणवर्गम्भी कापरिष्ठन या और ग्रामजी सम्भवतः उच्चका निर्वाचित अधिकारी होता था। वह ग्रामवासी भी था।

पूग—पाणिनि ने पूगों का उल्लेख किया है। काशिका के अनुसार ये मिश्र-मिश्र जातियों के संघ थे। ये लोग भी वास्तीनों के समान अनियतवृत्ति लोग थे और इन्ध-प्राप्ति के लिए सघठित थे। अर्थकाम प्रधान होने से अनुमान होता है कि ये लोग उत्सेव का आश्रय न लेकर व्यापारिक को जीविका का साधन बनाते थे। ये वास्तीनों की अपेक्षा अधिक सम्य एवं संस्कृत थे। ग्रामजी इनका नेता होता था जो सामान्यतया वैश्य होता था। काशिका ने पूगों को गण कहा है और उन वर्णों के नाम गिनाये हैं। उनके ये संघटन राजनीतिक मालूम होते हैं। सम्भवतः पूग राजनीतिक एवं व्यापारिक दोनों प्रकार के संघटन थे। राजनीतिकों का ग्रामजी योद्धा और व्यापारिकों का

१ ४-११२० पृ० १४१ तथा ६३३४ पृ० ३२०।

२ वास्तीन जीवतीत्युच्यते कि ब्राह्मण नाम। नामाजस्तीया अनियतवृत्तय उत्सेवजीविनः सङ्घा वाताः। तेषां कर्म वास्तं। वास्तकर्मणा जीवतीति वास्तीनः।—५ २-२१ पृ ३७२।

३ तेषामेव वास्तानामग्यतम उच्यते। यस्तन्व्यस्तवीयेन जीवति तत्र नेच्यते।—वही काशिका

४ ५३-११३।

५ इच्छिया एव लोभ इ पाणिनि पृ० ४४०।

बैस्य हुआ था। पूर्वी में कुमायूँ के अपने असय संगठन थे। राजस्थान के कुमायूँप्रदेश के समान पूर्वी की कुमायूँ-संस्थाओं का अपने गणों के भीतर स्वतन्त्र अस्तित्व एवं महत्त्व था। काशिका में कुमायूँशासक, कुमायूँलोहपत्र, कुमायूँरमाहक और कुमायूँबीमूत नामक कुमायूँगणों का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> कुछ संघों के नाम ग्रामणी के नाम पर होते थे और कुछ के स्वतन्त्र। ग्रामणी यदि देवदत्त या यमदत्त हुआ तो संघ का नाम देवदत्तक या यमदत्तक (बहुवचनान्त) होता था। अन्य संघों के लाहवज्र बलाहक जीमूत सिद्धि शासक आदि कई नाम थे।<sup>२</sup>

भेषि—भेषि सबसे छोटा जनसंख्यात्मक संघटन था। ये धार्मिक निम्न-निम्न शैविक या व्यापारियों के छोटे-छोटे संगठन थे। भाष्यकार ने असंगठित श्रमों को समझि कर उनका अपीकरण का बयान किया है। पाणिनि ने अप्यादि गण में पूष का भी उल्लेख है। पूषहून शब्द का अर्थ है—अपूष श्रमों का पूष बनाना। पूष कई भूमिया का मिश्रण बसाये जाते थे। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि विद्यमान भेषियों के विषय में कुछ करने को धेयीकरण नहीं कहते। अविद्यमान श्रमियों का धेयिकरण में संगठन ही अपीकरण कहलाता है। धर्म व्यापारिक संगठन या राजनीतिक संस्था नहीं। सम्मम है, इनका विद्यमान राजनीतिक विभागों के समान रहा हो। पाणिनि ने गण और संघ के साथ पूर्णों का स्मरण किया है।<sup>३</sup>

श्रमि पूष गण और संघ क्रमशः उत्तरोत्तर विघात संगठन थे जिसकी रचना जनसंख्यात्मक आधार पर थी मले ही जनसंख्यात्मकता का वर्तमान रूप उनमें न मिले किन्तु यदि उनका विकास में बाधा उपस्थित न हुई होती तो बहुत सम्भव था कि आज उनका स्वरूप इसी प्रकार होता। अपनी तत्कालीन सीमा में वे गण और संघ अभिजात श्रमियों के कुछ पर आधुनिक प्रतिनिधित्व से भाग नहीं बढ़ पाए। धर्म और पूष की रचना के सिद्धान्तों की विस्तृत जानकारी उपलब्ध न होने से उनके विषय में कोई निरिक्त मत प्रकट करना स्पष्ट न होया।

संघों के घटक—भाष्यकार ने संघ की परिभाषा करते हुए उक्त समूह और समुदाय का पर्यायवाची माना है<sup>४</sup> तथा ५, १० और २० के संघों का उल्लेख किया है।<sup>५</sup> वे संघ गणों के समूह थे। अनेक जनपद अथवा गणों में विद्यमान थे। इनमें प्रत्येक जनपद का प्रमुख शासक होता था। मले ही यह अन्य जनपदों के साथ एक ही पूर्वज की सम्पत्ति रहा हो। इस प्रकार के अन्तर्गत विभाग साम्य विपत्त यौवेय गालंजयन आदि संघों में विद्यमान थे। आनुवंशीय गण तो अनेक गणों के समुदाय से ही बने थे। इन छोटे-छाटे गणों के संघों की ओर ही पत्रंश्रमि न पंचक संघ आदि से संज्ञित किया है। डॉ० अण्वाक के मत में पत्रंश्रमि के पंचक दशक और विंशक गण संघों की कार्यकारिणी के सदस्यों के बोधक हैं।<sup>६</sup> यह इसी अर्थ में सम्भावित ही सकता है कि महत्त्व

१ ६२२८ काशिका

२ ५३११२ काशिका।

३ ५२५८

४ तद्वत् समूहः समुदाय इत्यनर्थात्तरम्।—५ १-५९, पृ० ३३१।

५ ५ १-५८, पृ० ३२६ तथा ५ १-५९, पृ० ३३०।

६ पाणिनि, पृ० ४३१।

पूर्व विधियों के सम्बन्ध में निर्णय करते समय संघ अपने बटकों से परामर्श करते हों और परामर्श काक में प्रत्येक बटक गन कार्यकारिणी के एक सदस्य के समान माना जाता है।' इस प्रकार वे संघ पाँच बस या बीस गणों के समूह थे। वर्तमान प्रजातंत्र देशों में से कुछ के सविधान में जिनमें दो व्यपस्थापिका समार्य होती हैं प्रत्येक राज्य को एक इकाई मानकर राज्यसभा में उन्हें समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। जिसके संघ भी बीस इकाइयों का एक राजनीतिक संगठन रहा होगा मसे ही वे इकाइयाँ छोटी-छोटी रही हों। विश्व-भिन्न सभिय जातियों के अपने-अपने एक-एक के अन्तर्गत संगठित थे। गन संघ राजनीतिक संस्था थी। गणों की सदस्यता को प्राप्त बन पश्य कहलाते थे। पश्य संभवतः संघों की सामान्य समा के सदस्य होते थे।' गण्य होना मौरव की बात थी। आज भी यह सम्ब सम्मान का शोभक माना जाता है।

धर्म और पुरुष—संघों के बटक या इकाइयाँ कमी-कमी गणों में विभक्त हो जाते थे। किसी इकाई का प्रधान यदि अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली हुआ तो वह स्वयं नेता बन कुछ बटकों की अपना अनुयायी बना लेता था। संघ में यदि उसका कोई प्रतिस्पर्धी निकल आया तो सारा संघ दो या अधिक परलक्षितर दो गणों या पक्षों में बंट जाता था। ये बर्न किसी स्थायी सैदातिक आचार पर नहीं बनते थे अपितु वैयक्तिक प्रभाव पर आश्रित थे। पाणिनि ने पंचत् और दशत् गणों का उल्लेख किया है।' संघों और गणों की संख्याएँ उपलब्ध-मात्र नहीं हैं। माप्यकार और पाणिनि की दृष्टि में ऐसे संघ थे जिनके पाँच बस और बीस बटक थे। इसी प्रकार पाँच और बस के बर्न भी उस समय प्रसिद्ध रहे होंगे। नाप्यकार ने एक ही संघ के अन्तर्गत अकूर और वासुदेव के दो गणों की बर्न की है। इन गणों के सदस्य क्रमशः अकूरबर्न या अकूरवर्गीय और वासुदेव बर्न या वासुदेववर्गीय कहलाते थे। साधिकाकार ने भी (३-१ ११९) वासुदेव और अर्जुन के गृहों (पक्षों) का उल्लेख किया है। इन गणों को वास्तुतिक वर्ष में पाटीं नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके पीछे न तो कोई सैदातिक आचार था और न ही संघ में सदा इनका अस्तित्व ही रहता था।

पूरबी संस्था—संविधान ने पूव गण और संघ की पूरबी संस्था पर विचार किया है, जिससे स्पष्ट है कि इन दोनों संस्थाओं की अपनी समार्य या परिपक्व थीं। यह भी अनुमान होता है कि ये संगठन क्रमशः बृहत्तर थे। इनकी समार्यों में कम-से-कम जितने सदस्यों की उपस्थिति कार्य संचालन के लिए आवश्यक थी वही उनकी पूरबी संस्था मानी जाती थी। ऐसी पूरबी संस्था को क्रमशः पूवतिव गणतिव और संघतिव कहते थे। विद्यादिगज ने भी बर्न पूव और मज का एक साथ ग्रहण है। इससे भी इनकी उत्तरोत्तर विद्यायता के अनुमान की पुष्टि होती है।'

१ लघेभयः शेषयः कृताः शेषीकृताः। यथा हि लघेभय एव किञ्चित् क्रियते तथा मा भूतिः।—२-१-५९, पृ० ३१६।

२ ४-४-८४।

३ ५-१-६०।

४ ४-२-१०४ पृ० २०८।

५ ४-३-५४।

अंक और लक्षण—भाष्यकार ने अंक और लक्षण का उल्लेख किया है। लक्षण लक्षित व्यक्ति का धर्मता निजी चिह्न होता है जो उस बन्धों से पुनर्क करता है। यह लक्षित व्यक्ति या वस्तु में ही रहता है। उदाहरणार्थ, किसी म विद्या की उत्कृष्टता उसकी परम्परागत विशेषता होती है। यह उसका लक्षण माना जायगा। अंक बाहर से आरोपित चिह्न होता है। गायों बौद्धों आदि पर पहचान क लिए बनाये गये चिह्न अंक कहलाते हैं।<sup>१</sup> शासन में प्रत्येक राज्य अपने लक्षण रखता था जिनका उपयोग अन्य राज्यों के साथ व्यवहार में होता था। मुद्राशा पर भी य लक्षण अधिक रहता था। इसीलिए, कौटिल्य ने मुद्रा बनानेवाले अधिकारी को लक्षणधर कहा है। डॉ० जायसवाल के मत से अंक विद्रिष्ट निर्वाचित अधिकारी की निजी मुद्रा था।

### न्याय-व्यवस्था

धर्म और न्याय—भाष्यकार के समय तक धर्मधर्मों की रचना हो चुकी थी और उनके आदेश आप्तवाक्यवत् मान्य थे। ईश्वर के आदेश धर्मशास्त्रों के ही नियमों का स्थान था।<sup>२</sup> धर्म सूत्रकारों ने दो प्रकार के धर्मनियमों का निबन्धन किया था। एक थे वे जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के लक्षण निजी आचार-व्यवहार से था और दूसरे वे थे जो प्रत्येक रूप से समान से सम्बन्ध थे।<sup>३</sup> परम्परा से बनी जाती हुई प्रचारी भी धर्म के अन्तर्गत मानी जाती थी। स्थूल रूप में समान द्वारा स्वीकृत उचित धर्म धर्म्यं थे। उनके अनुकूल आचरण करनेवाला धार्मिक और उसके विरुद्ध व्यवहार करनेवाला अधार्मिक माना जाता था। धर्म के अनुकूल काम धर्म्यं था। न्याय्य और धर्म्य प्रायः समानार्थी थे। न्याय्य द्वारा बहु हो सकता था जो हर काम और दत्त में उचित ठहराया जा सकता है।<sup>४</sup> यदि कभी किसी बात की न्याय्यता के विषय में संशय उठ सड़ा होता तो उसका निर्णय किसी विशेष दक्ष पुरुष द्वारा करा लिया जाता था। इस निर्णय को स्पेय कहते थे।<sup>५</sup> स्पेय का निर्वाचन विवाद से सम्बन्ध रख करते थे।

विवादों की श्रेणियाँ—कुछ विवाद राजकीय स्तर पर भी होते हैं। य दो प्रकार के

१ ४ ३-१२७, पृ० २५४।

२ लक्षणं लक्षणधर्मस्य चिह्नमूलं एवं यथा विद्याविद्यमानम्। अङ्गुस्तु यथाविश्वोपि पयावीनां एवं न अवति।—बहु काण्डि०।

३ सर्वेश्वर आज्ञापयति तानि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति।—५ १ ११९, पृ० ३५२।

४ ४-२-४४।

५ ४४ ४७।

६ ६ २ ६५।

७ यथावति अपर्णाश्चेति धर्मतयम्।—४ ४ ४१ पृ० २७८।

८ ४ ४ १२।

९ ३-१ ३७।

१० विवादपयनिष्ठा लोके स्वयं इत्युच्यते।—१ ३-२३ काण्डि०।



होते हैं—साम्प्रतिक और आपराधिक। सम्प्रति-सम्बन्धी मामले व्यवहार कहलाते थे।<sup>१</sup> इनके पक्षों को परिबादी<sup>२</sup> या परिबादक<sup>३</sup> कहते थे और निर्बन्ता को धर्मपति।<sup>४</sup> निर्बन्तों पर पहुँचने में कभी-कभी धपप का भी आशय लिया जाता था<sup>५</sup> पर सामान्यतया साक्ष्य के आधार पर निर्णय किये जाते थे। साक्षी पारिभाषिक शब्द का और बहु साक्षाद् द्रष्टा ही हो सकता था। यों साक्षाद् द्रष्टा धनिक या उत्तमर्ग और अधमर्ग भी होते हैं किन्तु भाष्यकार के अनुसार इन दोनों से निम्न तीसरा उपद्रष्टा ही साक्षी माना जा सकता था।<sup>६</sup> ब्रह्मन्तदार को प्रतिभू कहते थे। सम्प्रति में भागीदार दाय्यद अंशक या अंशहारी और उनकी सम्प्रति दाय्यद कहलाती थी।<sup>७</sup> पाणिनि ने सम्प्रति के उत्तरोत्तर प्रकृत्य अधिकारियों को स्वामी ईश्वर और अधिपति नाम दिये हैं और साक्षी दाय्यद तथा प्रतिभू का भी उनके साथ ही उल्लेख किया है।

व्यवहार-व्यायास्य में ऐसे मामले जाते थे जिनमें एक पक्ष अपहृत से नाम लेता था। पाणिनि ने धन सेकर या बिना धन दिये न लेने या देने के अपकष के विषय में प्रयोगों के नियमन के लिए सूत्र बनाया है। काशिकाकार ने सप्त और सहस्र रूपों के अपकष के उदाहरण दिये हैं।<sup>८</sup> ऐसे विषयों में धर्म्य और श्याम्य की जाँच के लिए धपप का भी आशय लिया जाता था।<sup>९</sup> पटीक्षा के बाह जिस अभियोग में सच्चाई प्राप्त नहीं होती थी उसे असार कहते थे। झूठे मुकदमे के विषय में प्रयुक्त सार शब्द पारिभाषिक था और बहु तर्पुसकक्षिप में ही प्रयुक्त होता था। सामान्य सार शब्द को कि उत्कर्ष-बोधक है पूर्णतः था।<sup>१०</sup>

आरभ्यक श्याय—श्याय ने समस्त धनी निर्बन्त या सशक्त और शक्तिहीन का भेद नहीं था।

१ २ ३-५७।

२ ३-४-१४२।

३ ३-२-१४८।

४ अश्वपत्यादि मण।—४-१-८४।

५ सत्यावसाये सत्येन दाय्येद् विप्रम (मनु०)। इति तत्पार्य निबन्धः।—५ ४-१६

का०।

६ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् संज्ञायामिति किलर्षम्? त्रिभिः साक्षाद्द्रष्ट्ये भवति। यत्र इति धर्मं च हीयते यत्रोपश्रव्या। तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्रत्योति। संज्ञाद्रष्टव्यतामप्याद् धनिकान्तोपासिनोर् भवति।—५ २ ११ पृ ४०२।

७ २-३-३९।

८ १४-५०, पृ० १७५ तथा २ १ १, पृ० २२८।

९ २-३-३९।

१० यही।

११ ऐकाकारिकचोरे इव तद्दि प्रयोजनं चौर इति बभ्यामि।—५ १ ११३ पृ० ३४।

१२ ३ १ २५, पृ ३५।

१३ सारस्य उत्कर्षे पुनित्तज्ञो म्यायावसाये तर्पुसकं तत्सारमिति।—२-४ ३१ काशि०।

इसके विपरीत स्थिति अरब्यों की थी वहाँ बलवान् कमजोर को मियास जाता है। इस स्थिति का भाष्यकार ने 'आरभ्यक म्याय' कहा है, जिसके निराकरण के लिए म्याय विभाग की स्थापना की गई थी।

**स्त्रीस्थापराध**—भाष्यकारिक मामलों में जिनके लिए राजदण्ड दिया जाता था स्त्रीय वस्तुकार्य और हत्या प्रमुख माने जाते थे। स्त्रीय के अनेक प्रकार थे। अनेके घर में किसी को न देखकर चुस जाना और द्वार बन्द हुए लौ किबाड़ लौड़कर मालमला उड़ा से जाना इस युग में सामान्य बात थी। बुरा, चोर और दस्तु इस तीन के भयों का भाष्य में पुन-पुन उल्लेख इस बात का प्रमाण है। चारों के नाम उनके भीम प्रकार पर रहे गये थे। यथा, ऐकागारिकक पाटध्न आदि। सामान्य चोर के लिए तस्कट, प्रणाय्य आदि तथा डकैत के लिए दस्तु शब्द का प्रयोग भाष्य में मिलता है। दस्तु-कर्म साहसिक्य या साहस-कर्म भी कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि अण्ड्य चोर भाँसों से कामस तक चुरा सकता है और अण्ड्य डकैत भागते हुए का भी रक्त पी सकता है। उन्हींने इन्हें चोरक्य और दस्तु-क्य की संज्ञा भी है। इन दोनों के बीच की खेनी लुप्यकों की थी। 'ये लीम रास्ते के किनारे खिमे खूते थे और राहगीरों पर अचानक छाया मारकर उन्हें कूट सेते थे। ये लोग पारिपमिक कहलाते थे।' कमी-कमी वे यात्रियों को मार डालते थे या बाँधकर बास बेते थे। एक गाँव से दूसरे गाँव को जाने में चोरों और लुटेरों का भय अधिक खूता था।' राज्य चोरों और दस्तुओं से लोगों की रक्षा करने में समर्थ नहीं थे, यह स्पष्ट है। इसीलिए, भाष्यकार ने प्रभापूर्वकारो पुरय को चारों ओर से दस्तुओं से बच-बचकर खूते का परामर्श दिया है।"

**हत्यापराध**—इनके अतिरिक्त हत्याओं का प्रचार परंपरि के समय में बहुत अधिक था।

१ ४-२ १२७, पु० २१६।

२ १ ३-४४ कासि०।

३ ३-२-४४।

४ १ ४-५०, पु० १७५ तथा २-१ १, पु० २२८।

५ तद्बुद्धो अरपयोडचोरदेवतयोः सुट तनोपडक-तस्कट ।—६ १ १५७, पु० १९४।

६ ३-१ १२८।

७ चोरकपोयम्। अप्ययमवतो रम्भनं हरेत्। दस्तुकपोयम्। अप्ययं भावतो लोहितं

चिरेत् ।—५ ३ ३६, पु० ४६०।

८ ३-२ १५५।

९ ४-४ ३६।

१० चोरेभ्यस्त्रायते, दस्तुभ्यस्त्रायते इति ।—२ ३-३५, पु० ४३०।

११ य एव मनुष्यः प्रेक्षपूर्वकारो भवति स पावति यदीमं चोराः पश्यन्ति भुवनस्य यथ बन्धन परिवर्त्तमा इति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवसत्यति ।—१ ४ २५, पु० १६२, तथा २-३ ३५, पु० ४३०।

मातृहा पितृहा भ्रातृहा 'भ्रूणहा' कुमारवासी राजव' और सिर फोड़ डालनेवासे शीर्षवासी' लोगों का इस युग में बाहुल्य था। पुरुष की हत्या के लिए भाष्य में 'पीस्वेयवध' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'आत्महत्या अपराध मानी जाती थी या नहीं यह भाष्य में स्पष्ट नहीं है किन्तु कष्टों से ऊबकर लोग आत्मघात अवश्य करते थे।' आत्मघात का सरल उपाय था विष-अस्त्र। ब्राह्मणों में पत्नियों को और बूजलों में पति को मार डालना सामान्य बात थी। ब्राह्मणों और बूजलों का यह एक छद्म ही बन गया था। ब्रह्महत्या मद्यपि बहुत बड़ा अपराध माना जाता था फिर भी ब्रह्महत्याएँ होती थीं। यही बात भ्रूणहत्या के विषय में कही जा सकती है। भाष्य में भ्रूण हत्या का बार-बार उल्लेख मिलता है।'

दण्ड—यह तो स्पष्ट नहीं है कि किस अपराध के लिए राज्य की ओर से कौन-सा दण्ड दिया जाता था फिर भी दण्ड के प्रकारों के विषय में भाष्य से कई सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। आधिक दण्ड वैयक्तिक भी होते थे और सामूहिक भी। सामूहिक दण्ड क्रुतुम्ब-विधेय के लिए दिये जाते थे। राज्य इस बात की चिन्ता नहीं करता था कि दण्डित कुल के किस सदस्य ने दण्ड का रूप या चुकाया और किसने नहीं। जुर्माने की पूरी रकम का बसूल ही जाना उसके लिए पर्याप्त था। राजा लोग न के लोभी थे।' भाष्य में द्विपाद और द्विघट कार्यापन के दण्ड का उल्लेख है।''

घाटीरिक दण्ड भी कई प्रकार के थे। वधा—सामान्य मारपीट कोड़े लगाया मूसल से मारना'' अंगविधेय काट सेना सिर काट सेना कुत्तों से चिबवाकर मार डालना विष देकर मार डालना'' तथा शूची-काशी द्वारा बिते वध की सामान्य संज्ञा यी गई थी मार देना।

१ ३-२-८७, पृ० २३५।

२ वही।

३ ३-२-५५, पृ० २१९।

४ ३-२-८४, पृ० २३३।

५ ५११०, पृ० ३२०।

६ १४-५०, पृ० १७५।

७ ३-२-५९, पृ० २१८।

८ ३-२-८५, पृ० २३५।

९ ३११०८, पृ० १८५।

१० गणः कर्तं दण्डयन्ताम्। अविनश्य रादात्मो हिरण्येन नवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।—१११ पृ० १०३।

११ ५४२, पृ० ४८२।

१२ ५११४, १५, १६, तथा दण्डादि गण में दण्ड मूलतः, कष्ट, वध।

१३ ४४-९१।

विमका अपराध सिर काट लेने योग्य माना जाता था उसे दीर्घच्छेद या दीर्घच्छेदिक कहते थे।<sup>१</sup> इसी प्रकार, दण्ड्य मूलस्य कस्य बभ्य आवि विधेयम् अपराधानुसार विविध क्रिय मये थे। अगच्छेद के योग्य अपराधी छेद कइता था।<sup>२</sup> अपराधी घृषल को कुत्तों की मति मार डाला जाता था।<sup>३</sup> यही हाथ दस्युभा का क्रिया जाता था।<sup>४</sup>

१ दीर्घच्छेदादिक ५ १ १५।

२ ५ १-२४, पृ० ३३५।

३ दण्ड्यायमे वयम् ३ १ १०७, पृ० १८५।

४ आत्मते दस्युहत्यापरदस्युहत्या दण्ड्यायमे वयम्—३-१ १०८, पृ० १८५।

## अध्याय ३

### सेना

**युद्ध-कला**—भाष्य में व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार के युद्धों का उल्लेख मिलता है। व्यक्तिगत सशस्त्र एवं युद्ध-कला-नैपुण्य धीमा की वस्तु थे। मस्त्रविद्या मुष्टिक-विद्या तथा तानाप्रकार की प्रहरण क्रीडाएँ जिनमें छाठी तथा आरमरसा के अन्य साधनों का अभ्यास किया जाता था इस समय कृत्र प्रचलित थीं। मस्त्र और मुष्टिक की पकड़ के लिए एक विशिष्ट शब्द 'संवाह' प्रचलित था। पुष्य व्याघ्रवत् शूर बनने में पीरज का अनुभव करते थे।<sup>१</sup> जिन गीतों में भीर पुष्य रहते थे उनका विशेष सम्मान होता था। भीरों की इन कक्षाओं में प्रतियोगिताएँ भी होती थीं। स्पर्धा में प्रतिपक्षी को सत्कारने में 'भाङ्कवते' या 'विङ्क' वातु के आरमनेपरीय रूप व्यवहृत होते थे।<sup>२</sup>

दूसरे प्रकार के युद्ध सामान्यतया राजाओं के बीच होते थे।<sup>३</sup> सत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए तथा प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए राजा लोग बृह सेनाओं का संघटन करते थे। ये युद्ध सेना के बल पर लड़े जाते थे। परिमाण तथा युध के आधार पर सामान्य परम और उत्तम सेनाएँ थीं। अय-पराजय इन्हीं के सुसंघटन पर निर्भर थी।<sup>४</sup>

**सेना के अंग**—सेना के चार अंग थे—हाथी चोड़े रथ और पैदल। भाष्यकार ने इन्हीं के द्वारा संग्राम का प्रतिबिम्बान बतकाया है।<sup>५</sup> संग्राम शब्द से अनुमान होता है कि प्रारम्भ में ग्राम रसा के लिए एकत्र जन-समूह और बाद में युद्धार्थ एकत्र समूह संग्राम का अंग रहा। भाष्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि सेना में किस वर्ण के लोग रहते थे और जो लोग रहते थे वे स्वामी होते थे

१ ४-२-५७।

२ मस्त्रस्य संग्राहः मुष्टिकस्य संग्राहः।—३-३-३६, पृ० ३०३।

३ पुष्पोर्म्य व्याघ्र इव शूरः पुष्पोर्म्य व्याघ्र इव बभूवाम्।—२ १-५६, पृ० ३१२।

४ २-१ १९, पृ० ३२३।

५ १ ३-३१।

६ सम्महरन्ते राजान्।—१ ३-३५, पृ० ६०।

७ बृह सेनो राजा—२ ४-१९, पृ० ४७०।

८ यही।

९ पराजयति सेना।—१ ३-१९, पृ० ६०।

१० देवदत्तस्य समारां सरावैरोवनेन च यजदत्तः प्रतिबिम्बते तथा संग्रामं हृत्पयस्वरत्न-पदातिभिः।—१ १-७२, पृ० ४४७।

या केवल युद्ध प्रदर्शनों पर भरती कर लिये जाते थे। डॉ० ज्ञानप्रकाश के अनुसार ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक राजाओं के पास स्थायी सेना नहीं रहती थी।<sup>१</sup> इस समय तक संगठित सेना के पति और रथी य दो ही भंग थे। अनुरोधक महाभारत में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। माध्यकार के समय में सेनाओं के स्पष्ट विभाग हो चुके थे एव हस्ती और अश्व उसके महत्वपूर्ण अंग थे।<sup>२</sup> वैदिक काल में भी सेना के दो ही अंग मिलते हैं—पति और रथी। महाभारत (प्रारम्भिक पर्व, १०३ ३८) में सेना के अनुरोधों का ब्यवहार है। मुख्य अनुरोधों के अतिरिक्त भारवाहक, शिष्ट गुप्तचार और स्थानीय निरोधक इन्हें मिलाकर सेना के कुल आठ अंग हो जाते हैं।<sup>३</sup>

सेना-संगठन—सेना का संगठन सामान्यतया क्षत्रियों से होता था किन्तु ब्राह्मण भी सेना में काम करते थे। काशिकाकार ने इस बारे स्पष्ट उल्लेख किया है। सेनापति पुष्पमित्र भृगु स्वयं ब्राह्मण थे किन्तु य अथवा—मात्र थे इतीतिर बुधविद्या और अनुविद्या अथविद्या मानी जाती थी। भाष्य में भी इसे शत्रु-विद्या ही कहा है।<sup>४</sup> वैदिक काल में अवश्य किन्तु युद्ध में बराबर भाग लेते थे।<sup>५</sup> रामजी जिसपर राम राजा का भार रहता था वैश्य ही होता था। फिर भी यी पी० धी० अथर्ववेदों में मत से यह धारणा सैनिक का कार्य केवल क्षत्रियों का एकाधिकार का भाव है। झीवर (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १ पृ० ७७) का कथन है कि कुछ अतिप्राकृत कहानियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं ब्राह्मण सैनिक के रूप में चित्रित नहीं हुए हैं, ठीक नहीं मान पड़ता।

सेनापति—सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। माध्यकार ने इस सर्वत्र सेनानी कहा है।<sup>६</sup> सेनानी और मूढ सतपथ (५ ३ १)—नाल में ही राजा के रथियों में गिने जाते थे। सेनानी के साथ बार-बार उल्लिखित रामजी भी राम में सैनिक-मुख्य का काम करता था। माध्यकार के समय में रामजी और सेनानी दोनों सम्पन्न महारथपूर्ण सैनिक-वंश थे।<sup>७</sup> इनके कारण इनके परिवार का कुल भी सम्मानित माने जाते थे। सेनापतिपुत्र और सेनापतिकुमारीपुत्र का राजकुमारी और राजकुमारीपुत्र के साथ उल्लेख उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का परिचायक है।<sup>८</sup>

१ हिन्दू शास्त्रियों, पृ० १८८, ९०।

२ २-४-२, पृ० ४६३ तथा २४ १२, पृ० ४६३।

३ प्रारम्भिक पर्व, १ ३ ३८ तथा बी० के० जन्मधार मिलितरी सिस्टम इन एन०

इण्डिया।

४ ब्राह्मणसेनम् ।—२ ४-२५।

५ ४-२-३०, पृ० १८७।

६ अन्व० १ ६९ ३ तथा १ १२६-५।

७ बी० इण्डियन १-२-४।

८ वि जाते और बार इन० इण्डिया।

९ १ १ ६० पृ० ३६२

१० ६ ३-१, पृ० २९७।

११ १-२-४८, पृ० ५४५ तथा ६ १-७३।

ग्रामनिमोनीन और सेनानिमोनीन सम्य उम्हूँ की बानेबासी शापीरिक् मुल्ल-मुनिबाओं के मुचक है। इनके साथ राजमोनीन और आचार्यमोनीन साथ भी जाये हैं जो इन पर्वों को आचार्य और राजा के समान समान सूचित करते हैं।<sup>१</sup> अधिक अधिकार-सम्पन्न ग्रामभी और सेनानी ग्रामनीतर तथा सेनानीतर कहे जाते थे।<sup>२</sup> इनके अतिरिक्त अस्वपति छतपति<sup>३</sup> अनुसतिक<sup>४</sup> रथगणक, पति-बनक<sup>५</sup> पूतनापाह,<sup>६</sup> सेनाचर<sup>७</sup> आदि कुछ सेनाधिकारियों के नाम गणपाठों में मिलते हैं।

सैन्य—सेना के सामान्य विपाही को सैन्य कहते थे। यह सेना में समवेत अर्थात् बाहर से आकर उसमें मिस्रकर एक बन गया व्यक्ति माना जाता था। सैन्यों में हस्तिपक<sup>८</sup> तथा हस्त्यापेही के अतिरिक्त पक्षिक आश्विक और पवाति का भाष्य में उल्लेख है। पक्षिक अश्विक तीनों में शीघ्रगामी और आश्विक शीघ्रतरगामी था।<sup>९</sup> अश्वचार या अश्वपाक का स्थान रथी के बाद था।<sup>१०</sup> सेनानीतर के समान रथीतर भी विधिष्ट रथी का वाचक था।<sup>११</sup> अष्टूरादि<sup>१२</sup> भी सेना के अंग रहे होते यद्यपि अष्टू सेना का अंग कतसाया नहीं गया है। पवाति पवाति और पक्षिक<sup>१३</sup> एवं पत्कापी<sup>१४</sup> या पति (यात्रादि) ये पक्ष-सेना के नाम थे। पाणिनि ने साम्प्रदेश के पवाति-वर्म का विशेषत उल्लेख किया है। सम्भवतः, यहाँ की पवाति-सेना विशेषत प्रसिद्धि पाती थी।<sup>१५</sup> सेना के ये चारों प्रकार के सैनिक राजयुष्मा कहलाते थे।<sup>१६</sup>

प्राचीन सैन्य-मूर्तिपर्व—इस काल के सिक्कों तथा प्रस्तर-मूर्तियों से प्राप्त विवरणों से भी पर्यवसिक के एतद्विषयक उल्लेखों का समर्थन होता है। इस समय के ग्रीक चीनियन और पाण्डियन मूर्ति-विशेषों में यद्यप आक्रमणकारी राजाओं को कवचधारी दिखाया गया है। उनके सिर पर

१ ५१९ पृ० १००।

२ ६३-४३।

३ ४-१-८४।

४ ७-३-२०।

५ ५११२९।

६ ८३-१०९।

७ ३-२१७।

८ ४४-४५।

९ १३१७, पृ० ८५।

१० रविक आशुपञ्चत्याशिकशिवरेण पवातिविचरतरेण।—११-७० पृ० ४४५।

११ ८-२-१८, पृ० ३४८।

१२ ८-२१७ पृ० ३४१।

१३ ३-२४०।

१४ ६-३-५२, ५३, पृ० ३३८।

१५ वही।

१६ ४-२-१३५।

१७ ३-२१५।

टोप तथा हाथों में अग्नि और शक्ति (मासे) हैं। कुछ सासक हाथी या घोड़े पर सवार हैं। इनमें कुन्त यष्टि आदि वायुधों के भी दर्शन होते हैं।<sup>१</sup> मासक की ईसा-पूर्व दूसरी और पहली सती की मूर्तिकला से भी इस बात की पुष्टि होती है। भरहुत के स्तूप पर बरबां से लीने जाते हुए रथ मार्गें बँसबाढ़ियाँ, नाव पुछनी वीली की लसवारें तथा पदातियों का बलुस अंकित है।<sup>२</sup> साँची के स्तूप सं० १ में भी जहाँ बुद्ध के अल्पि-अवधेयों के लिए कुशानारा के मस्कों पर अन्य अल्पि बंधों का आक्रमण और वेरा विस्तारवा गया है वहाँ भी रथ और यज्ञ जुदे हुए हैं। विनेतामन रथों पर सवार हैं और नजमस्तक पर बलभेय रते हुए हैं। इसी स्तूप में प्राकार धुवे है। दक्षिण और पश्चिम के पिछले छोरधों पर यह संपर्प विद्यत रूप से अंकित है।<sup>३</sup> पति सेना का विस्तृत रूप साँची और भरहुत दोनों स्थानों में उपलब्ध है। इन प्रकारों के अंकन के विषय में रीज डेविडस ने लिखा है कि सम्भवतः पुरातन काल से प्राकार एक ही प्रकार के बनाये जाते हैं। इस प्रकार महाभारत और पतञ्जलि के अनुसार मस का कसारमक अंकन भरहुत और साँची की कला में उपलब्ध है।

सेना की रचना—परिमाण की दृष्टि से पति सेनामुख गुप्त मस बाहिनी पूतना चमू अनीकिनी और असीहिनी क्रमसे उत्तरीतर विद्याल संयोजन से। इनमें पति और सेना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पूतना और अनीक वैदिक शब्द हैं। माप्यकार ने इनका उल्लेख किया है।<sup>४</sup> गुप्त के मापक का पौलिमक कहते हैं।<sup>५</sup> असीहिनी का उल्लेख पापिनि ने नहीं कारितककार एवं माप्यकार ने किया है। महाभारत के आदिपर्व (२-१९) के अनुसार इन षटकों की वैदिक संख्या इस प्रकार होती थी—

धटक	रथ	हस्ती	अस	पदाति
पति	१	१	३	५
सेनामुख	३	३	९	१५
पुष्प	९	९	२७	४५
पथ	२७	२७	८१	१३५
बाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
पूतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
असीहिनी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

१ सैम्ब्रिज हिन्दूी बोर्ड इण्डिया, जिम्ब १, भाग ७ पृ० ३८९।

२ कनिष्क वि स्तूप अंक भरहुत, प्लेट-सं० ३२।

३ मार्शल : ए पाइड टु साँची, प्लेट-सं० ४, ५ तथा २६, २७।

४ बुद्धिस्व इण्डिया, भारतीय सं०, पृ० ४७।

५ ६-१ १३, पृ० ८६ तथा ५-४ ३०, पृ० ४९१।

६ ४ २-१०४, पृ० २०८।

७ ६ १-८९, पृ० १३८।



साहित्य-दर्शन (१०० ३१) में बर्तित घटकों का निर्माण १०-२० ३० ४ के ढंग पर है।  
 म्यूह की दृष्टि से अनेक प्रकार की सेनाओं में उच्च-गुणकी रचना से भी भाष्यकार परिचित थे।  
 काशिकाकार ने 'दस्ताबख' भी सेना का प्रकार बतलाया गया है।  
 सेना का अग्रभाग सेनामुख और पश्चिमभाग सेना-अवन कहलाता था।  
 दिनादिगण (४ ३-५४) में इसी अर्थ में मूख और अवन शब्द परिगणित हैं।<sup>१</sup>

श्रीरक्त मालवी सेना—भाष्यकार के समय में सर्वाधिक प्रख्यात सेना जिसका उन्होंने  
 विशेषतः उल्लेख किया है श्रीरक्तमालवी थी। यह क्षत्र सेना के लिए रूढ़ था।  
 क्षत्र-मालवों से सम्बन्ध अन्य बातों के लिए 'श्रीरक्तमालवक' शब्द व्यवहृत होता था।  
 यह बात इस सेना की प्रसिद्धि की द्योतक है। सिक्न्दर के आक्रमण के लगभग डेढ़ सौ वर्षों के बाद भी  
 इस सेना का पता स्थिर बना रहा। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार मेसिडोनियन आक्रमण के समय  
 इस सेना में १३० हाथी १००० रथ ५०० घोड़े और १७०० (८००० क्षत्र १०००० मालव)  
 पदाति सैनिक थे। अनेक क्षत्रियों ने भी ग्रीक आक्रमणकारियों को परास्त किया था।  
 भाष्यकार ने बार-बार ब्रह्मण्य (अनेके) क्षत्रियों की विजय का उल्लेख किया है।<sup>२</sup> स्वयं पुष्पमित्र की सेना  
 भी इस समय अत्यन्त सबक थी जिसके बल पर पुष्पमित्र ने मुदिदोमस के पुत्र  
 बैक्ट्रिया के राजा डेमोट्रियस के आक्रमण को विफल कर दिया था।<sup>३</sup> मद्यपि भाष्य में पुष्पमित्र की सेनासक्ति का  
 विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता फिर भी यबतों द्वारा साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ की  
 नागरी) पर बंध डालने के विषय में महाभाष्यीय उल्लेख तथा काश्मिरास के मालविकान्निमित्र में  
 बर्तित बसुमित्र द्वारा सिन्धु (मालवा की काशीसिन्धु) के तट पर यवनराज की पराजय से उसके बल का  
 अनुमान किया जा सकता है। ग्रीक आक्रमणों की शृङ्खला में डेमोट्रियस का आक्रमण  
 अन्तिम था। पुष्पमित्र ने राज्य की प्रतिरक्षा के लिए अन्तपार्श्वों को नियुक्त कर उन पर  
 घेराव की सुरक्षा का दायित्व सौंप दिया था। काश्मिरास के अनुसार नर्मदा-तट पर  
 भीरुसेन उसका अन्त-पाक था।

संघाम—संघाम को आहूत भी कहते थे। पाणिनि ने संघामों के नामकरण के दो  
 आधार बतलाये हैं—प्रयोजन और योद्धा। यदि संघाम का प्रयोजन सुमहा की प्राप्ति  
 हुई, तो उस संघाम

१ ४-१-५५, पृ० ३९।

२ ५ १ १ १ ३ काशि०।

३ ४-३-५४ काशि०।

४ मेसिडोनियन इण्डिया एण्ड इटल इनवेजन बाई अर्सेलेसुस, पृ० २७८।

५ ५ ३-५२ पृ० ४४३।

६ सिमवः अर्को हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया चतुर्थ संस्करण पृ० २११ तथा राजश्रीधरीः  
 पाणि० हिस्ट्री ऑफ़ ऐन इण्डिया, पृ० २३७ तथा यंगानाथ झा रिसेर्च इन्स्टी अर्न्तल सिन्धु  
 ४, नाम १ पृ० १९४०।

७. मण्डारकर डेड ऑफ़ पुस्तकालय इण्डियन ऐस्टिब्लिश्यरी, १८७२, पृ० ३००।

८. मालविकान्निमित्र प्रथम अंक।

९. ३-३-७३।

का सीमन्त कहते थे। इसी प्रकार, यदि किसी युद्ध में लड़नेवाले लोग भरत हुए, तो उस युद्ध का नाम भारत पड़ जाता था। इसी आधार पर कौरव-पाण्डव-युद्ध का नाम भारत-युद्ध पड़ गया था जो आगे चलकर महाभारत बन गया।<sup>१</sup> महाभारत का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।<sup>२</sup>

सेना-संज्ञातन—सन्धु के प्रति सेना-संज्ञातन के लिए 'अभिषेणपति' और कबच-धारण की क्रिया को 'संभर्मवर्ति' य 'विनिष्ट प्रयोग' व्यक्त करते थे।<sup>३</sup> सभी सैनिक कबच धारण करते थे। इस क्रिया के लिए पतञ्जलि ने 'युद्धाय सप्रहते' इस विशेष वाक्य का प्रयोग किया है। सनद्ध शब्द का मूल अर्थ युद्ध के लिए तैयार होना था जो बाद में किसी भी काम की तैयारी हो गया। सैनिक जीवन में प्रवेश की आयु निर्दिष्ट थी। उस आयु को प्राप्त योद्धा कबचधर कहलाता था।<sup>४</sup> कबच धर अथवा शक्य का प्रवेश-काष्ठ था। कबच धारण करनेवाले कबची और उनका समूह काश्चिक कहा जाता था।<sup>५</sup> युद्ध-अवधि के पदचाल स्टूट या मेट में घन की प्रचुर प्राप्ति होती थी। भाष्य में प्रत्येक युद्ध में घन जीतकर लाने का उल्लेख है।

सैनिकों के बन्ध—सैनिक का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त क्रिये जानेवाले अस्त्र या शस्त्र से दिया जाता था। अग्नि चलावेवाला आग्निह और परदयन चलावेवाला पारदबधिक कहलाता था। इसी प्रकार शाक्रीक और याष्टीक सैनिक इन अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हात थे।<sup>६</sup> भाष्य में शाक्रीकी और याष्टीकी स्त्री-सैनिकों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये राजप्रासादा की रक्षा करनेवाली अश्व-पुर में नियुक्त सैनिकाएँ थीं।<sup>७</sup> रथ से युद्ध करनेवाला रथी होता था और शूण्ड रथी रथीसर कहलाता था।<sup>८</sup>

युद्ध के नियम—युद्ध के कुछ नियम थे। योद्धा अपनी अग्नी के ही सैनिक से युद्ध करते थे। रथी रथिया से और आदिक आदिकों से भिड़ते थे।<sup>९</sup> इसी प्रकार, दो सैनिक एक ही अस्त्र लेकर परस्पर प्रहार करते थे। अग्निपारी के साथ दूसरा सैनिक अग्नि से ही लड़ता था।<sup>१०</sup> एक दूसरे के

१ ४२-५६।

२ ६-२-३८।

३ ३१-२५।

४ १४-३२ पृ० १९८।

५ ३-२-१०।

६ ४-२-४१।

७ घनशूण्डो रथे रथे।—३ ३-५८, पृ० ३०८।

८ ४४-४७ ४८, ५९, पृ० २८१।

९ ४४-५९ पृ० २८१।

१० ४१-१५, पृ० ४१।

११ ८-२-१७ पृ० ३४१।

१२ रथी रथिमयलापयते।—६ १-४८, पृ० ७९।

१३ आर्षयुद्धम् अतिमिपुंडम्।—५ १-५९ पृ० ३३३।

केय पकड़-पकड़कर या परस्पर स्राठी मार-मारकर किये जानेवाले युद्ध केशाकेसि और बच्चा बच्छि आदि कहलाते थे।<sup>१</sup>

प्रहरण—युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले प्रहरणों को आयुध कहते थे।<sup>२</sup> ये दो प्रकार के थे— संरक्षारमक और प्रहरणारमक। संरक्षारमक आयुधों में धर्म या कवच का उल्लेख उभर हो चुका है। वावरण धर्म या ढाल को कहते थे जो गीढ़ के चमड़े का हाता था। इसी धर्म के लिए द्वीपी को भारते का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।<sup>३</sup> शिरस्त्राण शिरोरक्षा के लिए पहने जाते थे क्योंकि शीर्षवात युद्ध के नैतिक नियमों के अनुकूल था। भाष्यकार ने एकाधिक बार शिर पर प्रहार करने की चर्चा की है।

प्रहरणारमक आयुधों में अग्नि वनूप वान कृत्य शक्ति यष्टि परशु, बारासखी मूसल खांगस वक्रुण वृष्य आदि के नाम भाष्य में मिलते हैं। वनूप ताल के भी वनते थे।<sup>४</sup> इन्हें कार्मुक भी कहते थे। क्रमुक नामक वृक्ष की छकड़ी से बनाये जाने के कारण यह नाम पड़ा था।<sup>५</sup> बाव में अथ्य वृक्षों की छकड़ी का भी व्यवहार होने लगा और कार्मुक का मूल अर्थ बिस्मृत कर दिया गया। क्रमुक का उल्लेख काट्य (१९ १०) चतपथ (१ १ २ ११) और कौरीतकी (२८) ब्राह्मण में मिलता है। बाव में कार्मुक की व्याख्या करते हुए क्रिया में समर्थ होने के कारण वैयाकरणों ने उसका यह नाम माना है। वान वारण करने के कारण कामुक को इष्यास नाम दिया गया था। बड़े आकार के वनूप महेष्यास कहे जाते थे। भाष्य में गण्डीव अन्नगव और शार्ङ्ग व विद्रिष्ट प्रसिद्ध वनूपों के नाम आये हैं। वनूप में दुडूटा का प्यान सर्वाधिक रखा जाता था। इष्यास एक कोस की दूरी से भी स्वरूप बंध कर सकता था।<sup>६</sup> युद्ध का अधिकांश वनूप से लड़ा जाता था। वनूप को भाष्य में मन्त्रमुच बर्षान् नलों को छील देनेवाला कहा है।<sup>७</sup> वनूप ने वाय अग्नि का प्रयोग सर्वाधिक होता था। अग्निवध्य "वस्युद्यत" अग्नि के सहारे "युद्ध अश्वों के सहारे युद्ध जैसे कवनों की पीत-पुनिक आकृति इसका प्रमाण है। साधारणतया लोय अग्नि या वृष्य हाथ में लेकर चलते थे।

- १ २-२-२७ पृ० ३७७।
- २ आयुध्यन्ते लेनायुधम्।—३-३-५८, पृ० ३०८।
- ३ धर्मणि द्वीपितं हृत्ति।—२-३ ३६, पृ० ३९२।
- ४ इदं ते शिरो मितते।—३-१ ६० पृ० ८४ तथा शीर्षयज्ञो।—३-२-८४ पृ० २३३।
- ५ ४-३-१५२।
- ६ बाव० सं० ११-७० महीधर भाष्य
- ७ ५ १ १०३।
- ८ ३ २ ३८।
- ९ इहृत्तयमिच्छास ओज्यास्त्वयं विष्यति।—२-३-७, पृ० ४१०।
- १० २-२-५, पृ० २१०।
- ११ ३-१ ९७ पृ० १८२।
- १२ २-२ ३६ पृ० ३९२।
- १३ ५ १-५९, पृ० ३३३।
- १४ असिपाणिः वृष्यपाणिः।—२-२-६६, पृ० ३९२।

असि कुम्भ में सटकारा जाती थी इसीलिए इसे कौशेयक भी कहते थे।<sup>१</sup> इसका म्यान पमड़े का बनाया जाता था।<sup>२</sup> रक्त वरसाने के कारण इसका एक विशेषण सेविम भी प्रचलित था।<sup>३</sup> वृषाण शब्द भी भाष्य में आया है। धनुष के प्रहार को वेध और असि के प्रहार को भेद कहते थे।<sup>४</sup> कुन्त या माक्षा फेंककर मारा जाता था। यष्टि भी फेंककर मारते थे। यष्टि और वण्ड में अन्तर था। वण्ड बड़ा मोटा सट्ट होता था।<sup>५</sup> कुन्त भी हाथ में लेकर चलने की प्रथा थी। दक्षिण या बायाँ भाले का ही एक प्रकार था। यह फेंककर मारी जाती थी। कांगरु केवल ध्वज-चिह्न ही नहीं था अस्त्र के रूप में भी व्यवहृत होता था। अंगुम और तोमर (एक प्रकार की बरछी) भी युद्ध में प्रयुक्त होते थे। साव्यकार ने सवित्र-ग्रह कांगरु-ग्रह अंगुम-ग्रह यष्टि-ग्रह, तोमर-ग्रह और धनुग्रह का एक साथ उल्लेख किया है। मूसल धस्त्र था। उसे चलाने का नियमित अभ्यास किया जाता था। प्राणवण्ड पाये हुए अपराधी भी असि और मूसल से मारे जाते थे।<sup>६</sup> दास्त्री या छत्री छोड़े की बनती थी। उसका रंग व्याम बतलाया गया है। यह वीर्य पतली और सन्धी होती थी।<sup>७</sup> मारा भी दास्त्री का एक भेद था।<sup>८</sup> परसु फरसा प्रसिद्ध ही है। बुरा या छत्रुओं के कान्ते का काम करने के कारण यह परसु कहलाता था।<sup>९</sup> दक्षिण की ही ध्येयी का एक नामुष कितक भी था।<sup>१०</sup> भाष्य ने प्रहरणों के आयुध और आधिपत्य के भेद किये हैं। दक्षिण कितक कुन्त आदि प्रक्षेपास्त्र मानिये कहलाते थे।<sup>११</sup>

अबहार—श्री पक्षों में सम्पन्न होनेवाले युद्धोत्तर समझीते या संघि को अबहार कहते थे।<sup>१२</sup> अबहार के पदधातु दोनों पक्ष अपने-अपने अस्त्र समेटकर वीथी भाग प्राप्त कर लेते थे।

१ ४२-१६ पृ० २०२।

२ वार्म कोश।—६४ १४४, पृ० ४८३।

३ ४४-२० पृ० २७६।

४ ८२ २८ पृ० ३४२।

५ १४१, पृ० १०९।

६ ४१४८ पृ० ५९।

७ ३२-९। पृ० २१०, ११।

८ २२-३६ पृ० ३९२।

९ ३१९७ पृ० १८९।

१० दास्त्री-यामा।—१४१ पृ० १०६।

११ बह्वर्षा शस्त्रयां गुणास्तीक्ष्णा सुखमा मुकुटिति।—२ १-५५, पृ० ३०९।

१२ ३३ १०४ पृ० ११४।

१३ परान् युजातीति परसुः।—१ १६१ पृ० ३९४।

१४ १४ १०१ पृ० २०८।

१५ माविष्यत्यनेताधिपम् आयुष्यन्ते तेनायुषम्।—३-३-५८ पृ० ३०८।

१६ अबहृत्पन्तेस्मिन् (शस्त्राणि) इत्यबहारः।—३ ३ १२१ पृ० ३१८।

‘संज्ञाप्रमाणम्’ (१२-५६) की व्याख्या करते हुए कहा है कि बिना ही वैयाकरणों की सहायता के जन-सामान्य को इस बात का संज्ञान या बोध ही जाता है।<sup>१</sup> पाणिनि ने इस विषय में एक तर्क यह भी दिया था कि यदि इन जनपदों को यौगिक ध्वनि मानें तो एक कठिनाई यह भी उपस्थित होगी कि जिस जनपद में आज उसके मूलजन नहीं रहते उसका वह नाम अलग ही जायगा।<sup>२</sup>

इससे ही बातें स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि भाष्यकार के काल में मूल क्षत्रियों से पृथक् जनपदों का स्वतन्त्र अस्तित्व था और दूसरे कुछ जनपद ऐसे भी थे जिनमें उनके मूलनिवासी क्षत्रिय थेप नहीं रह गये थे।

जन और शासक—इसना होने पर भी इन जनपदों में उनके शासक प्रायः मूल क्षत्रिय जन ही थे। शासन दो प्रकार का था—एकराज-शासन और संवत्सराज। पाणिनि और पतंजलि द्वारा उल्लिखित एकराज-शासन के जनपदों उनके राजाओं तथा उनके मूल क्षत्रिय-जनों की संज्ञान की संज्ञाएँ निम्नलिखित थी—

मूल क्षत्रिय जन	जनपद	राजा	क्षत्रियापरम
	१	पाणिनि द्वारा उल्लिखित <sup>३</sup>	
सास्वेय	सास्वेय	सास्वेय	सास्वेय
गान्धारि	गान्धारि	गान्धार	गान्धार
मागध	मागध	मागध	मागध मागधी (स्त्री)
काशिंग	काशिंग	काशिंग	काशिंग
सीरमस	सीरमस	सीरमस	सीरमस
कौसल्य	कौसल्य	कौसल्य	कौसल्य
वज्राघ	वज्राघ	वज्राघ	वज्राघ
कुरु	कुरु	कीरम्य	कीरम्य कुरु (स्त्री)
प्रात्यग्रधि	प्रात्यग्रधि	प्रात्यग्रधि	प्रात्यग्रधि
काशकूट	काशकूट	काशकूटि	काशकूटि
जाष्मक	जाष्मक	जाष्मकि	जाष्मकि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
जाबलि	जाबलि	जाबल्य	जाबल्य जाबली (स्त्री)
कुण्डि	कुण्डि	कौण्ड्य	कौण्ड्य कुण्डी (स्त्री)

१ किं वा एतः कृषिमाट्टियुमादि संज्ञास्तत्रामात्रादिव्यम्? नेत्याह। संज्ञान संज्ञा।—१-२-५६ पृ० ५५६।

२ यौगप्रमाणं च तदभावेऽर्थेन स्पष्टम्।—१-२-५५।

३ ४११६८ से ४११७८ तक।

२ पाणिनि-सूत्रों में उस्मिचित और काशिका द्वारा व्याख्यात<sup>१</sup>

अंग	अंग	अंग	अंग
अंग	अंग	अंग	अंग
पुण्ड्र	पुण्ड्र	पौण्ड्र	पौण्ड्र
सुह्य	सुह्य	सौह्य	सौह्य
आम्बळ	आम्बळ	आम्बळ्य	आम्बळ्य आम्बळ्या (स्त्री)
सौबीर	सौबीर	सौबीर्य	सौबीर्य सौबीर्या (स्त्री)
निपथ	निपथ	नैपथ्य	नैपथ्य
निपथ	निपथ	नैपथ्य	नैपथ्य
उदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बरि	औदुम्बरि
तिलकल	तिलकल	तैलकलि	तैलकलि
मात्रकार	मात्रकार	मात्रकारि	मात्रकारि
युगन्धर	युगन्धर	यौगन्धरि	यौगन्धरि
भुस्मिग	भुस्मिग	भौस्मिगि	भौस्मिगि
सारदण्ड	सारदण्ड	सारदण्डि	सारदण्डि

३ पठंभसि द्वारा उस्मिचित<sup>२</sup>

पंचाल	पंचाल	पांचाल	पांचाल
बिदेह	बिदेह	वैदेह	वैदेह विदेही (स्त्री)
पुर	पुर	पौरव	पौरव
पाण्डु	पाण्डु	पाण्ड्य	पाण्ड्य
अंग	अंग	अंग	अंग आंगी (स्त्री)
अंग	अंग	अंग	अंग आंगी (स्त्री)
आम्बळ	आम्बळ	आम्बळ्य	आम्बळ्य आम्बळ्या (स्त्री)
सौबीर्य	सौबीर्य	सौबीर्य	सौबीर्य सौबीर्या (स्त्री)
दार्भ्य	दार्भ्य	दार्भ्य	दार्भ्य
निषक	निषक	नैषक्य	नैषक्य
नीप	नीप	नैप्य	नैप्य
अबन्ति	अबन्ति	आबन्त्य	आबन्त्य अबन्ती (स्त्री)

१ ४१ १६८ से १७८ तक।

२ वही।

कुन्ति	कुन्ति	कौन्त्य	कौन्त्य कुन्ती (स्त्री)
नैस्य	नैस्य	नैस्य	नैस्य
जाबमीड	जाबमीड	जाबमीडि	जाबमीडि
जाबकन्दि	जाबकन्दि	जाबकन्दि	जाबकन्दि
बोधि	बोधि	बोधि	बोधि
कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज	कम्बोज
बोस	बोस	बोस	बोस
कडेर	कडेर	कडेर	कडेर
केरस	केरस	केरस	केरस

इतमे पंचाल विदेह अग बंग और मगध प्राच्य कहे गये हैं। मर्ग कश्य केक्य कस्मीर, सास्य सुस्माल उरखु और कौरव्य ये भर्षावि स्या यीभेय सौभ्रेव सौभ्रेय याभागय भार्त्तय भार्त्तय त्रिमर्त्त भरत और उच्छीनर ये यीभेयादि य। पाणिनि ने इन सब प्रदेशों ब्रह्मि कुन्ति कुड तथा धूरसेन मड जादि अकारंत जनपदों के स्त्री-सत्रियापद्यों के लिए पृथक् निम्न दिये हैं। भाष्यकार ने पशु रक्षसु और असुर जनपदों की स्त्री-सत्रियापद्यों की पशु रक्षा और असुरी कहा है। ऊपर कहा जा चुका है कि ये जनपद सासन-व्यवस्था की दृष्टि से दो भागों में विभक्त थे—एकराज या राजतन्त्र और सपरराज्य। भाष्यकार ने पंचाल विदेह क्षीरक और मालव जनपदों को संघ कहा है यद्यपि अन्यत्र उन्होंने पंचाल के एक राजा का भी उल्लेख किया है।

जनपदावयव—कुछ जनपद अनेक अवयवों या प्रांतों में विभक्त थे। सास्य के अवयवों की बर्षा ती पाणिनि ने भी की है। इसकी व्याख्या के लिए काशिकाकार ने कहीं से एक प्रसिद्ध कारिका उद्धृत की है जिससे पता चलता है कि सास्य जनपद छह अवयवों में विभक्त था। भाष्यकार ने पंचाल और मगध के पूर्व और अपर दौ-दौ भाग बतलाये हैं। उन्होंने बर्ष पंचाल अर्ष मगध और सर्व पंचाल तथा सर्व मगध का उल्लेख किया है। यही स्थिति त्रिगर्त की भी। वह स्वयं जनपद था और उसके छह भाग भी स्वतन्त्र जनपद माने जाते थे। सम्भवतः मूलजनों के कई भाग ही जाने पर जनपद भी कई भागों में बँट गये थे। उनका केन्द्रीय स्थान एक रहता था किन्तु आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र प्रांत विभक्त-सम्पत्तिक भाइयों के समान एक-दूसरे के सासकों के अधीन स्वतन्त्र होते थे। 'जनपदावयव जनपद' शब्द भी इस बात का प्रमाण है कि जनपदों का अस्तित्व इस काळ में था। गर्तान्त जनपद अनेक थे और वे सब एक ही विभाग

१ ४-१ १७६ से १७८, पृ० १९५।

२ ४ १ १९८, पृ० १९३।

३ ४ १ १७३।

४ अनुम्भरासितकाला मडकारा धुगन्धराः।

भुक्तिः शारदण्डास्य सास्यवयवसंज्ञिताः ॥

जनपद के अन्तर्गत थे।<sup>१</sup> जनपदों का 'स्व' अर्थात् वस्तु उनके नाम के अनुसार ही माना जाता था। उदाहरणार्थ अंग या बंग के घाम या अन्य वस्तुएँ जो उसकी अपनी होतीं आंगक या बांगक कही जाती थीं।<sup>२</sup> अबपदों को छोड़कर अन्य जनपद स्वतंत्र हवाई थे। जनपद कहने से एक ही जनपद का बोध होता था जनपद-समुदाय का नहीं। काशी और कोसल दो स्वतंत्र जनपद थे। यद्यपि वे पड़ोसी थे और परस्पर सम्बन्ध भी फिर भी जनपदों के प्रयोग में उनका अलग-अलग उल्लेख किया जाता था इकट्ठा नहीं।<sup>३</sup>

विषय—भाष्यकार ने विषय और जनपद का अन्तर स्पष्ट किया है। जनपद क्षत्रिय जातियों के निवास था। बहुत-से जनपदों के शासक वे ही क्षत्रिय थे जिनका उनमें निवास था और जिनके कारण उन जनपदों का नाम पड़ा था। किन्तु, कुछ जनपद ऐसे भी थे जिनमें निवास अन्य क्षत्रियों का था और शासन ब्राह्मणों का। इसी प्रकार कुछ क्षत्रिय जन ऐसे थे जिनका शासन अपने निवास क्षत्रिय प्रदेश पर भी था। वे वहाँ के शासक ही थे किन्तु निवासी नहीं। ऐसी स्थिति में वह उनका देश या विषय-भाग माना जाता था जनपद नहीं। जब किसी क्षत्रिय जन द्वारा केवल अभिहित प्रदेश बतसाना होता तो उस उनका विषय या देश कहते थे और उस देश का प्रयोग एकवचन में होता था। उदाहरणार्थ सिन्धियों का देश या शासित विषय दीव और उष्ट्रों का उष्ट्र कहलाता था किन्तु सिन्धियों के जनपद को सिन्ध (बहु०) और उष्ट्रों का उष्ट्रा (बहु०) ही कहा जाता था। इस आधार पर भाष्य में निम्नलिखित विषयों और जनपदों का अन्तर स्पष्ट मिलता है<sup>४</sup>

क्षत्रिय	देश या विषय	जनपद	
अंग	आंग	अंग	(बहुवचन)
बंग	बांग	बंग	" "
सुष्ट	सौष्ट	सुष्ट	" "
पुष्ट	पौष्ट	पुष्ट	" "
गान्धारि	गान्धार, पाग्यारि	पाग्यारि	" "
बसाति	बासात बसाति	बसाति	" "
सिन्धि	दीव सिन्धि	सिन्धि	" "
राजम्य	राजम्यक राजम्य	राजम्य	" "
दीवयातक	दीवयातक दीवयातक	दीवयातक	" "
वैश्वक	वैश्वक	वैश्वक	" "
अम्बरीषपुत्र	अम्बरीषपुत्रक	अम्बरीषपुत्र	" "
आत्मकार्म्य	आत्मकार्म्यक	आत्मकार्म्य	" "

१. ४२ १२४, ५० २१५, १६।

२. ४३ १२०, ५० २५१।

३. ४२-४५, ५० १८१।

४. ४-२-५२, ५० १८४, १८५।



राजन्यायिक विषयों में शाक्यकुशयन आश्वमेधरायण शीशुप उषुम्बर, वैश्वल मार्कुतावन साम्प्रय वासि उर्ध्वनाम तथा अश्वि से माप्यकार परिचित थे यद्यपि उन्होंने इनमें से केवल दो का ही उल्लेख किया है। राजन्यायि आकृति-गण है, जिससे पता चलता है कि विषयों (देशों) पर क्षत्रियों का अधिकार बरक़्ता रहता था और जो विषय कब एक क्षत्रिय-जाति के अधीन था वह आज वृषटी क्षत्रिय-जाति के हाथ में चला जा सकता था।<sup>१</sup> इस दृष्टि से माप्यकार का निवास और अमिजन का जन्म भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ क्षत्रिय-जातियाँ प्रारम्भ में किसी एक प्रदेश में रहती थीं किन्तु बाद में वे अलग चली गईं। पूर्व प्रदेश उनका अमिजन और नवीन प्रदेश निवास कहा जाता था। उदाहरणार्थ जब मासुर्धों ने अश्वत्थि और उसके समीपवर्ती प्रदेश को अपना निवास बना लिया तब उनका पुत्राभा अमपद केवल अमिजन रह गया अतपद नहीं। अतपद और अमिजन का यह अन्तर ध्यात देने योग्य है।<sup>२</sup>

अतपदी और अतपद—अनपदों के राजा अतपदी तथा अन्य जन अतपद कहलाते थे। पुराण राजधानी के लोगों का समूह या क्षेत्र पीर कहा जाता था।<sup>३</sup> यदि अतपद में संघ-शासन हुआ तो अतपदियों की संख्या अधिक रहती थी। एक ही अतपद में रहनेवाले परस्पर अतपद कहलाते थे। यह बात इस तथ्य की द्योतक है कि तत्कालीन जनता में सामरिकता का भाव विद्यमान था और वह अपने अतपद का प्रति आरम्भिता का अनुभव करती थी। अतपद के प्रति भक्ति की अपेक्षा नागरिक से की जाती थी। अतपद और अतपदी दोनों के प्रति भक्ति के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता था। मात्र अतपद और मात्र राजा दोनों के प्रति भक्ति रखनेवाले को मात्रक और इसी प्रकार बुद्धि-अतपद और वाज्य अतपदी के प्रति भक्ति (संघ्य भाव) रखनेवाले को बुद्धिक<sup>४</sup> कहते थे। अतपद और अतपदी दोनों में से किसी के प्रति भी विश्वासघात झूठरे के प्रति भी विश्वासघात माना जाता था। अतपदी अतपद का संरक्षक था इसलिए नागरिक को अतपद के साथ ही अतपदी के प्रति भी मत्त (छापस) होना आवश्यक था। यह बात उन्हीं अनपदियों के विषय में भी जो उस अतपद के मुख क्षत्रियजन तथा शासक दोनों थे।

१ ४ २-५२, पृ० १८४।

२ निवासाभिजनयोः की विशेषः? निवासी नाम यत्र सम्प्रत्युप्यते। अमिजनो नाम यत्र पूर्वव्यतिम् ।—४ ३-९०, पृ० २४४।

३ आयतनासः हिम्बु पाणिनी ५० २३६।

४ अतपदिना अतपदवत्सर्वे अतपदेन सामान्याभ्यानां बहुवचने ।—४-३ १००, पृ० २४६।

५ ६-३-८५।

खण्ड ६

साहित्य और कला



## अध्याय १

### शिक्षा

शिक्षा की पृष्ठभूमि—महामाय का काल ब्राह्मणों के परम उत्कर्ष का काल था और पतंजलि तत्कालीन ब्राह्मण-समाज के वास्तविक प्रतिनिधि थे। इस समय देश का बौद्धिक और आध्यात्मिक ही नहीं राजनीतिक नेतृत्व भी ब्राह्मणों के हाथ में था। इस सत्ता और शक्ति के भीतर बौद्धधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी निहित थी। फलतः चातुर्वर्ण्य चातुराध्याय्य चक्रवर्तित्व और यज्ञादि कर्मकाण्डों की पुनः प्रतिष्ठा के साथ कुछ शताब्दियों से अभिभूत वैदिक संस्कृति और साहित्य का पुनः प्रचार और प्रसार प्रारम्भ हो गया था। यह युग संस्कृत-साहित्य के भी उत्थान का था। व्याकरण की उत्पत्ति का परिणाम प्रायैदिक प्राकृतों के विकास और संस्कृत के प्रति जन-सामान्य की विरक्ति के रूप में सामने आ चुका था। संस्कृत सिष्ट लोगों तक सीमित रह गई थी। वैदिक संस्कृति और संस्कृत के अधिकतम संबंध को विद्वान् श्रेय जानते थे। बौद्धधर्म ने सबसे बड़ा विरोध बेदों की आप्तता और यज्ञादि कर्मकाण्ड का किया था। इसलिये, दुग्धकाक में विकसित वैदिक पुनरुत्थान की धारा प्रपातत यात्रिक संस्कृति के रूप में ही सामने आई। पतंजलि आत्त्विज्ञान के और वैदिक संस्कृति के जन्य उपासक। वे जानते थे कि प्राकृतों की बढ़ती आधी की रोकने के दो ही उपाय हैं—प्राकृतों के प्रति जूना-भावना की उत्पत्ति और संस्कृत का व्यापक प्रचार। प्राकृत बहुजन-समाज की भाषा बन चुकी थी। सहसा इतने बड़े समाज को बदलना उनके बंध का न था। निम्न वर्ग में उनका सम्पर्क भी न था। वे स्वयं पुष्पमित्र के यात्रक थे। अरबनेत्र-यात्रक पुष्पमित्र के प्रोत्साहन ने वेग में सहस्रों ब्राह्मणों की यात्रक-भूति की ओर प्रोत्साहित किया था। पतंजलि त्रैय विद्वान् के लिए यह भीबना कठिन न था कि यदि इन यात्रिकों को व्याकरण की ओर उन्मुख कर दिया जाय तो संस्कृत की उन्नति में बड़ी महापता मिस मरती है। वे स्वयं अध्यापक थे। उन्होंने प्रत्यक्ष नियम तथा उपदेश द्वारा उन्हें व्याकरण की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया। इन कारण महामाय में प्राप्त होनेवाले शिक्षा सिद्धान्त तथा शिक्षा-विषयक उस्तम ब्राह्मण की शिक्षा तथा समाज में ही सम्बन्ध है। बेदों बेदांनों और वैदिक शिक्षा-पद्धति के विषय में ही उनसे जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भाषा को कुछ कहा जा रहा है उसे इसी मन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य—पतंजलि ने कहा है कि ब्राह्मण को निष्कारण या निष्काम मात्र स पर्यंत महित वेद का अध्ययन करना चाहिए और उनका अर्थतत्त्व समझना चाहिए क्योंकि वेद-वेदांग माहात्त्व धर्म हैं। यह उनकी दृष्टि में ब्राह्मण का सहज कर्तव्य था। वे व्याकरण की पद्धतियों में मुख्य मानत थे इसलिये उनकी दृष्टि में व्याकरण का अध्ययन परमावश्यक था। बेदों की रक्षा बिना व्याकरण के असम्भव है। जो व्याकरण नहीं जानता, वह वेद नहीं समझ सकता, इसलिये व्याकरण

का ज्ञान वेदाध्ययन के पहले आवश्यक है यह उनका मत था।<sup>१</sup> प्राचीन काल में ऐसा होता भी था। उपनयन-संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे। जब वे उच्चारण-सम्बन्धी आत्मन्तर और ब्राह्म प्रमर्शों तथा उच्चारण के कारणों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेते थे, तब उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। पतञ्जलि के समय में स्थिति उल्टी गई थी।<sup>२</sup> विद्यार्थी सीधे वेद प्रारम्भ कर देते थे और कहते सगे कि वैदिक शब्दों का वेद से और लौकिक शब्दों का ज्ञान लौक से ही ही आयागा तब व्याकरण की क्या आवश्यकता ? इस स्थिति के प्रतीकार के लिए पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन पर और विद्या और कहा कि वेद की रक्षा के बिना व्याकरण के सम्भव नहीं है। जो सोप आगम और बर्णविकार नहीं समझता है वह मर्षी भक्ति वेदों का पाठन नहीं कर सकता।<sup>३</sup> यज्ञ करने-करानेवालों को ही व्याकरण जानने की और भी आवश्यकता है। वेदों के बिन मर्षों का यज्ञ में उपयोग होता है उनमें किम्विना-सम्बन्धी कुछ परिवर्तन आवश्यकतानुसार यज्ञ तत्र करने पड़ते हैं। यह काम भी व्याकरण-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। यह बात तो सब जानते हैं कि ब्राह्मण को शब्दों (शुद्ध शब्दों) का ज्ञान होना चाहिए। वह भी बिना व्याकरण के नहीं हो सकता।<sup>४</sup> याज्ञिकों के शास्त्र में बहुत-से ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनका अर्थ बिना व्याकरण ज्ञान के स्पष्ट नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ अग्नि-वचन के निमित्त स्तूलपुपती जनकवाही के आध्ययन का विधान है। स्तूलपुपती के दो अर्थ हो सकते हैं—बड़े-बड़े पुपती (बम्बो) वाली तथा स्तूल और पुपतवासी। ऐसे स्वर्णों पर व्याकरण जाननेवाला व्यक्ति ठीक अर्थ को समझ सकता है। यदि पूर्वपर प्रकृति स्वर ही तो बहुवीहि और यदि अग्नीवात हो तो तत्पुस्य पथ होगा।<sup>५</sup>

१ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः पठन्तो वेदोऽप्येयो ज्ञेयश्च प्रबान् च पठन्तेषु व्याकरणम्।  
—आ० १ पृ० ३।

२ पुरातन्य एतद्वासी संस्कारोत्तरं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तैम्यस्तत्र स्वानकरचानुप्रदानोऽप्येयो वैदिका सञ्जा उपदिश्यते। तद्वदत्वे न तथा। वेदमपीत्य स्वरिता वक्तारो भवन्ति—वेदान्तो वैदिका सञ्जा सिद्धा लोकारण लौकिका। अनर्थकं व्याकरणम्।—  
आ० १, पृ० १०।

३ रक्षां वेदानामप्येय व्याकरणम् लोपागमबर्णविकारतो हि सम्यग्वेदान् परि पालयिष्यति।—आ० १ पृ० २।

४ न च सर्वोत्कर्षं च सर्वाग्निः। विमर्शितजिर्बेर्बे अर्था निगदिता। ते चावश्यं यज्ञमस्तेन पचायथं विपरिचममित्त्याः। तासां वैयकरणं प्रकरोति यचायथं विपरिचमयितुम्।—बृही।

५ ब्राह्मणेनावस्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेय व्याकरणं लक्षुनीयायेन शब्दा शक्या ज्ञातुम्।—आ० १ पृ० ३।

६ असम्बेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् याज्ञिका पठन्ति स्तूलपुपतीमनङ्बाहो पालमेत। तस्यां सम्बेहः—स्तूला चासी पुपती च स्तूलपुपती, स्तूलानि पुपन्ति यस्या या स्तूलपुपतीति। तासां वैयकरणं स्वपतोऽभवत्यति।—बृही।

इनके अतिरिक्त व्याकरण पढ़ने से और भी अनेक लाभ हैं। व्याकरण से अमर्यादित प्राकृत जग-व्यवहृत शब्दों को म्मच्छ कहते हैं। ब्राह्मण को अपवाद बोलकर म्मच्छ नहीं बनना चाहिए।<sup>१</sup> स्वर या वण की दृष्टि से अनुद बोला गया अर्थ बाँधित अथ वा बोधक नहीं होता। यत्र में बोला गया हुप् या अगुद अर्थ बन्ध बनकर यत्रमात्र का नाश कर बाधता है।<sup>२</sup> वृत्रामुर का नाश इनी प्रकार हुआ था। इनके ठाक बिन्दु जो व्यक्ति व्यवहार-काम में शब्दों का यवार्थ उच्चारण करता है वह इस लोके तथा परलोक में उत्कर्ष और प्रतिष्ठा का भागी बनता है और जो ऐसा नहीं कर सकता वह अपशब्दों का उच्चारण कर भ्रष्ट बनता है।<sup>३</sup> एक-एक शुद्ध शब्द के अनेक अपभ्रंश-रूप समाज में व्यवहृत होते हैं। उनका उच्चारण अन्य शेष सबों से यह कहकर छुकारा नहीं जा सकता कि मैंने अज्ञानवश अगुद उच्चारण किया है क्योंकि ब्रह्महत्या और मुरा पान के समान अनजान भी अगुद शब्द का व्यवहार शून्य उत्पन्न करता है। व्याकरण न जानने से हस्त शीर्ष प्लुत का भी ज्ञान नहीं होता। ऐसे व्यक्ति प्लुतत्व नियम न जानने के कारण अमिबाहन का ठीक उत्तर नहीं दे सकते।<sup>४</sup> उनका स्थिति स्त्रियो जैसा ही जाती है। याजिका को सविभक्ति प्रयाज करने पड़ते हैं। उसके लिए भा व्याकरण जानना आवश्यक है।<sup>५</sup> ब्राह्मणों को आर्त्विजौन होना चाहिए और आर्त्विजौन बह हो सकता है जो प्रतिपद प्रतिस्वर और प्रत्यक्षर साष्ट-साष्ट उच्चारण कर सके। यह बिना व्याकरण जाने नहीं हो सकता।<sup>६</sup> अथ महान् बन्ध के रूप में प्राणिपों में निबन्ध करना है। हमें भी महान् बन्ध से अपना साम्य करने के लिए व्याकरण जानना चाहिए।<sup>७</sup> मनीषी ब्राह्मण नामाख्यातौपसगनिपाठ इन चार अर्गोबार्गी बाणी को ठीक जानते हैं।<sup>८</sup> बाणी

१ ब्राह्मणेन न म्मच्छित्ते तापमायितवे। म्मच्छो ह वा एव धरपाद्यः।—भा० १, ५० ४।

२ हुप् धारः स्वरतो बधनो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमबमाह—सबागव्यो यत्रान्नं हिनस्ति यवेम् शानुः स्वरतोऽपराधत।—बही।

३ यस्तु प्रयुद्धते कुशलो विदोर्षे शरदान् यथावद् व्यवहारकाले।  
सोऽन्तमाजोतिर् अयं परत्र बाप्योगविद् हुप्यति चापघर्षः॥—बही।

४ एककस्य हि शब्दस्य बहुबोऽप्यर्थाः—नात्यन्तायातानं शरत्वं नवितुमर्हति।  
यो ह्यज्ञानान् ब्रह्मज्ञानं हन्यान् मुरां वा विवेकं मध्ये सोऽपि पतितः स्यान्।—बही।

५ सविद्वान् प्रत्यमिवादे नाम्नो येन प्लुतिं विदुः।  
कामं तेषु तु विप्रोप्य स्त्रीप्यायमहं बधेत्॥—भा० १ ५० ६।

६ प्रयाजा सविभक्तिकाः कार्याः। न चाक्षरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्।—बही।

७ या वा इनां परशाः स्वरयोऽस्तयो वाच विदधाति स आर्त्विजौनः। आर्त्विजौनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।—बही।

८ महादेवो मर्यादां आर्त्विजेभ्यः महता देवेन न साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।—भा० १ ५० ७।

९ अन्वारि वास्परिमितानि पदानि तानि विदुर्बाह्या ये मनीषिणः।—बही।

व्याकरणज्ञ के सामने अपने सम्पूर्ण अप्रच्छन्न सौन्दर्य रहस्य क साथ इस प्रकार उपस्थित रहती है, जिस प्रकार सुभासा अलङ्कृत पत्नी अपने पति के सम्मुख ।<sup>१</sup> जो लोग छने हुए सत्त्व के समान विकार रहित वाणी बोलते हैं उनकी विज्ञा पर मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है ।<sup>२</sup> अपसम्ब बोलने के बाद प्रायश्चित्त-स्वरूप सारस्वती इष्टि करनी चाहिए, ऐसा याज्ञिक लोग कहते हैं ।<sup>३</sup> जन्म ४ बस दिन बाद पुन का नामकरण करना चाहिए । नामकरण के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों ने जो नियम स्थिर किये हैं, उनका पालन बिना व्याकरणजाने नहीं हो सकता । सप्त विभक्तियों के ठीक उच्चारण से जिसका तात्त्विक अनुष्णरित होता रहता है, वह बचन के समान सत्यदेव बनता है । व्याकरण ज्ञान से ही शुद्ध विभक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है ।

इस प्रकार, भाष्यकार की दृष्टि में अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वेदरक्षा वा, क्योंकि वे वेद की सहाय्य बर्ण मानते थे । व्याकरण वेद-रक्षा में सर्वाधिक सहायक वा । इसलिये, वे उक्त अध्ययन की आवश्यक समझते थे । वेद-रक्षा का सर्वाधिक उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था यत् उन्हें ही ब्राह्मणों सिखा-सत्वाओं और शिष्या-यज्ञति का ही विशेषतः उल्लेख किया है ।

सिखा का दूसरा अर्थ वा बालक को सिष्ट बनाना । भाष्यकार की दृष्टि में सिष्टों का बड़ा अर्थ स्वान वा । वास्तव में सिष्ट ही समाज की बुरी थे । सिष्ट ही प्रकार के बनते थे—सिखा से और परिश से । शिक्षा का मूल व्याकरण ज्ञान वा इसलिये व्याकरण सिष्ट माने जाते थे । सिष्टि शास्त्र द्वारा ही होती है और व्याकरण शास्त्र ही है, इसलिये, उन्हें सिष्ट कहना चाहिए, यह फलबन्धि का निवार वा । शिक्षा के अतिरिक्त निवास और आचार भी सिष्टत्व के चिह्न थे । आर्यावर्त के निवासी ब्राह्मणों में जो अशुभ ही बलोक्य दितेन्द्रिय और किसी विशेष शास्त्र में पारंगत होते थे, वे सिष्ट माने जाते थे । इनकी कही हुई बात प्रमाहित मानी जाती थी । भाष्यकार ने अष्टाध्यायी का प्रयोग सिष्ट-ज्ञान माना है । अष्टाध्यायी के अध्ययन से व्यक्ति में यह योग्यता जाती है कि वह सिष्टों और अशिष्टों को पहचान कर सके ।

१ ज्योत्स्नी तन्वं बिल्ले जायेव पत्ये जस्यती शुभासा ।—भा० १, ५० ८ ।

२ सक्तुनिब तितजना पुनन्तो यत्र बीरा मनसा वाचमङ्गल—मत्रा लक्ष्या लक्ष्यानि जामते मर्यादा लक्ष्मीनिहिताविवाधि ।—वही ।

३ आहिताग्निरपञ्चदं, प्रमुष्य प्राक्विचलीया सारस्वतीमिष्टिं निर्वरेत ।—भा० १, ५० १ ।

४ बसम्पुतरकासं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोवबवात्सत्सत्स्यमकृतं ह्यजरं चतुरधरं बाहुतं नाम कुर्वाण तद्वितम् ।—वही ।

५ सुदेवोऽस्तिबर्णं यस्य ते सप्तसिन्धवः अनुष्णरति काकुर्दं सुम्यं सुविरामिब, सप्तदेवाः स्यामेत्यर्घ्येयं व्याकरणम् ।—भा० १, ५० १० ।

६ के बुनः शिष्टाः? व्याकरणम् । कुत एतत्? शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः शिष्टिपूर्वकं वा शास्त्रम् ।—एवं तर्हि निवासेत आचारतत्त्वम् । एतस्मिन् आर्यनिवासे वे ब्राह्मणा कुम्भीधर्म्या मलौत्तुया अगृह्यमाणकारणाः । किञ्चिदन्तरेण कस्मादिबद् विद्यायाः पारवास्तव भवताः शिष्टाः शिष्टज्ञानार्थाः ।—अष्टाध्यायी १ १-१०९, ५० १५९ ।

भाष्यकार के इन समस्त बक्तियों को यदि हम एक साथ मिलाकर देखें तो स्पष्ट होगा कि वे विद्या के ही फल मानते थे—भौतिक विकास और नैतिक वृत्ति और इन दोनों का उद्देश्य था प्राचीन संस्कृति एवं माहिल्य की सुरक्षा। प्रथम भाष्यक में उनका द्वारा गिनाये गये व्याकरण पढ़ने के सार उपयोगों का भी समावेश इनमें ही जाता है। नैतिक विकास पर इतना जोर देने के कारण ही उन्होंने इन बातों की बार-बार बहुराया है कि तब (मुहूर्त के लिए कष्ट-सहन तथा संयम) अध्ययन और ब्राह्मण माता-पिता में उत्पत्ति ये तीन बातें मिलकर किमी को ब्राह्मण बनाती हैं। जिनमें प्रथम दो बातें नहीं होतीं वह केवल जाति-ब्राह्मण होता है। जिनके कारण वह गीत, पिपलास होता है और तब के कारण दुःख्याचार। विद्या और आचार-गुणिया इन दोनों पर परतंत्रित ने समान बल दिया है और विद्या कम और योनि तीनों को दृष्टि से अवशत व्यक्ति को ही ब्राह्मण माना है।

उपनयन—यौनि-मुक्ति के लिए धर्मशास्त्रों में अनेक नियमों की मूर्ति की हैं जिनका सम्बन्ध अत्यन्त हुआ है। विद्या और कर्म की प्रगति और पुष्टि का सामान्य नियमों तथा शिक्षा-सम्बन्धों पर था। सामान्य विचारों या कि बालक जन्मते मूत्र उत्पन्न होता है और सम्भार स द्विज बनता है। संस्कार का सामान्य अर्थ उपनयन था। उपनयन का अर्थ है आचार्य के पास आना। पाणिनि ने इस क्रिया की आचार्यकरण मंत्रा भी है, जिसकी व्याख्या करते हुए काणिकाकार ने कहा है कि उपनयन करनेवाला माणवक का इस ढंग से करने पाम स जाता है, जिसमें वह (उप-नयन) स्वयं आचार्य ही जाता है। उपनयन के बाद बालक गुरु के साथ ही रहना था इसलिए उस अन्तेवासी कहते थे। अन्तेवासी श्रैबधिक होने से और बर्षों कहलाता था। बर्षों मूत्र नहीं ही सकते थे यह बात इस धार्य से ही स्पष्ट है। गुरु का स्थान जहाँ रहकर बालक विद्या ग्रहण करता था गुरुकुल या तीर्थ कहलाता था। एक ही तीर्थ में रहकर विद्याभ्यास करनेवालों की संघीय कहते थे। ये सब भारी भारी की तरह हिन्दु-मिलकर रहते थे। पाणिनि ने सीन्त और सीर्य के साथ ही मदीय्य का भी स्वरण किया है।

१ तपः पुनः च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।

तपः श्रुतान्या हीनो यो जातिब्राह्मण एव स॥

गीतः शुभ्याचारः कपिलकृत इत्येतानप्यस्म्यस्तरान् ब्राह्मण्ये पुमान् बुर्बन्ति।—

२-२-१, पृ० ३४०।

२ शौचि यस्यावहातानि विद्या योनिश्चकर्मच।

एतच्छिष्ये विजानीहि ब्राह्मणापुत्रस्य लक्षणम् ॥—४ १४८, भा० १, पृ० ६२।

३ संस्कारोत्तरं ब्राह्मण्यः प्यारुणै स्मापीयते।—भा० १ पृ० १०।

४ १ ३ ३६।

५ मापवकमीदृशेन विविनाऽऽमसमीयं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार-सम्पत्तये।—बही(काठि०)।

६ ४-२ १०४ भा० १९, पृ० २०९। ७ ५-२ १३४।

८ २ १ १, पृ० २३१।

९ ६ ३-८७ पृ० ३५४।

१० ४४ १०७।

११ ४४ १०८।



मानव—माय्य में मानव दण्डमाणव वचीं बह्याचारी और छात्र दण्ड विद्यार्थी के अंग में प्रयुक्त हुए हैं। मानव छोटे बालक को कहते थे। जब ये प्रारम्भिक अध्ययन के लिए शाळा में प्रविष्ट होते थे तब इनका मुण्डन करा दिया जाता था।<sup>१</sup> उपनयन के समय मुण्डन की प्रथा थी। दण्ड कर्मण्डसु और मृगचर्म साव लेकर ये गुरु के आश्रम में प्रवेश करते थे। वहाँ शैशवर्षा करते थे और नियमपूर्वक अध्ययन करते थे। नियमपूर्वक अध्ययन करनेवाले माणवकों को 'उपयुक्त' कहते थे। ये दण्ड और अर्ध शीलों का अभ्यास करते थे। माय्य में नियमित और 'यथा-कथा' पढ़ने वालों में अन्तर किया है। 'उपाध्याय से पढ़ता है' इस वाक्य में 'पंथनी' का प्रयोग नियमित अध्ययन के प्रथम में ही होता था। गट या दण्डिक के पास जाकर यथा-कथा उनकी बातें सुनने में प्रथम में 'गट की सुनता है' ऐसा पंथी विमक्ति-मुक्त वाक्य प्रचलित था 'गट से सुनता है' नहीं।<sup>१</sup>

मानवक नीची कक्षाओं के छात्र होते थे और बह्याचारी विद्विष्ट अध्ययन के बड़ी छात्र। आश्रमों में रहनेवाले मानव दण्ड छात्र लेकर चलेते थे। इसीलिए, वे दण्ड-मानव कहलाते थे। दण्ड-माणवों का परिचय उनके गुरु के नाम से दिया जाता था यथा दण्ड-माणव या काण्ड (कण्ड के सिष्य) दण्ड-माणव।<sup>१</sup> काशिकाकार ने गौकस और माहक दण्ड-माणवों का भी उल्लेख किया है। ये दण्ड-माणव अनुभू होते थे। वेद का शार्थ अध्ययन इस अवस्था के बाद प्रारम्भ होता था।<sup>१</sup> पाणिनि ने दण्ड-माणव और अन्तेवासी में अन्तर किया है, जिससे अनुमान होता है कि सब दण्ड-माणव अन्तेवासी नहीं होते थे।<sup>१</sup> कुछ छात्र दिन में अध्ययन कर राध्या समय घर चले जाठ थे। ये गुरुकुल के पास-पड़ोस पार्श्वों के रहनेवाले छात्र होते थे। माणवों के दण्ड को वापाड भी कहते थे।

अन्तेवासी छात्र—अन्तेवासी आश्रम में गुरु के साथ उसके परिवार के अंग बनकर रहते थे। इनमें श्रेष्ठ या उच्च कक्षा के अन्तेवासी को 'प्रान्तवासी' कहते थे। 'गुरुकुल शब्द में

१ ३-१-८, पृ० ३९।

२ आश्रमोपयोगे उपयोग इति किमर्थम्? गटस्य श्रुजोति, दण्डिकस्य श्रुजोति एवं तदुपायोप्ये इत्युच्यते सर्वश्रुतयोस्तत्र प्रकर्षवतिविज्ञास्यते। साधुयोऽयं उपयोग इति। कथं साधुयः? यः प्रत्यार्षयो। अश्रुतयोः को भवितुमर्हति? यो नियमपूर्वकः। तद्यथा, उपयुक्ता मानवका इत्युच्यते य एतं नियमपूर्वकमनीतवन्तो मवन्ति।—१ ४-२९, पृ० १९५।

३ ४-२ १०४, वा २३ पृ० २१०।

४ पौकसा दण्डमाणव अन्तेवासी वा वासा माहका।—४ ३-१३०।

५ अगुषो मायवे बह्याचरणास्यायामिति विज्ञेयस्तद् वक्तव्यम्।—५-४ १५५, पृ० ५१४।

६ न दण्डमाणवान्तेवासीतु।—वही।

७ विद्यावापाडमन्वदण्डयोः।—५ १ ११०।

८ २-२-१८, पृ० १९५।

पारिवारिकता का मांभ छिया हुआ है। छात्र उसे अपना गुरुकुल मानते थे और कष्ट उठाकर भी वहाँ रहना पसन्द करते थे।<sup>१</sup>

शिष्य और छात्र शब्द सामान्यतया प्रत्येक विद्यार्थी के वाचक थे। गुरु अपने कुल में रहते वाले छात्र को छात्र के समान वर्षा आतप जैसे कर्णों से बचाता था। इस प्रकार, यह शिष्य पर छात्र के समान छाया रखता था। शिष्य भी छात्र के समान गुरु का परिपालन करता था। इसी पुष्टि से शिष्य छात्र और गुरु छात्र कहलाता था।<sup>१</sup> गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। यदि हम इसी प्रसंग की काविकावृत्ति पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट ही जायगा कि परवर्ती कुछ शताब्दियों में गुरुकुल-संस्था का नैतिक स्वर काफी नीचे उतर आया था। इस समय गुरु की सेवा दृष्ट में जागरूकता और उससे बौधों को छिपाकर रखना छात्र की परिभाषा मानी जाने लगी थी क्योंकि छात्रण या आचरण के कारण छात्र कहे जानेवाले छात्र के समान व्यवहार छात्र का हीना चाहिए था।<sup>१</sup> निश्चित ही यह परिभाषा उन गुरुओं के द्वारा निश्चित की गई होगी जो छात्रों को अपनी सेवा का साधनमान समझते होंगे और समाज तक अपनी दुर्बलताओं के पहुँचने से मयमीत रहते होंगे।

ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी वेदाभ्यासी को कहते थे। काविकाकार ने कहा है कि ब्रह्म वेद का कहते हैं और उससे सहचरित अभ्यसन की भी। उसने किए किया हुआ व्रत ब्रह्मचर्य कहलाता है और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करनेवाला ब्रह्मचारी। तीन वर्ष ही वेद पढ़ते थे। इसलिए, ब्रह्मचारी भी वैदिक होते थे। काविका में उसे विद्याग्रहणार्थ उपनीत तथा नियम वा मासबल करनेवाला कहा गया है।<sup>१</sup> जिस प्रकार एक गुरु के पास अभ्यसन करनेवाले सतःपर्य्य होते थे उसी प्रकार समान ब्रह्मचर्य का आचरण करनेवाले या एक ही वेद का अभ्यसन करनेवाले ब्रह्मचारी कहलाते थे।<sup>१</sup>

ब्राह्मण के लिए उपनयन के पश्चात् मङ्गलानुसर्ग वर्ष तक अभ्यसन की मर्यादा थी। ये ब्रह्मचारी अष्टाचत्वारिंशत्क या अष्टाचत्वारिंशती होते थे। प्रत्येक वेद के अभ्यसन में ब्राह्मण वर्ष लगाते थे। किन्तु सौम मुनिधानुसार कम समय तक के लिए भी ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे। यहाँ 'भवान्तरदीप्ती' होते थे। सौम आचर्यकानुसार किसी विधिपुत्र ब्राह्मण के लिए भी

१ वेदवस्तस्य गुरुकुलम् — २-१ १, पु० २३१ तथा पश्य वेदवत् कर्णधितो विष्णुमित्रो

गुरुकुलम् ।—बहो ५० २२७।

२ गुरुगच्छत्रम् । गुरुना शिष्यगच्छत्रकच्छात्र । शिष्येण च गुरुगच्छत्रत् परिपास्य ।—

४४ ६२ पु० २८२।

३ छात्राभिन्यो ण—छात्र छीसं यस्य छात्र । छात्रनावाचरण्यागच्छत्रम् । गुरुकार्येव्यव-

हितस्तच्छिद्रावरप्रभूतगच्छत्रसील शिष्यगच्छत्र ।—४४ ६२ काशिनः ।

४ ब्रह्म वेदवस्तव्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म तच्चरतीति ब्रह्मचारी ।—६ ३-८६ काशिका ।

५ ब्रह्मचारी वेदविज्ञोऽग्निप्रेत । स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति । नियममत्तेवत्

इत्यर्थः । ब्राह्मणादपरत्रयो वर्णा वर्जित इत्युच्यन्ते ।—५-२ १३४।

६ समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति स ब्रह्मचारी ।—६ ३-८६ पु० ३८५।

पुस्तक में प्रवेश पा सकते थे। उदाहरणार्थ महानामी श्रुतार्थों के लिए बहुबचन का आचरण करनेवासे माह्वानाम्निक् और आदित्यवत् (इत्यविशेष) का अध्ययन करनेवाले आदित्यवतिक कहलाते थे। माप्यकार ने तिस्रती चातुर्मासिक या चातुर्मासी ब्रह्मचारी का उल्लेख किया है। चातुर्मासी लोके चातुर्मास्य यज्ञ के प्रती होते थे।<sup>१</sup>

स्नातक—धर्मसूत्रों में वसन्त में उपमयन-संस्कार का विधान है। इससे अनुमान होता है कि इस समय मकर-संक्रान्ति के बाद नहीं छत्र का प्रारम्भ होता था। अध्ययन की समाप्ति गोशान-संस्कार के बाद होती थी। माप्य में संस्कार के रूप में ती बीजान का उल्लेख नहीं है, किन्तु उपाध्याय को भी देने का निर्देश अवश्य है।<sup>२</sup> अध्ययन की समाप्ति के बाद नृच की समुद्रा सेकर विधिष्ठ स्नान के बाद विद्यार्थी गुरुद्वारा छोड़ा था।<sup>३</sup> छत्र उसे स्नातक कहते थे। यात्रादिगम में स्नान शब्द का परिचयन शेर-समाप्ति के अर्थ में मिलता है और उससे स्नान में क प्रत्यय होकर स्नातक शब्द निष्पन्न हुआ है (५४ २९)। सन्धी शब्द भी स्नातक का वाचक था। उत्तरोत्तर घेष्ठता की दृष्टि से माप्यकार ने सन्धितर और सन्धितम तथा सन्धीयान और सन्धिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है। सन्धित में किन् प्रत्यय के निर्देशक पाणिनि-सूत्र में स्वयं इस बात की ध्वनि है कि सन्धी शब्द सामान्य मास्यचारी के लिए व्यवहृत नहीं होता था।<sup>४</sup>

छात्र के उपलक्षण—छात्रों की अपनी वेसनूपा थी जिससे वे सरसता से पहचाने जा सकते थे। आश्चर्य की ही बात है कि सम्पूर्ण महाभाष्य में यज्ञोपवीत का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वषट् विधेयत् पासाक्षरवट् मूमधर्म<sup>५</sup> और कमण्डलु विद्यार्थी के ये सामान्य उपलक्षण थे। माप्य कार ने छात्र को अनेक बार कमण्डलुपाणि कहा है। उनके मत से एक बार छात्र को बेलकर कीर्षी भी सरसता से समझ सकता था कि कमण्डलु छात्र का लक्षण (पहचान) है। वषट् सम्भवतः यही भाव के छात्रों के लिए आवश्यक नहीं था।

१ तदस्य बहुबचनम् महानाम्नीवचरति माह्वानाम्निक्, आदित्यवतिक, महानाम्नीवत्-  
चरितं यतं महानाम्नीवो व्रतमिति। अथान्तरदीक्षादिभ्यो द्विनिर्बन्तव्यः अथान्तरदीक्षी तिलकरी।  
अष्टावत्वारिंशतो द्बुवचद्विनिश्च वस्तव्यः—अष्टावत्वारिंशत् अष्टावत्वारिंशो चातुर्मासिनां  
पक्षोपचक्र इवच द्विनिश्च वस्तव्यः, चातुर्मासिकः चातुर्मासी महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यं माह्वानाम्निक्  
आदित्यवतिकम्।—५ १ १४, वा० १ से ६, पृ० ३४१ ४२।

२ उपाध्याय्याय पीवीयते।—२ ३ १४ वा० १, पृ० ४१६।

३ अर्वाहय स्नात्वा मुचमिरनुजातेन कद्वाऽऽरौहय्या।—२-१-२६, पृ० २८१।

४ ६४ १६३ वा० २ पृ० ५००।

५ ५ २-२१।

६ ३-१ २५।

७ कमण्डलुपाणिच्छात्र।—१-४-८४ पृ० २०१ तथा २-३-२१, पृ० ४२३।

८ अपि मवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमत्राक्षीत्। सन्धीती कमण्डलुपाणिश्चात्रो बुध्वातस्य  
तदेव लक्षणं भवति।—१ ४-८४ वा० २, पृ० २०१।

आवरणविषयक नियम तथा नैतिक मर्यादा—छात्रों के लिए आचरण—सम्बन्धी नियम निर्दिष्ट थे। प्रत्येक छात्र गुरु का सादर अभिवादन करता था।<sup>१</sup> यह विज्ञान पुत्र की माता-पिता ही रहे बैठे। यह बात भी भाष्य में स्पष्ट है। छात्र भूमि पर सौते थे।<sup>२</sup> सटबा पर दायन बर्जित था। स्नातक बनने के बाद ही सटबा पर घोषा जा सकता था। जो इस नियम का उल्लंघन करता था वह प्रत्यूह्य माना जाता था। स्वच्छिन्न-शयन का व्रत उपनयन के साथ ही लिया जाता था। गुरुकुल में लटवारोहण सम्भव न था। इसलिये, लटवारोहण का सामान्य अर्थ बिद्या बिना पूज किये घर वापस चला जाना या विवाह कर लेना माना जाता था।<sup>३</sup> लटवारोहण छत्र क्षप या निन्दा का द्योतक था। काशिका-काण्ड तक आठे-धाठे यह विमार्ग पर चलन का उपसहाय बन गया और सभी अविनीत छात्रों को लटवारोहण कहा जाने लगा। ब्रह्मचारी स्वाग्च्छिन्न या स्वच्छिन्नस्त्रीया कहा जाता था।<sup>४</sup> गुरु-शुभूषा छात्र का आत्मिक धर्म था। छात्र इसमें मानसिक मुक्त का अनुभव करते थे। गुरु को स्नान कराना उसके पीछे दबाना उच्छिष्ट भोजन करना आदि बात शुभूषा में सम्मिलित थीं। उच्छिष्ट भोजन और पादोपमंघ्रण को छोड़कर शेष परिश्रम गुरु-मुत्र की भा करनी होती था और यदि गुरुपुत्र भी गुरु हुआ तो उसका उच्छिष्ट भोजन और पाद-संवाहन भी उचित माना जाता था।<sup>५</sup> भाष्यकार ने गुरु का स्थापन गुरु के मुक्त का कारण बतलाया है। विषय के मुक्त का जनक नहीं। इस अनुमान होता है कि शिष्य गुरु-शुभूषा में आत्मसन्तोष का अनुभव नहीं करते थे। बहुत-से कार्य वे निबलता तथा काम सं करते थे। वे जानते थे कि गुरु-शुभूषा से पारलौकिक मुक्त प्राप्त होता है और यदि गुरु प्रसन्न रहे तो अभ्यापन भी अच्छा करेगा। इस प्रकार आत्म-कल्याण की भावना ही शुभूषा के पीछे काम करती थी। काम में मूक हुई बि डाट-फटकार। बहुत-से गुरु औपित्य की विज्ञान किये बिना छात्रों की काम में लगाय रहते थे। इसलिये, अनुर छात्र कार्य और डाट सं बचन के लिए उपाध्याय की दृष्टि सं कतरकर रहते थे।<sup>६</sup>

१ १४५३, पृ० १८४ तथा १-४-५१ पृ० १७७।

२ ४२-१५।

३ अथोत्प स्नात्वा गुरुमिदंभुक्तान्तेन लटवारोहण्य। य इवानीपतोऽभ्यवा करोति स उच्छ्रये लटवारोहण्यो वास्म। नातिव्रतवान्—२-१ २६, पृ० २८१।

४ लटवारोहणं वैह विमार्गं प्रस्थानस्योपसक्तमन्। सर्व एवाविनीत लटवारोहण्य इत्युच्यते।—(बही) कार्णिक०।

५ ४२-२५।

६ गुरुवदस्मिन् गुरुशुभूषेति वसितभ्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनान् पादोपमंघ्रणान्। यदि च गुरुशुभूषेति, गुरुर्मपति तदपि कर्त्तव्यं भवति।—१ १-५६ वा० ८, पृ०, ३३८।

७ कामयि च देन संस्यमान् कर्तुं शरीरमुत्तमं सुखं मानसी प्रीतिः। कर्तुं किम्? गुरोः स्नापनं शुभम्—३ ३-११६ काशिका।

८ ये तावदेते गुरुगुणयो नामतैरपि स्वभूयर्थमेव प्रयसन्ते पारलौकिकं च ना भविष्यति। इह च न प्रीतो च दरुष्यापिष्यन्तीति।—३ १ २६, वा० १४, पृ० ७७।

९ उपाध्यायारन्तर्बले। पश्यत्यय यदि मामुपाध्यायं पश्यति शुभं प्रेवचमुपासन्भो वा। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवसति।—१ ४-२८, पृ० १६४।

छात्रों को विवेकपथ छोटे छात्रों को सिखा। माँवकर निर्वाह करता पढ़ता था। यद्यपि माप्य में विद्यार्थियों द्वारा भिक्षा माँगे जाने का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, फिर भी अनेक स्थितियों से इसका अनुमान होता है।<sup>१</sup>

पुस्तक-बाँस निरन्तर ही कटकर था।<sup>२</sup> एक ठी मम नियमों और द्रव्यों का पालन उसपर अनिश्चित भोजन और तबुपरि यदा-कदा नुस्खों का दुर्व्यवहार। अध्ययन के लिए छात्रों को कबा परिव्यम करना पड़ता था और बहुत-से छात्र उससे डरकर ही अध्ययन छोड़ बैठते थे।<sup>३</sup> बहुत-से बालक नुस्खों की कठोरता के भय से बुद्धुखों में जाने से ही डरते थे। अध्ययन से इस प्रकार डरनेवाले छात्र के लिए माप्य में 'पर्यव्ययन' शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर भी शिष्य का कर्तव्य था कि वह 'माचार्यमीपीत' रहे। शिष्य और उसकी बे सारी किमाएँ जिनसे आचार्य को शारीरिक सुख प्राप्त हो आचार्यमीपीत कही गई हैं।<sup>४</sup> इसलिए कष्ट सहकर भी बाधम में रहना छात्र का कर्तव्य था। बार बार बुद्धुख-परिवर्तन करनेवाले वा प्रविष्ट होकर शीघ्र ही नुस्खुल छोड़कर चले जानेवाले छात्र 'तीर्षकाक' या 'तीर्षभाश' कहे जाते थे।<sup>५</sup>

शिक्षक—माप्य में शिक्षाप्रदान करनेवालों के लिए शिक्षक उपाध्याय प्रवक्ता शोधिय अध्यापक गुरु और आचार्य शब्द मिलते हैं। इनमें शोधिय शब्द बेधाध्यायी का पर्याय है। बिह का अध्ययन करता है। इस अर्थ में शोधिय शब्द प्रयुक्त होता था। इसका शिक्षक से सीधा सम्बन्ध नहीं था। कोई शिक्षक शोधिय भी हो यह दूसरी बात है। छात्र भी शोधिय कहे जा सकते थे। इसी प्रकार, प्रवक्ता प्रवचनकार या व्याख्याता होता था। वह शिक्षक भी हो सकता था यद्यपि उसका शिक्षक होना आवश्यक नहीं था। आचार्य किसी विषय के उच्च कोटि के अधि कारी विद्वान् और मौखिक चिन्तक को कहते थे। वे ज्योग किसी सिद्धान्तविशेष के प्रवर्तक या मौखिक कृति के प्रणेता होते थे। बिसिष्ट आचार्य को प्राचार्य कहते थे।<sup>६</sup> घरनों के प्रमुख प्राय प्राचार्य तथा उनसे सहयोगी आचार्य होते थे। परबसि में पाणिनि को आचार्य कहा है कार्यायन को नहीं। आचार्यों के प्रति बड़ी सम्मान भावना थी। उनकी धैमी उनका आचार, उपचार सभी

१ भिक्षा वासयति ।—३ १-२६, वा० २, पृ० ७१।

२ २-१ १ पृ० २२७।

३ अध्ययनात् पराजयति। य एवं ननुष्य प्रेक्षापूर्वकारा नवति स पश्यति बुद्धमध्ययनं दुर्धरं च मुञ्चन्त बुद्धकारा इति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते ।—१ ४-२६, पृ० १६३।

४ २-२ १८, पृ० ३५०।

५ ५-१ ९, वा० ३ पृ० ३००।

६ यथा तीर्षं काका न चिरं स्वास्तारो भवत्येवं यो गुरुकुलानि यथा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्षकाक इति ।—२-१ ४२, वा० १, पृ० २९४।

७ ५-२-८४ पृ० ४०१।

८ ३-१ ६५।

९ २ २-१८, पृ० ३५०।

कुछ प्रामाणिक माना जाता था।<sup>१</sup> यं लोग अध्यापन भी करते थे किन्तु यह आवश्यक नहीं था। पाणिनि ने भी आचार्य का उपर्युक्त अर्थ ही मानकर उनके प्रणीत ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले अन्तेवासियों का उल्लेख किया है आचार्यों के अन्तेवासियों का नहीं।<sup>२</sup> और पतंजलि ने इस सूत्र का भी उदाहरण दिया है वह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। 'आपिसत्पाणिनीयम्याचीय यौतमीया में उपसर्जन चारों आचार्य ग्रन्थकार हैं शिक्षक नहीं।<sup>३</sup> पतंजलि ने आचार्य को प्रमाण मृत कहा है। उसके भी अन्तेवासी हो सकते थे और प्रायः होते भी थे फिर भी सामान्यतया आचार्य वे जिस अर्थ का बोध आज होता है, उस अर्थ में गुरु शब्द का प्रचार था। अन्तेवासी के सम्बन्ध में ही इस शब्द का व्यवहार होता था। वह उपाध्याय से अधिक सम्मान का बोधक था। उपाध्याय सामान्यतया हर शिक्षक को कहते थे।<sup>४</sup> पतंजलि-काल में यही शब्द शिक्षक के अर्थ में प्रचलित था। गुरुकुल से मिला छात्राओं के शिक्षक भी जिनमें विद्यार्थी पढ़ने मात्र के लिए आते थे और पढ़कर अपने घर चले आते थे उपाध्याय कहलाते थे। उपाध्याय और शिष्य सहचर शब्द थे।<sup>५</sup> आचार्य निश्चुत्क पढ़ाते थे और उपाध्याय गुरु केर यह पतंजलि के किसी उल्लेख से स्पष्ट नहीं होता। पतंजलि के अनुसार गुरु भी उपाध्याय होता था। विद्यार्थी जिसके पास आकर पढ़े उसे उपाध्याय कहते थे। भाष्य से उसके गुरु केने का पता नहीं चलता। केवल उपाध्याय को गाय ही जाती है, यही उल्लेख बार-बार मिलता है।<sup>६</sup> गोदान विद्या-समाप्ति पर भी होता था। गुरु और उपाध्याय में अधिक-से-अधिक इतना अन्तर कहा जा सकता है कि गुरु के पास सी-सी योजन की दूरी से छात्र विद्या प्राप्त करते आते थे<sup>७</sup> और उपाध्याय के निकट पास-पड़ोस के विद्यार्थी। इस प्रकार, गुरु उच्च विद्याओं का शिक्षक था और उपाध्याय उससे भी नीचे कोटि का। यह कहना भी सर्वथा ठीक नहीं है कि उपाध्याय सामान्य लौकिक विषयों और प्रारम्भिक वर्गों के शिक्षक होते थे और गुरु तथा आचार्य वेद-वेदांगों के। महामाष्य में अनेक बार उपाध्याय को वेद का शिक्षक कहा है।<sup>८</sup>

शिक्षक और उपाध्याय में एक अन्तर अवश्य मालूम होता है। उपाध्याय वेद तथा अन्य बौद्धिक विषय ही पढ़ाते थे<sup>९</sup> और शिक्षक प्रायोगिक विषय भी पढ़ाते थे। धनुर्विद्या सिखानेवाले

१ प्रमाणमृत आचार्य ।—१ १ १ वा० ७, पु० १७ एवा ह्याचार्यस्य ङीकी सङ्घते ।—

आ० २, पु० ८१ तथा किमिदमाचार्यविति आचार्यानामुपचारत् ।—आ० २, पु० ८१ ।

२ ३-२ ३६ ।

३ वही, पु० २५७ ।

४ २ १ १ पु० २३१ ।

५ १ ४-२९, वा० २, पु० १६६ ।

६ १ १-५६, वा० १ पु० ३३४ ।

७ उपरेवाधीपतेऽस्मादुपाध्याय ।—३-३-२० वा० १, पु० ३०० ।

८ १ ४ ३२, पु० १६७ तथा २-३-१४, वा० १ पु० ४१६ ।

९ योजनशतावनिगमनमर्हतीति योजनसप्तिको गुरुः ।—५ १-७४, वा० २, पु० ३३७ ।

१० १ १ १ वा० १३ पु० १०४ ।

११ धनुर्विदिसिखते ।—१ ३-२१ वा० ३, पु० ६२ ।

विभक्त होते थे उपाध्याय नहीं। अध्यापक सामान्य शिक्षक होते थे। ये भी तान्त्रिक या प्रायोगिक विषय नहीं पढ़ाते थे। मुश्किली प्रकार की बौद्धिक दार्शनिक और नैतिक या धार्मिक शिक्षा देते थे। शिक्षकवाची सभी शब्दों में मुद्द प्रतिष्ठिततम पद था। भाष्य में वेद-वेदांगों के लिए अध्यापन और अनुविद्यादि के लिए शिक्षक शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उपर्युक्त फलन का पौषक है। भाष्य की उद्योत टीका में आचार्य को उपनयन करनेवाला तथा तत्परिचान् सम्पूर्ण वेद पढ़ानेवाला पतञ्जाली है और उपाध्याय को वेद के अधविषय का शिक्षक।<sup>१</sup>

पतञ्जलि ने खण्डिकोपाध्याय<sup>२</sup> का उल्लेख किया है। खण्डिक प्रारम्भिक कक्षाओं के शिक्षक होते थे जो छात्रों की वेदाद्य कष्टस्व करा देते थे तथा अन्य विषय भी पढ़ाते थे। अध्यापकों में काष्ठाध्यापक<sup>३</sup> का अर्थ स्पष्ट नहीं है। काष्ठाध्यापक का सम्बन्ध काष्ठा (समय-विभाग) से नहीं था इतना ही स्पष्ट है क्योंकि काष्ठादिगम में काष्ठ शब्द परिगणित है काष्ठा नहीं। काष्ठ भूमि की माप थी और मापक के लिए भी इसका प्रयोग होता था। सम्भव है दारुणाध्यापक (विना थके बुझाभार पढ़ाये जानेवाला) के समान काष्ठाध्यापक शुष्क पाठक का बोधक रहा हो। भाष्य में दामन<sup>४</sup> और ऋत्विक्<sup>५</sup> अध्यापक का भी उल्लेख है।

अध्यापक लीग वैदिक भी होते थे और विशिष्ट जन अपने वासकों को घर पर पढ़ाने के लिए भी उन्हें नियुक्त कर लेते थे। भाष्यकार ने महीने-मर प्रतिदिन कुछ समय पढ़ाने के लिए भतन पर नियुक्त अध्यापक की मासिक अध्यापक कहा है।<sup>६</sup> इसी प्रकार पाषाणिक वार्षिक या सांवरसरिक अध्यापक होते थे।

अध्ययन की कष्टसाध्यता—शिव्य और बुद्ध का मिलन शिव्य के लिए ब्रह्मदेव की बुद्धि के निमित्त माना जाता था। भाष्यकार ने इसे ब्रह्मवर्षस्य कहा है। काशिकाकार ने मुद्द-शिव्य-सयोग को ब्रह्मवर्षस्य माना है। शिव्य को विश्वास रहता था कि यदि उपाध्याय या पये तो उसका नियमित अध्ययन निश्चित है और वह अध्ययन जल्दी जल्दी भी पसेगा। अध्ययन की साधना योग कहलाती थी। ब्रह्मचारी योगसाधक माना जाता था।<sup>७</sup> अनेक कष्टों के बीच वह विद्याध्ययन करता था। ठंड में वह उपके (कारीय) जसाकर पढ़ता था। सम्भव है रात्रि में

१ उपनीय सर्ववेदाध्यापकवपाचार्य तथा वेदवेदांगोपाध्यापक उपाध्याय।—  
ब्रह्मोत्पत्ति १ १-५६।

२ १ १ १ वा० १३, पृ० १०४।

३ ८ १-१८, पृ० ३०१।

४ ८ १ ६७ वा० १ २, पृ० ३००।

५ १-२ ३२, वा ४ पृ० ५११।

६ ५ १-८० वा० १, २, पृ० ३३९।

७ ब्रह्मवर्षस्य निमित्तं संयोगो ब्रह्मवर्षस्य।—५-१ ३९, वा० १ पृ० ३२३ तथा का०।

८ उपाध्यायवशेषात्तः शिब्रमध्यप्यामह। उपाध्यायवशेषात्तः आरति मुक्ती-  
श्रीदीय।—३-३-१३३ वा १ पृ० ३२४।

९ मुद्दयते ब्रह्मचारी योगम्।—३ १-८७ वा० १५, पृ० १५५।

बलती कारीप-अग्नि के प्रकाश में बह पुस्तकों में भूष भंग भी दखता जाता हो।' गुडओं का प्रेषण और उपासम्म भी कम कष्टकारी न था।' बहुत-स गुड हुआकार ना हीन थे।' फिर भी मी-मी यौवन बलकर बिद्यार्थी अभ्ययन क लिए जाते थे' और अभ्ययन में श्रम करत थे। भाष्य में ऐसे दो छात्रों का उल्लेख है जो पूरी रात और पूरे दिन पढ़त रहे थे।' दीत और रात्रि में ब अग्नि क पास बैठकर पढ़ते थे।' कभी ठंढे स्वर स बोल-बोलकर पढ़त थे और कभी भीर-भीर। बाक्यों को कष्टम्ब कर समा होता था। कष्टम्ब बाक्य को मधुष्ट या संबुधित कहते थे। शिक्षक भी उच्च स्वर में बोलकर पढ़ात होंगे। भाष्य में एक-ऐसे शिक्षक का उल्लेख है जिसकी आवाज बैठ गई है।' किन्हीं छात्रों में बहुत दीप्त पढ़ सेने की कामना होना स्वामाबिक है।' एम छात्र को घोषणा न करन का भी निषेध एक स्थान पर मिलता है। इच्छा क समान होने पर भा कुछ बिद्यार्थियों का पढ़ना सार्थक होता और कुछ निष्फल हो जाते थे।' यद्यपि प्रत्येक शिक्षक यह स्नाहार करता था कि प्रयत्न सफल हो, किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता था। कुछ बिद्यार्थी प्रयत्न करन पर भी अप्रवीण रह जात थे और कुछ बिना बिषेय श्रम बिज्य भी प्रवीण हो जाते थे।' फिर भी शिक्षा का उद्देश्य था कि प्रयत्न फलहीन न हो। जो छात्र अभ्ययन में समपतर होता था उस मानुतरग्रन्थ कहत था।' उसका सम्मान भी अधिक होता था। उदाहरणार्थ, बबहल और यजुवत बीना भाइय अमिन्व्य दर्शनीय और पलाश्ट हों, किन्तु बबहल यदि स्वाभ्याय में यजुवत ग बिगिण्ट हा, तो बबहल अधिक सम्मान का भागी होता था।' बुद्धि की कमी या अभ्यासक की त्रुटि स पढ़ाया हुआ पाठ समत न नहीं

१ कारीयोऽग्निरप्यापयति ।—१ १-२६, बा० २, पृ० ७१।

२ १ ४-२८, पृ० १६४।

३ १ ४-२६, पृ० १६३।

४ ५ १-७४, बा० २, पृ० ३३७।

५ इमकाम्यां रात्रिरपीता अर्वा भ्राम्यामहुरप्यबीतम् ।—२-४ ३२, बा० ४ पृ० ४७८।

६ १ १ ४३, पृ० २५४।

७ उच्चैरपीयान नीचैरपीयान ।—बही।

८ १ १ ४४, बा० २२—४, पृ० २७५।

९ उपावास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य ।—१ १-२०, बा० ६, पृ० १९६।

१० १ ३-२१, बा० २, पृ० ६२९९।

११ समानमीहमानार्तां केचिद्वर्षैर्युग्यन्तेऽनरे न ।—आ० २ पृ० ७९।

१२ फलवता च नाम प्रयत्नेन अवसिध्यम् न च प्रयत्नः फलाद्ध्यतिरेष्यः । ध्यतिरकोपि च लभ्यते। बुरयसो हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा महत्प्रयत्नाश्च प्रवीणा ।—आ० १, बा० ८, पृ० २९।

१३ सवसरोऽयं मामवकोऽप्यपनायत्पुष्यते आनुतरग्रन्थ इति गम्यते ।—२ १ १ बा० ७ पृ० २४५।

१४ बबहलपतवताश्चाप्यवसिधया वसानीयो पतवन्तोः बबहलस्तु पतवताप्रस्वाभ्यायेन बिगिण्टः ।—२ १ ६० बा० २, पृ० ३१७।



जाता। कभी-कभी पूरे मास पढ़ने पर भी अनुशासक छात्र की समझ में नहीं जाता था।<sup>१</sup> रात्रि के समय छात्रों में पढ़ने की हीड़ू सगती थी। धीरों के पढ़ने पर अकेले एक का सीता कैसा ? सामान्यतया प्रदीप और रात्रि में अध्ययन नहीं होता था। वेदाध्ययन तो इन कार्यों में बजित ही था। यत्न, निशा और प्रदीप में पढ़नेवाले छात्र तैद्य या नैतिक और प्रदीप या प्राचीनिक कह जाते थे।<sup>२</sup>

अनध्याय—यतुर्वशी और अमावास्या के दिन अनध्याय रहता था। इसके अतिरिक्त अनध्याय के दिनों के विषय में भाष्य से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। ह्रीं काशिका से इतना अवश्य पता चलता है कि अनध्याय छात्रों को बहुत प्रिय था और उसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे। भाष्यकार के समय में भी स्थिति इससे भिन्न नहीं रही होगी यह हम अन्य अनक उद्धरणों से अनुमान कर सकते हैं।<sup>३</sup>

अध्याय के विषय—अध्यायन के विषयों में वेद का स्थान प्रमुख था। पतञ्जलि ने कहा है कि नियमपूर्वक पढ़े गये वेद अष्ट फलवान् होते हैं।<sup>४</sup> वेदाध्ययन की बी श्रेणियाँ थीं—पारायण और अर्चग्रहण। ऋक कहने से संपाठ-भात्र का ही बोध होता था उसके अर्थ का नहीं। इसलिए, ऋगध्ययन का अर्थ ऋचा का पाठभात्र था अर्चग्रहण नहीं। पारायण या पाठ पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। तद्यधीते छत्रेव' (४२५९) सूत्र की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने 'अध्याय' और 'विद्' का अन्तर स्पष्ट किया है। कोई केवल संपाठ पढ़ता है, किन्तु उसका उत्त्व नहीं समझता और कोई समझता है, किन्तु संपाठ नहीं करता। संपाठ या पारायण करनेवाले को पारायणिक कहते हैं।<sup>५</sup> दो बार या तीन बार पारायण करनेवाले हैं पारायणिक और चारपारायणिक कहलाते हैं।<sup>६</sup> ऋक का अध्ययन करनेवाले छात्र शोभिय होते थे और उनका कर्म यति।<sup>७</sup> भाष्य में वैदिक छात्र के लिए वेदाध्याय शब्द का भी प्रयोग मिलता है।<sup>८</sup>

१ मासमशीतोऽनुशासको न ज्ञानेन गृहीतः।—२ ३-६, पृ० ४०९।

२ ३-३ १०८, वा० १ पृ० ३०२।

३ निशा सहचरितमध्ययनं निशा तस्माद्धिमत्यनेन नैमित्तिकः, प्राचीनः प्राचीनिकः।—

४-३-५२ काशिका।

४ छात्रप्रियोऽनध्यायः।—३ २ १६ काशिका।

५ १ ४ २६, पृ० १६६।

६ वेदाध्याया नियमपूर्वकमशीतोऽनुशासको मवति।—आ १ वा० ९, पृ० २६।

७ ऋक्सिमुक्तं संपाठभात्रं बध्यते। नास्या अर्पो गम्यते।—१ १ ६९, वा० ३ पृ० ४३८।

८ मवति हि कश्चित् संपाठं पठति न च वेत्ति कश्चिच्च वेत्ति न च संपाठं पठति।—

४-२-२९, पृ० २८६।

९ यः पारायणमशीतो पारायणिकः स उच्यते।—५ १-७२, पृ० ३३६।

१० ५ १ २० वा० २ पृ० ३१२।

११ ५ १ १३० पृ० ३२६।

१२ ३-१ १३३ वा० ३, पृ० १९७।

वेद का सपाठ त्रैस्वर्णपूर्वक होता था। स्वर्ण माप्यकार त्रैस्वर्ण पाठ कराते थे।<sup>१</sup> त्रैस्वर्ण का अर्थ है तीन प्रकार के स्वर। इनमें कुछ उदात्त गुणवासे कुछ अनुदात्त गुणवान् और कुछ उभयगुणविशिष्ट। इस तृतीय स्वर की माप्यकार ने श्रुक्स और ह्रण्ण की मिलाकर बनतवासे कस्माप या सारग वर्ण की उपमा की है।<sup>२</sup> वेद का मूल पाठ अनुदात्त रखे और स्वर-सम्बन्धा किसी प्रकार व्यतिक्रम न होने पाये इस बात की ओर प्रारम्भ से ही ध्यान रखा जाता था। जो बालक उदात्त के स्थान पर अनुदात्त उच्चारण करता, उसके गाल पर तमाचा पड़ता था।<sup>३</sup> सामपाठ मात्रावर्णों को कण्ठस्थ करा दिया जाता था और वे यथावसर उसका गान करते थे। महाभाष्य कास में पारायण-अध्ययन का ही प्रकार अधिक था।<sup>४</sup>

वेदपाठ के कुछ नियम थे। साम पूर्वाह्न में माया जाता था। अनुदात्त का अध्ययन प्रातःकाल में ही होता था।<sup>५</sup> माप्यकार ने इसे ऋज-हृत्य कहा है। ऋज-हृत्य नियोग कर्त्तव्य होते थे। कुछ स्थान अध्ययन के लिए ब्रजित थे। इमाद्यान् और अनुप्यन् में पठना वास्तवतः निषिद्ध था। इसी प्रकार अनुर्वदी और अमावास्या को अध्ययन निषिद्ध था। यह बात यद्यपि प्रथमत्रय 'अस्यधाम' सूक्त के सम्बन्ध में नहीं आई है किन्तु सभी ब्रजित अध्ययन के विषय में लागू होती थी। स्वयं पाणिनि ने कुछ वेदों और कर्मों का अध्ययन के अयोग्य बतलाया है। काशिरा कार ने पाणिनि के अदेश-काल को वास्तव द्वारा अध्ययन के निषिद्ध देश-काल मानकर उनका उपर्युक्त उदाहरण ही दिये हैं। जो इन नियमों का उल्लंघन करता था उसे अग्य छात्रों न बनने प्रवर्धित करने के लिए उनके क्रमशः इमाद्यानिक चातुष्यिक चातुष्टयिक और अमावास्यानिक विशेषण नियत किये गये थे।<sup>६</sup> इसलिये, भाष्यकार ने कहा है कि वेद सम्प्रदाय-निहित नियमों के पालन के साथ पढ़े जाने पर ही फल देते हैं।<sup>७</sup>

पारायण या संपाठ ही पर्याप्त न था। वेद का अर्थ ज्ञानमा-समझना भी आवश्यक था। जिसका केवल अध्ययन कर लिया किन्तु अर्थ न समझा उन वाणी से बोझा ही जा सकता है।

१ त्रैस्वर्णभाषीमठे।—१-२ ३१ पृ० ५०७।

२ त्रिभिः प्रकारैरग्निरपीमठे, कश्चिदुदात्तगुणं कश्चिदनुदात्तगुणं केचिदुभयगुणम्।—

१-२-३१, पृ० ५०७।

३ य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति पण्डितोपाम्यायस्तस्म अपठो ब्रह्मति।—१ १ १,

वा० १३, पृ० १०४।

४ गेयानि मात्रावर्णेन सामानि।—३-४ ६७ वा० ४ पृ० ३९७।

५ २-३ ६९, वा० ५, पृ० ४६६।

६ पूर्वाह्णे वेद्यं साम। प्रातरप्येनाऽनुदात्त-हृत्यनियोगे यदुपहृतम्। पठस्य नियोग-कर्त्तव्यं भवति तत्तस्य ऋजं भवति।—२-१ ४३ पृ० २९५।

७ वेदाः पठस्वप्याग्नाये नियतः। इमाद्याने माप्येऽनुप्यये माप्येयम्। बालः पठस्वप्याग्नाये नियतः नामावास्यायां न चातुष्टयाम्।—५-२-५९, वा० ४ पृ० ३९५।

८ ४-४-७१ का०।

९ वेदगारा नियमपूर्वकमपीता कलबन्ती भवति।—भा० १, वा० ९, पृ० २३।

उससे बुद्धि प्रकाशित नहीं होती। वह तो सूखे ईंधन के समान होता है, जो बिना अग्नि के नहीं बल सकता।<sup>१</sup> इसलिये, पारामण में ठी पदपाठ क्रमपाठ, संहितापाठ आदि के कारण संहिताओं का अनेक बार अध्ययन करना ही पड़ता था। अर्धज्ञान के लिये भी कई बार प्रत्य पढ़ना होता था। कभी-कभी पाँच-छह बार पढ़ाये जाने पर बात समझ में आ पाती थी। शिक्षाशास्त्रियों में इन विविध प्रकार के अध्ययनों को व्यक्त करने के लिये विशिष्ट शब्दावली प्रचलित थी। उदाहरणार्थ, एक ही संहिता का सामान्य रूप से अध्ययन करके फिर उसी का पदों की दृष्टि से अध्ययन त्रिगुण अध्ययन और फिर उसी का क्रम की दृष्टि से अध्ययन त्रिभुज अध्ययन कहा जाता था।<sup>२</sup> पाणिनि ने अनेक बार या अनेक रूपों में अध्ययन का उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार पाँच बार या पाँच रूपों में किया गया अध्ययन पंचक कहलाता था। इसी प्रकार सप्तक अष्टक नवक दशक अध्ययन होते थे। पाणिनि के इस सूत्र पर भाष्यकार ने विस्तृत प्रकाश डाला है।<sup>३</sup> इसी प्रकार जो जितनी बार में प्रत्य पर अधिकार कर पाता था छात्रों में उसी के अनुसार उसका स्थान होता था। छह बार में प्रत्य का रहस्य समझ पानेवाला एक कहलाता था।<sup>४</sup> शितीय रूप से प्रत्य का समझना या ग्रहण करना द्विक ग्रहण कहा जाता था। तीसरा या चौथा अध्ययन या इसी प्रकार त्रिक चतुष्क कहा जाता था।<sup>५</sup> पतञ्जलि के समय वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुयायी अपनी शाखा में प्रचलित पाठों को कठस्य कर गाते थे। कठ कौबुज कासाय मीच वैप्यसाह आदि वेद भागों के गान का प्रचार बहुत अधिक था। पदपाठ और क्रमपाठ के यायक पदक और क्रमक कहलाते थे। ये शोध अध्ययन की दृष्टि से अविप्रहृष्ट मान जाते थे क्योंकि इनके विषय परस्पर सम्बन्ध थे।<sup>६</sup>

१ यदधीतमविद्वान् तिमसैनेव शम्भुपते।  
अतन्मादिब सुप्तेष्वो न तच्छकलसि कर्हिचित् ॥

—भा० १, पृ० ४।

२ त्रिगुणमध्ययनं त्रिभुजमध्ययनमित्युच्यते। अर्धमुद्या क्रममुद्याश्चापेक्ष्य सवति न संहितामुद्यान्स्वर्धामुद्याश्च।—५ १ ११९, पृ० ३५५-५६।

३ पञ्चसोऽप्यीतः सप्तकोऽधीतः—तस्य संख्यापरिमाणं चाकृतयः पञ्चवाराः पञ्चरूपान्य स्याम्ययनस्य षड्चक्रमध्ययनम्।—५ १-५८ का०।

४ पृ० ३३५ से ३३८।

५ तावतिथेन गृह्णातीत्युपसंख्यानं कर्तव्यम्—यद्येन गृह्णातीति पदकः—५ २-७० वा० १ २ पृ० ३९९ पञ्चयेन गृह्णातीति पदकः।—४-१-३६ वा० २, पृ० ५२ तथा यद्येन गृह्णातीति पदकः।—वही ३—५३।

६ वही।

७ अनुबारे चरवानाम्, नन्वन्तु कठक्रातापाः वर्धन्ता कठकौबुजाः चरवान्मोद वैप्यसाहम्।—२-४-३, पृ० २६२।

८ अध्ययनतौर्ध्वप्रहृष्टाख्यानाम्।—२-४-५ का०।

इसी प्रकार ऋषिक और वास्तिक वे (वृत्ति—संहिता) । कमी-कमी विभिन्न विषयों के छात्रों और पढ़ितों में परस्पर विवाद भी सिद्ध पाठा था। ज्योतिषी लोग प्रायः विरोधी होते थे और एक दूसरे का सम्बन्ध करते थे। कठ, नासाय आदि जो यजुष आदि वेदों की शास्त्रात्मक वे परस्पर बहुत कम मतभेद रखते थे। पाणिनि ने इन दोनों स्थितियों को अनुवाद और 'विप्रकाय' संज्ञा दी है।<sup>१</sup> पारों वेदों और वेदांगों का अध्ययन ब्राह्मण विद्यार्थी निष्काम भाव से करते थे। वेदांगों में व्याकरण का महत्त्व साप्यकार के समय में बहुत माना जाने लगा था। उन्होंने व्याकरण को उत्तरा विद्या कहा है। मुष्यकोपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को छोड़कर शेष सब विषयों को अपर विद्या कहा है।<sup>२</sup> पहले शिक्षा प्रातिशाख्य और छन्दशास्त्र पढ़ा दिया जाता था और तत्पश्चात् व्याकरण का प्रारम्भ होता था।<sup>३</sup> व्याकरणों में पाणिनीय सर्वाधिक समावृत्त था। इसीलिए, पतञ्जलि ने पाणिनि का यक्ष आकुमार बिल्लुत बतलाया है।<sup>४</sup> पाणिनि ने व्याकरण पढ़ाने की ओ पद्धति दी थी उसने शिक्षक और छात्र का काम व्यवस्त सरल कर दिया था। पहले भाषा ज्ञान के लिए एक-एक शब्द कच्छस्व कराया जाता था। यह पद्धति कोप कच्छस्व करने जैसी और सफल न हो सकी। पतञ्जलि ने कहा है कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिशब्द परामर्श कराया किन्तु शब्दों का अन्त न मिला। ऐसी अनभुति बली जाती है। बृहस्पति जैसा शक्त इन्द्र जैसा अध्येता और दिव्य सहस्र वर्षों की आयु। तो भी शब्दों का अन्त नहीं मिला।<sup>५</sup> फिर आज की तो बात ही क्या? जो बहुत बीठा है वह ही वर्षों की लता है। ऐसी स्थिति में व्याकरण-ज्ञान के सरल उपाय की तलाश भी और वह उपाय पाणिनि ने किया। उन्होंने लक्ष्य और लक्ष्य का प्रवर्तन कर काम को सुकर बना दिया। इनके अतिरिक्त बाकीबाक्य इतिहास पुराण और वैदिक मुख्य पठनीय विषय थे।<sup>६</sup> अनुविद्या भी सिखाई जाती थी किन्तु सामान्य पाठ्यक्रम में उसको स्थान नहीं रहा होगा। कामसधिया पौलस्त्य अन्वत्स्वर्ण आदि कौटिलिक विद्याएँ, जिनका उल्लेख पतञ्जलि ने किया है पाठ्य-क्रम में थे या नहीं निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। याज्ञिक शास्त्र तो

१ मनोरथमन्त्रम् ।—१ ४९; विभाषा विप्रकाये ।—१ ३-५० तथा का० ।

२ तत्रापराविद्या ऋग्वेदो मुजुर्वेद सामवेदोऽर्धवेदश्च शिक्षा कस्यो व्याकरणं निष्कृतं छन्दो ज्योतिषमिति । मन्व पता मया तद्वसरमपिगम्यते ।—मुष्यकोप०, १ १-५ ।

३ व्याकरणं नामेयमुत्तराविद्या । योऽग्नी छन्दशास्त्रत्वमिद्विनीत उपतध्यावगन्तु-मुस्तहेत ।—१ १ ३२, पु० ५०८ ।

४ आकुमारं यदा पाणिन ।—१ ४-८६, पु० २०२ ।

५ एवं हि भूपते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं सर्वसहस्रं प्रतिपद्योक्तानां दग्धानां दग्धपारम्यर्ण प्रोवाच मान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवस्तेऽग्र-भाष्येता दिव्यं सर्वसहस्रमध्ययनकालः न मान्तं जगाम । किं पुनरुत्सवे ? यः सर्वपात्रिर् जीवति तपमर्तं जीवति ।—भा० १ पु० १२ ।

६ भा० १, भा० ५, पु० २१ ।

७ १ ३-२१, भा० १, पु० ६२ ।

८ ४२ ६०, पु० १८७ ।

अवश्य ही पाठ्य क्रम में सम्मिलित था। अंबविद्या, सत्रविद्या, वर्मविद्या तथा त्रिविद्या पाठ्य विषयों की श्रेणी में जा चुकी थी।<sup>१</sup> सुत्र-ग्रन्थ तो वेदांगों के ही अन्तर्गत थे।

दृष्ट—अध्ययन में दृष्ट का स्थान था। शिक्षा-अपत् में यह विश्वास था कि बालक या प्यार से बालकों में बहुत-से दोष आ जाते हैं और ताबल से गुण की वृद्धि होती है। इसीलिए उपाध्याय भोग बेदपाठ के समय वसूद स्वर बोलनेवालों के सामने लगा देते थे।<sup>२</sup> किन्तु-मूक बिना हाथों से मारते थे वे 'सामुष्ट' होते थे विपोंधित नहीं।<sup>३</sup> गुब दोषों के लिए बालकों को मर्त्सना करते थे। वे इस प्रकार की आकृति भी बना लेते थे धैरी कुपितों की होती है यद्यपि वास्तव में वे कुपित नहीं होते थे। ऐसे समय छात्र पुरुषों से दूर रहते थे और जब उनका क्रोध शांत हो जाता था तब उनके सामने आते थे।<sup>४</sup>

अध्ययन-साफल्य एवं परीक्षा—स्वाध्याय में पाणिनि ने वृत्ति (अप्रतिबन्ध) सर्व (उत्साह) और तामन (स्फीतता) यह क्रम स्वीकार किया है। 'वृत्तिवर्तमानेषु क्रम (१३-२८) सुत्र की आशिका वृत्ति भी इस कथन की समर्थक है कि तीक्ष्ण बुद्धि और उत्साह दोनों मिलकर अध्ययन को विद्यदीकृत बनाते हैं। माप्यकार मे ज्ञान को प्पाति कहा है। ज्योति का मुख्य गुण है सततत्व।<sup>५</sup> एक ज्योति से दूसरी ज्योति प्रस्र जाती है, किन्तु पहला कम नहीं होती। इसी प्रकार, अध्ययन शिक्षक से अप्रकान्त होता है बाहर निकलता है किन्तु सदा के लिए या पूर्वत नहीं। उसे ग्रहण करनेवाले छात्रों को उनकी योग्यता के अनुसार माय पहुँचाता है। इसीलिए, कुछ प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो पाते और कुछ बिना प्रयत्न ही सफल हो जाते हैं। कुछ छात्र साध्वध्यायी होते हैं और कुछ बिलम्बिताध्यायी। समान इच्छा और प्रयत्न होने पर भी कुछ छात्र अर्थ (साफल्य) से युक्त होते हैं और कुछ नहीं। इस प्रकार के पाठ्यक्रम बक्तव्यों से इस बात का पता चलता है कि अध्ययन के अन्त में विद्यार्थी की सफलता-असफलता का मकन किया जाता था। शिक्षक भी इस बात को लक्ष्य में रखकर पढ़ाता था कि उसका प्रयत्न फलदायी हो। फिर भी वह कभी-कभी फल से व्यतिरिक्त ही ही आता था। साफल्यक्रम के लिए आचार्य या गुरु

१ वही।

२ य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुशासं करोति सग्निहोपाध्यायस्तस्मै चपेटी ददाति।—१११,

भा० १३ पृ० १०४।

३ सामृते पापिमिर्म्मन्ति बुरबो न विपोंधितः।

सात्मनामपिबोवीयास्ताडनामपिबो गुणा।।—८ १-८, पृ० २७१।

४ अकुपिता अपि वृद्धन्ते धारकाञ् मर्त्सयन्ताः। अन्ततस्ते तां धारीराकृतिं कुर्वन्ति या कुपितस्य भवति।—वही।

५ दूरान्ध कुपिताद् मुरोः।—२ ३ ३५, भा० २, पृ० ४३०।

६ यद्यप्यमति निं नारयस्तापावन्ति। सन्ततस्वत्। अथवा ज्योतिर्वध्यानाग्नि भवन्ति।—२ ३-२१, पृ० ४२३।

७ भा० १, भा० ८, पृ० २३।

८ १-२-८० पृ० २७३।

छात्र की परीक्षा लता था। अध्ययन-सम्बन्धी परीक्षा का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि और पतञ्जलि दोनों में मिलता है। परीक्षा-काल में उच्चारण-सम्बन्धी एक मूढ बननवास का एकान्तिक कहते थे। इसी प्रकार द्वैयनिक, त्रैयनिक से लेकर द्वादशांगिक त्रयाद्यांगिक बहुदशांगिक आदि संसार छात्रों का उनका मूकों के अनुसार हो जाती। कहा नहीं जा सकता कि यह परीक्षा प्रतिनिधि होती थी या निश्चित अवधि के पश्चात् या अध्ययन का समाप्ति पर। अध्ययन (पढ़ना) से निश्च बचपन की परीक्षा किञ्च प्रकार होती थी यह भी भाष्य में स्पष्ट नहीं है। पढ़ाई प्रायः मौखिक पढ़ाई का नहीं ठरकर प्रचार था कि सूत्रकार का 'मूर्त पारायणम्' जैसे प्रयोग के लिए पुनः मूत्र का निर्माण करना पड़ा जिसपर भाष्यकार ने भी विस्तृत विवेचन किया है।<sup>१</sup>

स्नातकों की कोटियाँ—अध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से निवृत्तनाम विद्वान् आर्या होते थे। वे किसी विषय की अविकारपूर्वक व्याख्या कर सकते थे। अनावश्यक बहुत बरपास करनेवाले वाचास या वाचाट कहलाते थे।<sup>२</sup> विधिष्ट विषयों के छात्रों और विद्वानों का उनके विषयों के आभार पर सम्बोधित किया जाता था। यजुष का अर्थात् याजुष्य कहलाता था। इसी प्रकार याज्ञिक वैशाकरण कठ बहुत औचित्य मौमांसक आदि नाम सम्बद्ध विषयों के छात्रों और धर्मशास्त्रियों के लिए प्रचलित थे।<sup>३</sup> भाष्य ने व्याकरण के विद्वान् को धर्मात्मी याज्ञिकय में शल को परिचयित और इन्द्रत् में निष्पात व्यक्ति को आम्नायी कहा है।<sup>४</sup> अपरिपक्व ज्ञान वास के वैशाकरण समूह कहलाते थे, जो कठिन प्रसंग उपस्थित होने पर आकाश की मार बखन कात थे। किन्तु, सामूहिक विशेषण विषय की निम्नता का घातक नहीं था। बहु व्यक्ति से सम्बद्ध था।<sup>५</sup> व्याकरण याज्ञिकय आदि के अनियमित अध्ययी को उपहास में प्रायण वैशाकरण या प्रायण याज्ञिक कहते थे। यह व्यंज्य उनकी विषय-सम्बन्धी धर्मिरता का व्यक्त था। व्याकरण आदि में निष्पात वैशाकरणरूप याज्ञिकरूप आदि विषयों से विभूयित हुए थे।<sup>६</sup> इनके उल्लेख अपने विषय में कुर्बल वैशाकरण याज्ञिक तात्त्विक आदि वैशाकरणवाण याज्ञिकरूपाय तात्त्विक-

- १ कर्माध्ययनेवृत्तम् १-४-४ ६३; बहुसुबुपूर्वपरादुब्-४ ४ ६४ तथा द्वादशांगिक त्रयोद्यांगिक १-६-१-८५, भा० ४, पु० १२२।
- २ शेरपयने वृत्तम् १-७-२-२६ पु० ११७-१८।
- ३ आतजावटी बहुभाषिणि कुत्तित इति अक्षयम्, योहि सम्पन् बहु भाषते वाग्नीत्येय य भवति १-५-२ १२५, पु० ४२२।
- ४ १ ४ १, भा० ३ पु० १८।
- ५ २-२ २९ पु० ३७८।
- ६ २-४ ३६ भा० १ पु० ४३१।
- ७ वैशाकरणलसूत्रि। किष्पाकरणं कुत्तितमाहोत्विग् वैशाकरण। वैशाकरण कुत्तितः तस्मिन् कुत्तितने तत्त्वमपि कुत्तितं भवति १-२-१-५३ पु० ३०७।
- ८ २ ३ १८, भा० १ पु० ४२०।
- ९ ५ ३-६६, पु० ४५८ तथा का०।

पास जादि कहे जाते थे। भाष्यकार ने कहा है कि व्याकरण में शोभन और शरीर में कुछ बीयाकरण पास नहीं होता क्योंकि जिस वर्ण में सम्बन्धितेय की प्रकृति होती है उसमें दुर्बलता उसकी निम्नता का कारण बनती है। इसलिये, व्याकरण में दुर्बल विद्वान् बीयाकरणपास कहसता है।<sup>१</sup>

स्वाध्याय और व्यवहार-काल—गुरुकुल छोड़ने के बाद भी अध्ययन क्रम जारी रहता था। विद्याभ्यास की चार कोटियाँ भाष्यकार ने मानी हैं—आगम-काल स्वाध्याय-काल प्रवचन-काल और व्यवहार-काल।<sup>१</sup> आगम-काल गुरुकुलों में बुझ्मुय से विद्या-ग्रहण द्वारा व्यतीत किया जाता था। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन करने मनीं भाँति अध्ययन करने और सुन्दर अध्ययन करने को कहते थे।<sup>१</sup> स्वाध्याय जीवन भर जारी रहता था। प्रवचन का—अध्यापन का व्यवहार ब्राह्मणों को ही प्राप्त होता होगा। वास्तव में सबसे बड़ी परीक्षा व्यवहार-काल में होती थी। यही विद्या का सफलता का मापदण्ड था। जो शिक्षक व्यवहार-काल पर बुद्धि रखते थे वे निश्चय कोरे किताबों न होकर लोकबुद्धिवादी रहे होंगे। भाष्यकार का उपर्युक्त कथन इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन शिक्षा भाषी जीवन के लिए तैयारी मात्र तथा व्यावहारिक होती थी।

पार्यय संस्कार्य और अनुसन्धान—स्वाध्याय के सुखद परिणाम तत्कालीन अनुसन्धान चिन्तनामिमुख कृतिषों के रूप में सामने आये। विद्वानों को एक बड़ी सख्या मनीं अनुसन्धानों में रत थी। इन जगणों ने वेद व्याकरण श्योतिय तथा अग्याय्य कौटिलिक विषयों पर इस काल में मनीं प्रथम लिखे मये जिनका उत्केश अग्यन हुआ है। उच्चारण क नियम मं एक बड़ा काम अन्वेष्य आम्नाय की राजायनीय और सारयमुद्रि शाखा ने किया था। वे ओद वर्ण एकार और अर्ध ओकार भी पढ़ते थे। मुजाते ए अरब मुनूते। अध्वर्यो ओ अत्रिनि सुतम्। सुकंते ए अग्यअरुठ ते ए अग्यए। इन साम-मंत्रों के गान में वे अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह इन ओषों की पार्यय कृति थी अग्यया ओक और वेद में अर्ध एकार वा ओकार प्रचलित नहीं था। प्रातिशाक्यकारों का यह काम उनकी मौखिक कल्पना थी। भाष्यकार ने इसे पार्यय कृति कहा है। उससे स्पष्ट है कि विद्वानों की परिपक्व आजीवन स्वाध्याय में रत रहती थी।

१ बीयाकरणपास पात्रिकपास। अथ बीयाकरण शरीरेण कृते ध्याकरणेन च शोभन कर्त्तव्यो व्याकरणपास इति। न कर्त्तव्यः। क्वम्? यस्य भावाद् इत्ये सम्बन्धितेस्तदभिधाने तदनुबन्धतथ्ये प्रत्ययेन अक्षितव्यं न कार्ष्यस्य भावाद् इत्ये बीयाकरणप्रथः।—भा० ३ ४७ वा० १ पृ० ४४१।

२ अनुसन्धान प्रकारे विधोपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।—भा० १ पृ० १२।

३ स्वध्यायनं स्वाध्यायः सुधुः ध्यायनं स्वाध्यायः शोभनं ध्यायनं स्वाध्यायः।—भा० ३-४, पृ० १७६।

४ ओषकन्वीगलां सारयमुद्रिरापायनीया अर्धनेकारमर्धनोकारं चाधीयते। मुजाते ए अत्रनुनूते—पार्ययकृतिरेया तत्र अदतां नेवहि लोके नाग्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकार अर्ध ओकारौ वास्ति।—भा० २, पृ० ५४।

मौख सम्बन्ध—धर्म, योग, मीत्र और शौच ये चार प्रकार के सम्बन्ध<sup>१</sup> नाप्यकार से बतलाये हैं। इनमें मौख सम्बन्ध गुरु-शिष्य-सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना ही पुत्र या व्रिजना यीन धर्मात् पिता-पुत्रका सम्बन्ध होता है। एक वरप अर्थात् एक धारणा से सम्बन्ध रखनेवाले सार छात्रों और विद्वानों की इसी प्रकार एक जाति मार्गी जाती थी जिस प्रकार एक मात्र में उत्पन्न सार्यों की।<sup>२</sup> कुछ बहुमुख धारि गद्य इसी प्रकार ज्ञानिवाचक से जिन प्रकार मीत्रगण (उपमू के अर्थात्) धारि। धारिनि और पत्रकलि दोनों में विद्या और यानि इन वा सम्बन्धों का समान रूप से पुत्र स्थाकार किया है। कभी-कभी इनका स्मृतिकर नीं हा जाता था। एक ही व्यक्ति पिता भी होता था और पुत्र भी।<sup>३</sup> नाप्यकार ने पिता के अन्तेवामी भी बतलाये हैं। पुत्र पिता के अन्तेवामी दो स्थितियों में होते थे। एक तो गुरुकुल में आन के पुत्र प्रत्यक्ष पिता आन पुत्र का प्रारम्भिक शिक्षा देना था। माय ही यदि वह स्वयं विद्वान् और शिक्षक हुआ तो अल्प बालकों के समान उसका अपन पुत्र भा शिष्य के रूप में उसका पान च्छकर अध्ययन करते थे। एम ही गिप्यों का नाप्यकार ने पिता के अन्तेवामी कहा है। और इसी दृष्टि से पुत्र का धर्म पढ़ाने का अनुशासन देने की बात कही गई है। इस प्रकार, अन्य विद्यार्थी ता परम्पर सतीर्ण सम्बन्ध में आबद्ध होते ही से गुरु-पुत्र भी सत्सम्बन्ध बन जाता था। ब्रह्मचारी और सतीर्ण गद्य नाप्यकी होते थे। वे विद्या-सम्बन्ध का पुत्रता क ही गूणक हैं।<sup>४</sup> गुरु-पुत्र के सम्बन्ध में शास्त्रों ने व्यवहार सम्बन्धी नियम भी निश्चित किये थे। उसका सम्मान पिता के कारण अन्य छात्रों से अधिक था। कभी-कभी गुरु-पुत्र भी यदि वह विद्वान् हुआ तो अध्यापन-कार्य करता था और गुरु के समान ही अपन शिष्य को सम्मान-भद्रा का अधिकारी होता था किन्तु यदि वह अध्यापन से नीं करता तो भी उच्छिष्ट-मौखन और वरप-म्यन को छोड़कर अन्य सभार्ये बहु अपन पिता के गिप्यों से स सकता था।<sup>५</sup> इसमें यह भी स्पष्ट है कि शिक्षण का कार्य अपने परिवारों में परम्परागत चलता था और पिता के नाम ही उनके पुत्र अध्यापन का अध्यास करने लगते थे। अनेक छात्रों के पिता ही उनका गुरु होते थे और पिता के समान मातुल भी अध्यापक होते थे। जिसका मातुल उपाध्याय होता वह अन्य गुरुओं की अपेक्षा उसका पास पढ़ना अधिक पसन्द करता होता। भागिनय शिष्य को गुरुकुल में गुरुपुत्र के समान कोई विशेषाधिकार नहीं प्राप्त था।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध जीवन भर चलता था। शिष्य गुरु के नाम से पुकारा जात था। नहानाप्य

१ १ १ ४९, वा० ४, पृ० ३००।

२ मीत्र के अर्थों सह तथा मीत्र के अर्थानि के १-४ १ ६३ प० ७२, ७३।

३ होतु पुत्रः पितुस्तथासी १-६-३-२३, पृ० ३०८।

४ पुत्रं धत्ते वाम् पुत्रमनुयाति धर्मम् १-१ ४-५१ पृ० १७७।

५ १ ३-८६, वा० ३००, ८७, पृ० ३५४।

६ गुरुवरस्मिन् गुरुपुत्रेऽपि बलिताम्यप्यश्रीचिदप्यमोवतान् पारोपतं गृह्यात्तु। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुमवति तदपि कर्तव्यं मवति १-१ १-५६, वा० ८, पृ० ३३८।

७. उपाध्यायस्य शिष्यो मातुलस्य भागिनैर्न पन्थाह—उपाध्यायं भ्रातृभिरवात्पतामिति। च पत्न्या मातुलमभिवाहयते १-३ ३-१८, पृ० २९७।



में अनेक गुणों और उनके शिष्यों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ कुछ नामों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा —

पुत्र	शिष्य	पुत्र	शिष्य
शाकस्य	शाकल्य <sup>१</sup>	गर्ग (गर्गगोत्रापरय)	गार्गीय <sup>१</sup>
वीरमेघ्या	वीरमेघ <sup>१</sup>	वरय ( )	वारधीय <sup>१</sup>
फाष्टाहृत (फाष्टा-फाष्टाहृत <sup>१</sup> हृति का पुत्र)		मायवित्तिक (भाग वित्ति का पुत्र)	भागवित्त <sup>१</sup>
तैकामनीय (तैकामनि का पुत्र)	तैकायनीय	औपगधि (उपमु-औपगधीय <sup>१</sup> औपगध-औपगधि)	
स्वामुरि (स्वामुर स्वसूर्य स्वामुरि)	स्वामुर <sup>१</sup>	कौसीनि (कुसू-कसौम कौसीनि)	कसौम <sup>१</sup>
स्वामोपि (स्वसा स्वसोप-स्वामोपी)	स्वामोप <sup>१</sup>	श्लीपुकायत (श्लुषु कामनि-पुत्र)	श्लीपुकायम <sup>१</sup>
कापिञ्चलाद्य (का पिञ्चलादि पुत्र)	कापिञ्चलाद्य <sup>१</sup>	काण्ठ्यायत	काण्ठ्यायनीय <sup>१</sup>
शामरस्य	शामरस्य <sup>१</sup>	शामनि	शामक
पैस	पैसीय <sup>१</sup>	कष्य	काष्य <sup>१</sup>
दाक्षि	दाक्ष <sup>१</sup>	भाराक्षय	भाराक्षय
पाणिनि	पाणिनीय <sup>१</sup>	रीडि	रीडीय <sup>१</sup>
काश्यप	काश्यपीय <sup>१</sup>	त्रिङ्गाकारय	त्रिङ्गाकार <sup>१</sup>
हरितकारय	हरितकार <sup>१</sup>	पिङ्गकनाभ	पिङ्गकनाभ्य <sup>१</sup>

१ ४-१ १८, भा० १, पृ० ४३।

२ ४ १-८९, भा २, पृ० १०२।

३ ४ १-७८, भा १, पृ० ८१।

४ ४ १ ९० भा २, पृ० १०८।

५ ४ १ ९० भा० ४, पृ० १ ९।

६ ४ १ १६५, भा० १, पृ० १५९।

७ ४ १ १५१ पृ० १४८।

८ ४ १ १६५, भा २, पृ० १६०।

९ ४-२-१०४ भा० २३, पृ० २१०।

१० १ १-७३ भा० ३, पृ० ४६१।

११ वही, भा० ८, पृ० ४६१ ६२।

निर्दिष्ट सूची में कुछ गुरु-शिष्यों के सम्बन्धी हैं, कुछ आचार्य हैं और कुछ आचार्योपवीत । कुछ ऐस भी हैं, जिनके पूर्वजों के शिक्षक हान के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है । शिष्य भी गणनाओं के समान ही गुरु नाम के नाते थे । उनकी प्रतिष्ठा उनके गुरुकुल की प्रतिष्ठा के कारण होती थी । वे गुरु आचार्य या उपाध्याय की सम्मति के उपाध्यायकारी होते थे ।<sup>१</sup> इस प्रकार ये गुरु संस्था के पर्वत बन गये थे ।

वरण—वरण वेदों की शाखा का रहते थे । उनके अभ्यस्यन करनेवाले पुरुष या वरण कहलाते थे ।<sup>२</sup> वरण या उरण कोश की शैलिक अनुसन्धानकर्मी सम्पाएँ एग के काल-काल में लेखी थीं । भाष्यकार क नमय में तान विख्यात वरण नाम के पूर्वी नाम में तीन उतर म तीन तीन मध्य भाग में अभ्यस्यित थे ।<sup>३</sup> ये वरण सम्मूह उरण पर थे । उन्होंने वरण-नाम्नशा या वरणाम्ना का उल्लेख किया है ।<sup>४</sup> बह्मूच कठ काशाप मौय और पण्यनाथ वरण या अण्यल लक्ष्मिण थे । भाष्यकार न कता है कि यदि तान में काठक और काशापक अन्य पदान् जान हैं ।<sup>५</sup> यह कथन एक आर शक्ति अभ्यस्यन का लोकप्रियता पर प्रकाश डालता है और इनका आर शिष्य की सम्बन्धता पर । प्रत्येक वरण की अपनी अभ्यस्यन-पद्धति अपने नियम सिद्धान्त और ज्ञानावहारे थे । उन्मुक्त वरणों के धर्म और आम्नाय कथन बह्मूच्य काठक काशापक मयिक और पण्यनाथक कहलाते थे ।<sup>६</sup> इसी प्रकार, छन्दोगों और शिष्यों या शिष्यों तथा शिष्य के अन्त अन्त आम्नाय थे ।

पानिनि में वरण का उल्लेख है । वरणों का हितकर बन्धुवासीन कहलाती थी । वरण शैलिक विद्यापीठ थे जहाँ शिष्य-शिष्या तथा लक्ष-लक्ष्य के लिए, मन्त्र में विवरण करते थे । बुध्नाम्न्यक में दस वरण का प्रयोग मूलतः बह्मूचारी के लिए हुआ है । वरण पद्धतिक मन्त्र में आम्न्य की दृष्टि म दृष्टे जाते थे । ये प्रवचन प्रदानकर तथा आम्नाय द्वारा शिष्यों का ज्ञान-वृद्धि करत थे ।

कुछ वरण इनके प्रसिद्ध थे कि उनमें शामिल होकर विद्यापीठ का अनुभव करत थे । कर्मी-कर्मी थे इन कारण शिष्यों का मुच्छ मन्त्रन करत थे । इस विषय में 'मन्त्रवर्णाच्छलाषा-र्याकाग्निशब्देन (५ १ १ ४) विभ्य ध्यान देन यन्त्यम् । शान्तिवाक्य मे गाय और कठ

- १ ४२ १०४ वा० १४ पृ० २०८ ।
- २ वरणाम्ना शास्त्रानिमित्त पुरययु अण्ये १-२-४ ३ वा० ।
- ३ वरणमन्त्रयेन निबानसप्तमोऽन्नु बरतन् । अन् प्रवणसत्त्व उदीच्यान्त्रो मन्त्रमः । सर्वे निरास्तस्यतः १-४-२ १३८, वा० २, पृ० २१८ ।
- ४ बह्मूच्यवरणाम्नायाम् १-५ ४ १५४ पृ० ५१४ ।
- ५ धामे धामे काठकं काशापकं च प्रोच्यते—४ ० १०१ वा० १ पृ० २४६ ।
- ६ वरणाम्ना धर्माभाषयो कठानां धर्म आम्नायो वा काठकं काशापकम् पौरुषक पण्यनाथकमिति—४ ३ १२० वा० ११, पृ० २५२ ।
- ७ छन्दोगीशिवक शान्तिबह्मूच्य मतोऽन्त्रः १-४ ३ १२९ ।
- ८ मापयवरणाम्नां तन् १-५ १ १११ ।

धरणी में अवेश (प्रविष्ट) होकर प्राप्त मार्गिका और काठिका (गार्म्यत्व और कठत्व) के कारण गर्भ अनुभव करने एवं ब्रह्मरों को छोटा समझनेवालों का उल्लेख किया है, जो इस बात का चोकर है कि मार्ग्य और कठ धरणी की प्रतिष्ठा विद्वान् में बहुत अधिक थी।

स्त्रियों की शिक्षा—पतञ्जलि-काल में स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रसार था। सामान्य जनता के विषय में तो निर्विवाद रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु ब्राह्मण-स्त्रियों में अध्ययन की प्रथा अवश्य थी। पतञ्जलि ने आचार्या और उपाध्यायी का उल्लेख किया है। उपाध्यायी या उपाध्याया के स्त्री-अध्यापिकाएँ कहकाती थीं जिनके पास पढ़ने के लिए बाहर से छात्र आते थे।<sup>१</sup> लोकायत-सम्प्रदाय की व्याख्यात्री बतिका या बतिका नामक आचार्या का भी माध्य में उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> मापिशक और कासकृत्स्न के बनाये हुए शास्त्रों का अध्ययन करनेवाली आपिशसा और कासकृत्स्ना ब्राह्मणियों<sup>३</sup> कठ और बह्वृच साखा की अध्यायी कठी और बह्वृची स्त्रियों के पर्यन्त माध्य में होते हैं। उद्योग गोत्र की अध्यापिका मीरमेष्ठा का उल्लेख विद्यके शिष्य वीरमेघ कहलाते थे ऊपर हुआ ही है। फिर भी 'छाध्याय्य' शाक्यायाम्' (६-२-८६) सूत्र के आधार पर कुछ विद्वानों ने पाणिनि-काल में जो स्त्रियों के छात्रा-आचार्यों का अनुमान किया है वह समीचीन नहीं है, क्योंकि छाध्यादिगण में पठित शब्द छात्रि है, छात्री नहीं। यदि यह शब्द ईकारान्त होता तो भी स्त्री छात्र का बोध नहीं हो सकता था क्योंकि छात्र का स्त्रीलिंग रूप छात्रा होता है छात्री नहीं। तथापि कुमारी भगवताएँ प्राजिताएँ और तापधियाँ तथा कुमारी अध्यापिकाएँ और पण्डिताएँ समाज में विद्यमान थी इसमें संदेह नहीं।<sup>४</sup>

शिक्षा-संस्कारों और नैतिक स्वयं-वैदिक अध्ययन के पुनरुत्थान के इस युग की शिक्षा-संस्कारों में प्रायः वे दोष आ गये थे जो शिक्षा को वर्ष के छात्र संयुक्त कर देने से आ जाते हैं। यत्र ब्राह्मणों की आय के बड़े साधन हो गये थे। राज्य कुलों में उपाध्याय के शिष्यों को अर्घ्यसमाधि प्राप्त होते थे।<sup>५</sup> शिक्षा-संस्कारों से अढालत यजमानों से अच्छे दान प्राप्त होते थे। सम्भव है स्थायी सम्पत्ति भी उनके पास आ गई हो। फलतः बृह-कुलों में विद्याभियों को खाने-पीने की पर्याप्त सुविधा प्राप्त थी। पानिनीय विद्यापीठों में जीवन की बहुतायत थी। चारुयनीय गुरुकुलों में कम्बल बूब प्राप्त होते थे। रीचीमसंघासनों से वृत् अधिक मिलता था। कुछ छात्र इसी लोभ से इन संस्कारों में प्रवेश करते थे।<sup>६</sup> शिक्षा-संस्कारों

१ उपेत्पाधीयते तस्वा उपाध्यायी उपाध्याया १-३ ३ २१ वा० १, ५० ३०२।

२ बतिका-मातुरी लोकायतस्य-बतिका १-७-३-४५, वा० ७ ८, ५० १९०।

३ मापिशकमपीते ब्राह्मणी आपिशसा ब्राह्मणी, कासकृत्स्नमपीते कासकृत्स्ना ब्राह्मणी १-४ १ १४, वा ३, ४ ५ ३६, ३७।

४ ६ ३ ३५, वा १०, ५० ३२३।

५ कुमाराः भगवतादिभि १-२-१-७०।

६ उपाध्यायस्य शिष्यो यात्रकुमानि पत्वाऽप्राप्तवादीनि जनते १-१ १-५६, वा० १, ५० ३३४।

७ १ १-७३, वा० ६, ५० ४६१।

में इस प्रकार के शेष पाणिनि-काल में ही प्रविष्ट होने से। 'गोत्रान्तेवासिमायवब्राह्मणेषुलोपे' (६२६९) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने शेष के कुछ नवीन कारण भी दिये हैं। काशिका काल तक आते-आते सामाजिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि बिना व्याकरण पढ़ हुए विद्यार्थी का दीर्घ विवाह नहीं होता था। इसलिए, कुछ छात्रों को कुमारी-शोम से वाशादि की कृतिमें वा अभ्ययन करना पड़ता था। इन लोगों को निन्दा के लिए ओशनपाणिनीय कम्बलचारायणीय पृथरीडीय कुमारीदास आदि नाम दिये गये थे। जो लोग अधिक शिक्षा पाने के लिए मानव बन आते थे, वे मिथ्यामानव कहलाते थे।<sup>१</sup> स्वामाजिक वा क्रिये विद्यार्थी अभ्ययन को महत्त्व न देकर जिस गुरुकुल में अधिक सुख-सुविधा प्राप्त होती, वहाँ चले आते और इस प्रकार दार-जार गुरुकुल बदलते रहते थे। ऐसे छात्रों के लिए तीर्थकाक तीर्थध्वाश आदि निन्दासूचक शब्द यड़े गये थे।<sup>२</sup> वे लोग मागन्व में बाधा आती देखकर अभ्ययन-व्रत तोड़ देते और विवाह कर लेते थे। इस वक़्ती प्रवृत्ति को रोकने के लिए ब्रह्मवाक्य जैसे निन्दक शब्दों का उपयोग बरू पड़ा था।<sup>३</sup> इस प्रकार के छात्र गुरुकुल में रहकर भी परित्रहीनता का परिचय देते थे। भाष्यकार का यह कथन कि मुदरुत्पगामी का बिनाश हो जाता है<sup>४</sup> और परमपात्रों द्वारा गुर्बङ्गना-समागम को महापाठकों में सम्मिश्रित किया जाना इस बात का साक्षी है कि शिक्षा-संस्कारों में इस प्रकार से वृथिष्ठ हस्त्य भी यत्न-कटा पाये जाते थे। बह्व और अधिन केवर विद्यार्थी का डोंय करनेवासे लोग इतने बड़ गये कि वाष्वाजिनिक शब्द ही डोंगी का पर्याय बन गया था।<sup>५</sup>

विद्यार्थी-वर्ग की इन दुर्बलताओं का मूल शिक्षकों-सम्बन्धी पाठ-ब्रह्म वस्तुओं में हुई जा सकता है। छात्र गुरुओं के प्रेषण और उपासम्म से तग आ आते थे।<sup>६</sup> इसलिए वे उनसे मुंह छिपाते घूमते थे। अभ्ययन भी शुक्य और क्लिष्ट वा तथा गुरु लोग दुर्ब्यबहार करते थे। वास्या ध्यापक का उत्सल भी भाष्य में भिस्ता है।<sup>७</sup> गुरु की सेवा के अतिरिक्त छात्रों को गुरु से अपत्यों की भी सेवा-टहल करनी पड़ती थी। पुरुषुत्र स्वयं को गुरु से कुछ कम नहीं मानते थे।<sup>८</sup> इसलिए बहुत-से छात्र अभ्ययन से परिष्गम हो आते थे।<sup>९</sup> इसी कारण गुरुकुल वा जीवन कष्टकर हो जाता था।<sup>१०</sup>

१ ६२-६९ का०।

२ २१४२, वा० १, पृ० २९४।

३ २१-२६, पृ० २८१।

४ ध्वंसते गुरुत्पग।-३ २-४८ वा० ४, पृ० २१७।

५ अयं सूत्रब्रह्मजित्नाम्ना ठकठमी, बन्तो ब्रह्मजिनं तेनाभ्युच्यते शिक्षाजिनिकः।-

५ २-७६ वाशिना।

६ १४२८, पृ० १६४।

७ १४२६, पृ० १६३।

८ ८१६७, वा० २, पृ० ३००।

९ ११-५६, वा० ८, पृ० ३३८।

१० २-२-१८, पृ० ३५०।

११ २-११, पृ० २७७।

## अध्याय २

### वेद-संहिता और उनकी शाखाएँ

**बाह्यमय—**भाष्यकार ने बाह्यमय को निम्नलिखित विभाग कह है।<sup>१</sup> (१) चार वेद जिनमें ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ एक सामवेद भी एक सहस्र तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं (२) वेदांग जिनमें शिक्षा कल्प निकल व्याकरण और छन्दस् एवं ज्योतिष सम्मिलित हैं (३) वेद के रहस्य प्रतिपादक ग्रन्थ (४) वाक्यावयव (५) इतिहास (६) पुरुष और (७) वैद्यन । उम्होम चारो वेद के प्रथम मंत्रों को भाष्य के प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है और जिनमें 'अग्निमीडे पुरोहितम्' ऋग्वेद की शाखरु-संहिता का इपोलोर्बेत्वा' यजुर्वेद का 'अप्ता वा याहि बीतये' सामवेद का और 'यत्तो वेवीग्भीष्टये अर्धवेद का मंत्र है ।

#### ऋग्वेद

**बाह्य बृहस्प—**बाह्यसनेमी संहिता-भाष्य में महीधर ने कहा है वेद पहले अविभक्त था । बाद में ग्यास ने मनुष्या को मन्त्रमति बेलकर ब्रह्मा-यगम्वरा से प्राप्त वेद को ऋक् यजु साम और अथर्व इत चार भागों में विभक्त कर उन्हें क्रमशः पैरु वैशम्पायन वैमिनि और सुमन्तु को पढ़ाया ।<sup>१</sup> भाष्यकार ने ऋग्वेद को बाह्यबृहस्प कहा है । यह बाह्यबृहस्पों का आम्नाय था<sup>२</sup> ऋग्वेद को बह्यबृहस्प भी कहते थे । सर्वाधिक ऋचाओं का वेद होने के कारण ऋग्वेद का यह नाम पड़ा था । ऋग्वेदियों की एक शाखा भी बाह्यबृहस्प थी । प्रक मामाम्यतया ऋग्वेद को और विद्वेषत सम्बोधित्वेप को

१ अत्वारी वेदाः साङ्गाः सप्तस्य ब्रुवा विनिभा । एकशतमध्वर्षुशाखा । सहस्रकर्त्ता सामवेद एकविंशतिवा बह्यबृहस्पम तत्रवाचर्षनी वेदी वाकीवाक्यमित्तिहासः पुरार्थ वेदकमित्ते-तावान् शम्बरस्य प्रयोगविषयः । —आ० १ वा० ५, पृ० २१ ।

२ तत्रादी ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदे वेदव्याप्तो मन्त्रमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृतया अतुर्पार्थिवस्य कल्पबु-ज्ञानावाचर्षात्वात्तुरो वेदान पैरुवैशम्पायनवैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमातुप-दिदेश । (बाज सं० सु० यजु०) पर महीधर भाष्य के प्रारम्भ में ।

३ ४ ३ १२९ ।

४ ५ १ १५४, पृ० ५१४ ।

कहते थे। 'ऋक्ष कहने से संपाठ-माघ का बोध होता था अर्थ का नहीं।' ऋक्ष का प्रयोग सम्भवतः सभी वेदों के लिए होता था। काठक, कात्यायन और मीरक और वैष्णविक सब ऋक्ष कहलाते थे। माघ में इन्हें छम्बसु भी कहा है।

माघ में बह्वृष्य को इसकीस प्रकार का बतलाया है। प्रपञ्चहृदय भी इसका समर्पण करता है। उसके अनुसार किसी कारण से घतञ्जु ने बन्धाघात से अनेक छायाया को मृत् कर दिया और तब ऋक्ष और साम को केवल बारह बारह-शाखाएँ छेपे रह गईं। आष्विन-परिधिष्ट चरणभ्यूह में ऋग्वेद की सब शाखाओं का सात चरणों में अन्तर्भाव कर दिया है।

ऋग्वेदीय शाखाओं में से निम्नलिखित का नाम माघ में मिलता है—१ वैश्व, २ अश्विन ३ वासत्य ४ मुद्गक, ५ गालक ६ शासीय ७ वासीय ८ वीरक ९ वीरी, १० अश्विन ११ परावर १२ माठर १३ माण्डूक्य १४ आमरीय १५ बह्वृष्य १६ वाक्वी १७ सीलम और १८ वासिष्ठ। इनमें प्रथम नौ शाखत्य चरण-भ्यूह में अन्तर्गत हैं। यह चरण-भ्यूह ही माघकार के समय अस्वधिक काकप्रिय था।

वैश्व—पुराणों के अनुसार व्यास ने वैश्व को स्वयं ऋग्वेद पढ़ाया था। पर पीछा के पुत्र थे। इन्हें वैश्व भी कहते थे। समापर्व में इन्हें वसुपुत्र तथा होता (ऋग्वेदीय) कहा है। वैश्व ने दो शिष्य हुए—वाक्कल और इन्द्रप्रमथि। वाक्कल का उत्सव माघ में नहीं मिसठा। इन्द्रप्रमथि की संहिता माण्डूक्य का मिसी। माघ में वैश्व के शिष्या का पत्नीय कहा है। वैश्व के पुत्र भी वैश्व ही कहलाते थे। वैश्वदिगम म भी इनका उत्सव है।

अश्विन—प्रायवण परिधिष्ट व अश्विन चरण स माघकार परिचित थे। उन्होंने पिता और पुत्र दोनों की धारणा अश्विन ही बतलाई है।

- १ अथ छन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दस्य सर्वाङ्गिणं काठकं कात्यायनं मीरकं वैष्णविकं—मा० ४ १-८६, वा १ पु० ९६ तथा ऋग्वेदि नैवं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक्ष प्रत्ययार्थो भवतीति।—४ १ १, वा० ३ पु० ८।
- २ अथ छन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दस्य सर्वाङ्गिणं काठकं कात्यायनं मीरकं वैष्णविकं—मा० ४ १-८६, वा० ३ पु० ९६ तथा ऋग्वेदि नैवं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक्ष प्रत्ययार्थो भवतीति।—४ १ १, वा० ३ पु० ८।
- ३ अथ छन्दसीत्युच्यते नैतच्छन्दस्य सर्वाङ्गिणं काठकं कात्यायनं मीरकं वैष्णविकं—मा० ४ १-८६, वा० ३ पु० ९६ तथा ऋग्वेदि नैवं छन्दो विवक्षितं काठकम्—किं तर्हि ऋक्ष प्रत्ययार्थो भवतीति।—४ १ १, वा० ३ पु० ८।
- ४ बह्वृष्य एकविंशतिषा। तत्र केनचित् चरणम घतञ्जुना बन्धाघातना बेदशाखा समावशिष्टा। सामवाहृबुधयोर्द्विधा हारदा—प्र० हृदय बेद-अन्तरण।
- ५ वीरक्या वा।—४ १ ११८।
- ६ वैश्वो होता बसो पुनो घोम्येन संहितो भवति।—समापर्व मा० ३६, श्लो० ३५।
- ७ वैश्वस्य वैशीय।—४ १ १६५, वा० २, पु० १६०।
- ८ यद्येतावत् प्रयोजनं वैशाखिद्येव पाठं कुर्वीत।—१ २ ४१, वा० ४ पु० ५१८।
९. २ ४-५९।
१०. २ ४-५८, पु० ४९३।

शाक्य—शाक्य लोग शाक्य के शिष्य थे।<sup>१</sup> शाक्य का गोत्रापत्य शाक्यनाथ और शाक्यनाथी (स्त्री०) कहलाते थे।<sup>२</sup> ये स्वयं शक्य क पुत्र थे। पाणिनि के कणाद्विषय में भी इनका नाम आया है।<sup>३</sup> शाक्य का प्रगृह्यसंज्ञा-विषयक नियम वैयाकरणों में बहुत प्रसिद्ध था। उन-इति को अन्य आचार्य लोग विधि' बोलते थे, किन्तु शाक्य उं इति तथा उ इति। इसी प्रकार के अनार्य सम्बोधन के जोकार को भी वे प्रगृह्यसंज्ञक मानते थे। भाष्यकार ने इन नियमों का शाक्य नाम से बार-बार उल्लेख किया है।<sup>४</sup>

शाक्य की संहिता उपलब्ध थी और उसका पाठ भी किया जाता था। भाष्य में शाक्य की संहिता को सुकृता' कहा है, जिसे सुतकर पर्याय ब्रह्म पढ़ा था। यद्यपि यह बटना बार-बार होती नहीं देखी गई, तो भी इससे शाक्य-संहिता के प्रति सामान्य जनों की बड़ा व्यक्त होती है।<sup>५</sup> कार्यायन की ऋक्-सर्वांगुत्तमी भी शाक्य-संहिता पर ही है। यह बात अनुक्रमनीकार ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दी है।

बामु (अ० १०) ब्रह्मण्ड (अ० ३५) और विष्णुपुत्रण (अ० ३४) के अनुसार शाक्य के पाँच प्रमुख शिष्य हुए—मुद्गल, वाङ्मय, धामीय, वास्य और शैधियेय। ये सब साक्षात्कार थे।

मुद्गल—मुद्गल से वास्तिककार और पञ्चक बोलों परिचित थे। इनकी पत्नी मुद्गलकात्री थी। भाष्य में 'रबीरमुन्मुद्गलाणी गविष्ठो' मन्त्राद्य दो बार उद्धृत है।<sup>६</sup> मुद्गल मृग्यस्य के पुत्र थे। निरुक्त में इन्हें भार्ग्यस्य कहा है। भार्ग्यस्य ऋषेय के इष्टम मन्त्रक १२० में सूक्त का ऋषि है। इस सूक्त में बार बार मुद्गल शब्द आया है। मुद्गल के पुत्र वद्भ्यस्य और उनके विबोदास हुए। ऋग्वेद में वद्भ्यस्य के लिए विबोदास को देने की बात कही गई है। इस ऋग्वेद को भाष्यकार ने भी उद्धृत किया है।

वाङ्मय—वाङ्मय के ऋग्वेद-नियम का उल्लेख पाणिनि ने सादर किया है, जिसपर भाष्यकार ने कहा है कि जो नियम जिस आचार्य के नाम से बतलाया जाता है उसका प्रथम उच

१ ४११८ वा० १, पृ० ४३।

२ लौकितारिषु शाक्यस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम्।—४-११८, पृ० ४३।

३ ये कणादवपस्ते शकलादयः ये क्तपर्यन्तास्तेऽशक्यपर्यन्ताः।—श्री।

४ १११८ वा० १२ पृ० १८८, ८९।

५ शाक्येण सुकृतां संहितामनुशिष्यं देवं प्राकर्त्तुं। अन्तर्त्तं हि नाम स भवति येन पुत्रं पुनर्त्तन्त्यते तच्छब्दं लङ्गुपि निमित्तात्वात् कल्पते। सङ्ख्यासौ शाक्येण।—१४-८४ तथा वा० १२, पृ० २०० १।

६ ४१४९, वा० ५, पृ० ६३ तथा ५१४९ वा० २, पृ० ४१६ (४ का शेष) इवै तर्हि प्रयोजनं दीर्घाकालप्रतिबेदायम्।—८-२-१८, पृ० ४०१ तथा ११६३ वा० ६, पृ० ४०९ आदि।

७ विबोदासाय नाम्यत वद्भ्यस्याय वाङ्मये।—६-२-९१, वा० १ पृ० २०५।

८ ६२-११।

भाषार्थ की ही सिष्य-परम्परा में समझना चाहिए। इसलिए गारुड नियम के अनुसार होलवाळ ह्रस्व का प्रयोग उर्ही की शाखा में समझना चाहिए।<sup>१</sup> गारुड का दूसरा नाम बाभ्रभ्य पोषाळ भी बतलाया गया है।<sup>२</sup> पाणिनि ने बाभ्रभ्य को बभ्रु का गोत्रापरत्य तथा कौटिक्यानीय माना है।<sup>३</sup> बाभ्रभ्य का उल्लेख भाष्यकार ने भी किया है, किन्तु गारुड से उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।<sup>४</sup> गारुड का एक मत ऐतरय भारभ्यक में ही मिलता है। उनका मत स महाप्रशाभ्ययन की समाप्ति एक ही दिन में की जा सकती है।<sup>५</sup> जातुकर्म्य का मत इससे भिन्न है। गारुडों के संहिता ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

घासीय<sup>६</sup> गार्य<sup>७</sup> और बत्सीय<sup>८</sup> नाम भाष्य में आये हैं, किन्तु इनके नियम न कोई जानकारी भाष्य से प्राप्त नहीं होती। इन शाखाओं के भी ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं।

ऋक् प्रातिघास्य की बर्ही घेदिर घाला जिसपर सायन का अधिकार भाष्य आप्त है, भाष्य में उल्लिखित नहीं है।

घोनक—पाणिनि और पठञ्जलि दोनों घोनकीयों से परिचित थे। घघिरिघिघ्रा में मुद्गस गारुड, गार्य घाकस्य और घेघिरि घोनक न सिष्य बतसामे मय हैं।<sup>९</sup> गारुड घाला का उल्लेख भाष्य में सर्वत्र वात्स्यों के साथ हुआ है।

बाष्कल-संहिता—उपर्युक्त समस्त शाखाओं का मूल शाकल्य संहिता है। इसके अतिरिक्त बाष्कलों की भी अपनी संहिता थी और ब्राह्मण भी। भारद्वाज्यन गृह्यसूत्र के अनुसार बाष्कलों की अन्तिम ऋचा 'तच्छयोपबृषीमहे' इत्यादि है। यह संज्ञान पूर्वक की पन्द्रहवीं ऋचा है। शाकलों की अन्तिम ऋचा समानीन आकृति आदि है। बाष्कल के चार प्रमुख सिष्य हुए—वीष्य अग्नि माठर, परावर और जातुकर्म्य। भाष्य में बाष्कल और जातुकर्म्य का उल्लेख नहीं है। वीष्य बोध के गोत्रापरत्य और अंगिरसपोषीय थे।<sup>१०</sup> भाष्य में अग्निमाठरों का नहीं बल्कि माठरों का उल्लेख है

१ भाषार्थदेशाघीकर्म न यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इकी ह्रस्वोऽयौ गारुडस्य इति गारुडा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन् १-४ ४४ वा० १७, पृ० २६४।

२ भपबहुतः बर्हिक बाह्वय का इतिहास पृ० १९०।

३ ममुबभ्रबोर्बाह्वमकौटिक्यो १-४ १ १०६।

४ १ ४ १, वा० ३, पृ० ९८ तथा १ १ ३ वा० ५, पृ० ११६।

५ वेदमेकस्मिन्महनि जमापयेत इति ह्रस्वाह जातुकर्म्यः। समापयविति गारुड १-एत० वा० ५ ३।

६ १ १ १, पृ० ९२ तथा ४ १-८६, वा० २, पृ० १०२।

७ ४-२ १०४, वा० २२, पृ० २१०।

८ ४ २-६६, वा० ३ पृ० १९० तथा ४-३-१०६।

९ राजनीय संघात्म्य, यत्रास इन्द्रनियत ऋतेसाम आँब संस्तुत नतत्किपुस्त त्रिस्व ४ भाग आई० सी०, १९२८, पृ० ४५९, ९७।

१० ऋषिबोधादाङ्गिरसे १-४ १ १०७।



पर व प्रतिष्ठित व्यक्ति या आचार्य नहीं है।<sup>१</sup> पराशर लोगों का अपना कल्प था। भाष्यकार ने इसके अध्येता को पराशरकल्पिक कहा है।<sup>२</sup> इससे अनुमान होता है कि पराशर-काल में इस शास्त्र का महत्त्व सीमा ही चुका था।

**भाष्यकार**—परम-सूत्र द्वारा निर्दिष्ट आर्ष शास्त्रियों का अग्रिम समूह भाष्यकारों का था। पाणिनि ने भाष्यकारों का स्मरण किया है। भाष्यकार ने इस सूत्र पर वास्तिक की टीका की है और वास्तिककार द्वारा निर्दिष्ट असुर शास्त्र के आसुरीय कल्प का उल्लेख किया है।<sup>३</sup>

**बहुवृत्त**—बहुवृत्त लोगों की एक स्वतन्त्र शाखा थी। भाष्यकार ने कठों के साथ बहुवृत्तों का स्मरण किया है।<sup>४</sup> उन्होंने उसे परजास्या<sup>५</sup> माना है। शाखा से भिन्नता व्यक्त करने के लिए ही बहुत ज्ञानयोगियों सूत्र को बहुवृत्तक कहते थे।<sup>६</sup>

**वैद्व्य**—वैद्व्यों की भी एक शाखा थी। इनका अपना कल्प वैज्जी कहलाता था।

**आश्वी**—महाभारत उभापर्व (३१९)के आश्वि उद्गात्मक के शिष्यों को आश्विन् कहते थे। भाष्य के अनुसार पिता की संज्ञा उद्गात्मक और पुत्र की ओद्गात्मकि थी। उद्गात्मक के शाखा से मित्र गोत्रापर्य ओद्गात्मकायन कहलाते थे। ये लोग प्राच्य थे।<sup>७</sup> इनकी शाखा आश्विन् कहलाती थी।<sup>८</sup>

**सुकर्म**—इस शाखा के ब्राह्मण भाष्यकाल में उपलब्ध थे। शौकम ब्राह्मण-ग्रन्थों का उल्लेख भाष्य में है।<sup>९</sup> वासिष्ठी शाखा से भी भाष्यकार परिचित थे।<sup>१०</sup> शौक्यों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और भाष्य में भी उक्त कथन का उल्लेख किया है।<sup>११</sup>

ऐतरेय का उल्लेख भाष्य में नहीं है, न आश्वलायन और शांखायन की ही नहीं चर्चा है, यद्यपि मनुस्मृति (२६) के टीकाकार मेवातिवि ने इसीसँ ब्राह्मण्य शाखाओं में ऐतरेय और आश्वलायन को प्रमुख माना है।<sup>१२</sup> आश्वलायनों का अपना कल्प था जो शाकल-संहिताओं

१ १-१-५६, वा० ३, पृ० ३३६ तथा आ० २, पृ० ७१।

२ ४-२-६० पृ० १८७।

३ औरध्यभाष्यकारों का औरध्यभाष्यकारोंसँ असुरशास्त्रिक कल्पिक, आसुरीय कल्प 1-४ १-१९, वा० १, पृ० ४४।

४ २-२-२९, पृ० ३७८।

५ ५-४-१५४ पृ० ५१४।

६ वही।

७ ४-२-६६, वा ५ पृ० १९१।

८ २-४-६७, पृ० ५०५।

९ ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

१० ४-२-६६, वा० ४ पृ० १९१।

११ ४-१-११४ वा० १ पृ० १३७।

१२ शौककारिभ्यश्चरति 1-४-२-६६, पृ० १९०।

१३ एकविंशति बह्वृत्तया आश्वलायनेतरेयादिभिरैव।

तथा प्रमुख इक्कीस ऐतरेय ब्राह्मणों के आधार पर बनाया गया था।<sup>१</sup> बादबलायन का भी आधार होने के कारण एतरेय आख्या उससे बहुत पुरानी रही होगी। बाष्कर-संहिता पतंजलि के समय में प्रतिष्ठित नहीं रह गई थी, किन्तु आख्यकारणों ने उसका आशय लिया था। यह बात आख्यकारण कल्पसूत्र का काल पतंजलि से बहुत पूर्व सिद्ध करती है। आख्यकारणों तथा उसके अन्य तीनों यैतों—कौपीतकि, महाकौपीतकि और आन्वय्य के विषय में भी भाष्य मौन है।

ऋग्वेद की सम्प्रति उपलब्ध संहिता (१) अष्टक अध्याय बर्ष मात्र (२) मण्डक सूक्त मन्त्र और (३) मण्डल अनुवाक सूक्त और मात्र इस क्रम से विभाजित है। भाष्यकार इन सब विभागों से परिचित थे।<sup>२</sup> इस मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋग्वेद-संहिता को शास्त्रतय कहते थे।<sup>३</sup> बर्ष-समुदाय पद, पद-समुदाय ऋक और ऋग्वेद-समुदाय सूक्त कहलाते थे। एक पद का पद, एक पद की ऋचा और एक ऋचा का भी सूक्त है। विपदा ऋचाओं तृष सूक्त तथा मयवों का उल्लेख भाष्य में मिलता है।<sup>४</sup> दामुवाक सूक्तवाक अध्याय पद-याठ क्रम-याठ शब्द भी भाष्य में आये हैं, जिनसे ऋग्वेद-संहिता के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में सहायता मिलती है। जिसमें अध्यायन किया जाय, उसे अध्याय कहते थे।<sup>५</sup>

### यजुर्वेद

यजुर्वेद को भाष्यकार ने अण्यवेद कहा है और इसकी एक ही एक शाखाएँ बतलाई हैं। माण्डूक्यिन शतपथ के अन्तिम बचन के अनुसार वाजसनेय या दशस्य द्वाक यजुर्वेद के संहिताकार हैं। भाष्यकार ने याज्ञवल्क्य-यणीत ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।<sup>६</sup> बरदक्ष ढोकी के प्रणेता बरदक्षिस्वन्दपुराण के अनुसार, इनसे पुत्र थे।<sup>७</sup> किन्तु इनकी कोई स्वतंत्र

१ आकल्पस्य संहितैका बाष्करस्य तथा परा।

२ संहिते समाधित्य ब्राह्मणाम्येकविंशतिः॥

३ ऐतरेयकमाधित्य तदेवान्यं प्रचुरयन्॥

—यद्वयुवनिष्यसर्वात्तुक्ति का उपीयुषत।

४ ५ २-६०, वा० १, पृ० ३९६।

५ ६-४ १५९, वा० ९, पृ० ४९०।

६ बर्षसमुदाय पद पदसमुदाय ऋग् ऋग्वेदसमुदाय सूक्तमित्युच्यते। यवति यैत वैकस्मिन्नप्येकवर्षं पदमेकपदमेकं च सूक्तमिति।—१ १ २१, वा० ५, पृ० १००।

७ ६ १ ३७ वा० ५, पृ० ६८।

८ २-४ ३१, पृ० ४७७।

९ ६ १ ३०, वा० १, पृ० ४७६।

१० ५ १ ११९, वा० ५, पृ० ३५६।

११ अधीयते तस्मिन्नप्यायः।—३ २-२०, वा० १ पृ० ३०००।

१२ आदित्यामीमानि दुक्त्वानि यजुर्वि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाप्याख्यायन्ते।

१३ ४ २-६६, वा० ४, पृ० १९१।

१४ पुत्रो बरदक्षिष्यस्य वयुव गुणसागरः।—स्क० पृ० १३१—४९।

शास्त्रा की या नहीं कहा नहीं जा सकता। स्कन्धपुराण में ही इनके पुत्र कारत्यायन को वैदसूत्रकर्ता कहा है।<sup>१</sup> इससे भरवशि और कारत्यायन एक ही व्यक्ति का नाम जान पड़ता है।

बाजसेनेयों की पण्डू शास्त्रार्थ हुई, जिनमें से बाबासु, बौधेय, काण्व, कारत्यायन वैजवाप और आशटिक नाम भाष्य में मिलते हैं।

बाबासु—उपनिषद्-शास्त्रमय के सत्यकाम बाबासु के पुत्र थे। पिता और पुत्र दोनों का उपनाम बाबासु प्रचलित था।<sup>२</sup> बाबासुउपनिषद् के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

बौधेय—सम्भव है, बाबिबल की शाखा हो। भाष्य में पिता और पुत्र दोनों का नाम बौधि ही बतलाया है।<sup>३</sup> एक चरम-सूत्र में बौधेय के स्थान पर शास्त्रा का नाम बौधायन दिया है। सम्भव है, बौधेय और बौधायन दानो एक हों या एक गोत्र के हों।

काण्व—भाष्यकार ने काण्व दण्ड-मायवों तथा काण्व-ग्रन्थों की बर्षा की है। इनकी संहिता और ब्राह्मण दोनों उपलब्ध हैं। काण्व गोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। काण्वसंघीय काण्वायन लोग आचार्य हुए हैं। इनके सिष्य काण्वायनीय कहे जाते थे। काण्व-संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक और २०८६ मंत्र मिलते हैं।

माध्यन्दिन—भाष्यकार ने माध्यन्दिन शब्द की उत्पत्ति मध्य से मानी है और किसी माध्यन्दिन द्वारा वेदमान का वर्णन किया है। माध्यन्दिन कौम थे, कहा नहीं जा सकता। बाजसेनेयी संहिताओं में बाजकसु इसी शाखा की संहिता का प्रचार सर्वाधिक है। इसके ४० अध्यायों में ३०३ अनुवाक और १९७५ मन्त्र हैं। इनकी दो सिखाएँ भी प्रकाशित हैं, किन्तु सूत्रग्रन्थों का पता नहीं चला है।<sup>४</sup>

काश्यपस्मन—काश्य और उनके गोत्रापत्य कारत्यायन दोनों व्याकरण के आचार्य थे। सम्भव है, वे ही कारत्यायन-शाखा के प्रवर्तक रहे हों। पठञ्जलि ने काश्य का मत उद्धृत किया है<sup>५</sup> और कारत्यायन का भी।

वैजवापि—वैजवापियों का भी उल्लेख भाष्यकार ने किया है। इनके सूत्र यज्ञ-तज्ञ

१ कारत्यायनं सुतं प्राय वैदसूत्रस्य कारकम् ।—स्क० पु०, नागरशब्द, अ० १३।

२ २-४-५८, पु० ४९३।

३ ४२ १०४ वा० २३, पु० २१०।

४ ४१ १६५, वा० १, पु० १५९।

५ मध्य शब्दो मध्यं शब्दमापद्यते विनश्च चास्मात् प्रत्ययो वक्तव्यः; माध्यन्दिन उद्धृत्यति ।—४ ३-५८, वा० ३ पु० २३७।

६ प्रोवाच भपवात् काश्यस्ते नातिद्विर्वर्णस्तुते ।—३-२-३, पु० २०८।

७ स्मारिबिबि पुरातनी पद्यविधौषेच कि कृतो यवति । नस्य पुराततन इति बुवता कात्यायनेनेह ।—३-२-११८, पु० २५१।

८ तां वैजवापयो विवाकमम् ।—२-४-८१, वा० १, पु० ५१०।

बिहारे मिलते हैं। मुद्रासूत्र प्रकाशित हो चुका है। पाणिनि के रेवठिकादिपत्र (४३ १३१) में इनका उल्लेख है।

**भाषटिक**—अवठ की गौत्र-परम्परा में भाषट्य और भाषट्यायन थे। भाषटिकों का इनसे क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्बन्ध है भाषट्य और भाषटिक एक हों।<sup>१</sup>

**अरक**—छादिका के अनुसार वैशम्पायन का दूसरा नाम अरक था।<sup>२</sup> ये वैशम्पायन के द्वितीय शिष्य और कृष्ण यजुर्वेद के शास्त्राकार थे। इन्होंने ८६ शाखाएँ प्रवर्तित की। इनके शिष्य भी अरक कहलाये।<sup>३</sup> पाणिनि ने भी अरक-प्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है और उनमें हितकर को अरकीय नाम दिया है।<sup>४</sup> वाजसनेयिसंहिता में एक लिख है, जिसमें अरक षष्ठा का प्रयोग मित्वा प्रदर्शन के लिए हुआ है। शतपथ ने अपने अनुयायियों के प्रतिस्पर्धियों को अरकाध्यर्तु नाम दिया है। शतपथ इनका शिष्यक है। वाजसनेयिसंहिता (१० १८) में तद्विषयक उल्लेख है।<sup>५</sup> भाष्यकार ने निवास की दृष्टि से जिन तीन प्राच्य तीन उबीच्य और तीन मध्य अरकों का वर्णन किया है,<sup>६</sup> वे सब अरक थे। पुराणों के अनुसार भी ८६ कृष्णयजुर्वेदीय शास्त्रार्थों के ये तीन ही मुख्य भेद थे।<sup>७</sup> छादिका के अनुसार प्राच्यों में आशुम्बि पसंग और कसस, उबीच्यों में श्यामायनि, कठ और कसाप तथा मध्य अरकों में श्रुपाम आशुभि और ताष्य प्रमुख थे। यही भाष्यकार की आचार्यश्रुती का जिक्र था।<sup>८</sup> भाष्यकार ने इनमें से कठों और कसापों का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है।

**कठ-कसाप**—कठों और कसापों से भाष्यकार का विशेष सम्बन्ध था। यजुर्वेद की यही शाखा जन्मक समय में सर्वाधिक समावृत्त थी। कठकों की प्रतिष्ठा पाणिनि ने समय में भी की। इन्होंने कठक यजु संहिता के कुछ प्रयोगों की शिष्यपति के नियम बिये हैं।<sup>९</sup> इनके भादि आशुपाम कठ और कसापी थे। ये दोनों वैशम्पायन के प्रत्यक्ष शिष्य थे। कठ के प्रत्यक्ष शिष्य ताडायन हुए।<sup>१०</sup> कसापी के प्रत्यक्ष शिष्यों का नाम भाष्यकार ने नहीं दिया है। कठ और कसापी

१ ४-१-७५, वा० २, पृ० ७८।

२ अरक इति वैशम्पायनस्याख्या १-४ ३-१०४ का०।

३ तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासितश्चरका इत्युच्यन्ते १-४१।

४ ४-३-१०७।

५ ५-१-१३।

६ संस्तमूत्रः प्राचीन संस्कृत वाङ्मय पृ० ३५०।

७ अथ प्राच्या अथ उबीच्या अथो मध्यमाः सर्वे निवासतलला १-४२ १३८, वा० २ पृ० २१८।

८ वायु पृ०, ६१-५ से १० तथा ब्रह्मण्ड पृ०, पृथगाग ३४-८ से १३।

९ ४-३-१०४।

१० वेदमुत्तमो यजुषि कठके १-७-४ ३८।

११ वैशम्पायनान्तेवासी कठः। कठान्तेवासी आशुपामः। वैशम्पायनान्तेवासी कसापी १-

४ ३ १०४ पृ० २४८।

की संहिताएँ माप्यकार के समय में नाब-नाब में पढ़ाई जाती थीं।<sup>१</sup> संहिताओं के प्रसंग में माप्यकार ने काठक काशापक नौदक और पीप्यसायक का ही सर्वत्र उल्लेख किया है।<sup>२</sup> सामान्यतः 'अम्बस्' शब्द से इन संहिताओं का ही बोध होता था। चरण के उदाहरण में भी उन्होंने केवल इन्हीं संहिताओं का स्मरण किया है।<sup>३</sup> ये संहिताएँ सम्बद्ध चरणों का आम्नाय थीं। कठों के गुरुकुल भी पतञ्जलि-काळ में बहुत थे। इस खासा के सब विद्यार्थी सत्रहृत्पारो होते थे। कठ का सत्रहृत्पारो कठ ही होता था। कठों कक्षाओं और कौशुलों की संहिता के नाम तथा उनके प्रति संनक-कामना के उल्लेख भी भाष्य में मिलते हैं।<sup>४</sup> जिस प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनि की कृति को महत् और सुबिहित कहा है उसी प्रकार कठों की संहिता को भी।<sup>५</sup> इस खासा में अध्ययन करनेवाली बनेक विद्युपी स्त्रियाँ थीं। कठी वृत्तारिका इन विद्युपियों के प्रति सम्मान का द्योतक है।<sup>६</sup> इन स्त्रियों में पाई जानेवाली आक्षीय विशेषताओं को माप्यकार ने कठीत्व और कठीता शब्दों से व्यक्त किया है।

काशिका के अनुसार कक्षापी के चार विषय थे—हृदि, छगिनी तुम्बुरि और उरुप। काशिका का आम्नाय काशापक और उनके साक्षाध्यायी काशाप कहसते थे। कठ और काशाप चरण थे। इनकी भी साखाएँ रही होंगी।<sup>७</sup> कठों की संहिता कक्षाओं की संहिता से मिश्रणी-बुभवी रही होगी। माप्य में इनके साथ-साथ उल्लेख तथा कास्तकीयपाशिवक में साथ परिगणन से भी यह ध्वनि निकलती है। काठकों की संहिता प्रकाशित है। इनका अपना ब्राह्मण आरम्भक और उपनिषद् है। विष्णु-स्मृति भी कठसाक्षीय है। चरण-म्बूहों में इनके प्रश्नों की संख्या आसीस या बीबासीस बतलाई गई है। कठ बाह्यम की व्यापकता के कारण ही कुछ चरण-म्बूहों ने कहा है कि जो काठक में नहीं है, वह कहीं नहीं है। (तस्मात्ति यस्मात्ति काठके)। कणमग ४००० पञ्चों की औगाति-स्मृति भी काठकों से सम्बद्ध है।

१ घामे घामे काठकं काशापकं च प्रीक्यते—४ ३-१०१, वा० १ पु० २४६।

२ ४ १-८६, पु० ९६ तथा ४-१ १, वा० ३, पु० ८।

३ ४ २-१०४ वा० २२, पु० २१०।

४ के सत्रहृत्पारिषीधेति कठा इत्युक्ते सम्बन्धावेतद्व्यागमते नृबं सोऽपि कठ इत्येवम्।  
कठ इत्युक्ते सम्बन्धावेतद्व्यागमत्यं स्यात्पूर्वं तेऽपि कठा इति—२-२-२४, वा २२, पु० ३६८।

५ मन्वन्तु कठ काशापः, चर्चन्ता कठकौबुनाः, उव्पासु कठकाशापम् प्रत्युत्थासु कठकौबुनम्—२-४ ३, वा० २, पु० ४६२।

६ यवेह मवति पाणिनीयं महत् सुबिहितमिति एवमिहापि स्यात्कठं महत् सुबिहितम्—  
४ २-६६, वा० २, पु० १९०।

७ ६ ३-४८ वा० १, पु० ३२७।

८ ६ ३-३५, वा० १, पु० ३२३।

९ ४-३-१०४ का०।

१० ४-२-४६ काशिका।

करमीर के सब काठक सिद्धान्ती हैं। मगबह्त के अनुसार आबकस कठ साग करमीर में ही पाये जाते हैं।<sup>१</sup> सम्भव है, कठों की यह उदीच्य शाखा काश्मीरी रही हो।

कसापियों की संहिता और ब्राह्मण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों के मत से मन्त्रायणी संहिता ही कसापियों की संहिता थी। कसापियों को कठों से अतिप्रकृष्ट होना चाहिए। याज्ञवल्क्य-स्मृति से टीकाकार विश्वरूप (१-७) ने कहा है कि मन्त्रायणी संहिता काठक से बहुत भिन्न नहीं है।<sup>२</sup> निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुय (१०-५) ने हारिद्वियों को मन्त्रायणीयों का घातामेव कहा है।<sup>३</sup> हारिद्व कसापी की शिष्य-परम्परा में थे। इससे अनुमान होता है कि कठों से भिन्नी बुन्नी मन्त्रायणी घाता कासाय रही होगी।

हरिद्व, कुम्भुइ और लगली की शाखाओं का माप्यकार को परिषय था। ये घाताएँ हारिद्व ताम्बुरव और छागए कहलाती थीं और इनके ग्रन्थों को पढ़नवास हारिद्विविण ताम्बुरविण<sup>४</sup> और छागसेय या छागसेयिन्।<sup>५</sup>

कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत कापिष्ठस आरायण बरततु बराहू और तिसिरि की शाखाओं का परिषय भी माप्य में भिन्ना है। कापिष्ठसों के मन्त्रायण कापिष्ठसि और उनके बंशज कापिष्ठस एवं कापिष्ठसायन कहलाते थे।<sup>६</sup> इनका प्राप्टिकियों से सम्बन्ध था। इस शाखा की संहिता में आबकस चार अष्टक ही उपलब्ध हैं। आरायण घाता माप्यकार के समय में उत्पन्न अवस्था में थी। इनके पुढकुलों में छात्रों को कम्बलों की बहुत सुविधा थी। इसलिए, बहुत-से छात्र कम्बला के छात्र से आरायणीय शाखा में प्रविष्ट हो जाते थे।<sup>७</sup> आरायणीयों का अपना प्रतिशास्त्र है। इनका एक मन्त्रार्पाध्याय और शिक्षा भी प्राप्त है।<sup>८</sup>

बरततु की शाखा बारतन्तवी थी। बारतन्तव-छात्र बारतन्तवीय कहलाते थे।<sup>९</sup> बरततु के गिप्य कर्तव्य का आख्यात कासिवास के रघुबंदा में भिन्ना है। कर्तव्य पाणिनि के समकालीन थे। वे उनके पास भिन्न भी गये थे।<sup>१०</sup> उनके विद्यार्थी थे या नहीं कहा नहीं जा सकता। इससे बरततु का पाणिनि से पूर्वकालीन होना स्पष्ट है। बाराही शाखा के विषय में माप्य से विषय

१ वैदिक ब्राह्मण्य का इतिहास भाग १, पृ० २८८।

२ महि मन्त्रायणी शाखा काऽनस्यात्पन्तविस्रभना।

३ हारिद्वो नाम मन्त्रायणीयानां घातामेव।

४ ४-२-१०४, वा० १९, पृ० २०९।

५ ४-३-१०९।

६ ८-३-९१, पृ० ४६२

७ २-४-६९, पृ० ५०६

८ कम्बलआरायणीयः १-१-७३, वा० ६ पृ० ४६१।

९ इण्डियन ऐन्डिविरी, जुलाई १८७६।

१० ४-२-६६ वा० ६, पृ० १९१।

११ उपसेविनाम् कौत्स पाणिनिम् १-३-१०८, वा० २, पृ० २४१।

प्रकाश नहीं पड़ता। बादाही पुत्र<sup>१</sup> और बाराहा शब्द भाष्य में अवश्य जाये हैं।<sup>१</sup> इनका भीतसूत्र उपलब्ध है।

तित्तिरि—तित्तिरि वैशम्पायन की शिष्य-परम्परा में थे। पाणिनि और पर्वणिक दोनों ने उनका उल्लेख किया है।<sup>१</sup> इनकी शाखा तैत्तिरीय कहलाती थी। बामुपुराण के १-वें स्कन्ध के छठे अध्याय के ३७ वें श्लोक से जाने व्यास की शिष्य-परम्परा का विस्तृत वर्णन है। तित्तिरि पक्षी के रूप में एक शिष्य थे (जब वैशम्पायन और माण्डवन्वय का सपड़ा ह्यो जाने पर माण्डवन्वय ने उनकी संहिता छीटा थी) वैशम्पायन की संहिता को छुनकर ग्रहण कर लिया तब से यह शाखा तैत्तिरीय कहलाई। प्राचीन बर्षर्मुं लोगों का प्रन्व तैत्तिरीय संहिता ही है। तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध मन्त्र ब्राह्मणमिष्य हैं। संहिता में चार पाद साठ ब्राह्म और बीबासीस प्रश्न हैं। इनके अतिरिक्त भाष्यकार के अनुसार तित्तिरि-प्रोगत श्लोक भी थे जिनके छिपे तैत्तिरीय लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता था। तित्तिरि प्रोक्त वैदिक साहित्य की ही तैत्तिरीय शाखा थी।<sup>१</sup> पाणिनि ने उस और सपिक का स्मरण तित्तिरि और बर्यन्तु के साथ किया है। उनकी शाखा भीषीय और सापिकीय कहलाती थी। ये ही बरन-म्ह में बतलाये हुए तैत्तिरीयकों के भीषीय और सापिकेय नामक दो भेद हैं। भाष्य में उल्लिखित घाटयामनिन् लोग सापिकीय शाखा की ही अन्तर्गत शाखा थे।<sup>१</sup>

पर्वणिक और पाणिनि के कौषिक्य रूप्य यजुर्वेद की सीध शाखा के अन्तर्गत थे। पाणिनि ने कौषिक्य का उल्लेख अगस्त्य के साथ किया है। भाष्य के कौषिक्य विशेष विच्छिन्न नहीं जान पड़त।<sup>१</sup> वे माठरों के समान सामान्य गौत्र के ही भोग थे। कौषिक्यों का मूल पुरुष कृष्णिन् वा और उनके अपत्य कौषिक्य कहलाते थे।<sup>१</sup> अग्निवैश्य शाखा के भोग जाणितेश थे। यह भी केवल सीधी शाखा थी। भाष्यकार ने तीन बार इनका उल्लेख किया है। अग्निवेष के कस्य और कौषिक्य के भीतसूत्र का उल्लेख पुरुषोत्तम-कृत प्रवरमंजरी तथा तन्त्रवार्तिक (१ ३ ११) में भी मिलता है।<sup>१</sup>

१ १ १ १३, भा० ३, पृ० ४२।

२ ४ १-७८, पृ० ८०।

३ तित्तिरिबस्तनुब्रह्मिकोब्राह्मण्य-४ ३-१०२, तथा भा० ४-२-१६, पृ० १९२।

४ यजुर्वेदे तैत्तिरीयशाखा मन्त्रब्राह्मणमिष्या तत्र संहिता चतुष्पादा सप्तकाण्डा चतुर्विंशतिप्रश्नाः।—मर्षचन्द्रय।

५ ऋग्वेदप्रवृत्तं च कर्त्तव्यम्। इतरथा ह्यतिप्रसक्तं स्यात्। इहापि प्रसज्यते तित्तिरिणा प्रोक्ता श्लोका इति-४ ३-१०४ पृ० २४८।

६ ४-२-१०४, भा० १९, पृ० २०९।

७ २-४-७०, भा० १३, पृ० ५०६।

८ १ १-५६, भा० ३, पृ० ३३६।

९ १ १ ४७, भा० १ पृ० २८७।

१० १ १-२१, भा० ७, पृ० २०३ १-२-३९, भा० १ पृ० ५१५ तथा ६ १ २३३ भा० ३ पृ० २४४।

पक्षकपरिमाणक विषय में कौण्डिन्य का मठ मन्त्राराङ्गसूत्र की उम्भला टीका में मिलता है या कौण्डिन्य के मन्त्र ही हैं।' सम्भव है किपि शेर से ही कौण्डिन्य का कौण्डिन्य हो गया है।

सम्प्रति हृण यजुर्वेद की षाडक (बृहान श्रोत्र द्वारा प्रकाशित) कविच्छलकड-संहिता मैत्रायणा संहिता तत्तिरयान संहिता (बेबर द्वारा प्रकाशित सायना मध्य-संहिता) उत्कल्प है। इन चारों का परस्पर निकट सम्बन्ध है। मुक्तयजु की वाजसनेयिनसंहिता की काव्य और माध्यन्तिन का गाथाएँ हैं। इनमें बहुत कम अन्तर है।

कठों का शौभार्थम उपगास एँ बतलाई जाती हैं। ४२ अन्य गाथाएँ थी। हृण यजुर्वेद का इन ८६ गाथामों तथा मुक्त यजुर्वेद की पन्द्रह गाथाओं व योम की वृष्टि में रखकर माध्यकार ने 'एकघतमध्यपुराणाः' कहा है।

### सामवेद

माध्यकार ने सामवेद को 'महृष्यवर्मा' कहा है। इसमें निष्पात लोम छन्दोप कहलाते थे। पुराणों के अनुसार सामवेदसाधारण जैमिनि व्यास के तृतीय मुख्य शिष्य थे और उनके परिषद्वादी तथा द्विष्यनान नामक दो शिष्य हुए, जिनमें से प्रत्येक ने परिषद्वादी की साक्षाएँ प्रवर्तित कीं। यह एक सामान्य विरवास-मात्र आज पक्का है। वैसे किसी भी ग्रन्थ में बाह्य से अधिक विरचनीय नाम प्राप्त नहीं होते। माध्य में निम्नलिखित सामसाधारणकारों के नाम मिलते हैं।

कौषुम—कौषुम कुषुमि की शिष्य-परम्परा में थे। माध्यकार के काल में यह सायना उग्रत अवस्था में थी। कठों द्वारा कलापा के साथ उम्होने इनकी सायना और संहिता का उत्प्रेष अत्यन्त आदर के साथ किया है और उनके उषय तथा प्रतिष्ठा को बर्षा की है। पार्श्वक अनुसार कौषुम संहिता की मन्त्र-संख्या १८१९ है। जैमिनीय शाखा की संहिता तथा ब्राह्मण और शीतपृष्टसूत्र मिलते हैं। इनकी संहिता में गानों की संख्या ३६८१ है, जो कौषुमों की (२७२२) संख्या से ९९९ अधिक है। जैमिनि के शिष्य लक्ष्मणकार थे। इसलिये, जैमिनीय व ह्यण का बहुधा लक्ष्मणकार ब्राह्मण भी कह सकते हैं। जैमिनि काण्विक के शिष्य थे और मूल संहिताकार से भिन्न थे। काण्विक की गाथा के सांग काण्विक कहलाते थे। काण्वी के दूसरे सायनाकार शिष्य आस्तवी थे। इनका उत्कल्प माध्य में अन्तेवादी ब्राह्मणों के रूप में मिलता है। भागविति परिषद्वादी के शिष्य थे। इनका अत्यन्त भागवितिक और शिष्य भागवितिक कहलाते थे। इत द्विष्यमात्र के पुत्र थे।

१ अब कौण्डिन्येन वेदस्य पक्ष-प्रमाणमुक्तम्-वञ्चकारत्नी रयपपरधत्वातो हृत्तिरयप-  
दी मुक्तयजुमनुष्यानाम्।-२७-४ २४, सायना० सु० उम्भला टीका।

२ २४३, पृ० ४६३।

३ १४१४४, भा० १ पृ० ४८३।

४ ४-२ १०४, भा० १९, पृ० २०९।

५ ४१-९०, भा० ३ पृ० १०८।



पाणिनि ने इनके सिष्य कार्तिकेय<sup>१</sup> और पंतबलि ने कार्तिकेय का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> पुराणों के अनुसार राम-महिताचार कृत के २४ सिष्य थे। रामायण और सात्व्यमुनि शास्त्रों ने उच्चारण-सम्बन्धी कुछ मनीषी प्रयोग किये थे। वे 'सुजाते अस्वसूनुते', अर्थात् अक्षिभि सुतम्' आदि मन्त्रों में अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी उच्चारण करते थे। यह उनकी अपनी पारंपरिक कृति थी। अथर्व वेद और वेद में कहीं अर्ध एकार या अर्ध ओकार का उच्चारण प्रचलित नहीं था।<sup>१</sup> इनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है, किन्तु पंतबलि-काल में ये शास्त्राएँ सक्रिय थीं। वेदों के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। इनके छात्रों गीतमीयों का स्मरण भाष्यकार ने पाणिनि और आपस्तम्ब के साथ किया है। उनके समय तक गीतम सिष्य-परम्परा की पैंतीस पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं।<sup>१</sup>

### अथर्ववेद

पंतबलि अथर्ववेद की नौ शाखाओं से परिचित थे जिनमें मीढ और वैष्णव सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। इनका उल्लेख उन्होंने सर्वत्र साव-साध किया है। मीढ और वैष्णव संहिताएँ साव साव गाई और पढ़ाई जाती थीं।<sup>१</sup> अतः इनमें भिन्न सम्बन्ध और सादृश्य होना चाहिए। वैष्णवों की संहिता तो अब प्राप्त है। इनका एक शास्त्र भी था। ऋग्वेद भाष्य की अनुक्रमणी में बकटमाधव ने अपना एतरय और आचर्य्यों को वैष्णव शास्त्र बतलाया है। इससे पता चलता है, अथर्ववेद में वैष्णव शाखा ही प्रमुख थी। इसीलिए भाष्य के भी प्रारम्भ में अथर्ववेद से उद्धृत प्रथम मंत्र वैष्णव-संहिता के अनुसार ही है। गोपब-ब्राह्मण (१२९) से इस कथन की पुष्टि होती है। मीढों का कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। वेदसंज्ञक ग्रन्थकारों द्वारा इनका नाम ही उद्धृत मिलता है। इन सोमा के आग्नाय मोक्ष और वैष्णवक कहलाते थे। भाष्यकार को इन दोनों की संहिताओं का ज्ञान था। उन्होंने ऋग्वेद (वेद) की निरयता का प्रतिपादन करते हुए मीढ, वैष्णव आदि संहिताओं की वर्तमानपूर्वी को अनिरय माना है।<sup>१</sup>

१ १-२ १७।

२ १४ १४४, वा १ पु० ४८३।

३ ऊर्ध्वोमानां सास्यमुपिराणाम्नीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीम्यते। सुजाते ए अस्वसूनुते अर्धयो ओ अक्षिभि सुतम्। पार्वरकृतिरेवा तत्र मक्षताम्।—वा० २, पु० ५४।

४ १२ ३६, वा० १, पु० २५७।

५ विपञ्चात् गीतमम्।—२-४-८४ पु० ५१५।

६ २-४ ३ पु० ४६३।

७ ऐतरेयकर्मस्मार्त्तं वैष्णवमथर्वनाम्।—ऋषु० भाष्य ८१।

८ अथर्ववेदी रमीय्ये।—वा० १, पु० १।

९ ४ ३-१२०, वा० ११, पु० २५२।

१० ४ ३ १०१, वा० ३ पु० २४७; ४ ११ वा० ३, पु० ८ तथा ४-१-८६, वा० १, पु० १६।

उन्होंने मीड वैष्णवादि के अलग अलग नामों को भी चर्चा की है।<sup>१</sup> इससे दोनों संहिताओं का पूनक अस्तित्व स्पष्ट है।

शौनक ऋग्वेदीय वे और आपर्वण शास्त्राकार भी। नैमियारण्य के सुप्रसिद्ध स्वधिर शौनक ऋग्वेदीय वे। पाणिनि के शौनकादि यम में जिसे पञ्चमि ने उद्धृत किया है<sup>२</sup> किस वेद के शास्त्राकार शौनक का उल्लेख है, कहा नहीं जा सकता। शौनक और वैष्णवादि की संहिताओं में अन्तर है। वैष्णवादि में वीस काण्ड हैं और शौनकीय में अठारह। शौनकीय संहिता काण्ड प्रपाठक अनुवाक-सूक्त मन्त्र पर्याय गण और अवसानों में भिन्नवत् है। माप्यकार ने वैष्णवादि-संहिता को ही प्रमाण कर आंगिरस को वीस काण्डवासा बससाया है।<sup>३</sup> छिटन के अनुसार इसके १८ काण्डों में ४४३२ में मन्त्र हैं जात्रिण और जात्रामो का नामास्थेस-मात्र माप्य में मिलता है।<sup>४</sup>

अथर्ववेद (१०-७-७०) में अथर्ववेद को अथर्वीङ्गिरस कहा है। आपर्वण यात्रिक ग्रन्थों में उसे भुवंगिरस सन्नाधी है। भूमु योज आचवर्षों का था। माप्यकार ने भुवंगिरसिका ग्रन्थ में भूमुओं और अंगिरसों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख किया है।<sup>५</sup> इस प्रकार, आपर्वण और अंगिरस परस्पर-सम्बन्धी सिद्ध होते हैं। अथर्ववेदों के आम्नाय का नाम आचवर्ष था और उसके अध्येता आचर्वणिक कहलाते थे।<sup>६</sup>

अप्य—कुछ ऐसी शास्त्राओं के नाम भी माप्य में आये हैं, जिनका सम्बन्ध किसी वेद विशेष से स्पष्ट नहीं है। इनमें काश्यपी काश्यप-प्रोक्त ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले थे और कौशिकी कौशिक-प्रोक्त ग्रन्थों के अध्ययता। माप्यकार इनसे कल्पग्रन्थों से परिचित थे। कश्यप कल्प-सूत्र से प्रसिद्ध ही है। इनके अतिरिक्त क्रीड काकत भारद्वाज 'प्लाश प्लाशात्मक' वाश्यात्म तैठिल शैलान्द सौकरसभ्म शैलान्द और सौपर्व शास्त्राओं के नाम माप्य में मिलते हैं।<sup>७</sup> शैलान्द सिलासि ने बसव वे। घतपञ्चाहाण (१५-५ ३ ३) में वे यज्ञ-विधि

१ २-४३, पृ० ४६३।

२ ४-२-६६, वा० ३, पृ० १९०।

३ विद्विमोर्प्रिङ्गिरस।-५ २ ३७, प्लो० वा० २, पृ० ३७९।

४ ६-४-१४४, वा० १, पृ० ४८३।

५ २-४ ६२, वा० ८, पृ० ५००।

६ ४ ३-१३१, वा० २, पृ० २५५।

७ काश्यपकौशिकप्रहृषं च कल्पे नियमार्थं इष्टव्यम्। काश्यपकौशिकाम्यामेवेति कल्पे वेत्तव्ययो नामान्येभ्य इति। कर्ष काश्यपिम- कौशिकिनः इति।-४ २-६६, वा० ६, पृ० १९१ ९२।

८ यही

९ १ १ २, वा० १ पृ० १९२।

१० १ १ ९१, वा० ७, पृ० १४४।

११ ६-४-११६, वा० १ पृ० ४८३।

विषयक नियम के बरता बतलाये गये हैं। आपस्तम्ब सूत्र (५ ३-७) में भी इनका उल्लेख है। काशिकाकार ने आर्षामिन् घोषा का उल्लेख किया है, जिसे धीमयवहस ने आर्षामिन् माना है। यह कृष्णयजुष की घोषा थी। निरुक्त (२ ३) में इसका उल्लेख है।

इनमें से प्रत्येक चरण की अपनी विशेषताएँ थी, जिन्हें अक्षरण कहते थे। पाणिनि ने शाकस्य आदि चरणों के विशेष कसनों के लिए प्रत्यय का विधान किया है। काशिकाकार ने इस प्रसंग में यो आदि के स्वभूत चिह्नों को एक और चरणों आदि के स्वभूत चिह्नों को अक्षर की सजा देते हुए बिन्दुओं का सजान विद्या बतलाया है।<sup>१</sup>

१ अथवाऽऽकसनेऽव्ययितामयु (?)। अथुत्सपयोः की विशेषः? अथयं सव्यभूतस्वीय चिह्नभूतं स्वयं वा विद्या विद्यात्। अथुत्सु यथाहित्स्वोऽपि यथादीनां एवं न भवति।-४-३ १२७, काशि० दासकाद् भा० ४ ३-१२८।

## अध्याय ३

### साहित्य और साहित्यकार

**वर्गीकरण—**भाष्य में साहित्य का पाँच भागों में वर्गीकरण मिलता है—दृष्ट, प्रोक्त व्याख्यात उपहास और कृत। दृष्ट साहित्य मन्त्र-त्रय्या ऋषियों द्वारा प्रकाशित है। पठञ्चि दृष्ट साहित्य को नित्य मानते थे। उन्होंने कहा है कि छन्दस् बनाये नहीं जाते। वे अकृत या अपौरुषेय हैं। ऋषियों की वर्तानुपूर्वी में अन्तर हो सकता है। शास्त्रा भेद से छन्दस् में वर्ण भेद होने पर भी मन्त्र अर्थात् उनमें निहित अर्थ-सत्य नित्य है। काठक कासायक मौदक और पंप्पलादक आदि भेद वर्तानुपूर्वी-भेद से माने जाते हैं।<sup>१</sup>

### दृष्ट साहित्य

**चातुर्वेद्य—**दृष्ट साहित्य में चातुर्वेद्य या चातुर्वेद्य आते हैं।<sup>१</sup> कुछ सोम अयन को छोड़कर दोष वेदों को त्रिविद्या कहते थे। भाष्य ने त्रिविद्या को त्र्यययवक विद्या कहा है और तृतीय तूर्वाय्या विद्या का पृथक् उल्लेख किया है।<sup>२</sup> चातुर्वेद्य और त्रिविद्या के अर्थात् क्रमशः चातुर्वेद और त्रिविद्य कहलाते थे। अथर्वसंहिता पाणिनि को अतिरिक्त थी किन्तु भाष्यकार के समय तक यह समावृत्त हो चुकी थी। भाष्यकार को दृष्ट साहित्य का मूढम परिचय था। भाष्य में महामान्नी सामिबर्नी (ऋक) सामिपेय्ये मन्त्र चमक<sup>३</sup> पञ्चवसुतोम सप्तधासर छन्दस्य<sup>४</sup> ऋक्नाम सामयदुप

१ महिष्यसि क्रियन्ते। नित्यानिष्यन्ति। पद्यप्यर्थो नित्यो वा त्वसो वर्तानुपूर्वो सा नित्या। तद्भेदात्तद्भवति काठकं कासायकं मौदकं पंप्पलादकमिति।—४ ३-१०१, बा० ३ पृ० २४७।

२ ५ १ १२४, बा० १, पृ० २६४।

३ तिस्रोविद्यास्त्रिविद्य इति। त्र्यययवका विद्या त्रिविद्या।—४ १-८८, पृ० ९९, तथा ४ २-७, पृ० १७०।

४ ५ १ ९४, बा० १, पृ० ३४१।

५ ४ ३ १२०, बा० १०, पृ० २५२।

६ तैत्ति० सं० ४-७-४ के मंत्र। ५-२ ४, बा० २ पृ० ३६७।

७. ५ २-३७ इतो० वा० २ पृ० ३७८।

८. ५-४ ३०, बा० २, पृ० ४९१।

ब्रह्मसाम<sup>१</sup> देवसाम<sup>२</sup> अस्यवामीय क्यामुमीय<sup>३</sup> (सूक्त) वृषसूक्त वृषसाम गृहपतिमन्त्र<sup>४</sup> अहोरपन्तर साम<sup>५</sup> स्तम्भीय सर्वभाषीय अनुकीय (अनुवाकसूक्त) सूक्त वसिष्ठ विश्वामित्र (अनुवाक)<sup>६</sup> आदि शब्द आये हैं। इनमें ऋग्वेद के बृहद् तथा अहोरपन्तर छन्दों ने सामवेद में रक्ष्यमयता उत्पन्न कर ली है। वृषसूक्त साम के उत्तराधिक में तीन तीन ऋचाओं को मिलाकर बनाये गये २८७ पद्य हैं। उत्तराधिक में ही ८६ पद्य बी-बी ऋचाओं को मिलाकर बनाये हुए हैं और १३ में से प्रत्येक में एक ऋचा का है। माप्यकार ने एकत्र छन्द की भी ऋचा की है। अनुवाकों और अघ्यायों के नाम उनमें आये हुए शब्द विशेष के आधार पर भी प्रचलित थे। यथा वैपुक्त बोधक आदि।<sup>७</sup> किसी-किसी सूक्त वा अनुवाक का नाम उसके द्रष्टा ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हो गया था। काशेय आग्नेय बीषतस् या<sup>८</sup> बीषत और वामदेव्य<sup>९</sup> सामों के नाम कलि अग्नि चघनच और वामदेव द्वारा वृष्ट होने के कारण थे। मज्ञायत्रीय साम के वाद नामे जानेवाले उक्त सामों का भी उल्लेख माप्य में हुआ है। इन्हें गानेवाले ऋषिक कहलाते थे। ऋषिकों का आम्नाय ऋषिकय या उनके द्वारा गाये जानेवाले साम थे। इस प्रकार, साम का पर्यायवाची होने पर भी उक्त शब्द सामविशेष (ऋषिकय) में ही रूढ था। इसीलिए, ऋषिकय विशेष सामप की सजा ली।<sup>१०</sup>

आम्नाय—चरणों और शाखाओं के मूल ग्रन्थ आम्नाय कहलाते थे। ऋठ कलापिन् मीय और पैपकाव शाखाओं के आम्नाय और वर्म वाठक कामापक मीयक और पैपसाधक थे।<sup>११</sup> इसी प्रकार, छन्दोगों ऋषिकों याज्ञिकों बह्वृषों गटों और अचरुषों के अपने-अपने आम्नाय थे

१ ५४-७, पृ० ५०४।

२ ५४१ ३, पृ० ५०७।

३ ५-२-५९, वा० १, पृ० ३९४।

४ ६१ ३९, वा० ५, पृ० ६८।

५ ४४-९०, पृ० २८६।

६ ८-२ ६८ पृ० ३७६।

७ ५-२-६ वा० १ पृ० ३९६।

८ ४३ १३१ वा १-२ पृ० २५५।

९ ५-२-६१ ६२।

१० ४-२-७, पृ १६९, १७०।

११ ४-२-६, पृ० १७०।

१२ उच्यतेऽतस्त्वेषुः। काम्पुस्त्वानि? सामानि। एषोऽं सामन्पात्रे ऋषिक इति प्राप्नोति। नैव होयः। तावर्ष्याताञ्छब्दं भविष्यति। उच्यतेऽनुवाकम्। इहोभयाम्यन्ती ऋषिक इति। य इहानी ऋषिकयं याज्ञिकयं वाचीते कयं तत्र भवितव्यम्? ऋषिकः याज्ञिक इत्येव भवितव्यम्।—४२ ६० पृ० १८६ तथा उपपद्यते केचुचिरेव सामनु कः। यता यतीयात्परेष यानि पीर्यन्ते।—बही, का०।

१३ ४-३ १२०, वा० ११, पृ० ५२।

को बना छात्राय श्रीशिवस्य यन्त्रिकस्य बाहू बृष्य माद्व्य और भायवग बहु जात ये।' भाष्यकार न आम्नायो को अन्वमाध्य (मित्र) कहा है क्योंकि उनकी बर्मानुस्मरी स्वर, देव तथा कास नियत रहता है। उगाहरणार्थ अम्पबानीय सूक्त में अस्त्यवाम गच्छ वा स्वर्ग और बर्मानुपूर्वी निरिच्छत है। आम्नाय पढ़ने का स्थान भी निरिच्छत है क्योंकि वह बीरास्त पर या समान में नहीं पढ़ा जाता। उसका समय भी निश्चित है। अनुर्वागो और अमावास्या को आम्नाय का पठन अधिक है। आम्नाय गद्य का प्रयोग सामान्यतया वेद के लिए हुआ था।

ऋषि—वेदों का ऋषि भी कहते थे। सम्भवतः वेदों को यह नाम कर्त्ता (ऋषि) से तादात्म्य सूचित करने के लिए रिया गया था। भाष्य में एक अंग उद्धृत है त्रिगणे ऋषियों के प्राचीन और महीन दो वर्गों का पता चलता है। भाष्यकार ने इन्हें प्रथमवर्षा परापरत्र विरिद्धविदम्भ और अधिगतयायास्य कहा है। यह परिभाषा निरुक्त का प्रतिध्वनिमात्र है। निरुक्त के अनुसार अनुषि और अतरस्वी को ऋष का प्रथम मही जाता। भाष्यकार ने उपसृष्टाया विरिद्धामित्र का ऋषित्व की प्राप्ति बताया है। तब के बहू से ब स्वय ऋषि बने और तब की पक्षि से ही उद्धोंने अपने पिता माषि और पितामह कुशिक को ऋषि बनाया था। अष्टांगः महस्र जम्बरलम् ऋषि हुए हैं जिनमें अगस्त्याणि आठ ने मन्त्रानात्पति स्वीकार की थी। भाष्य में वर्णान् तर्वाग प्रस्कम्प हरिरश्चन्द्र 'भारत' पर्वण 'एडविड भीमिन्' ध्रुव-अग्नि बर्धवान् 'कश्यप ज्ञानमेत' मरीचि बस बसिष्ठ बहुम्पति कश्यप अक्षय नामाश्च आदि नाम मिलते हैं। भारत का उक्तक अवबोध में बर्णायनु के मांस के खाद्यान्नाद्यत्न-विशेषण के प्रयोग

१ ४३ १२९ तथा ४३ १३१, बा० १, पृ० २५४।

२ अकारे पुनः ऋषिनिर्णयं बोधयते।—मा० १, बा० ७ पृ० २२।

३ अग्निं पूर्वमिं ऋषियिं ऋगु।—१ १२।

४ मा १ बा० ९, पृ० २४।

५ सासाम् हुतपर्वमिं ऋषयः।—निरुक्त १-२०।

६ बहूषु प्रथमवर्षाननुपरतपनी वा।—नि क्त १३ १२।

७ विन्वापिस्तपस्तेपेनागुवि स्यामिति। तत्र भवानुवि सम्पन्नः। तपुनातपस्तेपे नानुवेः पुत्र स्यामिति। तत्र भवान् गात्रित्पुवित्तम्पन्नः। तपुनातपस्तेपे नानुवेः पौत्र स्यामिति। तत्र भवान् कुणिकोऽप्युविः सम्पन्नः।—४।१।१०४ पृ० १३३।

८ मष्टागिति सहस्राध्युधरेतसमुदीयां बभूवस्तत्रापस्थाप्यर्षिर्ऋषियिं प्रबन्धे-  
म्युपगतः।—४ १-७९, बा० ३ पृ० ८८।

९ मा० १ बा० ९, पृ० २४।

१० ६-१-१५३।

११ ८-१-१५, पृ० ३०८।

१२ ४-१-१२०, पृ० १४१।

१३ ६-१-३० बा० ७, पृ० ६८।

१४ ४-१-११४ पृ० १३३।

में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में तारव और पर्वत जाबप्ट्य और मुवाउर्वीप के पट्टामिपेककर्ता और हरिश्चन्द्र को अश्वमेध याग के परामर्शदाता कहे गये हैं।

ऋषि संहिता और कल्प दोनों प्रकार के साहित्य से प्रणेता थे। पानिनि म भी ब्राह्मण और कल्प से प्रणेता काश्यप और कौशिक को ऋषि कहा है। पतञ्जलि ने 'यदमठीभिरद्भिर्मूर्ध्नि प्रोत्थति इव कल्प-वचनं को ऋषि कृतं माना है।' पुराणों में ऋषि-गुणों की संज्ञा ऋषिक है। माप्य म भी ऋषिकों का उल्लेख है। इनकी कृति त्वार्यक कहकार्त्वा बी। प्राचीन ग्रन्थों में ऋषिक और ऋषाक दोनों शब्दों का व्यवहार मिलता है। पुराणों के ऋषिकों में भरद्वाज शखलु, वाजसनेयस् और पराशर नाम माप्य में आये हैं। पुराणों के अनुसार नृगुकुल से उत्पन्न ऋषि हुए हैं जिनमें नृगु, दध्यक, और अमवन्नि विष बन्धु विषोवास बाधूमन्व और शीतक से माप्यकार परिचित थे। इनमें नृगु, दध्यक और शीतक ही आश्वमेध हैं। आश्वमेध-गुरु से ३३ ऋषिकों में भरद्वाज गर्ग अम्बरीष अजमीड कपि पूषदस्व कश्यप मुद्गल शखलु आयास्य वामदेव कशीबानु छह काश्यपों में कश्यप नैषध और रम्य छह वाजसनेयों में कपि बसिष्ठा पूर्वातिथि एवं सात बसिष्ठीयों में बसिष्ठा पराशर, कुचिन् तम। देख कौशिकों में विश्वामित्र कत और सीहित का उल्लेख माप्य में मिलता है।

### प्रोक्त साहित्य

ब्राह्मण और कल्प—ऋषि-कृत ग्रन्थों की विभिन्न शास्त्रीय संहिताएँ तथा उनके अंगमृत ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थ प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत हैं। यह प्रवचनकार आचार्यों की अपनी कृति नहीं अपितु संहिताओं का प्रवचन-रूप साहित्य है। माप्यकार ने इस बात को स्पष्ट किया है कि किसी के द्वारा प्रोक्त साहित्य उसका इत नहीं होता। उदाहरणार्थ माप्यरी वृत्ति माप्यर द्वारा इत नहीं प्राक्त है। यह माप्यरी वृत्ति कौन-सी भी स्पष्ट नहीं है। प्रोक्त साहित्य में ऐतरेय बार तन्त्राय काण्डिकीय और श्रीश्रीय संहिताएँ काश्यप और कौशिक के कल्प कसापी वैशम्पायन तथा उसके अन्तेवासिनों (हरिषु ऋषिषि तुम्बुक उरुप आश्वमेध और कठ) के ग्रन्थ माप्यकार को ज्ञात थे। इनके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य मुसम मास्मन् शाट्यायन और ऐतरेय क ब्राह्मण

१ ५-२-१४ भा० ३ पृ० ४१ ।

२ ४-२-१०४ भा० २८, पृ० २४३ ।

३ ऋषिगुणगुणीकास्तु समोत्तासासि० ।

४ ४-१-१०२ तथा ४-१-११७ ।

५ ४-२-६४ पृ० १८८ ।

६ ४-३-१०१, भा० ३ पृ० २४७ ।

७ ४-३-१०२ ।

८ ४-२-६६, भा० ६ पृ० १९१ ।

९ ४-३-१०४ भा १-३ पृ० २४८ तथा का० ।

१० ४-३-१०५, भा० १ पृ० २४२ ।

पैङ्गी बदमनराजी 'आनुरीप पाराधर' और कस्य शीमकादिकों (शीमक वामसनेय शाङ्करज सायन्व साम्येय सास्येय स्कन्व स्कन्व तदस्तार, रज्जुकुष्ठ रज्जुभार, कठशाक कषाय पुष्पास वस्त्रपेय)' के ब्राह्मण कस्य और संहिताएँ, कठों और चरकों की संहिताएँ, कसापी और छगली के ग्रन्थ 'पाराधर्य और कर्मन्व के भिक्षुसूत्र एवं शिन्नास्त्रि और वृशास्त्र के नटसूत्र पर्वजसि के समय में विद्यमान थे।' इनमें से पैङ्गय मठ का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के दर्श पौर्णमास इष्टि के विवेचन-अंश में मिलता है। ऐतरेय के सुप्रसिद्ध शुन-शेष शुन-पुच्छ और शुनालागूल का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि माप्यकार ऐतरेय ब्राह्मण से मनी मति परिचित थे।<sup>१</sup> कौषिककस्य सम्मन्त थापर्वज कौषिकसूत्र है। सूत्र १-२-६४ में जिम संयुक्तों का उल्लेख है, वे आस्त्रसायन शीतसूत्र (७-११) में मिलते हैं।

कौट नाकट, मौर और वेणुसाह ब्राह्मण तथा तौन्दुरज मास्त्रव शासायक आस्त्र घाटयामन गार्गीक भारसक काण्व और ब्राह्मण-ग्रन्थों वा कस्यसूत्रों का भी प्रचार पतञ्जलि-काल में रखा जान पड़ता है।<sup>२</sup> वेद तन्व वास्तिक संग्रह और कस्य इन विभागों की पचाँ महाभाष्य में है। इनके अध्येताओं के नाम के साथ सर्ववेद सर्वतन्व सर्वास्तिक सर्वग्रहणकस्यकस्य द्वित्त वादि विशेषण लगाये जाते थे।<sup>३</sup> काशिकाकार ने उपयुक्त ब्राह्मणों से मास्त्रव घाटयामन और ऐतरेय को तथा कस्यों में पैङ्गी और बदमनराजी को अति प्राचीन माना है।<sup>४</sup>

इस समय शतपथब्राह्मण का प्रचार अत्यधिक जान पड़ता है।<sup>५</sup> पठिपथ जिसका उल्लेख माप्य में शतपथ के साथ ही हुआ है इसी का एक भाग है। शतपथ ब्राह्मण के पथद्वयपथ पठिपथ अर्थात्पथ वादि अष्ट थे। शतपथ की गणना पथाविमण (५३१००) में भी है। पठिपथ इसका मध्यम काण्व-पर्यन्त भाग है। अग्निचयन इसके अन्तर्गत है। इसमें यजुर्वेद के प्रथम अष्टाह अम्प्यों के सब मंत्रों की व्याख्या आ गई है। अम्पयं विभक्ति (२१६) सूत्र की व्याख्या में वाशिकादि ग्रन्थों का अग्निग्रन्थपर्यन्तमनीते साम्नि' यह उदाहरण भी पठिपथ

- १ ऋषी, का०।
- २ ४-१-१९, वा० २ पु० ४४ तथा ४-२-६०, पु० १८६।
- ३ ४-२-१०६।
- ४ ४-३-१०७।
- ५ ४-३-१०८, १०९।
- ६ ४-३-११०, १११।
- ७ ऐत० वा०, ७-११।
- ८ ऐत० ७-१७ १८ तथा ६-३-२१, वा० ४, पु० ३०७।
- ९ ४-२-६६, पु० १९१, १९२।
- १० ४-२-१०४, वा० १९, पु० २०९।
- ११ ४-२-६०, पु० १८७।
- १२ ४-३-१०५, वा० १, पु० २४२।
- १३ ४-२-६० • १८८।



के विषय प्रचार का परिचायक है। सूत्र १२३७ के भाष्य में जिस सुब्रह्मण्या गिरिज की अर्चा है, वह भी शतपथ में उपसम्भ होता है। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान पद्मविष्णुब्राह्मण (११-८ से १२ के अन्त तक) में मिलता है। शतपथ ही याज्ञवल्क्य ब्राह्मण हैं और यही छान्दोग्य (४३-१०६) का भावधनेय ब्राह्मण है। सूत्र ५११२ में त्रैलोक्य और अत्वारिष ब्राह्मणों का उल्लेख है। इनमें चासीस अध्याय का ऐतरेय ही अत्वारिष ब्राह्मण है और त्रैलोक्य सम्भवतः इसके प्रथम तीस अध्याय। पद्मविष्णु (पृ० २) ने ऐतरेय वृत्ति के प्रारम्भ में ही उसे अत्वारिष कहा है। युधिष्ठिर भीमासक के अनुसार पंचविश के पञ्चीस प्रपाठक पद्मविष्णु के पाँच मंत्र-ब्राह्मण के ही और छान्दोग्य उपनिषद् के आठ प्रपाठकों को मिलाकर चासीस अध्याय का एक ही ब्राह्मण वर्तमान बा।<sup>१</sup> त्रैलोक्य ब्राह्मण में पंचविश और पद्मविष्णु को मिलाकर तीस अध्याय सम्मिश्रित थे।

अनुब्राह्मण या ब्राह्मण-सप्तस ग्रन्थ सम्भवतः आरभ्यकों के बीचक हैं।<sup>१</sup> ये ब्राह्मण-ग्रन्थानुसारी तथा कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों के मिश्रण हैं। सम्भव है वे विशिष्ट ग्रन्थ हों। भाष्यकार ने आरभ्यक अध्याय का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में आरभ्यक भाग पूरक उपसम्भ बा।<sup>१</sup> उपनिषद् पाणिनि-काण्ड में ही प्रचलित थे। ऋग्यजुर्वादि गण (४३-७३) में उसका उल्लेख है। ४३१२ सूत्र में जिस छान्दोग्य आम्नाय की अर्चा है, उसी का छान्दोग्य उपनिषद् भी है। अनुब्राह्मणों के समान उक्तादि गण (४२६०) में अनुकल्प शब्द भी आया है। सम्भव है वे ब्रह्मपठसि पर लिखे गये ग्रन्थ हों।

ब्राह्मणों में कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन माने जाते थे।<sup>१</sup> पुराणों में भास्कर घटपायन और ऐतरेय तथा अर्वाचीनों में याज्ञवल्क्य (शतपथ) और छान्दोग्य नाम भाष्यकार ने बतलाये हैं। काशिका ने शाण्ड्य को प्राचीन माना है और सौलभ को नहीं। सुसमा का उल्लेख महाभारत के साक्सिपर्व में जनक के राज ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद के प्रसंग में हुआ है। आरभ्यकाण्डादि गृह्यसूत्रों के ऋषिपितृवर्णन में भी सुसमा नाम आया है। काशिकाकार ने अरुणपराज वैम और आश्रमरथ को भी अर्वाचीन बतलाया है। चार्तिककार ने याज्ञवल्क्य को भी प्राचीन माना है। सम्भवतः पुराण प्रोक्त (४३१०५) का अर्थ उन्होंने पाणिनि से पूर्ववर्ती समझा है। ये ग्रन्थकार सबके मत से प्राचीन नहीं थे। इसीप्रकार, चार्तिक को अपने कथन की दृष्टि में (तुल्यकाष्ठत्वात्) कहना पड़ा। पाणिनि की दृष्टि में तो निश्चय ही ये प्राचीन नहीं थे। काशिकाकार ने भी इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि आख्यानों में यह बात आती है कि याज्ञवल्क्यादि अचिरकालीन हैं। चार्तिक ने आश्रमरथ की भी अर्वाचीनों में गणना की है।

उक्तादिगण (४३६०) में लोकायत श्याम श्याम मिमित पुनश्च लिख्य,

१ संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृ० १७५।

२ ४-२-६२, पृ० १८८।

३ ४-२-१२९, पृ० २१६।

४ १-४-७९।

५ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्।—४-३-६६ चार्तिक०।

यज्ञवल्की धर्म, अमतर, इन्द्रज पद अम संघात कृति सग्रह गुणागुण आनुर्वरे शिपवी (जनी तिपत्रियपक) अनुपद, अनुकस्य और धनुमुग इन विषयों का समावेश है। माध्य के समय में इनमें से किस विषय के कौन-कौन-से ग्रन्थ विद्यमान थे यह पता नहीं है, यद्यपि इन विषयों में अधिकार का उल्लेख माध्य में हुआ है।

### व्याख्यात साहित्य

व्याख्यान प्रौढ ग्रन्थों की व्यवस्था के रूप में वे। निरस्त व्याकरण धारि के व्याख्या परक ग्रन्थ इसी श्रेणी के हैं। वे श्लेष ग्रन्थ या विषय विनके लिए व्याख्यान-ग्रन्थों की आवश्यकता होती थी व्याख्यातक्य कहलाते थे।<sup>१</sup> सामान्य विषयों पर भी व्याख्यान-ग्रन्थ उपलब्ध थे। उदाहरणार्थ पाटलिपुत्र के प्राकार, प्राकार आदि का विस्तरण वर्णम सूकोनसा नामक व्याख्याती (पुस्तिका) में दिया गया था। फिर भी उसे व्याख्यान-ग्रन्थ नहीं माना जाता था। अथर्वनाम व्याख्यान को व्याख्यान मानते हुए भी धाप्यकार ने प्रसूतसर मतिवाले व्याख्यान-ग्रन्थों को ही इस श्रेणी का अन्तर्गत स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि श्लोक-व्यवहार में ऐसा ही सुना जाता है कि निरस्त की व्याख्या की जा रही है या व्याकरण की व्याख्या की जा रही है। पाटलिपुत्र की व्याख्या की जा रही है ऐसा कोई नहीं कहता। अतः, अथर्व-ग्रन्थों को ही 'व्याख्यान' कहना उचित है।<sup>२</sup> व्याकरण के विषय में उन्होंने उदाहरण प्रत्युदाहरण और आवश्यकतानुसार वाक्यों की ऊपर से जोड़ना इन सबको संयुक्त रूप से व्याख्यान माना है।<sup>३</sup>

व्याख्यान-ग्रन्थों में बहुत-सा यात्रिक साहित्य भी विद्यमान था जिसका अध्ययन याज्ञिक कहलाता था। इन साहित्य को ऋगु-ग्रन्थ भी कहते थे। इसमें अग्निष्टोमिक राजसूयिक वाजपेयिक नाबयनिक पाकयनिक पारुषीयनिक साप्त्यीयनिक व्याख्यात-कृत्यों का उत्तम माध्य कार ने किया है।<sup>४</sup> पुरोडाश के संस्कार का निरूपण करनेवाले पुरोडाशिक ग्रन्थों तथा पुरोडाश ग्रन्थों में भी व्याख्या करनेवाले व्याख्यान-ग्रन्थ पुरोडाशिक कहलाते थे।<sup>५</sup> यह अन्तर पाणिनि के समय में ही स्पष्ट था। इसी प्रकार उन्मन् इष्टि पद्म ब्राह्मण ऋक अथर्व, पुररचरण नाम

१ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।—४-३-६६ काश्रि० ।

२ व्याख्यानार्थमपि व्याख्यातक्य नामो ग्रह्य क्रियते । इह भाभुस्राटलिपुत्रस्य व्यत्यानी सुकोनसेति । यद्विन् द्वाविन् प्रसूततरागतिर्भवति । वररग्रन्थेषु च इया प्रसूततरा गतिभ्रवति । निरस्तं व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्याय तेन कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायते इति ।—४-३-६६, वा० ४, पृ० २३९ ।

३ उदाहरणं प्रत्युदाहरणं आवश्यकताप्याहार इत्येतन् समुचितं व्याख्यानं भवति ।—वा० १, वा० १४ पृ० २८ ।

४ ४-२-६०, पृ० १८६ ।

५ ४-३-६६, वा० ६ पृ० २४० ।

६ ४-३-७० तथा का० ।

और व्याख्यात-सम्बन्धी व्याख्यान-ग्रन्थ पतञ्जलि से बहुत पहले बन चुके थे।<sup>१</sup> नामिक व्याख्यातिक और नामाख्यातिक ग्रन्थों को हीय रैड भी कहते थे। छठ-सम्बन्धी कार्तग्रन्थ भी स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे।<sup>२</sup> वासिष्ठिक अध्याय और वैश्वामित्रिक अध्याय में इन ऋषियों के ग्रन्थों के व्याख्यान थे।<sup>३</sup> ऋग्यजुर्वेदिक ग्रन्थों में उल्लिखित विषयों का विस्तार बहुत अधिक है। इससे पता चलता है कि पतञ्जलि के समय में ऋषयः पदव्याख्यान, छन्दोमाम छन्दोभाषा छन्दोविधिति न्याय पुनरुक्त व्याकरण निगम वस्तुविद्या अंगविद्या क्षत्रविद्या उत्पाद उत्पात संवत्सर, मुहूर्त मिमित्त उपनिषद् और दिशा-सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। माप्य में ऐष्टिक पाशुक चातुर्होतुक ब्राह्मणिक बार्हिक बार्हयम वास्तुविद्य साहित्य की चर्चा है।

### उपज्ञात साहित्य

सौत्र में विद्यमान विषय को बिना किसी से पढ़े सीखे या उपदेश प्राप्त किये स्वयं विस्तेषित कर वैज्ञानिक विधि से 'उपनिबद्ध' करना उपज्ञात का काम माना जाता था और इस प्रकार उपनिबद्ध किये गये ग्रन्थ उपज्ञात ग्रन्थों के नामे जाते थे। इन ग्रन्थों में सामान्य विषय जो लोकागुसारी होते थे किन्तु कुछ अंश कर्त्तों की स्वोपज्ञा से प्रसूत होते थे। इनमें बाण्डिसन्तिक व्याकरण हुत्करन कासकरन का मुस्ताबन और पाणिनि का अकारकन उनकी उपज्ञात नों देन था।<sup>४</sup> उपज्ञात ग्रन्थों के कर्त्तव्यों में काशिका ने व्याखिका का भी नाम गिनाया है।<sup>५</sup>

### छठ साहित्य

छठ मौखिक रचनाएँ थीं। जैदिक साहित्य यथा बरबचि के श्लोक हेतुपाद और मीकुराट की रचनाएँ इनके अन्तर्गत हैं। तित्तिरि के श्लोक मौखिक होने पर भी प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत थे छठ नहीं।<sup>६</sup>

ग्रन्थों के नामकरण—ब्राह्मणों या संहिताओं के नाम उनके प्रवचनकारों के नाम पर प्रचलित नहीं थे। जिस प्रकार, पाणिनि से उपज्ञात व्याकरण पाणिनीय कहलाता था और बरबचि से छठ श्लोक बरबचि उसी प्रकार काश्यप या कौशिक के बनाये ब्राह्मण काश्यपीय या कौशिकीय

१ ६-३-७१ तथा ४-३-७२, पृ० २४१।

२ ४-३-१७।

३ ४-३-६९।

४ ४-३-७३।

५ विनोपदेशं ब्रह्ममुपब्रह्मं—स्वयममिनिबद्धम्।

६ ६-२-१४ काशिका।

७ उत्पादितं छठम् विद्यमानमेव ब्रह्ममुपब्रह्ममित्यनयोर्विद्वेषः।—४-३-११९ काशिका०।

८ ४-३-१६६ का०।

९ ४-२-१६, वा० ६, पृ० १९१ तथा ४-३-१०४, वा० ३, पृ० २४८।

नहीं कहे जाते थे। इन ग्रन्थों के नाम उनके प्रबचनकारों के सिष्यों के सन्वर्ग में ही प्रचलित थे। कास्पियन् या कौसिकिन् छात्र वे कहलाते थे, जो कास्पय या कौसिक से प्रकृत ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इन छात्रों के नामों से ही कास्पय ब्राह्मणों या कौसिक ब्राह्मणों का अनुमान होता था। इससे स्पष्ट है कि प्रोक्त ग्रन्थ लिपिबद्ध नहीं थे। वे पुरुषों द्वारा मौखिक रूप से पढ़ाय जाते थे और सिष्य-परम्परा द्वारा जीवित रहे जाते थे। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि 'पाणिनीय श्लेष और बड़ी रचना है, यह वाक्य ठीक है, किन्तु कठ श्लेष रचना है' यह प्रयोग ठीक नहीं है। अपेक्षाकृत प्राचीन ब्राह्मणों के लिए स्वतन्त्र चरम थे। जैसे याज्ञवल्क्य ब्राह्मण या सौत्तम ब्राह्मण। ये प्रारम्भ से ही लिपिबद्ध रहे होंगे। प्राचीन ब्राह्मण बाद में लिपिबद्ध किये गये जान पड़ते हैं।<sup>१</sup>

कृत ग्रन्थों के नाम उनके वर्ण विषय के अनुसार रहे जाते थे। आख्यायिकाओं के नाम उसके नायक या नायिका के अनुसार होते थे। भाष्यकार के समय में वामदेवता मुमतातरा और मैमरवी की आख्यायिकाएँ विद्यमान थीं। सिमुकन्द्रीय यमसमीय स्वतकपोतीय इन्द्र जननीय बंवासुरी रक्षोऽसुरी नामक कृतियाँ भी इस समय प्रचलित थीं।<sup>२</sup> आख्यानों में प्रयुक्त यकथित प्रियंगु और ययाति के नाम भाष्य में मिलते हैं।

विभिन्न विषय—यदि हम विषय की दृष्टि से देखें तो भी पठंजलि-काम के साहित्य की दृष्टि में बहुत समृद्ध ज्ञान पड़ता है। वेदांगों में कल्प-साहित्य का परिमाण बहुत अधिक था। याज्ञिक्य ग्रन्थ तथा उनके व्याख्यानों की संख्या भी बहुत अधिक थी यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इनके अतिरिक्त व्याकरण तथा उससे सम्बद्ध विषयों तथा शिक्षा और निकलत पर पर्याप्त कार्य हो चुका था।

शिक्षा—पाणिनि के क्रमादिगण में शिक्षा भी सम्मिलित है। शिक्षा बर्णों के स्वान प्रयत्न-बर्णक ग्रन्थ है। पाणिनि ने व्यापशिक्ष का बार-बार उल्लेख किया है। उनकी शिक्षा आज भी उपलब्ध है। पाणिनीय शिक्षा का प्रचार पठजलि के समय में भी रहा हुआ होगा। काणिका में गौतमीय शिक्षा का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने स्वर-दाय-निरूपण करते हुए संस्कृत ब्रह्मज्ञान एणीकृत अम्बुहृत बर्णक प्रस्त निरस्त प्रवीत उपवीत द्विविण्य रोमरा भावि दोषा का उल्लेख किया है। किन्हीं आचार्यों के मत में ब्रह्मस्मित निर्हृग निबन्धित सम्प्ल, हुन और विहीर्ष भी स्वर-दाय हैं। इनके अतिरिक्त शेष स्वर-दाय हीनों आचार्यों के मत में सामान्य हैं। इससे स्पष्ट है कि मित्रा-शास्त्र की अपर्यन्त सर्वमान्य पाणिनायिक शब्दावली थी। भाष्य द्वारा उद्धृत वा कारिकाएँ शिक्षा-ग्रन्थों की स्थिति की गूँथक हैं।<sup>३</sup> माण्यमुनि और उपपायनीय मात्याजी की अर्थ एकार और अर्थ ओकारविषयक गाँव भी इस दिशा में प्रबलमान प्रयत्न-परम्परा की आर सकेत करती है। भाष्यकार ने इस पार्षद इति कहा है। जम्पन माह या बर में नहीं भी अर्थ

१ ४-२-६६, पा० १-२ पृ० १८९, १९०।

२ ४-३-८७ पृ० २४३।

३ ४-३-८८, वा० १ पृ० २४४।

४ ४-३-१०६।

५ भा० १, वा० १८, पृ० १९-२०।

एकारोकार नहीं बोले जाते थे।' वर्णान् वर्णान् श्रुतियों के उच्चारण-सौ-व्य उपहास की महामाध्ययि उल्लेख श्री शिखा-ग्रन्थों के व्याकरण प्रमाण का परिचायक है। शिक्षा का सर्वप्रथम नाम निर्वैश्वैतरीय उपनिषद् में मिलता है। उसमें शिक्षा के छह अंग माने हैं—सम्बन्ध पर आभास पर-अभास वा सव्यायय एवं उसपर आभास उच्चारण स्वर-मातृर्षु और सव्यसन्धि। शिक्षा का प्रारम्भ पर-माठ से जिसमें सन्धि और पर-आभास पर विचार किया गया था, मानना चाहिए। भाष्यकार ने पर-माठ की तुलना में व्याकरण को अधिक प्रमाण माना और कहा है कि व्याकरण के सूत्र परकारों के अनुसार नहीं हो सकते। परकारों को व्याकरण के नियमों का अनुकरण करना चाहिए। शिक्षा क्षेत्र की शोषों के तीन सुम परिणाम पठनसिद्धांत के समय तक स्पष्ट हो चुके थे। १. ब्रह्म-सामान्य की वैज्ञानिक पूर्णता, २. उच्चारणस्वर, ३. स्वानुकरणानुप्रदान के शास्त्रीय सिद्धान्त। भाष्यकार ने इन तीनों पर विचार भी किया है।

निष्कत—निष्कत के व्याख्यान की वर्णान् भाष्य में प्रत्यक्ष मिलती है। यास्क के निष्कत को तो पठनसिद्धांत ने कई बार ज्यों का-त्यों और कहीं-कहीं बोड़े-सै सम्बन्ध से उद्धृत भी किया है। यास्क पौन का जिसके अन्त यास्क कहलाते थे उल्लेख तो पाणिनि ने ही किया है। भाष्य में मैगम और निष्कत सम्प्रदायों का भी वर्णन है। निष्कत अनेक थे। दुर्गाचार्य की निष्कत-श्रुति में निष्कत को चौदह भेदवाला बतलाया है। स्वयं यास्क (१२-१२) ने प्राचीन लेखकों का स्मरण किया है। इनमें भाष्य वाक्य और शाकटायन का उल्लेख भाष्य में भी है। यास्क के अतिरिक्त अन्य किसी निष्कत का नाम भाष्य में प्राप्त नहीं है।

व्याकरण—व्याकरण का प्रारम्भ प्रातिशाख्यों से हुआ था। भाष्यकार के सम्मुख शुक अथर्व वाकसनेय और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य थे। इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य शौनिकों ने किया। अथर्व प्रातिशाख्य भी इन्हीं का है। वाकसनेय के कर्ता कार्यायन का भी उल्लेख भाष्य में है। ये सब वैदिक चरणों के व्याकरण-ग्रन्थ हैं। ऋग्यजुर्वेद परियमित अथर्वो-

१ आ० २, पृ० ५४।

२ तैत्ति० उप० १-२।

३ समवेत परकारा अनुवर्णः। परकारानामन्तजमनुवर्णम्। यथात्सर्व पर-कर्तव्यम्।—३-१ १०९, पृ० १८६।

४ ८-४ ३८, पृ० ५००।

५ तुलना कीजिए—अथर्वि श्रुति (श्रु० ४-५८ ३), अथर्वि वाकपरिमितावर्णानि (श्रु० १ १६४ ४५) उत्तरवः पश्यप्रवर्ण (श्रु० १०-७१ ४) तथा सक्तुमिष स्तित्वता (१०-४ २); इन पश्यप्राज्ञिक में व्याख्यात शब्दों की।—निष्कत १३-७-१; १३-१-९, १ १९ तथा ४-९ में व्याख्या तथा इनपर ध्यान भाष्य। तथा अथर्विर्बन्धिका।—पश्यप्राज्ञिक की निष्कत २-२ में तथा अथर्वि भाषिकेभ्यो यानुभ्यो नैवमा कृता भाष्यन्ते।—भाष्य ७-१ ९६ की निष्कत २-२ से।

६ २-४-६१।

७ ३-३-१, स्तो० वा० २, पृ० २८४।

भाषा का जय प्रातिशाक्य ही है। तैत्तिरीय प्रातिशाक्य (२४-५) के माहिषेय भाष्य में यह बात स्पष्ट की गई है।

सौकिक वैयाकरणों में पाणिनि-पूर्व वैयाकरणों के अतिरिक्त पौष्करसाहि का नाम एक वाचिक में आया है। पुष्करसदृश शब्द गणपाठों में कई बार मिलता है।<sup>१</sup> भाष्य में काशहस्तस्य एव आपिचसि क प्रश्नों का बार-बार उल्लेख है, उनका अध्ययन करनेवासी स्त्रियों के लिए काशाङ्कस्ती और आपिचमी क विशेषणों का प्रयोग है।<sup>२</sup> उन्हें काशहस्तस्य स प्रकृत मीमांसा की जानकारी थी। किन्तु काशिकाकार ने तीन अध्यायों के काशाङ्कस्त-व्याकरण का अनेक बार नाम लिया है। शाकटायन का व्याकरण अति प्रसिद्ध था। प्रातिशाक्यों और निष्क में भी वैयाकरणों के पिता बड़े पय हैं। यास्क में दिन पाणिनि-पूर्ववर्ती नवीन वैयाकरणा के नाम गिनाये हैं उनमें शाकटायन पार्थ्य और शाकस्य प्रमुख हैं। शाकटायन बड़े एकाग्र चिन्तक थे। स्वयं पर बैठ हुए भी इनने ध्यानस्व हा जाते थे कि उन्हें सामन संगुजरनेवाले स्व-समूह का पता नहीं चलता था।<sup>३</sup> निष्ककार और पञ्चसि लोगों ने शाकटायन का मत अत्यन्त आदरपूर्वक अपन प्रश्नों में उद्धृत किया है।<sup>४</sup> उनका यह मत कि संज्ञा शब्द बाहुज है आगे चलकर सिद्धान्त मान लिया गया। काशिकाकार के मत से सार वैयाकरण शाकटायन के अनुवर्ती हैं। व्याजपद के बराबर व्याकरण से भी भाष्यकार परिचित थे या नहीं निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। उनके मत की उन्होंने चर्चा नहीं की है। आपिचसि पाणिनीय व्याख्यान गतिमयीय का साथ उल्लेख मिलन से यह अनुमान होता है कि व्याखि और गीतम भी वैयाकरण थे।<sup>५</sup> गीतम की विरचनकी पीढ़ी भाष्यकार के समय में थी किन्तु पीढ़ी यह वैयाकरण गीतम की ही थी और यदि भी तो इन विरचन में व्याकरणकार कीन था कहा नहीं जा सकता। फिर भी गीतमीय व्याकरण उनके समय में विद्यमान अवश्य था। स्वयं महामाष्य में भी अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। ये आचार्य व्याकरण में किसी न-किसी विविष्ट सिद्धान्त के प्रवक्तृक थे। इनका उल्लेख प्रातिशाक्यों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ आम्निवेत्य (तैत्ति० प्राति० १४ मंत्रा० प्राति० १४) इन्द्र (ऋक्सं १४) और इन्द्रि (ऋक्सं २६१०) कात्यायन (वाज० प्राति० ८-५३) काव्य (वाज० प्राति० ११२३ १४९) कात्यय (वाज० प्रा० ४-५ ८-५०) कौषिक्य (तैत्ति० प्राति० ५ ३८ १८३) पार्थ्य (ऋक्सं प्राति० ११५, ६ ३६) गीतम (तैत्ति० प्रा० ५ ३८ मंत्रा० प्रा० ५ ४०) जानूष्य (वाज० प्रा० ४ १२५ १६०) पौष्करसाहि (तैत्ति० प्रा० ५ ३७ ३८ १३ १६) पाणिनि (लघु ऋक्सं), प्लासि (तैत्ति० प्रा० १६ १४ ११) प्लासायन (तैत्ति० प्रा० ६९, १४ ११) बाभ्रव्य (ऋक्सं ११ ६५) बृहस्पति (ऋक्सं १४) माग्नाज (ऋक्सं १४) माग्नाज (तैत्ति० प्रा० १७-३) मीमांसक (तै० प्रा० ५ ४२) यास्क (ऋ० प्रा० १४२)

१ २४ ६३ ४ १ ९६ तथा ७-३-२०।

२ ४ १ १४, वा० ३, पृ० ३६।

३ वैयाकरणानां शाकटायनो स्वयं आसीत् शक्यसार्धं पार्थ्यं नीचैरेव १-३-२-११५, पृ० २५०।

४ ३ ३ १, इतो० वा० २ पृ० २८४।

व्याधि (ऋकप्रा० १-२३ २८ तथा ६४३) आकन्यायन (ऋक प्रा० १ १६ तथा १३-६९)  
 घाकस्य (ऋक प्रा० ३-१३ २२) घौमक (ऋक प्रा० १ १)।<sup>१</sup> इस विषय पर प्रस्तावना में  
 विशेष विवेचन किया गया है।

संग्रह-सूत्र की जर्ना भाष्य में आई है। यह संग्रह-सूत्र इस समय उपलब्ध नहीं है।  
 पतञ्जलि ने शब्द के भित्वाभित्यत्य के विषय में इसका मत प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है।<sup>१</sup> उद्योत  
 कारक मत से संग्रह के प्रणेता व्याधि थे। भाष्य में शब्द आकृति का वाचक है अथवा शब्द का इस  
 विषय के विवेचन में वाचप्यायन और व्याधि दोनों के मत का उल्लेख किया है। वाचप्यायन शब्द  
 को वाति या वाकृति का अभिवाचक मानते थे और व्याधि इम्य या व्यक्ति का।<sup>१</sup> प्रचास्तकार के  
 मत से संग्रह में एक काष्ठ सूत्र या श्लोक थे।<sup>१</sup> महामाष्यबीषिका में भी संग्रह को व्याधि-रचित  
 कल-अम्बपरिमाण निवर्ण तथा व्याकरण-शास्त्र का एक शब्द माना है।<sup>१</sup> भाष्यकार ने दासायन  
 को संग्रह का प्रणेता माना है और उनकी कृति (संग्रह) को धोमन बतलाया है। दासायन बाकी  
 पुत्र पाणिनि के समेरे भाई रहे हूँगे। काशिका (२४ ६०) में पाणिनि को पिता और दासायन को  
 पुत्र कहा है। बाकी और वासि बहुत भाई ही हो सकते हैं। दासायन काशिकाकार के अनुसार  
 प्रायेसीय थे। इनके नुसुक तथा शब्द की सार्वजनिक प्रविष्टा यहाँ तक की कि उससे स्नातक  
 बने छात्रों का विवाह अच्छे कुल में होता था। इसलिये, कुछ विद्यार्थी श्रेष्ठ कन्याएँ प्राप्त करने  
 के लोभ से उसका अध्ययन प्रारम्भ करते थे।<sup>१</sup> संग्रह व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ था।  
 चाम्ब व्याकरण (४-१ १३) में इसे पंचक कहा है। नागस के प्रबीपीद्योत में इसे सर्वाधिक प्रमाण  
 माना है।<sup>१</sup> भाष्य के बहुत-से श्लोक-वाचिक तथा पूर्वोक्तार्थ संग्रह श्लोक-संग्रह से किये गये जान  
 पड़ते हैं। वास्मीकीय रामायण के प्रणवन-काण्ड में भी संग्रह के पठन-पाठन का विशेष प्रचार था,  
 किन्तु पतञ्जलि से कुछ समय पूर्व ही उसका प्रचार कम हो गया था।

संग्रह-सूत्र के साथ भाष्य में वाचिक-सूत्र का भी उल्लेख है। सम्भव है यह वाचिक-सूत्र  
 कात्यायन का ही हो। इन्द्र के व्याकरण की भी जर्ना महामाष्य में आई है। ऐसा विद्वान् था  
 कि स्वयं ब्रह्मसति में इन्द्र को प्रतिपद्य शब्द-वारायण का उपदेश दिया था किन्तु शब्दों का

१ ६-२ ३६, वा० १, पृ० २५७।

२ भा० १, पृ० १३।

३ १-२-६४, वा० २५ तथा ४५, पृ० ५८६ एवं ५९०।

४ संग्रहो व्याधिहृत्तो लक्षतस्यो शब्दः।—महा० बीषिका।

५ व्याड्युपरचितसभशब्दपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमास्तीत्। संग्रहोऽप्यस्यैव  
 शास्त्रप्रत्येकदेशः, महा० बीषिका।—भर्षुहरि।

६ कुमारो वासाः।—६ २-६९ काशि।

७ एवं च संग्रहाविषु तदुदाहरणमतकृतं स्यात्।—४ ३-३९ प्रबीपीद्योत।

८ ५-२-४८ शैब्य।

९ प्रत्येक संज्ञेयबीनस्यविद्यापरिग्रहात्।

सम्प्राप्य बी... संग्रह-स्तामुपागते।—वाच्यप्रदीप द्वितीय काण्ड, ४८४।

अस्य न मिला ।<sup>१</sup> बहुम्यति स गिता पाकर इन्द्र न व्याकरण की रचना की। ऐम्ब व्याकरण सभ्य कसण पर आभित न होकर प्रतिपदात्वास्यानाथयी था।

भाष्यकार क समय में व्याकरण-मन्त्र या अनुसंगान चरम प्रवर्ष पर था और गिता निरुक्त एवं प्रतिमास्य नी उनी में समाधिष्ट हा गये थ। यह सबबदरागियं शास्त्र माना जाता था चिममें मिश्र-मिश्र आचार्यों के विभिन्न मत समावुक्त थ। जिसा एक मत के स्वीकार का अप्रहृ न था।<sup>२</sup> व्याकरण शास्त्र उत्तरा विद्या मानी जानी थी और उन्व शास्त्र म अभिचिनीत हान के बाद उमका अध्ययन किया जाता था।<sup>३</sup>

उन्व—उपनादि गन में उन्वीनाम उन्वाभाया और उन्वाविचिठि वाम् आय है। इनम उन्वाविचिठि वाद्य उन्वशास्त्र क सिष्ट सामान्यतया व्यपहृत था। भाष्यकार क सम्पुन ऋक-प्रातिशाक्य चिमके अन्तिम तीन पटनों म उन्वों का बपन है—माम क निदानमूत्र कास्यानत की अनुक्रमया और गान्धापन भौतमूत्र। य उन्वशास्त्र-विषयक अन्य बर्तमान थ। मागसम उन्व शास्त्र का प्रातिशाक्यगितादि का पर्याय माना है। ऊपर व्याकरण क प्रमय म व्याकरणो व्ययन म पूर्व उन्व-भाष्य के अध्ययन का आ चर्चा की गई है, उमम भाष्यकार का भी अनिप्राय प्रातिशाक्य और गिता न जान पड़ता है। भाष्य म ऋक (मात पदो का उन्व) द्विपदा (दा पाद की ऋचा) त्रिपदा और अनुपपदा ऋक का उल्लेख है।<sup>४</sup> त्रिपदुं वीर जग्ता का श्रीपुम मानुपुम और जापत भी कहने थ। भाष्य म र्वीमी (धीम्य गद्य मुक्त) त्रिपदुं का उल्लेख है। इनके अनिरिक्त उल्लादि गन में पंक्ति उल्लिख और ककुपुं का समावेश है। पाणिनि न बृहता विष्णारखुहनी और विष्णारखंकिठि उन्वों की ओर मकत किया है।<sup>५</sup> प्रत्यक पंक्ति म आठ-आठ पद या पादवाला उन्व अणपद बहुकाला था।<sup>६</sup> भाष्य में आर्याणि उन्व उद्भूत हैं।<sup>७</sup> भाष्य में वैदिक उन्व विष्णारतया प्रगाय का उल्लेख है। प्रगाय उन्वा के विविध प्रकार क सन्तुहा का नाम था। पनत्रिठि ने उन्वीविचिठि के विनी प्रण्य का नाम नहीं दिया है।

१ भा० १, पृ० १२।

२ सुयंबेदपाठिवर्ष हीर्षि शास्त्रम् तत्र नरुः पन्था शक्य आसमानुमुसहते।—६ १ १४, वा० २, पृ० ३०६।

३ व्याकरणं नायेवमुत्तरा विद्या। सोऽनी उन्वशास्त्रेऽन्यविचिनीत उपलक्ष्याऽयमनु-मुसहते।—१-२ ३२, पृ० ५०८।

४ शाखाधीतमूत्रं।—७-२७ इन्द्रप्रकरण।

५ ४ १ १, वा० ३, पृ० ८।

६ ४ १-९।

७ ४-२-५५, वा० १, पृ० १८५।

८ ४ १-८६, वा० १ पृ० ९६।

९ ५ ४ ६, तथा ८ ३ ९४।

१० पदसनी बहसनी अष्टी बदाप्यस्येति।—८ १ १ वा० ६, पृ० २६०।

११ ८ २-५९, पृ० ३०३।



दुर्बोधन दुर्बानन दुर्धर्षण कर्ण तथा अय सम्बद्ध व्यक्तियों में व्यास शुक (वैयासकि) सत्यभामा तथा पौराणिक नामों में सौवातकि वैश्वकि शुक नाम भाष्य में मिलते हैं।<sup>१</sup> इनमें व्यास और कर्ण कानौन (कन्यापुत्र) थे।<sup>२</sup> सत्यभामा को वैश्वक भामा भी कहते थे।<sup>३</sup> पांचजन्य भी प्रसिद्ध हो चुका था। उपसेन का उल्लेख छतपत्र (१३-५४१) में भी मिलता है। वहाँ उपसेन को राजा कहा गया है। यही पर भीमसेन और युधसेन की कर्णा है। ये सब परीक्षित-पुत्र जनमेजय के भाई थे। सूतपुत्र उपपुत्री मेरुपुत्री और भोजवुहिता की कर्णा भी पतंजलि ने की है। सूत और उपसेन तो महाभारत से सम्बद्ध ही हैं किन्तु भोज और मेरु से उनका क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है।<sup>४</sup> भाष्यकार ने इस बात को बसपूर्वक कहा है कि कुछ लोग बर्मपूर्वक युद्ध करते थे।<sup>५</sup> उन्होंने महाभारत से सम्बद्ध बहुत-से स्तोकांश महाभारत या अन्यत्र से भी उद्धृत किये हैं जो काव्य के प्रीति उदाहरण कहे जा सकते हैं।

पुराण—पुराण और इतिहास का साध उल्लेख भाष्य में है। यद्यपि किसी पुराण का उल्लेख नहीं है। पौराणिक तथा वैदिक ब्राह्मण ब्रह्मस्य मन्त्र-तत्र जाते हैं। इनमें उर्वशी का उल्लेख पुरुरवा और उर्वशी के प्रसिद्ध ब्राह्मण की ओर संकेत करता है जो ऋग्वेद (१७-१५) कृष्णयजुः के काठक ब्राह्मण महाभारत के शिलपर्व हरिवंश और विष्णु पुराण में भी आया है। इसी प्रकार इन्द्रवृषाभ्यां 'देवासुर युद्ध' तथा इन्द्र द्वारा आत्मकुमारी को बर-प्रदान की कथा<sup>६</sup> एवं महिष्या-इन्द्र की कथा<sup>७</sup> भाष्य में आई है। देवासुरी और राक्षसुरी कृतियों की कर्णा भाष्य में है। यह कथा तैत्तिरीय संहिता (२४१) पर आश्रित है। इसमें देवों पितरों और मानवों का एक पक्ष तथा ईश्वरों राक्षसों और पिशाचों का दूसरा पक्ष है तथा देवों द्वारा पञ्चमूर्तपूर्वक असुरों तथा राक्षसों से भेद उत्पन्न कर दोनों को परामृत् करने का वर्णन है।

अन्य काव्य—पतंजलि-काळ तक रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे जा चुके थे। भाष्य के प्रारम्भ में ही कात्यायन के बनावे भ्रात्रे स्तोत्रों की कर्णा आई है।

१ ४१ १५४, वा० ७, पृ० १३९४० ४-१ १२० पृ० १४१; ८ १ १५, पृ० २७८;  
३-३-१३०, पृ० ३२०; ४ १ १३६, वा० १ पृ० १४; २-२-११, पृ० ३४६ तथा ४ १ १७  
वा० १, पृ० १२९।

२ ४-१ १३६।

३ वा० १, पृ० १४।

४ ४-३-६०, स्तो० वा० ३, पृ० २३८।

५ ६ ३-७०, वा० ९, पृ० ३४७।

६ ३ २-१२२, वा० २, पृ० २५४।

७ २-२-२४, पृ० ३६९।

८ ५-२-९५, पृ० ४११।

९ वा १, पृ० ४।

१० ४-३-८८, वा० १, पृ० २४४।

११ ८ ३ • ३१७।

१२ २-३-६२, पृ० ४४९।

निदर्य ही ये श्लोक ग्रन्थ-रूप में रहे होंगे जिसमें भाष्यकार ने उद्धृत किया होगा।<sup>१</sup> इस समय ऋतु-वचनविषयक काव्य-ग्रन्थ नी विद्यमान थे। मम्मदः, उन्हीं की परम्परा पर आगे चलकर ऋतु-संहार-जैस ग्रन्थों की रचना हुई। वमन्तादिगण में सब ऋतुओं का समावेश है और भाष्यकार ने उमरु अभ्यजन को बसन्त अभ्यजन (वमन्त महपरित अभ्यजन) नाम दिया है।<sup>२</sup> गिनुकन्दीय यमसमीय आदि काव्य थे या नाटक यह तो भाष्य में स्पष्ट नहीं है, किंतु उसमें उद्धृत पद्याओं दनोंक इस बात क साक्षी हैं कि काव्य में आसकारिणता (शाब्दिक और आर्थिक दोनों) आ चुका थी। बारहण काव्य आसुकश्लोक आश्रमश्लोक तिलितिरि प्रोक्त श्लोक आदि उल्लेख इस बात क प्रमान हैं कि कवियों क अतिरिक्त बेयाकरुष बर्मागास्त्री आदि काय नी अपने विषय को सरम एवं आधुन्यार्थ बताने क लिए पद्य-रचना करते थे। आश्रमश्लोक बाल्यायन-मपीठ मान जाते हैं। बरहण मम्मद है महापद्य नम्ब क मन्त्री रहे हों। आयसंजुधीमूलकस्य में इन्हें अतिगाय कहा गया है।<sup>३</sup> भाष्यकार किमी श्रावदश्लोकगती स भी परिचित थे। पापिनि ने दमाता म उपमनवन करन क लिए उपल्लाकयति श्यस्त क्रिया का व्यवहार किया है।<sup>४</sup> कवि काय कनी-कनी श्याकरण क नियमों की उपल्ला कर शैलिक प्रयोगों का व्यवहार लौकिक काव्य में भी कर देन थ किन्तु एम प्रयोग इूपिन माने जाते थ।<sup>५</sup> यद्यपि वे छन्दोबत् स्वीकार भी कर लिय जाते थ। पत्रजति कानीन काव्य क दो एक उदाहरण थे दना यहाँ समीचीन होगा—

- १ अमिडिनीयोऽनुबचार पाण्डवम् ॥
- २ मङ्कुरगडिनीयस्य बर्षं वृष्यास्य वसतान् ॥
- ३ अहरहनयमाना गामर्षं पुष्य गजम् ॥  
वैबस्वनो न नृप्यति मुराया इव तुमही ॥
- ४ बहूनामप्यशितानामेका भवति<sup>६</sup> शितवान् ॥  
पद्य बाह्रमैथ्येऽस्मिन् यदकंमुपतिष्ठते ॥  
मैवं संस्वा मशितानामेपापि स्याद्यथा वयम् ॥  
एतदप्यस्य वापेर्यं यदकमुपतिष्ठति ॥<sup>७</sup>

- १ वा० १ पृ० ५।
- २ ४-२-६३, पृ० १८८।
- ३ बरहणिनोमविख्यातः अतिरागो अमूलका।  
नित्यं च आश्रमे शोषो तस्य रामो भविष्यति ॥  
तस्याप्ययनम सत्यं पापिनिर्नाम माश्रम ॥—संजुधीमूलकस्य, ४३३-३०।
- ४ १४६०, वा० ७, पृ० १९२।
- ५ ३१-२५।
- ६ छन्दोबिन् कवयः कुर्वन्ति। न होयतिः—१४३, पृ० १२१।
- ७ २-२-२४ पृ० ३६९।
- ८ वही।
- ९ २-२-२९, वा० ९, पृ० ३०९।
- १० १३-२५, पृ० ६४।

## अध्याय ४

### स्वास्थ्य और शरीर-विज्ञान

माप्य में शरीर शारीरिक सौन्दर्य शरीर-विकृति रोग जोषधि भाषि ने विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि माप्यकार शरीर-शास्त्र एवं आयुर्विज्ञान से पूर्णतः परिचित थे।

वैह्य या भोग—माप्य के अनुसार शरीर, देह<sup>१</sup> काय एवं भोग पर्याप्तवाची है। भोग शब्द के अनेक अर्थों में शरीर भी एक है। तैत्तिरीयसंहिता (४ १ ९) में कहा है कि विषय प्रकार साँप अपने भोगों से प्राणियों को बेधित कर लेते हैं उसी प्रकार धनुर्धारी मनुष्य धर्म से अपने हाथों का बेधित करते हैं। माप्यकार ने संहिता के इस वाक्य को उद्धृत किया है और स्पष्ट कहा है कि भोग शब्द शरीरवाची भी देखा जाता है। जागे चरकर भोग शब्द 'धर्म के शरीर' का वाचक मान लिया गया।<sup>१</sup>

शरीरवाचक—देह या भोग के अर्थों के लिए माप्य में शरीरवाचक शब्द का व्यवहार हुआ है।<sup>१</sup> यह प्रयोग सामान्य था। वैज्ञानिक दृष्टि से प्राणित्व और पतञ्जलि दोनों ने इसे स्वांग कहा है। माप्यकार ने स्वांग की छह विशेषताएँ बतलाई हैं—१ इव न हो २ मूर्तिमान् हो ३ प्राणिप्रत्य हो ४ अधिकारज हो ५ यदि प्राणी से संयुक्त न हो तो पहले संयुक्त रहा हो ६ उसी प्रकार किसी में संयुक्त हो जैसे प्राणी में संयुक्त होता है। इनमें प्रथम चार पुत्र अनिवार्य हैं और शेष दो विशेष परिस्थितियों में स्वांग की पहचान के लिए हैं। इस परिभाषा के अनुसार लोहित या रक्त और कफ इव होने से मन बुद्धि और ज्ञान जर्मूल होने से घाका सत्ता भाषि के जन्म के क्षण में प्रचलित मुख बचन आदि शब्द प्राणिप्रत्य न होने से और बुद्धि पिटक सोफ भाषि विकारज होने के कारण स्वांग नहीं माने जाते किन्तु रज्या में पड़े हुए उष्ट मेघ-स्नग् तथा मूर्तियों के नासिकादि अवयव स्वांग की सीमा में आ जाते हैं।

१ ४ ३-६०, पृ० २३७।

२ भोगशब्दः शरीरवाच्यपि बुध्यते। महिरिष भोवः पर्येति बाहुनि।—५ १ ९, पृ० ३०१।

३ ४ ३-५५।

४ अत्रं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणित्वमधिकारजम्। अतस्त्वं तत्र दृष्टं च तेन वेत्ततत्ता-  
मुत्तम्। अप्राणितोऽपि स्वाङ्गम्। अत्रवन्ति किमर्थम् बहुल्लोहिता बहुकटा। मूर्तिमदिति  
किमर्थम्? बहुबुद्धिः बहुमनाः प्राणित्वमिति किमर्थम्? इत्यन्वयमुक्ता धाता। अधिकारजमिति  
किमर्थम्? बहुयुक्तः बहुपिटका। अप्राणित्वं प्राणित्वं दृष्टं च स्वाङ्गं भवति—धीर्धकेशी रज्या।  
तेन वेत्ततत्तामुत्तम् प्राणितोऽपि स्वाङ्गं भवतीति धीर्धनासित्यर्था।—४-१-५४, पृ० ६५-६६।

स्वांगों के सेव—स्वांग दो प्रकार के होते हैं—द्रुब और अद्रुब। जिनके छिन्न हो जाने से प्राणी मर जाय, वे द्रुब और जिनके काट देने पर भी प्राणी जीवित बना रहे वे अद्रुब माने गये थे। कासिका ने द्रुबांगों को एक रूप कहा है। माप्यकार के मत से मुख उपर स्थित पुच्छ मलाट पर्व शिर आदि द्रुब है और मख केरा वल्ल अक्षि बाहु भ्रू आदि अद्रुब। माप्य में निम्नलिखित स्वांगों का उल्लेख है—शिर ललाट 'भ्रू' मूकुटि अक्षि कर्ण 'कर्ण' मूक 'मुल' या भास्य "कश्रुव" नासिका 'भोष्ठ' जिह्वा " जिह्वामूल " वल्ल ' मूर्धा " पालु, " काकसल " कण्ठ " हनु " अंस हृदय " या स्कन्ध ग्रीवा " मथ्या " उरसु " रतन " हस्त " बाहु " पाणि " अंगुलि " करान नल " उदर, " नाभि " बहि " कटि " सिफ्य गुवा " मख " सक्कि " जानु " उरु " पर्व " मण्डीवत् " बवा " बस्ति " पाद " प्रपाद " पुच्छ " कुक्षि " पाएव " ग्रीवी, " मितम्ब " यष्ट्व।"

१ ६-२ १७७, पृ० २९१।	२८ ३-२-२९, पृ० २१५।
२ ३-४-५४ का०।	२९ १ १ ४५, पृ० २९७।
३ ३-२ १७७, पृ० २९१।	३० १ ३-२, पृ० १८।
४ १ ३-६६, पृ० ८४।	३१ २ ४ १६, पृ० ४६९।
५ ४ ३ ६५।	३२ १ ४ १८, पृ० १४७।
६ ३ ३-५४ का०।	३३ ६ ३-७५।
७ ६ ३-६१, पृ० ३४०।	३४ १ ४-२४, पृ० १६२।
८ ३ ४-५४ कासिका।	३५ ५ १-२, पृ० २९६।
९ ४ ३ ६५।	३६ ५ २ १३९।
१० ५-२ २४।	३७ १ ४ ६०, पृ० १९१।
११ १ १-८, पृ० १५६।	३८ जोडाविपल ४ १-५६।
१२ १ १ ९, पृ० १५९।	३९ नहीं।
१३ मा० १, पृ० ११।	४० ५ ४ ११३, पृ० ५०८।
१४ १ १-८, पृ० १५६।	४१ ४ ३-३०।
१५ १ १-९, पृ० १५९।	४२ ५ २ ३७, पृ० ३७८।
१६ ४ १-५९।	४३ ६ २ १७७, पृ० २९१।
१७ ४ ३ ६२, पृ० २३८।	४४ ८-२-१२।
१८ ५ २-१०६।	४५ ६-२-११४।
१९ ५ ४ ११५।	४६ ४ ३-५६।
२० १ १-५०, पृ० ३०१।	४७ २ ४ १६, पृ० ४६९।
२१ १ १-९, पृ० १५९।	४८ ५-२-८।
२२ १ १-५०, पृ० ३०१।	४९ १ ३-१, पृ० ८।
२३ ४ ३-५८, पृ० २३६।	५० ४ ३-५६।
२४ ६ ३-५०।	५१ ४ ३-६०, पृ० २३७।
२५ ४-२-९६।	५२ ४ ३-३०।
२६ ३-३ ९९।	५३ ८ ४ १०, पृ० ४७९।
२७ मा० १, पृ० ७।	५४ ६ १ ६३।

इनमें सिर को शीर्ष भी कहते थे। वेदों में सिर के लिए शीर्ष और शीर्षन्<sup>१</sup> शब्द मिलते हैं। श्लोक में शीर्षन् प्रचलित नहीं था। वास्तविककार ने धिरस् को शीर्षन् और शीष जावस बतलाये हैं। शीर्ष पर होने के कारण केशों को शीर्षस्य या धिरस्य कहते थे। शीर्ष शरीर का सर्वोच्च भाग है।<sup>१</sup> इसलिए, मुख्य के लिए भी शीर्षस्य शब्द व्यवहार में आता था।<sup>१</sup> माय्य में धिर और बानु के मोड़ने का उल्लेख है तथा बतलाया गया है कि उरस् कण्ठ तथा धिर कमल-सतर स्वानीय<sup>१</sup> है। पके हुए बालोंवाला धिर पश्चिम कहलाता था।<sup>१</sup>

सकाट या मस्तक धिर का अग्रभाग है। यहीं पर 'सकाटिका' नामक आभूषण पहना जाता था। भ्रू अक्षि भ्रू या भ्रुकुटि मस्तक की नीचे भौंहों का नाम था। कर्ण का श्रोत्र भी कहते थे। शब्द को श्रोत्रोपलब्धि कहा है।<sup>१</sup> कर्ण के मूल को कर्णजाहू कहते थे।<sup>१</sup> कण के समीप का स्थान उपकर्ण कहलाता था।<sup>१</sup> अक्षि के लिए अक्षुप् का भी प्रयोग माय्य में हुआ है। जैसे एक अक्षुप्मान् देखने में समर्थ है, तां सौ अक्षुप्मान् इकट्ठे होकर भी देख सकते हैं।<sup>१</sup> माय्य में पिणक्त नेत्रों की बर्णा है।<sup>१</sup> स्वस्थ रखने के लिए नेत्रों में काजस लगावने की प्रथा थी।<sup>१</sup> हनु ठुड़ी का वाचक था। हनु के चारों ओर होनेवासी वस्तु पारिह्वस्य नहीं जाती थी। मुख और आस्य भी समानार्थी हैं। काक-व्यवहार में आस्य जोष्ठ से काकक तक के प्रवेश को कहते थे। कर्ण मूह से क्षिप्त या अक्षिप्त होते हैं, इसलिए उसे आस्य कहते थे। मूह अग्र का आस्यवदन (परिचाजन) कटा है, इसलिए भी वह आस्य कहा जाता था।<sup>१</sup> काकुद<sup>१</sup> या तानु के पास सप्त विभक्तियाँ क्षरित या प्रस्रित होती हैं। तानु बर्णों का उच्चारण-स्थान भी है। मूर्धा

१ १-१६०, पृ० ८४।

२ वही।

३ वही।

४ १-१६६, पृ० ८४।

५ १-२३०, पृ० ५०५।

६ ८-२-२५, पृ० ३४९।

७ ४३६५।

८ १-३६१, पृ० ३४०।

९ आ० २, पृ० ४२।

१० कर्णस्य मूलं कर्णजाहूः—५-२-२४।

११ ४३-३०।

१२ आ० २, पृ० ७७।

१३ ७-१-७७, पृ० ७३।

१४ ८-२-४८, पृ० ३६७।

१५ लौकिकमास्यजोष्ठान् प्रवृत्ति प्राक् काकलकान्। कव पुनरास्यम् ? अस्मत्पतेन बर्णानित्पास्यम्। अग्रमेतदास्यपक्षे इति वास्यम्।—१-१९, पृ० १५९।

१६ आ० १, पृ० ११।

इसमें भी ऊपर है और काकलक' इससे भी आगे कण्ड में। जिह्वामूलक कण्ड के नीचे है। यह जिह्वामूलक कण्ड के उच्चारण का स्थान है। मूर्धा से उच्चारित वर्ण मूर्धन्य कहलाते हैं। बासा जानेवाला शब्द तीन स्थानों पर, कण्ड और शिर में बद्ध होता अर्थात् बद्धता है। भाष्य के मत से यह उच्चारण का प्रथम है। शरीर के भीतर नाभि के निम्नप्रदेश नाभि और हृदय को गुहा नाम दिया गया है। उच्चारण के लिए कण्ड को विवृत किया जाता है। कण्ड को फलाकर बोधनेवाले को विवृत-कण्ड कहते हैं। जिह्वा बालन का साधन है। इसी के सहारे बबता अपनी बात कहता है। जिह्वा यदि स्निग्ध और दसदन हुई, तो प्रयोक्ता मृदु, स्निग्ध और दसदन शब्दों का प्रयोग करता है। दाँतों को साफ रखना आवश्यक है। जो लोग उन्हें साफ रखते हैं, उनके दाँत शुक्ल होते हैं अन्यथा वे काले-काले दिखते हैं। कणनाह कण के मूल का नाम था।"

इन शरीर-रोगों के अतिरिक्त नाड़ी धमनी "सोहित" अस्थि "धर्म" कण्ड "लोम एव धर्मि" वा अस्त्रेल भाष्य में हुआ है। उसमें शरीर को बहुतादि और धीमा को बहुतन्त्रि या बहुधमनि कहा है। धमनी और तन्त्री शब्द पर्याय हैं। भाष्य के मत से धीमा शब्द भी धमनी शब्द है। धीमा धमनियों का केन्द्र है। धीमा में बहुत-सी धमनियाँ एक एक रहने के कारण ही धीमा शब्द को भी अनेक बार बहुबचन कर दिया जाता है। आनन्द से लड़े केसों या

१ ५४ ११५।

२ ११-९, पृ० १५९।

३ ४३ ६२, पृ० २३८।

४ ४१ १६१, पृ० १५३।

५ विद्या बद्धत्रिपु स्वाप्तेषु बद्ध उरसि कण्डे शिरसीति।—भा० १, पृ० ७।

६ १-२ ३०, पृ० ५०५।

७ भा० १, पृ० ७।

८ ११-९, पृ० १६०।

९ प्रयोक्ता हि मुद्ग्या स्निग्धया दसदनाया जिह्वया मूहून् स्निग्धान् दसदगान् शब्दान् प्रयुह्यते।—५ १ १६, पृ० ३०६।

१० २-२-८, पृ० ३४३।

११ ५-२ २४।

१२ ५४ १५९।

१३ ४ १-५४, पृ० ६५।

१४ ७-१-७५।

१५ ७-२ २९, पृ० १२०।

१६ ५२ १३९।

१७ ५४ १५९ काशिका।

१८ ४ ३-५७ काशिका।

रोमां को हृषित या हृष्ट कहते थे।<sup>१</sup> प्रतिपाठ से भी कुच्छित् वाँट हृषित या हृष्ट ही कहे जाते थे।<sup>१</sup>

**अंग-विन्यास और आङ्ग्यकरण**—शरीर के सौन्दर्य के लिए अंगों का समुचित आकार, विन्यास तथा मार्बल आवश्यक है। आङ्ग्यकरण एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है।<sup>१</sup> आङ्ग्यकरण या सज्जा की माध्यकार ने तीन कोटियाँ बतलाई हैं—दुःख्यमव इषाङ्ग्यमव और स्वाङ्ग्यमव।<sup>१</sup> प्रथम तो शरीर को और विकृत कर देता है। अधिक या नानाशक्त सज्जा से शरीर और दुःख्य हो जाता है। चौड़ी सज्जा कमी-कमी सौन्दर्य-बुद्धि में सहायक होती है। स्वाङ्ग्यकरण में वास्तव में कलापूर्ण रूप से बस्त्राभूषण पहनना मुख एवं शरीर पर विविध अनुलेप पत्र-रचना आदि सम्मिलित हैं। किन्तु, यह सब सुन्दर शरीर पर ही घूमता है। माध्यकार की बुद्धि अंगों की सुन्दर रचना की ओर रही है। उन्होंने यह यत्र उत्र एतद्विषयक संकेत दिये हैं। उवाहरणार्थ 'सुसिद्य' शिर की निर्धौव बनावट के लिए है।<sup>१</sup> इसका ठीक उल्लेख त्रिमूर्धं या त्रिमूर्ध है, जिसके एक ही शिर दो-तीन शिर से जुड़े मासूम होते हैं।<sup>१</sup> सजावट का बड़ा होना सौन्दर्य और सीमाम्य रंगों का सूचक है। बड़े चौड़े सजावटवाला प्रसलाट और चौड़ी पीठवाला व्यक्ति प्रपुष्ट कहलाता था। पुष्ट का चौड़ा होना सीने या बदन की चौड़ाई का सूचक है। चौड़ी छातीवाले को व्यूडोरस्क या महोरस्क कहते थे। पीछे की ओर मुके हुए सजावट वाले को 'प्रत्यङ्गसजाट'<sup>१</sup> कहते थे। आगे झटकते हुए मुसु, बर्बात् प्रापुसु<sup>१</sup> सजावट के सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं। अक्षि तो जीवन का आधार ही है। उनका सुन्दर तथा स्वस्थ होना आवश्यक है। माध्य ने दर्शनीय नेत्रों और सुकुमार पाशों की चर्चा है जिनका उल्लेख बस्ता समय करता है।<sup>१</sup> आँखों का हफना लोहित होना सौन्दर्य और स्वास्थ्य दोनों का परिणामक है। इसीलिए लोहितार<sup>१</sup> व्यक्ति सुन्दर माना जाता था। नासिका का तुंग होना एवं बाहुओं का बृत्त होना भी सौन्दर्य-वर्धक था।<sup>१</sup> देवताओं की पूजा की बनाई हुई मूर्तियों की नासिका भी दीर्घ और तुंग

१ ७-२ २९, पृ० १२०।

२ ७-२-२९, पृ० १२०।

३ १ १-७२, पृ० ४५२।

४ ३-३-१२७ पृ० ३२०।

५ ६ २-११७, पृ० २७८।

६ ५४ ११५।

७ ६ २-१७७, पृ० २९९।

८ भा० २ पृ० ७५।

९ ४-१ ६० पृ० ७१।

१० यही।

११ १४-२१ पृ० १५१।

१२ १ ३-२, पृ० १९।

१३ व्यूडोरस्कं बृत्तबाहुर्लोहितमस्तु नासो विचित्राभरण ईदुधो देववत् इति।—

१ ३ २, पृ० १८।

होती थी।' कुक्षि या पार्श्व में अग्नि सटकार्ई जाती थी। इसीलिए, अग्नि को कौशेयक<sup>१</sup> कहते थे। माप्य में पास्वतीय<sup>२</sup> शब्द का भी प्रयोग मिलता है। छात-अतमे पेटबासे का अनुदर और बड़े या लम्बे पेटवाले को प्रादर कहते थे। अनुदर कन्या सोन्दयघासिनी गिनी जाती थी।<sup>३</sup> सिक्क नितम्ब सक्कि जातु, जया और उसके सोन्दय पर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रम्पिक<sup>४</sup> चक्रमितम्बा चक्रयक्पी गारी<sup>५</sup> मुन्दर मानी जाती थी। उद्वली कदलीस्तम्भोद बुवाह, करमोद संहितोद सहोद हाना स्त्रियों के स्म्यमन की बात थी। सुम्तनी<sup>६</sup> और मुषेघा स्त्रिया के काम्य विशेषण थे। मोकणं चारकर्णं<sup>७</sup> गौरं च अक्षजं एपीबंधं<sup>८</sup> दन् पाटीरिक गठन के सूक्ष्म निरीक्षण के परिचायक हैं। मेरा कान अच्छी तरह सुनता है मरी और अच्छी तरह देखती है,<sup>९</sup> यह बात स्वस्थ व्यक्ति ही गर्व से कह सकता था। हृदय ठा स्वांगों का सम्पाद ही है। हृद्य हस्तास और हस्तेल दाय्य हादिक उस्तास का व्यक्त करते हैं।<sup>१०</sup>

अंग-बिकृति—त्रिस प्रकार सुपठित और स्वस्थ अंग प्रीति उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार विकृत अंग बिरक्ति का भाव जाग्रत् करते हैं। माप्य में मुन्दर अंगों के समान विकृतांगों का भी उल्लेख है। गृधिरा का ठीक उलटा त्रिमूर्ष या त्रिमूर्ष है।<sup>११</sup> त्रिनी-त्रिनी व्यक्ति के चिर की बनावट इस प्रकार की होती है कि एक में तीन सने हुए चिर प्रतीत होते हैं। इस व्यक्ति को त्रिमूर्ष या त्रिमूर्ष कहते हैं। इसी प्रकार, स्पूसधिरा हस्तिवीर्य पीन्मुवीर्य भोग भी विकृत चिर नाम ही कहलाते थे।<sup>१२</sup> मोहित<sup>१३</sup> और पिगल<sup>१४</sup> नशों में लाहित मुन्दर मान जात था। त्रिन नेत्रों

- १ ४-१-५४, पृ० १६।
- २ ४-२-९६।
- ३ ४-३-६०, पृ० २३७।
- ४ १४-६०, पृ० १९१।
- ५ १४-२, पृ० १६२।
- ६ १४-६०, पृ० १९१।
- ७ ८-४-१०, पृ० ४७९।
- ८ ५-४-११३ पृ० ५०८।
- ९ ४-१-३, पृ० १६।
- १० ६-२-११३ काशिका।
- ११ वही।
- १२ १-२-५९, पृ० ५।
- १३ ६-३-५० काशिका।
- १४ ५-४-११५।
- १५ ६-१-६१, पृ० ८५।
- १६ १-३-२, पृ० १८।
- १७ अली वे इग्रविज्ञाने—७-१-७७ पृ० ७३।



से पानी बहता रहता है, उन्हें पिस्तक या पिस्तक कहते थे।<sup>१</sup> जिस व्यक्ति की बाँसों बिपबिपायी होती थीं यह भी पिस्तक या पिस्तक कहलाता था।<sup>२</sup> जो व्यक्ति बात करते समय एक आँसु को बचाता या भीँड़े बचाता था उसके लिए कहा जाता था कि यह व्यक्ति 'असितिकान' से बोलता है या सभूविशेष बात करता है।<sup>३</sup> अक्षिहीन व्यक्ति की जन्म कहते थे। जन्म दो प्रकार के होते हैं—'जनुपान्म' तथा अन्य। जनुपान्म जन्म से ही अक्षिहीन होते हैं। समाज के लोग जनुपान्मों की देख-रेख करते थे। हर व्यक्ति इस बात का ध्यान रखता था कि वे खाँग-सङ्घ या कुपै में न गिर पड़े।<sup>४</sup> काम उस कहते थे, जिसे सारी वस्तु न दिखाई पड़े। 'यह अन्धों में कामठम है', माप्य ने इस वाक्य का अधीश्रय सिद्ध करते हुए कहा है कि 'कभि' शब्द का प्रयोग सूक्ष्म अर्थात् कम देखने के अर्थ में होता है। अतः कम देखनेवालों में सबसे कम देखनेवाले के सम्बन्ध में इस वाक्य का प्रयोग होता है।<sup>५</sup> अन्ध और काम स भिन्न विकृतात्<sup>६</sup> का भी उल्लेख माप्य में मिलता है। नेत्र में पुष्पक या फुन्डी का होना भी विकृति है। जिसके नेत्र में पुष्पक हो उधे भी पुष्पक कहते थे। 'किरिकाण' शब्द का प्रयोग भी माप्य में है।<sup>७</sup>

नासिका-सम्बन्धी विकारों के लिए माप्य में बहुत शब्द आये हैं। 'तुंग' और 'वीर' नासिका यदि शीतल्य का चिह्न भी तो चप्पी झुकी और छाटी नाक कुसुपता की जगती। बड़ी और जैसी उठी हुई नासिकावाला मुख प्रणस और उन्नस कहलाता था।<sup>८</sup> यह भी विकार था। प्रणस और उन्नस शब्द सामान्य से अधिक बड़ी और जैसी नासिकावाले मुख के लिए प्रयुक्त होते थे। नासिका के झुकाव या लमन को अजटीट अजनाट या अजनाट कहा जाता था।<sup>९</sup> निबिद्र, निबिरीस<sup>१०</sup> चिकित और चिपिट<sup>११</sup> शब्द भी इस अर्थ में आते थे। ये शब्द संज्ञा थे। अजना सम्प्र चिकित चिपिट और चिपक<sup>१२</sup> शब्द भी इसी अर्थ में प्रचलित थे। नासिका के लिए

१ ५-२-३३, पृ० ३७७।

२ वही।

३ ३-४-५४ कासिका।

४ ६-३-३ पृ० २९९।

५ कृपादर्श्वं वारयति, वस्यत्यन्धः कूर्पं वा प्रायविति।—१८ २७, पृ० १९३।

६ ५ ३-५५, पृ० ४४५।

७ ६ ३ ३, पृ० २९९।

८ १२-३१ पृ० ५०६।

९ २-१ १, पृ० २२७।

१० ४ १-५४ पृ० ३९।

११ १४ ६०, पृ० १९१।

१२ ५-२-३१।

१३ ५ २ ३२।

१४ ५ २-३३ पृ० ३७७।

१५ वही।

अनेक उपमान प्रसिद्ध थे जो निम्न प्रकार की विकृतियों के सूचक थे। इण्डस सरनस्, धुरणस् चित्तिनस् अर्बनस् और अहितस् इसी प्रकार के शब्द थे।<sup>१</sup> उग्रस और प्रघस उग्रस और बड़ी नासिकावाले व्यक्ति कहलाते थे।<sup>२</sup> सरणस् सरस या सीपी तथा सुरणस् सपाट या फेंकी हुई नासिकावाले का विशेषण था। तफटा पुरुष बिघ या बिक्य कहा जाता था।<sup>३</sup> मिनमिनाकर, यर्बत् नासिका के सहारे बालनेवाले लोग जो मुखनासिकाबन्धन कहलाते थे ब्यय के पाप थे।

प्रस्फिक्र मा प्रोदर होना भी शरीर से बिकृत होना बतलाता था।<sup>४</sup> स्त्री के लिए थक, सपथी होना विचार का नहीं सौन्दर्य का सूचक था। तुन्द तौंसीसे व्यक्ति को कहते थे। तुन्द व्यक्ति असस होते हैं।<sup>५</sup> इन्हें तुन्दपरिमृज कहते थे। बस तौंद पर हाथ फेरना इनका काम रहता है। जो यों ही पेट का परिमार्जन करता हो, उसे तुन्दपरिमार्ज कहते थे। अनावरयक कम्बा व्यक्ति घाट कहलाता था। जिसकी नाभि बड़ी बाहर निकसी रहती थी, उसका नाम तुन्दियम और जिसके पेट में मुटापे के कारण बस पड़ते थे उसका नाम बकिम<sup>६</sup> था। गर्वों की बनावट बुरी होगे पर कुनाख या कुनाखी संज्ञा मिलती थी।<sup>७</sup> सूर्पनखों की भी कमी न थी।<sup>८</sup>

धरमुस उध्रमुस मुख-विकृति के सूचक थे।<sup>९</sup> दम्पुर<sup>१०</sup> सम्बे बड़े शिठोंवाले का नाम था। यह मुण्त् या मुबती का ठीक उस्ता था। गौर मुख सौन्दर्य का साधक था।<sup>११</sup> जिसके हाथ या पाँव में पाँच के स्थान पर छह अँगुलियाँ होती थीं उसे पडिक कहते थे।<sup>१२</sup> प्रतिपीन (बाकला) होना भी विकृति का बोधक था। त्यक या जमड़ी पर दिछ किसी-किसी के बहुत अपिब होते हैं।

१ ५४-११८, पृ० ५१०।

२ ५४ ११९, पृ० ५१०।

३ वही।

४ ६-२-१७७, • २९१।

५ ५१ ११३।

६ १२-३१ पृ० ५०६।

७ तुन्दपरिमृजोऽज्ञातः। यो हि तुम्बं परिमार्ज्यं तुम्बपरिमार्जं स भवति।—३-२-५, पृ० २१०।

८ ६-१ १५८, पृ० १९५।

९ ५२-१३९।

१० २-३ ६२, पृ० ४४९।

११ ४ १-५८।

१२ भा० २, पृ० ७७।

१३ ५२-१०६।

१४ ४ १-५८।

१५ अनुकम्पित पडङ्गति चोदिकः।—१४ १८, पृ० १४७।

ये चर्मरोग कड़ाहते थे। 'इसी प्रकार काले चित्तेवालों को काष्णक कहते थे।' पाणि सामूत भी होते हैं और विपोसित भी। पीठ और पाणि-वालों को निममित सफ़ाई उन्हें सुकुमार बनाये रखती है। उन्हें उम्बू बनाये रखना बाबक्ष्यक माना जाता था। पाद यदि विदूत हुए, तो पसना-निरता बन्द हो जाता है। माप्य में ऐसे व्यक्ति को पगू कहा है।

भाप्य में मनुष्य की कुछ एसी आरतों का उल्लेख है, जिनका सीमा सम्बन्ध शरीर से है। उदाहरणार्थ अक्षिमिकान या आँसू बहाकर बोलना 'भ्रूशिराय या भौह मटकाकर बोलना उद्बाहु या ह्वाण उठाकर बोलना शिर उच्छिप्त करके बोलना 'मुञ्जनासिक' या मिन-मिनाकर बोलना ये भाप्य या उच्चारण से सम्बन्ध रखते हैं। शरकण्ट का सम्बन्ध भी उच्चारण से ही है। 'जिन लोगों की नासिका सोते समय बजती है उनके लिए नासिकन्धम विशेषम था।

पुष्यायुष—शरीरवाँ शरीर-सीम्ब्यं और शारीरिक-विद्वतियों के अतिरिक्त महा-भाप्य में रोगों उनके कारणों एव ओषधियों के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। पुष्य की अपेक्षित आयु को जो सी बर्य से अधिक भी पुष्यायुष कहा जाता था। 'कुछ लोग सामान्य से दूनी या त्रिगुनी आयु प्राप्त कर लेते थे। ये ह्वायुष और ध्यायुष कहे जाते थे।' भाप्यकार के समय में आयु की सीमा नीचे धरने लगी थी। सी बर्य की आयु मिला जाना बहुत बड़ी बात हो गई थी। 'भाप्यकार के मत से जीने का आनन्द तब है जब शरीर में कोई रोग न हो।' सामान्य स्वास्थ्य के नीचे व्यक्ति कुल या पाण्डु हो जाता है। 'कुछ मनुष्य अपना काम भी नहीं कर पाता।

१ ८४-१०, पृ० ४०९।

२ १२-३१, पृ० ५०९।

३ ८१-८, पृ० २७१।

४ १२-१, पृ० ८।

५ ४-१ ९८।

६ ३-४-५४ काशिका।

७ वही।

८ ६-२-१७७ पृ० २९९।

९ ३-४-५४ का०।

१० मुञ्जनासिकं बर्चम यस्य सौम्यं मुञ्जनासिकावधतः।—१ १-८, पृ० १५६।

११ ६-२-११४।

१२ ५४-७७ पृ० ५०९, ४।

१३ वही।

१४ ए सर्वथा शिर जीवति बर्षशतं जीवति।—आ० १, पृ० १२।

१५ एति जीवन्तमानन्वी नास्य किञ्चिद्बुद्धतीति।—१ ३-१२, पृ० ५६।

१६ १ १-५०, पृ० ३०९।

यदि वह बसवान् क बराबर काम कर ले ता बड़ी बात है।' कमी-कमी राग या अन्य कारणों से जब जीवन मार हो जाता है तब मनुष्य बिप या सेना अधिक जल्दा गमकता है।' उदाहरणार्थ पपिक (बसागो से बसनेवाला) पंगु दुर्गार्त्त है। रहता है।' आयुष्यक पदार्थों में भाष्यकार की दृष्टि में पूत का स्थान सर्वोपरि है। उन्हूने पूत को प्रत्यक्ष आयु कहा है। साठ बप या सतर बप बीनेबास पाटिक या साठतिक कहे जात थ।' भाष्य के य उदाहरण जो आयुपरिमाण बतलाने के सिद्द दिए गय हैं इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य की सामान्य आयु सतर या साठ बप की होती थी। उन्हूने भगवान् कार्पायसि के अनुसार आयु के एह भाग किय हैं—  
जम सत्ता बिपरिणाम बृद्धि अपराय और बिनास।' व्याधि की भी तीन स्थितियाँ होती हैं—निबिठि बृद्धि और अपलाय। स्थिति यथावत् बृद्धि-शय-विरहित नवस्या का नाम है।

गर्भावस्था—जन्म के पूव की अवस्था की भी चर्चा भाष्य में आई है। एक स्थान पर उन्हूने उपपान के रूप में गर्म की चर्चा करते हुए कहा है कि किया कई बस्तु नहीं है जिसे निम्बुच्छित या पिण्डीभूत गर्म क समान पकड़कर दिखाया जा सभ।' गर्भिणी सब प्रकार स्वस्थ एवं प्रसन्न है।' बड़ता हुआ गम सर्वापूण हो गया है।' समर्था एक शिशु का दूध पिला रही है।' बच्चा रंगली या मुट्ठी बूस रहा है।' कमी यह स्वतन्त्रय' ही है। माता प्रथम गर्म में ही बच्चा जनकर मर गई' जैसे कज्ज इम बात का सिद्ध करन क सिद्द पर्याप्त हैं कि भाष्यकार गर्भावस्था की कठिनाइयों भ्रूण क बिकाम और प्रजनन-सम्बन्धी छापी-भापी बातों स पूर्ण परिचित थे। वे यह भी जानत थे किम प्रकार गयकाल में बासक के अपाय या अपाग होने का पता लगा लिया जा सकता है।

१ १ ३ ११, पु० ४६।

२ १ ४-५०, पु० १७५।

३ ४ ४ १०।

४ आयुर्मुतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यत।—१ १-५९, पु० ३८५।

५ ५ १-५८, पु० ३२६।

६ पद्मभाषिकारा इति ह स्माह भगवान् कार्पायसि। आयुनेर्जित बिपरिणामते बन्ति-यक्षीपते निम-पर्याप्ति।—१ ३ १, पु० १।

७ वही।

८ १ ३ १, पु० ४४।

९ २-१-५१, पु० ३३०।

१० ६ २ १०६ पु० ३९८।

११ १ ३-८५, पु० ९५।

१२ ३-२-२९, पु० २१५।

१३ वही।

१४ १ १-२५, पु० २०२।

शरीर-रोग—रोग को उपताप ध्यामि और स्वप्न कहते थे।<sup>१</sup> सर्षप सम्भवतः संक्रामक रोग कहलाते थे। माष्य में बहुत-से रोगों तथा ओषधियों के नाम मिलते हैं। जानू या बूटों की पीड़ा बाधक होती है। साज या जूजसी से पीड़ा कम नहीं होती। कण्डूति या कम्पू से जब वेपना का अनुभव होता है, तब उस रोग समझना चाहिए। सामान्य हिक्किठ हसित या कण्डूमिष्ठ ध्यान देने की वस्तु नहीं। वे रोग नहीं है।<sup>२</sup> दधि और त्रपुस (फलविशेष और) मिक्त-का जाने से ज्वर आ जाता है। यह प्रत्यक्ष ज्वर है।<sup>३</sup> ज्वर कई प्रकार के होते हैं। कोई प्रति दूसरे दिन बढ़ता है और कोई चौथे दिन। इन्हें क्रमशः द्वितीयक और त्रितयिक ज्वर कहते थे। विष-गुणों के सम्पर्क से एवं काष्ठ-गुणों के स्पर्श से भी ज्वर उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ज्वर क्लमदा विषगुणक और काष्ठगुणक कहे जाते थे।<sup>४</sup> उत्पन्न ज्वर में रात्री को ताप अधिक मामूम होता है और शीतकठक या जूड़ी लेकर बढ़ता है।<sup>५</sup> कृष्ण और सिर के छोड़े तो सामान्य बात है।<sup>६</sup> बहुगद्गु, बहुपिटक बहुभाफ (सूजन) चित्ता<sup>७</sup> के विषय होते हैं। माष्यकार इन सब बातों से अभिज्ञ थे। सरसु श्वेतु के प्रारम्भ होते ही ममेरिया या मौसमी ज्वर, सरसी चाँसी बरू पड़ते हैं। ये सरसु में होनेवासे मौसमी रोग शारद या शारदिक कहे जाते थे।<sup>८</sup> जतीशार,<sup>९</sup> जन्तिका<sup>१०</sup> (बमन-ध्यामि) प्रवाहिका<sup>११</sup> (वस्त) सभिषात<sup>१२</sup> वैपाधिक<sup>१३</sup> (पाशरोग) श्लु (शार)<sup>१४</sup> अथकोप की बुद्धि या मुष्कता<sup>१५</sup> अरोचकता या अरुचि<sup>१६</sup> मर्षा<sup>१७</sup> श्लुष्ठादि उपताप<sup>१८</sup> वातरोग<sup>१९</sup> हृद्गरोम या हृदयरोम<sup>२०</sup> विगणित (गणित श्लुष्ठा उपताप) विकम्पित (बात-क्लम)<sup>२१</sup> म्युञ्ज<sup>२२</sup> (जिसमें व्यक्ति पालना होकर ही सो सकता है) संज्वर (जीर्णज्वर)<sup>२३</sup> सिद्धम (एक प्रकार का श्लुष्ठा<sup>२४</sup> श्वेतश्लुष्ठा) पशुकल्पक<sup>२५</sup> प्रथ्वदिका (धम्मपिता)<sup>२६</sup> विषविका (सूजसी)

१ ३-३-१६, पृ० २९५।

२ १-१-१८, पृ० १८८।

३ १-१-५८, पृ० ३७६।

४ ३-१-२७, पृ० ८२।

५ आ० १, पृ० २४।

६ १-१-५९, पृ० ३८५।

७ ५-२-८१ का०।

८ वही।

९ वही।

१० २-२-३५, पृ० ३९१।

११ ४-१-५४, पृ० ६६।

१२ ४-३-१३।

१३ ३-३-१७, पृ० २९५।

१४ ५-४-४९।

१५ ३-३-१०८ का०।

१६ ५-१-३८, पृ० ३२२।

१७ ५-२-१०३, पृ० ४१५।

१८ ५-२-१००, पृ० ४१४।

१९ ५-२-१०७।

२० २-३-१३, पृ० ४१७।

२१ ५-२-१२७ का०।

२२ ५-२-१२८ का०।

२३ ५-२-१२९।

२४ ५-३-५१ का।

२५ ६-४-२४, पृ० ४०६।

२६ ७-३-६१, पृ० २०१।

२७ ३-२-१४२।

२८ ५-२-९६, पृ० ४१२।

२९ ८-४-६१ पृ० ४९९।

३० ३-३-१०८ का०।

आमाशु (भूषातिसार) पामन् (चर्मरोग), विज्ञाय (खाँसी) आदि रोगों का माप्यचार को निकट माना था। द्रुबाले व्यक्तिमें को द्रुग पामन् के रोमियों को पामन मध्यवृद्धिवालों को मुष्कर, अरुचिवालों को अरोचकी संज्ञार से पीडित को संज्ञारी मद्यवालों को अर्धत बात रोगी को बातकी और अतीसार के रोगी को अतीसारकी तथा सिम्भवालों को सिम्भस या सिम्भवाम् कहते थे। कालि वस्तु अरोचकी को पम्य है और कालि-सी सामान्य आमपायी का यह पर्यायको सम्पन्न माना था।

कुछ रोग मासिक होते हैं। वे लगभग मास-भर टिकते हैं और कुछ क मच्छे होने में छह महीने लग जाते हैं। ये रोग मासिक और पाण्यासिक कहलाते थे। कुछ रोग असाध्य माने जाते थे। उसकी चिकित्सा इस लोक में नहीं परलोक या शरीर-त्याग क ही बार सम्भव जाती है। ऐसे राजपथमादि रोप दोषीय कहे जाते थे। जिस रोग का मपनयन करना हो उसका माये वस् प्रत्यय लगाकर उसकी अपनेयता व्यक्त की जाती थी।

अपवर्णकार—रोगों की चिकित्सा अणुदकार का काम था। यह नाम पूर्णत सार्यक था। अपवर्णकार स्वच्छता एवं स्वास्थ्य के नियमों का पालन कराकर, पथ्य-आजन देकर एवं आपथि सबन कराकर रोग को चिकित्सा करता था। स्वच्छता के नियमों में आवासय (गृह) से दूर मल-मूत्र का उत्सर्ग करना शरीर की सफाई आदि मुख्य थे। ये रोग के निरोधक उपाय थे। पथ्य भिन्न-भिन्न रोगों के भिन्न-भिन्न थे किन्तु कुछ बातें सामान्य हैं, जिन्हें रोगी भी जानते थे जैसे यवागु मूत्र अधिक साठी है। यवागु उष्णार-दोष का इलाज है आदि।

ओषधि—रोगों का कारण बात पित्त या कफ का रूपित होना माना जाता था। तीनों गोपा के साम्य को अकस्मा सन्निपात कहलाती थी जो अत्यन्त घातक होती है। बात पित्त कफ और सन्निपात को घामक या कोपक वस्तुर्ण या ओषधियाँ बातिक पैतिक र्मैगिमक और सान्निपातिक कही गई हैं। भाष्य में जिन ओषधियों के नाम आये हैं वे वातत्यतिक हैं। आय (प्रकाश)-मयी होने के कारण वे ओषधि कहलाती थी। इर्मा गुण क कारण चन्द्रमा को ओषधि

१ १ १४१ का०।

२ ५-२-१००, पृ० ४१४।

३ ५ १-८० काशिका।

४ ५ १-८४ काशिका।

५ ५-२-९२, पृ० ४०२।

६ ५ ४ ४९।

७ ६ ३-७०, पृ० ३४६।

८ २ ३ ३५, पृ० ४३१।

९ १ ३-१, पृ० ८।

१० मूत्राय कल्पते यवागु उष्णाराय कल्पते यवागुम्।—२-३ १३, पृ० ४१०।

११ ५ १ ३८, पृ० ३२२।

१२ ओषधि-चन्द्रमाः—ओषो धीपतेऽस्याम्।—६-२ ४२, पृ० २५९।

मानते थे। इसीलिए, औषधियों को सुसत्या और सुपिप्पला<sup>१</sup> करने की प्रार्थना श्रुति में मिलती है। आपत्ति<sup>२</sup> सामान्य बड़ी या बूटी को कहते थे। यह सध्व खातिनापक माना जाता था। औषध में कई औषधियों का भी मिश्रण होता था यद्यपि य दोनों पर्याय थे। क्रमस दसेष्मण और पित्तण औषधियों में मधु तथा बृथ श्लेष्म माने जाते थे।<sup>३</sup> वनस्पतियों में पिप्पल नीली<sup>४</sup> बह्नी<sup>५</sup> सफला मस्त्रफला अशितफला पिप्पफला सधफला श्वेतफला त्रिफला अमूसा, मोहनपाकी संकुर्णी साठपर्णी बह्नुपुष्पी दासी पत्नी धर्ममूली गोवासी 'पुग्गु' कुस्तुम्ब<sup>६</sup> और नित्तुकी का उल्लेख औषधि-रूप से मिलता है। यों भाष्य में उल्लिखित आमसकी भाँति अनेक वनस्पतियाँ फल फूल मूल आदि औषधि के रूप में प्रचलित थे और भाष्यकार को उनका स्पष्ट ज्ञान था फिर भी औषधि के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया है। बृशों के पाक पत्रं पुष्प मूल फल बाण (बाँसे) आदि सभी जंग औषधि के काम आते थे।<sup>७</sup>

१ ४१-८६, पृ० १३३।

२ ५४ ३७।

३ दसेष्मणं मधु पित्तणं बृथम्।—४-१ १९, पृ० ३४।

४ आ० २ पृ० ६६।

५ ४१ ४२, पृ० ५५।

६ ४१ ४६, काशिका।

७ ४१ ६४, पृ० ७४।

८ बह्नी, काशिका।

९ ४१-७१, पृ० ७७।

१० ६-१ १४३ काशिका।

११ ४१ ६४, पृ० ७४।

## अध्याय ५

### काल और ज्योतिर्विज्ञान

कास—काल की परिभाषा करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जिसके योग से मूर्त पदार्थों की वृद्धि या ह्रास होता दिखाई देता है, उसे काल कहते हैं। उसी काल को किसी एक क्रिया से युक्त होने पर महत् या रात्रि कहते हैं। यह क्रिया सूर्य की गति है। यही क्रिया, अर्थात् सूर्य की गति जब बार बार आवृत्त होती है तब मास या संवत्सर आदि बनते हैं। ऐसा है, तभी जन् क्रिया के कारण प्रसूत बालक का परिमाण मास या वर्ष माना जाता है।<sup>१</sup>

भाष्यकार के इस कथन से दो बातें मान्य होती हैं। प्रथम यह कि कास और कास-वाचक शब्दों का अस्तित्व आदित्य की गति पर निर्भर है। दूसरे पारिभाषिक अर्थ में कास मने ही परिमाण न ही व्यवहार में काल परिमाण माना जाता था।

काल की गणना 'रात्रि' के घासन काल से की जाती थी। भाष्यकार ने तो इसका उल्लेख किया ही है। अथर्व वेद में अथर्व वेद के सभी धिक्कारों में काल की गणना रात्रियों के घासन से, सहारे की गई है। बिक्रम-महत् वा उल्लेख इन धिक्कारों में ५वीं रात्री के बाद ही मिलता है।

काल-विभाग—पाणिनि आदि भाष्यकारों ने आदित्य-गति को आचार मानकर काल के पूर, अपर वर्तमान मूत 'अधित्यत्' अथवा 'अनघतम्' आदि भेद किये हैं। पाणिनि ने इस काल-विभाग कहा है।<sup>१</sup> पठञ्जलि ने भी कहा है कि कास-विभाग अबदय होते हैं। यदि कास-विभाग न होते तो पर्वत स्थित हैं स्थित रहेंगे और स्थित से वे कथन कभी सम्भव न हो सकते।<sup>२</sup> इसलिये, यद्यपि पाणिनि ने काल की परिभाषा के विवाद-ग्रस्त प्रसंग को यह बहकन टाल दिया था कि काल के विषय में कोई परिभाषा या नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लोक में

१ येन मूर्तीनामुपपन्नया कल्पन्ते तं कालमाहुः। तस्यैव हि जघाञ्जित् क्रियया पुस्तस्यपूरिति च भवति रात्रिरिति च। क्या क्रियया? आदित्यपरत्या। तस्यैवाहवाकुरया मास इति भवति संवत्सर इति च। यत्तैव भवति जातस्य वास परिमाणम्।—२-२-५, पृ० ३३६।

२ ३४ २१।

३ ३३ १३५।

४ ३-२ १२३।

५ ३३ १३७।

६ सन्धि लक्ष्येण कासविभागा। तिष्ठन्ति पर्वताः, एवास्त्यन्ति पर्वताः, तस्यु पर्वता- इति। किं एवमन्त एते शब्दाः प्रयोज्यन्ति-इति नन्ति कालविभागा।—३-२-१२३, पृ० २२५।



जिसके लिए जिस शब्द का प्रयोग होता है, उसे सब जानते हैं और वही अन्ततः प्रमाण मानना चाहिए।

**वर्तमान काल**—वर्तमान काल पर विचार करते हुए पुस्तकालिका ने कहा है कि क्रिया के प्रारम्भ से समाप्ति तक के काल को वर्तमान मानना चाहिए। मैं पढ़ता हूँ, यहाँ रहता हूँ, भावि क्रियाएँ बराबर नहीं होती रहतीं। पढ़नेबाधा पढ़ना बन्दकर भोजन भी करता है छोटा भी है। इसी प्रकार रहनेबाधा व्यक्ति कभी बाहर भी चला जाता है। तो भी उसके सम्बन्ध में पढ़ना और रहना क्रियाओं का वर्तमान काल में प्रयोग होता ही है। इसी प्रकार, नित्य प्रवृत्त क्रियाओं को भी वर्तमान काल में मानना चाहिए। नदियाँ बहती हैं, पत्त स्थित है भावि प्रसंगों में वही क्रिया बहुत पहले से होती आ रही है और भविष्य में होती रहेगी वर्तमान काल का ही व्यवहार होता है।<sup>१</sup>

बुद्ध आचार्यों ने मत से वर्तमान कोई काल नहीं होता। इनके मत से न तो यह संसार परिवर्तनशील है न बाह्य किसी पर छोड़ा जाता है और न नदियाँ समुद्र तक जाने के लिए बहती हैं। यह संसार कूटस्थ है, अपरिष्कृत रूप से स्थित रहता है। विचारवान् पुरुष कोए से कहता है कि तुझमें पतन-क्रिया है कहाँ। मृत और भविष्यत् की पतन-क्रिया को तो इस समय 'हैं' नहीं कह सकते। और, यदि कहें कि इस समय पतन-क्रिया हो रही है, तो भी यह कहना असंभव होता क्योंकि ऐसे तो पतन या गमन-क्रिया सारे विश्व में ही रही है यहाँतक कि हिमाक्षय भी इधर उधर गमन करता है। इस प्रकार मृत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में 'गमन-क्रिया' कहना संभव नहीं है। साम्प्रत काल केवल मृत और भविष्यत् की संज्ञि का नाम है। उसके भीतर का क्षय-तो क्षय या निमित्त-मात्र काल नहीं है। फिर, वर्तमान काल में 'जाता है' भावि वाक्य कैसे बोले जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि सोम क्रिया-प्रवृत्ति के हेतुमृत गाड़ी में बैस पीतना भावि क्रियाओं को देखकर बिना विचारे ही इस प्रकार के वाक्य बोस देते हैं। सामान्य व्यवहार में यह ठीक भी है।<sup>२</sup>

किसी किसी आचार्य के मत से वर्तमान काल है किन्तु आदित्य की गति के समान प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। जब साधनमृत सारी सामग्री एकत्र हो जाती है, तब भी विकृति प्रत्यक्ष होती हुई परिष्कृत नहीं होती। जिस के तन्तु भी जसते हुए नहीं दिखाई देते हैं। फिर, भी जिन चीजों को चीजों कालों की क्रियाओं का प्रत्यक्ष होता है ऐसे बोधी लोग उस बाह्य-क्रिया को देखते ही हैं। हम जैसे साधारण जन तो उस क्रिया का अनुमान से ही जान सकते हैं।<sup>३</sup>

१ ३-२-१२३, पृ० २५४ ५५।

२ जपर जाहू नास्ति वर्तमानकाल इति—न वर्तते चक्रमिवुर्न पारथ्ये न स्यस्यते सचित साधराम—कूटस्थो यं लोको न विवेदितारित यो ह्येवं पश्यति सोऽप्यनस्यः। मीमांसको मय्यमानो मुदा मैवावित्तमतः—काञ्च स्नेहानुपुञ्जति किं ते परित्तसक्षयम्। अनगते न पतसि अतिशयते च काक न यदि सम्प्रति क्तसि सर्वो लोकाः पस्तस्यम्। हिमवानपि यच्छति।—वही पृ० २५६।

३ विसस्य वाता इव बह्वानाना न बुध्यते विकृतिःसत्तिपाते।

अस्तीति तां वैषयन्ते विमावाः सुकरो हि भावोऽनुमितेन गम्या ॥—वही, पृ० २५७।

फिर भी लोक-व्यवहार में वर्तमान काल का खेद व्यापकतर माना जाता था। उपर्युक्त वार्षिक मठों की चिन्ता किये बिना लोग वर्तमान के सामीप्य में समीपी (अतीत तथा भविष्यत्) तक को भी वर्तमान के ही अन्तर्गत गिन लेते थे।<sup>१</sup> अप्राप्त प्रिय वस्तु को प्राप्तीच्छा अर्थात् आर्त्ता का विषय भविष्यत्काल होता है। फिर भी उसके लिए मृत और वर्तमान का प्रयोग होता था।<sup>१</sup> इसी प्रकार क्रिया-सातत्य में जिसे क्रिया-प्रबन्ध भी कहते थे तथा सामीप्य गम्यमान होने पर अन्त घटन मृत और भविष्यत् के नियम छागू होते थे। ऐसे स्वप्नों पर अन्तघटनीय क्रिया का प्रयोग न होकर सामान्य-मृत या भविष्यत्कालीन क्रिया का व्यवहार होता था।<sup>१</sup> पाणिनि ने देश और काल के प्रतिभागों के अन्तर भाग के सम्बन्ध में भी सामान्य काल-नियमों का प्रयोग न होना बतलाया है।<sup>१</sup> इन्हीं सब विभिन्नताओं को दृष्टि में रखकर पाणिनि ने काल का लोकाश्रित बतलाया है।

अह्न—हाल के मेरों में अद्य ह्य स्व अह्न रात्रि पद्य मास वर्ष हासन संवत्सर आदि नाम माप्य मे निकते है। इनमें अद्यतन काल म्याम्य (सर्वसम्मत) उत्थान से म्याम्य मसिसन-काल तक को कहते थे। इस परिभाषा के अनुसार प्रातः बाह्य मुहूर्त्त से रात्रि व समागम पद्य बने तक का समय अद्यतन माना जाता चाहिए। कुछ लोगों ने मत्त से गत अर्ध रात्रि से आगामी अर्धरात्रि तक का समय अद्यतन होता है।<sup>१</sup> गिन को दिवा और रात्रि का बोधा भी कहते थे। माप्य में दिवामस्या रात्रि और बोपामस्य अह्न का<sup>१</sup> उल्लेख है। पुष्याह और सुदिनाह इसका ठीक उलटा था। दिन का कई भागों में विभाजित किया जाता था। यथा—प्रातः पूर्वाह्ण<sup>१</sup> मध्याह्ण अपराह्ण<sup>१</sup> सायाह्ण<sup>१</sup> संमह (ऋगु० ५-७५ ३) जिनमरक मत्त स बिल कुल सवेरे का समय माना जाता था। रात्रि का प्रारम्भ प्रवाप से होना माना जाता था<sup>१</sup> और उसे पूर्वरात्र एवं अपररात्र इन दो भागों में बाँटा जाता था।<sup>१</sup> पूष दिवस को पूर्वोद्य वर्तमान दिन को अद्य समान (उसी) दिन का अद्य कहते थे। इसी प्रकार पद्य अन्यद्यु आद्यतरेद्य इतरेद्य

- १ ३ ३ १३१।
- २ ३ ३ १३२।
- ३ ३ ३-१३५।
- ४ ३-३-१३६ तथा ३ ३ १३७।
- ५ १ २-५७ कागिजा।
- ६ १ १ ४१, पु० २५४।
७. २ ४ ३०, पु० ४७६।
८. ४ ३-२८।
- ९ ५ ४ १२०।
- १० ४ ३-२८।
- ११ ४ ३-२३, पु० २२५।
- १२ ४ ३ १४।
- १३ ५ ४-८०।

अथरेषु उभयेषु या उभयेषु ह्य' और एव' शब्द प्रचक्षित ये विनये प्रतीत होता है कि काक-  
गणना का मुख्य बटक दिन या अहन् वा ।

अहोरात्र—दिन और रात्रि को मिलाकर अहोरात्र 'नक्षत्रिन्दिव या रात्रिन्दिव' कहते थे ।  
अहोरात्र ही वह परिमाण था, जिससे अन्य काक्याचको की गणना की जाती थी । अहोरात्र से  
पक्ष और मास गिने जाते थे । केवल रात्रि का उत्प्लेस भी अहोरात्र के परिमाण का बोधक  
होता था ।

मास—त्रिंशद् रात्र को मास और पंचदश रात्र को अर्धमास' कहते थे । अर्धमास पक्ष  
और उसका प्रथम दिन पक्षति कहलाता था । पक्ष की गणना मास के प्रथम दिन से की जाती  
थी । दिन-गणना का आधार आदित्य-गति थी क्योंकि आदित्य एक होकर भी सम्पूर्ण अक्ष  
को प्रकाशित करता है । इसलिये, आदित्य के उदय के आधार पर काल की गणना में सबको  
सुमीठा हो सकता था । मास और वर्ष का आधार सूर्य की ही असङ्ख्य गति मानी गई थी ।

मास की गणना चन्द्र के आधार पर भी की जाती थी । भाष्यकार ने चन्द्रमा को मास-  
प्रमित कहा है जिसका अर्थ है मास की माप का प्रारम्भ करनेवाला । प्रतिपञ्चम मासप्रमित  
कहलाता था ।

अयन—मास के बाद अयन था और उसके बाद वर्ष या संवत्सर । अहोरात्र में कुछ  
तीस मुहूर्त होते हैं । भाष्यकार ने कहा है कि इनमें छह मुहूर्त ऐसे होते हैं, जो अर भी हैं और अक्षर  
या अगतिमान् भी । वे कभी दिन में आते हैं और कभी रात्रि में । इसलिये, उन्हें अहर्गत भी  
कहते हैं और रात्रिगत भी । वे अहर्गतिसूत या रात्रिगतिसूत भी बने जाते हैं । यहाँ 'कनी' से  
भाष्यकार का भाष्य उत्तरायण और दक्षिणायन में बढ़ने-बटनेवाले दिन के मुहूर्तों से है । ये  
मुहूर्त उत्तरायण में दिन में सम्मिश्रित रहते हैं और दक्षिणायन में रात्रि में । वर्ष बारह मास का  
होता था । वर्ष की गणना का प्रारम्भ कभी वर्षा के साथ होता था । वैदिक काल में वर्ष का  
प्रारम्भ अशु से होता था । संवत्सर के अर्थ में प्रयुक्त ये दोनों शब्द स्वयं अपनी कथा कहते हैं ।

१ ४ ३-१५, पृ० २२३ ।

२ ३-३ १३७, पृ० ३२९ ।

३ ५ ४-७८, पृ० ५०४ ।

४ योज्यं त्रिंशद्वारात्रात्तयामी तस्य योज्यरी पञ्चदशरात्रात् इति—३ ३-१३६, • ३२८ ।

५ ५ २-२५, पृ० ३७३ ।

६. या० २, पृ० ४२ ।

७. आदित्यगतया । तर्कवासात्कृदावृत्त्या मात इति भवति संवत्सर इति च।—

२-२-५, पृ० ३३६ ।

८. २-१-२९, पृ० २८२ ।

९. पञ्चमुहूर्तांश्वराचरा—ते कथाचिदहूर्तकञ्चि कथाचिद्वारिम् । तदुच्यते अहूर्तता  
रात्रिगता इति इदं तर्हि अहर्गतिसूताः, रात्रिगतिसूताः।—२ १ २९, पृ० २८२ ।

वर्तमान संवत्सर को एयम मत्त संवत्सर को पक्व और उससे भी पूर्व वर्ष का पारि<sup>१</sup> कहते थे। सामान्य वर्ष के अतिरिक्त माप्य में दिव्य वर्ष का भी उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> अयन का अन्तवर्ती या सूर्य द्वारा अयनान्त के सामीप्य में बिताया गया समय अन्तरयन कहलाता था। अयनान्त के समीपवर्ती प्रवेश अन्तरयन कहे जाते थे।<sup>१</sup>

ऋतु—मासों के अतिरिक्त ऋतु भी वर्ष के अंगभूत थे। ऋतुओं में शरत् सिद्धि हेमन्त बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा का उल्लेख माप्य में है। शरत् का उल्लेख थाय तथा रोग और उप थाप के प्रसंग में हुआ है। शरदिक थाय गृह्ण्य का सामान्य कर्त्तव्य माना जाता था। इस ऋतु में अर आदि उपथाप तथा कास आदि रोग भी फैलते थे।<sup>१</sup> सूत्रकार ने शारीरिक या शारद भातप का विशेषतः उल्लेख किया है।<sup>१</sup> शरत् की धूप बड़ी मयंकर एवं हातिकारक होती है। सिद्धि उष्ण की ऋतु है। माप्यकार ने कहा है कि इस ऋतु में जिस बैल पर झूठ नहीं ढाली जाती वह कृषा हो जाता है। सिद्धि और बसन्त उत्तरायण में होते थे। माप्य में इन्हें उदयनस्य वसन्तमासा<sup>१</sup> है। काशिकाकार ने हेमन्त सिद्धि और बसन्त यह ऋतुओं का माना है।<sup>१</sup> इस प्रकार, सिद्धि ऋतु माघ और फासुन में पड़ती थी और उस समय सूर्य उत्तरायण होता है। इस ऋतु में मकर-संक्रान्ति के बाद चिनमान बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए शरत् को बीर्पाक्षी कहा है।<sup>१</sup> हेमन्त ऋतु के मास सव्व और सव्वस्य माने जाते थे। इन्हें हैमन्तिक भी कहते थे। हैमन्तिक या हैमन्त या हैमन्त बस्त्रों एवं उपलपन की व्यवस्था इस ऋतु में दीठरखा के लिए की जाती<sup>१</sup> थी। हेमन्त में वर्षा भी होती थी। माप्य ने एक वर्षा-विहीन हेमन्त का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> बसन्त प्रवृत्ति के योग्यता का काल माना जाता है। मघु और माघन बसन्त के मास मान जाते थे।<sup>१</sup> माप्य ने इसे अषकाक्षिष्ठ कहा है। यह नाम इस ऋतु में कोपिल के अपिठ बोलने के कारण दिया गया था।<sup>१</sup> पाणिनि ने बसन्त-अभ्ययन का विशेषतः उल्लेख

- १ ५ ३-२२, पृ० ४३४।
- २ आ० १, पृ० १२।
- ३ ८४-२५।
- ४ ४ ३-१२।
- ५ ४ ३ १३।
- ६ वही।
- ७ पौरिवाकृतनीमार प्रायेण सिद्धिरे कृणु।—३ ३-२१, पृ० ३०२।
- ८ २-२ ३४, पृ० ३९०।
- ९ वही—काशिका।
- १० ८४-७ पृ० ४७८।
- ११ ४ ३ २१ तथा ४ ३-२२, पृ० २२४।
- १२ २-२-६, पृ० ३३७।
- १३ ४ ३-२० काशिका।
- १४ २ २ १८, पृ० ३५०।

किया है, जिसपर भाष्यकार ने कहा है, बसन्त नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। इसलिए, जिस ग्रन्थ में बसन्त का वर्णन हो उसे भी बसन्त कहते हैं और उसका अध्ययन वास्तविक कहा जाता है।<sup>१</sup> ब्राह्मण ने सिध्द बसन्त में अग्न्याधान तथा अग्निष्टोमादि यज्ञ का विधान है।<sup>२</sup> अबश्य ही इस ऋतु में विशेष ग्रन्थों या वेदभाग के अध्ययन की भी प्रथा रही होगी। इसी को पतञ्जलि ने बसन्त-सहस्ररित अध्ययन कहा है और इसी के अध्येता को पाणिनि ने वास्तविक कहा है। ग्रीष्म ज्येष्ठ-श्रावण मास कहलाते थे। ग्रीष्म ऋतु बीर्वाहा होती है। इस ऋतु से सम्बद्ध काष्ठ मास या अन्य वस्तु को ग्रीष्म<sup>३</sup> कहते थे। वर्षा को प्रावृष् भी कहते थे। प्रावृष् में होनेवाले मेघों को प्रावृषेभ्य कहते थे। किन्तु, प्रावृष् में उत्पन्न होनेवाले कीट, वनस्पति अथवा रोगादि प्रावृषिक<sup>४</sup> कहलाते थे। वर्षाकाष्ठ साक्षि आदि वर्षों की लिप्यन्ति का सामन था।<sup>५</sup> इस ऋतु में अनेक आवाञ्छित वस्तुएँ उत्पन्न ही जाती हैं। भाष्य में इनके लिए वर्षामुञ्ज और वर्षामू सञ्च<sup>६</sup> प्रयुक्त हुए हैं। बसन्त वर्षा शब्द हेमन्त और सिधिर की गणना बसन्तादिभन में भी की गई है।<sup>७</sup>

मासों में मधु शैव का नाम था। इस ऋतु में मधु अधिक होता था। मधु के समीप का वैशाख मास माघन या माघभ्य भी कहा जाता था। नमस् या वादक होने के कारण माघन को नम माघपद को नमस्म इच्छा में प्रबलता उत्पन्न करने के कारण नवार या आश्विन को इय सन्ताप दायक होने के कारण फाल्गुन को तप और तपस्व शरीर शक्ति का दायक होने के कारण कार्तिक को ऊर्ज और मन में शोक को अंकुरित करने के कारण ज्येष्ठ का शुचि और श्रावण को शुक्र कहते थे। इस प्रकार मधु, माघन तप मन इय ऊर्ज शुचि और शुक्र नाम सार्वक<sup>८</sup> थे। मास के वारों पक्षा का प्रथम दिन प्रतिपद होता था और अन्तिम दिन अमावास्या और पौर्णमासी। सह अयहन और सदृश्य पीय की संज्ञा थी। अमावास्या में होनेवाला काम या वस्तु अमावास्यक या अमा वास्य कही जाती थी।<sup>९</sup>

सन्धि-वेला—पाणिनि ने सन्धि-वेला ऋतु और नक्षत्रों को काष्ठवृत्ति या काष्ठवोपक कहा है। सन्ध्या अमावास्या त्रयोदशी चतुर्विंशी पंचमशी और प्रतिपत् को काष्ठिकाकार में

१ ४-२-६३, पृ० १८८।

२ १-१-८४, पृ० ११६।

३ ६-१-१०८ पृ० ११५।

४ ८-२-६९, पृ० ३७६।

५ ४-१-८६, पृ० ९६।

६ ४-२-२६ तथा ४-३-२५, पृ० २३१।

७ ३-३-१३३ पृ० ३२४।

८ ६-३-१ पृ० २९८ तथा ६-४-८४, पृ० ४४७।

९ ४-२-६३ पृ० १८८।

१ ७-१-७७ पृ० ७४ तथा ४-४-१२८ पृ० २९८, ९०।

११ ४-३-३०।

'सर्गि-वेला' माना है। नक्षत्रों को ज्योतिष भी कहते थे। नक्षत्र संज्ञा कभी क्षरित या क्षीण न होने के कारण थी। इस प्रकार नक्षत्र ज्योतिष और काल दोनों के बाधक थे। काल की माप भी नक्षत्रों से की जाती थी। जैसे आपके बहुत-से तिल्य और पुनर्वसु बीत गये। एक ही नक्षत्र में उत्पन्न होनेवासे सज्योतिष कहलाते थे। सूर्य, चंद्र और नक्षत्र सब ज्योतिष के अन्तर्गत माने जाते थे। भाष्य में ज्योतिष का उद्गमन गम्भिरमान होने पर आ पूरक क्रमधातु का आत्मनैपत्यक विधान किया है।

नक्षत्र—नक्षत्रों या ज्योतिष में दिवाकर विभाकर प्रभाकर या भास्कर निशाकर और बिभुनुद के अतिरिक्त निम्नलिखित नक्षत्रों के नाम भाष्य में आये हैं। इनमें बिभुनुद शब्द राहु-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास-परम्परा की याद दिलाता है।

कृतिका—भाष्य में दो बार कृतिका और रोहिणी का साथ-साथ उल्लेख हुआ है और दोनों बार बहुवचन में ही। कृतिका का पाणिनि ने बहुत भी कहा है। कृतिका कई नक्षत्रों का समूह है यह बात सामान्य लोगों को भी ज्ञात थी।

रोहिणी—राहिणी भी कई नक्षत्रों का समूह माना जाता था।

आर्षा मूस, पुनर्वसु—पुनर्वसु वास्तव में दो नक्षत्र हैं। वेद में इसके लिए एकवचन का ही प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार विशाला भी दो नक्षत्र हैं। वेद में इनके लिए भी एकवचन का ही प्रयोग मिलता है। तिल्य का सिध्य भी कहते थे। तिल्य और पुनर्वसु (दो) का समास होने पर बहुवचन होना चाहिए, किन्तु उनके लिए द्विवचन ही प्रयुक्त होता था जिससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि विशाला पुनर्वसु आदि नक्षत्र ज्योतिष की दृष्टि से दो थे ताँ भासोग व्यवहार में उन्हें

- १ ४-३-१६।
- २ १-२-६३, पृ० ५६१।
- ३ ६३-७५ काशिका।
- ४ १-२-६३, पृ० ५६१।
- ५ १-३-८५।
- ६ १-३-४०, पृ० ६७।
- ७ ३-२-२१।
- ८ ३-२-३५।
- ९ १-२-६३ पृ० ५६१।
- १० २-२-३४ पृ० ३९०।
- ११ ४-३-३४।
- १२ १-२-६३, पृ० ५६१।
- १३ १-२-६१।
- १४ १-२-६२, पृ० ५६१।
- १५ १-२-६३ पृ० ५६२।

एक ही मानते थे।<sup>१</sup> पुष्य सामान्य मन्त्रत्रयाची भी माना जाता था। भाष्यकार ने कहा है कि एक अथ रहने पर भी मन्त्र-मेघ होने पर बिम्ब-मेघ हो जाता है, जैसे तिष्य तारका और मन्त्र।<sup>२</sup> मन्त्र विशेष मानकर आज पुष्य है, आज मन्त्र है।<sup>३</sup> 'पुष्य योन जागता है' 'पुष्य से याजित करता है', 'मन्त्रों से याजित करता है' जैसे वाक्यों का उपयोग भाष्य में मिलता है। मन्त्र भी कई नक्षत्रों का समूह था। अविष्टा फास्वुनी अनुराधा हस्त जापाडा और स्वाति का नाम-ग्रहण पाणिनि ने तिष्य पुनर्वसु और बिष्वाद्या के साथ किया है। वास्तवकार ने उसमें बिम्बा रेवती और रोहिणी का और सम्मिश्रित कर दिया है। इनमें तिष्य पुष्य और सिष्य पर्याय<sup>४</sup> हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३-१ ४१) में सात कृतिकाओं के नाम मिलते हैं—मन्त्रा बुला नितली अग्रयन्ती मेघयन्ती अग्रयन्ती अशुभिका। यद्यपि बाद में उनकी संख्या छह मानी जाने लगी। फास्वुनी को दो और बहुत मानकर भी उल्लेख किया गया है। बिष्वाद्या एक द्वि और बहुवचन तीनों मानी जाती थी। अभिजित और अश्विजुब् और सप्तमिजुब् का उल्लेख एक साथ एक सूत्र में मिलता है। काठकछंदिता में अश्वि और अश्वत्थ पर्याय माने हैं। पाणिनि ने दो बार अश्वत्थ का उल्लेख किया है। एक बार अश्वि और अश्वत्थ साथ आये हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे उन्हें पर्याय नहीं मानते।<sup>५</sup> दूसरे स्थान पर अश्वत्थ अशु का सूचक है।<sup>६</sup> प्रोप्यबा भी दो या अधिक माने जाते थे।<sup>७</sup> इसका प्रयोग पुस्तिका में भी होता था।<sup>८</sup> वैदिक नक्षत्रों का आरम्भ कृतिका से होता है। बाद में ४९ ई के श्यमप दिन-रात के कुछ भाग को छोड़ित करने के लिए अश्विनी का स्थान प्रथम माना जाने लगा। वर्तमान में नक्षत्रों के इन्द्र म कृतिका का ही पूर्व प्रयोग किया है। पाणिनि ने सात नक्षत्रों की गणना में अविष्टा का उल्लेख प्रथम किया है।<sup>९</sup> बेहाम ज्योतिष की सूची भी अविष्टा से प्रारम्भ होती है। गर्व की दृष्टि में वास्तविक कार्यों में कृतिका और सामान्य कार्यों में अविष्टा प्रथम है।<sup>१०</sup> महाभारत अश्विनी म अविष्टा या अविष्टा से और अश्विनीवर्ष में अश्विनी से प्रारम्भ

१ १-२ ६३, पृ० ५६१।

२ ४ १-९२, पृ १०७।

३ २-३ ४५, पृ० ४३४।

४ ३ १-२६, पृ० ७६।

५. वही।

६ ४ ३ ३४।

७ ४ ३ ३४। पृ० २३२।

८ ३-१ ११६।

९ ४ २-५ काशिका।

१० ४ ३ ४८।

११ १-२-६० पृ० ५९०।

१२ ५ ४ १२०।

१३ ४ ३ ३४।

१४ ओरापन, पृ० ३०।

माना है।<sup>१</sup> यदि पूर्व में भी श्वबण प्रथम है।<sup>२</sup> यह इस बात का सूचक है कि मकर-जन्मस्थि या दक्षिणावर्त सूर्य श्रबिष्ठा के प्रथम स्थान से पश्चिम की ओर चला गया था। ज्योतिष वेदाय ने उन्ने श्वबण या श्रबिष्ठा में स्थिर किया था। प्राचीन ज्योतिष भी श्वबण को ही मानती थी। पाणिनि ने पूर्वकाल की प्राचीन मान्यता का ध्यान में रखकर श्रबिष्ठा का प्रथम स्थान दिया है।<sup>३</sup> राशिया के उदय को लग्न कहते थे यद्यपि पाणिनि ने लग्न का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया उक्त अर्थ में किया है। मलग्न सप्तार्चि माने गये थे। सूर्य के इस ग्रहण-सम्बन्धी गमन-माय या जागित् बृहत् सम्बन्धी विभाजन के अनुसार आग्रह मासा के नाम विदाय मलग्न के मध्यम में चन्द्र के प्रकार के अनुसार रखे गये थे। जब पून चन्द्र चित्रा के संयोग में हाता या तब दिन का बीबी पीपमासी कहते थे।

संबलसर—वर्षों को समा 'संबलसर' और हायन<sup>४</sup> कहते थे। प्रथम चित्रा आदि ६० सप्तमियों के पाँच बरों के क्रम से संबलसर, परिवरसर, इराबलसर इत्यन्त और बलसर ये नाम थे। इस प्रकार के नाम क्रमशः पूरे बृहत् में १२ बार आवृत्त होते थे। संबलसर में होनेवाले काम का संबलसरीष या संबलसरीय कहते थे।<sup>५</sup> वर्ष के दो नाम दिये गये थे। प्रत्येक मास पञ्चमाम बजा जाता था।<sup>६</sup> मान-सर के बालकारि की मान्य या मानित बी-नीम मानवास का त्रिमास्य त्रिमास्य पद्मासप्तमियों को पाष्मास्य, पष्मास्य या-पाष्मासिक (भूग भूत भाषी) कहते थे। बय में मित्र जब में पष्मासिक या पाष्मास्य (रोगारि) शब्द प्रचलित था। वर्ष के पूजाप का प्रथममा<sup>७</sup> कहते थे। इन भाग में बुकामा जालेबाला ऋषि आचरममक कहलाता था।

१ बलपर्व २३०-१० तथा अद्वैतपर्व, ४४२।

२ भाविपर्व, ७१ ३४।

३ अर्जुन मातृ रामक ए० सी० १९१६-१७ प० ५७०।

४ ४२-३, पृ० १६७।

५ ५१-८८।

६ ५१-८५।

७ ५१-८७।

८ ५-१ १३० तथा ३-१ १४८ (अज्ञातपुराणनिधि हायनो वीहः। अहानि भाषानिधि

हामन संबलसर ॥—आदिवा)

९ ५-१ १२१।

१० ५१-८१ से ८४ तक, पृ० ३३९।

११ ४-३-४९ तथा ४३ ४३।



## अध्याय ६

### संगीत

संगीत की परम्परा—संस्कृत की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। सामवेद के समीप नर ब्रह्म देवी-विदेवी विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। भाष्यकार ने भी साम का उल्लेख गीति के रूप में ही किया है। पाठशालाओं में 'साधन' साम<sup>१</sup> माया करते थे। यज्ञ के अक्षर पर भी सामगान की प्रथा थी। साधारणतया साम-गान पूर्वाह्न में होता था।<sup>१</sup> यज्ञों में सामगान का विधान है और उसके साथ वाद्य-वादन का भी। वाद्य वाद प्रकार के होते थे—सठ मन सुपिर और नख। बीजा आदि तम्बु-बाद्य तब सभी के थे। तैत्तिरीय ब्रा० (१-९ १५) में अस्मेज में एक ब्राह्मण को बिन में बीजा बजाकर तथा रात्रि में एक क्षत्रिय को बीजा पर गाना होता है। ऋग्वेद (१-८५ १) में सोमपान करने के पश्चात् उसके मठ में मरुद् सोम एक वाद्य नामक वाद्य बजाते हैं। इसमें चौं छार होते थे। तैत्ति० संहिता (७-५ ९) में सठ-छार वाद्य का उल्लेख है। सामवेद में असाद् बीजा यज्ञा बीजा कपिसीपी महाबीजा और वीज-बीजा के पाँच प्रकार की बीजाएँ मिलती हैं। इनमें कपिसीपी नाम भाष्य में भी मिलता है। ऋग्वेद में यज्ञसूत्र (५ २-८) में पिच्छीरा और काञ्चबीजा नामक स्त्री-वाद्यों का अपवाटिता कहा है। तैत्तिरीयसंहिता के सामय भाष्य (आनन्दात्म प्रस ५० ५७ १७) में तुम्बुद वीजा का उल्लेख है। इन वाद्यों में शीश करतल आदि का प्रचार था। बीजायत ने अग्निष्टोम में उल्लस या उलसा बजाने का विधान किया है। सुपिर वाद्यों में संस पावा सनई आदि मिलते हैं। ऋग्वेद (१० १३५-७) में यम के चर में नामी नामक बेलु वाद्य बजाने का उल्लेख है। तुम्ब एक असगुना-मधुस वाद्य था। तैत्तिरीय ब्रा० (३-४ १५) में शस की भी वर्णना है। नख वाद्य वैदिक नाम सही प्रचलित थे। ताँबू तैवी चातु के या लकड़ी के छोटे तैयार कर पमड़ में मड़े जाते थे। वेद में वाजपेय यज्ञ के प्रकरण में तुम्बुमि (तगाङ्गा) वाद्य का नाम मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (७-५ ९) में मूमि-तुम्बुमि का भी वर्णन है। आग्नीध्र मन्त्रण के पश्चिम में एक गण्डा ओदकर उमपर बीस का आर्द्र चर्म फैलाकर रजता था। उसे छिलने से रोकने के लिए उसके चारों ओर लकड़ी की गूँटियाँ ठोककर बस दिया जाता था। और, इस प्रकार मूमि-तुम्बुमि तैयार की जाती थी। इस पी के पुच्छात्र से बजाते थे। समवत ये पुच्छात्र बाजार में विक्रते भी थे। भाष्य में गायुच्छ से किली वस्तु के रूप करने का उल्लेख मिलता है। बड़ी तुम्बुमि को

१ ३४ १७ ५० ३१७।

२ पूर्वाह्नवेदें साम।—२ १ ४३, ५० २९५।

बजाने के लिए जिस बड़े सोपुच्छ की आवश्यकता होती थी उसे परमसोपुच्छ कहते थे।<sup>१</sup> तसि० आरप्यक (१११६) में पणव या मूदंग का भी उल्लेख है। बाव नामक वाद्य के लिए जो अज्ञान प्रयोग में लाया जाता था, वह तबि के रंग के बैल की पंजी से मड़ा जाता था। इसमें दस छूटियाँ होती थीं और प्रत्येक छूटी में दस-दस तार रहते थे। साधित्य के मस से तीन ही छूटियाँ आवश्यक थीं जिनमें ३३, ३३ और ३४ तार लगाये जाते थे। इस बजाने के लिए इपीका या बतसू के टुकड़े का धनुषाकार अंगुलीयक बनाया जाता था।

वैदिक काल में संगीत धार्मिक क्षेत्र तक सीमित रहा। धीरे-धीरे वह इस परिधि से बाहर निकला। गीत के साथ वाद्यों का प्रयोग और प्रचुरता से होने लगा। नृत्य का विकास हुआ और अन्त में नाट्य भी उसमें आ मिखा। इस प्रकार वेदों के समान संगीत भी आतुरवयव हो गया।

वेद और गायक—गाय में संगीत के चारों अंगों का उल्लेख है। माई जानवामी बसु को गेय<sup>१</sup> और गान को गीति<sup>१</sup> कहते थे। गानेवाले को गायक और गायन कहा जाता था। स्त्री-नायिकाएँ गायिका और गायनी कहलाती थीं।

वाद्य—वाद्य संगीत के साथी थे। यों संगीत बिना वाद्य के भी चलता था। गायक और गायन सम्भू विना वाद्य के गानेवालों के लिए प्रयुक्त जान पड़ते हैं। फिर भी संगीत वाद्यों के साथ होता था। इसका प्रमाण सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त पाणिप और ताडप दण्ड है।<sup>१</sup> ये दण्ड गीत पर ताड देनेवालों के लिए व्यवहृत होते थे। पाणिप हाथ से ठाली बजाता था। ताडप तबलजी का नाम करता था। वह डाल या अन्य किसी लठ वाद्य पर ताड देता था। पाणिप भी इसी प्रकार के ताड और मात्राओं के सम्बुलन करनेवाले का नाम था। समबत यद् हाथ से ठारा लगाने का काम करता था। वाजसनेयी संहिता (३०-२०) तथा सैत्तियिवा० (३४ १५ १) में पाणिपन दण्ड आया है। पुहरमेभ म बसि बिये जानेवालों की मूर्त्तियों में इसका भी नाम है। बरिद इषडेवम (१-५ १५) में पाणिपन का ताडिया बजाकर वेदों से बिरिया उड़ानेवाला व्यक्ति माना है। संगीत के मुख्य साधियों में मूर्दंग का स्थान था। काशिकावार ने मूर्दंग को प-याप्रिय कहा है।<sup>१</sup> मूर्दंग बजानेवाले को माधगिरु कहते थे। मूर्दंग का विकास धीरे-धीरे इमरु से हुआ है। कामदारभ में वीणा के साथ इसका उल्लेख मिलता है। प्रतिपाठ द्वारा बजाय जानेवाले अथठक निर्मित वाद्यों से वैतानिक दृष्टि से मूर्दंग सर्वश्रेष्ठ है। धी गो० बी० रमन जैसे ब्रह्मिणिक का यह मत है।<sup>१</sup>

१ ५ १-२०, पृ० ३११।

२ ३-४ ९८।

३ ३ ३ ९५।

४ ३-१ १४६, १४७।

५ ३-२-५५।

६ ६-२ १६ काणि०।

७ ४-४-५५, पृ० २८०।

८ बीजाडमदक्याठाति।—ब्रह्मसूत्र अधि० १ अ० ३ सू० १६।

९ रमन दि एवाडस्टिब तलेत्र मॉक एनसिपेट हिल्डर सेन्डुम हि० कासेत्र मेये०

मूर्ग बहुत लोकप्रिय बाद्य रहा है। महाभारत में भी मूर्ग की बर्णा है।<sup>१</sup> अस्त्रबोध में तो बार-बार मूर्ग के साथ संघीत का वर्णन किया है।<sup>२</sup> मूर्ग से मिच्छते-मुच्छते बाधों में मद्बुक पत्र 'द्वरु', मुर्य और तुनब' का उल्लेख भाष्य में मिलता है। ये सब डोल या मूर्ग के ही विभिन्न रूप थे। मद्बुक और द्वरु' कुछ मूढ़ करनेवाले छोटे प्राम-बाध थे जो आज भी प्रामों में देखने को मिलते हैं। मद्बुक डोककी के समान होता था। पत्र उससे कुछ छोटा था। इन बाधों के डोल काष्ठ के अतिरिक्त मिट्टी के भी बनते थे। इस प्रकार इनके निर्माण में कुत्तास का भी हाथ था। विशिष्ट कुत्तास इनके डोल बनाते थे और उनके आभार पर कुत्तासों के भी नाम पड़ जाते थे। द्वरु' का डोल बनानेवाला कुत्तास दार्दुरिक कहलाता था।<sup>३</sup> इसी प्रकार मार्बैगिक और मानविक कुत्तास भी होते थे। मद्बुकदि बजानेवाले कलाकारों को माद्बुकिण पात्रविक मूर्गविक दार्दुरिक मादि कहते थे।<sup>४</sup>

प्रतिघात बाध—प्रतिघात बाधों में भेरी और दुन्धुमि भी प्रचलित थी।<sup>५</sup> इनका प्रयोग संघीत के साथ नहीं अपितु हर्षोभावा या आवेध उत्पन्न या प्रकट करने के लिए होता था। ये वर्तमान मराड़े के पूर्व रूप थे। मन्दिरो' और रास-मन्धकियो में बजनेवाले मराड़े इसी जाति के होते हैं। भेरी और दुन्धुमि बजानेवाले बाध थे। इनकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती थी। भाष्यकार ने कहा है कि भेरी में आघात करने के बाद कोई बीस अंग चल लेता है कोई तीस और कोई चासी। तबतक भेरी का सञ्च सुनाई देता रहता है।<sup>६</sup> वैदिक काल में नृत्य के साथ बाघाटि बाध का प्रचलन था।<sup>७</sup>

कांस्य-बाध—मूर्ग के साथी बाधों में भाष्यकार ने शर्भर (शार्श) का नाम किया है। इसे बजानेवाला शार्भरिक कहलाता था।<sup>८</sup> पिठर भी संघीत-बाध था। भाष्य में पिठर-बाधन को भी धिस्य कहा गया है। यह संभवतः कसि की बाली या बड़ा गोलकाकार बाली जैसा कांस्य-बाध था जो संघीत और नृत्य के साथ बजाया जाता था। आज भी प्रामों में निम्न श्रेणी के नृत्यों और गीतों के साथ पिठर का प्रयोग होता है। इसे बजानेवाले पैठरिक कहलाते थे।<sup>९</sup>

१ महाभारत, १-७१।

२ बुद्धचरित १-४५।

३ ४-४-५६, ५६, पृ० २८० तथा २-२-३४ पृ० ३८९।

४ वही।

५ ४-४-३४।

६ २-२-३४, पृ० ३८९।

७ २-२-३४, पृ० ३८९।

८ भेरीमाहृत्य कविर्वाहिसत्प्रियवानि यच्छति कविर्वाहिसत्प्रियवानि कविर्वाहिसत्प्रियवानि।—

१ १-७०, पृ० ४४५।

९ १-७० १-१४६ २ तथा अथर्व० ४-३७-४।

१० ४-४-५६।

११ ४-४-५६, पृ० २८०।

बेषु—इसाम से बजनेवाले बाघों में बेषु प्रमुख है।<sup>१</sup> बसु बंग (बसि) से बनता था। बास्य्यायन ने इसे बड़ा मनोमाहक बाघ कहा है।<sup>२</sup> नाप्य में बेषु के लिए मन्त्र गण्ड का प्रयोग मिलता है।<sup>३</sup>

तन्नु-बाघ—तन्नु-बाघों में बीषा प्रमुख थी। बास्य्यायन ने बीषा और इमरक का माघ बताया है, किन्तु माघ में इमरक का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार बास्य्यायन ने उरक<sup>४</sup> बाघ (अमरुदेव) का नाम माघ में नहीं मिलता। मनुवचन यह बाघ का अधिकार है। बीषा माघ का सर्वाधिक प्राकृतिक बाघ रहा है। इसे काशिकाकार ने बस्य्यायन प्रयोगा कहा है। बीषा के स्वर का निस्वम या निस्वारा कहल ये। बजानेवाले के लिए बास्य्य गण्ड का प्रयोग होता था। नाप्य में बीषाबाघ के लिए प्रत्ये परिवारक गण्ड का प्रयोग किया गया है।<sup>५</sup>

बादक—बादक स्थान युवाय बजान ध और बूमरा के द्वारा वैतनिक रूप में भी बुलाये जात थे। घाघ्यकार ने कहा है कि 'परिवारक में बीषा बजवाई गई।'<sup>६</sup> इसमें परिवारक का पर प्रथित होना स्पष्ट है। व्याकरण की दृष्टि में बसु धानु का प्रयोग निरुच्य (बजाना) में आग्नेये पद में ही होता था। इसी प्रकार नृत् धानु का निरुच्ये प्रयोग भी आग्नेयेपद में प्रचलित था। बादयने और लल्लयने क्रियाएँ केवल बजान और मन्त्रबान के अर्थ में व्यवहृत होती थी।<sup>७</sup> बजावि बजानि और मन्त्रबानबाता इन क्रियाओं को स्वमुखाय ही करवाता था।

बीषा-नहित संवीत अनशोम और बीषा-नहित उपवीत कहा जाता था।<sup>८</sup>

बादक-गिस्त्य—घाघ्यकार ने बास्य्य इला की रचना संवीत के ही अंतर्गत की है। उन्होंने मुरंग आदि के निर्माता और बास्य्य बाना का गिस्त्यी कहा है। इस विषय पर कर्ण करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मुरंग को गिस्त्य माना जाय तो कृत्ताक भी गिस्त्यी कहलायगा और उम ही मारुंगिक कहा जायगा क्योंकि बही मुरंग का निर्माण करता है। इतलिए, उनहोंने गिस्त्य के समान गिस्त्य<sup>९</sup> इस अर्थ में गिस्त्य गण्ड का प्रयोग मानकर बादक को भी गिस्त्यी स्वीकार किया है।

- १ १-२-१५, पृ० २१९।
- २ कामसूत्र, अधि० ७, अ० २, सू० ४३।
- ३ १-२-१५४ पृ० १९३।
- ४ १-२-५७, पृ० ३६६।
- ५ कामसूत्र, अधि० १, अ० ३, सू० १६।
- ६ वही।
- ७ १-३-६५ काशिका तथा १-२-५७, पृ० ३६६।
- ८ वही।
- ९ अश्विबसु बीषा परिवारकेन (कारितकन्तं प्रयोक्त्रिणान्) — १-२-५७, पृ० ३६६।
- १० वही।
- ११ १-३-८९ काशिका।
- १२ १-२-१८७।

जिस प्रकार मूर्धन्य आदि घनाता शिष्य है उसी प्रकार उन्हे बभाना भी शिष्य है। यह कहकर माप्यकार ने यह व्यक्त करना चाहा है कि जिस प्रकार वाद्य कुलाख की जीविका से साधन है उसी प्रकार उनका भावत भावक की जीविका का साधन है।<sup>१</sup>

**तूर्यादि वाद्य-शृङ्खला**—वादन-शिष्य का प्रयोग सामूहिक रूप में भी होता था। इसे तूर्य कहते थे।<sup>२</sup> तूर्य अनेक वाद्यों का समाहार था। पाणिनि ने तूर्याओं के द्रव्य के लिए एकवचन का विधान किया है। वाद्य अने ही अनेक हों। उन्होने तूर्याओं के वाद्य प्राथम्यं और सेनाओं के द्रव्य के लिए भी एकवचन का निर्देश किया है। जो वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। प्राची के विभिन्न जग पृथक् रहकर भी एक अवयवी से अर्थात् एक बनकर काम करते हैं। रोता के बंधों की भी वही स्थिति हाती है। वे पृथक् होकर भी एक होते हैं। इसी प्रकार, तूर्याय पृथक्-पृथक् ध्वनि उत्पन्न करते हुए भी परस्पर समन्वित एक स्वर, एक ताळ के द्वारा समुचित प्रमाण की सृष्टि करते हैं। पृथक् दिखाई देने पर भी तूर्य ग से एक हो जाते हैं। यत् उनके लिए एक वचन का प्रयोग उचित ही है। काशिका ने तूर्याओं के उदाहरणों में 'मार्दीक्यपाणविकम्' और 'बीणावाद्यपरिवाद्यम्' का उल्लेख किया है। माप्यकार ने बीणावाद्यक का परिवाद्यक कहा है, जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है। यदि यह मान लिया जाय तो काशिका का उक्त उदाहरण असंगत ठहरता है। पर, ऐसा नहीं है। बीजा का ही एक भेद विपची भी था। इसमें पाँच स्वरों की प्रधानता थी। विपची का दूसरा नाम परिवारिणी था और इसका भावक परिवारण कहलाता था। काशिका ने उदाहरण में बीजा और विपची के भेद की ओर संकेत है। माप्यकार ने इस मूकम अन्तर पर ध्यान न देकर दोनों के भावको से लिए भवक एक सामान्य सव्य-परिवाद्यक का ही प्रयोग कर दिया है। काशिकाकार ने अपने उदाहरणों में एक ही प्रकार के वाद्यों का समाहार दिखाया है। उसमें मार्दीक्य और पाणविक साध-साध हैं तथा बीणावाद्यक और परिवाद्यक। इससे इस सन्देश को स्वानुमिच्छता है कि वही एक ही कोटि के वाद्यों का सामूहिक भावत तो तूर्य नहीं कहलाता था। तूर्य एक स्वतन्त्र वाद्य भी था जो एक और उंची ताल से बैर तक बजाया जाता था। सामुहिक तुरही इसी का मयमंत्र रूप मान पड़ता है।

**ध्राम**—पुस्तकालिका ने ध्रामों की भी बर्णना की है। उनका अर्थ 'मयमंत्र' उदाहरण संगीत के विकास पर प्रकाश डालता है।<sup>३</sup> इससे यही पता चलता है कि इस काम के गायकों को स्वर ध्रामोह मयरोह धृति मूषणा ध्राम आदि की धात्रीय जानकारी थी। ध्राम स्वरों के सन्देश को कहते हैं। रत्नाकर ने कहा है कि जिस प्रकार सारे कुटुम्बी मिस्कर परिवार बनाते हैं उसी प्रकार स्वरों का सन्देश ध्राम कहा जाता है। ध्राम तीन है—यद्वा ध्राम मध्यम ध्राम और

१ कि मय्य मुरङ्ग शिष्य स मार्दीक्यः? किञ्चात्? मूक्यकारे प्राप्नोति। एव तर्ह्युत्तरात्परतोपौ द्रव्यम्। शिष्यमिष शिष्यम्। मुरङ्गे वादनं शिष्यस्य मार्दीक्यः पठितः, धीरविकः, पाणविकः—४-४-५५, पृ २८०।

२ २-४-२ पृ० ४६२ तथा वही, काशि०।

३ ११६३, पृ० ४१६।

गायनार नाम ।<sup>१</sup> निश्चित है कि यदि भाष्यकार को घामों की जानकारी थी, तो संगीत के अन्य अर्थों से भी परिचय रहा होगा। यह निष्कर्ष हमें इस परिणाम पर पहुँचने को बाध्य करता है कि भाष्यकार के समय में संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था और अनेक तांत्रिक शक्त प्रचलित हो चुके थे जो आज भी उन्हीं अर्थों में प्रचलित हैं।

संगीत-गोष्ठी—संगीत का इतना प्रचलन होने के बाद यह स्वाभाविक था कि समय-समय पर सांख्यिक या निजी संगीत-गोष्ठियाँ होती। ये गोष्ठियाँ प्रमद या समद कही जाती थीं।<sup>१</sup> प्रमद या समद प्रायः सार्वजनिक स्थानों जैसे देहालयों के प्रांगण आदि में होते थे। इनमें सारी रात नृत्य और गीत होते थे। प्रमद या समद की यह प्रथा रत्नमो के रूप में अभी तक चर्चमान है। ये रत्नमो पारिवारिक आनन्द प्रसवा पर भी होते हैं और धार्मिक पर्वों पर भी।

१ यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येवैवमूता भवन्ति हि ।

तथा स्वराणां सम्बोद्धो प्रांस इत्यभिधीयते ॥

पद्मपात्री भवेदासी मध्यमपाम एव च ।

गायनारपाम इत्येतद् प्रायश्चयमुदाहृतम् ॥—रत्नमो

२ ३ ३-६८।

## अध्याय ७

### नाट्य-नृत्य

नटों का आम्नाय—नटों के धर्म या आम्नाय का नाट्य कहते हैं। पाणिनि ने छन्दस्य मीमांसक याज्ञिक और बहुबुध के साथ नट का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> इन सबके अपने आम्नाय या कुल-ग्रन्थ थे। उदाहरणार्थ छन्दोगों का आम्नाय छान्दोग्य कहलाता था और बहुबुधों का बाहुबुध्य। इसी प्रकार नटों का आम्नाय नाट्य था। पाणिनि का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि ईसा-पूर्व ७०० से पहले भारत में न केवल नाट्य-कला का प्रचार था अपितु उसका वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रचलित हो चुका था और तबर्ष ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इन ग्रन्थों में दो के प्रणेताओं के नाम हमें विदित हैं। इनमें कृशास्व सर्वाधिक प्राचीन नाम पड़ते हैं। इनका नटसूत्र नट समाज में विशेष महत्त्व था और उसने अनुयायी 'कृशास्विन्' कहे जाते थे। यह शब्द केवल नटों और नाट्यसूत्र के सम्बन्ध में व्यवहृत होता था। कृशास्व-सम्बन्धी अन्य बातों को कार्यास्व कहते थे। कृशास्व के अनुयायी होने के कारण नटों का सामान्य नाम ही कृशास्वी पड़ गया था। इसी के साथ या इसके कुछ परचाय् एक दूसरे नटसूत्र का प्रणयन हुआ। इसके प्रणेता शिकामि थे। शिकामि के अनुयायी शैकास्विन् या शैकास कहे जाते थे। धीरे-धीरे शिकामि का सम्प्रदाय अधिक सम्मान पा गया और उनके अनुयायियों की उच्चा कार्यास्वों से अधिक हो गई। भरत के नाट्यशास्त्र के समय तक जाते-जाते कृशास्व-आका शिसुप्तप्राय हो गई। इसीलिए नाट्यशास्त्र में नटों के लिए शैकासक शब्द का व्यवहार मिलता है, कृशास्विन् का नहीं। पर्वजलि से भी परमेश्वर रूप से शैकासों का ही उल्लेख किया है।

नाट्यसूत्र—नाट्यसूत्र की प्रतिष्ठा वैदिक चरण के रूप में हुई थी। शिकामि के नट सूत्रों का निर्माण ऋग्वेद-काला के अन्तर्गत हुआ था। शिकामि शैकास ब्राह्मण के भी कर्त्ता बतलाये गये हैं।<sup>२</sup> इसी कारण नटसूत्रों को छान्दसत्व<sup>३</sup> प्राप्त हुआ।

नट—अभिनेता के लिए नट शब्द प्रचलित था। अभिनेत्रियाँ नटी कहलाती थीं। उनकी संज्ञा को 'नाटेर' कहते थे। इससे स्पष्ट है कि नटों की पृथक् देखी बन गई थी। नटियाँ नटों की ही पत्नियाँ होती थीं। पर्वजलि के समय तक नर्तकियों और नटियों का अन्तर स्पष्ट

१ ४-३-१२७, ऋचाऽऽर्माऽऽयपोस्तास्ताहृष्याऽऽमदाऽऽरादि धर्माऽऽययोरेव सवति, नवानां धर्म आम्नायो वा नाटयम् (काशिका)।

२ ४-३-१११।

३ गुणधरनया वा विदुलदसुत्रपोषध्वरत्वम्—४-३-११० काशिका।

४ ४-१-११४, पृ० १३८।

ही चुका या बिम्बु नटियों की प्रतिष्ठा समाज में कम हो गई थी। अभिनय का स्वर नी गिर रहा था। कोई भी नाटक नटियों में प्रमाणात् कर सकता था। भाष्यकार ने कहा है कि व्यञ्जन नटों की नायाओं का समाज हास है। जिन प्रकार नटों की पत्नियों के रङ्ग-स्पर्श में जाने पर शोच उनमें पृष्ठे हैं 'तुम किनका हा किमकी हो' तो वे हर पृष्ठेवाले से यही कह देती हैं 'तुम्हारा हूँ तुम्हारी हूँ। उर्ध्व प्रकार व्यञ्जन भी किम स्वर के कार्य के लिए कहा जाता है उसी के बत जाते हैं।' कामनूत्र में नटी के लिए ईक्षविका शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

नट और शास्त्ररस—नट का रस का अनुभव होता है या नहीं इस विषय को लेकर परवर्ती भाषायों का काका ऊहावाह किया है। कुछ भाषार्य नाट्य में आठ ही रस स्वीकार करते थे। वे शास्त्र रस का इमलिए नाट्य-शास्त्र मानते थे कि उनकी दृष्टि में शास्त्र बहुत कमसाध्य था और नट के लिए यह रस उपा सकता कमभव था। नरत न माने पूर्ववर्ती भाषायों के इस मत का उम्भव नाट्यशास्त्र में किया है। 'यदि नरत के इस कथन को पर्वत्रलिके उपरुक्त उद्धरण के सम्बन्ध में देखा जाता तो नटों के प्रति भाषायों की हीनाक्ष-कारणा का कारण स्पष्ट हो जाता है। फिर भी भाष्यकार ने नट का 'रसिक कहा है।' बान्नीजि के आशय में प्रमुक्त होमेवाला नाट्य भागि बरकर इनीलिए अमणों और परिवाराकों के लिए वरित मान लिया गया।

संगीत भी नाट्य का एक अंग था। प्रसगानुमार नाट्य का बीज म संगीत का भी प्रयोग होता था। इमलिए, नर संगीत का भी अभ्यास करते थे। वे बड़े बड़े बाल रखते थे। संभव है, महात्माओं सामुओं आदि की नूमिका के लिए कुछ नट दाड़ी-भूँछ भी रखते हों।'

भ्रुंभुस—बनी-कभी स्त्री-गायों की कमी पड़ जाती थी तो पुरय ही स्त्री का भी अभिनय कर लेते थे। म्मियां पुरुषों की नूमिका ग्रहा करती थी या नहीं इसका कोई सवेत माप्य में नहीं मिलता। स्त्री की नूमिका ग्रहा करनेवाले नट 'भ्रुंभुस कहलाते थे। ये लोग नारी का रूप ग्रहन करने के लिए कृत्रिम कया और स्तन बताने थे। पर्वत्रलि ने विगभद पर विचार करते हुए पांका उपमिषत की है कि यदि स्तनवेगबता नारी वाड़ी-भूँछवाले लोमसा को पुरय और इन दोनों के चिह्नों से रहित व्यक्ति को मपुंभव मान लिया जाय तो भ्रुंभुस को भी स्त्री मानना पड़गा क्योंकि स्तन और कया तो उनके भी होते हैं। और, भ्रुंभुस को स्त्रीरूप मानने से उसके

१ व्यञ्जनानि पुनरदभार्याब्दं जवन्ति। तद्यथा—नटानां त्रिषो रङ्गज्ञता यो य पृष्ठति कस्य पूर्णं कस्य मूर्धनि तं तं तत्र तवेत्पाट्—६१२, पृ० १३।

२ शास्त्रस्य अमताप्यन्वामः च तदमम्यवान्।

अष्टावेव रसा नाट्य इति केचिदबुचुवम् ॥—नाट्यशास्त्र

३ ५२-९५, पृ० ४२१।

४ अयातोपट्—२४७७ पृ० ५०८।

५ सबवेगी नटः—२१६९, पृ० ३२३।

६ स्तनवेगावनी नारी लोमसाः पुरय पुमान्।

उमपोरुत्तरं यत् तदभावे मपुंसवम् ॥—बही, पृ० १६।



भाग स्त्रीत्वबोधक टापू प्रत्यय होने लगेगा। इसलिये, पुस्मिन्नाधि की यह परिभाषा सूचित है।<sup>१</sup> भाष्यकार का उक्त कथन पुरुषों द्वारा स्त्री-भावो का अभिनय किये जाने की ओर ही संकेत करता है। स्त्रियो द्वारा पुरुषों की भूमिका ग्रहण किये जाने की ओर नहीं।

आरम्भक और प्रन्धिक—नट जिस स्थान पर अभिनय करते थे, वह स्थान रंगस्थल कहलाता था। संक्षेप में उसे रंग कहते थे। 'रास-मन्त्रिकियों ने आज भी इस शब्द को जीवित रखा है। यद्यपि अब में थोड़ा सा अन्तर हो गया है। ये रंगघासाएँ सार्वजनिक सभा या प्रबचन के भी काम आती थीं। इनमें एक बेदी तथा धोताओं के बैठने का स्थान होता था। नट और प्रन्धिक बेदी पर अभिनय और प्रबचन करते थे। भाष्यकार ने श्रोताओं या दर्शकों के लिए, जो नाट्य-श्रयोय के प्रेरक होते थे और बिनके पहुँचने पर प्रबचन या अभिनय आरम्भ किया जाता था 'आरम्भक'<sup>२</sup> शब्द का प्रयोग किया है। अभिनय के साथ एक व्यक्ति कथा-प्रसर्गों को जोड़ता जाता था। वहाँ कथावस्तु सबादों द्वारा सुस्पष्ट नहीं ही पाली थी वहाँ एक व्यक्ति 'वाक्य' के रूप में पुस्तक से आवश्यक बस पढ़ देता था। इस व्यक्ति को प्रन्धिक कहते थे। वस्तुतः प्रन्धि (वाक्यप्रन्धि) वे सम्बद्ध होने के कारण ही ये लोग प्रन्धिक कहे जाते थे। नट और प्रन्धिक दोनों पृथक् व्यवसायों के व्यक्ति होते थे। नाटक में कथापाठ करनेवालों को प्रन्धिक नहीं कहते थे। नट कभी-कभी अकेला ही अभिनय के साथ संवाद-रूपक उपस्थित करता था। 'नट का मुनता है प्रन्धिक को मुनता है' ये उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं। प्रन्धिक शब्द प्रन्धि से बना है। कुछ विद्वानों ने शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़कर भ्रान्ति की है। भाष्य ने नट और प्रन्धिक के संगीत या प्रबचन सुनने तथा गुरुमुख से पाठ सुनने में भेद किया है। प्रथम यथा-कथा और द्वितीय नियमपूर्वक होता है, जिससे लिए भाष्यकार ने उपयोग शब्द का व्यवहार किया है। उपयोग (नियमपूर्वक) की स्थिति में भाष्य से पड़ता है 'भाष्य से मुनता है' ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता था और नट या प्रन्धिक से यथा-कथा सुनने के लिए 'नट को मुनता है प्रन्धिक को मुनता है। ये वाक्य प्रमुक्त होते थे। डॉ० वा० स० अन्नवाल ने 'आरम्भक' का वर्ष समझने में भ्रान्ति की है। 'कम्प', उस सम्पूर्ण प्रसंग से निकाले हुए उक्त निष्कर्ष भ्रान्त हो गये हैं।<sup>३</sup>

१ लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोश्च सति भ्रुकुस्ति टाप्याप्नोति। धदि लोके बुद्ध्वैतद्वचसीत्ये इयं स्त्रीत्यस्ति तपु भ्रुकुस्ति।—४-१३ पृ० १७।

२ नटस्य भ्रुकुस्ति प्रनियकस्य भ्रुकुस्ति। उपयोग इत्युभयमात्रेऽप्यत्र प्राप्नोति। एवोऽपि ह्युपयोग। भातराशोपयोयो यशारम्भकय रङ्गं गच्छन्ति नटस्य श्रोत्यादी प्रन्धिकस्य श्रोत्याम इति। एवं तद्गुपयोय इत्युभ्यते सार्वभोपयोयस्तत्र प्रकर्षपतिविज्ञास्यते। सात्रीयो य उपयोग इति। कथं सात्रीय? यो प्रन्धार्ययोः। अरबोपयोयः को भवितुमर्हति। यो नियमपूर्वकः तत्तथा। उपमुनता यावदका इत्युभ्यते य एते नियमपूर्वकनपीतवन्तो मवन्ति।—१४२९, पृ० १९५।

३ इण्डिया एज नोक दु पाणिनि, पृ० ११९।

घोमनिक—मट और घनिक के साथ भाष्यकार ने घोमनिक का भी उल्लेख किया है। 'घोमनिक मट की ही कहते थे। हो सकता है पात्रानुकूल बचानुपा धारण किए मुझानु सप्त-मुक्त मट को घोमनिक कहते हों।' पात्र राखण या कंस का अभिनय करते समय मूँह पर एक अनुलेप करते थे और रामादि क पक्ष का अभिनय करते समय दूसरा। पात्रानुकूल का प्रसामन नाट्य के व्यापक प्रचार और पुरातन परम्परा का परिचायक है।

रंगमंच—भाष्यकार ने कसबब और बलिबन्ध नाटकों की बर्षा की है। 'य रातों मच पर लज जाते य। रंगमंच पत्रजलि क समय में लुब विकसित हो चुके थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह विकास किना सीमा तक पहुँच गया या पर इतना अक्षय है कि मच पुत्र बब आदि के बड़े दृश्यों को प्रदर्शित करने क लिए पर्याप्त होता था। अतीत की घटनाओं का वर्णन करने में वर्तमान काल के प्रयोग पर टीका करते हुए भाष्यकार न प्रश्न किया है कि बस का मरबाठा है या बलि को बँधबाठा है' जैम प्रयोगों में जहाँ घटना को बटित हुए पर्याप्त समय की मरबाठा है वर्तमान काल का प्रयोग कर्तविक उपयुक्त है? इस प्रश्न का उत्तर दत्त हुए उल्लेख कहा है, 'मट शेष प्रत्यक्ष ही कंस का मरबाठे है या बलि को बँधबाठे है। बिना म मी प्रहारात्म उठाये हुए हाथ और कंस-कर्मण आदि क्रियाएँ उर्णा हैं। उनक लिए मी वर्तमान काल का प्रयोग उचित है। उरु घनिक साथ वे मी प्रारम्भ से मृत्यु तक उनकी श्रुति का वर्णन करते हुए बुद्धि में उन विषयों को प्रकाशित करते हैं। भावा साग मन म उन विषय की कल्पना करते जाते हैं। उनक मन घटनाओं क साथ ठकाकार बनते जाते हैं। इसीलिए, रगक या शोभा मित्र-मित्र मठ के मी शिक्षाई पढ़ते हैं। कोई कंसपक्षीय हागा है और कोई हृष्यपक्षीय। वे अपने प्रिय पात्र की विजय देखकर प्रसन्न होते हैं और पराजय देखकर दुःखी। कमी उनका मूँह सास होता है और कमी म्याह पड जाता है। इसीलिए, मानसिक कल्पना के आपार पर अतीत की घटनाओं क लिए तीनों कायों का प्रयोग दया जाता है। जदाहरणार्थ 'कंस कबा गुनमे—आज कंस मारा जा रहा है या कंस मारा जायगा। अपना एक जाकर क्या करेये कंस तो मर ही गया' काय प्रतिदिन व्यवहार में आते हैं।'

- १ ये तावरेते घोमनिका नार्थते प्रत्यक्ष कंस घातयन्ति।—३-१ २६ पु० ७८।
- २ बहो।
- ३ इह तु क्यं वस्तुमानकालता कंसं घातयन्ति बलि बधयन्तीति विद्यते इति विवरणं च बली।—३ १ २६, पु० ७८।

४ ये तावरेते घोमनिका नार्थते प्रत्यक्ष कंसं घातयन्ति प्रत्यक्ष च बलि बन्धयन्ति। बिनेतु कबम्? बिनेतुपुत्रुर्णा निपतिताराच प्रहारा बुरपन्ते कंसकयप्यन्च। उन्निरेतु क्यं यत्र दारपयन्नात्रं लयते? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याचिनासात् श्रुदौर्घ्याचलाचः सतो बुद्धि विवयान् प्रकाशयन्ति। आलाच सतो ध्यायिष्या हि दृश्यन्ते। केचित्समभवात् अन्वति केचिद्वचमु हेवमन्तः। बर्षावत्वं परत्रयि पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुद्रा अन्वति केचिन् कातमुत्तः। ब्रह्मस्य तन्वपिलोके लयत। मच्छ ह्येते बन्ग मच्छ घानिष्यन्ते बन्ग। टि पनेत्र हते कंस इति।— ३ १-२६, पु० ७८, ७९।

**कथा-प्रबन्धन**—उपर्युक्त उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि नाट्य क कथा ही कथा-वाचन की कला भी ब्रह्म उन्नत हो चुकी थी। शेष रात रात भर ये कथाएँ सुनते रहते थे। हमारे पास इस बात के प्रमाण है कि नाटकों की कथावस्तु के मुख्य आधार रामायण महाभारत तथा प्राचीन पौराणिक आख्यायिकाएँ हैं। कथावाचक भी इन्हीं आख्यायिकाओं के उच्चारण तथा विभिन्न भाव-भावों-सहित सुनाया करते थे। भावामिव्यक्ति के मुख्य सहायक होते थे—गुलमूत्रा और हस्ताविचारण। वर्तमान 'मरठनाट्यम्' के समान सगीत और संवादों के साथ पृथक् स्वतन्त्र अभिनय भी बीरे-बीरे प्रचलित हो गया। पर पतञ्जलि के समय में आख्यायिका-वाचन और अभिनय-कला दोनों स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म प्रचलित और उन्नत हो चुके थे।<sup>१</sup> ये मगोरजन के प्रमुख साधन थे। इनमें नटों की एक स्वतन्त्र जाति या यैवी बत चुकी थी। नटों के लिए 'सोमनक' शब्द का प्रयोग केवल पतञ्जलि ने ही किया है।

**नाट्यस्मरण**—उपर्युक्त उद्धरण रंगमंच के अतिरिक्त नाटक में व्यापक होनेवाले पदों के विषय में भी जानकारी प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र में नितियों पर तथा रंगमंच में पदों पर आलेखन करने की प्रथा थी। जो नाटक विद्यायें चाते थे उन्हीं के महत्त्वपूर्ण अंश पदों पर चिह्नित किये जाते थे। ये पदों कपड़े के ही रहते होंगे। इससे बहूँ एक ओर जवनिका के प्रयोग पर प्रकाश पड़ता है बहूँ दूसरी ओर चित्रकला के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। निति आलेखन की प्रथा भारत में यों भी बहुत पुरानी है। प्राचीन साहित्य में भी नितियों पर महत्त्वपूर्ण जीवन-माथाएँ चिह्नित करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

**गान्धी**—नाटक के अंशों में गान्धी का भी उल्लेख मिलता है। गान्धी गानेवाला गान्धि कार कहा जाता था।<sup>२</sup>

## नृत्य

**नृत्य का अर्थ**—भाष्य में संगीत और वाद्य के साथ नृत्य के विषय में भी कुछ संकेत मिलते हैं।<sup>३</sup> नृत्य वाद्य के समान भिन्न नहीं था। उसकी गणना सगीत के समान कलाओं में होती थी। कला शब्द का प्रयोग पतञ्जलि ने स्त्री क सम्बन्ध में ही किया है।<sup>४</sup> हो सकता है इस युग में कला किरिया की बन्धु समझी जाती हो। नृत्य शब्द नृत् पातु से बना है जिसका अर्थ है गान्धिसेप। इसलिये, मानव के समान पशु-पक्षियों के नर्तन क लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। भाष्यकार न बार बार मयूर के नृत्य का उल्लेख किया है और कहा है

१ जिनेवु कथम्? जिनेध्वप्युदपूर्वनिपतितारण प्रहारा बुधन्ते कर्तार्यक्यश्च पन्थिक्य कर्ष वन शरदाङ्गान्कथयते? तैःपि हि तैवानुत्पतिप्रभृत्स्याजिनाराद् अट्टीभ्याञ्जनाः सन्। बुद्धिबिषयान् प्रकाशयन्ति।—३ १ २६, पृ० ७८-७९।

२ ३-२-२१।

३ १ ३-८।

४ मनुब्रह्मणाः कलाः सन्ति, न सन्तीति।—७-१-७४ पृ ७०।

दि बहू प्रिया का सख्य कर मावता है।<sup>१</sup> नृत्य हर्षातिरेक की प्रतिक्रिया है। पत्रजलि में नृत्य में पुरुषों के भी भाग सन का उल्लेख किया है।<sup>२</sup>

नत्तली—माचनबाजे को नर्तक और नत्तली कहते थे। नपुंस्य के अनुसार इनकी भनियां हानी थीं। इसीलिए मर्त्सजिका नत्तकितरा और नत्तकितमा शब्दा का प्रयोग उनके लिए मिलता है।<sup>३</sup> नृत्यक्रिया के लिए 'नृत्यति' का प्रयोग होता था किन्तु प्ररपायक नृत् पात्रु मया भ्रातमनप' में प्रयुक्त हानी थी।

अप्यरा और पणिका—गीत-नृत्य में निपुण नारिया का एक रूप था। वे नारियां अप्यरा कही जाती थीं। नाट्यशास्त्र में भी नाट्य की सफलता के लिए बह्यां भाग अप्यराभा के भेजे जान का उल्लेख है। कौशिकी कृति का प्रयोग उन्हीं पर निर्भर था। महाभाष्य के अनुसार उर्बंगी इस कलाकार-रूप में सर्वाधिक सुखरी थी।<sup>४</sup> पीरे-पीरे अप्यराभा की स्वतन्त्र दायी बन गई और वे सारे समाज की बस्तु मानी जाने लगीं। जब नगरों का विकास हुआ और जब गणों का संगठन हुआ तब नर्तकी सारे गण की सम्मिलित संपत्ति समझी जाने लगीं। य गण या ठा नागरक जम-ममबाय के रूप में य या राजनीतिक सत्ता के रूप में। गण की सम्पत्ति होने के कारण नत्तकी पणिका कही जाने लगीं। लिखित-गण की आश्रयाली या अम्बपापी नामक पणिका सुप्रसिद्ध ही है। उसकी कला का रमास्वादन करने का अधिकार सम्पूर्ण गण को था। ईसा-समू के प्रारम्भ में पणिकामों का बड़ा सम्मान था। बहू सुप्रसिद्ध और संस्कृत नारी का प्रतीक थी। यद्यपि मनु न गण और पणिका दोनों का भोजन ब्राह्मण के लिए श्याज्य बतलाया है और विषयग कलाकरी ही 'पणिका'-सम्बोधन की अधिकारिणी बन पायी थी। वास्त्यापन के अनुसार शास्त्र-ग्रहण-मुक्ति तथा दोनो (काम और कर्म) प्रकार की शौमठ कलाओं में निपुण पणिका ही जयमना में सम्मान पाने की अधिकारिणी हो सकती थी। (कलितवितर में गुडोपन द्वारा अपने पुत्र विद्यार्थ के लिए ऐसी पत्नी लोते जाने की चर्चा है जो पणिका-नी पास्त्रस और कलामयी हो।)<sup>५</sup> मरठ में पणिकामो को अत्यन्त सम्मान्य माना है और उनके लिए उच्च पोष्यार्थें निर्धारित की हैं। उन्हींने नाटकों में अल्प नारी-पात्रों को प्राहण बोलने की आज्ञा दी है किन्तु पणिका को सङ्घट में सम्भाषण करने की अनुमति प्रदान की है।<sup>६</sup>

१ २३ ६७ पृ० ४५३ तथा प्रियां मयूः प्रतियत्तसीति।—७-३-८७ पृ० २१२।  
 २ यद्वत् नरवर नत्तलीपि हृष्टः—वही।  
 ३ ६३ ४२, प० ३२९।  
 ४ १३-८९।

५ उर्बंगी वी कविच्यपतरसाम्।—५-२ १५, पृ० ४११।  
 ६ कामयूष अथि० १ अ० ३ पृ० २०-२१।  
 ७ कलितवितर, १२ १३९।  
 ८ नाट्यशास्त्र २४ १०९ से ११३।  
 ९ वही १७-३७ ३८।

महाब्रह्म में बैशाखी की गणिका मन्वपात्री के बीनब और प्रतिष्ठा का प्रभावघाती वर्णन है।<sup>१</sup> उसकी सामाजिक स्थिति का अनुमान साधारण सामाजिक अपराधियों एवं तपुसकों को संघ से बहिष्कृत मानने वाले मयवान् बुद्ध द्वारा उसके स्वीकार से लगाया जा सकता है। पतञ्जलि के समय में गणिका-संस्था प्रभावशालिनी थी और उनकी संख्या इतनी थी कि उनका संघ बन सक। गणिकार्यों के संघ के लिए एक स्वतन्त्र शब्द 'पानिक्य' प्रचलित हो गया था।<sup>२</sup> गणिकार्यों की यह उन्नति पानिनि के बाद और पतञ्जलि-युग के कुछ पूर्व हुई जान पड़ती है, क्योंकि न ता पानिनि और न कात्यायन ने ही इस शब्द से अभिज्ञता प्रकट की है। पतञ्जलि को एतदर्थं पूबह् वाचिक का निर्माण करना पड़ा है।

१ महाब्रह्म ६ ३० तथा ८ १।

२ पानिक्याऽवेति ब्रह्मस्यम् ।—४ २-४०, सू० १७९।

स्रण्ड ७

धार्मिक विश्वास, कृत्य और विचार



## अध्याय ८

### वेधता

इन्द्र—महाभाष्यकासीन संस्कृति क यज्ञ प्रधान होने क कारण उसमे उत्तर बहिरकामीन देवताओं का बनेक बार उल्लेख हुआ है। वैदिक साहित्य के समान ही महाभाष्य मे भी इन्द्र और अग्नि का प्राधान्य है। इन्द्र के समी प्रसिद्ध नाम जैसे षष्क पुच्छूष बृहस्प 'मघवन्' हरिबन् ' पुग्न्दर' और महेंद्र' भाष्य में मिलते हैं। इनमे कही यज्ञार्थ इन्द्र का आवाहन है' और उससे मयूररोमा अमग्न अदसो पर बैठकर आने की प्रार्थना की गई है" (मह भाष्य आग्नेद ३-४५ १ से उद्धृत है)। कहीं उसे भी जानेबासी बलि या हवि के प्रसंग में जिसका नाम उसी के आधार पर रखा जाया जा, उसकी चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ ऐन्द्र हवि या माहन्द्र महेंद्रिय मा महेंद्रीय हवि उसका स्मरण करती है। 'पुर का विदारण करने के कारण इन्द्र का नाम पुग्न्दर बतलाया गया है।' एक स्थान पर उसे बृहदा का आचरण करनेवाका कहा गया है।" भाष्य म एक छोटा सा उपाख्यान भी आया है कि इन्द्र म प्रसन्न होकर एक बृद्ध कुमाटी से बर माँगने क लिए कहा। सी जवने बर माँगा कि मेरे पुत्र बलि के बटोरे म लूक भी-बूब-यिस्ता भात लायें। किन्तु उसके पति ही नहीं था पुत्र कहाँ से होयें? न पाप थी और न पाप्य। फिर उसन एव ही भाष्य से पति पुत्र गायें, पाप्य सब कुछ माँग लिया।"

अग्नि—इन्द्र के समान ही अग्नि का नाम भी अनेक बार आया है। बीमे भाष्य में अग्नि का स्थान इन्द्र से बड़ा है। भाष्य में कहा गया है कि प्रथम विजय अग्नि ने प्राप्त की इन्द्र उसके बाद

१ ११ ३९, पृ० २४८।

२ १-२-३९, पृ० ५४१।

३ १२ ३९, पृ० ५१०।

४ ३-२-४१।

५ ४-२-२९।

६ अमर्षीन्द्रहरिभिर्वाहि मयूररोमभिः।—२९ १८, पृ० ३४९।

७ वही।

८-९ ६ ३ ६९।

१० ६४ १३, पृ० ३७८।

११ बृहकुमाटीग्रेषीस्ता बरं बृमीष्व। सा बरमबृमीत। पुत्रा मे बठुपुतरीरमोरनं कस्यपाप्यां भूमवीरमिति। न च तावदस्या' बलिर्भवति कुत' पुत्रा' कुनो ताव' कुतो पाप्यम्। तत्रानर्षीयेन वार्षेयं बलि' पुत्रा पापो पाप्यमिति तर्बं संगृहीतं मवति।—८-२ ३ ५० ३१७।



भाव्य की इस विचारणा से यह भी पता चलता है कि प्रजापति सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति माना जाता था। 'अपोनपाद् अपानपाद् का संश्लेष भी अपोनपातेऽनुबुद्धि अपानपातेऽनुबुद्धि' ही होता था और उन्हें ही आनेवासी हवि अपोमप्यि और अपानप्यि कही जाती थी।'

**वेधपतिगर्भा**—उपर्युक्त वेधतामों में कुछ की पत्नियों और उन्हें हविष् अर्पित करने की प्रथा का भी भाव्य से पता चलता है। इनमें अग्नि की पत्नी अग्नायी इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी मूष की पत्नी मूर्या प्रमुक्ष हैं। सूर्य की मातृकी पत्नी सूर्यी कहलाती थी।' भाव्य में पञ्चनेत्र बसेन्द्र पञ्चाम्नि और बधाम्नि का उल्लेख है, जिनके वेधता पाँच और इस इन्द्राणी एवं अग्नायी हैं। पाणिनि ने इन्द्राणी बधाम्नी मवान्नी सर्वाणी खदाणी मूषानी' एवं बृषाहृषिकी पत्नी बृषा कृषायी' का उल्लेख किया है। भाव्य ने इनकी पूजा की स्पष्ट बर्णन नहीं की है, तो भी अग्नायी और इन्द्राणी के समान इनकी भी पूजा हुईती होगी इसका संरम्भता से अनुमान किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अग्न्य स्वतन्त्र स्त्री-वेधतामों में वीरी संरस्वती लक्ष्मी 'यमी' प्रमुख हैं। संरस्वती के अग्र नामों में अघ्न्या देवी इडा विह्व्या और काष्म्या भी मिलते हैं।' अम्बाळा, अम्बाळा अम्बिका शब्द आने बसकर वीरी के पर्याय बन गये। संरस्वती की प्रसन्नता के लिए संरम्बती इष्टि की जाती थी। लक्ष्मी को मन्ना भी कहा है। लक्ष्मी का यह स्वरूप पौराणिक लक्ष्मी के समान ही है। संरस्वती लक्ष्मी और वीरी का यह त्रिक पौराणिक युग में बहुत प्रतिष्ठित हुआ।'

**वेधयुग्म**—कुछ वेधतामों का निर्दोस युग्म रूप में मिलता है। इनमें इन्द्राणी' अग्नी पोम "' मित्राचरुन "' अग्निविष्णु "' ब्रह्मप्रजापति सिध-वैश्वानर "' स्कन्दविष्ठाक्ष क्षमिबंदन"'

- १ ४२-३५, पृ० १७४।
- २ ४-२ २७, पृ० १७४।
- ३ ४१४८, पृ० १३।
- ४ ११-५८, पृ० ३८०।
- ५ ४१४९।
- ६ ४-१ ३७।
- ७ १११९, पृ० १८९।
- ८ मा० १, पृ० ९।
- ९ मा० १, पृ० ८।
- १० ६११०७, पृ० १६४।
- ११ ८१-७, पृ० ३०८।
- १२ ७-३-१०७, पृ० २१५।
- १३ ५१-५९, पृ० ३३२।
- १४ ६३४२, पृ० ३२८।
- १५ ३-२-१७१, पृ० २७८।
- १६ ६३२८, पृ० ३११।
- १७ ६३२६, पृ० ३१०।
- १८ ६३-४२, पृ० ३२८।

अग्निबायू' बायुबदन' प्रमुख हैं। इनमें ब्रह्मज्वालापती मित्रवीरमण और स्कन्दविनायक वैदिक कुम्भ नहीं हैं। बदालर काल में इन युग्मों की पूजा प्रचलित हो गई थी। इसलिए, ये देवता-द्वन्द्व नहीं मान जाते थे। प्राप्यकारक मत से वेद में महाबाय-निर्दिष्ट देवता ही इन्द्र माने जा सकते थे। अग्निबायू आदि वेद में महाबाय-निर्दिष्ट हैं किन्तु वे नहीं हैं।' अग्निविष्णु का द्वन्द्व भी पाणिनि के बाद ही बना जान पड़ता है। पाणिनि में उनका उल्लेख नहीं है किन्तु वासिष्ठ कृष्णर की दृष्टि उन और गई है। उनके समय में आम्नादीप्यत्र ऋष का निर्वाण होना था। अग्निबायुषी अग्निकाही के आत्ममन की चर्चा प्राप्य में अनेक बार आई है।' इसी प्रकार मित्रावरुण के लिए यज्ञ करण का बार-बार निर्देश हुआ है।' इन्द्राग्नि के लिए एवदरावपात ऋष के निर्वाण का निर्देश है और अग्निमरुतों के लिए अग्निकाही के आत्ममन का।

पाणिनि ने इनके अतिरिक्त इन्द्रावरुण' का और काणिकाहार ने इन्द्राग्नाम इन्द्रा बहुस्वामी' इन्द्राग्नी इन्द्रबायू और गृकामन्विनी का उल्लेख किया है।"

जलज-द्वैतता—इन समय जलजों को भी देवताओं में मान लिया गया था और माय गुरु बहुस्वयति प्रोष्ठपदा और अग्निविष्णु के लिए स्वाधीपाक और हविष्य दी जाती थी। पाणिनि ने गुरुविष्णु हवि का संकट किया है।" प्राप्य में बाह्यपय हविष्य का बार-बार उल्लेख हुआ है।' तथा अग्निविष्णु गुरुतों के अग्निविष्णु स्थायीराक का भी निर्देश मिलता है।' सोम में आगा की गई है कि वह अनुष्ठान प्रधान ऋष माता-पिता के लोक तक पहुँचायेगा।"

नामाय " बाण्टोपठि, गुरुमेव साधानुविधी गुनामी" मरुत्वा' आदि कुछ द्वैतताओं

- १ १-१-२६, पृ० ३१०।
- २ १-१-४२, पृ० ३२८।
- ३ १-२-२६, पृ० ३१०।
- ४ १-२-२६, पृ० ३१० तथा १-१-२८, पृ० ३११।
- ५ १-१-४२, पृ० ३२८।
- ६ १-१-१०८, पृ० १६४ तथा १-१-१२, पृ० ३५।
- ७ ७-१-२१ का०।
- ८ वही।
- ९ ७-१-२३।
- १० १-२-१४१ का०।
- ११ १-२-१४२।
- १२ ४-२-२६।
- १३ ४-१-८५, पृ० ९६।
- १४ ५-१-११८, पृ० ४८१।
- १५ ६-१-३३ पृ० ३११।
- १६ ६-१-७५।
- १७ ४-२-३२।

के नाम पाणिनि-मूर्तों में संवृहीत हैं, बशपि भाष्य में उनपर कोई मत प्रकट नहीं किया है। नासत्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। वास्तोस्पति की प्रार्थना ऋग्वेद (८-५४-५५) में भी मिलती है।

इस समय बामु ऋषु, पिठर, उपसु तथा अन्य काक्यापी सभ्य नी देवताओं की कोटि में जा चुके थे।<sup>१</sup> कालेभ्यो यदवत् (४-२-३४) श्रुत पर पतञ्जलि की सविस्तर व्याख्या इस बात की परिष्पायक है कि कलिदेव की भी पूजा होती थी और तदर्थ यह को कालेय कहते थे (४-२-७, भा० १ पृ० १९९) तथा उनके समय में भी पाणिनि-कास के समान इन सबकी पूजा प्रचलित थी। यो भी स्वाधीपाक की देवता बतलाई गई है।<sup>२</sup> और उस स्वाधीपाक को गम्य कहा है।

उपास्य ईक्षता—महादेव सभ्य महान् देवता और देवता विशेष दोनों अर्थों में आया है।<sup>३</sup> वैश्वदेव की पूजा पतञ्जलि-कास से बहुत बढ़ गई थी। पिशाचकी नाम का अब स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। भाष्यकार से उन्हें पिशाचकी कहा है। कुबेर, ब्रह्मपति आदि उनके अन्य नाम थे। यज्ञ से तो अंध प्राप्त होता ही था। उनके मन्दिर भी थे।<sup>४</sup> इण्ड बामुदेव और कुबेर के मन्दिरों में सामूहिक नृत्य गान बास आदि होते थे। उनके ध्यान और उत्थान का विवरण भाष्य में मिलता है, जो राशि एक प्रमात देवा में उनके मन्दिर के द्वार बन्द होमे और नुमने का घोटक है।<sup>५</sup> इस प्रकार मन्दिरों में देवताओं के ध्यान और उत्थान के समय भारती पूजा की प्रथा बहुत पुरानी है। इण्ड और ब्रह्मराम के मन्दिर भी इस युग में थे और वे देवता की कोटि को पहुँच चुके थे। इण्ड का दूसरा नाम गोविन्द व्यक्तिवाचक संज्ञा बन चुका था। भाष्य में किसी लोको का अर्थात् उपभूत किया गया है, जिसमें संकर्षण के साथ इण्ड का बस बढ़ने की कामना की गई है।<sup>६</sup> महाराज के समान इण्ड की भक्ति का प्रकार इस युग में हो गया था।<sup>७</sup> तिस स्कन्द विद्याका की पूजा तो बहुप्रचलित थी।<sup>८</sup>

असपति—अन्नपति को अन्नपु भी कहा गया है। सम्भव है, मुनासीर का यह दूसरा

१ ४-२-३१, ४-२-३४।

२ ४-१-८५, पृ० ९५।

३ भा० १, पृ० ६ तथा ६-१-१३, पृ० ८६।

४ ५-१-२२९, पृ० ४२२।

५ २-२-३४, पृ० ३८९।

६ ३-१-१३३, पृ० १९७।

७ ४-३-९८, पृ० २४५।

८ ३-१-१३८, पृ० १९८।

९ २-२-२४, पृ० ३९९।

१० ४-३-९७, तथा ३-१-२६, पृ० १७५।

११ ५-३-९९, पृ० ४७९।

नाम ही। अन्नपति स्वतन्त्र देवता भी हो सकता है।<sup>१</sup> अन्नपति वैदिक देवता है। काल का वर्णन भी देवता के रूप में ही भाष्य में किया गया है। इसमें सम्बद्ध कारिका नरु ही भाष्यकार की न हो पर इसमें उनकी धारणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मत से काल भूर्त्तों का पचन करता है और वही प्रजाओं का संहार करता है।<sup>२</sup> इस प्रकार, काष्ठ वैदिक यम का ही रूप नाम है। तिलिम्प्यों का भी भाष्य में सब कहा है।<sup>३</sup> मानिपर बिलियम्म के अनुसार वे मर्त्तों का एक दस्ता (Troop) थे। तैत्ति० सं० और अथर्ववेद में भी इन्हें दिव्य अग्निदेव के रूप में स्वीकार किया है। भाष्य में 'श्राद्धपास्वसा देवा (७-११ वा० १ पृ० १७१) भी बर्णित है, जो शैत्य-पूजा के परिवाराक है। पंचमूर्तिपुत्र और तार्क्ष्यिक्य को श्राद्धिककार के समान भाष्यकार ने भी देवता माना है। ये कौन थे और इनका स्वरूप क्या था निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

देवाहुर—देवा और अमुरों और राक्षसा एव अमुरों का निरन्तर वैर रहता था।<sup>४</sup> राक्षसाहुर-वैर का बाध सर्वथा नहीं जान पड़ती है। देवों के प्रिय या दुःखपूर्वक कामों को समान में सम्मान को दृष्टि में रखा जाना था।<sup>५</sup> देवताओं को पूजा को देवदेवत्व और पितरों के श्राद्ध का पितृदत्तत्व कहते थे। अतिमानवीय योमियाँ देव और पितरों में विभक्त थीं। देव और पितर दोनों पूजक यानि के प्राणी मान जात थे। आश्रित्य देवताओं को समान सजा थी, पर भाष्यकार ने देवा और आश्रित्या में भेद निम्नपिन किया है।<sup>६</sup> देव इन्द्रपत्नीय और आश्रित्य मूषपत्नीय माना जाता था। भाष्य में इनके अतिरिक्त नागमाना कद्रु,<sup>७</sup> तथा शक्तिरा म शक्तिनी कुम्भसिनी<sup>८</sup> तथा अर्ध-देवता कपि मरुत सिंह के नाम आये हैं।<sup>९</sup> अन्तिम तीनों प्यत्राक थे।

सामान्य विद्वानों का कि प्रमत्त देवता प्रिय' करते हैं। उनकी स्तुति स्ताठा को वीर्य प्रदान करती है।<sup>१०</sup>

- १ ३-२-१, पृ० २०५।
- २ ३ ३ १६७, पृ० ३३९।
- ३ ३ १ १३८, पृ० १९८।
- ४ ४-५-२८, पृ० १७५।
- ५ ४ ३ १२५, पृ० २५३।
- ६ ५ ३ १४ पृ० ४३२।
- ७ ५ ४ २४, पृ० ४७९।
- ८ ५ ४ ४८, कारिका।
- ९ ५-४ ४८, वा०।
- १० ४ १-७१, पृ० ७७।
- ११ ४-२-५१।
- १२ ५ ३ १००।
- १३ ६ १-८, पृ० २४।

## अध्याय ९

### यज्ञ

याज्ञिक परम्परा का पुनरुत्थरण—पतंजलि कर्मकाण्ठी शोधिय ने मत उनकी कृति में यज्ञ-यागविषयक उल्लेखों का प्राबुध्य स्वाभाविक है। वे स्वयं पुष्यमित्र के अक्षरमेव यज्ञ में पुरोहित थे और उसी अवसर पर उन्होंने सिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए महाभाष्य का प्रथमन किया था।<sup>१</sup> पतंजलि ने महाभाष्य में पुष्यमित्र द्वारा यज्ञ किये जाने का दो बार उल्लेख किया है और दो बार स्वयं द्वारा यज्ञ कराये जाने की खर्षा की है।<sup>२</sup> दूसरे, पतंजलि के समय तक यज्ञशास्त्र अरु उपरि तक पहुँच चुका था। संहितायों और ब्राह्मण-ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुते-से कल्प-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और इस प्रकार स्वतन्त्र याज्ञिक-शास्त्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भाष्यकार ने याज्ञिकों को शास्त्रज्ञत् कहा है और उनकी कृतियों को शास्त्र।<sup>३</sup> यज्ञों के व्याख्यान-ग्रन्थों का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।<sup>४</sup> व्याख्यान-ग्रन्थों में उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा संक्षेप में कही हुई बात का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अध्याहृत वाचय भी सम्मिलित रहते थे।<sup>५</sup>

याज्ञिक शास्त्र—याज्ञिकों के आम्नाय को याज्ञिक्य कहते थे। यज्ञग्रन्थों का अध्ययन करनेवासे याज्ञिक्य कहलाते थे। यज्ञ-ग्रन्थों की भी याज्ञिक्य संज्ञा थी। सामान्यतया यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञग्रन्थों का अध्ययन समझा जाता था। याज्ञिक्य शास्त्र में निष्पाठ ध्यमित याज्ञिक्य में परिगणित कहा जाता था।<sup>६</sup> किन्तु, निष्पाठ या अक्षरपत्र ध्यकृत करने में उसे याज्ञिक्य कहते थे। जैसे इसे अपने याज्ञिक्यक का बड़ा मर्ष हो गया है।<sup>७</sup> यज्ञ वा वेद्य यज्ञु है। उसमें प्रवीण यानुष्क कहलाता था। इसी प्रकार बहि-आस्तरण जादि कर्म में प्रवीण या निपुणत याज्ञिक को बाह्यक कहते थे। जो नियमित रूप से यज्ञ का अध्ययन नहीं करता था, उसे ध्यंध्य

१ ३-३-१४२, वा० १, पृ० ३३१ तथा ३-२-१२३, वा० १, पृ० २५४

२ पुष्यमित्रो यजते याज्ञिकं याज्ञिक्यम्।—३-१-२६, वा० ३, पृ० ७४; ३-२-१९, वा० १ पृ० २५४; ३-३-१४२ वा० १, पृ० ३३१।

३ कल्पः अर्थं ज्ञानः—४-३-६६, पृ० २४०।

४ याज्ञिकाः शास्त्रज्ञानुविद्वन्ते।—वा० १, पृ० २१,

५ ४-३-६६, वा० ६, पृ० २४०,

६ वा० १, पृ० २५।

७ ४-२-६० पृ० १८६।

८ परिगणितो याज्ञिक्ये।—२-३-३६, वा० १ पृ० ४३१।

९ अक्षरपत्रं कम्—याज्ञिक्यकृत्याय विद्वत्।—५-३-९५, पृ० ४०८।

में प्रायेण याज्ञिक' कह्य वे।' यज्ञ के अपने और यज्ञमान क लिए करने की वृष्टि से यज्ञ बाहु का उभयपक्षीय प्रयोग तथा यज्ञपात्रों से मिश्र उपयोग में प्र तथा उप पूषक यज्ञ बाहु का आरम्भेपद में प्रयाग जो इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ के विषय में प्रयुक्त मात्रा क भी मूल्य नियम बन गये थे।'

यज्ञों के प्रथम अध्याय के मंत्रों का प्रयोग पुरोडाश क संस्कार के लिए होता है। इनकी व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ पीरोडाशिक कहलाता था। पुरोडाश क मताने तथा उसकी बाहुति देने की विधि का बचन त्रिम यन्त्र में ही उसे पुरोडाशिक कहते थे। पीरोडाशिक और पुरोडाशिक ग्रन्थों का मंत्र यज्ञ-अम्बनी अथवा यज्ञ बाठों क विषय में भी ग्रन्थ-अप्ययन के प्रति विद्वानों की राय का दोषक है।' याज्ञिकस्वर और मौकम ब्राह्मण-ग्रन्थों तादृशी मान्यकी पाठ्यापनी एतदीया आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों क बेला अध्याय आदि कोषों परी आदि कल्पग्रन्था तथा अनुशासनों के आठार्यों का उल्लेख माप्यकार ने किया है। उष्य का अध्यायन कर्मवाये अधिविक और अग्निष्ठीम वाजपय आदि यज्ञों का अध्यायन करनेवाये अग्निष्ठीमिह वाजपेयिह आदि कहे जाते थे।

याज्ञिकों की माध्यताएँ—माप्य म याज्ञिकों क अनेक विधाना और व्यवहारों की वर्णन है। यथा (१) वेदों में मन्त्र इस प्रकार नहीं मिलत कि उनका उपयोग यज्ञ में एक या अनेक पुरुष अथवा स्त्रियाँ जब मिल प्रयोग में चाहें कर सकें। याज्ञिक का प्रमाणानुसार उतम त्रिग सा विभक्ति का परिवर्तन कर लेना चाहिए। प्रवृत्ति-दशों क कल्पग्रन्थों में प्रयाग-यन्त्र सवि किंक ह्यो पठित' है फिर भी यदि अध्यायान क पदवान् यज्ञमान उत्तर-अथवा म पीडित हुआ संवत्सर के बोध में उत्तर कोई बड़ी विपत्ति आ पड़ी तो उसे फिर से नैमित्तिकी आशेष इष्टि रणी पठती है। इस प्रयोग में प्रयाग सविभक्तिका कार्य यह याज्ञिक काम्याप' है।

(२) आहिताग्नि को अयउध का प्रयोग करम पर प्रावर्त्तन के लिए माग्मनी दृष्टि

१ २-३ १८, पृ० ४२०।

२ स्वच्छिन्नित कर्मिप्रयाये क्विप्युक्ते ।—१ ३-७२ १ ३ ६५, पृ० ८४।

३ पीरोडाशा पुरोडाशात् षड्—पुरोडाशात् सिष्टिषिडाशतेषां संस्कारको यज्ञः पीरोडाशा तस्य ध्यात्वात् तत्र मयो वा पीरोडाशिकः—पीरोडाशिको। पुरोडाशमहर्षितो यन्त्र पुरोडाशस्तस्य ध्यात्वात्तत्र मयो वा पुरोडाशिकः ।—४ ३-७० आगिका।

४ म सर्वोक्तिर्ज्ञेन सर्वोक्तिर्बिभक्तिमिदं वै मन्त्रा निगदितः। ते वाक्यं यज्ञानेन यथायत्नं विपरिणमयितव्या ।—आ० १, पृ० २।

५ याज्ञिकः पठति प्रयाग सविभक्तिः कार्य इति ।—आ० १, पृ० ६।

६ यद्यपि प्रवृत्ती प्रयागमन्त्रः सविभक्तिः एव पठन्ते तथापि यथाशान्दत्तरं यज्ञमान उदरभ्यवाहान् स्यात् यदि संवत्सरमध्ये तां यज्ञीं विन्यु स्यात् तथा अग्निष्ठीयी पुनरावनीष्टिर्विधीयते। तत्रोदरभ्याहानम्—प्रयागः सविभक्तिः कार्य इति ।—गम्भरीसूत्र।

करनी चाहिए। ( ३ ) स्वर या वर्ण से द्रुपित शब्द का यदि मन्त्र में उच्चारण किया जाता है तो वह मिथ्याप्रयुक्त शब्द बाँधित वर्ण का बोधक न होकर सामान्य बन जाता है और यजमान का नाश कर देता है। असुद्ध उच्चारण के कारण ही 'इन्द्रसन्तुर्बर्षस्व' इस मन्त्र में इन्द्र का अभिचार करनेवाला बृह स्वयं नष्ट हो गया।<sup>१</sup> इसीलिए 'यज्ञान' तद्वान' क स्थान पर 'यर्षान' तर्षान' बोलनेवाले ऋषि भी जिनका नाम ही असुद्ध उच्चारण के कारण यर्षान तर्षान पड़ गया था यज्ञकाक में इन शब्दों का विमुद्ध उच्चारण करते थे। असुर लोग यज्ञकाक में भी असुद्ध उच्चारण करते थे इसीलिए वे परामृष्ट हो गये।<sup>२</sup> अतः मन्त्र कराने का अधिकारी मन्त्रार्थ आदिर्बर्षीण बही बाह्यण बन सकता है, जो मन्त्र का पठन स्वरण और अक्षरण शुद्ध उच्चारण कर सके। ( ४ ) याज्ञिक शास्त्रों में अनेक ऐसे यज्ञों का वर्णन तथा विधि सम्बन्धित है जिनका अनुष्ठान पठञ्जलि के समय बन्द हो गया था किन्तु सेतक याज्ञिक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखते समय उन धीर्बर्षीणों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करते थे। यहाँ तक कि शास्त्रकार याज्ञिक धी बर्षी या हजार बर्षों तक चलनेवाले सन्नों तक का विधान शास्त्रों में करते थे।<sup>३</sup> यह ऋषि सम्प्रदाय था। ( ५ ) याज्ञिकों के मतानुसार मन्त्र करना और उसकी विधि के विवरणों को ठीक समझना तथा पूर्व भद्रा के साथ उसके रहस्यों को हृदयगमन करना आवश्यक माना जाता था। अग्निष्टोम या नाचिकेत ऋषि का ध्यान ही पर्याप्त नहीं उसके महत्त्व का ज्ञानना भी आवश्यक था। इसने लिए याज्ञिक शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित होता है।<sup>४</sup> ( ६ ) किसी को जान करौं या मन्त्र करते बैठकर बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये उसके अनुकरण पर दाम या मन्त्र करनेवाला भी अशुभ का भागी माना जाता है। उदाहरणार्थ विद्वन्मूञ् सत्र मं अग्न्यासीन व्यक्ति को देखकर वा कोई विद्वन्मूञ् सत्र में अग्न्यासीन हो वह भी अनुकार्य व्यक्ति के समान

१ याज्ञिका पठञ्जि, आदितान्तरपद्मश्च प्रयुज्य प्रापदिक्षतीयां सारस्वतीमिष्टं निर्बर्षीः—आ० १, पृ० १।

२ द्रुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तत्पर्यमाह स बाग्बन्धो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽन्तराधात्।—आ० १ पृ० ४।

३ यर्षानस्तर्षानो नामर्षयो ब्रह्मणु—ते तत्र भवन्तो यज्ञानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्षानस्तर्षान इति प्रयुञ्जते यान्ते पुनः कर्मणि नापमान्येते। तं पुनरसुरैर्वान्ते कर्मव्यपमायिनं ततस्ते परामृताः।—आ० १, पृ० २५।

४ यो वा इमा परश्च स्वरणोऽन्तरण्य वाचं विदयीति स आस्विनीनो भवति।—आ० १ पृ० ६।

५ दीर्घसर्षानि चार्धञ्जिकानि वायतहृमिकारिणः। नचाद्यत्वे कश्चिदपि व्यग्रहृति। केचनमृषिसम्प्रदायो कर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविशयते।—आ० १ पृ० ११।

६ वेदशास्त्रा अप्येवमभिवर्धन्ति—वीर्ज्जिन्ष्टोमेन यजते य उ चैवमेव वेद—वीर्ज्जिन्ष्टोमेन चिनुते य उ चैवमेव वेद।—आ० १ पृ० २६।

येयोभागी होता है।' लोके और वेद दोनों स इत्त धारणा को मान्यता प्राप्त थी। (७) याज्ञिक प्राक्वर्त्ता वैवाकरणों के समान संज्ञाएँ नहीं करते थे। जिस प्रकार वैवाकरण वा विभाषा विकल्प अग्रतरस्याम् या बहुलम् आदि संज्ञाओं द्वारा भाव्य भाषि के विषय में विषयु को स्वतन्त्रता देते हैं उस प्रकार याज्ञिक शास्त्र सांकेतिक या संज्ञा शब्दों का आशय नहीं लेते। वे सीधी भाषा द्वारा वैकल्पिकता का विधान करते हैं। उदाहरणार्थ यज्ञ में पशु या अनश्वान् की बलि यज्ञमान की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, पशु बलि दे या न दे। याज्ञिक शास्त्र पशुबलि की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं करते किन्तु इस यथेच्छ विकीर्ण के लिए वे किसी पारिभाषिक शब्द का आशय न लेकर 'मिष्मानश्वान् विभाषित' कहते हैं।' (८) सामान्यतया द्विज यज्ञ में सक्रिय भाग लेते थे। तथा अयस्वार, रजक तनुवाय आदि कुछ जातियाँ भी यज्ञ पात्र से बहिष्कृत न थीं किन्तु यज्ञ कर्म से निरवसित मानी जाती थी।'

यज्ञों के भेद—यज्ञों को दो बर्गों—श्रौत और स्मार्त्त में बाँटा जा सकता है। श्रौत यज्ञों में वे बड़े बड़े यज्ञ आते हैं, जिनके विधानों और प्रक्रिया का वर्णन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सोमयाग इस यज्ञों में है। मूष्ययज्ञों का वर्णन मूष्यसूत्रों में जो स्वयं स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत हैं मिलता है। अतः उन्हें स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। इन यज्ञों का प्रारम्भ मूष्ययज्ञों से ही हुआ था जिन्हें घनी निर्घन पण्डित और सामान्य जन सभी सरलता से कर सकते थे। इनके लिए न विदेव वेदों की आवश्यकता होगी थी और न पुरोहितों की। भाष्यकार ने इन यज्ञों में निम्नलिखित का उल्लेख किया है—

पाकयज्ञ—प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करता था जिनमें प्रातः-साय के अग्नि होत्र भी सम्मिलित थे। ये पाकयज्ञ कहलाते थे। इन होमों में चरु और पुरोडाश की आहुति दी जाती थी। यवापु भी आहुति का काम आती थी। इन यज्ञों को पति और पत्नी माय-माय करते थे इसलिये ये पत्नी-समाय कहलाते थे।' पत्नी-समाय त्रिवर्ग ही करत ये और यज्ञ-समाय

१ लोके य एवमसी इवाति य एवमसी यजेत य एवमसावधीते इति तस्यानुकुर्बन् वृषाण्य यजेत वाचीवीत य सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि य एवमसी विरवतुजः सत्राण्य प्यासत इति तेवामनुकुर्बन् तद्ब्रह्मसत्राण्यप्यासोत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। —भा० २ पृ० ४८।

२ याज्ञिकाः शब्देऽपि संज्ञामनारभमाषा विभाषेत्युक्ते नित्यत्वमवगच्छन्ति तद्यथा मिष्यः पशुविभाषिनो मिष्पोऽश्वान् विभाषित इति। आत्मरूप्ये आत्मरूप्य मप्यते। — ११४४, भा० १९, पृ० २६।

३ याज्ञात्कर्मणी निरवसितानाम्—एवमपि तसायस्कारम् रजहतनुवायमिति न लिप्यति। —२४१०, पृ० ४९५।

४ यदाग्निहोत्रं जुहोति। —२३३, पृ० ४०।

५ पत्नीसमाय इति यज्ञ यज्ञनीयः। सर्वेषु च गृहस्थेन पञ्चमहायज्ञा निर्वर्त्तनी। यथाहः प्रातः सायं होमवर्षं पुरोडाशाग्निवपति तस्यावाचीष्ये। —४१३३, पृ० ५०-५१।



के कारण ही भार्या पत्नी-पद की अधिकारिणी होती थी। यथाधिकारी न होने के कारण पुरुष की भार्या पत्नी नहीं कही जा सकती थी।<sup>१</sup>

पाकयज्ञ गृहस्व के दैनिक कर्तव्यों के अग वे और गार्हपत्य जग्मि में बिये जाते थे। पाकयज्ञ अत्यन्त उच्चिष्ठ होते थे जिनके लिए श्रुतिवर्षों की आवश्यकता नहीं होती थी।

प्रातः-साम्निहोत्र भी पाकयज्ञों के ही अग वे। यहाँ और पीर्णमास यज्ञ भी पाकयज्ञ प्रकृतिक माने जाते थे। इनमें प्रयाज अनुमात्र और सामयनिक विधि की आवश्यकता नहीं होती थी। केवल उक्त विधियों के अन्त में स्वाहा बोझकर दक्षिणदिशि में पकाने हुए बोधन और, बधि वृत्त या पुष्प की जाहुतियाँ ही जाती थीं।<sup>२</sup>

पूजा जग्मि में वैश्वदेव यज्ञ भी किये जाते थे, जो पाकयज्ञों के ही अन्तर्गत थे। इससे सिद्ध या पकाने हुए हविष्य से जाहुतियाँ ही जाती थी और उच्चिष्ठ हविष्य बलि के काम जाता था। बलि में प्रयुक्त होनेवाले तण्डुल बाधेय कहे जाते थे। भाष्य में उन्हें गुष्पाश्र-मुक्त अर्थात् सस्कारमुक्त कहा है।<sup>३</sup> बलि का हविष्य अर्धवनों से उपसिक्त रहता था। वैश्वदेव में प्रयुक्त अन्न को विभक्त करते थे।<sup>४</sup> द्वाह्यायण मूहसूत्र में बृह के भीतर या बाहर चार मणिक बेष (पानी रखने का स्थान) में एक दर के मध्य में एक गर्भगृह के द्वार पर एक शय्या के पीछे एक बुरे या बबन्कर के पास एक बूट्टे या पट्टू बाने के स्थान में एक इस प्रकार दस बलिर्मा रखने का विधान है। पितर, वद ये बलि-देवता हैं। माप्यदार न महाराज की बलि का भी उल्लेख किया है। काशिका में कुवेर-बलि की भी पर्चा है।

१ पत्न्युर्वा यज्ञसंयोगे। —४ १ ३३।

२ नवयज्ञोऽस्तित्स्मिन् काले मानयज्ञिकः पाकयज्ञिकः। —४-२-३५, का० १, पृ० १७६।

३ मूह्याणी पाकयज्ञान् विहरेत् गृहस्वात्-पाकयज्ञौ हि स्वयंपाक इत्याहस्तै ३ यर्ष पीनमासप्रवृत्तिः पक्कयज्ञविधिः अप्रयाजानुयाजोऽसामयनिकः स्वाहाकारस्ते नियम होमात् परतन्मोत्पत्तिर्दक्षिणाम्नाबाहुताग्निर्षोमयेन योबर्म पाथं चतुरर्जं वास्वच्छिन्नमुपसिष्येनु-पात्रं तस्मिन् मन्त्रं कुर्वीत 'सत्यं तदसीति' परचार्यादुवीचीं केश्यां लिखेत्। —बाराह्-गृह्यसूत्र, २१ १३४।

४ हविष्यं वा सिद्धस्य वैश्वदेवः। अग्नये सोमाय, प्रजापत्ये यन्वतरये वास्तोष्पत्ये विश्वेभ्यो वैश्वेभ्योऽग्नये सिवष्टकृते च ब्रह्मयज्ञ-अवशिष्टस्य बलिं हरेत्। —बाराह्, पृ० सू०, २०-३, ४।

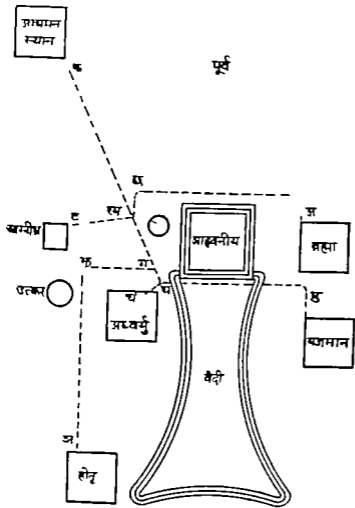
५. बाधेयास्तण्डुलाः, गुष्पाश्रपरुस्ता हि तण्डुला बाधेयाः। —५ १ १३, पृ० ३०४ ३०४।

६ विपद्यः उपसर्पेऽत्र। —३-३-५९ का०।

७ बलीप्रयेत्-अहिरस्तार्वाबतुर्निपाय मन्त्रिकदेशो मध्ये द्वारि-शाम्यामनु चर्चवा—अर्धं ससुपन्-नोवमर्दिनः सार्धबलिना, पुष्पी वायु प्रजापतिं विश्वेदेवा वायु औपविर्बनस्पत्यय आकाशः कामी अग्न्युर्वा रक्षीयचानि नयेत्-पितरो वद इति बलिदेवताभिः। —द्वाह्या० पृ० सू०, १-५ २२ से २३।

८. चतुर्वी तदपानबलिर्हितमुत्तरवर्तिः—कुवेरबलिः महाराजबलिः। —२ १ ३६ का० तथा यी हि महाराजाय बलिर्षीपते महाराजार्धं स भवति। —बही, पृ० २८८।

# वर्ष पौर्णमास विहार



क	ख	ग	घ	ङ	उत्मान्	उत्कर	के	सूक्त	हैं
ख	ग	घ	घ	घ	अक्षरमु			"	
क	ख	ख	ङ		ब्रह्मा			"	
घ	ख	ग	क	अ	होतृ			"	
घ	ख	ट			अग्नीध्र			"	



सर्हपरय



पानी



पाकयज्ञों में गृह्यसूत्रकारों ने स्वयंहोत्र का विधान किया है। कुछ आचार्यों के मत से पत्नी ही आहुति देती थी, क्योंकि पत्नी का दूसरा नाम गृह भी है और उसी के नाम पर इस अग्नि का नाम गृह्य पड़ा था।<sup>१</sup> गृह्याग्नि को ही एकाग्नि भी कहते थे। उसमें हवन करनेवासे भी एकाग्नि कहलाते थे।<sup>२</sup>

**नवयज्ञ**—बिना यज्ञ किये तथा अन्न लाता निषिद्ध था इसलिए नई फसल तैयार होने पर प्रत्येक गृहस्थ उससे हवन कर तब नवान्न ग्रहण करता था। नवान्न का यह होम नवयज्ञ कहलाता था। शरव की पूणिमा या अमावास्या को व्रीहि से और बसन्त में यक्ष से नवयज्ञ किया जाता था। इसमें इन्द्र और अग्नि देवता के लिए पायस तैयार कर आहुति दी जाती थी। नव यज्ञ पाकयज्ञ के अन्तगत था।

**वर्ष-पीर्नमास**—ये इष्टियाँ भी पाकयज्ञ के ही अन्तगत मानी जाती थी। भाष्य के अनुसार जिसके द्वारा यज्ञ किया जाय अथवा जिसके द्वारा कोई कामना की जाय उस इष्टि कहते हैं।<sup>३</sup> जिस काम में मूय और चन्द्रमा साथ रहते हैं उसे वर्ष कहते हैं और जिस समय चन्द्रमा सब कलाओं से पूर्ण हो जाता है, उसे पीर्नमास कहते हैं। वर्ष और पीर्नमास को की जानेवासी इष्टियाँ भी इसी नाम से प्रसिद्ध थीं।

**चातुर्मास्य यज्ञ**—भाष्यकार ने चातुर्मास्यों का उल्लेख बार-बार मास में किये जाने वाले यज्ञों के रूप में किया है। इनको यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाला चातुर्मासिक या चातुर्मासी कहलाता था।<sup>४</sup> आश्वयुजी पीर्नमासी का भी नाम चातुर्मासी था। इस दिन छत्र देवता को पायस या पूपातक की आहुति दी जाती थी।<sup>५</sup> पूपातक रूप में धी मिठाकर तयार किया जाता था।<sup>६</sup>

चातुर्मास्य तीन माने जाते थे—बैश्वदेव ब्रह्म प्रभास और सारमेय। वैश्वदेव फास्मुरी या वैश्वी पूषामासी को निष्यन्न होता था। ब्रह्म प्रभास आपाढी और सारमेय वासिष्ठी पूणिमा के दिन होता था।

**अष्टका**—भाष्यकार ने अष्टका का पितृव्रतय कहा है। प्रायः सभी मृग्यमूत्रा में इनका सविस्तर वर्णन मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार मामपीपं की पीर्नमासी का बाग्रहायनी कर्म होता था और इसके बाद तीन पिष्या अष्टकार्ण होने की थीं जा क्रमशः ण्डो बन्ध

१ पत्नी बहुयाविरत्येके। गृहा पत्नी गृह्योऽग्निदेव इति।—बही १-५ १७, १८।

२ १-२-२४, बा० ३, पृ० २१६।

३ इष्यतेऽजयेतीष्टिः—इष्यतेऽजयेतीष्टिः।—३ ३ १५, बा० ३, पृ० ३१३।

४ अमावास्यायै हविष्या पूर्वपक्षमभियजते पीर्नमासे नापरपत्नम्।—गोत्रिल मू० मू०, प्रया० १, क० ५, सू० ६।

५ आश्वयुजी वृषाय पायसः।—ब्राह्म० मू० सू०, चार्णु० प्रकरण, ३ ३-१।

६ पयस्यवनेत् आश्वं सत्पुवातकम्।—बही ३ ३ ३।

७ अष्टकापितृव्रतये उपसंख्यात् वर्तम्यम्—पितृव्रतय इति क्रिमयम्—अष्टिका-जाती।—७-३ ४५, बा० ९, पृ० १९०।

देशी और प्राजापत्य कहलाती थीं।<sup>१</sup> ब्राह्मण्य गृह्यसंहिता के अनुसार आप्रहायणी के बाद की तीन तामिस्र अष्टमियाँ ही वे अष्टकार्यें थीं। इनमें हवि के लिए स्वासीपाक रीत्यार किया जाता था। प्रथम अष्टका में आठ अपूप भी अष्टकार्यें स्वाहा<sup>२</sup> इस मन्त्र द्वारा अग्नि में चढ़ाये जाते थे। अन्तिम अष्टका में शाक और मधुम में गौ की जाहुति भी जाती थी। पिच्यहोम 'बह वषाम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा होजा था और 'वषय जातवेद' इत्यादि मन्त्र द्वारा। इसके लिए पुरोहित की आवश्यकता होती थी और पशुहोम में उसकी दक्षिणा पशु ही होता था।<sup>३</sup> अष्टका एकविंशतिसंख्य होम था।<sup>४</sup>

**अग्निहोत्र का अर्थ**—अग्निहोम के सम्बन्ध में भाष्य में और भी विवरण मिलते हैं। उवाहरचार्य भाष्यकार के मत में अग्निहोम शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका एक अर्थ ज्योति है क्योंकि अग्निहोम प्रज्वलित करता है, यह प्रयोग श्रम करते हैं। दूसरा अर्थ हवि है। इसीलिये, अग्निहोत्रं जुहोति<sup>५</sup> यह वाक्य सार्थक होता है। जुहोति का प्रयोग प्रीयान और प्रक्षेपण दोनों अर्थों में देखा जाता है। 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' क दोनों अर्थ होते हैं—यवागु अग्नि को प्रसन्न करती है और यवागु हवि अग्नि में है। इससे यवागु का हवि के रूप में व्यवहार स्पष्ट है उसे ही कौशिक गृह्यसूत्र में उसका उल्लेख न हो।

**पंचावती**—भाष्यकार न चामयन्व्यों को पंचावती कहा है। पंचम अबदान सर्वप्रथम चामयन्त्रि ने किया था इसलिए चामयन्त्रि योत्रवाका को छोड़कर अन्य कोई पंचावत् हवन नहीं करता।<sup>६</sup> अग्न को चतुरवत् याव करते हैं। रखी गई हवि में से हामपरिमित भाग को काटकर अन्न करना अबदान कहलाता है। चतुरवत् में अर्धयुं वाप्य स जुव द्वारा जुह में एक बार आग्य लेकर होता को अनुवाक्या पढ़ने के लिए 'अनुब्रूहन्त' मन्त्र से संप्रेष देता है। इस क्रिया की जावृत्ति तीन बार होती है। जिस यजमान के मंत्र में इस प्रकार चार बार वाग्याबदान होता है वह चतुरवती कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में चामयन्त्रि भरष विद अवाप्टियन भार्यव ध्यायन अत्रि मे पंचावती कहे गये हैं।<sup>७</sup>

१ मार्कसीध्यायी पूर्वमास्यामाप्रहायणीकर्म ऊर्ध्वमाप्रहयष्यात्तिलोऽष्टका ऐश्वरी वेद-  
वैवी प्राजापत्या पिभ्येति । —३-३-१ २ ।

२ ऊर्ध्वमाप्रहयष्यात्तिलोऽष्टका इत्याचसते—तामुत्पासीपाकाः—अष्टी  
चापुपाः प्रथमास्याम्—तामपरिवर्तयन् कयाते व्ययेत्—अष्टकार्यं स्वाहेति जुहयात्—उत्तमास्यां  
शाकम्—स्वाहायं—मध्यमायां गौ—३-३ २७ से ३२ तथा ३-४ १ बहुवपायामिति पिभ्येवपा होमः—  
जातवेद इति वैश्वदेव-पशुरेव पञ्चोर्वसिवा—३ ४-२६, २७, ३० ।

३ अष्टकायामष्टका होमान्मुहुपत्तस्यां हवींवि चलाः करन्त अष्टकस्यः पुरोडाश  
उदोवग श्रीरोहनस्तिलोदनी यवीपपादि पशु ।—१४ ११८-२, ४ ।

४ अयमग्निहोत्रोऽस्त्येव ज्योतिरिति वर्तते—तद्यवाग्निहोत्रं ज्वलन्वति । अस्ति  
हविरिति वर्तते—तद्यवाग्निहोत्रं जुहोति । जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणं वर्ततेऽस्ति प्रीमात्यर्चं वर्तते ।  
यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति, अग्नि प्रीमाति, यवागुं हविरग्नी प्रसिपति । —२ ३-३ पु० ४०६ ।

५ जमदग्निर्वा एतत्पञ्चमवबदानमावसतस्मात्तजमदवप्यं पञ्चावत् जुहोति ।—  
१ १ ४४, वा० १७, पु० २३४ ।

६ श्री० व० मि०, पु० ३९ ।

पंचोदन सब—भाष्य में पंचोदन सब का उल्लेख है।<sup>१</sup> यह सबनेष्टि का पर्याय है। सबनेष्टि भी पाकयज्ञों का अंग है जिसमें अग्नि को अष्टाकपाक पुरोडास इन्द्राग्नि को एकावसा कपाक पुरोडास और विश्वेदेवों को द्वात्रिंशत्कपाक पुरोडास की हवि दी जाती है। पंचोदन सब में आदन की पाँच विधेय आहुतियाँ दी जाती थीं।<sup>२</sup>

पाकयज्ञों के नाम उनमें ही जानबाली मुख्य आहुति के आचार पर भी रखे गये थे। उदाहरणार्थ त्रिन यज्ञों में मोदक या शक्नुती प्रमुत्त होती थी वे मौदकिक या शाक्नुतिक कहे जाते थे।<sup>३</sup>

इन्द्रमह संभामह और कशोदयज्ञ—य सम्भवतः सामान्य पाकयज्ञ थे, जहाँ वैदिक न हीनर लोक परम्परा पर आश्रित थे। यज्ञ या गृह्यसूत्रों में इनका विवरण नहीं है। इन यज्ञों में सम्बन्ध देवताओं के लिए विविध आहुतियाँ दी जाती थी और उरुम्व गीत तथा गवि जागरण किये जाते थे।

धीतयज्ञ—धीतयज्ञ थे ही त्रिनका विधान संहिताओं और व्याख्या-ग्रन्थों में मिलता है। इनमें कुछ ती सवामेक यज्ञ है और कुछ सामान्य। भाष्य में यह सहस्र वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की चर्चा है।<sup>४</sup> य बीष सत्र कहलाते थे। विद्वत्सूनु या प्रजापति का यज्ञ भी वीषकाल तक चलने के कारण सब की कोटि में आता था।<sup>५</sup> विद्वत्सूनु सत्र सहस्रसवस्तर का था।<sup>६</sup> वीष सत्रों में कुछ ती द्वात्रिंशत् सायों द्वारा आत्मवत्पापार्थ किये जाते थे और कुछ राजाभा या धर्मिक यज्ञभागों के लिए। इन वीष सत्रों में हातेवासी क्रिया या वस्तु दापसत्र कहलाती थी। वीष सत्र सामान्यतया अप्रयुक्त थे। वेदक ग्रन्थों में उक्तका विधान रह गया था।<sup>७</sup>

हवि की दृष्टि से यज्ञों के दो भाग थे—यज्ञ और ऋतु। ऋतु विविध यज्ञ थे त्रिनमें मास की आहुति की जाती थी।<sup>८</sup> त्रिन ऋतुओं का विधान अथर्व वेद में मिलता है वे अथर्वयुक्त कहलाते थे। ऋतु दाप सामान्यतया सामयज्ञों में कृत्वा। पाणिनि ने कृष्टपाप्य और मंचाप्य ऋतुओं का उल्लेख किया है। कृष्टपाप्य ऋतु में कृष्ट (पात्र) द्वारा सामदान किया जाता था।

१ अयं मे पञ्चोदन सब । —३ ३ ३६, भा० ४, पृ० ३०६ ।

२ भी० प० निर्ब० पृ० १४४ ।

३ मोदका प्रहृता अस्मिन् यज्ञे वीदिकी यज्ञः, मोदकयज्ञः, शाक्नुतिको शक्नुतीययः—  
५ ४-२३ का० ।

४ इन्द्रमहार्थमग्रमहिहम् याज्ञानमहिकम् काशेदयतिकम् । —५ १ १२, भा० १२,  
पृ० ३०२ ३०३ ।

५ वीषसत्राणि दायप्रतिकानि धार्यसहस्रिकानि च । —भा० १ पृ० २१ ।

६ वेदेऽपि य एवं विद्वत्सूत्र सत्राभ्यप्यासत इति । —भा० २, पृ० ४८ ।

७ सहस्र संबत्सर् विद्वत्सूत्राम् । —वात्पा०, २४-५-२४ ।

८ वीषसत्रे भवं दापसत्रम् । —७-३ १ ।

९ अप्रयुक्ते वीषसत्रवत् । —भा० १ भा० ४, पृ० २१ ।

१० ऋतु दाप सामयज्ञे कृत्वा । —२ ४ ४ का० ।

यह द्वादशाह ऋतु की विहृति है और वर्ष-भर चलता है। संभाव्य सत्ता सोम का संभवन क्रिये जाने के कारण थी।<sup>१</sup> अर्ध मस्वमेव सामाह्न्य अतिरात्र आदि अर्धवर्षु ऋतु यः। राजसूय बाजपेय भी अर्धवर्षुऋतु ये। दर्श पीत्रर्मास का विधान अर्धवर्षु वेद में है पर ये ऋतु नहीं थे।<sup>२</sup> ऋतुओं में अग्निष्टोम बाजपेय और राजसूय सर्वाधिक सिद्ध ज्ञान पड़ते हैं। इन्हीं तीन यज्ञों के व्याख्यान-ग्रन्थों की चर्चा माध्य में दो बार हुई है।<sup>३</sup>

**अग्निष्टोम**—अग्निष्टोम यज्ञ करना और उसे माग्नापूषक ठीक समझना अम्बुस्य-कारी माना जाता था। अग्निष्टोमयाजी विद्वेषण सम्मानार्थ प्रमुच्यते होता था।<sup>४</sup> अग्निष्टोम का प्रारम्भ बसन्त में होता था। वास्तविक अग्नाभान ब्राह्मण का कर्त्तव्य माना जाता था।<sup>५</sup> अग्न्यावान यज्ञारम्भ की प्रतिपत्ति के लिए था। कारत्यायन भीतसूत्र में अग्निष्टोम का प्रारम्भ काल बसन्त ही बतलाया गया है। इसके तीन भेद हैं—एकाह अहीम और सप्त। जिसमें सुर्या-कर्म एकाह साम्य होता है वह एकाह और जिसमें दो तीन से बारह दिन तक सुर्याकर्म पड़ता है वह अहीम तथा जिसका पक्ष मास सबत्सर और इस प्रकार सहस्र वर्ष तक अनुष्ठान चलता है वह सप्त कहलाता है। कुछ लोगों के मत से यहाँ सबत्सर सप्त दिन के वर्ष में प्रयुक्त हुआ है।

अग्निष्टोम सम्पूर्ण भीतयागों की प्रकृति है। यह सबसे सरल एवं सर्वाधिक प्रचलित था। इसमें सोरुह ऋतियज् होते थे। अग्नि का एक छाय की बलि भी जाती थी और बारह स्तोत्रों का उपयोग होता था। प्रातः सवन में बहिष्यमान और चार माध्य-स्तोत्रों मध्याह्न सवन में माध्यन्दिन पचमान और चार पूष-स्तोत्रों तथा साय सवन में तृतीय या आरंभ पचमान और अग्निष्टोम साम का प्रयोग होता था। अग्निष्टोम साम के प्रयोग के ही कारण इसे अग्निष्टोम सस्य ऋतु कहते हैं।

**पुरास्य**—पुरास्य की प्रकृति पीत्रर्मास यज्ञ है। यह एक वर्ष तक चल सकता था। पाञ्चायन ब्राह्मण में इसे 'स्वगक्रामस्य यज्ञः' कहा है।<sup>६</sup> कारत्यायन भीतसूत्र के अनुसार यह सप्त है और वैशाल या चित्र युक्ल-पचमी को प्रारम्भ हीपर वर्ष-भर चलता है। माध्यकार ग

१ अती कुच्यमाय्य संभाव्यी।—३ १ १३०।—तथा का०।

२ काशिका, २४४।

३ ४ ३-६६, भा० ६, पृ० २४०।

४ योऽग्निष्टोमेत यज्ञते य उ चीनमेव वैव।—भा० १ पृ० २३।

५ अग्निष्टोमयाजी।—३-४ १ भा० २, पृ० ३४१।

६ सोके बसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत।—वेदे कल्पसि बसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतित्याग्याजान्

ऋतुमिदित्तेत्याग्याजान्निमित्तं बसन्ते बसन्त इव्यन्ते—बसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतित्याग्याजान्

यज्ञमुक्तप्रतिपत्यर्षम्।—६ १-८४ भा० ४ ५ पृ० ११६, ११७।

७. कारत्या भी० सू० ७-१४।

८. मीमांसादर्शन, अ० ६, पा० ७, अयि० १३ सू० ३१ ४०।

९. धात्रा० भा० ४ १९।







कहा है कि यद्यपि यज्ञ करनेवाला यज्ञमान और चर पुरोडाश तैयार करनेवासे ऋत्विज् दोनों पुरायण का वचन (तैयारी) करते हैं फिर भी ऋत्विज् को तौरामनिक कहने की प्रथा नहीं है।<sup>१</sup> यज्ञमान तौरामनिक कहलाता है।

राजसूय—अग्निष्टोम के समान राजसूय का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है।<sup>१</sup> काशिकाकार ने कहा है जिसमें राजा (साम) का सवण होना चाहिए, मन्वा राजा का सवण होता है, उसे राजसूय ऋजु कहते हैं।<sup>१</sup> राजसूय विद्युत् सोम-यज्ञ नहीं था अपितु अनेक यज्ञा की संसृष्टि से युक्त लगभग दो सारु से भी अधिक काल में समाप्त होनेवाला जटिल याग था। यह अनेक इष्टियों सोमयज्ञों और पशुमेधों का समन्वय था। साटयायन ने अनुसार केवल ऋषिय इसका अधिकारी था। मीमांसा का शाबरभाष्य में काशिका और साट्यायन दोनों का समन्वय मिलता है।<sup>१</sup> कुछ लोगों के मत से राजसूय बही कर सकता था जिसने वाजपेय न किया हो।<sup>१</sup> कुछ लोगों के मत से वाजपेय कर करने के बाद व्यक्ति इसका अधिकारी माना जाता था। दत्तपञ्चाङ्ग में कहा है कि राजसूय कलवाका राजा और वाजपेय करनेवाला सम्राट् होता था।<sup>१</sup> इससे वाजपेय का स्थान उच्चतर मान्य होता है। भाष्य में भी यज्ञों के प्रसंग में सबत्र अग्निष्टोम राजसूय और वाजपेय का क्रमिक ही उल्लेख हुआ है, जो दत्तपञ्च के अनुरूप है। राजसूय में यज्ञमान को फासुन भुक्त प्रतिपद् के दिन पवित्र-संज्ञक सामयज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी जिसकी प्रक्रिया अग्निष्टोम के ही समान है।<sup>१</sup> इसके एक वर्ष बाद अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचनीय इस यज्ञ का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना जाता था।<sup>१</sup> यज्ञारम्भ होने के लगभग १५ दिन बाद फासुन भुक्त पूर्विका को अनुमति की इष्टि की जाती थी जिसमें अनुमति को पुरोडाश हवि भी जाती थी।<sup>१</sup> इसके बाद वैश्वदेव बरुन प्रभास और सारुमेध नामक चानुर्मन्वियों का प्रारम्भ हो जाता था और अगली फासुन भुक्त अमावस्या को गुनासीरीय प के साथ उनकी समाप्ति होती थी।

१ यस्तुरायणेन यज्ञते सतौरामनिक इत्युच्यते—यश्च यज्ञते यश्च चरपुरोडाशाभिर्विपति जमी तौ वर्तयतः। जमयज्ञ कस्मात् भवति? अनभिधानम्।—५ १-७२, भा० २, पृ० ३३७।

२ ४ ३ ६६, भा० ६, पृ० २४०; ५ १ ९५, पृ० ३४२।

३ राजा सोतप्य राजा वा इह सूयते राजसूय ऋजु।—काशिका ३ १ ११४।

४ राजा राजसूयेन सूयेत्।—साट्या० मी० सू० ९ १ १।

५ राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूय। रातो वायज्ञो राजसूयः।—मीमांसाशाबर भा०

४४१।

६ कात्या०, २५ १ २।

७ आश्व० ९ ९ १९।

८ रात० भा० ९ ३-४-८।

९ साट्या० ९ १ २, शाबर० ९ ३-२; कात्या०, १५ १ ६।

१० साट्या० ९ १ ४।

११ कात्या० १५ १ ९ तथा भाष० १८-८ १०।

इसके बाद छोटे-मोटे अनेक इत्य विषयों में पंचावलीय और अपामार्ग होम भी सम्मिश्रित हैं, होते थे।<sup>१</sup> बाद में कितनी तक 'रत्निका हवीयि' होती थी जो रत्नियों (सिनापति पुरोहित यापि विशिष्ट राज्याधिकारी) के घर ही जाती थी।<sup>२</sup> चैत्र के प्रथम दिन अग्निप्रेक्षणीय विधि होती थी। अग्निप्रेक्षन के लिए पुरोहित सत्रह उषुम्बर-पानों में सत्रह प्रकार का जल लाता था जो अनेक यज्ञिक विधियों के बाद राजा पर डाला जाता था। ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य सब इस जल से राजा का अग्निप्रेक्षन करते थे।<sup>३</sup> अग्निप्रेक्षणीय के बाद दस दिन तक 'ससृपा हवीयि' ही जाती थी।<sup>४</sup> और दिन ब्राह्मण (सोमपान) इत्य होता था।<sup>५</sup> यही ब्रह्मपूरणाम का दिन था। इसके एक वर्ष बाद एक राजा को ब्रह्मवर्तों का पासन करना पड़ता था।<sup>६</sup> इन वर्तों की समाप्ति के राजपणीय विधि सं होती थी। इस समय यज्ञमान के साल-भर से बढ़ हुए बेशों का बाध होता था। इसके बाद ध्युष्टि हिराज और ब्रह्मपूति यज्ञ होते थे। इनके साथ ही राजसूय की समाप्ति हो जाती थी यद्यपि इसके एक मास बाद सौभाग्यि इष्टि करनी पड़ती थी।

बाजपेय—अग्निष्टोम और राजसूय के साथ बाजपेय का भी उल्लेख माध्य में कई स्थानों पर मिलता है। बाजपेय के कई अर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सोम का नाम बाजपेय है और बज्र का भी। यह शक्ति का पेय है। इससे देवों को शक्ति प्राप्त हुई।<sup>१</sup> शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार जल को बाज और पान को पेय कहते हैं। इन दोनों की प्राप्ति के लिए बाजपेय करना चाहिए।<sup>२</sup> सत्रह की संख्या इसकी एक विशेषता है। आपस्तम्ब और ताण्ड्य ब्राह्मण दोनों के अनुसार इसमें सत्रह स्तोत्र और सत्रह ही यज्ञ हैं। इसमें प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं की बलि का विधान है। सत्रह वस्तुएँ ही यज्ञिका में ही जाती हैं।<sup>३</sup> बाजपेय का रूप भी सत्रह अरति लम्बा होता था जिसे परिवृत करने के लिए बरत के सत्रह टुकड़े काम में लाय जाते थे।<sup>४</sup> सत्रह दिन तक यह यज्ञ चम्पता था जिनमें १३ दिन बीजा के तीन दिन उपसद के तथा

१ आप० १८९१०, ११ १५-२०।

२ वही १८१०।

३ वही, १८१६३ ५।

४ वही, १८२०-३ तथा कात्या० १५-८ १ से ४।

५ ताण्ड्या० ९२१, कात्या० १५-८ १४।

६ ताण्ड्या ९-२-१७।

७. आप० ९३-२४

८ वही ९२२५।

९. बाजपेयो वा एव बाजं ह्योतेन वैवा। ऐस्तन् सोमो वै बाजपेयः। —तैत्ति०ब्रा०,

१ ३४२-।

१०. पानं वै पेयः। अन्नं बाजः। पानं वै पूर्वयवाधम्। तयो वमयीराप्ती। आन्ता०  
श्री० सू०, १५ १४ से १।

११ आप० १८११२ ताण्ड्य १८-७-५।

१२ आप० १८११२।

एक दिन मृत्या के लिए था। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि इसमें प्रजापति को सत्रह मुरा के तथा सत्रह साम के (चमस) पात्र पढ़ाये जाते थे और सत्रह अक्षरवर्णों की शीघ्र होती थी जिसका प्रारम्भ बेरी की उत्तर धेवो में रखा गई सत्रह पुन्नुभियाँ बजाकर किया जाता था बाजपेय याचिपत्य समृद्धि या स्वाराग्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था और ब्राह्मण या तत्रिय ही इसके अधिकारी थे बरस नहीं।<sup>१</sup> इसका अनुष्ठान-काल शरद था।

सौत्रामणि—भाष्यकार ने आशप-भाष्य में प्रमत्तमीत कहकर एक श्लोक उद्धृत किया है, जो सौत्रामणि यज्ञ में ताभ्रवर्णी ऋतियों में रखकर मुरा पीने की ओर संकेत करता है।<sup>१</sup> सौत्रामणि शम्भू सूत्रामन् से बना है जिसका अर्थ है सम्यक् रक्षा करनेवाला। शब्दे सूत्रामन् इन्द्र का विशेषण है। यह सोमयज्ञ नहीं अपितु इष्टि और पद्यमेघ का मिश्रण है।<sup>२</sup> मुरा की आहुति इस यज्ञ की मुख्य विशेषता है। इस यज्ञ की अवधि चार दिन की होती है जिनमें प्रथम तीन दिन तक विभिन्न वस्तुओं से मुरा बनाई जाती है और चतुर्थ दिन तीन पात्र दुग्ध और तीन पात्र मुरा तथा पनुमांस से ऋषिबर्णों सरस्वती तथा इन्द्र को आहुति दी जाती है। कात्यायन भाष्य में बतलाया गया है कि सर्व की छान निकाला सोंठ पुननवा चतुर्जातिशः-युक्त पिप्पला गजपिप्पली बंठ बबका बृहण्यत्रा चित्रक इन्द्रबावनी अरवगभा धान्यक यवानी और कालाजीरा से इस्त्री की गठि गुष बीहि और यव के अंकुर य सब वस्तुएँ मुरा में डाली जाती हैं।

अरवमेघ—अरवमेघ सर्वाधिक प्राचीन यज्ञों में है। भाष्यकार ने अरवयुष का उल्लेख किया है।<sup>३</sup> आश्वलायन का मत है कि जो राजा सब कामों की पूति तथा सर्वविजय चाहे वह

१ वही, १८४४ से ७।

२ कात्या० १४११; भाष० १८११।

३ स वा एव ब्राह्मणस्य च व राजस्यस्य च घटाः—नं० ब्रा०, १३-२ तथाय ब्राह्मण राजानश्च पुरस्तुर्वात्त स बाजपेयेन यजेत।—ताट्या० ८१११।

४ अरवि बाजपेयेन स्वाराग्यकामो यजेत।—शाबरभाष्य १-२ ६४ तथा एवं विद्वान् बाजपेयेन यजेत गच्छति स्वाराग्यम्।—संति० ब्रा० १३-२ तथा बाजपेययात्री वात्र प्रजापति माप्नोति।—ता० ब्रा० १८६४।

५ यनुमुम्बरवर्जितां घटानां मण्डलं। महन् पीतं न गमयेन् स्वर्गं तर्हि क्युपतं मयेन्।—भा० १।

६ ता० ब्रा० १२-७-२१।

७. सत्रत्यकं त्रिकला च व शुष्ठी चैव पुनर्नवा ।  
चतुर्जातिकर्त्तव्यता पिप्पला गजपिप्पली ॥  
बनोज्जवा बृहण्यत्रा चित्रकं वेग्नबावनी ।  
अरवगन्धां समुत्पाद्य मूलाभ्येतानि निर्विणोत् ॥  
धान्यकं च यवानी च औरकं कृत्वा औरकम् ।

८ हे हृदि वषा चैव विद्वान् पीह्यो यथाः ॥—कात्या० भाष्य०, १९ १-२०।

९ यपालं ये अरवयुषाय तदादति।—१४९, पु० १३६।

अस्वमेध करे।<sup>१</sup> ऐतरेय ब्राह्मण में तो अस्वमेध से साम्राज्य भीम्य स्वाराज्य पारमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बतलाई है।<sup>२</sup> इसका प्रारम्भ फास्नुग सूक्त-वष्टमी या नवमी को अथवा ष्येष्ठ या आषाढ की इसी तिथि को याजक ब्राह्मणों को बह्मवीन सहस्रमी तथा सुवर्ण दिया जाता था।<sup>३</sup> इस समय विभिन्न सस्त्रियों-समेत राजा की चार रानियाँ उसके पास उपस्थित रहती थीं। अथवा या तो कासे गोक पिस्तौ-सहित सम्पूर्ण श्वेत होता या अथवा अप्रहृष्ट तथा शेष श्वेत अथवा श्यामपुच्छ या श्यामकर्म होता था।<sup>४</sup>

अस्वमेध की प्रक्रिया भी राजसूय के समान बीघ्न और बटिक है। इसमें साल-भर तक सार्यकारु श्रुति इष्टि की जाती<sup>५</sup> थी और वर्ष-भर तक ही सावित्री इष्टि जाती रहती थी, जिसमें पारिष्कव साम का पायन-अवध चलता था।<sup>६</sup> इस बीच यदि अस्व बीमार पड़ जाता या मर जाता तो कुछ अन्य इष्टियाँ करनी पड़ती थीं या अस्व को कच्ची मीन लेता तो यज्ञ मष्ट माना जाता था।

यज्ञशाखा में पशुओं के बलि के लिए २१ यूप गाड़े जाते थे जो अरति के बराबर ऊँचे रहते थे। इन यूपों में बहुत-से पशु बलि जाते थे और बलि दिये जाते थे। अन्त में अनेक विधियों के साथ जिनमें बह्मोच (धार्मिक संवाद जिसमें प्रश्न-पहेलियाँ तथा उत्तर होते हैं) होता था तथा अस्व की बलि करके उसके रक्त और मांस को पकाकर आहुति दी जाती थी।

अहोत—अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ प्रायः एकाह हैं। उनमें एक ही दिन प्रातः मध्याह्न और सार्य सोम की आहुति दी जाती है। बृहस्पति सब सोमक श्वेत उद्भिन्व

१ सर्वाङ्गं कामान्नाप्यन् सर्वा विजितीविजिगीषमाना सर्वा व्युष्टीभ्युशिव्यस्रस्वमेधेन यजेत ।—आश्व० १०-६१।

२ स य इच्छेदेवैर्बन्धुः क्षत्रियमथ सर्वाङ्गीक्रीडयेताम् सर्वाङ्गुलोकाङ्गुबिभेता य सर्वेषां राज्ञा ऋष्यमतिष्ठा परमताङ्गच्छेत् सास्राज्यं शौच्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यमाहु-राज्यमयमाधिपस्थमथ सगस्तपर्यायो स्यात् सर्वाङ्गीमः सर्वाङ्गुः आस्तादापरार्थत् पृथिव्यं समुद्रं पर्यन्ताया एकराडिति तमेतैर्नश्रेभ्य मह्मजियेकेष्य क्षत्रिय क्षापयिष्यात्प्रियिञ्चैत् ।—ऐत० ब्रा०, ३९१।

३ कात्या० श्रौ० सु०, २०-१-२ से ६ तथा लाय्या श्रौ० सु०, ११६-७।

४ या पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य सा आजाता राजपुत्री। अतपक्षिता परिवृक्षी।—कात्या० ११०-१२।

५ अतः ब्रा० ८४-२-४ तथा कात्या० श्रौ० सु० २०-१-२९ से ३५ तथा साट्या० श्रौ० सु० १९४।

६ आश्व० सं०, २२-७-८।

७ अतः ब्रा० १३-१३-५ तथा विसुष्टवाचि यजमाने सम्प्रेष्यति बीजा गणाकिनी देवविभं यजमानं सङ्गनप्लेति।—आश्व० ३०-७-१४, १५।

विश्वामित्र और वास्यस्तोम भी एकाह हैं। विद्वामित्र कर्त्ता एव सहस्र गाय अपवा अपन गाय की सारी सम्पत्ति दान कर स्वयं बुशों के नीचे निष्ठा पर जीवन व्यतीत करता था और बर्ष भर जो मित्र जाता था उषी निष्ठा पर विवाह करता था। गोसव का अनुष्ठान स्वराज्य का प्रस्ताव होता है।<sup>१</sup> गासव करने के बाद एक बप एक पशुघृत का अनुष्ठान किया जाता था जिसमें पशुघृत जाने-पीने और रहल का विधान है।<sup>२</sup>

दो स बारह दिन तक जिन यज्ञों में मृत्याकर्म हाथा है, वे अहीन कह जाते थे। इनकी समाप्ति छप्पा ही अतिरात्र से हाती थी और इनकी सम्पूर्ण भवधि बीसा और उपसद को निष्काकर एक मास से अधिक नहीं होती थी। ये पूजिमा को प्रारम्भ होते थे। इनके विरात्र (मग विरात्र) पंचरात्र पड़ह आदि बर्ष हैं। द्वादसाह की गणना अहीन और सत्र दोनों के अन्तर्गत है।<sup>३</sup>

अतिरात्र—माघ्य में उक्लिखित अतिरात्र एक दिन में समाप्त न हाकर एक दिन और एक रात्रि बीतने पर समाप्त हाता था इसीलिए इसे यह नाम दिया गया था। इसमें बहुत-सा अनुष्ठान स्तोत्र और सस्त्र अपेक्षित होते हैं। अतिरात्र स्तोत्र और दाम्ब ठेरह है। अतिरात्र सस्या में मृत्या (घोमरस के हवन) के दिन सम्बन्धी देवता के लिए पशुघृत किया जाता है।

अग्निष्टुत्—यह एक सामयाग विचार है। इस यग में त्रिवृत् नाम स्तोम-पद्धति में अग्निदेवता का स्तवन किया जाता है। अनुष्ठान का प्रकार अग्निष्वायन है। मत्र-सत्र में पाँड़ा अन्तर है। पापमाचन और अमन्त्र-मन्त्र-वाय निवृत्ति आदि के लिए यह सामयाग भिन्न भिन्न स्तोम-पद्धतियों से किया जाता है।

सत्र—मत्र और अहीन में मुख्य अन्तर यह था कि सत्र कबल ब्राह्मण कर सकते थे किन्तु अहीन तीनों वर्णों द्वारा किया जा सकता था। सत्र बर्षों तक चलता था किन्तु अहीन बारह दिन से अधिक नहीं होता था। मत्र में यजमान पुरोहित बना एक ही होते थे। इससे, उनमें बलिजा नहीं होती थी। अहीन का अन्तिम दिन अतिरात्र हाता था। किन्तु सत्र में प्रारम्भ और अन्त दोनों में अतिरात्र हाता था। मत्रों के दो भेद किये जा सकते हैं—रात्रिसत्र और अन्तररात्र। दीक्षसत्रों का प्रचलन पतञ्जलि में बहुत पहले ही काय हो चुका था।<sup>४</sup>

१ तैत्ति० ब्रा० २-७-६।

२ तैत्ति० ब्रा० संवत्सरं पशुघृतो भवति। उपावहायोवर्कं पिबेत्पुमानि चाग्निष्वायान्।

३ भाष्य० १०-५-२।

४ अग्निष्टुतो नामैकाहा—सोमविहृतपस्तेषु आग्नेयोऽग्निदेवतयो निपद्यन्त्यान्।—

मन्व्या० १५१; तत्र पीतमीयम् अग्न आगच्छ रोहिताभ्यां बृहद्भये घूमन्ततो अग्नदेवो विषर्वन्नाङ्गिरस ब्राह्मणाङ्गिरसो बुबाय इति प्राक् मृत्यावैनात् (एतावदेते मृत्यामित्यन-प्राक्)।— ताट्ट्या० १५१।

५ ताट्ट्या० ४१०-२।

सब-समाप्ति स पड़ना दिन जिस महाव्रत कहते हैं बहुत मनोरंजन होता था।<sup>१</sup> महान् प्रजापति का वाचक है। इस दिन प्रजापति को सोम की अतिरिक्त हवि दी जाती थी और उसके लिए पशुबलि दी जाती थी। ये हवि महाव्रतीय कहलाती थी। इस अवसर पर महाव्रत साम का गान होता था और उसके दाव बहुदुष्कता। इसके बाव भार्य-सूत्र-मुद्र ब्रह्मचारी और वेत्या का बाम्युद्र स्त्री-पुरुष-नीबुन आवि विभिन्न क्रियाएँ भी होती थीं जो अन्य यज्ञों में बजित थीं।

महाव्रत—किसी-किसी सोमयाग में महाव्रत नाम की एक विशेष विधि होती थी। यह प्रायः अग्निष्टोमादि सभों का व्रत थी। ऐतरेय आरण्यक में इसे एकदिवससाम्य स्वतन्त्र कर्तुं भी बताया है। इसमें कई मनोरंजक बातें होती थीं। आग्नीमीय मंडल के सामने और हविर्वात मंडल के बीच में फैलाये हुए एक घाटीदार जम को घ्राह्य और सूत्र ताकत से अपनी-अपनी ओर खींचते थे। होता झूले पर बैठकर अपने मंत्र बोलाता था। सुवर्षासन पर बैठकर मध्यम और स्वर्ण-अचित आसन पर बैठकर उद्याता अपने मंत्र बोलेते थे। जब उद्याता साम पाठे थे तब यजमान की स्त्रियाँ ही तारों के एक तन्तुबाध कर्करौ आवि अन्य बाधों के साथ उनका साथ देती थीं। कुछ वासियाँ सामान के समय सिर पर पानी से भरे बड़े रखकर आग्नीमीय मंडल के उत्तर में विधिप्रकार से नृत्य करती थीं। भूमि-नुदुमि से गान परताल बिया जाता था। पश्चात् एक अनुर्बर राजपुत्र के पास टांगे हुए चर्म पर बाध मारता था। बाम्य में महाव्रत ब्रह्मपर्य का भी उल्लेख है, जिसका अनुष्ठान महाव्रतिक कहलाता था।

अवभृथ—प्रातुर्गत्यो में अवनप्रवास सीत्रामणि और सर्व प्रकार के सोमयागों के अन्त में नदी आवि जल-प्रवाह के पास जाकर वह सोम बेवता के लिए छोटी-सी इच्छि की जाती है। उसके बाव स्नान-विधि होती है। याग-समाप्ति-वर्षक इस याग और स्नान को अवभृथ कहते हैं।

बाम्य में सवन और सब की चर्चा कई बार हुई है। सवन तीन होते हैं—प्रातः सवन को आर्षव माध्यन्दिन को अभिषवादि और साय का आदित्यारम्भण कहते हैं। ये आर्षवादि पचमान हैं।

सव—जिस यज्ञ के अन्त में यजमान का विधिप्र रीति से अभिषेक करना होता था उन यज्ञों का सव कहते थे। ये सव सोमरस पदार्थों और पुराहोस के हवन-प्रदान कार्यों से सम्पन्न किये जात थे। जोवनसव में पकाये भाग का होम मुख्य था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणादि क्रम स रूप थी वही और सव से भरा एक-एक पात्र यजमान को देते थे। उन चारों पात्रों में चार व्यक्ति हाथ लगाते थे एवं यजमान मंत्र बोलाता था। पश्चात् यजमान होम से बचा भात खाता था। बाव से यजमान को अभिषेक कराया जाता था। बाम्य में पंचवीदन सव आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है।

१ शीर्षतत्राणि भार्यसतित्राणि बापस्तह्निकाणि च महाव्रतस्य कश्चिदपि व्यवहृतिः।—

यज्ञशाला—यज्ञशाला के लिए याज्यकुल शय्य का प्रयोग भी मिकता है।<sup>१</sup> भाष्य में यज्ञशाला तथा उससे सम्बद्ध अनेक शय्य जाये हैं। यज्ञशाला में अग्नीध्र और यज्ञमान के रहने के लिए पूषक स्थान बनाये जाते थे जिन्हें ऋषदा अग्नीध्र और भावसप कहते थे।<sup>२</sup> भावसप में रहने के कारण यज्ञमान भावसपिक कहलाता था।<sup>३</sup> भावसप के पास मूत्रादि क्रियाएँ बजित थीं।<sup>४</sup> यह सज्ञा भावसप अग्नि के स्थान की थी।

यज्ञशाला के लिए उपयुक्त देश यज्ञिय कहा जाता था।<sup>५</sup> यज्ञभूमि का यह भाग जिसमें छत्रोद्योग शोष सम्मिलित रूप से स्तुतिगान करते थे संस्ताव कहलाता था।<sup>६</sup> भाष्य में यज्ञभूमि के लिए देवयजन शय्य का प्रयोग हुआ है और समाप नाम देवयजन का उत्कृष्ट मिसता है।

अग्निचयन—अग्न्याधान के पूष धृतियज्ञों में अग्निचयन होता था। भाष्यकार ने इस बिरया भी कहा है। अग्निचित्या यज्ञकुण्ड और यज्ञवेदी के निर्माण की क्रिया है। अग्निचयन स्वतन्त्र और अटिका चिपि है। सप्तपञ्चाहाय्य के तृतीययाग में अग्निचयन की प्रक्रिया है। प्रा० स्पन्दिम ने सऊड बुकस ऑफ् ईस्ट की भूमिका (वाल्जूम ४३ पृ० १४) में लिखा है कि अग्निचयन पहले स्वतन्त्र संस्कार था और बाद में सोमयज्ञों की प्रक्रिया में सम्मिलित कर दिया गया। यज्ञवेदी ईंटों से बनाई जाती थी और उसमें प्रजापति पुत्र होने के कारण पुरुष द्वारा निर्माण करने की भावना निहित थी।<sup>७</sup> इस प्रकार यज्ञमान प्राजापत्य कर्म का अन्तष्ठात करके सन्तोष-लाभ करता था। पाँच चिठियों (रहों) की वेदी सोमयाग का एक भय है यद्यपि यह अग्निधाय भय नहीं है। हाँ महाव्रत में जो गवामयन की समाप्ति के एक दिन पहले हाता है उसका हाता आपत्यक है। यज्ञ की नीब में एतदप्य बलि दिय गये पशुओं के सिर भी जुने जाते थे। यज्ञमान चाहता तो सोने या मिट्टी के बने सिर काम में ला सकता था।<sup>८</sup> वेदी कई प्रकार से बनाई जाती थी—यथा शोषचित् अक्षचित् इत्येनचित् कंकचित् सुपसंचित् आदि।<sup>९</sup> इनके लिए शीकोर तिथोमी पञ्चकाय

- १ उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि यत्वा प्रासनादीनि सभते।—१ १-५६ आ० १, पृ० ३३४।
- २ अग्नीध्र-शरणमाग्नीध्रम्।—४ ३ १२०, वा० ९ पृ० २५२।
- ३ भावसपात् प्लव।—४ ४-७४
- ४ दूरमावसपाग्नुमम्।—२ ३ ३५, वा० २, पृ० ४३०
- ५ ५ १-७१ काणिका।
- ६ संस्तावछत्रोद्योगानाम्। सभेत्य स्तुपन्ति छत्रोपा यस्मिन् सभेण संस्ताव इत्युच्यते।—३ ३ ३१ काणिका।
- ७ ६ ३ ९७ वा० १ पृ० ३५६।
- ८ अग्निचयनमेवाग्निचित्या अग्निचित्येति भावेऽस्तोदणो भवति।—३ १ १३२ वा० १ प्राजापत्यं वा एतत्कर्म प्रजापति ह्येतत् कर्मधारयते निरुपनी सं प्रजापति।—राज० वा० ६-२-२-२१।
९. कार्या० १६ १ ३२ तथा मध्या० ३ २-९१ तथा ३ २ ९२।
- १० तैत्ति० सं० ५ ४ ११; कार्या० १६-५ ९ तथा इत्येनचित् चिन्वीय मुबर्नकायः



भादि विविधाकार की पक्की ईंटों की आवश्यकता होती थी। भाष्य में इष्टकचित और पक्वेष्टक-चित का उल्लेख है।<sup>१</sup> आजकल स्वेनचित बेदी का ही विशेष प्रचार है। ईंटों के परिमाण और पुने ज्ञान के निश्चित नियम थे। इसके लिए वास्तुविद्या और रेखायमित दोनों का ज्ञान आवश्यक था। हर ईंट एक विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ रखी जाती थी? ईंटों के निश्चित नाम थे। 'यजुष्मती' ईंट बेबी के मध्य भाग में स्याई जाती थी पादों या पुच्छ भाग में नहीं लगाई जा सकती थी। जिस मंत्र को बोलकर इष्टका जपन किया जाता था उसे उपस्थान-मंत्र कहते थे। इसी प्रकार, जिस मंत्र द्वारा ईंट का उपस्थान किया जाता था वे उपस्थान-मंत्र कहलाते थे। जपन के समय बोके जानेवाले मंत्रों के आचार पर ईंटों के वर्णरत्ना श्रेयस्या पयस्या रेतस्या आदिनी वयस्या मूर्धन्वती भादि नाम होते थे।<sup>२</sup> शतपथब्राह्मण के अनुसार हर ईंट के लिए दो सी ईंटें आवश्यक होती थी।<sup>३</sup> इस प्रकार कुछ १००० ईंटों की आवश्यकता होती है। किन्हीं विकृति-मंत्रों में प्रकृति-मंत्र से दुगुनी या तिसुनी बड़ी बेबी की आवश्यकता होती थी जिसे द्विस्ताबा या त्रिस्ताबा बेबी कहते थे।<sup>४</sup> विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा बतलाये गये जपन-काण्ड में भी अन्तर है। इसके लिए गारा (पुरीय) चाल्वाक (पास में बनाये गये गड्ढे) से जोड़कर रेंगार किया जाता था। यज्ञसासा का कूड़ा आदि फेंकने के लिए उठकर या अवरुकर भी शाका के भीतर बनाया जाता था।<sup>५</sup>

जग्नि—जग्नि-जपन करनेवाक का जग्निचित् कहते हैं। भाष्यकार ने जनेक बार जग्निचित् शब्द का प्रयोग किया है।<sup>६</sup> जग्निघों में गार्हपत्य बक्षिणाग्नि और बक्षिणाग्नि की आवश्यकता थीत मायों में हाथी है। पाकयज्ञ केवस गार्हपत्य जग्नि में किये जाते हैं। गृहपति संयुक्त होने के कारण ही इसे गार्हपत्य कहते हैं। पतञ्जलि ने कहा है कि यदि गृहपति से संयुक्त होनेवाली जग्नि में अ्य प्रत्यय मान लिया तो बक्षिणाग्नि में भी अ्य प्रत्यय होना चाहिए।

कञ्जुचित् चिन्वीत यः कामयेत सीर्षप्रथामममुस्मिन्लोके स्यामिति । अस्तजचित् चिन्वीत चतुःसीतं प्रतिष्ठाकामः ।— तैत्ति० सं० ५४११ ।

१ इष्टककचित् चिन्वीत-पक्वेष्टकचित् चिन्वीत ।— १ १-७२, वा० २ पु ४४ ।

२ ४४-१२५ से १२७ आशिका ।

३ इत० वा० ११-५ २२ ।

४ द्विस्ताबा त्रिस्ताबा बेदिः, याक्ती प्रकृती वेतित्तरो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याग्निश्च विकृती तत्रेवं निपातनम् ।— ५ ४-८४ का० ।

५ पुराहुः आपराहुः आर्जुनप्रदीवावत्कराद् धुनः ।— ४ ३-२८ ।

६ १ १ ३, वा० ५, पु० ११५ ।

७. गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते तत्र बक्षिणाग्नावपि प्राप्नोति । बक्षिणाग्निरपि गृहपतिना संयुक्तः । एवं तर्हि गृहपतिना संयुक्त इत्युच्यते । सर्वत्र गृहपतिना संयुक्तत्वत्र प्रसर्व्यमिति विचारयते । ताचीयो यो गृहपतिना संयुक्त इति । कश्च ताचीयः यस्मिन् पत्नी संयात्रः स्यात्ते । अथवा गृहपति नमं मन्त्रं स यस्मिन्नुच्यते । अथवा संयायामिति वर्तते ।— ४-४-१० पु० २८६ ।

दक्षिणाग्नि का भी सवाग गृहपति से होता है। उसमें भी गृहपति यज्ञ करता है। इसलिये, जिसका गृहपति से विशेष संयोग हो उससे प्रत्यय होता है और त्रिगण संयोग गृहपति का उस अग्नि सहाता है जिसमें पत्नी-संवाद्य किय जाते हैं अथवा जिसमें गृहपति नाम का मंत्र वाक्ता जाता है। गाहपत्य शब्द अग्निविशेष में शब्द संज्ञा भी मान सकते हैं। ब्राह्मण्य के अनुसार जिसमें गृहपति पाणिग्रहण करता है वह गृह्य अग्नि होती है।<sup>१</sup> विवाह के समय होनेवाले हवन को अग्नि को गृहस्य सर्वदा प्रशंसित रक्ता वा और उसी में दैनन्दिन होम करना वा। गाहपत्याग्नि अम्बरोप वा भद्रभूते के यहाँ से वा भूत को छाड़कर अथ किमी बहुयात्री परिवार से साकर प्रतिष्ठित वा जा सकती थी।<sup>२</sup> पारम्पर के अनुसार बाग-काष्ठ के अतिरिक्त दायाघकाष्ठ में भी सयज्ञ परिवार के बेटेबारे के साथ विमक्त भ्राना स्वतन्त्र आबसध्याग्नि की स्थापना कर सकते हैं।<sup>३</sup> आनाय्य उस विशेष दक्षिणाग्नि को कहते हैं, जो गाहपत्य अग्नि म सकर प्रतिष्ठित की जाती है और मन्त्र प्रशंसित नहीं रक्ती जाती। दक्षिणाग्नि बैद्य-भुक्त म या भ्राष्ट्र स या गाहपत्य मे लाई जाती है। दक्षिणाग्नि और आहवनीय वा मूल यदि एक ही गृह्याग्नि हो वा उमे आनाय्य कहते हैं। त्रिगण दक्षिणाग्नि का मूल कारण आहवनीय से मित्र हा उस आनाय्य कहकर जानय कहत हैं। यत्रा कृतियों के अनुसार अन्क यज्ञाग्निओं के पुषक-पुषक नाम हैं और उनके लिए विशेष प्रकार की बेदियाँ बनाने का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ नाशिवेत<sup>४</sup> निष्टवप। नाशिवेत वाग्म चयन का एक मंत्र है। कठ महर्षि ने त्रिस चयन-वदति का प्रकार किया उस काठक कहत है। ये पाँच प्रकार की हाठी हैं—नाशिवेत नाशिवेत चानुहोत वैद्यमूत्र और भद्रभक्तु। विद्यम अग्नि वा तीन रूप हान हैं—प्रारम्भ अर्थात् कुण्ड म प्रशंसन क पुष तयार अग्नि परिषाय्य सर्वप्रमान अवस्था का अग्नि उपचाय्य और जयकर बुद्धी हुई अग्नि में समूह कही जाती है। परिषाय्य का फल प्राप्तिक्रम कहा गया है।<sup>५</sup> परिषाय्य उपचाय्य समूह और विद्यम य मत्र विद्या शिबिदियों में यज्ञाग्निओं के नाम हैं। इनमें स प्रत्यक क चयन क भिन्न-भिन्न प्रकार और फल मान

- १ ब्राह्मण० पृ० सू० १-५ १ से ५।
- २ यस्मिन्नग्नी पाणि गृह्योपास्तगृह्य—यस्मिन् वाग्मर्यो समिपमारध्यात् अम्बरी वाद्या नयेत बहुयात्रिनी शोऽगाराक्युद्धवर्द्धम् ।—ब्राह्मण० पृ० सू० १-५ १ से ५।
- ३ आबसध्यावाग्नं वारकाले-आवापकाले एव वेवान्-यश्चमहायज्ञा इति श्रुते ।—पार० गृ० सू० आबसध्यावाग्न सू० १, २, ६।
- ४ आनाय्योऽर्जित्ये-दक्षिणाग्नादिति बचनय्यम्-आनेयोऽय्य। आनाय्योऽर्जित्य इति केह्लिज्ञानो कृत भवेत्। एकयोगी तु तं विद्यारानेयोऽयोऽय्यया भवेत् ।—३-१ १२७ पृ० १९३, १९४ तथा वा० ।
- ५ योऽग्निं नाशिवेतं चिनुते य ३ चनमेवं वेद।—आ० १ पृ० २३ तथा ह्यशाहनि रक्तः।—पिता म ३-२-६६ का०-कम्यवाहनं चिनुमाम् ।—३ २-६५, का० ।
- ६ परिषाय्यं चिन्वीत पापकाम ।—गण० वा० ५४ ११ ३।
- ७ अग्नी परिषाय्योपचाय्यममूह्या ।—समूह्यं चिन्वीत पमूकाम । वगरी चं पुरोचम् । पानेवास्यै तसमूह्या ।—३ १ १३१ पृ० १९५।

जलते हैं। जवाहरपार्थ पद्म-समुद्रि की कामताबासे को मिष्टनर्पिणि का चयन करना चाहिए।<sup>१</sup> समुद्राग्नि का भी एक पद्म-वृद्धि है। अग्नि-चयन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीप या गारा पद्मवर्षों का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-चयन के लिए पुरीप एकत्र करता है वह अपने लिए पद्म एकत्र करता है। पंसा समझना चाहिए।<sup>२</sup> कार्य के अनुसार अग्नि के हृष्यबाहन कम्प्यबाहन पुरीप बाहन पुरीप्यबाहन आदि नाम मिलते हैं।<sup>३</sup> हृष्य का देवताओं तक तथा कम्प्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हृष्यबाहन और कम्प्यबाहन भी है। वेद में उस हृष्यवाद् अक्षर को पिता कहा है। हृष्यबाहन को त्रिर्याग्नि भी कहा है।

अग्नि देवताओं तक हृष्य इष्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए, ऋग्वेद में उसे सालात् पुरोहित होता ऋत्विक् और रत्नमासुर कहा है।<sup>४</sup> माध्य में हिरण्यवर्ण और शक्ति शम्भ अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।

समिष्—अग्नि के आधान के लिए समिष्ठा की आवश्यकता होती है। समिष्ठाएँ पीपल उवुम्बर, खदिर या पलाश की होती थीं।<sup>५</sup> इनके प्राप्त न होने पर विभीतक बिस्वक त्रिस्वक वायक मौप निम्ब राक्षसुल सास्मली बरसु, दमित्य कविदार और स्केष्मातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेयन के लिए हो सकता है।<sup>६</sup> समिष्ठाएँ अरलि (लगभग एक हाथ) और प्रदेस (बिस्ता) बराबर समी कटी जाती थी। समिष्ठाओं का आधान विशेष ऋषामो के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिष्ठी कहलाती हैं। समिष्ठाओं का इष्ट भी कहते थे। सामिष्ठी ऋचाएँ तेरह हैं किन्तु प्रथम और अंतिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है इसलिए ये सप्तत्रय सामिष्ठी कहलाती हैं। सत्रह ही समिष्ठाएँ कटी जाती हैं और प्रति ऋचा के साथ एक समिष् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रदेस या सत्रह अरलि भर करनी सकड़ी अग्नि में नहीं रखी जाती क्योंकि एक सत्रह अरलि या प्रदेस

१ मिष्टनर्पं विन्वीत पद्मकाम्—३-१ १२३, पृ० १९१।

२ कम्प्यपुरीपपुरोप्येपुष्पुट-हृष्येज्ज-पाठम्—३-२ ६५ ६६।

३ अग्निमीड पुरोहितम् यज्ञस्य शेषमृत्विजम् होताः रत्नमासुरम्—१ ११।

४ हिरण्यवर्णां शुभयं पादकाः—३-४५ वा २, पृ० १८९।

५ समिष् आध्यात्—(बीहुम्बराः खदिराः पालाशास्तत्रमात्रे यज्ञियाः पञ्चवदस

समिष्ठीगतावाप्य—ब्राह्म० सू० सू० १-२ २१ चरस्कन्धवृत्ति।

६ अकेष्मानुपकम्पयते आधिरान् वापलासान् वा०। आधिरपालाशामात्रे विभीतक बिस्वकत्रिस्वकवायकमौपनिम्बराक्षसुलसास सास्मलीरत्नदमित्यकोविदारस्केष्मातकवर्षं सर्ववतस्परीगामिष्वतो यथार्थं स्यात्—गोमिल पृ० सू० प्रपा० १ क ५, स० १४, १५।

७. आग्नेः समिष्ठायां ऋचं सामिष्येयं (आश्व० भाष्य० १२-३) तथा हृष्येष्वात्-हृष्यर्षिष्येनाग्निं तस्माद्विन्वी नाम। समिष्णे सामिष्येनोभिर्होता तस्मात्सामिष्येयो नाम—शात० ब्रा० १ ३५ १।

८. सप्तत्रयासाधियस्या भवतीति त्रिं प्रथमामन्वाह विद्वत्सामित्यावृत्तिं सप्ता-द्वयार्थं भवति—आ० २ प० ४१।

यत् सन्धा काष्ठवेणी में ममा नहीं मक्ता हुम्ने प्रति प्रणव एक समिन् रन्ने का विधान है।  
 आश्व० (१-७) में अनुमा श्रुत्येद की ३-२७-१ १६ १० मे १२ ३-७-१ मे १५ १ १२ १  
 (३ २७-४ ५ २८ ५ अर ६) य ११ मामिषनी श्रुतार्हे हैं। दशमीपमाम म पशुह मामिषनी  
 अरेभिन होंती है। उदर्व (प्रबो बाबा श्रु० ० ७७-१) प्रथम तथा (मात्रज्ञान ५-२८ ६)  
 अन्तिम का शान्त-शान्त बार आकृति कर यह मन्था पूरी का जाता है। मामिषना एक श्रुति  
 में पड़ी जाती है। माष्य में पलाश भीर मन्वत्य की समिषायों का नामपूत्रक उम्प्य किया है।  
 विभिन्न मामिषनी को भाष्या करते हैं।

हृषिय—यज्ञाहुति प्रथो म माष्य वा म्पान प्रमुन है। यज्ञ व हृषिय द्युत का आश्रय  
 कहन है। माष्य म उमे रुडममा कहा है। यज्ञ तिल और व्रीहि क चाबनों की आहुति मामाय  
 है। उण्डुक चद भीर बलि दोनों क काम आते हैं। चद माहुप्याग्नि स अगार मेकर पूतहे पर  
 मन्थाकारनादि पूत्रक यज्ञम पकाय गम चाबनों का कहन है। अग्नि में पकाय जाने क कारण  
 चर अग्निमान्-सा कहा गया है। जिन चाबनों म चर बनाया जाता है वे चरम्य उण्डुक बह्यात  
 हैं। हुम्न में पकाय मय उण्डुकों का पयमि चर करते हैं। तण्डस (पकाय हुए) बलि क  
 काम भी आते हैं इसलिये उन्हें बाल्य भी कहत हैं। पुराडाग भी व्रीहि क पिण्ड का बनता  
 है। व्रीहि का पुराडाग व्रीहियय कहनाता है। पुराडाग उ गी-मगी रत्नी क समान हाता है।  
 पुट या पहनी आहुति के कर में पकाय जाने के कारण इस पुराडाग कहन है। जादिधा की भी  
 हृषि हर्ती है जो मामिष्य या मामिषीय कही जाती है।<sup>१</sup> अ भिगा मायकाल क जमाय हुए दूध  
 में प्राण-काल क गम दूध का डालकर बन ई जाती है। गम दूध म दही डालने पर मक्का दा नाग  
 हा जान है। चर्नामून भाग आमिषा भीर अन्न-अप नाग बजिम करमाना है। चर दधि भीर अणुप

१ सप्तहस्य सामिषम्यो भवन्तीति न सप्तहगारलिमात्रं काष्ठमप्याबन्धाधीयते।  
 विषय उपप्यात। प्रयुञ्चं चैव हि तत्कम बोधते सम्भवदधानी वेदांश्च। यथा तर्हि सप्तहस्य-  
 प्रादेशामाशारादवत्सी समिषीम्याहयति न प्रादेशामात्रं काष्ठमप्याधीयत। अप्रापि प्रति  
 प्रमव चरतत्कम चाद्यते तुष्यारचासम्भबोन्ती वेदांश्च।—भा० २ पु० ६२।

- २ बही तथा पालाती समिन।—४ ३ ११५, पु० २६६।
- ३ ३ १ १२९
- ४ अश्वेनावापर्मव्यात्रं कस्यम्यम्-आश्व्यम्।—३ १ १०९, वा० २ पु० १८५।
- ५ ४ ३ १४८, १४९।
- ६ ८ २-१५, पु० ३३९।
- ७ चरष्यास्तण्डुकाः।—५ १-२ वा ३ पु० २९५।
- ८ बालेयास्तण्डुकाः।—५ १ १३ वा ३०४।
- ९ व्रीहिः पुरोडासो।—४ ३ १४८
- १० पुरोडा पुर-डासने दीपने इति।—३-२-७१ पु० २२७।
- ११ हृषिकुपादिभ्यो विभाषाया अक्काणः समिषयम् आमिषीयम् पुरोडास्यम्।  
 पुरोडास्योपम् ५ १-२ वा० ३ पु० २९५।

जाते हैं। उच्चाह्वरणार्थं पशु-समृद्धि की कामनाबाल को निष्टवर्षाग्नि का ज्वन करना चाहिए।<sup>१</sup> समुद्घातिन का भी एक पशु-वृद्धि है। अग्नि-ज्वन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीप या गारा पशुओं का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-ज्वन के लिए पुरीप एकत्र करता है वह अपने लिए पशु एकत्र करता है। ऐसा समझना चाहिए।<sup>२</sup> काय के अनुसार अग्नि के हृष्यबाहन कष्यबाहन पुरीप बाहन पुरीप्यबाहन आदि नाम मिलते हैं।<sup>३</sup> हृष्य को दबताओं तक तथा कष्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हृष्यबाहन और कष्यबाहन भी है। वेद में उसे हृष्यबाह्न अथवा मोर पिता कहा है। हृष्यबाहन को चिरयाग्नि भी कहा है।

अग्नि दबताओं तक हृष्य इष्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए, ऋग्वेद में उसे साक्षात् पुरोहित होता ऋषिबक और रत्नमासुर कहा है।<sup>४</sup> भाष्य में हिरण्यवर्षा और वाचि वाच्य अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।

समिध्—अग्नि के आधान के लिए समिधा की आवश्यकता होती है। समिधार्थं पीपल अनुम्बर, काबिर या पलाश की होती थी।<sup>५</sup> इनके प्राप्त न होने पर विनीतक विश्वक तिस्रक वायक नीप निम्ब राजबुल शास्मली अरस्तु, बभित्य कोविदार और इलेप्यातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेयान्न के लिए हो सकता है।<sup>६</sup> समिधार्थं अरतिन (सगमय एक हाथ) और प्रादेश (विष्ठा) कराबर सम्भी कटी जाती थी। समिधार्थं का आधान विशेष ऋचाओं के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिधनी कहलाती हैं। समिधार्थं का इधम भी कहते थे। सामिधानी ऋचाएँ तेरह हैं किन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है इसलिए वे सप्तदश सामिधेनी कहलाती हैं। सत्रह ही समिधार्थं कटी जाती है और प्रति ऋचा के साथ एक समिध् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रादेश या सत्रह अरतिन-अथ सम्भी ककड़ी अग्नि में नहीं रख दी जाती क्योंकि एक सत्रह अरतिन या प्रादेश

१ निष्टवर्षं चिन्वीत पशुकामः।—३-१ १२३, पृ० १९१।

२ कष्यपुरीपपुरीप्येषवपुद्-हृष्येऽस्त-वाहम् ।—३-२ ६५ ६६ ।

३ अग्निमीडे पुरोहितम् पतस्य देवमृत्विजम् होताटं रत्नमासमम् ।—१ १ १।

४ हिरण्यवर्षा सुचयः पत्नकाः।—३-४-४५, वा २, पृ० १८९।

५ समिध आम्बर- (अनुम्बरा काबिराः पालाशास्तवमाथे धमिया पञ्चदश समिधोऽग्रावापाम् ।—शाङ्खा० पृ० सू० १ २ २१ इत्यन्वयवृत्ति ।

६ अग्नेध्यानुपकल्पयते काबिरान् वापालाशान् वा०। काबिरपालाशामाथे विनीतक विश्वकतिस्रकवाचकनीपनिम्बराजबुलशाश सासमशरत्नबभित्यकोविदारइलेप्यातकवर्षे सर्ववतस्परीतामिधोऽग्नेो यथावत्स्मान् ।—श्रीभिल्ल पृ० सू प्रया० १ क० ५, स० १४ १५।

७ आग्ने सामिधनार्वा ऋचा सामिधेभ्यः (आश्व० भाष्य० १ २ ३) तथा इग्नेह्यपत्-इष्यर्षुचिधेनाग्नि तस्मादिग्नेो नाम। समिध् सामिधेनोभिर्होता तस्यात्सामिधेभ्यो नाम ।—पत ३। १ ३-५ १।

८ सप्तदशासादिषत्या मवर्षीति त्रिः प्रथमामम्बाह त्रिस्तमामित्यावृत्ति सप्त-दशार्थं भवति ।—सा० २ प ४१।

मर सम्भा काष्ठबन्दी में समा नहीं सकता दूसरे प्रति प्रथम एक समिन् रत्ने का विधान है।<sup>१</sup>  
 भास्व० (१-२-७) के अनुसार ऋग्वेद की ३ २७-१ १६ १० म १२ २७-१३ से १५ १ १२ १  
 (३-२७-४ ५ २८ ५ अंर ६) ये ११ सामिपनी ऋचाएँ हैं। शर्वांगणमाम में पन्हु सामिपनी  
 अवैधित होती है। तदर्थ (प्रबो वात्रा ऋम्० १-२७-१) प्रथम तथा (आबुहाउ ५ २८ ६)  
 अन्तिम को तात्कालिन बार आहुति कर यह सक्या पूरी की जाती है। सामिपनी एक द्युति  
 में पड़ी जाती है। माप्य में पकाय और अस्वत्व की समिपार्श्वों का नामपुषक उस्त्यन किया है।<sup>१</sup>  
 विशिष्ट सामिपनी को माप्या कहते हैं।<sup>१</sup>

हृदिय—यज्ञाहुति इयों म आर्य का स्वान प्रमुख है। यज्ञ क हृदिय द्युत का भाग्य  
 कहते हैं। माप्य में उस रुद्र मन्त्रा कहा है। यह तिल और वीहि के आबलों की आहुति सामाग्य  
 है।<sup>१</sup> तण्डुल चर और बसि दोनों क काम आते हैं। चर माहपर्यागि स अगार लेकर बूहे पर  
 मन्त्रोच्चारणादि पूर्वक यत्राय पकाय गय आबला का कहत है। अग्नि म पकाय जाने क कारण  
 चर अग्निमान्-सा कहा गया है।<sup>१</sup> जिन आबलों से चर बनाया जाता है वे चरम्य तण्डुल कहलाते  
 हैं। द्रुम में पकाये गये तण्डुला क, पयमि चर कहत हैं। तण्डुल (पकाय हुए) यसि के  
 काम भी आते हैं इसलिये उन्हें बाम्य मी कहत है। पुराडाग भी वीहि क पिष्ट का बनता  
 है। वीहि का पुरोडाग वाहिमय कहलाता है।<sup>१</sup> पुराडाग छत्ती-मापी रात्री क समान जाता है।  
 पुरः या पहली आहुति क रूप में पडाये जाने क कारण इस पुराडाग कहते हैं।<sup>१</sup> आमिशा की भी  
 हवि होती है जो आमिश्य या आभिशीय कही जाती है।<sup>१</sup> य मित्ता मायकाल क जमाय हुए द्रुम  
 में प्रातःकाल के गम द्रुम को बालकर बनाई जाती है। गर्म द्रुम में दही डालने पर द्रुमक का भाग  
 ही आत है। धनीभूत भाग आमिशा अंर अल-रूप भाग अग्निन कहलाता है। चर दधि और अपूप

१ सप्तबन् सामिपेभ्यो भवन्तीति न सप्तवशास्तिमात्रं काष्ठमप्यावम्यापीयते।  
 विषम उपम्यास। प्रत्युर्बं चर हि तत्कर्म षोद्यते। सप्तवशवागनी वेद्यां च। यथा तर्हि सप्तवश-  
 प्रावेद्यमात्रात्वावत्यी समिपोभ्यावपति न प्रावेद्यमात्रं काष्ठमप्यापीयते। अत्रापि प्रति  
 प्रथमं चैव तत्कर्म षोद्यते तुस्यन्वात्सम्मर्षोऽप्यी वेद्यां च।—भा० २, पु० ६२।

२ वही तथा पालानी समित।—४ ३ ११५, पु० २६६।

३ ३ १ १२९

४ अग्नेवेदोपसंस्थानं कतव्यम्-माग्यम्।—३ १ १०९, वा० २ पु० १८५।

५ ४ ३-१४८, १४९।

६ ८ २ १५, पु० ३३५।

७ अरव्यास्तण्डुला।—५ १ २ वा० ३ पु० २९५।

८ बालेभ्यास्तण्डुलाः।—५ १ १३ प० ३०४।

९ वीहि पुरोडागे।—४ ३ १४८

१० पुरोडाः पुरः वाप्यते वीयने इति।—३-२-७१ पु० २२७।

११ हविरपुषाविष्मयी विभाषाया अक्कासः अविषयम् आमिपोपम् पुरोडाग्यम्।

पुरोडागोपम् ५ १ २ वा० ३ पु० २९५।

एक साथ भी हवि के काम आते हैं। भाष्य में यह को अपूपवान् बभिवान् सरस्वतीवान् और भारतीवान् कहा है।<sup>१</sup> स्वाधी में परिपक्व भोजन या स्वाधीपाक हवि कहलाती है। जिस देवता को स्वाधीपाक की हवि दी जाती है उसी के नाम पर स्वाधीपाक का नाम रख दिया जाता है। जैसे मा देवता को स्वाधीपाक की 'अ' सजा होती है।<sup>२</sup> उसी प्रकार वपताओं के नाम पर यह भी आग्नय कासेय आदि कहलाते हैं।<sup>३</sup> यह या पुरोडाश बितने कपालों में पकाये जाते हैं, उनके अनुसार उनके नाम होते हैं—यथा अष्टकपालं चरुं पंचकपालं पुरोडाशं आदि। हवि या आहुति का नाम होम के आभार पर भी होता है—जैसे स्विष्टकृत् होम में ही जानेवाली आहुति सौविष्टकृती होती है। यवागू हवि का उल्लेख ऊपर ही ही चुका है। जिन यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी उनमें वसन्त-मांसादि की आहुति होती थी।<sup>४</sup> आहुति की बलि भी मित्र-मित्र देवताओं के नाम पर चढ़ाई जाती थी।<sup>५</sup> बलि देनेवाले को बलिकर कहते हैं।<sup>६</sup>

सामाम्य—सोमपायी अग्निहोत्री अग्निहोत्र में अमावस्येष्टि को इन्द्राग्नि के बरसे इन्द्र या महेश्वर को आहुति देते हैं। इनका हविर्ब्रह्म पुरोडाश से मित्र होता है। वे अमावास्या की राति को ब्रह्म जमा देते हैं और अपने बिन उस जगे रही और उपाये हुये ब्रह्म के मित्र का हविर्ब्रह्म बनाते हैं। रही और ब्रह्म के इस मित्रित हवि को सामाम्य कहते हैं।

पशुबलि—यज्ञों में पशुबलि की प्रथा थी किन्तु सब यज्ञों में पशुबलि आवश्यक नहीं थी। जिन यज्ञों में बलि दी जाती थी उनमें भी पशु की बलि करना वैकल्पिक था।<sup>७</sup> भाष्यकार ने पशु और अन्नदान को वैकल्पिक रूप से मेध्य कहा है। यों और अन्न मुख्य बलिपशु थे।<sup>८</sup> जो में पाय और वैक दोनों सम्मिश्रित थे। स्वरूपपुत्री अन्नदवाहा मेध्य मानी जाती थी। भाष्यकार ने स्वरूपपुत्री पाय के अर्थ पर सन्नेह करते हुए कहा है कि स्वरूप और पुत्रवाणी अथवा बह-बहे पुत्रवाणी ये दोनों अर्थ इस पाय के हो सकते हैं। केवल स्वरूप ज्ञान से ही जाना जा

१ सरस्वतीवान् भारतीवान् अपूपवान् बभिवान् चरुवाश्वरित्यत्र न प्राप्नोति। —८-२ १५,

पृ० ३३९

२ मादेवताऽस्य स्वाधीपाकस्य अ स्वाधीपाकः। —७-३-३३, पृ० १८४

३ अग्निदेवताऽस्याग्नेय कलिदेवताऽस्य कासेयऽश्वकः। —४-२-७, पृ० १६९ तथा

अप्रावायाऽप्रपतये य आहुतिमप्रावाकृत्वा। —३-२-१, वा० पृ० २०५।

४ अष्टकपालं चरुं निर्ब्रह्मेत् हविवोति किम् अष्टकपालं ब्राह्मणस्य। —३-३-४६,

वा० २, पृ० ३३४।

५ इन्द्राग्निम्यो छानं हविर्ब्रह्मं मेक प्रस्थितं पश्य। —२ ३ ६१, पृ० ४४८।

६ क्रुशेरबलिः महाराजबलिः। —२ १ ३६ काश्रि०।

७ बलिकारः। —३-२-२१।

८ मेध्यं पशुविमावितं मेध्योऽनुब्रह्मन् विमावित इति। नतद्विभार्यतेनब्रह्मप्रा नब्रह्मिति। किं तद्दि आत्मव्यप्यो भोवेत्तद्व्यप्य इति। —१ १ ४४, वा० १५, पृ० २६३।

९ वीरनुवप्योऽग्निवोमीय इति न वाहीकोऽनुवप्यते। —१ १ १५, पृ० १८७।

सकृदा है कि कौसी गाय आठम्भन के लिए उपयुक्त होती है।' गा घुक्क और कृष्ण दानों प्रकार के मेघ्य थे। जहाँ घुक्क का विधान है वहाँ घुक्क की ही बलि उपयुक्त मानी जाती थी। इसी प्रकार, कृष्ण यो के विषय में समझना चाहिए।' यो के मारन उसम जुमा बेसन और उस बेंट में बेन का भी भाष्य में उल्लेख है। अत्र कौ बलि अग्नीषोम और इन्द्रान्नि का दी जाती थी।' अत्र क लिए सामान्य पशु की बलि का भाष्य में बचन है। पशु की बलि चङ्गान का अथ पशु को अग्नि में प्रक्षिप्त करना माना जाता था।' एक स्थान पर इन्द्रान्नि को छाग की हवि बसा और मेघस् चङ्गान का भी उल्लेख है।' वेबस अग्नि के लिए भी छाग बसा और मेघस् को आहुति का विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।'

पशुमेघ स्वतन्त्र यज्ञ भी है और सामवाय का अंग भी। प्रथम को निकृड-पशुमेघ कहते हैं और द्वितीय को सौमिक।' निकृड पशु अग्नीषोमीय पशु का ही दूसरा रूप है। पशुमेघ बापिक (बर्षा ऋतु में) या उत्तरायन और दक्षिणायन का प्रारम्भ होने पर किये जाते थे। आतुर्मास्य यज्ञों के लिए आबस्वक पाँच पुरोहितों के अतिरिक्त पशुमेघ म प्रगासू नामक छठे पुराहित की भी आवश्यकता होती थी जिसे मीत्रावरण भी कहते थे।

सौम—अग्निचित् क समान सोममुत्तु का भी भाष्य में बार-बार उल्लेख मिलता है। ऋतुओं में सोममुत्सा का दिन मुख्य माना जाता था। साम के अग्निपवन कौ बड़ी रन्धी प्रक्रिया भीतयाग के ग्रन्थों में ही है। कुछ लोग सोमबस्वी के बिक्रय का व्यवसाय करते थे। वे भूखरन्त पशु से सोम लेकर उसे माड़ियों पर झानकर बेचने निकलते थे। अर्धर्षु उम जस म अम्मशित कर पूछता था 'सोमबिक्रयिन् बया तुम सोम बचने हा? बिक्री उतर देता था 'हाँ बेचता हूँ। अर्धर्षु पूछता था 'क्या ब भूखरन्त स काये पय है? बिक्री 'हाँ' में उत्तर देता था। फिर अर्धर्षु इसी प्रकार बाछीलाप करना हुआ छाग या बन्त या हिरण्य म साम मरीन्ता था। मादगापन ऋनानानुमत्रप ऋयगानुगमन जदधाम मामोपस्थान ऋगानिमदान सोमविमान माम बण्टन मामावेक्षम धकट-नरिबहन उपप्लम्भन कामन्दी-अनिष्ठापन आदि क्रियाएँ ऋण म

- १ स्मृतपुष्यतीमनद्वाहीमाभर्षेति-तस्यां सत्येह—स्मृता जाती पूषती च स्मृतपुष्यती स्मृतानि पुषन्ति मस्याः सा स्मृतपुष्यती। ता मा बयाकरणं स्वर्ततोप्यवस्यति।—भा० १ पृ ३।
- २ श्वरत्मानमेत कृष्णमासमेत। तत्र य श्वरत् आकल्पये कृष्णमासमेत महि तिन यपोस्तं हतं भवति।—१ १ १ वा० १३ पृ० १०६।
- ३ गां ध्नन्ति गां प्रवीष्यन्ति गां सभासदृम्य उपहरन्ति।—२-३-६० पृ० ४४८।
- ४ गौरमुद्गप्योऽजोऽग्निषोमीय।—१ १ १५ पृ० १८७ इन्द्रान्निष्यां छागं हविर्बवा मेरु प्रक्षिर्त्नं पय।—२ ३ ६१ पृ० ४४८।
- ५ पशु ना ह्यं यजते। पशुं छाग्य बदापतिपर्व। अग्नी बिल पदाः प्रक्षिप्यते तद् छागोपहित इति।—१ ४ ३२, पृ० १६९।
- ६ अल्पये छागस्य हविवो बपायः मेरुस प्रेष्य(पा) अनुहृदि।—२ ३ ९१, वासि०।
- ७ आबस्व० ३-८ ३ ४।
- ८ १ १ ३ वा० ५, पृ० ११५ तथा १ ४ २ वा० १४ पृ० १२१।



सम्बद्ध थीं।<sup>१</sup> फिर मद्यन्ती जल से उसका आप्यायन होता था।<sup>२</sup> वह गोचर्म पर फैलावा जाता था<sup>३</sup> और पत्थर से पीसा जाता। इसीलिए इस अत्रिसुत अत्रिदुग्ध और अत्रिसंहत कहते थे।<sup>४</sup> माष्य में भी इसे अत्रिमिसुतम् कहा है।<sup>५</sup> सोम पीसने-छानने की क्रिया आसुति कहलाती थी।<sup>६</sup> सोम के रस निकालने की क्रिया को सुत्या (३३ १९) कहते थे। सोमसुत् को सुत्या भी कहते थे (३२ १०३)। सुम्बन् यजमान की मजा थी। कुछ सर्षों में जहाँ याजक स्वयं यजमान रहते थे और सर्षी कहलाते थे सुम्बन् माने जाते थे। पाणिनि ने प्रमुख कर्तृक रूप से सुत्या करनेवाले को सुम्बन् कहा है। इसमें दूध भी आवि भी मिलाये जाते थे। ये सब क्रियाएँ पबन कहलाती थीं।<sup>७</sup> सम्मबत सोम पकामा भी जाता था इसीलिए बहुबचन में आटा-सोमा<sup>८</sup> और एकवचन में श्रित सोम ये विशिष्ट बहिक प्रयोग मिलते हैं, जिनकी निपातन-साधुता पर भाष्यकार ने भी विचार किया है।<sup>९</sup>

सोम मधु मिलाकर पिमा जाता था। इसे सोम्यमधु कहते थे।<sup>१०</sup> इसे पीने के अधिकारी ब्राह्मण भी सोम्य कह जाते हैं।<sup>११</sup> याज्ञिक परम्परा के अनुसार जिसकी दस ऊपरी पीड़ियों में कोई पुरुष ब्राह्मण-वर्तस्व-विहीन न हुआ हो वही ब्राह्मण सोमपान का अधिकारी हो सकता है।<sup>१२</sup> यदि किसी कारण सोम उपसम्भ न हो सकता तो उसके स्थान पर पूतीक तृणों की सुत्या की जा सकती थी किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सोम के उपयोग की उपेक्षा कर दी जाय।<sup>१३</sup>

सोम विश्व्यदुस्सित कर्म माता जाता था और इसीलिए सोम बचनवाले को सोमविश्वयी

१ अत्रिसुतार्चनबचन पृ० २६८ से २७८ ।

२ यवद्विः परिविष्यसे मुश्वमन्तो गमस्त्यो ।—ऋग्वे० ९ ६५ ३ ।

३ एवसोमो अमित्बधि गवां कीचति अत्रिमि ।—ऋग्वे० ९ ६-२९ तथा यद्ये अमित्बधि । ९ १०१ १६ ।

४ अत्रिसुतः ।—ऋग्वे० ९-७२ ४ अत्रिदुग्ध ।—९-५४ ९; अत्रिसंहत ९ ९८-६, वही ।

५ ६ १ ११५, वा० ३ पृ० १७४ ।

६ आसुति करिष्ठ ।—६ ४ १५४, पृ० ४९३ ।

७ ३-२-१३२, संयोगग्रहणं प्रबानकर्तृकप्रतिपत्त्यर्षम्-याजकेषु माभूत् ।—ऋग्वे० ।

८ सोमं पबमान ।—२ ३ ६९ वा० ५, पृ० ४५६ ।

९ पिता श्रितमिति किं निपातयेत्? श्रीपातेः क्ते आमाश्रिमिमावी निपातयेते ।—सोमबहुत्वे आमाश्रोऽप्यत्र श्रितात् ।—६ १ ३६, पृ० ६२ तथा ऋग्वे० ९-८ ६-७ तथा ९-८ ६ १० ।

१० मदेव सोम्यं मधु पिबन्ति ।—ऋ० ४४ १३८ ।

११ सोममर्हति य-सोममहन्ति सोम्याः ब्राह्मणाः ।—वही ४-४ १३७ ।

१२ एवं द्विपातिकः पठन्ति-वापुषवानुर्द्ध्वस्य गुह्ये शूद्रा न पिबेरन् स सोमं पिबेदिति ।—

४ १ ९३ वा० ५ । पृ० १२० ।

१३ वैदेगि सोमस्य स्वाने पूतीकतुनाग्यत्रिविधुपादित्युच्यते न च तत्र सोमोमृतपूतीक-मवति ।—१ १-५६ वा० १३ पृ० ३४१ ।

कहते थे किन्तु धाम्य वेचनेवाले को बान्य-विक्रय। प्रत्यय का यह अन्तर कुस्ता-घातन से किए जा।<sup>१</sup>

यज्ञास्त्र—अथ जिन पात्रों की विवृति यज्ञों में आवश्यकता होती है उन्हें यज्ञपात्र या यज्ञामुत्र कहते हैं। इनमें से भाष्य में निम्नलिखित का उल्लेख हुआ है।

स्वयं—सदिर के काष्ठ से बना हुआ अररिन बराबर सम्बा और चार अंगुल चौड़ा लकड़ा इति यज्ञ-साधन स्वयं बहुधाता है<sup>१</sup> जिससे यज्ञमूमि में माप के अनुसार देवार्थ खींची जाती है।

कपाल—मिट्टी से बनाकर अग्नि में पकाया हुआ दो अंगुल ऊँचा पात्र जो पुरोडास मूत्रने के काम आता है, कपाल कहलाता है। जिस पुरोडास में जितने कपालों का विधान होता है, उतने कपाल इकट्ठ कर माहूर्वरपाणि से पीछे या परिषम माग म रत्न दिय जाते हैं। किमी पुरोडास में एक ही कपाल की आवश्यकता होती है और किसी में अधिक भी। ये कपाल पुरोडास सिद्ध करने के हेतु अग्नि पर रखे जाते हैं और मृगुनामङ्गिरसां च तपसा १८ ध्वम् इत्यादि मन्त्र पढ़ जाते हैं। भाष्यकार ने कहा है कि मन्त्र न पढ़ तो भी अग्नि कपालों का तपायेगी ही क्योंकि तपाना अग्नि का काम ही है। जो भी मन्त्र पढ़ते हैं क्योंकि मन्त्रपूर्वक की गई क्रिया अम्बुदय कारिणी होती है।

धोषन-याम—यून<sup>१</sup> उन्मूलक<sup>१</sup> मूसक<sup>१</sup> हविष्याश्रों के घायन से काम आते हैं। इप्या जिन व्रीहि आदि के अबहनन के समय उन्मूलक से नीचे रखा जानेवाला इप्यमृग का घम है। उन्मूलक पलाश के काष्ठ से बना बाह्य अंगुल ऊँचा होता है जो चार पुरोडास-मन्त्रों की व्रीह्यादि के साफ करने में काम आता है। मूसक लकड़ के काष्ठ से बनाया जाता है और मृग बाँध से बना होता है। सम्या जनन का साधन काष्ठ है जिसका अग्रभाग मोहे का रहता है।<sup>१</sup> पीगने की सिक को दूत कहते हैं।<sup>१</sup> पासनेवाला ऊपर का पत्थर उपमा कहलाता है। पलाश काष्ठ से बनी हुई अग्निहोत्र हबणी के समान मृग्यहाम का साधन यह होता है। जत्रु कः ड्राग आहुति दी जाती है।<sup>१</sup> सवति आज्यादि इष्यमस्मान् इम व्यत्यसि के अनुसार शुभ कः ड्राग भाग्य की

१ कर्मणा निविक्रिय—कर्मणि कुस्तित इति बसतम्यम्-इह मामुन् घाम्यविक्राय ।—

१ २-१२, वा० १, पृ० २३६।

२ वेदे घामिका संतां कुर्वन्ति स्वदी यूपदध्याल इति ।—१ १ १ वा० ४, पृ० ९५।

३ ४ १-८८, वा० २ पृ० १०० तथा काशिका।

४ अग्नीरुपालाग्यपिधिरयाजिनग्रयने मृगुनामङ्गिरसां तपसा तप्यन्धमिनि।

अस्तरेवापि अग्रमग्निर्दधनकर्मा कपालानि सस्तापयति ।—आ० १, पृ० १९।

५ ५ १ २०, पृ० ३१२।

६ अबहननायोल्लसलम् ।—२-१ ३६ वा० १ पृ० २८८।

७ १ १-५०, वा० २ पृ० ३०७।

८ तादिरैतराम्यम् वीरबैतराम्यम् ।—२ १ १, वा० २९, पृ० २५८।

९ बहो वा० २७।

१० जहाति-दूयते वीर्यश्च-जुहः ।—३ २ १७८, वा० ३ पृ० २८१।

माहुति भी जाती है।<sup>१</sup> मूष खरिकाष्ठ से बनता है और खरिल-मर सम्बा भीरु जाने अंगुष्ठ की गाँठ के बराबर गहरा होता है। उपनृत नाम जुहू के पास धारण किये जाने के कारण दिया गया है। यह अस्त्र-काष्ठ से बनता है और जुहू वैसे ही होता है। याग की समाप्ति-पर्यन्त बेसी पर रहने के कारण विकसन्त वृक्ष के काष्ठ से बना जुहू-सवृष पात्र भ्रुवा कहलाता है।<sup>२</sup> प्राधिन्न वह हृत्मेघ हविर्मान होता है जो ब्राह्मणों को दिया जाता है। प्राधिन्न को देने के काम का पात्र प्राधिन्नह्वान कहलाता है।<sup>३</sup> इडा का अर्थ है हविष्। उसके आधार-यात्र को इडापात्र कहते हैं। इडापात्र अस्त्र-काष्ठ से बना हुआ पार अंगुष्ठ का अर्ध होता है।<sup>४</sup>

मूष—पशुबन्ध के लिए मूष की आवश्यकता होती थी। मूष के लिए अश्वर्षु उखा का केकर उस स्थान में जाता था जहाँ वृक्ष होते थे। मूष पलाश खरिल विश्व रोहितक या विभी उरु वृक्ष का बनता था। माप्यकार ने कहा है कि यद्यपि किसी भी ऊँचे काष्ठ को गाड़कर पशु घाँस सकते हैं तो भी याज्ञिकों ने नियम किया है कि मूष विश्व या खरिल का ही क्योंकि ऐसा करना अशुभकारी होता है।<sup>५</sup> वेद में स्वयं मूष और अपाल ये पारिभाषिक शब्द हैं। मृत्युति से इनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। याज्ञिकों को इन शब्दों का उपयोग करते देखकर अन्य लोग भी जान लेते हैं कि यह इनकी संज्ञा है।

माप्यकार ने मूष के लिए विभीतक और अपाल के लिए खरिल वृक्ष का काष्ठ ग्राह्य कहा है।

मूष बनाने के बाद वृक्ष का जो भाग बच जाता है उससे ठसा अपाल बनाया है। अपाल पार अंगुष्ठ ऊँचा होता है। मूष ऊपर की ओर अष्टकोण होता है और अपाल भी। अपाल बूँटे से मूषाघ में पपड़ी की तरह फँसा रहता है।

मूष को वेदि-भाग में काँते और मूषाघट के आने रखते थे। बाद में उत्तर वेदी के उत्तर भाग में लड़ हीकर जब से उसका प्रोक्षण करते थे। माप्यकार ने इस विधि की आर सवेष्ट किया है।<sup>६</sup> ऋग्वेद-काल में यज्ञमूष के लिए स्वयं शब्द अधिक प्रचलित था।<sup>७</sup>

१ १ १ ४५, पृ० ३००।

२ अश्वत्था ।—७-३-४५, वा० ५, वृ० १८९।

३ ५ ४ ४२, पृ० ४९४ तथा ५ १ ९७ पृ० ३४४।

४ सप्तया० भी० सू० २-५ १ द्विपथी।

५ कात्या० ६ १-५, माय० ७-१ १३।

६ वेद-आदिरी वा मूषः स्थावित्पुष्पते। मूषश्च नाम पशुबन्धुबन्धार्थमुपादोयते। अथ चानेन किञ्चिद्वेद काष्ठमुच्छिन्नयानुच्छिन्नत्वात् पशुबन्धुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते। एवं चिदयानं मम्युदयकारि भवति ।—आ० १, पृ० १९।

७ वेदे याज्ञिकाः संज्ञा कुर्वन्ति स्यो मूषराजपाल इति। तत्र भवतामुपचारारभ्येप्रिय जानन्ति इयमस्य संज्ञेति ।—१ १ १ वा० ४ पृ० ९५।

८ वेदीतको मूष आदिरं अपालम् ।—५ १ ९, वा० ६, पृ० २९६।

९ ५-२-९४ वा० २, पृ० ४१०।

१० इह विल्ली वरहृष निपरर दिद्रु व द्रु से वेद दिवई 'स्वयं' वाज और पशुवैरिली लोच रंन मूष ।—तकिकाइत इन ऋग्वेद, पृ० ७७।

याज्ञक—जो व्यक्ति अपने कर्मों के लिए यज्ञ करता है, उसे यज्ञमान और जो यज्ञमान के कर्मों के लिए उसके व्यय से उस यज्ञ करता है उसे याज्ञक कहते हैं। याज्ञक ब्रह्मिणा और साध की भाषा से यज्ञमान को यज्ञ कराते थे। इसीलिए, यज्ञ धातु का प्रयोग यज्ञमान के साथ आत्मनपद में तथा याज्ञक के साथ परस्मैपद में उपसृक्त माना गया है। 'स्वरितमिन् कश्च भिप्राये क्रियाफले' (१ ३-७२) के भाष्य में पतञ्जलि ने 'कर्मभिप्राये की उपयोक्ता पर प्रत्यय करते हुए उत्तर में 'यन्नन्ति याज्ञका उणाहुरण दिया है और फिर वंश की है कि क्रिया का फल तो याज्ञकों का भी मिलता है। वे ब्रह्मिणा में गायों की भाषा करते हैं और ये उन्हें मिसरी है। इस लिए उनके साथ भी आत्मन पद का प्रयोग होना चाहिए। इन बात के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि याज्ञा प्रत्यय कर्ता का क्रिया का फल मिश्रता है। इसलिए, यहाँ फल की प्रकल्पना माननी चाहिए। यज्ञमान को यदि क्रिया का फल बिना यज्ञ किये नहीं मिलता, किन्तु याज्ञक को यज्ञ के बिना अन्य प्रकार से भी गाय मिल जाती है।<sup>१</sup> याज्ञक यदि क्रिया के प्रकृत होते हैं। उणाहुरणार्थ यज्ञ पुष्यमित्र करता है और याज्ञक उसका प्रयोजक हैं। इसी भेद को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने एक और उदाहरण दिया है— भाष यज्ञ कीर्ति (यज्ञताम् आत्मनपद) याज्ञक मिस्र जायेंगे। वे यज्ञ करायेंगे।<sup>२</sup> इससे स्पष्ट है कि व्याकरण की दृष्टि से भेद न होने पर भी व्यवहार में यज्ञमान और याज्ञक शब्दों का प्रयोग का दाब असंग-अलग निश्चित था। किन्तु याज्ञक शब्द जहाँ को यज्ञ कराते थे, जिन्हें घास्त्र से यज्ञ करने की अनुमति थी।<sup>३</sup> ये यज्ञमान प्रायः लक्षित थे। नृपक भावि जातियों का यज्ञ करना गृहित माना जाना था।<sup>४</sup> कृत्स्न याज्ञिक का याज्ञिकपद कहते थे।<sup>५</sup>

याज्ञकों की संख्या सब यज्ञों में समान नहीं होती। कालक्रम से भी उनकी संख्या में अन्तर हुआ है। पुरोहित जैसा कि नाम से स्पष्ट है यज्ञ में पुर (जागे) द्वि (स्थापित) होते हैं। यज्ञ में सबसे पहले पुरोहितों का बरण किया जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को पुरोहित कहा है और भाष्यकार ने उस मंत्रों को उपसृक्त किया है। भाष्य में निम्नलिखित पुरोहितों का उल्लेख है।

१ कर्मभिप्राये क्रियाफल इति क्रियाम् ?—यन्नन्ति याज्ञकाः—अत्रापि क्रियाफलं कर्तारमभिप्रेति—याज्ञका यन्नन्ति गा लक्ष्यामह इति—सबत्र कर्तारं क्रियाफलमभिप्रेति तत्र प्रकृतं पतिविहास्यते। लापीयो यज्ञ कर्तारं क्रियाफलमभिप्रेति। न चात्सरेण यज्ञ यन्निकर्तं बवि वा अपिफलं समन्ते। याज्ञका पुनरन्तरेणापि यज्ञि गा लक्षन्ते।—१ ३-७२ पृ० ९०।

२ महो यज्ञत इत्पुष्यते यं मुष्टं त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्रं करोति—याज्ञकाः प्रयोजयन्ति। ३ १-२६, वा० ४ पृ० ७४।

३ अङ्गं यज्ञता लक्ष्यमन्तेय याज्ञकाः। ए एन याज्ञवियन्ति।—३ ३ १० पृ० ८८।

४ यथा ब्रह्मिणः लक्ष्यं याज्ञकेन।—३ ३ १४७ पृ० ३३२।

५ ३ ३ १४२ से १५० तक, पृ० ३३१ से ३३३।

६ याये पापम्-याये कुत्सितग्रहं कर्त्तव्यम्-याज्ञिकपापम्।—३ ४७ वा० १ पृ० ४४१।

७. वही, पृ० १।

**अध्वर्युः**—भाष्य में अध्वर्यु को ब्रह्मि (पत्सर) से सोम का सवन करनेवाला कहा है।<sup>१</sup> एक स्थान पर उसे नर्न भानुक कहा है, जिसके यज्ञ में बस्त्र उतारकर बैठने का उचित मिलता है।<sup>२</sup> अध्वर्यु और अध्वर परस्पर सम्बन्ध हैं। सम्भवतः, कामों को निश्चित सम्पादित करने की दृष्टि से (अ+ध्वर=प्रवृत्त) यह नाम पड़ा है। हौम के मत से अवेस्ता की धार्मिक विधियों (rituals) में भी होता (zaotra) और अध्वर्यु (Rathwi) विद्यमान थे।<sup>३</sup> यज्ञ में इनका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि यज्ञवेद या यजुर्वेद का नाम ही अध्वर्यु वेद पड़ गया।

**ऋत्विजः**—भाष्यकार के काल में ऋत्विज सम्बन्ध सामान्य पुरोहित के लिए व्यवहृत होता था। उन्होंने यज्ञ के प्रारम्भ में ऋत्विजों का वरण करने की प्रथा का उल्लेख किया है।<sup>४</sup> जो परिवार ऋत्विज-कर्म से योग्य होता था उसे आर्त्विजीन कहते थे।<sup>५</sup> आर्त्विजीन होना ब्राह्मण के लिए सम्मान की बात थी। पतञ्जलि के समय में ऋत्विज ब्रह्मण रंग की पगड़ी पहनते थे।<sup>६</sup>

**होता**—भाष्य में होता पीठा नेष्टा और उद्गाता का अनेक बार साथ-साथ उल्लेख हुआ है।<sup>७</sup> इनमें होता से पुराना ऋत्विज है। बड़ी देव का आवाहक और आहुतिकर्ता है। प्रारम्भ में यही एक पुरोहित होता था और सबसे महत्त्वपूर्ण तो वाव में भी बना रहा। ऋग्वेद (१०-२१) में उसे आयविष्ट अर्थात् श्रेष्ठतम मानक कहा है। एकाधिक पुरोहित हौम पर सामान्य तथा सभी पुरोहित होता का अर्थ बताते हैं।<sup>८</sup> देवों का आवाहन होने के कारण ही अग्नि भी होता कहा गया है। होता के कारण आहुति भी होनी कहलाती है। ऋग्वेद (२-१-२ १०-११-१०) में होता पीठा नेष्टा अग्नीध्र प्रधास्ता अध्वर्यु और ब्रह्मा इन सात पुरोहितों का उल्लेख है। उद्गाता इनमें नहीं है। वह बाद में सम्मिश्रित किया गया। पहले इन पुरोहितों की स्थिति भी निश्चित न थी। उद्गाता का महत्त्व सामवेद के साथ बढ़ा। पहले उसका (होता का) वरण किया जाता था और स्थान निश्चित था। बाद में यह स्थान ब्रह्मा को मिला गया। पहले होता सम्पूर्ण यज्ञ के लिए उत्तरदायी होता था पर बाद में यह काम अध्वर्यु को मिला गया और होता उसका सहायक बन गया। ऋग्वेद (३-३५-५) में अध्वर्यु और होता का पद बराबर का

१ अध्वर्या ब्रह्मि कुतम् ।—६-१-११५, वा० ३, पु० १७४ ।

२ नर्न भानुकोऽध्वर्युः ।—६-१-११ वा० ९, पु० १४६ ।

३ हौम ए० की वा० पु० १३ ।

४ एकस्तमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्या सामवेदः ।—आ० १ वा० ५, पु० २१ ।

५ वापी ऋत्विजः ।—३-१-१०५, वा० १, पु० १८५ ।

६ ऋत्विजकर्मार्होत्पार्त्विजीन ब्राह्मणकुतम् ।—५-१-७१ वा० १, पु० ३३६ ।

७ यो वा इमा परसः स्वरशीःकरसाः बाधं विदधाति स आर्त्विजीनः । आर्त्विजीनाः

स्यामेत्यध्वेयं ध्याकरत्नम् ।—आ० १ पु० ६ ।

८ लोहितोष्ठीवा ऋत्विजः प्रवरन्ति ।—६-१-१ वा० १५, पु० १५ ।

९ ३-१-१, वा० २६, पु० २५७; ६-१-१ वा० ९, पु० १४६ ।

१० ऋग्वेद १०-३५-१० १०-६१-१ ।

बनाया गया है। जहाँ वैकल्पिक रूप से पूजादि कृत्य दोनों कहे हैं उस समय तक इन दोनों के पदों में ङीष् णिच् का भेद न था।

पोता—पोता का काम साम को घुड़ करने (परिष्वन) करने का है। भाष्य में 'सोमं पवमानं' कहकर पोता क कृत्य का निर्देश किया है। या ऋग्वेद में (१९४६ सबपोत्रम् १-७४४) मग्नि को भी पोता कहा है। साम के पवन का नाम पहले अघ्न्यर्षु करता था। उसे अबकाय देने के लिए ही इस पद का प्रारम्भ किया गया था। मरुता और प्रविणोदस को जिस पात्र में साम अर्पित किया जाता था, उसे पीत्र कहते थे।<sup>१</sup> ओल्डनबर्ग के मत से उत्तरकाशीन साहित्य के समय यह नाममात्र का याजक रह गया था। उसका महत्त्व नष्ट हो चुका था।

नेष्टा—नेष्टा सहायक पुरोहित है। जिस पात्र से प्रविणोदस को सोम दिया जाता है वह नेष्टा के ही नाम पर नेष्टृ कहलाता है। भाष्यकार ने नेष्टा की व्युत्पत्ति भी तथा नेष्टृ वातु से मानी है।<sup>२</sup> यह सुरा वैशार करता तथा यजमान की पत्नी को यज्ञस्थान तक ले जाता था।<sup>३</sup>

उद्गाता—उद्गाता का काम सामगान है। ऋग्वेद में केवल एक बार इसका उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup> इससे अनुमान होता है कि उद्गाता पद का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ। साम का उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार मिलने से यह भी प्रतीत होता है कि पहले भी सामगान की प्रथा तो थी किन्तु इस काम का कोई भी पुरोहित कर लेता था या उद्गाता का नाम कुछ और था। सामम् अथ सामविप्र घर्षो से सम्भवतः उद्गाता ही इष्ट है।

ब्रह्मा—भाष्य में ब्रह्मन् शब्द का उल्लेख वेद देवता ब्राह्मण आदि कर्षों में हुआ है, पुरोहित अब में नहीं किन्तु ब्रह्मवाक्विन् ब्रह्मवाच ब्रह्मसाम आदि ऋषियों में ब्रह्मा का भी अन्तर्भाव हुआ है।<sup>५</sup> ब्रह्मा अभीष्टक (सुपरिटेंडेंस) पुरोहित होता है यद्यपि ऋग्वेद-काल तक उसका यह स्थान नहीं बन पाया था। ओल्डनबर्ग के मत से ऋग् में इसका उल्लेख नहीं है। इसका अथ सामान्य पुरोहित था। मैकडॉनल्ड कोब और डॉ० पी० एम्० दयमुस इसे और ब्राह्मणाण्डनी को एक मानते हैं।<sup>६</sup>

प्रगास्ता—भाष्यकार ने तून् प्रत्यय के प्रसंग में होता पोता नष्टा प्रगान्ता और प्रनिहता का ऋत्विजों में परिगणन किया है। ऋग्वेद (१९६६) में प्रगास्ता का काम मग्नि

१ अघ्न्यर्षोर्वा प्रयत्तं दाक्कहस्तात् होतुर्वा यत्तं हविषो जुपस्व ।

२ २-३-६९, वा० ५, पु० ४५६ ।

३ ऋग्० १४२२, २-३६-२ ।

४ तिलीजन वेद वेद, पु० ३८३ ३९१ ३९५ ।

५ ३२ १३५, वा० १ २, ३ ४, पु० २७० ।

६ तिलीजन वेद वेद, पु० ३८३ ३९१ ३९५ ।

७ उद्गातोश्च दाकुने सामं पायति।—२-४३२ ।

८ ऋग्० ७-३३ १४ तथा ५-५४ १४ ।

९ ३ २-७८, ३ १ १२३ ५४ १०३ ।

१० तिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, पु० ३४२ ।

से सम्बन्ध बताना पया है। ऋग् (२ ३६ ४) में अग्नि को अग्निम् का इन्द्र को ब्रह्मा का और प्रतिहर्ता को उर्वाता का सहायक कहा है। प्रवास्ता को संस्ता या मीनावक्ष्य भी कहते थे। यह होता का सहायक था।

**ब्राह्मणाच्छंसी**—ब्राह्मणों से उर्ध्वत कर, अर्थात् उनसे से-सेकर पद बोलने के कारण इस ऋत्विज् का नाम ब्राह्मणाच्छंसी पड़ा।<sup>१</sup> ऋग्वेद में इसे ब्राह्मण भी कहा है।

**अग्नीष्**—अग्नीष्, अग्नीष् या अग्निमित्य अग्नि को प्रवर्धित करने का काम करता है। इसके स्थान का अग्नीष्म कहते हैं।<sup>२</sup> भाष्यकार ने 'अग्नीष्मन्तु बिहुर' इस प्रेय में उसके कर्त्तव्य का भी उल्लेख किया है। यज्ञसाला में अग्नीष् के लिए पुषक स्थान की व्याख्या की जाती थी। सोसह ऋत्विजों से भिन्न अन्य पुरोहित जो यज्ञकर्मों के उपद्रष्टा के रूप में नियुक्त किये जाते थे सदस्य कहलाते थे। सूत्रों में इनका ऋत्विजों के साथ विधिपूर्वक चरण नहीं किया जाता था।

भाष्यकार ने चार प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध बतलाये हैं, जिनमें श्रौत सम्बन्ध भी एक है। याजक समीं तथा याजकों और यजमानों को एक सूत्र में बतानेवाला उनका श्रौत कर्म था। यह बात उनके सुसंमन्वित होने की ओर संकेत करती है।<sup>३</sup>

**यजमान**—यजमान यज्ञ क्रिया का मुख्य कर्त्ता होता है। इसलिये, सोमयाग में उसे 'सुन्वन्' कहते हैं। 'सुन्वन्' का अर्थ प्रत्यय यज्ञ के मुख्य कर्त्ता का शोचक है। यह भावश्यक नहीं है कि यजमान स्वयं यज्ञ करे। भाष्यकार के मत से 'निष्प्रक्षेपण' ही यज्ञ क्रिया का अर्थ नहीं है। त्याग भी उसका अर्थ है। इसलिये, जो स्वयं प्रक्षेपण न कर त्याग-भाज करता है, अपने द्रव्य से यज्ञ कराता है और उपर्य दक्षिणा देता है वह भी यज्ञकर्त्ता माना जाता है। इसी अर्थ के कारण 'याजक यज्ञ कराते और पुष्यमित्र यज्ञ करता है'<sup>४</sup> यह बात ठीक मानी जाती है। यज्ञ क्रिया का कर्त्ता ही यज्ञकर्त्ता माना जाय तब तो कहना पड़ेगा कि पुष्यमित्र यज्ञ कराता है और ऋत्विज लोग यज्ञ करते हैं। पर सत्य-व्यवहार में ऐसा नहीं होता।<sup>५</sup> यजमान उक्थ (सामविधेय) को बोधता है इसलिये उसे

१ ब्राह्मणाग्निं संस्तौति ब्राह्मणाच्छंसी-ब्राह्मणेभ्यो गृहीत्वा गृहीत्वाऽऽहृत्याहृत्य संस्तौति ब्राह्मणाच्छंसी। —३-३-२, वा० २, पृ० २९९।

२ अग्निमित्य। —३-३-७० वा० ६ पृ० ३४७।

३ अग्नीष् घरणजग्नीष्मन्। —४-३-१२०, वा० ९, पृ० २५२।

४ लोके बह्वोऽग्निमसम्बन्धा धार्या मीनामोक्षाः श्रौतान्। —१ १ ४९, वा० ४ पृ०,

३००।

५ सुधी यज्ञसंघोषे। —३-२-१३३।

६ पर्यायविपु चाविपर्यातो इष्टव्यः-पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति। तत्र अग्नि तस्य पुष्यमित्रो याजयते याजकः यजन्तीति। जानाकियाणां पर्यर्षस्थान्। जानाकियाणां पर्यर्षा। नातर्यं यज्ञिर्हविष्यक्षेपण एव वर्तते। किं तर्हि। त्यागैरपि वर्तते। अहो यजत इत्युच्यते यं मुष्ट त्यागं करोति। तं च पुष्यमित्रः करोति याजकः प्रयोजयन्ति। —३ १ २६, वा० ३, ४, पृ० ७४।

उत्पत्त्या भी कहते हैं।<sup>१</sup> इनमें गाह्यपत्याग्नि में हवन करनेवाला एकाम्नि कहलाता है।<sup>२</sup> पुरुष के यज्ञमान होने का प्रभाव उसकी पत्नी पर भी पड़ता है। जो पुरुष या स्त्री बहुत अधिक यज्ञ करता है और उच्च धरित्र का अनुष्ठान होता है, वह यज्ञ द्वारा पूत मन का होने के कारण पूतऋतु कहलाता है। यदि केवल पुरुष पूतऋतु हुआ तो उसकी पत्नी पूतऋतायी नहीं जाती है।<sup>३</sup>

माप्य में यज्ञमान सध्व्र भार-भार आया है।<sup>४</sup> यज्ञ क्रिया के कर्त्ता होने की स्थिति में व्यक्ति यज्ञमान कहलाता था और उसके पुरोहित याज्ञक। जो व्यक्ति यज्ञ कर चुकता है, उसे यज्ञा कहते हैं।<sup>५</sup> वह में यम्बनी और यम्बरी सध्व्र आय है।<sup>६</sup> अग्निष्टाम आदि विधाय यज्ञ करनेवाले अग्निष्टोमयात्री आदि कहलाते थे। ऋषिय में अग्निष्टोमादि करनेवाले के लिए भी इस सध्व्र का प्रयोग साधु माना जाता है। जैसे इसके जी पुत्र होया वह अग्निष्टोमयात्री बनेगा।<sup>७</sup> यज्ञ-कर्म का बत करनेवाला यज्ञमान दीक्षित कहा जाता था।<sup>८</sup> और, बहुत अधिक यज्ञ करने वाला यायजूक कहलाता था (यज्ञप्रपदशां यक ३-२ १६६)। दीक्षित यज्ञमान को भूमिगतन ब्रह्मर्ष वाक्सयम' तथा नियमित भोजनादि वनों का पालन करना पड़ता था। ब्राह्मण पय धत्रिय यथायु और वैद्य आभिक्षा ही ग्रहण कर सकता था।<sup>९</sup> आदिना द्रूप और रही मिला कर बनाई जाती थी। इसका अर्थवेद में उल्लेख नहीं है किन्तु बाद की मन्त्र साहित्यों में और ब्राह्मणों में है।

बहुत अधिक यज्ञ करनेवाला यायजूक और यज्ञ कर चुकनेवाला इष्टी (इष्ट्यमनन) कहलाता था। इसी प्रकार ध्यात्र कर चुकनेवाला पूर्त्ती कहलाता था।<sup>१०</sup> जो यज्ञमान यज्ञ करता था उसके नाम के साथ भोग ऋतु का उल्लेख करने थे। गग भोगों द्वारा किया जानेवाला विराज उनके नाम से गर्गजिराज कहा जाता था। इसी प्रकार चरकजिराज कुमुदविन्दमण्यराज आदि

१ उक्त्वाग्नि उत्पत्त्यां संसति उत्पत्त्याः (यज्ञमान)।—३ २-७१ पृ० २२६।

२ एकाम्नि।—५ ३-५२, वा० ३, पृ० ४४३।

३ पूतऋतुः स्त्री पूतऋतायी। यथा हि पूताः क्लृप्त पूतऋतुः सा भवति।—४ १ ३६, वा० १, पृ० ५२।

४ २-४ ४९, पृ० ४८७, ७-२-८२ पृ० १४५ आदि।

५ १-२ १, वा० ८, पृ० ४६८।

६ बहुलं छन्दति डीक्षी वस्तम्यौ यम्बरीरियः, यम्बनीरियः।—४ १-७ वा० १, पृ० ३०।

७ अग्निष्टोमेयात्रोत्पेतस्मिन्भविता (वस्मिन् १) भोजय पुत्री भविता कथा? यथा वैशाग्निष्टोमेमेष्टं भवति।—३ ४ १ पृ० ३४२।

८ होतम्यं दीक्षिताय गृहा।—८-२ १०७ वा० २ पृ० ४००।

९ वाक्षियमोयते।—३-२-४०।

१० यद्योयनो ब्राह्मणो यज्ञायुजतः क्षत्रिय आभिक्षात्रणो वैद्य इति।—जा० १, पृ० १९

११ इष्टोयने पूर्त्ती धात्रे।—५-२-८८ वा०।



अथ सम्बद्ध यजमानों द्वारा क्रिये जानेवाले यज्ञों के लिए व्यवहृत होते थे।<sup>१</sup> शास्त्रानुसार गीत अग्नियों की प्रतिष्ठा करनेवाला यजमान आहिताग्नि या अग्न्याहित कहलाता था।<sup>२</sup> आबसव या आबसप्य में रहने के कारण उसे आबसधिक भी कहते थे, जिसका अपभ्रंश रूप अबस्वी आज भी प्रचलित है। आबसव यज्ञशाला में यजमान के लिए निर्दिष्ट स्थान होता था। यज्ञ समाप्ति तक यजमान वहीं रहता था। आबसव का ही आबसप्य कहते थे।<sup>३</sup>

मन्त्र—यज्ञ की क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण के साथ की जाती हैं। यज्ञ के प्रारम्भ के पूर्व स्वस्तिवाचन और पुष्याहुवाचन क्रिये जाते थे। स्वस्तिवाचन-मंत्र का अर्थ माप्यकार मे उर्व्वुत ह्या है।<sup>४</sup> मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रिया को पाणिनि ने मन्त्रकरण कहा है।<sup>५</sup> मन्त्र जिस वेपठा की मूर्ति आवाहन या आहुति के लिए प्रयुक्त होता था उसी के आचार पर ऋचा का मन्त्र का नाम पड़ा जाता था—जैसे ऐंश्री या आग्नेयी ऋच। इसी प्रकार यज्ञविशेष में प्रयुक्त मन्त्रों का नाम भी उन यज्ञों के आचार पर होता है। अग्निष्टोम में काम जानेवाले मंत्र भी अग्निष्टोम कहलाते हैं। उसी प्रकार राजसूय वाजपेय आदि यज्ञों के मन्त्र राजसूय और वाजपेय कहे जाते हैं। समिधियों के आधान में अिन मन्त्रों का विनियोग होता है, वे सामिधेय्य मन्त्र सा सामिधर्गी ऋचाएँ रही जाती हैं। ऋचा के प्रयुक्त शब्द के विशेष के आचार पर भी उनका नाम पड़ा जाता था।<sup>६</sup>

त्रैस्वर्गमंत्र—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण दो प्रकार से होते हैं। त्रैस्वर्गमुक्त और एकमुक्ति। सामान्य प्रथा में त्रैस्वर्ग का ध्यान रखा जाता है किन्तु यज्ञ-कर्म में जप स्यूक्त और सामों को छोड़कर अग्नय एकमुक्ति उच्चारण होता है। यजुर्वेद (२१०) के मावीरमित्र इन्द्रिमम् आदि अपमत्र अनुकरण-मन्त्र हैं। स्यूक्त पाठ्य ओंकार आपो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ आ रेवती अथवा द्विवस्व ऋच भद्र विमूचामूर्ध च। उयो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ आ ३ आदि हैं। अपमत्र का उच्चारण यजमान करता है और स्यूक्त का उच्चारण सामयामों में प्रातःकालीन आहुति के समय होता है। स्यूक्तों में कुछ उवाच हैं और कुछ अनुवाच। आबसविशेषस्य पीठिवा सामन् नहकाती हैं। इन तीनों में सस्वर उच्चारण

१ द्विपो-हृती पाणिनिरात्रः, अरकपम्बरारात्रः, कुसुरविम्बसत्तरात्रः । —६-२-१७, का०

२ आहिताग्न्याग्निपु-आहिताग्नि अग्न्याहितः । —२-२-३७ का० ।

३ आबसपयत् प्लम्-४ ४-७४ तथा आबसप एव आबसप्यम् । —५ ४-२३ का० ।

४ मन्त्रं बोधेमानये । —३-१-८६, पृ० १४६ ।

५ असुबन्ती भावहेमास्वस्तये । —३-१-८६, पृ० १४६ ।

६ उपमन्त्रकरणे-ऐंश्रीस्यापार्हृत्पमुपतिष्ठते आग्नेय्या आग्नेयीममुपतिष्ठते । —१ ३ २५ का० ।

७. मन्त्र भवेवु सुगवतस्यः अग्निष्टोमे भवो मन्त्रोऽग्निष्टोम-राजसूय वाजपेयः । — ४ ३-६, वा० ५, पृ० २४० ।

८. तमिवासावातो मन्त्रं सामिधेय्यो मन्त्रं सामिधेय्यक । —४ ३-१२०, वा० १०, पृ० २५२ ।

९. अग्निपतिवती ब्रह्मोति । —८ २-६५, पृ० ३३९ ।

किया जाता है। अन्यत्र यज्ञ-कार्यों में एक य्युति होती है।<sup>१</sup> बौपट का उच्चारण अधिक ढँपे स्वर से किया जाता है और एकयुति भी। पर यह नियम वैकल्पिक है।<sup>२</sup> त्रैस्वयं शक्ति मध्यमन म आबस्यक था। ब्राह्मणों में उद्भूत वेद-मन्त्र एकयुति या एकतार ही बान्त जात थे। ऽगिनि काक से ही त्रैस्वयोरुच्चारण का नियम डीला पड़ चला था।<sup>३</sup> मुबहृष्या नियम से वैकल्पिक एक युति नहीं होती। इसमें प्राप्त स्वरित के स्थान में उदात्त कर त्रैस्वयोरुच्चारण होता है। मुबहृष्या ऋक ऐन्त्री या आम्नयी होती है।<sup>४</sup> ऐन्त्री में तीन बार मुबहृष्य इम् बालने के बाद 'इम्' यञ्च यादि बोला जाता है। इसका अन्त में 'गीतम बुबाय' के अनन्तर जितने दिन की मृया हो उदनुसार 'इयह या भ्यहे मुत्पाते आदि आडा जाता है' और उसके पश्चात् दबा ब्रह्म य भाग ऋडागच्छना मच्छन् बोलना चाहिए। इसम ब्रह्मन् गव्य ऋत्विग्वाची है। मुबहृष्या का उच्चारण सदा अर्च्युं का प्रैय पाने के बाद ही किया जाता है। 'मुबहृष्या मिद्रागच्छ हरिब भागच्छ मेधातिथे मेध बृयत्रवस्य मेने गीरावस्किप्रहृष्याय आर कौशिक ब्राह्मण गीतम बुबायस्य मुत्पामागच्छ मयवन् आग्नि मुबहृष्या निग्द है। मुबहृष्या में ही 'देषा ब्रह्माम' पठित है। उनम यो स्वरित के स्थान में अनुदात्त उच्चारण किया जाता है।<sup>५</sup>

यज्ञ के पूर्व ओम् का प्रयोग किया जाता है। यह प्रारम्भ-वाक्य आम् दाग् व्यत होता है।<sup>६</sup> यज्ञ-यम में प्रयुक्त होनेवाला ये दाग् यो व्यत होता है जैसे 'आ इम् अभिर्मांड पुराहितम् आदि। कार्यायन और पत्रजसि क मत् स ब्राह्मण-मन्त्रा में सत्र 'य' का व्यत नहीं होता। यज्ञ-यम में मंत्र की टि का प्रथम आवेग हो जाता है। उन 'अपारेतामि' त्रिन्वडा इम्। दवान् त्रिगनि मुग्म

१ यज्ञकमलि अयम्पुङ्ग सामसु १-२ ३४; अपौज्जुकरचयग्न-समाग्नेर्वर्षो स्वस्त्युपुद्रसा ओङ्कारा षोडशो-तेयु केचित्तुदात्ताः केचिदनुदात्ताः-सामानि वावयवितोस्था गीतय उच्यन्ते १-बही का०।

२ उर्ध्वस्तरा वा अयट्कारः-अयट दाग्नेनात्र बौपट दाग्यो लयते। बौपटितयस्वीवेद स्वरविधानम् १-२ ३५ काशिका।

३ विमाया छत्रसि-व्यवस्थितविद्यस्योऽयमिति केचित्-व्यवस्था च वेदे अग्रहणे निग्दं त्रस्वयं ब्राह्मणहते निगदमैकयुत्यमिति १-२ ३६ का०।

४ १-२-३७ ३८, ३९, पृ० ५१४ ५१५।

५ ऐन्त्री आग्नेयी वा ऋक मुबहृष्या भवति १-साटया० यो०सू० भा० १-२ १८।

६ मुबहृष्योमिति त्रिवर्षवा निगदं ब्रूयादित्त्रागच्छ हरिब भागच्छ मेधातिथे मेध बृयत्रवस्य मेने गीरावस्किप्रहृष्याय आर कौशिक ब्राह्मण गीतम बुबायनादरेहे मुत्पामिनि यावदेहृष्यात् १-बही, १ ३-२।

७. देषा ब्रह्माम भागच्छनामच्छनेति गीतम १-बही, १ ३ ३ ब्रह्मन् दाग्दा ऋत्विग्वयन १-बही, भाष्य।

८ अर्च्युंमग्नेर्वं सर्वत्राकादजन मुबहृष्यायान्। —बही, १-२-१८।

९ १ २ ३७ ३८, ३९, पृ० ५१४ ५१५।

१० ओङ्काराने। —८ २-८०।

योऽम् । यदि इन्ही मंत्रों का प्रयोग यज्ञ से मित्त कार्य में किया जाय तो 'अपारेतांसि विम्बति' आदि बोला जायगा । प्रथमादेश का अर्थ है—'ऋचा के पाद या अर्थ भाग का अन्तिम अक्षर हटाकर उससे पूर्व के बने हुए अक्षर के आगे तीन मात्रा का ओंकार या ओकार आदेश करना । इसे प्रथम कहते हैं ।' याज्याकाण्ड में पठित तीन मन्त्रों को याज्य कहते हैं । यज्ञ-कर्म में पड़े जानेवाले याज्या-मंत्रों की अन्तिम टि फ्लुट होती है । जैसे उक्षाण्य वशासाय सोमपृष्ठाय वेधसे । (ऋच्० ८४३ ११) 'स्तोमं विवनाम्नेये ३ । जिह्वामन्नेभकृप ह्यम्बाहान् ३ । कुछ याज्या नाम की ऋचाएँ वाक्यसमुदाय-रूप हैं । उनमें कितने वाक्य होते हैं, उन सबकी टि फ्लुट नहीं होती अपितु अन्तिम टि ही फ्लुट होती है ।' यज्ञ कर्म में प्रयुक्त होनेवासे बृहि प्रेष्य औपट् बीषट् और आबह सध्वों का आदि फ्लुट होता है । इन सध्वों का प्रयोग इस प्रकार होता है—

प्रेष—यज्ञकर्म प्रारम्भ होते ही अध्वर्यु होता को प्रेष' या आदेश देता है कि वह उस देवता की प्रसंसा में जिस प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किया जा रहा है मंत्र पढ़े । देवता की स्तुति के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा पुरोनुवाक्या कहलाती है । पुरोनुवाक्या प्राय एक ही ऋचा होती है । यह एकभूति से पढ़ी जाती है । पुरोनुवाक्या के बाद याज्या को वास्तविक आहुति देने के लिए पढ़ी जानेवाली ऋचा होती है, पढ़ी जाती है । पुरोनुवाक्या और याज्या का एक युग्म होता है ।

इसके पश्चात् बृह और उपमृत हाथ में लेकर अपने स्वान पर बैठा हुआ अध्वर्यु आग्नीष् को 'आ ३ भा ३ बय' पद द्वारा देवताओं को यह सूचित करने के लिए कि सब कुछ निजिष्ण हो रहा है, वे पधारें, यह आदेश देता है । अध्वर्यु का यह आदेश अग्नीध्रपथ या साधावन कहलाता है । इस साधावन का उत्तर अस्तु औऽपट् कहकर देता है जिसका तात्पर्य है 'देवों को विवित है' । अग्नीष् के इस उत्तर को प्रत्याधवन या प्रत्याभूत कहते हैं ।

उध्वस्य—अग्नीष् से प्रत्याधवन पाकर अध्वर्यु होता को अग्ं अर्षत् यज्ञम प्रारम्भ करो यह प्रेष देता है । उधनुसार होता याज्या (आहुति-मंत्र) पढ़ता है किन्तु उसके पूर्व 'ये ३ यजामहे' यह कहा जाता है । याज्या के अन्त में औपट् बोला जाता है । जैसे 'योऽम् मे यजामहे समिध समिधोऽग्ने वाज्यस्य स्यन्तु ३ औऽपट् । इस प्रकार, याज्या के जो प्रायः ऋचैव की एक ऋचा या आधी ऋचा होती है और आहुति देने के लिए विनियोग में जाती है तीन भाग होते हैं— 'ये ३ यजामहे याज्या औऽपट् । औपट् या अपट्कार का उच्चारण होता उच्चतर और उचात स्वर

१ प्रथमपठे—प्रथम इत्युच्यते कः प्रथमो नाम ? पाठस्य कार्यवस्य वाज्यस्यमक्षरमुपसंहृत्य तत्राद्यक्षरौपस्य स्वाने विभाप्रमोक्षार विभाप्रमोक्षार वा विवचीत तं प्रथम इत्याचक्षते ।—८-२-८९, पृ० ३९५ ।

२ ८-२ १०७, पृ० ४०० ।

३ याज्याम्—याज्या नामर्षो वाक्यसमुदायस्तत्र वाचन्ति वाचयन्ति सर्वेषां टोः फ्लुतः प्राप्नोति इत्यते वाक्यस्य स्वादिति तच्चात्तरेण घर्त्नं न सिध्यतीत्येवमयमपहृषन् ।—८ २-८० पृ० ३९५ ।

४ विवतीर्माज्यानुवाक्या जवन्ति ।—८-२-१५, पृ० ३३८ ।

में करता है।<sup>१</sup> माप्या का उच्चारण अपेक्षाकृत मन्द स्वर में होता है। बीपट के उच्चारण के साथ ही अर्धयुग् अग्नि में आहुति छोड़ता है। सोमयाग में इसका वाय पुनः गवेन्द्रजने बीहि या सोमस्याग्ने वीहीऽ वी पट बोला जाता है।<sup>२</sup> इस मंत्र के पूर्व भाग को बीत और उत्तर भाग को अनुबपद्कार कहते हैं। बीत भाग का अन्तिम स्वर लुप्त होता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मन्त्र कहलौं क प्रजापति छन्दस्य (अक्षर-ममूह) में पूज होती है। ये मन्त्रवशात्तर इम प्रकार हैं—  
 ओभाभय (चार) अस्तु श्रीपट (चार) ये यजामहे (पाँच) यज्ञ (दो) बपद् या बीपट (पा)।  
 सबह अक्षरों के इम छन्दस् का छन्दस्य भी कहत हैं। माप्यकार ने यह छन्दस्य तैत्तिरीय ब्राह्मण काण्ड से उद्धृत किया है।<sup>३</sup>

यज्ञ में प्रकरण (यजमान का प्रवरोच्चारण) के बाद निगम (ऋषेण में विहित यजुर्मन्त्र) पढ़ा जाता है। निगम-पाठ के बाद होना देवता के आवाहन के लिए मन्त्र पढ़ना है—  
 अग्निनाऽ बहु। इमे देवतावाहन कहते हैं जिसमें आषह का आदि स्वर लुप्त हाता है।

यज्ञ में सामगान की प्रथा रही है। सामों में अर्धभूय यज्ञ के लिए जानबानों क रत्ता विनाश क लिए गाया जाता था। रथन्तरादि साम गृध या तीन ऋचाओं के समाहार हैं जिनमें परिमाम कहते हैं। परिमाम का मान प्रस्ताना करना है।<sup>४</sup> माप्य म रथन्तर वामदेव्य और बृहद् इत तीनों सामों का उस्मेत्त है। इनके अतिरिक्त रीम्व यजुप् बहिष्पवमान अथान्त्रीय सूक्त प्रमाय आदि को चर्चा माप्य में आयी है।

एकभुक्ति—माप्यकार ने उच्चारण म सात स्वर बतलाये हैं। उदात्त उदात्तर अर्धान् अतिपाय उदात्त अनुदात्त अनुदात्तर अर्धान् अतिपाय अनुदात्त स्वग्नि स्वग्नि का अनुदात्त युक्त उदात्तभाग तथा एकभुक्ति।<sup>५</sup> उच्च स्थान में निगम म्बर उदात्त बतलाता है। बर्षों की निष्पत्ति तास्वादि स्थानों स होनी है। तास्वादि क अवयव होने हैं। उनमें ऊपरी अवयव स जिन बर्ष का उच्चारण किया जाता है वह उदात्त होता है। उदात्त का अर्थ ऊँचे स्वर म उच्चारण मी

१ उच्चस्तरां वा बपद्कारः ।-१-२ ३५ ।

२ गवेन्द्रजनेबीहि ।-६ १ १२४ पु० १७७ ।

३ अक्षरतमूहे छन्दसे उपसंख्यानं कसध्यम् । ओभाभयति चतुरक्षरम् । अस्तु ओषडिति चतुरक्षरम् । ये यजामहे इति पञ्चक्षरम् । यजेति द्व्यक्षरम् इमक्षरौ बवद्कारः । एव ई सप्तवशात्तराद्यस्य प्रजापतिपञ्चमनुबिहित ।-४ ४ १४० वा० १ पु० २९१ तथा ५ ४ ३० वा० २, पु० ४९०-९१ ।

४ ८ २-९१ ।

५ तादृपा० धी० मू०, १-५-२ माप्य ।

६. स एते तन्त्रे तरनिदेशे सप्तस्वरा भवन्ति-उदात्तः, उदात्तरः, अनुदात्तः, अनुदात्तरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सौत्र्येन विनिव्यः, एकभुक्तिः सप्तक ।-१-२ ३३ वा० ५१४ ।

७ उच्चरितिभुक्तिप्रथमो न गृह्यते । तास्वारितं हि भागवत्यु स्थानेषु बर्षा निष्पद्यन्ते । तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागादिपिप्रोच स उदात्तमन्तः । भवति यस्मिन्नुच्चारणभाषे यात्रागा-  
 नायाभनिष्पत्ती भवति । वसन्तोऽस्मिन्पथा स्वरस्य संभूतयो कञ्चिद्वरस्य देतेते ।-१-२-२०  
 काणिका ।

है। उदात्त के उच्चारण में गात्र के आग्रह पर नियन्त्रण रहता है जिससे स्वर कुछ रुका और लसितग्न होता है। इसमें कण्ठ-द्विवर अपेक्षाकृत संकुच रहता है। ये ठे के उदात्त हैं। अठिघय उच्च माग से उच्चारित वर्ण उदात्ततर कहलाता है। अनुदात्त और अनुदात्ततर वर्ण इसके ठीक प्रकृति होते हैं। वे उच्चारण गात्र के नीचे भाग से उत्पन्न होते हैं। इनके उच्चारण में पाशों में अन्वसर्पण और मार्बण रहता है जिससे स्वर में मुहुता स्निग्धता और सरसता उत्पन्न होती है। इनके उच्चारण में कण्ठ-द्विवर में उरुता और फँसाव रहता है। लम् सम सिम नेम आदि अनुदात्त हैं।<sup>१</sup> स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों का समाहार रहता है।<sup>२</sup> जैसे चिक्यम्, कय्या, क्व आदि। एकभृति में उदात्त अनुदात्त और स्वरित का विभाग नहीं प्रतीत होता अर्थात् भेद का विरोधान ही जाता है।<sup>३</sup> उदात्त अनुदात्त और स्वरित के समान एकभृति मी स्वर का नाम है जिस प्रकार तपुसुंक् स्निग्ध-विशेष का नाम है। आस्कलायन के अनुसार उदात्त अनुदात्त और स्वरित का।

दक्षिणा—दक्षिणा यज्ञ का महत्त्वपूर्ण भाग है। मूर्तों को छोड़कर, जिनमें ब्राह्मण स्वयं आरमकस्यावाचं यज्ञ करते हैं, अन्य यज्ञों में दक्षिणा देने का विधान है। प्रत्येक यज्ञ की दक्षिणा के असग-असन नाम हैं। यथा—आग्निष्टोमिकी राजसूयिकी वाजपेयिकी नाबयजिकी पाकयजिकी पाञ्चोदिकी द्वाप्रीदिकी आदि।<sup>४</sup> दक्षिणा में गायत्री अथवा ही भी जाती थी। जिन यज्ञों में हजार मास की दक्षिणा का विधान है, उनमें विशिष्ट कथन की एक गाय (१ वर्ष की, ४ वर्ष की या बूढ़ा) चुनकर उसे सहस्रतमी संज्ञा भी जाती थी और उसका विशिष्ट विधि से दान किया जाता था। पशुधर्मों में अग्निता को पशु ही दक्षिणा में मिसता था। याज्ञिक को अस्व और बैयाकरण को हाथी दक्षिणा में देने की प्रथा भी सामान्य मान्य होती है।<sup>५</sup> अनेक गायें प्राप्त न होने पर एक ही गाय का बार-बार दान करने से अनेक गायों के दान का पुण्य प्राप्त होने का भी उल्लेख माध्य में मिसता है।

१ समाने स्वाने मीचजामे निष्यमोऽथ अनुदात्त। यस्मिन्मुञ्चार्थमात्रे यात्राजामन्वसर्पणं मार्बणं भवति स्वरस्य मुहुता, स्निग्धता कण्ठद्विवरस्योरुता मुहुता-स्वसमसिमनेम इत्यनुञ्चानि।—

१ २ ३० का०।

२ ती समान्निष्येते यस्मिन्प्रथि तस्य स्वरित इत्येवा संज्ञा विधीयते।—१ २-३१ का०।

३ स्वरपामुदात्तादीनामविभागा भेदतिरोवागमैकभृति।—१ २ ३३ का०।

४ एकभृतिः स्वरनाम यथा तपुसुंक्किल्लनाम।—१ ४ १७४ वा० ४, पृ० ५०-५१।

५ तस्य च दक्षिणा यज्ञाग्नेभ्यः—आभ्यामप्रहृणं किमर्बम्? तस्य दक्षिणा यज्ञेभ्य इती-  
त्युच्यमाने य एव संज्ञामुक्ता यतास्तत उत्पत्तिः स्यात् अग्निष्टोमिभ्य राजसूयिभ्य वाजपेयिभ्य।  
यत्र वा यतद्यदोऽस्ति पाकयजिभ्य नाबयजिभ्यः। इह न स्यात् पाञ्चोदिकिभ्य द्वाप्रीदिकिभ्यः।—

५ १-१५, पृ० ३४२।

६ याज्ञिकानां बैयाकरणहस्तो।—१-२-५२, वा० ७ पृ० २६९।

७ लोके ऋषिसहस्रमेका कसित्तामैत्रकेऽऽ सहस्रहस्तो बस्या तथा सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः

नम्यन्तः।—आ० २ पृ० ४१।

बभ्रुया ईस मी दक्षिणा में दिसे जाते थे।<sup>१</sup> अथर्वबुक्त रथ विममें अनेक अरथ पुते रहते थे या केवल अरथ बोधी लक्ष्मण, लक्ष्मरी (अदवतरी) गदमादि बभ्रि मेघ वस्त्र वीहि यव ठिक भाव भाषि को दक्षिणा म देन का उल्लेख श्रौतमूर्तों म है।

यत्कथन—ब्राह्मण-ग्रन्थ म यज्ञों क विभिन्न कर्मों का सविस्तर वर्णन है। भाष्यकार ने इनमें अग्निष्टोम क प्रसंग में कहा है कि बभ्रुय में ब्राह्मण को अग्निष्टोमादि ऋग्वेदों क यजन करना चाहिए। इस शास्त्रीय विधान का कुछ प्रयाजन भी है। जो इस प्रकार यज करता है, उसे स्वर्ग में अप्सरा-यलिनियों की प्राप्ति होती है।<sup>२</sup> काम्यष्टियों का फल उनके नाम क द्वारा ही जाना जा सकता है। निष्टक्याग्नि और समुद्र का यजन पशु-समृद्धि क लिए किया जाता था।<sup>३</sup> यज्ञों क द्वारा मग्न ओषधि वन भादि की समृद्धि का प्राप्ति की जाती थी और वही जमका फल था। सुसत्या ओषधियों और मुदिप्यता ओषधियों के लिए प्राप्ति भाष्यकार ने वैदिक साहित्य से उद्धृत की है।<sup>४</sup> और पुष्टि अनेक यज्ञों का लक्ष्य था।<sup>५</sup> कमी-कमी वर्षों के लिए संहिता-पाठ का आयोजन किया जाता था। पाकस्य द्वारा सुप्रगीत संहिता को सुनकर परम्य बरस<sup>६</sup> पञ्च ऐमा विद्वास समाज म था। यज्ञ म उषि जागरण में वैदिक विद्याओं की प्राप्ति मानी जाती थी। ये यज्ञ पठनकाल क समय में साधारण समाज म बहुत प्रचलित हो चुके थे और साथ प्रायः उनका अनुष्ठान करत थे। यह बात उक्त अनेक रूपों में स्पष्ट है। क्योंकि जैसा कि भाष्यकार ने उद्धृत किया है—यज्ञ प्रतिष्ठा (स्मरणा और सम्मान) का प्रदाता माना जाता था।<sup>७</sup> अग्निष्टोम का फल ठा पुनत्र म स मुक्ति माना जाता है। इतीन्द्रिय, भाष्यकार ने अग्निष्टोमयात्री क साथ 'जतिता' क प्रयाग पर भाषित की है।<sup>८</sup>

भाष्य में कहा और ब्राह्मणों में एम अनेक वाक्य उद्धृत मिलते हैं जिनम यज्ञ क फल के रूप में ऋत्विज् सन्तान की कामना की गई है या पत्नी क साथ स्वयमन की। महान् मौनाय्य

१ महाभारतको दक्षिणा दीयते ।—६-२ ३२, पृ० २५८ ।

२ बभ्रुये ब्राह्मणोऽग्निष्टोमभिः ऋग्विष्वजितेनीग्यया किञ्चित्प्रयोजनमुत्तमम् ।

किम्? सवर्गे लोकेऽस्मरत एवं ज्ञाना भूत्वोपीरते इति ।—६ १-८४, बा० ५, पृ० ११८ ।

३ निष्टक्याग्निं चिन्वीन पशुकाम ।—३ १ १२३ बा० १ पृ० १९१ तथा समुद्रं चिन्वीत पशुकाम यमसो वै पुरीवं पशुवेवास्मै तत्समहति ।—३ १ १३१ बा० ३, पृ० १९५ ।

४ सुसत्या ओषधीस्तृषि मुदिप्यता ओषधीस्तृषि ।—६ १-८६, पृ० १३३ बा० ६ ।

५ एविमान् पुष्टिर्बर्धनं अरि वा मनु नो विना ।—६ १ ३० बा० ६ पृ० ६८ ।

६ साकस्येन कुहुता संहितामनुनिद्राम्यरेक प्राधर्वम् ।—१ ४-८४, पृ० २०० ।

७ यो जत्राभार तमुच्यते कालयन्ते ।—६-१-८, बा० १ पृ० २४ ।

८ इतोऽग्नीनापास्य मानेन एव सोमेन यद्यमापन ।—१ ४ ९, पृ० १३६ ।

९ यज्ञत्र प्रतिष्ठा यमेयम् ।—३ १-८६ पृ० १४६ ।

१० कुनो नु सत्यैतरग्निष्टोमयात्रीर्येनापुष्यरम् अविप्यनि म पुनत्रजितेनि ।—

३४१ बा० २, पृ० ३४१ ।

यात्रकों की अवस्थिरता, सम्पत्ति की वृद्धि देवों से अपने सौभाग्य में सामान्य ऋद्धि आदि की सहभागिता यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त करने की कामनाएँ की गई हैं।<sup>१</sup>

पारिवायिक याज्ञिक शब्द—यज्ञसाधन और उसकी प्रक्रिया में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रचलित था जो पारिवायिक नहे जा सकते हैं। ये शब्द विशेष अर्थ में रूढ़ हो गये थे और याज्ञिकों में भी उस रूढ़ अर्थ में प्रचलित थे। ऐसे बहुत-से शब्दों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। कुछ अन्य महत्वपूर्ण शब्दों की जो माध्य में मिलते हैं, व्याख्या नीचे की जा रही है।

अधरपरिवाह—यज्ञ के लिए बेदी तैयार करने के निमित्त बेदि-स्नान से मिट्टी साफ की जाती है। अध्वर्यु के आदेश पर आग्नीध्र तीन बार मिट्टी लेकर उत्तर में डालता है। तब कुछ की मिट्टी साफ हो जाने पर अध्वर्यु आग्नीध्र को प्रेष देता है और आग्नीध्र बेदी के बाहिन मंड से प्रारम्भ कर दक्षिण शोभि तक बेदी के दक्षिण प्रांत का स्पर्श करता है और उसी प्रकार दक्षिण शोभि से प्रारम्भ कर उत्तर शोभि तक बेदि के पश्चिम प्रांत (छोर) का उत्तर शोभि से प्रारम्भ कर उत्तरांत तक बेदि के उत्तर भाग का स्पर्श करता है। स्पर्श से बेदि के प्रांत भाग का यह स्पर्शन अधरपरिवाह या पूषपरिवाह कहलाता है।

उत्तरपरिवाह—अधरपरिवाह के बाद मन्त्र-जप के साथ तीन बार बेदि-स्नान होता जाता है और खुदी हुई मिट्टी उठाकर आग्नीध्र उत्तर में डालता है और फिर ऊपर बैठकर हुएं ढंग से स्पर्श द्वारा अन्य तीन मंडों के साथ बेदी के प्रांत भागों का स्पर्श करता है। स्पर्श की यह द्वितीय क्रिया उत्तरपरिवाह कहलाती है।<sup>२</sup>

उद्ग्राम—सूक्त को उठाने की क्रिया उद्ग्राम कही जाती है।

निग्राम—सूक्त को नीचे रखने की क्रिया को निग्राम कहते हैं।<sup>३</sup>

शंयुवाक—शंयुवाक विशेष कथा की संज्ञा है। शंयु पद-मुक्त होने से इसे शंयुवाक कहते हैं। यज्ञ-प्रक्रिया में तुल्य-ग्रहण के बाद अध्वर्यु का प्रेष पाकर होता इस ऋचा को मध्य में अवसान देकर बिना प्रसव के एक क्षुति से पढ़ता है।

सूक्तवाक—प्रस्तोतन-विधि के बाद अध्वर्यु होता का मंत्र पढ़ने के लिए कहता है। अध्वर्यु से प्रेरित जाता जो मंत्र पढ़ता है उसे सूक्तवाक कहते हैं।

१ प्रजा विग्राम ऋद्धिवायम् ।—६ १ ११७, वा० १, पृ० १८१; एहि त्वं आये स्वो रोहाव ।—६ ३ १०९, वा० ६ पृ० ३६१, अर्धन्तुत्वा सुवृत्तयो विरो मे, बृहस्पतिव्वा, सुन्ने रम्भानु, अग्नि शर्षं बहते सौमत्वाय ।—६ ४-५२, पृ० ४२९ ३०; अवस्थिरो तनुहियातुजाम्, पिनुहि यज्ञं पिनुहि यज्ञप्रतिम तेन मामागिनं कृनुहि ।—६ ४-१०६, वा० १, पृ० ४५९ ।

२ परी यज्ञे—उत्तरपरिवाहः अधरपरिवाहः ।—३-३-४७ काणिका ।

३ उद्ग्रामः निग्राम इतोमी शब्दो छम्बति अस्तध्मी सुगुणमनं निपातनयोरर्धयो उद्ग्रामं च निग्रामं च ब्रह्मदेवा अवीचुवन् ।—३-३-३६, वा० ३ पृ० ३०३ ।

४ २ ४-२९, वा० १ पृ० ४७६ ।

वाय्या—दर्श-वीर्षमासादि में १५ सामिपेनी ऋचाएँ होती हैं, या ऋचैः (१-२७-१ से ११) से ली गई हैं। इनमें प्रथम और अन्तिम ऋचा के तीन-तीन बार पढ़ने से पन्द्रह संख्या पूरा होती है, किन्तु सामिपेदियों की संख्या यज्ञानुसार बढ़ती रहती है। सबह माइस्कीस संख्याएँ भी स्थिरता भादि सम्पादन के लिए बतलाई गई हैं। एसी स्थिति में यह सरया बाहर की ऋचाएँ मिलाकर पूरी की जाती हैं। अतिरिक्त ऋचाएँ अतुष (सामिभ्यमानवती—१ २७-४) और ग्याच्छ्वी (समिभ्यती ३ २७-११) के बीच में मिलाई जाती हैं। ये बाहर से मिलाई हुई ऋचाएँ वाय्या कहलाती हैं।<sup>१</sup> यह ऋचि छन्द है। वाय्या सामिपनी से बाहर भी प्रबुक्त हो सकती है।

प्रस्तर—प्रकृति-दृष्टियों में चार मुट्ठी धर्म काटे जाते हैं। प्रथम धर्म-मुष्टि मन्त्रों से संस्कृत की जाती है। जिसकेरी पर जुहू रखी जाती है, उसी पर यह भी रखी जाती है। उसे प्रस्तर कहते हैं।<sup>१</sup>

प्रयाज—प्रधान मास से पूर्व जिन मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है, उन्हें प्रयाज कहते हैं। प्रकृति-मन्त्रों में पाँच प्रयाज होते हैं। इनमें चार के देवता बरम्ह, प्रीष्म, सर्पा और धरत् तथा पंचम के हेमन्त और त्रिधिर होते हैं।

अनुयाज—प्रधान मास के परचात् जिन मन्त्रों से होम किया जाता है, वे याग्या-मंत्र अनुयाज कहे जाते हैं।

अवधान—यज्ञ के लिए स्थापित इन्द्रियों से होम के काम जानेबाने जान को अलग करने का नाम अवधान है।<sup>१</sup>

देवयजन—देवा इज्यन्ते मरिमन् इह व्यत्पृति के अनुसार देवताओं को उद्देश्य मान कर जिस स्थान में यज्ञ किया जाता है वह मापभूमि देवयजन कही जाती है।<sup>१</sup> देवयजन का उत्तर और पूर मास भीषा होना चाहिए। यह स्थान तुषीयबिबहुस तथा भुयसीम और सभ होता है। इस वाय का व्यास रचना चाहिए कि उसके सामने जल हो और जल न हाने पर कोई महाबुस कृष या महापप (दूष्णामी मार्ग) सामने हो किन्तु पाम में ऊँची भूमि या पर्वत न हो।<sup>१</sup>

पवित्र—मत्सा से न बाट हुए, अग्रभान-महित आरग्य (बातिग) भर सम्भे मन्त्रों से संस्कृत बयबर सम्भे प्रोणगादि में काम जानेबाने को धर्म पवित्र बड़े जाते हैं।<sup>१</sup>

१ वाय्यासाध्यायनिकाय्यावाय्यामानहविनिवाप्त सामिपेनीषु।—१ १ १२९; सामिपेनी साम् ऋचिभ्योपत्य बाचकेः सत्र च वाय्येति न सर्वा सामिपेन्मुष्पतेः। किं तर्हि? काचिदेव। अविमन्त्रोऽप्यम्। तथा चास्तानिधम्यामपि वुर्यते।—१ १ १२९ काचिका।

२ प्रे दसो यते।—१ ३ ३२।

३ अमरानिर्वा एतात्पञ्च मय बधानमवापत्।—१ १ ४४ वा० १७, पु० २६४।

४ तमाप जान देवयजनम्।—१ ३ ६७ पु०, ३६६।

५. प्रागुदरप्रबर्ध देवयजनं लोमाशकबुडा ताम्—पुरस्तात्प्रचार्यापत्रम्-तद्भावे महाबुसो उपपानो महाबुसो वा—न चास्ये त्वत्तत्तत्तत्तुरे त्याम्।—साध्या० श्री० सु०, १ १ १४, १७।

६. ३-२ १८४।



पंचहोता—अग्निहोता इत्यादि पाँच को पंचहोतृ कहते हैं। इनका अंशिम वाक्य 'चाताये ईवमभूत' आदि है।<sup>१</sup>

प्राश्चित्त—उपमृत में रखे हुए आग्य को ब्रह्म में करके ब्रह्म और उपमृत को यथा स्थान रखकर मंत्र से प्रथम प्रथम इन्द्र-सम्बन्धी प्राश्चित्त को अलग कर प्रणीता-पात्र के पश्चिम में रखते हैं।<sup>२</sup> यह प्रथम इन्द्र का भाग प्रथिता (ब्रह्मा) का भाग होने के कारण प्राश्चित्त कहा जाता है।<sup>३</sup>

स्वासीपाक—स्वासी में पकाया हुआ ओदन जो गृह्यसूत्रों में माहुति के काम आता है।  
घृत—पत्नी और यजमान घृतभयनाहार (यज्ञ का रखोईकर) में पर्युषितस्वादि दोषों से रहित ची या दूध मिला जो पदार्थ खाते हैं वह भक्षणीय इन्द्र्यघृत कहलाता है।

भिन्न-भिन्न परिवारों में विशेष प्रकार के यज्ञों का प्रचलन था। उवाहरकार्ष, अंगिरसों में द्विरात्र नवों में त्रिरात्र मन्त्रियों में चतुरात्र क्षत्रियों में एक भिन्न प्रकार का चतुरात्र और उद्गातक कुमुर-विश्वरों में सप्तरात्र का विशेष प्रकार था।

१ २-१-५२ तथा १-१-५८।

२ भासिता प्राप्तीत्य प्राश्चित्तम्।—५-१-९८, पृ० ३४४।

३ ४-१-८५, आ० ९, पृ० १९।

४ पयोव्रतौ ब्राह्मणः।—आ० १ पृ० १९।

## अध्याय १०

### मूर्ति, पूजा और भक्ति

अर्चा और प्रतिहृति—पर्वत्रयि न सामान्य मूर्तियों को 'प्रतिहृति' और पूजा बनावे परी मूर्तियों का अर्चा कहा है। प्रतिहृति मूलवस्तु का प्रतिरूप या प्रतिच्छन्द हीटी है। हाथी, घोड़े गध आदि के खिलौने उनसे बिलकुल मिलते-जुलते आकार के बनाये जाते थे। ये प्रतिहृति कहलाते थे। अस्त्र की प्रतिहृति अस्त्रक उष्ट्र की उष्ट्रक और गधन की परमक कहानी थी। प्रतिहृति बतलाने के लिए मूल वस्तु के वाचक शब्द के आगे 'क' लगाया जाता था। प्रतिहृति न होने पर भी यदि कुछ आहृति-आम्य दिखाई पडा तो समाहृति वस्तु का नाम मूलवस्तु के आगे 'क' लगाकर रखा दिया जाता था। इस प्रकार अस्त्र से मिलते आकार की वस्तु यदि गता हुई तो अस्त्रक कही जाती थी मरुही बह उमकी प्रतिहृति नही। प्रतिहृतियाँ गिलोनों या कन्धाङ्गियों के रूप में प्रयुक्त थीं। वे लुसे बाजार में बिकती थी।

इनके अतिरिक्त चित्र कर्म में और ध्वज पर भी प्रतिहृतियाँ अर्चित की जाती थी। कागि काकार मे अर्जुन दुर्वाधन आदिके चित्रों का तमा कपि गरुड़ सिंह आदिकी ध्वज प्रतिहृतियों का उल्लेख किया है। गदह-मतिहृति-मय ध्वज प्राचीन वैष्णव मन्दिरों में लगाये जाते थे। मेह रीसी सिमुनियाँ आदि स्थानों में गरुड़ध्वज स्थापित करने मे सम्बद्ध गितालेख प्राप्त हुए हैं। पर्वत्रयि मे ध्वजों में अर्चित प्रतिहृतियों का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि चित्रकर्म की अर्चा उन्हीं की है और हृष्णपत्नीय और कसपत्नीय चित्रों की विमयना का बयन किया है।

देवताओं की भी मूर्तियाँ बननी थी। इन्हें शुद्ध अथ में प्रतिहृति नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे किसी विद्यमान हृति का प्रतिरूप नहीं हाती थी अपितु धार्मिक धर्मों में देवविग्रह का कल्पित स्वरूप के माया पर बनाई जाती थी। माप्यकारन इन देवमूर्तियों को अर्चा कहा है। उन्हींने तुंगनासिकी और वीपनामिकी अर्चाओं का भी उल्लेख किया है।

अप्य और अप्य अर्चाएँ—अर्चाएँ पूजा की वस्तु थी। वे मन्दिरों या साधुजनित स्थानों पर भी प्रतिष्ठित की जाती थी। कुछ साधु अर्चाओं से जीविका भी कमाने थे। जीविका कमाने

१ ५३९६।

२ ५३९७।

३ अर्चासु ओबिकापासु चित्रकर्मध्वजेषु च इने प्रतिहृती लोप क्तो देवपपादिषु ।—

५३९०० कागिका।

४ विज्ञेयप्युद्गुर्णा निवतिनास प्रहाराद्गुदयने कर्म-कर्त्तव्यम् ।—३ १२६ वृ० ७९।

५ ११-५४ वृ० ९९।

के दो प्रकार रहे होंगे। कुछ लोग देवमूर्तियों को घर-घर से जाकर उन पर चढ़ावा प्राप्त करते होंगे वैसे कि अभी तक कुछ लोग करते हैं और यह चढ़ावा उनकी बीबिका का साधन होता होगा। कुछ लोग घरों में मूर्ति रखकर मन्त्रजनों द्वारा चढ़ाये गये ब्रह्म से निर्वाह करते होंगे। शार्वनिक मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवमूर्तियों के पुजारियों की बीबिका का साधन भी अर्थात् ही थी। ये अर्थात् जिस धरता की होती थी उसी के नाम से पुकारी जाती थी। वैसे शिव की मूर्ति (पूजार्थ) शिव ही कही जाती थी।<sup>१</sup> इस प्रकार, अर्वाजों की एक सेनी पुजारियों के उदर-निर्वाह का साधन थी।

दूसरे प्रकार की अर्वाजें वे थीं, जो लोगों की व्यक्तिगत पूजा के काम जाती थीं। ये विघ्नहृत् पूजा की वस्तु थीं। ये मूर्तियाँ भी बिल देवता की होती थीं उसी के नाम से पुकारी जाती थीं। उदाहरणार्थ—शिव स्कन्द या विद्यालक्ष की ये मूर्तियाँ भी शिव स्कन्द या विद्यालक्ष ही कही जाती थीं।<sup>२</sup> पतञ्जलि ने उक्त दोनों प्रकार की मूर्तियों को पूजार्थ कहा है।<sup>३</sup>

तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थीं जो पूजार्थ नहीं अपितु विक्रयार्थ बनाई जाती थीं। मौर्य राजाजाने राज्य की आय के लोभ से देवताओं की मूर्तियाँ बलवाकर उन्हें बाजार में बेचना प्रारम्भ किया था। पण्यार्थ बनाई गई मूर्तियों का नामकरण सम्बद्ध देवों के भावे 'क' प्रत्यय लगाकर किया गया था। उदाहरणार्थ—बिम्बे के लिए बनायी गई शिव स्कन्द या विद्यालक्ष आदि की मूर्तियाँ शिवक स्कन्दक या विद्यालक्षक आदि कहलाती थीं। इस प्रकार, इन मूर्तियों की बरबाद की प्रतिवृत्ति के समान सामान्य सिक्कों में की गई है।<sup>४</sup> ये सब प्रतिमाएँ भीतर पीकी रहती थीं।<sup>५</sup>

शिव स्कन्द, विद्यालक्ष—भाष्यकार ने अर्वाजों के प्रसंग में शिव स्कन्द और विद्यालक्ष का ही उल्लेख किया है। इससे यह तो निश्चित है कि इन देवताओं की मूर्तियों की पूजा का प्रचार था। इनके अतिरिक्त अन्य किन देवताओं की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं इस बात का स्पष्ट उल्लेख भाष्य में नहीं है। 'देवताद्वन्द्व' (१-३-२६) तथा 'द्वन्द्वं रहस्यमर्थात् आदि (८-१-१५) श्लोक के भाष्य में पतञ्जलि ने स्कन्द और विद्यालक्ष को अत्यन्त सङ्घर्षित तथा लोक-विज्ञात द्वन्द्व कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि इन दोनों की मूर्तियाँ मुख्य रूप में भी पूजी जाती थीं।

१ ५-३-११।

२ वही।

३ यास्वैतः सम्प्रति पूजार्थास्तानु भविष्यति।—५-३-११, पृ० ४७९।

४ अथप्य इत्युच्यते तत्रैव न सिध्यति शिव स्कन्द विद्यालक्ष इति कि कारणम्? मौर्यैरिदृश्याभिरर्वाजः प्रकल्पिताः भवेतातु न त्वम्—वही।

५ वही।

६ भा० १ पृ० १०।

७ बह्मजपती शिवककवनी स्कन्दविद्यालक्षी—द्वन्द्व इत्यनुवर्तमाने पुनश्च द्वन्द्वस्यै तत्रयोर्जन—लोकदेवता द्वन्द्वस्तत्र यथा स्यात्। कवच लोकदेवताद्वन्द्व? वेदे ये सङ्घाप-निर्विष्टा न वेदे सङ्घापनिर्विष्टाः।—६-३-२६, पृ० ३१० तथा ८-१-१५, पृ० २७८।

यह भी सम्भव है कि इनकी मूर्तियाँ मृग्य रूप में इसठी भी हों। यही बात शिव और वैश्वानर के विषय में कही जा सकती है। भाष्यकार ने इन दोनों मूर्तियों को इन्द्र माना है किन्तु वेद में ये सह पाप-निर्विष्ट नहीं हैं। इससे इनकी एक साथ पूजा होना आवश्यक नहीं है। 'वेदता इन्द्रे च' सूत्र कही भाष्य में इन्द्र रूप से निर्विष्ट ब्रह्म और प्रजापति की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं या नहीं और पूजी जाती थीं ता इन्द्र रूप में या पृथक्-पृथक् यह बात भी भाष्य से स्पष्ट नहीं मालूम होती।<sup>१</sup>

पतञ्जलि के अनुसार इस मृग्य में शिव-शक्ति का प्रचार सर्वाधिक जान पड़ता है। यहाँ एक किशोरोपासको का अचना स्वतंत्र सम्प्रदाय तक बस चुका था और वे शिवभागवत बहुभाष्य में। ये साम शिव-विष्णु के रूप में अपने पास त्रिगुल रखते थे। भाष्य में इसे अथ गूल कहा है। इसके रखनेवाले ध्याय-गुणिक कहे जाते थे। यों आध्यात्मिक उन साहित्यिक सोचो को भी कहते थे जो मुहु उपायो से करने योग्य कार्यों का तीव्र उपाय से करने के अन्त्यस्त होते हैं। इस अथ म अथ गूल का प्रयोग सादाशिक था।<sup>२</sup>

काश्यप—काश्यप की भी मूर्ति पूजी जाती थी इस बात का सबैत सम्पाद्यामेवगप एकविमक्तो' (१२१४) सूत्र में भाष्य में मिलता है। इसमें काश्यप की प्रतिहृति का काश्यप ही कहा है और यही प्रयोग साक में प्रचलित माना है। यह काश्यप शब्द अथ प्रत्ययान्त है जिसके आगे प्रतिहृति अर्थ में कन प्रत्यय होता है किन्तु अपत्य जीविकाव मूर्ति होने के कारण शिव स्वान्द आदि समान 'कन्' का लुप् (लोप) हुआ जाता है। स्पष्ट है काश्यप की मूर्ति भी शिव की मूर्ति के समान पुजारी की जीविका का मापन थी। काश्यप बहय या विष्णु का भी नाम है। कहा जाता है कि परशुराम ने क्षत्रिया का विनाश कर अस्वभय करने के बाद पृथ्वी काश्यप का दान करी थी। इसीलिए, पृथ्वी को काश्यपी देवी कहते हैं।<sup>३</sup>

धनपति राम और केदार—पतञ्जलि के समय में धनपति या वैश्वानर की पूजा होगी जो यह बात स्पष्ट है। राम और केदार की पूजा का भी जलन था किन्तु य राम और केदार कीन है? बलराम और कृष्ण अथवा परशुराम और विष्णु? परशुराम का उत्सव भाष्य में अथ कही नहीं है। जमदग्नि और जामदग्न्य का उत्सव एक स्थान पर अथवा हुआ है किन्तु कर्मा पंचांगत हवन करमधामे श्रुति विगप तथा उनके गाथापत्यो ने अथ म। परशुराम में उनका कोई सम्बन्ध नहीं बतलाया गया है। केदार शब्द का भी अन्वय कही उत्प्रेय नहीं है। भाष्यकार परशुराम के विषय में उदासीन जान पड़ते हैं। बलराम का उत्सव उन्होंने अथ म भी कृष्ण क

१ वही।

२ ५२-७६, पृ० ३९८ कि घोष्यः प्रोक्तोऽम्बिकापति स आध्यात्मिकः? कि वाचः? शिवभागवते प्राप्नोति।

३ मोनिपर चित्तियस्य विद्यानरी।—पृ० २८१।

४ बृहद्भारगुण्यपदा-बृहद् नदन्ति संतति प्रातारं धनपतिरामकेदारानाम्।—२ २-३४ पृ० ३८९।

५ ११४४ पृ० २६४।

छात्र किया है।<sup>१</sup> उन्होंने एक श्लोकार्थ भी उद्धृत किया है जिसमें संकर्यय के साथ उनकी बल-बुद्धि की कामना की गई है। इस श्लोक संराम और कृष्ण के प्रति मक्ति एवं उनकी बल-कामना तो परिबद्धित होती ही है उनके युग्म रूप में पूजित होने का भी आभास मिळता है। भास के 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रारम्भ बलराम की स्तुति से होता है। कृष्ण के अतिरिक्त वासुदेव शब्द का उल्लेख भाष्य में अनेक बार हुआ है, किन्तु सर्वत्र महाभारत के बीर योद्धा अर्जुन के सहचर और कंस के घातक के रूप में।<sup>२</sup> इन समय प्रसंगों में उनका बुद्धि बल के नेता अथवा बर्ष या पक्षविधेय के नायक के रूप में स्मरण किया गया है। उनके पक्षपाती लोग थे किन्तु कंस के पक्षपाती लोग भी थे। भाष्यकार ने कहा है कि घातक में कंस का बध होने के समय कंस-भक्तों के बेहरे उवाची से काले पक्ष जाते हैं और कृष्ण-भक्तों के मुस शोध से लाल हो जाते हैं। इससे यह पता चलता है कि पतंजलि-काल में कंस के समर्थकों की संख्या मछे ही कम-सही विद्यमान थी। इस प्रकार, भाष्य के वासुदेव-सम्बन्धी उल्लेखों में उनकी विष्णुत्व-प्रतिष्ठा नहीं मिलती। हाँ भाष्यकार ने एक स्थान पर अथर्व्य न केवल उन्हें अर्जुन से बड़ा ही बतलाया गया है, अपितु क्षत्रिय से ऊपर उठाकर तक्षमवान् अर्थात् देवता रूप में प्रतिष्ठित स्वीकार कर लिया गया है। और यदि हम संकर्ययद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्षताम् (२-२-२४ पृ० ३६९) को अथवा 'सरीषा तक्षमवत्' (४-३-९८ पृ० २४५) के साथ मिलाकर पढ़ें तो इस निष्कर्ष पर अथर्व्यने कि पतंजलि-काल में कृष्ण में देवत्व का आरोप हो चुका था और बलराम के साथ उनकी पूजा होने लगी थी यद्यपि ऊपर उद्धृत वाक्य का अर्थ 'जो कि भाष्यकार के ध्यान में देर से आया इस ओर संकेत करता है कि कृष्ण वासुदेव में विष्णुत्व का आरोप अति प्रसिद्ध बात नहीं थी और यदि वे पूजे जाने लगे भी थे तो भी सिद्ध स्तान्य विद्याल के समान सर्वमान्य देवता के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठ नहीं हो पाये थे।

**देव-मन्दिर**—देवताओं के स्थान को उपर्युक्त उद्यरम में प्रासाद कहा है। मन्दिर या प्रतिष्ठान शब्द का प्रयोग देवयूह के रूप में भाष्य में नहीं हुआ है। प्रासाद का भी मन्दिर अर्थ में केवल एक बार ही उल्लेख मिलता है। इससे भी अनुमान होता है कि पतंजलि-काल वैदिक कर्म-कार्यों का युग था। मक्ति का प्रारम्भ इस समय हो रहा था और यज्ञशास्त्रों की तुलना में मन्दिरों की संख्या अल्प थी। पाणिनि ने 'मक्तिकर' शब्द की निष्पत्ति विधेय रूप से बतलाई है।<sup>३</sup> मक्ति शब्द का प्रयोग पतंजलि ने इस अर्थ में नहीं किया है, जिस अर्थ में जाने बल-कर भागवत-सम्प्रदाय में बहु व्यवहृत हुआ। पाणिनि और पतंजलि दोनों ने उसे अंगरेजी के

१ संकर्ययद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्षताम्।—२-२-२४, पृ० ३६९।

२ अथर्व्य कंसं किल वासुदेव।—३-२-१११, पृ० २४७ तथा ४-२-१०४ पृ० २०८ तथा ४-३-९८, पृ० २४५ तथा ४-१-११४ पृ० १३९।

३ वही।

४ इदं तद्भिः प्रवीक्षणं वासुदेवशास्त्रस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामि। अथवा नैवा क्षत्रियावप्या। संज्ञिका तत्र भवतः।—४-३-९८, पृ० २४५।

५-३-२-२१।

लॉयली' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इसलिए 'बामुदेवानुताम्यां शुन् (४३१८) क आभार पर 'बामुदेवक' शब्द का अर्थ बामुदेव का भक्त (उपासक) मान लेना भ्रम होगा क्योंकि जनपदा के साथ भी इस शब्द का प्रयोग भाष्य में बार-बार हुआ है, जहाँ जनपद भक्त का अर्थ उनके प्रति 'कौयल' मात्र होता है।'

बेवग्रह—दशताम्रों के उत्सव मनाने की प्रथा थी। उत्सवों का 'मह' कहते थे और एतदर्थ एकत्र समाज को संसद्। जनपति राम और केशव के प्रासाद की संसद् में मूर्तय शक्त और पणव बजने की शर्चा ऊपर हुई है। भाष्यकार ने इन्द्र और गंगा के निमित्त होने वाले 'मह' का भी उल्लेख अस्पष्ट किया है एतदर्थ काम में मानेवासी वस्तु ऐन्द्रमहिक और मांगामहिक कही जाती थी। इन 'महों' को 'हृत्य' भी कहते थे।

## अध्याय ११

### दर्शन

दर्शन का अर्थ—समस्त धर्मों एवं दर्शनों का उद्देश्य बुद्ध-निवृत्ति और बुद्ध-भाषि है। अनाथ रोगादि पीड़ा तथा मृत्यु का भय ये मनुष्य को जीवन के दोनों छोरों से परे सोचने को विवश करते हैं। काष्ठ प्राणियों को बूझ बनाकर उनका संहार करता जाता है।<sup>१</sup> माप्यकार ने मृत्यु की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने मनुष्यों को मरणधर्मा कहा है।<sup>२</sup> उन्होंने कहीं से एक कारिका उद्धृत की है जिसमें मृत्यु को 'कुर्मवी' कहा गया है। जिस प्रकार सपत्नी रात-दिन सब पीकर भी उससे तृप्त नहीं होता उसी प्रकार वैवस्वत (काष्ठ) रात-दिन भी सब पुण्य और अण्य पशुओं की बलि लेकर भी तृप्त नहीं होता।<sup>३</sup> शीतोष्ण सुख-दुःख और जल-मरुत के द्वन्द्व उनको दृष्टि में थे। फिर भी उनका दृष्टिकोण निराशावादी नहीं था और न वे जीवन को कष्टमय ही मानते थे। रामायण (किष्कि० का०) के श्लोक का एक अर्थ उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मनुष्य का कोई रोय न हो, तो वह सौ वर्ष की आयु के बाद भी जीवन का रस या आनन्द प्राप्त करता है।<sup>४</sup>

वार्त्तिक—जीवन और जन्म के तत्त्वों पर विचार करनेवाके विद्वानों को पर्ववक्ति ने भीर और ध्यानवत्य कहा है। वे प्रज्ञान या विज्ञानयुक्त बाधी बोलते हैं।<sup>५</sup> ऐसे विचारक प्रत्यक्ष धर्मा परापरत्र विदित-वेदितव्य और अधिगतयावातव्य कहलाते थे। ये बाम्पोगवित् ज्ञानी विज्ञान (उत्त्वज्ञान) के आधार पर अपना मन स्थिर करते थे।<sup>६</sup> इनके चिन्तन का सद्य या भीरता भाव्यमत्ता और सिद्धार्थता प्राप्त करना जिससे बुद्धार्थता से निवृत्ति प्राप्त की जा सके।<sup>७</sup> माप्यकार ने कहा है कि जो मनुष्य बुद्धार्थ होता है, वह अण्य भयंकर दुःखों को सुनकर विषमस्य को ही अधिक अच्छा समझता है।<sup>८</sup>

१ ३-३ १६७, पृ० ३३९।

२ आ० १ पृ० ७।

३ अहर्हूर्नयमानो नापयत्वं पुण्यं ननु, वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इयं कुर्मवी।—

२-२-२९, पृ० ३८९।

४ वही पृ० ३८०।

५ एति जीवन्तयानस्यो नास्य जिञ्चिदुवतीति।—१ ३-१२, पृ० ५६।

६ आ० १ पृ० १।

७ आ० १, पृ० २४।

८ आ० १ पृ० ५।

९ आ० १ पृ० १५।

१० इह य एव मनुष्यो बुद्धार्थो भवति सोऽप्यानि बुद्धार्थानुनिश्चयं विवन्तस्यमेव स्वानो मय्यते।—१ ४-५० पृ० १७५।

परब्र प्रतिष्ठा—भाष्यकार ने इहलोक और परलोक दोनों में सुख की चर्चा की है। ऐहलौकिक सुख को वे पर्याप्त नहीं मानते। वास्तव में 'परब्र' प्रतिष्ठा<sup>१</sup> तथा काम-भूति की चिन्ता उन्हें 'अपुत्र' से अधिक थी फिर भी वे जानते थे कि कामों का वहीं अन्त नहीं है।<sup>२</sup>

उपनिषद् और पतञ्जलि—महामाय के पूर्व उपनिषदों की रचना हो चुकी थी, जिनमें काम प्रकृति निवृत्ति ब्रह्म जीव जगत् और भुक्ति-सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन है। फिर भी पतञ्जलि को उपनिषदों की जानकारी थी ऐसा महामाय से प्रतीत नहीं होता। उन्होंने ब्रह्मवादी और ब्रह्मण्य दार्शनियों का व्यवहार किया है किन्तु वेदवादी तथा ब्राह्मणपीठक के अर्थ में। ब्रह्म शब्द का उपयोग उन्होंने उपनिषद्-मान्य अर्थ में नहीं किया है। सांख्ययोगादि दर्शनों से भी वे अपरिचित यासूम होते हैं। ऐसे महान् वेदज्ञ कमलाक्षी का उपनिषदों से इस प्रकार अपरिचित होना इस बात का पोषक है कि उपनिषद् का द्यन वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में प्रकलित हुआ था। अतः, यह स्वाभाविक था कि वैदिक लोग उनकी उपेक्षा करते हैं। उनका काम्य आराम ज्ञान नहीं स्पृह सुख वा और यज्ञ वा उसका साधन। इसलिये वे ब्रह्मचिन्तन के पक्ष में नहीं पड़े। पतञ्जलि ने ब्रह्म शब्द का प्रयोग वेद वा ब्राह्मण के ही अर्थ में सबसे कहीं किया है, यह बात उक्त पारदर्भूमि में स्पष्ट समझी जा सकती है।

आत्मा—आत्मा के विषय में भी भाष्यकार ने जो कहा है वह ब्रह्म सूत्र उग से कहा है। उन्होंने आत्मा के दो प्रकार माने हैं—शरीरात्मा और अन्तरात्मा। जिन कर्मों के परिणाम-स्वरूप शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है उनका कर्ता अन्तरात्मा होता है और जिन कर्मों के परिणाम-स्वरूप अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है, उनका कर्ता शरीरात्मा होता है। इस परिभाषा के अनुसार शरीरात्मा और अन्तरात्मा दोनों कर्ता हैं और फलभोक्ता भी। इस प्रकार आत्मा आत्मा को मारता है यह कथन भी युक्तिसंगत हो सकता है।<sup>३</sup> अन्तरात्मा के कर्मों से शरीर का कष्ट पहुँच सकता है और शरीर के कर्मों से अन्तरात्मा को कष्ट हो सकता है। भाष्यकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि बिना अन्तरात्मा के आदेश से शरीरात्मा किस प्रकार कर्म कर सकता है। कार्य का मूल इच्छा है और इच्छा कबल चेतन में ही रह सकती है। यह बात भाष्यकार को सम्यक अवगत थी।<sup>४</sup> पात्रोः कर्मसु समानकसुवादिच्छा याञ्चा<sup>५</sup> (३ १-७) सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने इस विषय पर भी विचार किया है और कहा है कि इच्छा की उपा

१ सोऽनन्तमाप्नोति चर्यं परब्र १-भा० १ पृ० ५।

२ स्वर्गो लोके च कामपुत्रवति—३ १-८४ पृ० ११९।

३ न च कामानां भुक्तिरस्ति—वही।

४ ३ २-७८, पृ० २२८ तथा ३ २ ३ पृ० २०५।

५ हृत्पात्मानमात्मा—आत्मना हृत्पात्मानेति। च पुनरात्मानं हन्ति को चात्मना-हृत्पात्मानेति। आत्मानान्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति।—३ १-८७ पृ० १५३।

६ ३ १-७, पृ० २९।



लक्ष्मि प्रवृत्ति से होती है। जो व्यक्ति थटाई बनाने जाता है वह यह धोपना करता नहीं बूमता। उसे रज्जु, कील पूरु हाथ में छिये तैयार बसकर लोग उनकी इच्छा समझ लेते हैं। यह पुण्य की बात हुई। पशुओं में भी यही बात देखी जाती है। मुमुर्षु कृते एकान्त में पड़े रहते हैं और उनकी जाँच बाहर कड़ जाती है। अचेतनों में भी प्रवृत्ति रहती है। नबी का जो कितारा गिरनेबाधा होता है, उसके लोप्ट धीर्य हो जाते हैं फल पड़ते हैं और एक स्वान से दूसरे स्वान पर चले जाते हैं। इस प्रकार, अचेतनों में भी चेतनों के समान इच्छा दिखाई पड़ती है। मक्का सभी कुछ चतनावान् है। कौड़ियाँ पानी में पसती हैं। शिरीष नीचे झुककर सोता है। सूर्यमुखी सूर्य का अनुसरण करती है। मोहा बुम्बक की ओर सरकता है। बेद में भी कहा गया है— प्राणानो मुने । इतसे पता चलता है कि अचेतन कुछ नहीं है। इसी बात को वृष्टि में रखकर उन्होंने 'स्वानेतन्तरतमः' (१ १-५०) सूत्र के भी भाष्य में कहा है कि चेतन-अचेतन सभी में सबूध के पास रहने की प्रवृत्ति देखी जाती है। डेसे को पूरी क्षमिता से उठाकर फेंका जाय तो वह न ऊपर जाता है और न तिरछा अपितु पृष्ठी का विकार होने के कारण पृष्ठी पर ही आ जाता है। उसका पृष्ठी के साथ सावृष्य है। अतिरिक्त में सूक्ष्म बल का विकार भूम-सबुध सुहृय निवात आकाश-देश में न तिरछा जाता है न नीचे जाता है, अपितु बल का विकार बल में ही मिस्र जाता है। इसी प्रकार, ज्योति का विकार किण्व निवात आकाश देश में जकने पर न तिरछा जाता है, न पीछे जाता है अपितु ज्योति का विकार होने के कारण ज्योति में ही मिस्र जाता है। क्याकि इन दोनों में सावृष्य है। भाष्य के इस कथन से भी प्रतीत होता है कि पर्वतसि अचेतनों में भी प्रवृत्ति और इच्छा स्वीकार करते थे।<sup>१</sup>

भावविकार—भाष्यकार ने भयवान् बाष्पावधि का मत उद्घुत किया है, जिन्होंने सत्ता बान् या वर्तमान वस्तुओं को भाव कहा है। इनमें छह प्रकार से विकार उत्पन्न होते हैं—उत्पत्ति विद्यमानता विपरिणाम वृद्धि, अपसय और विनास। समस्त भाव इन छह परिवर्तनों से मुक्त होते हैं। यही सृष्टि की परिवर्तनशीलता है। कर्ता की प्रवृत्ति उत्पादन-क्रिया के समय धन्य प्रकार की जाती है और मरण-क्रिया के प्रति अग्न्य प्रकार की। नित्य वस्तु वह होती है जो ध्रुव कूटस्व अविचाली अपाय-उपमग-विकार-रहित उत्पत्ति-वृद्धि-म्यय-हीन हो।<sup>२</sup> किसी-किसी विचारक के अनुसार यह साय संसार कूटस्व है। इसमें कहीं कोई चेट्टा या व्यापार नहीं है। यह कहना कि संसार परिवर्तनशील है युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ बताया हुआ भाव चलनर कही गिरता नहीं गरियाँ बहकर समुद्र को नहीं जाती। यह संसार एक रूप से ही स्थित है।<sup>३</sup> एक दूसरे विचारक का कहना है कि संसार कूटस्व नहीं है। इसमें परिवर्तन होते हैं किन्तु आश्रित्य की पति के समान दिनाई नहीं पड़ते। कारण-सामग्री के बूट जाने पर जिस प्रकार कमल माल के तन्तु

१ अचेतनेत्वम्। तद्यथा-लोप्टः क्षिप्तो बाहुबेण गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वपारोहति पृष्ठीविकारः पृष्ठीमेवावयच्छत्यान्तर्गतः।—१ १-५० पृ० ३१०।

२ नित्यवस्तुवद्भुव कूटस्वभाववाच्यनवायोजनविचार्यनुत्पत्त्यवृद्धिम्ययवयोपियत्त प्रियम्।—भा० १ पृ० १७।

३ ३-२-१२३ पृ २५६।

जल बात है किन्तु जलते दील नहीं पड़ते। उसी प्रकार ससार में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामान्य लोग नहीं देख पाते। केवल विद्वान् लोग योही ही उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। सामान्य जन ठा अनुमान से ही उनको जान पाते हैं।<sup>१</sup>

**अनुमान-प्रमाण**—यद्यपि अनुमान प्रमाण से अमित्र वे। उपर्युक्त बचन क अति रिक्त भी उन्होंने अनुमान का प्रमाण के रूप में उल्लेख किया है और साम ही मयायिकों के प्रमिद्ध उदाहरण ब्रूम को देखकर अग्नि के अनुमान का उल्लेख भी। उन्होंने इसमें एक उदाहरण और जोड़ लिया है और वह है त्रिबिष्टम्बक (विदग्ध) को देखकर परित्राजक का अनुमान किन्तु बात यों नहीं है। पहले अग्नि और ब्रूम का तथा त्रिबिष्टम्बक और परित्राजक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखा जाता है। फिर उन्हें अन्य स्थान में भी देखकर जान लिया जाता है कि यही अग्नि है या यही परित्राजक है।<sup>१</sup> आकाश में सूय और चन्द्र के न दिखाई देने पर भी आकाश को प्रमिद्धि देण कर उनका अनुमान हो जाता है। अनुमान प्रत्यक्ष से अधिक बलवान् होता है। जैसे अकान्तक (धुमाये जाने या गोलाकार दिक्तेबासे जलते काष्ठ) प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं किन्तु अनमान से मानम हाता है कि वे वास्तव में जल नहीं होते।<sup>१</sup>

**प्रत्यक्ष**—प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय-व्यव होता है। इसीलिए, इन्द्र या आत्मा के इन ज्ञान करवां को इन्द्रिय कहते हैं। वे कारण ही आत्मा क भी अनुमापक हैं। बिना कर्ता क कारण नहीं हो सकता। इसीलिए, इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा ने इन्हें स्वयं देखा है, इसीलिए इन्द्रियां इन्द्रिय कहलाती हैं। इनम आत्मा ने स्वयं के लिए उत्पन्न किया है इनका स्वयं बरल किया है और वह स्वयं उन्हें भिन्न विषय को प्रत्यक्ष प्रदान करता है। इसीलिए, इन्द्रियां इन्द्रिय इन्द्रिय इन्द्रिय और इन्द्रिय नहीं गई हैं।

**प्रत्यक्ष के बाधक**—प्रत्यक्ष में छह बाधक होते हैं—बन्तु का अत्यन्त ममिर्त्यं बन्तु की बहुत दूरी द्रष्टा और बन्तु के बीच किसी अन्य वस्तु का आ जाना बन्तु का अम्पराय म भावून हाना और प्रत्यक्षेन्द्रिय की दुर्बलता। इन्द्रिय-दीबस्य म इन्द्रियों का साबहित न होना भी मम्मिलि है।<sup>१</sup> यह आकरषण है कि मन इन्द्रियां स संपुक्न रहे। मन और इन्द्रियों का ममिर्त्य म जाने

१ बह्मावधिपारा इति ह समाह भगवान् बाध्यायनि। आवने-स्ति विपरिणयते बधते-परीयते विनश्यतीति। अन्यथा हि कारकाध्यस्ती प्रवर्तन्तेत्यबाहिर्द्वयने।—१ ३ ९, ५० १४।

२ ब्रूम द्रष्टवामिन्द्रियेति मम्यते त्रिबिष्टम्बकं द्रष्टवा परित्राजक इति। विषय उच्यन्तात्। प्रत्यक्षस्तेनानिब्रूमयोरभिमम्बन्ध- एनो भवति त्रिबिष्टम्बकपरित्राजकयोरपि। स तद्विषयस्त्वपि द्रष्टवा जानारयामिन्द्रिय परित्राजकयोरेति। भवति च प्रत्यक्षादनुमानबन्धोप सरबन्। अतस्तत्तत्कं प्रत्यक्षं द्रुमयैनुमानाच्च मम्यते मीतहस्तीति।—३ १ १२४ ५२५ तथा ४ १ ३ ५० १९।

३ वही।

४ ५ २ ९३।

५ पदमि- प्रकारं ततो भाषाणामनुसर्तव्यमिति-अनिर्दिष्टवर्षादनिर्दिष्ट द्रष्टवामुर्वन्तरप्यवयातातमतावतत्वादिन्द्रियदीबस्यारिति।—३ १ ३-५० १८।

पर सामने उपस्थित वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता।<sup>१</sup> इसीलिए, साकटायन नामक सुप्रसिद्ध ब्रह्मचर्य का रथमार्ग में बैठ रहने पर भी सामने से निकलनेवाले घाटसार्थ का पता नहीं पड़ा। कमी-कमी बन्धु कारणों से भी सत् का अप्रत्यक्ष और असत् का प्रत्यक्ष हो जाता है।

तदर्थं मयत्पत्न्या और गम्बर्बनगर, जो घांकर भेरान्तिर्यों के सुप्रसिद्ध हैं भाष्य में जो व्यवहृत हुए हैं। प्यासे मृग बाध में पानी की धारा देखते हैं किन्तु वह वहाँ नहीं होती। उर्वी प्रकार, गम्बर्बनगर दूर से दिखाई देते हैं किन्तु पास जाने पर नहीं मिलते। यह असत् वस्तु का प्रत्यक्ष है। आदित्य की गति विद्यमान होती हुई भी नहीं दिखाई पड़ती।<sup>१</sup> यह सत् वस्तु का अप्रत्यक्ष है। कमी-कमी एक ही वस्तु का अनेक स्वार्थों में तथा अनेकधिकरणों में एक साथ ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, यद्यपि एक ही वर्त्ता एक साथ अनेक अधिकरणों में उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आदित्य का प्रत्यक्ष इसी प्रकार का है।<sup>१</sup>

आप्तप्रमाण—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आप्तप्रमाण का भी उल्लेख भाष्य में है। उन्होंने यद्यपि भाष्य में आप्त की परिभाषा नहीं की है, तथापि वे सिद्धों को प्राप्त मानते हैं ऐसा उनके कथन से प्रतीत होता है। आर्यनिवास अर्थात् आर्यावर्त से रहनेवाले अशोकप मस गृही विवेचित्रिय किसी विशेष विद्या में पारंपर्य ब्राह्मण उनकी बुद्धि में सिद्ध थे। भाष्यकार की यह धारणा आदिष्ट धर्मशास्त्र के अनुकूल है।<sup>१</sup> सिद्ध वाक्य को मानकर ही उन्होंने कात्यायन प्रणीत भ्राज-स्मोका को प्रमाण-रूप से उद्धृत किया है।<sup>१</sup> प्रमत्तमीठ (बधन) को छोड़कर अन्य सोयों के कथन स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है।

अन्वयव्यतिरेक—इनके अतिरिक्त पतञ्जलि कुछ ऐसे शब्दों तथा उपमानों का भी प्रयोग करते हैं जो न्याय-वैशेषिक में विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं—यथा अन्वयव्यतिरेक। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि कुछ कहने पर एक शब्द सुनाई देता है—अकारणत बुद्ध शब्द और गु प्रत्यय। एक अर्थ का भी बोध होता है—मूस-स्कन्ध-पकास-कलवान् और एकत्व। 'बुद्धी' कहने पर कुछ अर्थ सूट जाता है कुछ गया जुड़ जाता है और कुछ र्यों-का-र्यों अर्थात् अन्वयी गूला है। सकार सूट जाता है, 'औ' जुड़ जाता है और कुछ र्यों-का-र्यों स्थिर रहता है। यही अर्थ के सम्बन्ध में होती है। एकत्व हट जाता है द्वित्व बढ़ जाता है और मूस-स्कन्ध-पकास-कलवान् गयी रहती है। इससे जान पड़ता है कि जो शब्द सूट जाता है उसका ही

कि  
नहीं  
विचारक  
के ५ ।

वर्तमान काल गोपलेने । कि पुनः कारणं चाप्यपि  
अनुत्तानीतिवचनानुपलब्धी कारणानि भवन्ति ममत्तेऽ

बहु बन्ध होता है जो छूट जाता है। जो अर्थ कष्ट जाता है, वह कष्ट हुए मन्द का अर्थ होता है और जो अर्थ स्थिर रहता है वह स्थिर रहनेवाले धर्म का हाता है। अन्वयम्यतिरेक की यह परिभाषा मैयायिकों के अनुसार ही है।<sup>१</sup>

गुहा—उपनिषदों में प्रयुक्त 'गुहा' शब्द महामाष्य म भी आया है और उसी अर्थ में, किन्तु त्रिषु श्लोक में यह शब्द मिलता है वह अस्यत्र म उच्यते है।<sup>२</sup> निर्बान का उल्लेख पाणिनि और पतञ्जलि दोनों ने किया है, किन्तु इससे अधिक बौद्धदणन-सम्बन्धी कोई जानकारी हम महामाष्य से नहीं प्राप्त होती।

कार्य का लक्ष्य—मनुष्य के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य किसी-न किसी फल की प्राप्ति होता है। समसवार व्यक्ति पहले बुद्धि-युक्त किसी बात का देखता है। देखकर उसे पाने की कामना करता है। कामना क पश्चात् तत्काल प्रयत्न प्रारम्भ होता है। प्रयत्न का फल कार्यात्म उभय परिणाम काम का सम्पादन और काय-सम्पानन में फलाभाप्ति होती है। फलाभाप्ति से हीन कोई कर्म नहीं होता। कर्मों क अनुसार ही मनुष्य को मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इसे पाणिनि और पतञ्जलि ने परलोक कहा है।<sup>३</sup> काशिका में भी परलोक का अर्थ जननान्तर-शरीर वतसाया है।

अस्य शान्तिश्च मत—पतञ्जलि ने अनेक शान्तिश्च मतों का भी उल्लेख किया है। आस्तिक नास्तिक दृष्टिक लोकायत अथ गुरु और सम्बन्धी सम्प्रदाया से वे परिचित थे।

आस्तिक नास्तिक और दृष्टिक—परलोक म विरहाम एतन्नास्ते साग आस्तिक कहते थे और परलोक में विरहाम म एतन्नास्ते नास्तिक। अस्ति नास्ति शिष्टं मनि (४४ ६०) सूत्र का भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने शंका की है कि क्या त्रिषुमें मति हा (यस्यास्ति मति) उभे आस्तिक कहना चाहिए? तब ता शंका भी आस्तिक कहा जायगा। इसलिए है, यह त्रिषुमा विरहाम ही उभे आस्तिक और 'नहीं है यह त्रिषुमा विरहाम ही उभे नास्तिक कहना चाहिए। इसी प्रकार, दिव्य या भाष्य ही मन्त्र कुछ है यह त्रिषुमा विरहाम ही उभे दृष्टिक कहते हैं।<sup>४</sup> इससे यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय तक आस्तिकता का ईश्वर या वेद म कोई सम्बन्ध न था। 'नास्तिका वेदनिष्ठा' आदि शब्दें बहुत पीछे की हैं। भाष्यकार क समय में वे हीनों मत विद्यमान थे। बुद्ध क समय में जो उह शास्त्रा—(मन्त्री गरी गजापाय और शौर्यकर)

१ १-२-४५, पृ ५३३, ३४।

२ गुहा शौचि निहिता।—मा० १, पृ०७; य एष मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारोमवति स बुद्ध्या तावाकञ्चिदर्थं पश्यति। सन्दुष्टे प्रारंभता प्रार्थनायामध्यवसायोप्यवसाय आरम्भ आरम्भेनिमित्तनिवृत्तौ फलाभाप्ति।—१४ ३२ पृ०, १६८।

३ ५-२ ९२, पृ० ४०२ तथा परलोक जननान्तरशरीरम्।—बही, का०।

४ बही।

५. कि मस्यास्ति मति स आस्तिक ? कि शान ? शोरेयं प्राप्नोति। एवं तर्हो-तिलोपीन्द्र इष्टम्यः। अस्तौतस्य मतिरास्तिकः। नास्तौतस्य मतिर्नास्तिकः। शिष्टमिष्य-स्यमतिर्दृष्टिकः।—४४ ६०, ० २८२।

पर सामने उपस्थित वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं होता।<sup>१</sup> इसीलिए, चाकटात्मन नामक सुप्रसिद्ध वैयाकरण को रघुमार्ग में बैठे रहने पर भी सामने से निकलनेवाले चाकटसर्प का पता नहीं चला। कभी-कभी अन्य कारणों से भी सत् का अप्रत्यक्ष और असत् का प्रत्यक्ष हो जाता है।

तबल मगधुष्या और गन्धर्वनगर जो सांकर वेदान्तियों के सुप्रसिद्ध हैं भाष्य में भी ब्यबहृत हुए हैं। प्यासे मूत्र बालू में पानी की चारा देखते हैं किन्तु वह वहाँ नहीं होती। उसी प्रकार, गन्धर्वनगर दूर से दिखाई देते हैं, किन्तु पास जाने पर नहीं मिलते। यह असत् वस्तु का प्रत्यक्ष है। आदिरय की गति विद्यमान होती हुई भी नहीं दिखाई पड़ती।<sup>२</sup> यह सत् वस्तु का अप्रत्यक्ष है। कभी कभी एक ही वस्तु का अनेक स्थानों में तथा अनेक अधिकरणों में एक साथ ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है यद्यपि एक ही कर्ता एक साथ अनेक अधिकरणों में उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आदिरय का प्रत्यक्ष इसी प्रकार का है।<sup>३</sup>

आप्तप्रमाण—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आप्तप्रमाण का भी उल्लेख भाष्य में है। उन्हेनि यद्यपि भाष्य में आप्त की परिभाषा नहीं दी है तथापि वे शिष्टों को प्राप्त मानते हैं एसा उनके कथन से प्रतीत होता है। आर्षनिवास अर्थात् आर्षावस्थ में रहनेवासे असोकुप अर्थात् गृही जितेन्द्रिय किसी विशेष विद्या में पारंपर्य ब्राह्मण उनकी दृष्टि में सिष्ट थे। भाष्यकार की यह धारणा वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुरूप है।<sup>४</sup> सिष्ट वाक्य को मानकर ही उन्हेनि कात्यायन प्रणीत भ्रातृ-स्कोकों को प्रमाण-रूप से उद्धृत किया है।<sup>५</sup> प्रसन्नीत (बधन) को छोड़कर अन्य श्लोकों के बचन स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है।

अन्वयव्यतिरेक—इनके अतिरिक्त पतञ्जलि कुछ ऐसे शब्दों तथा उपमानों का भी प्रयोग करते हैं जो व्याय-वैधेयिक में विशेष रूप से ब्यबहृत होते हैं—यथा अन्वयव्यतिरेक। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्हेनि कहा है कि ब्रह्म कहने पर एक शब्द मुनाई देता है—मकारान्त ब्रह्म शब्द और मु प्रत्यय। एक अर्थ का भी बोध होता है—मूल-स्कन्ध-यत्नाथ-फलवान् और एकत्व। 'ब्रह्म' कहने पर कुछ अर्थ छूट जाता है, कुछ नया जुड़ जाता है और कुछ व्यो-का-र्यों अर्थात् अन्वयी रहता है। सकार छूट जाता है, भी जुड़ जाता है और कुछ व्यो-का-र्यों स्थिर रहता है। यही बात अर्थ के सम्बन्ध में होती है। एकत्व हट जाता है द्वित्व बढ़ जाता है और मूल-स्कन्ध-यत्नाथ-फलवान् व्यो-का-र्यों की-र्यों बनी रहती है। इससे जान पड़ता है कि जो शब्द छूट जाता है उसका ही

१ अथवा प्रकृति व कतिचनआग्रहपि वर्तमानं कालं नोपसेमे । कि पुन कारणं आग्रहपि वर्तमानं कालं नोपसेमे ? मनसा संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलभ्यी कारवानि प्रकृति मनसीठ साभिप्यत ।—२-३-११५, पृ० २५० ।

२ ४१३ पृ० १७, १८ ।

३ वही

४ ६३ १०९, पृ० ३५९ ।

५ वाति० अर्थशास्त्र अध्याय १ ।

६ भा १ पृ० ५६ । एक आदिरयोऽत्रे

इष्टाऽदिरयवनेकापिहरवत्पुं पुणपहनपुं

पहैमपुवस्त्रेवुपलभ्यतेनो

१०९, पृ० ४२ ।

बहु भयं होता है, जो छूट जाता है। जो भयं कड़ जाता है बहु वड़ हुए राग का भयं होता है और जो भयं म्भिर रहता है बहु स्तिवर उरुनेबासे राग का होता है। अन्ययम्भितरेक औ यह परिभाषा नैयायिकों के अनुसार ही है।<sup>१</sup>

पुहा—उपनिषदों में प्रयुक्त 'गुहा' शब्द महामाष्य म भी आया है और उसी अर्थ में, किन्तु जिस श्लोक में यह शब्द मिलता है बहु अन्यत्र से उद्भूत है।<sup>२</sup> निर्वाण का उल्लेख पाणिनि और पञ्चलिदानों ने किया है, किन्तु इससे अधिक बौद्धसंघ-सम्बन्धी कोई जानकारी हमें महामाष्य से नहीं प्राप्त होती।

कार्य का लक्ष्य—मनुष्य का प्रत्येक कार्य का उद्देश्य किसी-न किसी फल की प्राप्ति होता है। समस्तकार व्यक्ति पहले बुद्धि-पूर्वक किसी बात की दक्षता है। देखकर उस पाने की कामना करता है। कामना के पश्चात् सर्व प्रयत्न प्रारम्भ होता है। प्रयत्न का फल कार्यात्मक उसका परिणाम काम का सम्पादन और कार्य-सम्पादन से फलप्राप्ति होती है। फलप्राप्ति से हीन कोई कर्म नहीं होता। कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इसे पाणिनि और पञ्चलि ने परलोक कहा है।<sup>३</sup> कानिशा में भी परलोक का भयं जननान्तर-शरीर बतसाया है।

अप्य बार्थानिक मत—पञ्चलि ने अनेक बार्थानिक मतों का भी उल्लेख किया है। भास्तिक, नास्तिक दृष्टिक लाभायत अथ दामी और मन्वरी मन्प्रदाया से वे परिचित थे।

भास्तिक, नास्तिक और वैष्टिक—परलोक म बिश्वास रखनेवासे साग भास्तिक कह लाते थे और परलोक में बिश्वास न रखनेवाले नास्तिक। अस्ति नास्ति दिष्टं मति (४४ १०) सूत्र का भाष्य करते हुए पञ्चलि ने शंका की है कि क्या जिसम मति हो (मस्यास्ति मति) उसे भास्तिक कहना चाहिए? तब तो खोर भी भास्तिक कहा जायगा। इसलिए है यह जिमका बिश्वास ही उसे भास्तिक और 'नहीं है' यह जिमका बिश्वास हो उसे नास्तिक कहना चाहिए। इसी प्रकार, 'दिष्ट या भाष्य ही सब कुछ है' यह जिमका बिश्वास ही उसे वैष्टिक कहते हैं।<sup>४</sup> इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चलि के समय तक भास्तिकता का ईश्वर या वेद से कोई सम्बन्ध न था। 'नास्तिको वेदनिन्त्रक' आदि बातें बहुत पीछ की हैं। भाष्यकार के समय म ये तीनों मत विद्यमान थे। बुद्ध के समय में जो छह शाखा—(मपी मपी गगाथाय और तीर्थकर)

१ १२-४५, पृ ५३३, ३४।

२ पुहा श्रीषि निहित।—आ० १, पृ०७; य एष मनुष्य प्रेतापूर्वकारीभवति स बुध्या तावकश्चिद्वर्षं पश्यति। मद्दुष्टे प्रार्थना प्रायनापामध्यवसायोध्यवसाय आरम्भ आरम्भेनिवृत्तिनिवृत्तौ कसावाप्ति।—१४ ३२ पृ० १९८।

३ ५-२ १२, पृ० ४०२ तथा परलोक जननान्तरशरीरम्।—बही का०।

४ यही।

५. कि मस्यास्ति मतिः स भास्तिकः? कि चाण? बोदेसि प्राप्नोति। एवं तर्हो तिलोपीउत्र इष्टम्पः। अस्तीत्यय मतिर्नास्तिकः। नास्तीत्यय मतिर्भास्तिकः। दिष्टमिषय इयमतिर्वैष्टिकः।—४४ १०, ० २८२।

अद्वितकेसकम्बल पूर्णकस्वप पञ्चककच्चायन, मन्त्रकलिगोसाक, संत्रयवेसद्विष्ठुत और निर्गठ नातपुत वे उनमें निर्गठनातपुत्र (बैनवर्म के अन्तिम तीर्थकर) नास्तिक वे। स्वयं बुद्ध भी नास्तिक वे। शेष पाँच में मन्त्रकलिगोसाक को छोड़कर चार नास्तिक वे। अद्वितकेसकम्बल के मत से न दान है, न इष्टि न हुत न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फल-विपाक है। न इहलोक है, न परलोक। न धमन-बाह्यन है, जिन्होंने अभिज्ञा-बस से इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। बाक और पश्चित्त कायभेद से विनष्ट होते हैं मरणान्तर वे नहीं होते। इस प्रकार, ये मौक्तिकावादी या उच्छेदवादी वे। संन्य का कहना था कि प्राजातिपाठ (ब्रह्म) अवतादान (स्तेय) मृपादाह और परदार-धमन से पाप नहीं होता और ध्यानयज्ञादि से पुण्य का आगम नहीं होता। अद्वितादि नास्तिक वे और कर्मविपाक को नहीं मानते वे।<sup>१</sup>

पूरणकस्वप अस्मिन्वादी वे। उनके मत से न भले कर्मों से पुण्य होता है और न बुरे कर्मों से पाप। कर्मों का फल परलोक में प्राप्त नहीं होता। पञ्चककच्चायन बहुततावाय के प्रवर्तक वे। इनके मत से इस जाति में सात पदार्थों की सत्ता है—पृथ्वी आप् तेज वायु, सुक्ष्म बुक्ष्म और जीवत। इन्हें वे सप्तकाय कहते थे। ये सप्तकाय बहुत अर्थात् सुक्ष्म-बुक्ष्म के योग्य नहीं है। यहाँ न कोई हुता है, न चातमिता न श्रोता न भाषमिता न ज्ञाता न ज्ञापमिता। श्रोतीकन शस्त्र से छिर भी काटे तो भी कोई किसी को प्राण से नहीं मारता। शस्त्र सात कार्यों से असंग विबर में गिरता है। संन्य का मत अनिश्चिततावाह है। वे कहते हैं कि परलोक दबता कर्मविपाक आदि के विषय में अस्ति नास्ति अस्ति-नास्ति और न अस्ति न नास्ति कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मैं ऐसा भी नहीं कहता और बीसा भी नहीं कहता।<sup>२</sup>

मस्करी—मस्करी द्वैष्टिक वे। मस्करमस्करीणी वेणुपरिवाजकयो (६१ १५५) मूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने कहा है कि मस्कर वेणु को कहते हैं, किन्तु मस्करी संज्ञा वेणु रहने के कारण नहीं बनी है। जो लोग 'काम मत करो काम मत करो' साम्ति ही श्लेषस्करी है' कहते हैं, वे मस्करी परिवाजक कहलाते हैं।<sup>३</sup> इस मत के प्रवर्तक घोसाक वे। य नियतिवादी वे। वे मानते थे कि सब सत्त्व (जीव) अवस है अवीर्य है। सत्त्वों के संकलेश का कोई प्रत्यय भा हेतु नहीं है। प्राणी अहेतुक श्लेष्य भोक्ते हैं और बिना हेतु-प्रत्यय के विघुद्ध होते हैं। बाक और पश्चित्त सभी सत्त्व संसरण कर बुक्ष्म का अन्त करते हैं। वे इसे संसार-मुक्ति कहते थे।<sup>४</sup> काशिका कार ने भी मा + कृ + इति से मस्करी शब्द की व्युत्पत्ति मानी है, जिसके अनुसार इस शब्द का अर्थ है काम न करनेवाला अकर्मव्यतावादी या नियतिवादी। कैपट ने भी मस्करी को काम्य

१ विघ्निकाय द्विन्वी पृ० १०९ से २२।

२ नरेन्द्रदेव बीडपर्म-वर्तन पृ० ४।

३ न र्व मस्करोऽन्यास्तीति मस्करी परिवाजकः। माहृतकर्माणि माहृतकर्माणि धाम्निश्च श्लेषसीत्याहृतो मस्करी परिवाजकः—६१ १५५, पृ० १९४।

४ वही।

५ माकरणशीलो मस्करी कर्मापवाहितत्वापरिवाजक उच्यते—६१ १५४ का०।

मौ के परिष्कार की गिना देनाबना कहा है।' अमुत्तरनिकाय (त्रि० १ पु० २८६) में भी महाविद्यालय 'कर्म नहीं है, क्रिया नहीं है, बीर्य नहीं है' बताया है।

मस्त्वसि मस्त्वरी का प्राकृत रूप है। माकरण के उपदेश के कारण योगाल मस्त्वरी के ल से पुकारे जाते लगे। ये भावीबक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। 'ये ऋषेयक थे और अनेक प्रकार के कष्ट लय करते थे। वेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पञ्चानि तापते पञ्चुक्तिक थे और बमगादड़ की भाँति हवा में झूलते थे। 'पाणिनिशाय' में इन्हें भूकगाचार कहा। एक सूत्राल में इनकी 'पुतमनाय पुता' कहा है अर्थात् यह उस माता व पुत्र हैं जिनके पुत्र जाते हैं।" सम्भवतः कर्म और कर्मरूप दोनों का प्रतिषेध करने के कारण ही इन्हें एसा कहा गया था।

बीड़ों और जैनों ने आजीबकों को निन्दा की है। बुद्ध समयामयिक शास्त्राओं में सबसे पहला आजीबकों को मानते थे। फिर भी समाज में इनका आदर था। महावीर के समयामयिक शोधर आलोचक और प्रतिस्पर्धी होने के कारण प्राचीन जैनशास्त्रियों में इन्हें अतिनिन्दित विदित किया गया है।" सोमदेव ने भी यगस्त्रिक में जैनों को आजीबकों बीड़ों नामिकों आदि बुर खूने का उपदेश किया है।" इसी प्रकार सज्जमपुस्तक में कहा है कि बोधिसत्व जन्मों रिवाजकों आजीबकों और निम्नो (जैनों) का मम नहीं करते।'

बुद्ध और महावीर के बाद भी शास्त्रियों तक आजीबकों की प्रतिष्ठा दस में कायम रही। अक्षय भारत तक इनका विस्तार था। 'प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य 'मणिमयन्द (Manimekalai) में आ ईसा के प्राथमिक सत्रक की रचना है अथ सामयिक दार्शनिक विद्वान्तों और मनों के आजीबकों का भी वर्णन है। इसी समय के सिल्लपदु (Silappadu karam) नामक एक अन्य तमिल महाकाव्य में उनकी नायिका कन्नाकि के पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति के आजीबकों को बाँट देने का वर्णन है।" अग्रे के तीन शिलालेखों में आजीबका हाथ चरण दान प्राप्त करने का तीन बार उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान जाना है कि बुद्ध के बाद नामिकों तक इस सम्प्रदाय का स्थान देग में महत्त्वपूर्ण बना रहा। यगस्त्रिक में आजीबकों को चर्चा दसवीं सदी तक उनके अस्तित्व की सूचना देनी है। छठी सदी में कुमारदाम ने जानकी

१ अथं ब्राह्मण अथंमाहतेत्युपबस्य शास्त्रिनः बाम्यकच प्रहाभिर्नुष्माकं अथसी-  
मुपदेवा मस्त्वरीत्युच्यते बही।—२४१।

२ नस्य कम्म नस्य किरियं नस्य किरियं।  
३ अरेण्डेव बीडबम-बगानं, पु० ४।  
४. गोपनि (gopani) आजीबक सेवट ए न्नु इच्छरियेयन इन भारतीय विद्या,  
अस २ भाग २।  
५. इणस० कर्म (karm) पु० २६३ सेक्ट बुद्धमोड ईसट।  
६. के० के० ह्यडरिब यगस्त्रिक ऐण्ड इण्डियन बरबट, पु० ३७५।  
७. बही।  
८. रीड बरिडल बापनाम मोड् रि बुद्ध, भाग १, पु० ७१।



हरण में उनका उल्लेख किया है। गोगाल के अनुयायी आजीबक मस्करी कहलाते थे। ये लोग बड़ी-बड़ी बटाएँ रखते थे। इसीलिए, कुमारवाशं ने चाबुतेपकारी राजन को मस्करी-सबुध विखने-वाला कहा है।

‘उवातमवसावो’ और ‘मभवतीसूत्र’ आदि षैतग्रन्थों तथा बीड त्रिपिटकों के अनुसार गोघाऊ का पिता भी मस्करी था। इसकी माता का नाम भद्रा था। वे दोनों भिक्षु थे। भूमते-भूमते एक बार वे गीबहुत्व नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए और वहीं उसकी गोघाऊ में इनका जन्म हुआ। इसीलिए, वे गोघाऊ कहलाये। वे मगध के खनेवाले और महावीर के प्रथम तथा बड़े भक्त सिष्य थे। बाप में सिद्धान्त-श्रेष्ठ हो जाने से वे महावीर से पूज्य हो गये और उन्होंने आजीबक नाम से अपना नया मत बताया। श्रीवत-काल में इनके ६ प्रमुख शिष्य बने—१ शात, २ कसभ्य ३ कर्णिकार ४ अश्लिष्ठ ५ अग्निबैलाभ्यायन ६ नोमामुपुत्र अर्जुन। ये सब महावीर से ही स्पष्ट होकर इनकी समाध में मिले थे। इसीलिए षैत ‘महार’ के अर्थ में गोशाल शब्द का प्रयोग करते हैं। भावस्ती की हालाहला नाम कुम्हारिन इनकी भक्त थी। इनके शिष्यों में इनके पतिव्रत का अनुसूक्तम ‘अष्ट चरमभाव’ का प्रचार किया। ये आठ चरम (अन्तिम) बातें ये हैं—१ चरमपात २ चरममात ३ चरममृत्यु, ४ चरम अंतिकर्म ५ चरम पुष्कर संवर्तक गहागोप, ६ चरमसेवनक पन्वहस्ती ७ चरम महाशिला कंटकसंघाम ८ चरम तीर्थकर। महावीर की मृत्यु से १९ वर्ष पूर्व ही इनकी मृत्यु हो गई। मभवतीसूत्र से पता चलता है कि गोघाऊ चित्रपट अपने छात्र रखते थे। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करते समय अन्य ब्राह्मणों के साथ यह चित्रपट भी उन्होंने ब्राह्मणों को वाप कर दिया था।

लोकायत—चार्वाक का भौतिकवाद लोकायतों का सम्प्रदाय था। भाष्यकार के समय में लोकायतों का मत काफी फैला जात पड़ा है। यह नास्तिक उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। इनके मत की व्याख्या करनेवाले यज्ञ तथा धूमकर अपने मत का प्रचार करते थे। भाष्यकार ने भगुरी नामक परित्राजिका का उल्लेख किया है जो लोकायतों के मत का वर्णन करनेवासी और उनके द्वारा उपरिष्ठ मार्ग के अनुधार वर्तन करनेवासी थी। काशिकाकार ने चार्वाक के अनुयायियों को चार्वी कहा है। वास्तव में, चार्वी मत या बिचारपाथ का नाम था और उसी से सम्बन्ध उसके अनुयायी भी चार्वी कहे जाते थे। यह बृहस्पति का वर्णन था। काशिका से यह भी पता चलता है कि लोकायतों का अपना गारज था जो उन्मत्त पर आधारित था। इनके अर्थ में वल से और अपने उपपाथ विषय

गतम्

सिता इवर्थाभिममा-

य कुचिद-

य रि

माहने

को विषय को हृदयंगम कर सकने में सक्षम थे।<sup>१</sup> इसीलिए, इनके सिद्धान्त सम्मानित और पवित्र पूजित थे। काशिकाकार ने भोकायत शिक्षक को ज्ञान का शिक्षण देनेबाना बतलाया है क्योंकि प्रमेय का निरूपण करना ही ज्ञान है और भोकायत प्रमेय का तर्क स सिद्ध करता है।<sup>२</sup>

---

१ नपते चार्थो लोकायते । चार्थो बुद्धिः तन्मन्वापादाचार्योऽपि चार्थो । त लोकायते  
 शास्त्रे परार्थप्रयत्ने । उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य निश्चयेभ्यः प्रापयति । ते मुक्तिभिः । स्वाप्यमाना  
 सम्मानिता पूजिता भवन्ति ।—१ ३-३६ काशिका ।

२ ज्ञानं प्रमेयनिरूपणं । नपते चार्थो लोकायते । तत्र प्रमेयं निश्चिनोपयोग्यं ।—  
 ष्टी ।

हरण में उनका उल्लेख किया है। मोघाल के अनुयायी आजीबक मस्करी कहलाते थे। वे जोर बढ़ी-बढ़ी जटारें रखते थे। इसीलिए, कुमारदास ने साधुदेवधारी रावण को मस्करी-सद्युध बिलने वाला कहा है।<sup>१</sup>

'उवाचसवदसाधो' और 'मगवतीसूत्र' आदि जैनग्रन्थों तथा बौद्ध त्रिपिटकों के अनुसार पोशाक का पिता भी मस्करी था। इसकी माता का नाम भद्रा था। वे दोनों मिश्र थे। भूमते-भूमते एक बार वे गौडकुल नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए और वहीं उसकी गोशाला में इनका जन्म हुआ। इसीलिए वे गोशाल कहलाये। वे समय के रहनेवाले और महावीर के प्रथम तथा बड़े भक्त शिष्य थे। बाद में सिद्धान्त-भेद हो जाने से वे महावीर से पृथक् हो गये और उन्होंने आजीबक नाम से अपना नया मत बताया। जीवन-काल में इनके ६ प्रमुख शिष्य बने—१ ज्ञान २ कस्य ३ कर्णिकार, ४ अश्विष्ठ ५ अग्निवैशम्पायन ६ गोमामुपुत्र अर्जुन। ये सब महावीर से ही रुठ होकर इनकी जमात में मिले थे। इसीलिए जैन 'गहार' के अर्थ में गोशाल शब्द का प्रयोग करते हैं। यावस्ती की हासाहृषा नाम कुम्हारिन इनकी भगत थी। इनके शिष्यों ने इनके चरित्र का अनुशीलन 'अष्ट चरमभाव' का प्रचार किया। ये आठ चरम (अंतिम) बातें ये हैं—१ चरमपान २ चरमपान ३ चरमनृत्य ४ चरम अंशुकिर्म, ५ चरम पुष्कर संवर्तक महाभय ६ परमसेवनक गन्धहस्ती ७ चरम महाधिसा कटकसंग्राम ८ चरम तीर्थकर। महावीर की मृत्यु से १६ वष पूर्व ही इनकी मृत्यु हो गई।<sup>२</sup> मगवतीसूत्र से पता चलता है कि गोशाल चित्रपट अपने साथ रखते थे। महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करते समय अन्य वस्तुओं के साथ यह चित्रपट भी उन्होंने ब्राह्मणों को दान कर दिया था।<sup>३</sup>

लोकपत—चार्वाक का मीथिकवाद लोकपतों का सम्प्रदाय था। भाष्यकार के समय में लोकपतों का मत काड़ी कैला जान पड़ता है। यह नास्तिक उच्छेदवादी सम्प्रदाय था, मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। इनके मत की व्याख्या करनेवाले यज्ञ तथा भूमकर अपने मत का प्रचार करते थे। भाष्यकार ने भागुरी नामक परित्राजिका का उल्लेख किया है जो लोकपतों के मत का बर्णन करनेवाली और उनके द्वारा उपदिष्ट मास के अनुसार वर्तन करनेवाली थी। काशिकाकार ने चार्वाक के अनुयायियों को चार्वी कहा है। नास्त्य में चार्वी मत या विचारधारा का नाम था और उसी से सम्बन्ध उसके अनुयायी भी चार्वी कहे जाते थे। यह बृहस्पति का दर्शन था। काशिका से यह भी पता चलता है कि लोकपतों का अपना शास्त्र था जो उपपत्ति या तर्क पर आधारित था। इसके सिद्धांत भी दस थे और अपने उपपाद्य विषय

१ इन्द्राजीबकमुत्सुङ्गजटाभङ्गितमस्तकम्-कम्बिननस्करियं सीता शर्वाजममप-पतम्।—आनकीहरण १०-७६।

२ असदेव उपाम्पाय बौद्धदर्शनमीमांसा पृ० ३३।

३ सावित्र्यामी यपावित्र्यामी य कुण्डिया मो अ-बाहृषामो य विन्न कलमं य माह्वे आयायेति ।—मगवतीसूत्र।

४ चार्वाक भागुरी लोकपतस्य चरितका भागुरी लोकपतस्य।—७-३-४५, पृ० १९०।

को भिष्य को हृदयंगम रूप सङ्गमे में सलम थे।<sup>१</sup> इसीलिए, इनके सिद्धांत सम्मानित और पवित्र  
 पूजित थे। काशिकाकार ने लोकायत धितक को ज्ञान का शिष्य बनवासा बतसाया है क्योंकि  
 प्रमेय का निरूपण करना ही ज्ञान है और लोकायत प्रमेय का तद स सिद्ध करता है।<sup>२</sup>

१ जयते चार्यो लोकायते । चार्यो बुद्धिः तातम्बगवासाचार्योऽपि चार्यो । स लोकायते  
 यातये पदार्थप्रयत्ने । उपनतिभिः स्विकीहृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति । ते श्रुतिभिः । स्वाप्यमाना  
 सम्मानिता पूजिता भवन्ति ।—१ ३ ३६ काशिका ।

२ ज्ञानं प्रमेयनिरूपणः । जयते चार्यो लोकायते । तत्र प्रमेयं निश्चिनोनीयम् ।—  
 चारी ।

## अध्याय १२

### साधु-संन्यासी

बैज्ञानस या बालप्रत्ये—पर्वत्रिंशति द्वारा उल्लिखित चातुरामभ्य में बालप्रत्ये या बैज्ञानस तृतीय आश्रम है।<sup>१</sup> भाष्यकार ने इसका प्रत्यक्ष नामोक्तेषु न करके इसके कर्तव्यों की यत्र तत्र चर्चा की है और बतस्व के लिए उपस्वी शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में यह आश्रम तप और संयम के लिए ही था। वासिष्ठधर्मसूत्र में बतस्व को बटिष्ठ चीर-बजिनवासी ऊर्ध्व रेता ग्राम से बाहर रहनेवाला बह्वृष्टपथ्य मूल फल आदि खानेवाला और आमणक अग्नि में हवन करनेवाला कहा है।<sup>२</sup> आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में गृहस्वाश्रम का निर्वाह करने के बाद सपत्नीक सपुत्र ग्राम से बाहर निवास करने का आदेश है। चाहे वो उच्छेदा भी रह सकता है किन्तु उसे 'सहानि' रहना चाहिए। शिखोच्छ्रंसकी जीविका का साधन है। किन्तु मूल फल पर्व और तृण से प्रारम्भ कर अणु, वायु और आकाश (निराहार) के सहारे भीषित रहने का उसे अभ्यास करना चाहिए। स्वाध्याय हवन ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करना चाहिए। वन में गृह केवल अग्निहोत्र के लिए उपयोग में आना चाहिए और स्वयं आकाश के नीचे बिना विस्तर और शय्या के ही ध्यान करना चाहिए।<sup>३</sup> बौधायनधर्मसूत्र ने बालप्रत्ये और बैज्ञानस आश्रम को एक मान कर बैज्ञानस को वन में रहनेवाला मूलफलाद्यी उपशील अश्राम्यनोबी सवन में उरकम्पुर्षी आमणकानि में हवन करनेवाला देव पितृ-भूत-मनुष्यादि-भूजक अष्टामहृष्टवासी या प्रति पित्र-वर्ष-वीक्षतेबी बटिष्ठ चीर-बजिनवासा और ग्राम में न खानेवाला बतसाया है। बौधायन के अनुसार बालप्रत्ये दो प्रकार के होते हैं—पचमानक और अपचमानक। पचमानक जो पका कर खाते हैं पाँच प्रकार के होते हैं—सर्दारभ्यक वैतुषिक कन्धमूसमस फलमस और शाकमस। सर्दारभ्यक दो प्रकार के होते हैं—दन्त्रावसिक्त अर्वात् बन्धी युग्मकृता वृक्ष को पकाकर खानेवाले और टेटोवसिक्त अर्वात् म्याम वृक्ष खाने का मारकर मांस पकाकर खानेवाले। अपचमानक अर्प बिना पकाये खानेवालों के भी पाँच भेद हैं—उग्मज्जक प्रवृत्तासी मुखेतावापी वीर्याहार और वायुमस। उग्मज्जक लोहा पत्थर आदि छानकर काष्ठ आदि का उपयोग कर सकते हैं,

१ ५११२४, पृ० ३६४।

२ बालप्रत्ये बटिष्ठचीर-बजिनवासी ग्राम न प्रविशेत् न बालहृष्टमभितिष्येत् अहृष्टं मूल अत संचिन्वीत-ऊर्ध्वरेताः आमणकानिमापायाहिताग्निं स्यात् ।—वासि० धर्म०, अध्याय ८।

३ आप० धर्मसूत्र, २ १-२२।

४ बौधा० धर्मसूत्र, प्रश्न २ भा० ६, सूत्र १७।

बर्षान् य भाग भुजकर या सकते हैं। प्रकृतानी हाथ में मकर खाते हैं और मुषेनादायी हाथ का या उपयोग नहीं करते। ब कबल पशुवन् मुक्त स हा मकर खाते हैं। तोवाहार जठ क सहार निर्वाह करते हैं और वायुमय निराहार रहकर जीवन बिनाते हैं। स्वाभ्याय और पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान गृहस्थों के समान बानप्रस्थ भी करते हैं।<sup>१</sup>

बानप्रस्थ के वैदिक दृश्य—उपवन विषयां न स्पष्ट है कि बानप्रस्थ वैदिक धर्मानुयायियों का आश्रम था। और गृहस्थों की रचना स पूव त्रिवं और विवन क समस्त आश्रम बना ही मनाज में आवृत थी। संन्यास का प्रचलन बौद्ध आन्दोलन के पश्चात् हुआ। इसीलिए गृहस्थों में संन्यास और बानप्रस्थ का वर्णन बहुत कुछ अस्पष्ट और अस्पष्टाभिप्रेत-सा है। वैदिकधर्मों का और बलि का परित्याग करने क लिए विद्या भी स्थिति में तयार न था। वे 'मावग्नीषं जुहुयान्' में विद्याम ररत य। छान्दोग्य का धर्म-सूत्र क धृति इस बात की समर्थक है। उनमें दत्त अस्पष्ट दान अर्थात् गृहस्थाश्रम उन अर्थात् बानप्रस्थ और मावचकुशाश्रम या ब्रह्मचर्य य तीन धर्म क स्वरूप बनलाय हैं।<sup>२</sup> इसीलिए, बौधायन न 'एशायस्य' अर्थात् गृहस्थधर्म का प्राधान्य स्वीकार करते हुए माव्यानि विवेका का मयाह्य माना है। उनका मन मे वे प्रणिपाति आश्रम देवाहुति प्रदान है। पञ्चम का परिदान नरनवास आश्रम (सन्नाम) क भिन्न आश्रम-विनद देवों क स्वर्गालु प्रह्लाद क पुत्र अनुरक्तिष्ठ मे बन-य है। उनका सत्य देवताओं का दो जानबाला आहुति का विषय कथा है। अतः, मनीषी को उनका आदर नहीं करना चाहिए।<sup>३</sup> ब्यास देव योग-बात यह है कि बौधायन न आश्रम-सं का विषय त्रिम दत्त त्याग क मय स किया है बहु-यन-यान कबल संन्यास म ही विहित है। अतः, संन्यास का आदर ही बौधायन का सत्य है। ब्रह्मचर्य और बानप्रस्थ दाता में स्वाभ्याय और दत्त आवश्यक है।

तपस्वी—नाप्यकार क बानप्रस्थ विषय क उल्लेख न कबल विषय का वृत्ति से, अग्नि-प्राणवक्त्र की वृत्ति म भी गृहस्थों म मर खाते हैं। कई स्थानों पर ता उल्लेखि धममुक्ता का अनुशासनात्मक-सा उपनिन्दित किया है। बानप्रस्थ उन का आश्रम है। मान्यकार ने बानप्रस्थ क लिए तपस्वी या तानम दन्द का अर्थ-हारा किया है, जिसका सत्य ही उल्लेखला था। वादिकार न भी 'तापस तप करता है' इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि उदवासादिक ताप-ताप का उपाते है। अस्मिन्मर्षिबलिष्ठ तापस स्वय प्राप्ति से किए तप करता है।<sup>४</sup> स्व-नाति

१ बानप्रस्थी र्बिद्यानसहास्रसमुदाहार-आश्रमयो बने मूलकजाती, तन्मीलः तपनेपूरकमुपस्युप्रन् धामपकेनानिजाधायाम्पयोत्री वैदिकिन्मुनमुप्यपिदूत्रः सर्वातिवि-प्रतिपिद्धकर्मज्ञस्युपनुञ्जीत न फालहृष्टमपिठिष्ठधु धामं क न प्रविशेत्प्रतिपत्तरीराजिनधासा नातिप्रवत्तरं मुञ्जीत।—बौधा० प० मु०, २-६ १६, १०।

२ बौधा० बानप्र०, प्रल २, प० ११।

३ वही।

४ १ १ १६, ५०५५।

५ १-१-८८ का०।

वैदिक धर्मनियुक्तियों की ही काम्य रही है, वत वे ही इस आश्रम को ग्रहण करते थे। तप, व्रता बीजा ये जीवन के अभिन्न अंग थे। भोजन पर नियंत्रण तप का महत्त्वपूर्ण अंग था।<sup>१</sup> इसलिए, जम्भक (बस पर ही निर्वाह करना) और बामुमस (केवल बामु पीकर, अर्थात् निःप्राहार रहना) होना औरत की बात मानी जाती थी।<sup>२</sup> माप्यकार ने तापसों को जटिकक कहा है।<sup>३</sup> ये लोग व्यापम-कार्य करते थे। उपनिषद् और सूत्रकाण्ड के व्यापक प्रायः बानप्रस्थ थे। मुष्ठी जटी सिन्धी ये तीन ब्रह्मचर्य बानप्रस्थ और संन्यासी की होती थी। जटी या जटिक भोगकर्तृव्यविहीन भी होने लगे और जटाओं के नाम पर भोगोंको भुजावा देकर उनसे प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे यह बात माप्यकार को जतिरहित नहीं थी। पाणिनि-सूत्र (५२ १००) में भी जटिक होना निन्द्य की बात माना है। स्यामाक कच और वैर (बदरी) बारि अकृष्टपथ्य सप्त, फल बारि उच्छ में सामिस थे।<sup>४</sup> सन्ने उपस्वी गृहस्थाश्रम में अजित महाम् सम्पत्ति का भी परिचय कर उच्छवृत्ति से प्राणयापन करते थे। माप्यकार ने किसी ऐसे व्यक्ति के उच्छवृत्ति से निर्वाह करने की चर्चा की है, जिसके जन्म का शुभ समाचार सुनानेवाले ब्राह्मणों को उसके समुद्र पिता न उस सहस्र पायें दान में दी थी। इस प्रकार, पतंजलि के समय में बानप्रस्थ आश्रम एक जीवित संस्था बान पड़ता है। जटिक होने के साथ तापस लोग भी या अजित भारत करते थे।<sup>५</sup> माप्य में कुतप (दर्म) वास बानी उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup> ये लोग स्वधिसिद्धायी तथा बार्चयम होते थे।<sup>७</sup> भाष्य में स्वधिसिद्धायिनी वा उल्लेख है जो तापसी या बानप्रस्थ स्त्रियों का सूचक है।

ब्रह्मर्षियों के व्रत—बानप्रस्थ लोग अनेक प्रकार के कृच्छ्र व्रतों का भी अनुष्ठान करते थे। इनमें से कुछ आत्मशुद्धि के लिए और कुछ प्रायश्चित्त के रूप में होते थे। आन्त्रायण अत्यन्त कठिन व्रत है।<sup>८</sup> सूत्रकार ने अनुताप को भी तप कहा है।<sup>९</sup> यह मासिक, अर्थात् मास में पूर्ण होने वाला व्रत है। इसका प्रारम्भ शुक्ल चतुर्विंशती को केशवमधुसोमनस आदि कटवाकर जह्वत बस्त्र धारण कर उपवास के साथ होता है। पूर्विका के दिन भोजन क जो कि अक्षरस्यत्र हविष्याम्

१ २-३६, पृ० ३९०।

२ भा० १, पृ० १४।

३ १-२-३२, पृ० ५११।

४ ६१४८, पृ० ७९।

५ वही तथा १११, पृ० १०५।

६ १४३, पृ० १३१।

७. यस्मिन् ब्रह्मसहस्राणि पुत्रे जाते गर्वा बन्ती।

ब्राह्मण्यः प्रियाश्वेभ्यः सोऽप्यनुच्छेदेन जीवति।—१४३, पृ० १३१।

८ ३११९, पृ० ५७ तथा ४३-६०, पृ० २३८।

९ कुतपवासः सौम्यः कुतपसीम्युत।—२-१६९, पृ० ३३०।

१० ४११, पृ० १० तथा ६-३-६९।

११ ५१-७२, पृ० ३३७।

१२ ३-१ ६५।

के समान होता है पशु-भाग कर लिये जाते हैं। दुग्ध पशु की प्रतिपत्ता को उनमें से १४ घास लेकर प्रतिदिन एक कम कर दिया जाता है और इस प्रकार अमावस्या का फिर उपवास हा जाता है, क्योंकि उस दिन कोई घास नहीं रहता। फिर दुग्धपशु की अमावस्या का एक घास लेकर प्रतिदिन एक घास बढ़ाया जाता है और पौनमासी को स्वासीपातु से आहुति देकर पुनर्दत्त का साथ घृत समाप्त होता है। पाणिनि ने चान्द्रायण के साथ पारायण और तुगायण का भी उल्लेख किया है, जिनमें पाण्डयण और तुण्डयण तो बृहस्पति भी किसी कठिने कर सकता है, पर चान्द्रायण व्यक्ति को स्वयं ही करना होता है। इसीलिए, काशिकाकार<sup>१</sup> ने चान्द्रायणिक को तपस्वी कहा है। शौचायनधर्मसूत्र (३-८) में चान्द्रायण की विस्तृत विधि दी हुई है। बानप्रत्या की महाशामा को भाष्यकार ने आरण्यक विहार<sup>२</sup> कहा है। आपस्तम्ब में भी अग्न्ययं तपसुं वा विधात है।<sup>३</sup>

श्री-बानप्रस्थ—यामप्रस्थों में कुमार और कुमारीयों भी एतरी यी; 'क्योंकि कुछ भाग बिना गृहस्वामय में प्रविष्ट हुए सीधे बंधानस घत से भेदे थे। आपस्तम्ब में इसका विधान है और इसीलिए अग्निब्रान्ताकृतक में दुग्धपशु तदुत्तला के विषय में विज्ञाना करता है कि क्या वह बिबाह होने तक ही बंधानस घत का पालन करेगी या सावज्जीवन।<sup>४</sup> पाणिनि ने कुमार धर्मशास्त्रियों (२-१-७०) के अमवाहिण्य में पठित अमवा तापसी प्रव्रिता ताण् जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरुषसमास का विधान किया गया है इसका प्रमाण है।

इस तप और संयम और कष्ट-सहन का परिणाम बानप्रस्थ के जीवन पर पड़ना स्वाभाविक था। व्यक्ति अपने तपोबल से न केवल अपना अपितु अपने पूजका का भी उद्धार कर सकता था। अपने साथ अपनी दो अगरी पीड़िया (भाषि और कुणिक) का श्रुतिप्रदान करनेवाले विश्वामित्र के तप का वर्णन भाष्यकार ने किया है। मैं अनूपि न हूँ अनूपि का पुत्र न हूँ और अनूपि का पीठ न हूँ। इस उद्देश्य से किये गए उमक तप ने भाषि और कुणिक का भी श्रुति बना दिया, वह विश्वास पर्वतसिद्धासीन धामिक-वर्ग में विद्यमान था।

ऊर्ध्वरेता—वाशिष्ठधर्मसूत्र (१-५, १) में बानप्रस्थ को इमाद्य (भूमि पर साने वाला) अनिकल और ऊर्ध्वरेता कहा है।<sup>५</sup> ऊर्ध्वरेता होते हुए सम्मान उत्पन्न करना या न

१ ५ १-७२।

२ ५-२ १२९, पु० २१६।

३ २-९ २२, पु० २१।

४ अमवाहिण्य २ १-७०।

५ अतएव ब्रह्मधर्मसूत्र प्रव्रतति अथ बानप्रस्थः—२-९ २१ १९, १८।

६ अग्नि० शाहु० १-२७।

७ २-१-७०,

८ विश्वामित्रस्तपसोपे आनृषि स्थाविति। तत्रमवानृषि सम्प्रतः। सगुणतपसोपे आनृषि पुत्र स्थाविति। तत्रमवानृषि गाविरप्युषि सम्प्रतः। न पुनश्चतसरे आनृषि स्थाविति। तत्रमवानृषि कुणिकोऽपि श्रुति सम्प्रतः—५ १ १०५ पु० १३३।

९ ५ १-७९, पु० ८८।



करना उनकी इच्छा पर निर्भर था। माप्यकार ने अट्ठासी सहस्र ऊर्ध्वरेतस् ऋषियों की (ऋषि  
ब्राह्मण ब्रह्मानस होते थे) जिनमें से अथर्व-सहित आठ ऋषियों ने प्रजन (सत्वानोत्पादन)  
स्वीकार किया चर्च की है। इन आठ से उत्पन्न अपत्य योत्र कहलाते हैं और इनसे भिन्न गोत्रा  
व्यव।<sup>१</sup> बौधायन के मत से ये आठ ऋषि श्रेष्ठ होने चाहिए, क्योंकि वे 'प्रजननमिमिता समाख्या'  
मानते हैं और उनके मत से तीन ऋषों से ऋषवान् ब्राह्मण प्रबोत्पादन द्वारा ही पितृऋण से मुक्त  
हुकर स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है।<sup>२</sup> किन्तु, आपस्तम्ब का मत इसके विपरीत है। उसमें पुरुष  
से दो स्त्रोक उद्भूत करते हुए प्रजावान् ऋषियों की निन्दा की गई है और कहा गया है कि  
अट्ठासी सहस्र ऋषियों में जिन्होंने सत्वानोत्पादन किया, वे अन्न-भरण के चक्र में पड़कर फिर  
भयानक को प्राप्त हुए, किन्तु जो ऊर्ध्वरेतस् रहे, वे अमृतत्व के भागी बने। इसलिए ऊर्ध्वरेतस्  
ही प्रशस्त हैं।<sup>३</sup>

बौद्धिक ब्रह्मानस—बुद्धगीतम (भा० ८ पृ० ५६४) द्वारा प्रवर्णित ब्रह्मानस और पांच-  
रात्रिक इन दो ब्रह्मण-सम्प्रदायों का उल्लेख या संकेत माप्य में नहीं है। वेदान्तकल्पतरुमिश्र  
के रचयिता अप्ययवीक्षित (पृ० ४५३) के अनुसार पांचरात्रिक सम्प्रदाय वैदिक नहीं है। वास्तव  
में बुद्धगीतम द्वारा उल्लिखित ब्रह्मानस-सम्प्रदाय का ब्रह्मानस-आधम से कोई सम्बन्ध नहीं जान  
पड़ता।

ब्रह्मानस वैदिक वर्मानुयायी बतवासी तपस्विनों का वर्ग था। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा  
टीका (३-४५) में ब्रह्मणस को बत में प्रकृष्ट नियम से रहनेवाला कहा है। और स्वामी ने  
भी उन्हें ब्रह्मणस में रहनेवाला बतलाया है। इन दोनों विद्वानों की ब्रह्मणस की व्युत्पत्ति में  
अन्तर होने पर भी तात्पर्य में भेद नहीं है।<sup>४</sup>

### संघास

परिव्राजक—संघास चतुर्भुज आधम है। माप्यकार ने संघासी को परिव्राजक और  
भिक्षु कहा है। पंचरात्रिक के समय में संघासी का बड़ा सम्मान था। उन्होंने भिक्षु को सौ कोस से  
अभितन्धन का अधिकारी बतलाया है और इस कारण उसे कौशलधरिक नाम दिया है।<sup>५</sup> सामा-  
न्यतया ब्रह्मणस के बाद संघास ग्रहण करने की प्रथा रही है, पर उसका कोई समय नियत नहीं  
है। जिस दिन मन मर्त्याय उत्पन्न हो, उसी दिन ब्रह्मी अन्नपी स्नातक अस्नातक या उत्सर्गान्नि

१ वही।

२ बौधायन पतञ्जल २९१ तथा स्वाध्यायेन ऋषीन् पूज्यन्तोमेन च पुरस्वरं प्रजया  
च पितृन् सर्वात्मनो विवि मोक्षते।—वही, २९५।

३ २९२३-३३६ वही।

४ कान्हे हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ९१७।

५ बने प्रकर्वेय नियमेन तिष्ठति अस्तीति ब्रह्मणसः। ब्रह्मणस्य पूर्वं ब्रह्मणसः।—मिता०,

३ ४५ तथा प्रतिष्ठन्त्येवमिदं प्रत्ये। ब्रह्मणस्ये भवो ब्रह्मणस्यः, ब्रह्मानसाध्यः—और स्वामी।

६ ५ १-५४, पृ० ३३७।

कोई भी द्विज संन्यास से मकता था<sup>१</sup> और अनुश्रुतों को छोड़कर अग्निपत्नी बनकर दमन्या से मकता था। परिव्राजक घर का परिव्याग कर अरण्य में रूठे थे। वे कौशान-मात्र पहने थे। उनका वस्त्र कापाय रंग के हाते थे। जिस समय पर में कूटना-पीमना नहीं चलता था और शून्ते की भागवत बुकरी थी तथा जुडे बरतन मटे आशुवन थे उस समय परिव्राजक गृहस्था कथर से निगा माँगकर लाता था जिससे किमी गृहस्थ को अनुविद्या न हो।<sup>२</sup> बामिष्ठजनपात्र में कहा है कि मनि सब भूतों को अमय प्रदान करता थायना है इसलिए "से भी किमी भूत से भय नहीं होता।"<sup>३</sup> बीषायन में उस बाक मन कम और दण्ड म भूतों का अगोही वपनाया है और षोड से अन्तर से उक्त कारिका का उल्लेख किया है। संन्यासियों में पुरुष भी हात थे और स्त्रियाँ भी। पातिनि ने क्षम पादि गण में प्रव्रजिता का परिगणन कर कुमारी प्रव्रजिताओं के अन्तिम को सूचना दी है।<sup>४</sup> और, पत्रजमि न संकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख कर्त हुए कहा है कि कुणवाहक उम शगरा कहत है।<sup>५</sup> संन्यासी एकलकी भी हात थे और स्त्रियाँ भी। भाष्य में दानां का उल्लेख मिलता है। दण्डिनो पाछा और दण्डिन्याय एक दण्डबाक संन्यासियों के सूचक है। नात दण्डों का समूह त्रिबिष्ट्यक कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि संन्यासी न हान पर भी यदि किसी के हाथ में दण्ड हुआ तो उसे दण्डी कह देते हैं किन्तु त्रिबिष्ट्यक कबल परिव्राजकों के पास ही होता है। त्रिबिष्ट्यक देखकर संन्यासी पहचाना जाता है। त्रिम प्रकार घत्रां देण्डर अग्नि का अनुमान कर किया जाता है। परिव्राजक भाग तीन दण्डों को भूत की रम्मी म बाँधकर त्रिबिष्ट्यक बनात थे।<sup>६</sup> इस बात की पुष्टि बीषायन से परिव्राजक का इच्छानमाण एक या तीन दण्ड धारण करने की अनुमति देते हुए की है।<sup>७</sup> परिव्राजकों को मिथु और मुनि भी कहत थे।<sup>८</sup> बीषायन ने उसके लिए मिथुक शब्द का प्रयोग किया है<sup>९</sup> और भाष्यम्ब में मनिक।<sup>१०</sup>

१ परहरेव विरमेनदहरेव प्रवदेन्। आवाभोपनिषद्।—४।

२ वासि० घ० सू० १०-२।

३ बीषा० धर्मसू०, २-११ १७ से २५।

४ वासि० घ० सू०, २-११ २५।

५ ३ १-७०।

६ ३-२ १४ सू० २१२।

७ ५-२-१४, सू० ४०८ तथा ८-२-८३ सू० २८८।

८ पूर्व दुष्ट्वाग्निरवति मय्यने त्रिबिष्ट्यकं च दुष्ट्वा परिव्राजक इति।—२ १ १

सू० २४३।

९ १ १ १, सू० १२०।

१० बीषा० घ० सू० २-१०-१।

११ भाष० घ० सू० २ १ १।

१२ विसावतिपरिधाक्तः कश्चाद् मयनि मित्तक।—बीषा० ७ १० १७।

१३ भाष० २-१ १।

करता उसकी इच्छा पर निर्भर था। भाष्यकार ने अदृशासी सहस्र ऊर्ध्वरेतसु ऋषियों की (ऋषि आज्ञा म वैश्वानस हस्ते थे), जिनमें से अग्रस्थ-सहित आठ ऋषियों ने प्रबन्ध (सन्तानोत्पादन) स्वीकार किया अर्थात् की है। इन आठ से उत्पन्न अपत्य यौन कहस्राट हैं और इनसे मिय मोगा बयब।' बीषायन के मत से ये आठ ऋषि खेप्ट होने चाहिए, क्योंकि वे 'प्रबन्धनिमित्ता समाख्या' मानते हैं और उनके मत से तीन ऋषों से ऋषवान् ब्राह्मण प्रबोत्पादन द्वारा ही पितृऋण से मुक्त होकर स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है।<sup>१</sup> किन्तु आपस्तम्ब का मत इसके विपरीत है। उसमें पुराण से दो बळोक उद्धृत करते हुए प्रबवान् ऋषियों की नित्या की गई है और कहा गया है कि अदृशासी सहस्र ऋषियों में जिन्होंने सन्तानोत्पादन किया वे बन्ध-मरण के बन्ध में पड़कर फिर श्मशान को प्राणत हुए, किन्तु जो ऊर्ध्वरेतस रहे वे अमृतत्व के भागी बने। इसलिए ऊर्ध्वरेतसु ही प्रवृत्त हैं।<sup>२</sup>

**बैदिक वैश्वानस—**बृहगीतम (जा० ८, पृ० ५१४) द्वारा प्रदर्शित वैश्वानस और पांचरात्रिक इन दो वैष्य-सम्प्रदायों का उल्लेख या संकेत भाष्य में नहीं है। वेदान्तकल्पतरुपरिमल के रचयिता अप्यमरीशित (पृ० ४५३) के अनुसार पांचरात्रिक सम्प्रदाय वैदिक नहीं हैं। वास्तव में बृहगीतम द्वारा उल्लिखित वैश्वानस-सम्प्रदाय का वैश्वानस-आश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

वैश्वानस वैदिक धर्मानुयायी बनबासी तपस्वियों का वर्ग था। याज्ञवल्क्य की मिताश्रप टीका (३-४५) में बानप्रस्थ को बन्ध में प्रकृष्ट नियम से रहनेवाला कहा है। शीरस्वामी ने भी उन्हें बानप्रस्थ में रहनेवाला बतलाया है। इन दोनों विद्वानों की बानप्रस्थ की व्युत्पत्ति में अन्तर होने पर भी तात्पर्य में भेद नहीं है।<sup>३</sup>

### संन्यास

**परिव्राजक—**संन्यास चतुर्थ आश्रम है। भाष्यकार ने संन्यासी को परिव्राजक और मियु कहा है। पञ्चक के समय में संन्यासी का बड़ा सम्मान था। उन्होंने मियु को सी कोस से अभिनमन का अधिकारी बतलाया है और इस कारण उसे औपस्रतिक नाम दिया है।<sup>४</sup> सामान्यतया बानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण करने की प्रथा रही है पर उसका कोई समय नियत नहीं है। जिस दिन मन में वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन प्रती अग्रती स्नातक अस्नातक या उत्सर्गागिन

१ वही।

२ बीषा० धमसू० २-११ तथा स्वाध्यायेन ऋषीन् पूज्यतोमेन च पुरस्वर्प्रजयत च पितृन् सर्वाननुषो विधि मोवते।—वही २-१-५।

३ २-१-२३ ३ से ६ वही।

४ काणे: हिन्दू मीफ् धर्मशास्त्र भाग २, पृ० ११७।

५ बने प्रवर्षेण नियमेन तिष्ठति अरतीति बानप्रस्थ। बानप्रस्थ एव बानप्रस्थ।—मिता०,

३ ४५ तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् प्रस्थ। बानप्रस्थे धवो बानप्रस्थः, वैश्वानसाख्य—शीरस्वामी।

६ ५ १-७४ पृ० ३३७।

कोई भी द्विज संन्यास ले सकता था<sup>१</sup> और बन्धुओं को छोड़कर अपरिग्रही बनकर प्रव्रज्या ले सकता था। परिव्राजक घर का परिचय कर अरण्य में रहते थे। वे कौपीन-मात्र पहनते थे। उनका वस्त्र कापाय रंग के होते थे। जिस समय घर में कूटना-मीसना नहीं चलता था और पुरूह की मांग-बुझ चुकती थी तथा जूठ बरतन मत्ते जा चुकते थे उस समय परिव्राजक गृहस्थां के घर सभिया मांगकर जाता था जिससे किसी-गृहस्थ को अनुविधा न हो।<sup>२</sup> वाशिष्ठधर्मशास्त्र में कहा है कि मुनि सब भूतों को अभय प्रदान करता चलता है। इसलिए उसे भी किसी भूत से भय नहीं होता।<sup>३</sup> बीषायन में उसे बाक मन कर्म और वण्ड से भूतों का अद्रोही बतलाया है और षोडश से अन्तर से उक्त कारिका का उल्लेख किया है। संन्यासियों में पुण्य भी होते थे और त्रिदण्ड भी। पापिनि ने यम भादि यम में प्रव्रजिता का परिमपन कर कुमारी प्रव्रजिताओं के अस्तित्व की सूचना दी है।<sup>४</sup> और पतंजलि ने संन्यास नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है कि बुधवारवाक्य उमे संन्यास कहते हैं।<sup>५</sup> संन्यासी एकदण्ड भी होते थे और त्रिदण्ड भी। भाष्य में दोनों का उल्लेख मिलता है। शशिधर्मटी धामा और दण्डिन्याय एक दण्डवाल संन्यासियों के सूचक हैं। तीन दण्डों का समूह त्रिदण्डक कहलाता था। भाष्यकार ने कहा है कि संन्यासी न होन पर भी यदि किसी के हाथ में दण्ड हुआ तो उसे दण्डी कह देते हैं किन्तु त्रिदण्डक्यत्र वेदक परिव्राजकों के पास ही होता है। त्रिदण्डक्यत्र देवकर संन्यासी पहचाना जाता है। जिस प्रकार पञ्च देवकर भूमि का अनुमान कर लिया जाता है। परिव्राजक काम तीन दण्डों को भूत की रस्ती ग बाँधकर त्रिदण्डक्यत्र बनाते थे।<sup>६</sup> इस बात की पुष्टि बीषायन ने परिव्राजक को इच्छानुसार एक या तीन दण्ड धारण करने की अनुमति देते हुए की है।<sup>७</sup> परिव्राजकों को भिक्षु और मुनि भी कहते थे।<sup>८</sup> बीषायन ने उसके लिए भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया है<sup>९</sup> और भाष्यस्थान्य में मुनिद।<sup>१०</sup>

१ यवहरेव विरमेतवहरेव प्रव्रजेत्। आवातोपनिषद्।—४।

२ वासि० अ० सू०, १०-२।

३ बीषा० धर्मसू०, २-११ १७ से २५।

४ वासि० अ० सू०, २ ११ २५।

५ १-७०।

६ १ २ १४ सू० २१२।

७ ५ २ १४, सू० ४०८ तथा ८-२-८३, सू० २८८।

८ पूर्व बुद्ध्वाग्निरवति मम्यते त्रिदण्डक्यत्रं च बुद्ध्वा परिव्राजक इति।—२ १ १ सू० २४३।

९ १ १ १, सू० १२०।

१० बीषा० अ० सू० २ १०-१।

११ भाष० अ० सू०, २ १ १।

१२ भिक्षावतिपरिधाम्ना पञ्चान् भवति भिक्षुकः।—बीषा० २ १० १७।

१३ भाष० २ १ १।

वैदिक परिव्राजक—संन्यास सत्तर वर्ष की आयु के बाद लेने का विधान है। इस आयु में ब्रह्मवि वैदिक कर्म भोजन पकाना आदि समस्त कर्तव्यों से मुक्ति हो जाती है। आपस्तम्ब में इसे 'सर्वतः परिमोक्ष' कहा है।<sup>१</sup> अनग्नि परिव्राजक, अग्निव्रतन ब्रह्मर्मा (वपरिव्रही) अक्षरय (अग्रही) प्रायः मीन रहता था और केवल स्वाध्याय-कार में ही बोलता था।<sup>२</sup> स्वयम्भुवरायी और भार्गवम परिव्राजक केसश्मभुनख आदि का वपन करता था किन्तु शिक्षा रखता था। शिक्षा को परिव्राजक का सङ्ग माना है।<sup>३</sup> भाष्यकार का यह कथन गौतम (३-२१) के अनुकूल है यद्यपि महाभारत मनुस्मृति (१-५२) और वाधिष्ठधर्मसूत्र में उसे सम्पूर्ण मुञ्चित कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि-काल में मुञ्चित बौद्ध धर्मियों से अन्तर स्पष्ट करने के लिए वैदिक परिव्राजकों में शिक्षा रखने की प्रथा बस पड़ी थी।

परिव्राजकों के प्रकार—ऐकागारिक् धीरे (५ १ ११३ पु० ३४९) सूत्र पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने भिक्षु को ऐकागारिक (एकापारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति) कहा है। एका गार भिक्षु अपने निजी पुत्र-पत्नीओं द्वारा बना दिये गये घर में या किसी श्रृषि के आश्रम में रहता था। शिक्षा धारण करता था यज्ञोपवीत पहनता था और त्रिषिष्टम्बक रखता था। वह अपनी कुटी से बाहर नहीं जाता था। वैशानससूत्र में ऐकागारिक परिव्राजक को कुटीचक कहा है। वे० सू० से विहित होता है कि उस समय परिव्राजकों के चार मेढ थे—कुटीचक, बह्वक इस और परमहंस। भाष्य में इन सबका यत्र-तत्र उल्लेख है। ऐकागारिक या कुटीचक का उल्लेख ही हुआ है। य शोग बस्ती से बाहर कमलग कोस-भर दूरी पर रहा करते थे। इसलिए ये, कैकटिक भी कहलाते थे।<sup>४</sup> वाधिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुसार ये ब्राम्हण में प्राप्य पशुओं की पशुओं के बाहर रहा करते थे।<sup>५</sup> ये शोग अष्ट प्रास लाकर दिन बिताते थे। बह्वक त्रिषष्ट-कमष्वकु-कापायवादी साठ बरों से मांस खवन-पशुपित छोड़कर भिक्षा माँगते हुए निर्वाह करते थे। ये शोग भिक्षा के लिए जाते समय भूमि में दृष्टि गड़ाये बिना इधर-उधर देखते बसते थे और कैकटिक कहे जाते थे। हंस परिव्राजक ग्राम में एक दिन और नगर में अग्नि-से-अग्नि पाँच रात्रि तक ठहरते थे। ये शोग गोमूत्र या घोमवाहारी वा मासोपवासी या नित्यवाह्रायवादी होते थे। परमहंस बुध के मूल या गुरु्यागार या देवकूल में सोकर समय बिताते थे। ये शोग समसोष्ट

१ आय० २९ १२।

२ अनग्निरनिकेतनः स्याद्ब्रह्मर्माऽत्ररथो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजेत् वाचम् ।—आय०

३-९ १०।

३ २-३-२१ काशिका।

४ वैशानससूत्र ८-९।

५ ४४-७३ काशिका।

६ ब्राम्हणे देवपुत्रे शुश्यापारे वा बुधमूले वा, अरव्यनित्य-नाश्याम्यपशुनां सव्यग्नि

विचरेत् ।—वासि० १०-१३ से १६।

७ वेगस्यास्पतया हि भिक्षुरग्निप्लवृष्टिः पारबिलोपदेदे चक्षुः संयम्य गच्छति स

उप्यते कैकटिक इति ।— ४४-४६ काशिका।

काशन और धर्माधर्म सत्यासत्य मुद्रापवित्रुद्ध आदि ईश्वरों से ऊपर होते थे तथा सब जनों के यत्न से भिक्षादि ग्रहण करते थे। पाणिनि ने इन्हें सर्वादीन कहा है।<sup>१</sup>

अपघ भिक्षु—सभी भिक्षु अपघ होते थे। वे पकाकर भोजन नहीं करते थे। बूढ़ होने पर भी वे अचकल होने के कारण नहीं भिक्षु दास्त-विधान के कारण ही अपघ होते थे। कागि काकार ने 'अभूकावकती (६-२ १५७) मुत्र के माध्य में इस बात का स्पष्ट उदाहरण दिया है।

अर्हत्—वर्तमानानुष्ठान करनेवाले सिद्ध परिश्रमक भिक्षु माने जाते थे। वात्स्यायन और पतञ्जलि ने 'अर्हत्' की स्थिति को आहस्य या आहन्ती कहा है।

धम्म-ब्राह्मण—पतञ्जलि ने विभाषासूत्र मू० भा० (२४ १२५० ४६७) का माध्य करते हुए 'धम्म आहृतमम्' को 'धियां च विरोध' आदिबन्धक (२४ ९) का उदाहरण माना है, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि पतञ्जलि से पूर्व शास्त्रियों में धम्म और ब्राह्मणों में पार विरोध बना आता था और इस विरोध से मात्र समान इसी प्रकार परिचित या भिन्न प्रकार काक-उत्सुक या अहि-नकुल-वैर से था। और इसका कारण था। धम्म अर्हन्ति य। वे धम्म पापादि क्रिया-कलाप का महत्व नहीं देते थे। इनकी दृष्टि में धर्मो इनका धर्म धर्म है या धर्म धर्म और निष्प्राप्तनीय है। धम्म आन्तिक और मास्तिक होता प्रकार था। इसका कई मन्त्र धर्म तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो आन्तिक य वे भी उगम का कार्य धर्म कर्ता नहीं मानते थे। 'पान्थिकधर्म में जिन धर्मों का उद्भव है उमम प्रायः आन्तिक ही है। ब्राह्मण और धम्म धर्मों का संस्मृति-परम्पराएँ प्राचीन काल में जन्मी आयी है। ये एक दुनये में प्रभावित हुई हैं।' हममें नैतिक वैर था। ब्राह्मण मुद्र-वर्णन को अपुम मानते थे। ब्राह्मण सामाजिक य। धम्म धर्मापरिक होते थे और ब्रह्मधर्म का पालन करते थे। यह बात स्पष्ट समझ लेने पर हीपायन के इस कथन का कारण कि 'वास्तव में गृहस्थाधर्म ही प्रमुख है परिश्रमकारि अल्प माधम प्रह्लाद पुत्र कविष्णुपुर में देवों से स्पर्धा करने के लिये बनाये हैं जिममें उन्हें यज्ञोप नमिष मर। विज्ञान को इन धर्मों का आदर नहीं करना चाहिये' सरसता से समझा जा सकता है।

बौद्ध और वैदिक धर्मों का परस्पर प्रभाव—इतना विरोध होते हुए भी ब्राह्मण बौद्ध तथा वैदिकधर्मों ने इस विषय में परस्पर एक दुसरे को प्रभावित किया है। ब्राह्मण धर्म के धर्म संत टापम भी होते थे जिमको वैश्यास कहते थे। बौद्ध धिगुमा में भी एक विदु होने य जो वैशा ननों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों का 'धुता' कहते हैं। बुद्धपूर्वविक्रमन अल्प निबाम, धम्मधामधाम अल्पबकाधाम पागुरुसधारण आदि धुन्य है। वैश्यासों से प्रभावित होकर बौद्धधर्म में भी यति माने गए। कुछ विज्ञानों का कहना है कि जब बौद्धधर्म पुत्र में परिचय की ओर गया तब इस प्रकार के परिवर्तन हुए। पश्चिम देश में पूर को अनेका ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक था। " वास्तव में वैदिकों में तीन धर्मों की ही प्रथा थी। धनुष धामम धार

१ ५-२-९ कागिका।

२ नरेन्द्रवैद्यः बौद्धधर्म-व्याख, पृ० १।

३ बौधा० धम्मसूत्र, २-११।

४ बौद्धधर्म-वर्णन, पृ० २।

में सम्मिश्रित हुआ। इसीलिए, जसुर्ब आत्म का नाम विभिन्न धर्मसूत्रों में मिस दिया गया है और महत्त्व की दृष्टि से भी वह अन्त में रखा गया है। परिवाद परिवाचक भिक्षु, मुनि और यति ये नाम विभिन्न धर्मसूत्रों में संघासी के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनमें मुनि यति और भिक्षु तो बौद्ध तथा जैनधर्मों में विशेष प्रचलित हुए। नामों का यह विभेद तथा धर्मसूत्रों में बतित मानप्रत्य और संन्यास के कर्तव्यों में समानता इस बात की द्योतक है कि एक आत्म को ही दो मार्गों में विभक्त कर दिया गया। आपस्तम्ब और शौचायन ने कुछ सूत्र तो दोनों आत्मों के लिए समान हैं।

कन्या—वायुपुराण में सूत्र-बन्धित वस्तुओं के अतिरिक्त कमण्डलु छटकामे के लिए धिक्क तथा शीत से रखा क लिए कन्या का विशेष उल्लेख है।<sup>१</sup> शिकय क्रुघ कापास या ऊर्जा से बन होते थे। कन्या पथ्य वस्तुओं में थी और व्यापारिक स्तर पर बनाई जाती थीं। उखीतर की कन्याएँ सख प्रदेसों में खेप्ट विनी जाती<sup>२</sup> थीं इस बात की कर्मा पीछे हो ही चुकी है।

वाग्धाजिनिक—संयासियों की सामाजिक प्रतिपत्ता को देखकर कुछ लोग यों ही दण्ड अजिन सेकर बिना वैराग्य घर से निकल पड़ते थे<sup>३</sup> और संन्यास का ढोंग करते थे। ये लोग वाग्धा जिनिक कहे जाते थे। बीरे-बीरे यह सख सामाय ढोंगी के लिए प्रयुक्त होने छया।

१ वायु पु०, १-८ अकरार्क, पु० १४९, ५० पर उल्लेख।

२ २-४-२०।

३ ५-२-७९, पु० ३७८।

धर्मकृत्य और विश्वास

पाप-पुण्य

धार्मिक भाष्य में अनुवर्ग के स्वान पर धर्म अर्थ और काम के विषय का ही उल्लेख है।<sup>१</sup> मास की चर्चा भाष्य में नहीं है। वैदिक पण्डितों का तन्त्र स्वयं या मांग नहीं। निर्वाण का उल्लेख एक स्वान पर अर्थात् हुआ है, किन्तु धार्मिक अर्थ में नहीं।<sup>२</sup> धर्म स्वयं माना जाता<sup>३</sup> या और अधम अन्वयमसाधुता साको का ल जानवाला। धर्म का आचरण करनेवाला धार्मिक और अधर्म का अनुष्ठाता अधार्मिक कहलाता था। पाणिनि ने मुद्रमहत्त्वं पुण्यहत्त्वं और पाप हत्त्वं धर्मों की निष्पत्ति के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण किया है। धार्मिक और अधार्मिक में भाष्यकार ने अन्तर किया है।

धर्म—धर्म के प्रति भाष्य में धर्मोत्तम धर्म का भाव व्यक्त हुआ है। धर्मोत्तम का निर्णय धर्म के अर्थ में था।<sup>४</sup> कामचार का निषेध में धर्म निषेधन करता था और तदनुसार किया गया आचरण अन्वयकारी माना जाता था।<sup>५</sup> अशास्त्रात्मक कर्म विगुण होता है और विगुण कर्म करने में फल की अपेक्षा नहीं होती यह धारणा थी। धर्म का काम ही धर्मोत्तम है। वह जो कुछ बनता है धर्म माना जाता था। धर्म का नियम एक रूप में प्रचार से भी किया जाता था। जहाँ शास्त्र मीन या अस्पष्ट हो वहाँ ऋषि-सम्प्रदाय से प्रचलित आचार प्रमाणित और धर्म माना जाता था।<sup>६</sup> पूर्व-पुराणों द्वारा आचरित धर्म विहो 'पुत्रिण या पूर्व्यं बहव ये शास्त्रवन् प्रमाणित माने जात थ। काणिकाकार ने कहा है कि पूर पुराण द्वारा निगद्य त्पे माग प्रगस्त हाते हैं। सूत्रकार ने उनकी प्रगमा की है और तन्त्र पृथक् सूत्र बनाया है।<sup>७</sup>

१ २-२ ३४, पु० ३९०।

२ ५ १ १११ पु० ३४५।

३ ८-२-५०, पु० ३६८।

४ ४४४१ पु० २७९।

५ शास्त्रेण धर्मनियमः ।—आ० १, पु० १८।

६ आ० १ पु० १९।

७ अशास्त्रोक्ते क्रियमाणे विगुणं कर्म भवति। विगुणे च कर्मणि पञ्चमशक्तिः—

१ २ ६४ पु० ५८९।

८ धर्मोपदेशनिमित्तं शास्त्रम् ।—६ १-८४, पु० २१७।

९ ऋषिसम्प्रदायो धर्मः ।—आ० १, पु० २०।

१० ४४ १३३ काणिका।



अधर्म—अधर्म के लिए पाप एतत् किञ्च द्वितीय और कौलीय शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाष्य में पाप को खेय कहा है<sup>१</sup> और एतत् से प्रतिवत्त या चिरे हुए व्यक्ति को प्रत्येत्सु संज्ञा दी है।<sup>२</sup> कौलीय नाम कुर्णे में डालने योग्य या श्याम्य होने के कारण दिया गया था<sup>३</sup> और विन्नीय दूर हटाने योग्य होने के कारण।<sup>४</sup> किञ्च चिकीर्षा क प्रसंग में यात्तिककार ने सत्र कस, कष्ट और गहन शब्दों का धारमतेपदीय नामवाचक प्रयोग निर्दिष्ट किया है।<sup>५</sup>

प्रेक्षापूर्वकारी—भाष्य में कहा गया है कि प्रेक्षापूर्वकारी या समझदार छोग अधर्म से दूर रहते और उससे डरते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अधर्म का परिणाम दुःख होता है।<sup>६</sup> इसलिये, वे पहले से ही सौच विचार कर उससे बिरत रहते हैं। इससे बिपरीत बुद्धि क काग यह मानते हैं कि धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसका आचरण करने की आवश्यकता नहीं। वे भी बहिर्पूर्वक ही धर्म से निवृत्त बिरत प्रमत्त या मुग्ध रहते हैं।

आर्चामिक कृत्य—भाष्य में धार्मिक, आर्चामिक और धर्माधम दोनों से बिरहित इस तीन प्रकार के कर्मों की खर्चा है। धार्मिक कार्यों में वर्णाश्रमातिकूल आचरण प्रमुख है। ब्राह्मण के लिए जित्त विशिष्ट कार्यों का अनुष्ठान धर्म माना जाता था। उतमे अपमापण से बचकर पञ्चता बहुत महत्त्वपूर्ण था। भाष्यकार ने इसपर बार-बार जोर दिया है। अपसम्ब स्नेच्छ माना जाता था और यह विश्वास था कि उसने व्यवहार से ब्राह्मण स्नेच्छता को प्राप्त होता है। साधु सम्ब का ज्ञान धर्म और असाधु सम्ब या अपसम्ब का ज्ञान अधर्म के अन्तर्गत था।<sup>७</sup> इसीलिये कहा गया था कि साधु शब्दों से अर्थ का अभिप्राय करना चाहिए, असाधु शब्दों से नहीं।<sup>८</sup> पो-ब्राह्मण की रक्षा धर्म था। पतञ्जलि ने उनकी स्वस्ति-कामना की है।<sup>९</sup>

ब्रह्महत्या और सुरापान—ब्राह्मण-बध और सुरापान की गजना महापातक में थी। धर्मों परेष्टा दास्त्रों ने कहा है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए और सुरा नहीं पीनी चाहिए।<sup>१०</sup> भाष्य कार ने धर्मसूत्रों के आचार पर इस बात पर पुनः-पुनः जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण-

१ १-५०, पृ० ३०५।

२ ६-२ २७ काशिका।

३ कृपावतरणमर्हृत्पकार्यै तस्वीपीतम्।—५-२-२०, पृ० ३७२।

४ ३-१ १४, पृ० ५४।

५ ३-१ ११७।

६ यद्य मनुष्य-प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखी धर्मो ज्ञानेन कृत्यमस्ति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते।—यद्य मनुष्य-सन्निभबुद्धिर्भवति स पश्यति नेर्ष किञ्चद् धर्मोनाम धर्म करिष्यामिति। १ ४-२४, पृ० १६०।

७ आ० १, पृ० ४।

८ आ० १ पृ० ५।

९ आ० १ पृ० १९।

१० २ ३ १६, पृ० ४१८।

११ ६ १-८४, पृ० २१७।

बध और मुरापात में महान् दाय बनवाया गया है।<sup>१</sup> यह कहते समय निश्चय ही उनकी दृष्टि धर्मयुक्तों की ओर था। अथवा भी उन्होंने कहा है कि धर्मशास्त्र का प्रवृत्ति इनी ओर है कि ब्राह्मण बध और मुरापात नहीं करना चाहिए।<sup>२</sup> आशुविश्व अन्तर्गत म मा ब्राह्मण का मारता है या मुग पीडा है, वह भी पतित हो जाता है।<sup>३</sup> ब्राह्मण के लिए वा मुरापात का मकरा नियम था। गुरापी ब्राह्मणी पतिव्रत का नहीं प्राप्त हुनी धर्मशास्त्र के इस कथन का भी पत्रवलि न भाष्य में उद्धृत किया है।

गुप्तस्य-गमन—धर्मशास्त्रों द्वारा पतित पत्न्य पातक म गुरापात-गमन मा कहे गूना है। भाष्य में गीस्तमिक का उल्लेख किया है जोर कहा है गुरापात का मकरा धम हा जाता है।<sup>४</sup> परदार-गमन ना पाप माना जाता था। कनात्र पास्तमिक का पतित दृष्टि म गता था। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणतर स्त्री का समाग गिष्ट स्वरुपर म मकरा वाता था।

अथ पातक—इत्यहत्या भ्रूणहत्या माना-गिता योग भा... कथ मकरापात का मता में था।<sup>५</sup> भ्रूणहत्या का उल्लेख भाष्य म अत्रक पात हुआ है।<sup>६</sup> जार इस मन्त्र म भाष्यार म बधिर प्रमाण नी उद्धृत किया है।<sup>७</sup> अिनम स्पष्ट है कि बधिर बाल म हा इस पातक क विराय का प्रारम्भ हा चुका था।<sup>८</sup> भ्रूणहा क म म लिए धागण्य तथा उमम सम्बद्ध मत्र बन्धुना क लिए भाष्य में भीनष्ण दाख का प्रमाण हुआ है।<sup>९</sup> पतिनि न भी पपक मूत्र द्वारा दूत दादा की निष्पत्ति प्रतिपादित की है। इत्याहा मागूहा गिना और भ्रूणहत्या म चारा क प्रति ममान भूता का भाव था। पत्रवलि न इतका एक माष उल्लेख किया है।

अनृत—इत महापातका के अनिरित अनृत-कथन भी पाप वा अपम माना जाता था। अनृत का प्रकार म बोला जा सकता है—प्रकृत म्र व्यक्त। अनृतका म दाना का जात गत किया है<sup>१०</sup> और उम ममाहा कहा है। भाष्य म वा भी पतित गता है कि मामात्र अता का प्रवृत्ति

१ ब्राह्मणबध मुरापाते च महान् शोध उच्यते।—इही १० २१८ ।

२ १-२-६४, पृ० ५८७ ।

३ भा० १, पृ० ५ ।

४ वा ब्राह्मणी मुरापी भवति मैनां देवा पतिमोक्तं भवति।— २-८ पृ० २१० ।

५ ४४१ पृ० २७३ ।

६ पृष्ठते गुप्तस्य।—३ २ ४८, पृ० २१७ ।

७ १ ३-५५, पृ० १९१ ।

८ १ १ ३९, पृ० २४८ तथा ३-२-८७ तथा ८-२-२, पृ० ३१५ ।

९ इही ।

१० तां प्राणहत्यां विपूह्यानुकरणम् अस्य स्त्री भ्रूणहत्यां चतुर्थं प्रतिगताम्।—

३ १ १०८, पृ० १८४ ८५ ।

११ ६ ४ १७४, पृ० ५०६ ।

१२ ३-२-८७ पृ० ३२५ ।

१३ ८-२ ४८, पृ० ३६९ ।

असत्य की ओर नहीं थी। उन्होंने असत्य-भाषण के सम्बन्ध में दो प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख किया है—मठ और उत्फुल्ल। दोनों असामान्य मानसी स्थिति के व्यक्ति हैं। मठ का अनृत सोईस्य हो सकता है किन्तु उत्फुल्ल का अनृत अतिशयोक्ति या अत्युक्तिपूर्ण कथन के रूप में ही होता है। अनृतबाही मत भाष्य के मत में पाश से सिप्य होता है।<sup>१</sup> उसकी बात का विश्वास नहीं करना चाहिए।<sup>२</sup> उत्फुल्ल अनृतबाही के विषय में भाष्य ने अपना मत वहीं व्यक्त किया है।<sup>३</sup>

अभ्युदय—कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनके करने में अथर्म होता है किन्तु जब वे सिद्ध हो जाते हैं तब उनसे जो पुण्य प्राप्त होता है वह साधन में प्राप्त होनेवाले अथर्म को अनिमूत कर नये धर्म या अभ्युदय की सृष्टि कर देता है। जैसे कूप लोढनेवाला कूप लोढते समय घूल-मिट्टी से भर जाता है, किन्तु कूप खुल जाने के बाद उससे प्राप्त जल से घूल-मिट्टी को तो भी ही डालता है, साथ ही और कहीं अधिक अभ्युदय को प्राप्त करता है।<sup>४</sup>

अशिष्टाप्रतिषिद्ध—कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं जिनका फल न धर्म होता है न अथर्म। जैसे हिचकी मना हँसना या खुजलाना।<sup>५</sup> इस प्रकार के कार्य अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहलाते थे।

### परलोक

उभी लोकी—भाष्यकार ने इस श्लोक से ऊपर एक अन्य श्लोक का उल्लेख कई स्थानों पर किया है और उस परलोक परम और स्वर्ग की छला भी है। उन्होंने इस श्लोक को इहलोक कहकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों को ऐहलौकिक और परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों को पारलौकिक कहा है।<sup>६</sup> इहलोक और परलोक दोनों संयुक्त रूप से 'उभी लोकी' कहे गये हैं। मनुष्य इस श्लोक का प्राणी है किन्तु उसे परलोक की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए वहाँ उसे माना प्रकार के मुक्ता की प्राप्ति ही सकती है। इन सुखों में अल्पराशियों की प्राप्ति भी एक आकर्षक है जो वहाँ पत्नी-रूप में उपस्थित होती है। देवता लोग दोनों लोकों में स्वच्छन्द विचरण करते हैं किन्तु मनुष्य को इसके लिए कुछ विशिष्ट कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। भाष्यकार ने अन्य के प्रारम्भ में ही 'आत्मोयचित्' होना परलोक में अन्ततः अमरत्व प्रतिष्ठा का कारण बतलाया है।<sup>७</sup> उनके मत से अच्छे प्रकार से जाना हुआ और ठीक तरह से प्रयोग में लाया हुआ

१ अनृतं हि मत्तो ऋषिर्वा पाप्मा एव विपुनाति —८ १ १५, पृ० २८९।

२ मत्तस्य न प्रतिबुद्धम अनृतं हि मनो ऋषिर्वा —३-१ ११८, पृ० १८९।

३ ८ २-५५, पृ० ३६९।

४ भा० १ पृ० २४।

५ भा० १ पृ० २४।

६ ४ ३ ६० पृ० २३७।

७ १ ३-५४, पृ० ६८।

८ स्वर्गं लोकेऽप्यतरत एनं जाया नृत्तोपरोरते। —६ १-८४, पृ० ११९।

९ १ ३-५४ पृ० ६८।

१० भा० १, पृ० ५।

एक भी शास्त्र-सुद्ध शब्द स्वर्ग और लोक में कामपुक होता है।' इस प्रकार 'काम-वृत्ति' इन वैदिक पण्डितों की काम्य जान पड़ती है। यही उनके दृष्टिकोण से तपश्चरम का सत्य है। नायिकाकार ने 'सिष्यतेरपारलौकिके' मूत्र का भाष्य करते हुए इस बात को और भी स्पष्ट किया है। पाणिनि के मत से पिप्पू' धातु का रूप अपारलौकिक अर्थ में साधयति और पारलौकिक अर्थ में 'सिधयति' होता है। नायिकाकार ने इस प्रसंग में 'तपस्तापन सिधयति' (पारलौकिक) उदाहरण देकर कहा है कि तपस्वी को उससे अपने ही काम ऊपर उठाते हैं। यहाँ पिप्पू' का अर्थ में पारलौकिक ज्ञानविशेष है। तपस्वी ज्ञानविशेष प्राप्त करता है। तप उस उस मार प्रवृत्त करता है। यह ज्ञानविशेष उत्पन्न होकर जगन्मातर में परलोक में अम्युदय-रूप फल में परिणत होता है और इस प्रकार परलोक प्राप्ति का कारण बनता है।'

स्वयं कार्य—भाष्यकार ने एते कार्यों को जा परलोकजय के साधन हैं स्वयं कहा है।' इनमें अग्निष्टोमाधि यज्ञ तो है ही, अनेक प्रकार के तप और जपानि भी हैं। इसीलिए, ब्राह्मण अधिक जप करते थे और अग्नि के सामने तप करते थे।' धर्म-कार्यों में उपाजिन सम्पत्ति का ध्यय करते थे।' इस प्रकार का सद्भ्यय 'उपयोग' कहलाता था। अनेक एते साथ जा साधनिक रूप से निन्दित माने जाते थे यज्ञ से सम्बद्ध हो जाने पर स्वर्ग के साधक बन जात थे। फिर भी अनेक लोक इस बात को स्वीकार नहीं करते थे। सौभाग्यि यज्ञ में सुरापान इसी प्रकार का कृत्य था। भाष्यकार ने प्रकृत के रूप में एक लोके उद्भूत किया है जिसका अर्थ है 'यदि उदुम्बर वृक्ष की मुरा से भरी अनेक कलशियाँ पीकर कोई स्वर्ग नहीं पहुँच पाता तो यज्ञ में थोड़ी सी मुरा पीकर कैसे पहुँच सकेगा।' भाष्यकार ने उन्हें द्वारा इनका पण्डित न कर प्रमत्तनीत बट कर बात को टाल दिया है। भाष्य में तप का भी उल्लेख मिलता है।'

पापीष्टक (१-२-८ पृ० २१०) मूत्र का भाष्य करते हुए पर्वत्रिभि ने उदाहरण-रूप कहा है 'जो स्त्री सुरापा या सुरापी होती है उस दबता पतिभार नहीं सँभाल। पतिभार में श्रुति का आशय परलोक में पति व साथ से है। (१ १-५३ पृ० ३११) के भाष्य में भी पर्वत्रिभि ने एक वैदिक मंत्रांश उद्धृत किया है 'आमागन्ता पितरा मातरा य मा सामा अमृतत्वाय यम्याम् । इसमें अमृतसोत्र या अमृतत्व की बर्णा है। यह अमृतसोत्र स्वयं से ऊपर भुवि की स्थिति है या नहीं कुछ स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता। भाष्यकार ने अत्यन्त बड़ी माया का उल्लेख नहीं

१ १ १-८४, पृ० ११९ ।

२ १ १ ४९ नायिका ।

३ ५ १ १११, पृ० ३४५ ।

४ ३ १ ३२, पृ० ६४ ।

५ तपस्यते लोकाद्विधिवुरन्तेः । —२ १ १५, पृ० ५५ ।

६ १ ३ ३६ तथा १ ३ ३२ का० ।

७ वही ।

८ भा० १, पृ० ५ ।

९ ६ १-२० पृ० २३ ।

किया है। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार की दृष्टि में अमृतत्व का अर्थ दीर्घकालीन स्वर्ग सुख ही था।

नरक—किन्तु परलोक स्वर्ग ही नहीं है। स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक के अन्त-गत हैं। पाणिनि का महान् ऋषिपरमहंसमुपवीणासत्रात्मकभारतमात्रहैकिहिसरौरवप्रबुद्धयुं (६२३८) सूत्र जिस महारौरव का संकेत करता है वह भी परलोक के ही अन्तर्गत है।

### श्राद्ध

श्राद्ध का उद्देश्य—भाष्यकार ने श्राद्ध का उद्देश्य या प्रयोजन अज्ञात माना है<sup>१</sup> और 'अभ्यहितपूर्वम्' (२-२३४ भा० ४ ५ पृ० ३९०) के उदाहरणों में श्राद्धतपसी और श्राद्धमेघे को परिभाषित कर यह भी स्पष्ट किया है कि वे तपस् और मेधा की अपेक्षा श्राद्ध को अधिक अभ्यहित मानते थे। श्राद्ध का उद्देश्य पितरों को प्रसन्न करना माना जाता था। इसके लिए वैदिक तर्पण का विधान था। तर्पण में तिस्र और चार प्रयुक्त होते थे अतः तिलोत्पल शक्य तर्पण का वाचक बन गया था।<sup>२</sup> तर्पण-क्रिया के पुनरुद्देश्य की दृष्टि से एक कहावत ही भल पड़ी थी 'आम भी सिख गये और पितर भी प्रसन्न हो गये।'<sup>३</sup> पिण्डवान श्राद्ध का दूसरा प्रकार था। इन विधियों के अनुष्ठान को भाष्य में श्राद्धकर और पिण्डकर कहा है। पिण्डा के प्रयाग या निपूर्त करने का उल्लेख भाष्य में कई बार हुआ है।<sup>४</sup> यह भी कहा गया है 'यामावर्तौ (गृहस्व-विशेष) को जल में पिण्डों का निक्षेप करना चाहिए।'<sup>५</sup>

पितृदेवत्व—फिर भी श्राद्ध शब्द का प्रयोग विशिष्ट विधि के लिए होता था जिसमें तपस और पिण्डदान दोनों सम्मिलित थे। श्राद्ध सामान्यतया शरद में होते थे। इसलिए उन्हें शारदिक कहते थे। पितरों के प्रीयान के निमित्त किये जाने के कारण इन्हें पितृदेवत्व भी कहा गया है। भाष्य में अष्टका नामक पितृदेवत्व का विशेष उल्लेख मिलता है जिसका वर्णन यज्ञों के प्रसंग में किया गया है। अष्टका श्राद्ध मार्गशीर्ष की पौषमासी के बाद आनेवासी तीन अष्टमियों को किया जाता था। इसमें पशुवलि भी दी जाती थी। मूह्यसूत्रों में अष्टका-यज्ञ शक्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है।<sup>६</sup>

श्राद्धमौजस—श्राद्ध-मात्र श्राद्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग था। निर्मजस स्वीकार करनेवाले ब्राह्मण को यज्ञों में विभक्त था। कुछ लोग अथर्ववेद पर यज्ञमार्गों के यज्ञों

१ ५-१-९७, पृ० ३४४।

२ १४-२, पृ० १२४।

३ भा० १, पृ० २१।

४ ३-२-१४ पृ० २१२।

५ १-१-७२ पृ० ४४८।

६ अथर्वशाखायक प्रथमोक्त पिण्डान्तम्। — १-१-५८, पृ० ३७५।

७ ४-३-१२, पृ० २२३।

८ ७-३-५६, पृ० १९०।

मात्रन करने जाते थे किन्तु धाड़मात्रन नहीं करते थे। ये मयाड़मात्री कहलाते थे।<sup>१</sup> इनका अण्य वग था। इनके विपरीत धाड़मात्रन करनेवाले धाड़ी या धाड़िके कहे जाते थे। किन्तु, धाड़ी या धाड़िके जिन्हीं की स्थायी मंगा नहीं होती थी। जिस दिन जा धाड़ भोजन करता था उना दिन उमरे लिए इन विशेषणों का प्रयोग होता था। आर धाड़ खानेवाले के लिए कस धाड़िके धरम नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार, युक्त विशेषण विषय काल में विविष्ट क्रिया के परिणाम थे। अथाड़मात्री एग प्रती ह्यथ ध अर्थात् वे किसी विशेष कारणवत् जैसे सामाजिक भोगों का परिद्वान कर दथ ये वसे धाड़भोजन का भी।<sup>२</sup> कुछ लोग धाड़ खान के लिए बहुत उन्मुक्त रहत थ। २ १७ सूत्र के नाप्य में दिये गये उदाहरण से जिनमें कोई ब्राह्मण भद्र का कलहायता है। इस बात का संकेत मिलता है।

धाड़ विशेष—समाज में मद्य खा धाड़ के विषय में एकमत न थे। कुछ लोग उमके विराधा भी थ। नाप्य के धाड़ाय विर्गहन उदाहरण से यह स्पष्ट होता है। सम्यक है धाड़ न करने या ठीक ढंग में न करने व कारण व्यक्ति जिन्दा का पात्र माना जाता हो।<sup>३</sup> एक अन्य स्थान पर भी एक व्यक्ति पर आक्षेप किया गया है जो इतना कृपण है कि उसमें इस बात की भी आशा नहीं कि वह जब मरेगा तब अपने पितरों के धाड़ादि के लिए कुछ छोड़ जायगा।<sup>४</sup>

धर्मत्वार्थगम्य—धार्मिक विधियों में जिन प्रकार यज्ञादि कृत्य धान्युद्भयिक या मगस्य मान जात थ उमी प्रकार धाड़ादि अमगम्य। धाड़ादि का अनुष्ठान भयवण अनिष्ट-निवारणार्थ क्रिया जाता था आर यज्ञादि या अन्त्युद्भय-कामना से। पितर काग कस्य म पाकर रुष्ट होते हैं भीर अनिष्ट कर मरत है यह नय धाड़ में समाहित हा गया था। इसीलिए, जहाँ यज्ञादि में गमाह परिक्लिप्त हाता था वहाँ धाड़ादि में विषयता का भाव। इसीलिए, यज्ञादि में अधिक पितर दना अच्छा माना जाता था किन्तु धाड़ादि में हर बन्तु पाई-पाई ही जाती थी।

धाड़ के प्रति यहाँकर नय-निमित्त भाव का भाव था कि धाड़ मात्रन के लिए निमित्त ब्राह्मण मात्रन से दत्तकार नहीं कर सकता था। हस्य तथा कस्य के लिए बुझाना निमग्नय कहलाता था धीर उमर प्रयाग्यात या अस्वीकृति में अथम माना जाता था। अन्य अवसरों पर बुझाया जाता आमजन कहा जाता है। आमजन की स्वीकृति या अस्वीकृति आमजन की इच्छा पर तिनर थी।

१ ११४३, पृ० २५७।

२ ५२-८५, पृ० ४०१।

३ ३-२-८०, पृ० २२९।

४ २-३ १७ पृ० ४१९।

५ १४-३२, पृ० १६८।

६. अय धेगमरिप्यति न च पितृभ्यः पूर्वैभ्यो वास्यति।—८ १ ३०, पृ० २८८।

७. ५४-४२ पृ० ४९४

८. ब्राह्मणन सिद्धं भृग्यतामित्युक्तेऽपमं प्रयाग्यातुं आमजनपे काम्वात्।—

३-३ १६१, पृ० ३३५।

## पुष्य-दान

परम्लोक के साधनों में यज्ञयागादि का उल्लेख ऊपर हुआ है। विभिन्न यज्ञ-याग और अग्नि-चयनतोस्वर्ग बन चान्य आयु, ब्रह्म यज्ञ पशु-समृद्धि आदि के साधन माने ही जाते थे, दान और तीर्थयात्रा भी स्वर्ग में सहायक ही समझे जाते थे। इसलिये गोदान बस्त्रदान आदि का बहुत महत्त्व था। योदान की महिमा सर्वविधित है। भाष्य में गोदान-विषयक उल्लेख बार बार मिलते हैं।<sup>१</sup> यज्ञ आद्य तथा मंगल-कार्यों के अन्तर्गत दान देने की प्रथा सामान्य थी। भाष्य में पुत्रजन्म के अवसर पर बस सहस्र तक गार्में दान किये जाने का उल्लेख है।<sup>२</sup> ब्राह्मणों के अति रिक्त मिश्र भी दान क पात्र माने जाते थे। दक्षिणा के योग्य व्यक्ति दक्षिणा या दक्षिणीय कहलाता था।<sup>३</sup> भोजन दान बड़ा पुष्य कृत्य माना जाता था। दूसरों को भोजन कराने से स्वर्ग प्राप्ति मानी जाती थी।

तीर्थयात्रा और तीर्थस्नान भी पुष्यकृत्य माना जाता था। भाष्यकार ने उपस्नात, स्नूक-सिक्त, तूर्णीर्गम, महाहृद और ब्रोज नामक तीर्थों का नाम-ग्रहण किया है। इनको जानेबासे तीर्थयात्री सर्वकर्मपीडा विनिर्मुक्त हो जाते हैं यह धार्मिक मान्यता थी।<sup>४</sup>

## शौचाधीन

शौचकृत्य—आयं आयों की दृष्टि शौच की ओर विशेष थी। इसीलिए, जहाँ शिष्ट या श्रेष्ठ व्यक्ति की चर्चा मिलती है वहाँ उसका साथ शौच विशेषतः प्रायः पाया जाता है। भाष्यकार ने भी ब्राह्मण की विशेषताएँ बतलाते हुए सर्वत्र उसे शुभ्याचार कहा है।<sup>५</sup> शुभ्याचारता ब्राह्मण भी होती है और आन्तर भी। आन्तर शौच तप संयम अनुताबाह आदि द्वारा सम्पादित किया जाता है जिसकी चर्चा यथाप्रसंग हुई है। बाह्य शौच में स्नान दन्तधावन स्नान बस्त्र आदि की सफाई सम्मिलित है। शौच एक युग है जिसकी प्राप्ति के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक माना जाता था। जो उन नियमों का पालन नहीं करता था वह समाज में गुणहीन कहा जाता था। उदाहरणार्थ बँठकर मल-मूत्र करना बँठकर भोजन करना शोचिता का लक्षण था। जो व्यक्ति लड़े-सड़े मूत्र-रयाम करता या धस्त-पकते खाता वह गुणहीन माना जाता था। ब्राह्मणों को तो और भी कड़ाई से शौच के नियमों का पालन करना पड़ता था। सोम और मल का स्पर्श कर स्नान करना आवश्यक था। विशेषतः कटे हुए सोमों और नलों का स्पर्श अशौच का

१ २ ३-१९, पृ० ४५५ तथा ३-३-१२, पृ० २९१।

२ यस्मिन् ब्रह्महृदाणि पुत्रे जाते गर्वा बरी। — १ ४-३, पृ० १३१।

३ ५ १ १९।

४ ३-३-७ पृ० २८०।

५ उपस्नातं स्नूकसिक्तं तूर्णीर्गमम् महाहृदम्।

शौचं वेदवको गर्भुं मारुता ताप्तां कृताहते ॥ — २-२-२९, पृ० ३७९।

६ २-२-६, पृ० ३४०।

७ २-२ ६, पृ० ३४०।

कारण माना जाता था।<sup>१</sup> स्नानानुष्ठेय दैनिक कार्य था।<sup>२</sup> स्नान को लोग अम्युद्यकारी मानते थे, शेषनाशक तो वह है ही।<sup>३</sup> सम्यक स्नानादि क्रिया करनेवाला पुरुष भोगवान् कहा जाता था।<sup>४</sup> बाह्य वस्तुओं के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले अजीब की निवृत्ति के लिए हस्तादि प्रसाधन के अति रिक्त तीन बार आशमन का भी विधान था।<sup>५</sup> दन्तधावन भी शौच का अंग है। प्रातःस्नान से पूर्व दन्तधावन भी सामान्य प्रथा थी।<sup>६</sup>

प्रत्येक पुरुष सधेरे उठकर शौच अन्तधावन स्नानादि गौरीरिच क्रियाएँ पहले करता था और तब उसके बाद अपने मित्रा और सम्बन्धियों के कार्य करता था। इस प्रकार, शरीर मुक्ति को अग्य सब कार्यों में प्राथमिकता प्रदान की गई थी।

अजीब—जन्म और मृत्यु के समय दस दिन तक परिवार में अजीब माना जाता था। इसीलिए पुत्र का नामकरण दस दिन बाद ही करने की प्रथा थी।

रजस्वला-धर्म—रजस्वला स्त्रियों के शौच के विशेष नियम थे जिनका पालन उन्हें प्रति मास तीन दिन तक करना पड़ता था। माप्यपार नेततिरीयसहिता (काण्ड २, प्रपाठक ५, अनु भाक १) से ऐसे कुछ नियमों को उद्धृत किया है। नैति० स० में रजस्वला स्त्रियों के लिए तेरह निर्देश दिये गये हैं। उसके साथ सम्भोग अरुण्य म संगति तथा स्नान के वाद भी उसकी अनिच्छा होने पर उससे यौन सम्बन्ध बहिष्ठ है। रजस्वला को तीन दिन तक स्नान शरीर में अम्यंजन (तेल लगाना) कर्म से ब्राह्म यनाला अमन लगाना दन्तधावन करना नक्ष काटना या चारा काटना, सूत काटना रस्सी बटना पसाघ-ब्राह्म से अन्नवा पकामे हुए पात्र से बरल पीना आदि क्रियाओं से बिरत रहना चाहिए। जो ये क्रियाएँ करती है, उसकी सम्पत्त को उसके शोपो का फल भोगना पड़ता है। उदाहरणार्थ रजःकाल में उपमुक्ता की सम्पत्त अभिसस्त (सन्धिषष्षरिवा या वापशोपयमी) अरुण्यसंगसा की स्तेन पराधी (इच्छा के विरुद्ध संगत्ता) की शर्मिली (ह्रीत मुली) बड़ी बधीर असाहसी (अप्रगल्भ), स्नान करनेवाली की अन्न में डूबकर मरनेवाली, तेल लपानेवाली की बुद्धियाँ या कुण्डी कभी करनेवाली की गत्री और अपमारी (दुर्मरणमुक्त दुर्बल) काबल लगानेवाली की कानी वातुन करनेवाली की कासे बाँटनेवाली नाबून काटनेवाली की कुनरी चारा काटनेवाली या अर्द्धा जमानेवाली की गर्पुंसक रस्सी बटनेवाली की उद्

१ आ० २, पृ० ६६२।

२ आ० २, पृ० ४८।

३ आ० १, पृ० २४।

४ भोववान्यं बाह्यज इत्युच्यते यः सम्यक स्नानादी क्रिया अनुभवति।—

५ ११९, पृ० ३००।

६ विद्वद्यज्ञानामिरिभरद्रव्याभिरुपस्तुनेदित्युपस्पर्जनं शौचावर्गम्।—५ १-८४, पृ० ११८।

१ २-३-६२, पृ० ४४९।

७ १ १-५७, पृ० ३६१।

८ आ० १, पृ० ९।



बन्धु (स्वीरुपाय या फाँसी लगाकर मरनेवाली) श्लोक या पर्वपात्र से पीनेवाली की उम्मादुक (पापस) होती है।<sup>१</sup>

### मक्ष्यामक्ष्य

सुरा—सूत्र-ग्रन्थों के आचार पर पतंजलि ने भी भाष्य में यत्र-तत्र अभिप्रेत और मक्ष्य क विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने सर्वाधिक और सुरा पीने पर दिया है। आप स्तम्बधर्मसूत्र (१-५ १७-२१) में सब मर्षों को अभ्ये कहा है।<sup>२</sup> मनु ने ब्राह्मण राजस्य और वैश्य को तीनों प्रकार की (गौड़ी पैंटी और माष्वी) सुरा का निषेध किया है।<sup>३</sup> विष्णुधर्मसूत्र ने सुरा के 'माभूक ऐश्वर्य टांक कौल चार्जूर, पानस मूठीकारस माष्वीक मीरेय और नारिकेसज ये भेद बतलाते हुए कहा है कि ये सबों प्रकार के मद्य अभिष्य होते हैं। ब्राह्मण को इनका स्पर्श नहीं करना चाहिए। हाँ शत्रिय और वैश्य इन्हें छू ले तो दोष नहीं है। भाष्य ने सूत्रकारों के इस मत को बार-बार दुहराया है। सुरापान और ब्राह्मण-वध दोनों पतंजलि-शास्त्र में महापातक माने जाने लगे थे। सम्भवतः सुरा के प्रति बढ़ती हुई सामाजिक प्रवृत्ति का रोकने के लिए उसे महापातकों में परिगणित कर लिया गया। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है कि सुरा नहीं पीनी चाहिए। सुरापान में महान् दोष बतलाया गया है।<sup>४</sup> वे सुरा के भद्र से सुपरिचित थे। इसीलिए, उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए, सुरा नहीं पीनी चाहिए, इस आदेश के अनुसार एक ही नहीं कोई भी ब्राह्मण नहीं मारा जाता और किसी भी प्रकार की सुरा नहीं पी जाती।<sup>५</sup> वह कहते समय भाष्यकार का तात्पर्य सुरा के समस्त पूर्वोक्त भेदों से है।

स्त्रियों के लिए भी सुरा निषिद्ध थी। विशेषतः ब्राह्मण स्त्रियाँ के लिए कठोर निषेध था। भाष्यकार ने कहा है कि जो ब्राह्मणी सुरापी होती है उस बेवता मृत्यु के बाद पतिलोक को नहीं भे जाते। यह कथन वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुकूल ही नहीं अपितु उसने सूत्र का एक भाग है।

१ या द्रव्येण विवर्तित तस्य सर्वास्तिप्री रात्रिः । यस्ततो जायते सोऽग्निस्ततो यामरभ्ये तस्य स्तेनो यां परार्थी तस्य ह्यौतमुष्यप्रगस्तो या स्नाति तस्या बन्धु मास्को याऽभ्यङ्गते तस्य शुभर्मा या प्रसिस्तते तस्य ज्ञानतिरपमारी पंक्ति तस्ये काशो या दतोपावते तस्ये ह्यावदन्ता नजानि निङ्गन्ते तस्ये कुनप्री या शुभति तस्ये मनीषो धारज्जुं सृजति तस्या बद्धग्युको या पर्वेन विवर्ति तस्या उम्मादुको जायते ।—२-३ ६२, पृ० ४४९।

२ सर्वामद्यमपेयम् ।

३ सुरा वै मत्तमस्रतां पाप्मा च मत्तमुष्यते ।—मनु० ११-९३, ९४।

४ माभूकर्मसर्वं टाङ्गं कौलं चार्जूरपाणसे ।

मूठीकारसमाष्वीके मीरेयं नारिकेसजम् ।

अभेभ्यानि ब्रवीतानि स्पृष्टवैतानि न दुष्यति ॥ —विष्णु ध० सू०, २२-८३, ८४।

५ १-८४, पृ० ११८।

६ १-२ ६४, पृ० ५८०।

७ ३-२-८, पृ० २१०।

इसी सूत्र में बसिष्ठ ने आगे कहा है कि एसी स्त्री इसी लोक में भूमता रह जाती है और क्षीणपुण्या होकर पानी में जोंक या घीवी (घीट) बनती है।<sup>१</sup>

सुरापान के सम्बन्ध में पतंजलि का दृष्टिकोण अन्यत्र कठोर था। यहाँ तक कि बिना पाने भूम से भी सुरा पी लेनवाला उनका दृष्टि में पतित था।<sup>२</sup>

सुरा कबल सौत्रामणि यत्र न विहिते। माप्यकार ने भ्राजसाक के नाम से पूर्व-वसी का कथन उपस्थित किया है—उत्सुम्ब बभ की अनेक सुरा-भरा घनी पी जान पर भी यदि कोई स्वग नहीं जाता तो ऋगु में बाङ्गा-सी पीने से स्वग कैसे आ सकता है।<sup>३</sup> यह कथन हम बात का प्रमाण है कि श्रोत्रिय लोग यत्र न सुरा पीना अपेक्षक मानते थे। मनु ने भी इस बात की पुष्टि की है।

पलाण्डु—पलाण्डु का सभी धर्मसूत्रकारों में महत्त्व माना है। बसिष्ठ न (१४ ३३) उसके महत्त्व का प्रायश्चित्त अतिदृष्टान्त द्वारा बतलाया है। माप्यकार ने पलाण्डुमन्त्रिणी का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो उत्सव प्रति भूगा का परिचायक है।<sup>४</sup> वृषभ साग पलाण्डु का मक्षण करत था। कोई-कोई सुरा पी पीने था। किन्तु पलाण्डु के साथ सुरापान सामान्य वृषभ तक नहीं करत था। धार वृषभ ही एसा करत था और ममात्र में नाचा दृष्टि से बड़े जाते थे।<sup>५</sup> सुरापानी बुधदी व्यक्ति सुरा से कभी तृप्त नहीं होता इस कारण मा सुरा हेय मानो जाती थी।

मांस—मांस-भक्षण का प्रचार था किन्तु ग्राम्यकुक्कुट और ग्राम्यगूकर अनहय था। बसिष्ठ धर्मशास्त्र में भी द्वावित् ग्राम्यक घसरा कृच्छ्रय और गाथा में पाँच पञ्चनख प्राणी मह्य बतलाये गये हैं। साग और ग्राम्यगूकर के विषय में मानभेद था और ग्राम्यकुक्कुट बसिष्ठ न भी मत से सामान्यतया अनहय माना जाता था। बाल्मीकीय उपायण ने भी इन कथन की पुष्टि की है।<sup>६</sup> माप्यकार का पञ्च पञ्चनखा मक्ष्या और 'अमक्ष्या ग्राम्यकुक्कुट मक्ष्यो ग्राम्यगूकरः कथन सूत्रग्रन्थो क यनुकूल ही है और रामायण का उद्धरण-मात्र है।<sup>७</sup>

१ याज्ञाङ्गीय सुरापानी भवति न तां देवाः पतितोके नयन्ती इहेव साधरति क्षीणपुण्यासु कुम्भवति धुरितका वा।—वासि० ध० शा० २१ ११।

२ आ० १, पृ० ५।

३ वही।

४ सौत्रामण्यां तथा मर्षं ध्रुवीं मह्यमुदाहृतम्।—मनु० ५-५०।

५ २-२-३६, पृ० ३९२।

६ वृषभस्योऽग्रम्—अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिबेत्।—५ ३-३६, पृ० ४६०।

७ २-२-२९, पृ० ३७९।

८ वासि० ध० शा० १४-३९, ४७, ४८।

९ पञ्च पञ्चनखा मक्ष्या इत्युक्तेषु राषयः।

सस्यकाः द्वाविधा पोषाः दद्यात् कर्मदत्त पञ्चनखा—द्विष्टि० का० १७-३९।

१० आ० १, पृ० ११।

पशियों में छाज्ज का मांस अमम्य था। माप्यकार ने पञ्चाण्डुमक्षिती और छाज्जबन्धी का उल्लेख तिन्दा-घोटन के लिए किया है।<sup>१</sup> सूत्र (६३४२ बा० ३) के माप्य में निर्दिष्ट 'मूय्या-धीरम्' भी अपेय था। आपस्तम्ब (१-५ १७-२३) में उष्ट्री, मृगी सन्धिनी (गमिणी गी) और ममसू (शो बच्चे बननेवासी) का दुग्ध अपेय कहा है।

कृष्यधान्य—धातु मे कृष्यधान्य का प्रयोग वर्जित था।<sup>२</sup> माप्य में कहा है कि माप नहीं खाने चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि माप किसी बूखे बस के साथ भी मिलाकर नहीं खाने जाते।<sup>३</sup> विशेष शर्तों में रुचन नहीं खाना जाता था। माप्य का अक्षयनमात्री बाह्यज इसका घाली है। आपस्तम्ब में मांस मधु और सपन तीनों धातु में अमम्य कहे जाते हैं।<sup>४</sup>

निषिद्ध भोजन—भोजन किसका बनाया न खाना जाय और किसके साथ न खाना जाय, इस विषय में धातु के समान कहे नियम नहीं थे। आपस्तम्ब ने आर्षों (तीन वर्णों) को बौद्धदेव अन्न का संस्कर्ता (पाचक) कहा है, किन्तु उसके मत से आर्यानिष्ठित क्षुद्र भो रसोदया हो सकता है।<sup>५</sup> अपपात्रों का अन्न अमम्य वर्जित था। आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त ने रजकादि प्रतिशोर्मों को अपपात्र माना है। इन शोर्गा को निर्वर्ण अपने पात्रों में भोजन नहीं करने देते थे। माप्यकार ने इन्हें निरवसित और अतिरवसित इन दो भागों में विभक्त किया है। अनिरवसित वेध, जिनके साथ भोजन ता नहीं किया जाता था किन्तु जिन्हें पात्रों में भोजन कराया जा सकता था। निरवसितों का सवर्णों द्वारा अपन पात्र में भोजन नहीं दिया जाता था क्योंकि उनके खाने पर पाच अग्नि-संस्कार से भी शुद्ध नहीं माना जाता था।<sup>६</sup> वे निरवसित चण्डाल मूतप आदि थे।

कमण्डूत सबर्णों के साथ भी कभी-कभी भोजन निषिद्ध मान लिया जाता था। यह एक प्रकार का सामाजिक बहिष्कार था। माप्य में पणकुष्ठ को इस प्रकार बहिष्कृत बताया है।<sup>७</sup>

महामारय नियमन का उद्देश्य वैसे कि काल्पोप्योपनिषद् में कहा है सत्त्वशुद्धि था।<sup>८</sup> एतदर्थं सुरा सद्रुत पञ्चाण्डु, गुञ्ज और मासादि मुख्यतया अमम्य ठहराये गये थे।<sup>९</sup>

१ २-२ ३६, पृ० ३९२।

२ कृष्य धान्यं शूद्रास्य ये चाप्येनाभ्यसंमतः।—भाष० प० सू० २-८ १८-२।

३ १ १-५१, पृ० ३१८।

४ ३ १ १, पृ० २३२।

५ भाष० प० सू० १-५ १७-१५।

६ आर्याः प्रथमा षड्वेदेभ्यः संस्कर्ताः त्सु।—२-२ ३-१ तथा ५।

७ भाष० प० सू० १ १ ३-२५ तथा १-५ १६ ३०।

८ २ ४ १० पृ० ४६५।

९ ८ ४ २ पृ० ४७४।

१० माहाराष्ट्री सत्त्वशुद्धिः।—छान्दो० ७-२६-२।

११ धी० २३ १ पर हरदत्त द्वारा उद्धृत शाल

मानवेतर योनियाँ

मानवेतर योनियों में भाष्यकार ने असुर, स्नेच्छ रक्षस् पिशाच भूत का भी उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया है। इनमें असुर देव-विरोधी के रूप में चित्रित हुए हैं। वे यज्ञ करते थे। किन्तु, सुदृष्ट उच्छ्वासा नहीं कर पाते थे। इन्द्रधनु बृह नामक असुर तो यज्ञ में अशुद्ध स्वर बोलने के कारण नष्ट हो गया।<sup>१</sup> भाष्यकार ने यज्ञ में प्रपन्नापण के कारण अन्य असुरों का भी परामृष्ट होना बतलाया है।<sup>२</sup> उन्हीं ने कहा है कि ब्याकरण के म जानने से कार्य स्नेच्छ हो जाते हैं।<sup>३</sup> तब क्या य असुर और स्नेच्छ एक ही थे। पाणिनि ने पर्वाधिगण में असुर शब्द का परिगणन किया है। रक्षस् शब्द भी इसी गण में पठित है। असुर और रक्षस् आधुनिकीयो संघ दे<sup>४</sup> यो भाष्यविरोधी अथवा अपेक्षाकृत कम संस्कृत थे। भाष्यकार म इन आधुनिकीयो वर्गों की स्त्री को रक्षस् और अमुरी कहा है।<sup>५</sup> सम्भवत पीरे-पीरे भावों और असुरों का विरोध अधिक बढ़ गया। वे कार्य देवों का विरोध करने लगे और देवविरोधी माने जाने लगे और काशिका काळ तक आते आते वे अननुप्य योनियों में गिन भिन्ने गये और प्रेतयोनि के समकक्ष जा गये।

ऋग्वेद में (२ ३० ४ तथा ७-११-५) असुर शब्द का प्रयोग देव धातु बरण आदि दिग्भ यनों में भी मिलता है यद्यपि ऋग्वे० (८ १६ ९) में देवविरोधी क रूप में असुर शब्द बार बार आया है।

राक्स असुर से भिन्न है। भाष्यकार ने आधुनिकीयो श्रम के अनिश्चित अर्थ में भी रक्षस् शब्द का उल्लेख किया है। य रक्षस् या राक्स नृपता (मनुष्या की ताक में बैठनेवाले) होते थे।<sup>६</sup> उनका असुरों से साहचर्य सम्भव था। देव इनके विरोधी थे। भाष्य में देवासुर का विरोधी और रक्षोत्तर का मनुषिक के रूप में उल्लेख है<sup>७</sup> और रक्षोभ्य का भी। रक्षाभ्य से भाष्यकार का संकेत किस ओर है यह उन्हीं स्पष्ट नहीं किया है। काशिकाकार ने 'द्वितीये बालुपाक्ये' (१ ३-८०) सुष की व्याख्या में अनुपाक्य को अनुमेय मा अप्रवक्षसाम्य का पर्वण मानकर उसका उदाहरण तपिष्वाभा बाराका मोर सरासती का शाका दिया है। इससे स्पष्ट है कि वे पिशाच और राक्षसऐसी योनियों को मानते थे जो प्रवक्षस नहीं दिखाई देती किन्तु जिनका अस्तित्व है। काशिका

- १ तेजसुरा हेतुयोहेतुम इति कुर्वन्तः पराचमन्तु ।—आ० १ ५० ४।
- २ आ० १, ५० ४।
- ३ आ० १ ५० २५।
- ४ आ० १, ५० ४।
- ५ ५ ३ ११७।
- ६ ४-१ १७७ ५० १६५।
- ७ अननुप्यसम्भो कश्चिज्येन रक्ष पिशाचादिव्येन वर्तते।
- ८ २ ४-५४ ५० ४९०।
- ९ ४-३-१२५ ५० २५३।
- १० ५ ४ ३६ ५० ४९३।

तो चतुर्वेदी को ही दिखाई देनेवाले राक्षस का भी उल्लेख किया है।<sup>१</sup> पिशाच शब्द 'युञ्जन्वचन इष्टानादिभ्यः कर्मणि च' (५ १ १२४) के बाह्यबाधियम में भी पठित है। पाणिनि के अर्धर्षी सि च' (२ ४ ३१) सूत्र के अर्धर्षीयम में भूय और पिशाच को पर्यायवाची माना है और स अर्ष में भूत शब्द को उभयार्थिण कहा है। पाणिनि ने 'मायामामप्' (४ ४ १२४) सूत्र से असुर की माया इस अर्थ में अण् प्रत्यय का विधान किया है, जिससे आसुरी माया प्रयोग निर्व्यग्र होता है। उनके अनुसार असुर की अपनी वस्तु असुर्यं (४ ४ १२३) कहलाती है। पाणिनि ने सस्य और यातुओं को मारनेवाली तन् (घरौर) को रक्षस्या और यातम्या कहा है (४ ४ १२१)। आप्यकार ने क्रुमेर को पिशाचकी कहा है।<sup>२</sup> पिशाच शब्द से मत्स्य में उसकी व्युत्पत्ति गनी है।

पाणिनि और कामन जयादित्य दोनों में इस विषय में मतभेद है कि असुर, यातुरक्षस या राक्षस पिशाच और भूत ये सब मायावी देव-मानवविरोधी दिखाई न देनेवाले समा अति-टकारी यानि-विशेष के बीच हैं। पतंजलि ने एतद्विषयक पाणिनि-सूत्रों पर अपना स्वतन्त्र मत गही प्रकट किया है, जो इस बात का सातक है कि वे सूत्रकार से पूर्णतः सहमत थे। फिर भी, उन्होंने असुर, रक्षस पिशाचदि का अनेक बार उक्त अर्थों में ही उल्लेख किया है और वे निश्चय ही प्रेत शक्ति में बिरवास रखते थे।

### निमित्त-नमित्तिक

संयोग-उत्पत्त—पतंजलि शकून या निमित्त पर विश्वास रखते थे। 'तस्य निमित्तं संयोग-उत्पत्ता' (५ १ १८) की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है। उन्होंने संयोग और उत्पत्त का भेद बतलाते हुए कहा है 'अमुक काम करने पर अमुक फल की प्राप्ति होती है यह संयोग है। यदि गुरु से मिलकर ब्रह्मबर्षस् की प्राप्ति हुई, तो गुरु का बहू साक्षात्कार ब्रह्मबर्षस्य समाग कहलायगा। वनपति से मिलकर ही स्वर्ग की प्राप्ति हुई तो वनपति का मिलना वस्य संयोग कहा जायगा। प्राणिया का क्षुमाशुभशूचक महामूर्तों का परिणाम (परि वत्तम) उत्पत्त कहलाता है। अथ किसी प्रसंग में किसी जीव का अचानक फट पड़ना या लुप्त हो जाना अनुम का ओर भङ्गमात् पथ दिखाई देना या नायवेत्ति का सामने पड़ जाना ये बातें वृम की वस्तु हैं। इसे उत्पत्त कहते हैं। इस प्रकार, उत्पत्त शब्द शकून का पर्याय हुआ।<sup>३</sup> पथ और नायवेत्ति के समान दधि-शोथन नौ अर्धेन्द्र का निमित्त माना जाता था। आप्यकार ने उसे अर्धेन्द्रि का प्रारम्भ कहा है।

१ ४-२-१२ काशिका।

२ ५ २-१२९, पृ० ४२२।

३ संयोगोत्पत्तयोः को ज्ञेयः? संयोगो नाम स भपतीर्ह हृत्वेदमवाप्यत इति। उत्पत्तो नाम स भवति यादुच्छित्तो भेदो वा छेदो वा पथं वा पथं वा।—५ १ १८, पृ० ३३२।

४ ६-४-१६१ पृ० ४९६।

यह सब अनुभव पर आश्रित था। प्राकृतिक उत्पात की सूचना पूर्व कक्षों से प्राप्त कर ली जाती थी। उदाहरणार्थ पीछी विद्युत् का चमकना तेज वायु चलने का अत्यन्त खोदित रूप की विद्युत् का चमकना तेज आतप का, पीछी का चमकना अच्छी उपज का और सफेद विद्युत् का चमकना दुर्मिष्ठ का निमित्त माना जाता था।<sup>१</sup>

शकुन-कक्षय—जिस प्रकार बधि आग्नि शुभाशुभ के निमित्त माने जाते थे उसी प्रकार कुछ भांगिक कक्षय या चिह्न भी। अंगों से मनुष्य की प्रकृति भाव्य और भविष्य का अध्ययन पतंजलि-काल में इतना समुन्नत हो चुका था कि अंगविद्या के नाम से अध्ययन की एक स्वतन्त्र शाखा प्रतिष्ठित हो गई थी जिसमें निम्नात व्यक्ति आंगविद्य कहलाता था।<sup>२</sup> पाणिनि ने 'कक्षणे जायापरपाठक' और 'अमनुष्यकक्षुके च' (३-२-५२, ५३) सूत्रों में अंग के इन चिह्नों को जो किसी विशेष बात के निमित्त माने जाते थे 'कक्षय' कहा है। किन्तु, वे कक्षय 'अमनुष्यकक्षुके' होने चाहिए। इन कक्षयों में निम्नात व्यक्ति आंगविद्य कहलाता था।<sup>३</sup> साक्षयिक का क्षेत्र व्यापक था और मनुष्य के अतिरिक्त गो अश्व आदि भी उसकी ज्ञान-परिधि के अन्तर्गत थे। पतंजलि ने अंग-कक्षय का उदाहरण देते हुए विशेष तिस्रकालक (तिरक या मत्स) को जायाप्त और विशेष पाणिनेया को पतिष्ठी बतलाया है। यद्यपि उन्होंने यह निर्देश नहीं किया है कि जिस स्थान का और कौन-सा तिस्रकालक जायाप्त होता है और कौन-सी हस्तरेखा पतिष्ठी तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि तिस्रों मत्स्रों और हस्तरेखाओं का अध्ययन अंगविद्या का अंग था और साक्षयिक उनसे आभास पर बहुत-सी बातें बतलाया करते थे। पाणिनि का 'एवीक्ष्यो-र्यस्य विप्रत्न' (१४ ३९) सूत्र भी इस बात का सूचक है कि लोग शुभाशुभ पूछने के लिए नैमित्तकों या शकुनकों के पास जाते थे और वे विचारपूर्वक उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे।<sup>४</sup>

मंगल

अशुभ के निवारण के लिए बहुत-से उपाय काम में लाये जाते थे। अन्धकर्ता विष्णु-निवारण के लिए अन्ध क जाति में नैपस्यगृहक शय्यों का प्रयोग करते थे या मंगलार्थ किसी देवता की स्तुति करते थे। उनका विद्वान् था जिन अन्धों के प्रारम्भ में मंगल किया जाता है,<sup>५</sup> वे अधिक प्रसिद्ध होते हैं। उनके पढ़नेवाले भीर वायुष्मान् और सफलमनोरथ होते हैं। सिद्ध बुद्धि अन्न आदि शब्द मंगलसूचक माने जाते थे। इसीलिए, पाणिनि ने बुद्धि वासिष्कार म् सिद्ध और पतंजलि ने अन्न शब्द का प्रयोग अपने अन्ध के प्रारम्भ में किया है।

१ वाताय कपिला विद्युत्तपस्यासिद्धिनी।  
 पीता चवद्वि सत्याय दुर्मिज्ञाय सिताभवेत् ॥—३-३-१३, पृ० ४१७।  
 २ ४-२-५० पृ० १८७।  
 ३ वही।  
 ४ जायाप्ततिस्रकालक, पतिष्ठी पाणिनेया।—३-२-५२, पृ० २१८।  
 ५ १४ ३९ काशिका।  
 ६ भा० १, पृ० १५।

काय के प्रारम्भ में स्वस्तिवाचन की प्रथा थी। काय की समाप्ति शान्तिवाचन से होती थी। दिन में मध्य में कोई विषय उपस्थित न हो इसविधि पृथ्याहवाचन कराये या किये जाते थे।<sup>१</sup> नवीन कार्यों के पूर्व और अन्त में घूम अनुष्ठान किये जाते थे। उदाहरणार्थ गेह-प्रवेश और प्रासादारोहण के साथ वेहानुप्रवेशनीय और प्रासादारोहणीय विधि की प्रथा थी।<sup>२</sup> इसी प्रकार, वेदाध्ययन की समाप्ति पर छन्द-समापनीय विधि की जाती है।<sup>३</sup> प्रत्येक विधि में सामान्य यज्ञ सम्मिलित रहता था। विधि के अन्त में प्रायः ब्रह्मीयन या प्रह्वामोज कराया जाता था, जिसे अनुप्रवेशनीय विधि कहते थे।

कुछ दिन भी श्रेष्ठ माने जाते थे। ममस-कार्यों का प्रारम्भ ऐसे ही दिनों में किया जाता था।<sup>४</sup>

### अभिवादन

अभ्युत्थान—अपने से बड़ों को अभिवादन करने की प्रथा थी। छोटे भाग बड़ों का प्रणाम करते थे। माप्यकार ने कहा है कि बड़ों को भाते वेसकर छोटी माप्यवालों की साँस और से अर चसने लगती है और अभ्युत्थान तथा अभिवादन के बाद वह फिर स्वस्वता को प्राप्त होती है।<sup>५</sup> अपने से बड़ी आयु के व्यक्ति के आने पर उठकर सड़ा हो जाना चाहिए। शास्त्र में यद्यपि पूर्ववया ब्राह्मण के लिए प्रत्युत्थान का विधान है किन्तु प्रत्येक बड़ी माप्यवासे के लिए प्रत्युत्थान किया जाता था ब्राह्मण-मात्र को ही नहीं। सड़े होने की इस विधि को माप्यकार ने प्रत्युत्थान कहा है। प्रत्युत्थान बुध माना गया है और अप्रत्युत्थान शोष। माप्यकार ने यह बात धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठित मर्यादा के आधार पर कही है। मापस्तम्बीय धर्मसूत्र में समान धाम में रहनेवाले बृद्धतर छोटा को प्राप्त काल प्रातराद्य से पूर्व अभिवादन करने का निर्देश है।<sup>६</sup>

१ ५११११ पृ० ३४५।

२ वही।

३ ५१११२ पृ० ३४६।

४ ५११११, पृ० ३४५।

५ २-४ ३०, पृ० ४०६।

६ ऊर्ध्व प्राजाह्य त्कामन्ति पुनः स्वभिर मायति।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।।—६ १-८४, पृ० ११८।

७ ६ १-८४ पृ० ११७।

८ पूर्ववया ब्राह्मण प्रत्युत्थेय इति पूर्ववयसोऽप्रत्युत्थाने शोष उक्त प्रत्युत्थाने च पुनः।— वही।

९ सप्तमप्रामे च बसतामन्येषामपि बृद्धतराणां प्राश्रातरागाल्।—भाष० ध० सू०, १-२५ १३।

प्रत्यभिचार—अभिवादन 'अमुकनामाऽहमभिवाद्य मो' कहकर किया जाता था और प्रत्याभिचार 'मो आयुष्मानेभि दक्षदत्त' आदि कहकर किया जाता था। अभिवादन क नियम निरिषत थे। प्रत्यभिचार म जो वाक्य बोला जाता था उसक अन्तिम शब्द को टि का प्लुत उदात्त उच्चारण किया जाता था। उदाहरणार्थ अर क वाक्य में 'दक्षदत्त' का अन्तिम स्वर प्लुत उदात्त रहता था।

स्त्री और शूद्र—इस नियम क कुछ अपवाद थे। स्त्री शूद्र तथा मयूयक को दिया गया माधी बाँध या प्रत्याभिचार को टि प्लुत नहीं रहती थी। उदाहरणार्थ आयुष्मनी 'मम गांगि' में अन्तिम स्वर प्लुत नहीं होता था। शूद्र के अभिवादन का उत्तर उनकी कुशाक पूछकर ही दिया जाता था। यथा 'कुशस्यमि तुयवक' इसमें भी टि भाग प्लुत नहीं रहता था। अयूया या अश्विनय-मन्वन्त क साक्ष किये पय प्रत्याभिचार का उत्तर भी प्लुत-विहीन दिया जाता था। क्षत्रिय और वैश्य के अभिवादन क उत्तर में अन्तिम माप का प्लुत करना या न करना प्रत्याभिचारक की इच्छा पर निर्भर था। कुछ लोगों का मत था कि अभिवादन का अपना नाम छकर अभिवादन करना चाहिए, किन्तु उत्तर देनेवाले का आभीचार देते समय अभिवादनक का नाम न लेकर उसके स्थान पर 'मः' ही कहना चाहिए। इनके अनुसार अभिवादन मन्वन्त दक्षदत्तऽह मा का उत्तर आयुष्मानेभि मोः कहकर देना चाहिए।<sup>१</sup>

त्रिष्यों का अभिवादन करते समय इस औपचारिक पद्धति को आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वे उनका औपचारिक उत्तर नहीं दे पाता थी। आपस्तम्बानि ने परदेश स लौटन पर अभिवादन का जो विधान किया है, वह दैनिक अभिवादन स अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।<sup>२</sup> उस समय भी स्त्रियों स 'ब्रह्माहर्ष' भा (यह मैं आ गया) कह देना मन्वन्त क अचर माना जाता था। यही प्रथा अन्य अधिष्ठित जनो के लिए भी थी।<sup>३</sup>

कुदास-प्रश्न—प्राग्नि ने अभिवादन क उत्तर म माधीर्वादि पानेवाके व्यक्ति क लिए शत्रुर्षी विमक्ति का विधान किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि बड़े कामों में प्रणाम क उत्तर में छोटों को आयुष्म मद्र मद्र कुदास मुञ्च कस्याग हित भारि का माधीर्वादि करने की प्रथा थी। आयत या अतिथि-जनो स कुशाक समाचार क समाज ही उनकी मुञ्च-मुषिषा पूछन की प्रथा भी अभिवादन जैसे उपचार के ही अन्तर्गत है। आपने अच्छी तरह स्नान तो कर लिया? आपकी राशि तो मुञ्च स बीती? आपको नीव तो अच्छी तरह आई? आरमन्तो की इस प्रकार की चिन्ता रखना सामान्य उपचार था। प्रश्न करनेवालों के लिए सौस्नातिक सौख्यधिक, सौख्य सायिक ज्ञादि शब्द निरिषत थे जो इस बात के सूचक हैं कि इस तरह के कुशाक-प्रश्नों की औपचारिक सम्वादाकी का सर्व-सामान्य रूप भी निरिषत था।<sup>४</sup>

१ ८ २-८३, पृ० ३८७ ८८।  
 २ प्रौष्य क समागमे।—आप० १ २-५ १४।  
 ३ आ० १, पृ० ६।  
 ४ २-३-७३।  
 ५ ४-४ १ पृ० २७३।



## आतिथ्य

अतिथि-पूजा—अतिथि-पूजन प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक पंच महायज्ञों में एक माना जाता था। अतिथि की सेवा को आतिथ्य कहते थे।<sup>१</sup> जिसके घर अतिथि जाता था वह आतिथेय कहलाता था।<sup>२</sup> अतिथि परिवार-विधेय के भी होते थे और सम्पूर्ण ग्राम के भी। आयत विद्वत्समाज या सन्त-समूह सारे गाँव का समुक्त रूप से अतिथि होता था। इसी बात को दृष्टि में रखकर भाष्यकार ने ग्राम के लिए 'आगतअतिथि' विशेषण का प्रयोग किया है।<sup>३</sup>

आये हुए अतिथि को र के भीतर ठहराया जाता था। इसीलिए, उसे 'पुरोधस' कहते थे। मात ही उस पाँच होने के लिए जल दिया जाता था वा पाघ होता था। उसे पीने के लिए दिये जानेवाले जल की सजा अर्घ्य थी।<sup>४</sup> मधुपर्क से उसका सत्कार किया जाता था।<sup>५</sup> पञ्चाश्रिण्य में पठित मधुपर्क अर्घ्य उक्त शब्द अतिथि-सत्कार से ही सम्बन्ध है। सत्कार की इस क्रिया का नाम आतिथ्य है, जिसका उत्त्प्रेक्ष भाष्य में अनेक बार हुआ है। आतिथ्य और सत्कार में अन्तर है। सत्कार सभी का ही सत्ता है, आतिथ्य केवल बिना पूर्वभूचना के आये हुए लोगों का होता है। भाष्य में सत्कार और असत्कार की भी चर्चा है।

आतिथ्य-विधि—आतिथ्य का स्वरूप अतिथि की याग्यता पर निर्भर रहता था। किसी अतिथि को मांस-मात खाने को दिया जाता था तो किसी को मटर की दाढ़। कोई स्वतः लभ का अतिथिकारी माना जाता था तो कोई सामान्य भोजन-यान का।<sup>६</sup> किसी-किसी अतिथि को समांस मधुपर्क दिया जाता था। समांस मधुपर्क के अधिकारी श्राद्धिय वा ऋत्विक् ही प्रायः होते थे। इनके जाने पर विशेष रूप से नाय या बैस का बंध किया जाता था और उसके मांस का भोजन उन्हें दिया जाता था। इसीलिए, वे अतिथि योज्य कहलाते थे।<sup>७</sup> इस परम्परा का निर्वाह सदा किया ही जाता ही यह आवश्यक नहीं था फिर भी स्वागताज पो-हृतन के अधिकारी होने के कारण श्राद्धिय गोप्य कहे जाते थे। गोप्य शब्द का अर्थ स्पष्ट कथ्ये हुए श्राद्धिकाकार के भी इस बात का पुष्टि की है।<sup>८</sup>

१ ५४-२६।

२ वही।

३ २-२-२४, पृ० ३६६।

४ ३२ ६१ पृ० २२५।

५ ५४-२५।

६ ५१ ६६।

७. यत आतिथ्यमानुजुजोयत्।—७-३-८७ पृ० २१२।

८. १४-६३ पृ० १९५।

९. ५१ १९, पृ० ३०९, १०।

१० ३४-७३।

११ आगताय तस्म शानुं पां धनमीति गोप्योऽतिथिः। निपातनसामर्थ्यविध गोप्य ऋत्विगादिदृश्यते। अतएवपि च गोहृतने तस्य योग्यतया गोप्य इत्यभिधीयते।—३-४-७३ का०।

शास्त्रन भोग पापम (वीर) में अधिक दक्षि रणते प। उनक मातिस्य में पापय का उनयो  
हारा होगा।<sup>१</sup>

अतिवि की बिहाई—अतिवि को बिहाई भी मन्कारपूर्वक का जाती थी। बिना हान-  
वाने व्यक्ति का प्रामवत क मन्त्र में या प्राममग्नि प्राममग्म अथवा माग में जहाँ भी उक्त हो  
बहुतक भजने जाने की प्रथा थी। यन् अतिवि या विरा होनेवाला व्यक्ति विघ्न पूज  
अथवा त्रिप हुमा ता उम द्वितीय या तृतीय बनाम या उन्कास्त तत्र भेजने जाते थे।<sup>१</sup>

### व्रत-उपवास

व्रत और वीसा—नाम में व्रत शब्द का प्रयोग नियम के अर्थ में हुआ है। काणिकाकार  
उप और स्पष्ट करने हुए कहते हैं कि शास्त्रपूर्वक नियम का नाम व्रत है।<sup>१</sup> पानिनि ने शक  
नियम का व्रत माना है।<sup>२</sup> शास्त्रों में विद्येय आश्रमा में अथवा विद्येय अथवा पर निम्न-निम्न  
व्रतों का प्रावधान किया है। उदाहरणार्थ मीर व्रत तृतीय और अनुब आश्रमों में तथा यमादि  
वीसा के व्रतों में विहित है। व्रत रूप में मीर व्रत करनेवाले आश्रम तथा अन्य किसी कारण म  
म बाधनवाले आश्रम बड़े जाते थे।<sup>३</sup> भूमि पर मोला घाट-आशन न करना लवन-मोहन<sup>४</sup>  
का परिष्कार और ब्रह्मचर्य ये सामान्य व्रत थे जिनका पालन शक्ति व्यक्ति का गुणानुष्ठान क  
अवसर पर करता पड़ता था। य नियम कामचार पर नियन्त्रण करने की दृष्टि से निश्चित किये  
गये थे। उदाहरणार्थ मन्त्रा विद्यमान होने पर भी भूमि पर माना व्रत का अर्थ माना जा सकता  
था अन्यथा नहीं। इस प्रकार, मोहन होने पर भी अथाह हा लाना व्रत के अन्तर्गत था।  
माप्यकार ने अथाहमात्री का अर्थ घाट का न खानेवाला बताया है। घाट खानेवाला नहीं  
क्योंकि एसा मानने पर अथाह न खाने की स्थिति में व्रतमय होने लगेगा। य नियम पुण्य और  
स्त्री वर्तों क विषय। मन्त्र में यजमान क साथ उसकी पत्नी का भी इन नियमों का पालन करना  
पड़ता था। माप्य में स्पष्टिलगायी क साथ स्पष्टिलगायिनी का भी उल्लेख मिलता है।<sup>५</sup> आ

१ ६-२ १६, का०।

२ १४-५६, पृ० १८७ ८८।

३ व्रत इति शास्त्रयो नियम उच्यन्ते आश्रम्य आस्ते। व्रत इति किम्? चाग्यामः।—

३-२-४०, का०।

४ ३-२-४०।

५ वही।

६ कामचाप्याप्ली नियम-सति शयने स्पष्टिल एव दोते नाम्यथ। सति योजने अथाह  
मेव भुङ्क्ते न अथाहमिति स्पष्टिलगायी अथाहमात्री।—३-२ ४० का०।

७ वही पृ० २२९।

८ यथा सावथाह न भुङ्क्ते तदास्य व्रतलोपः स्यात्।—३-२-४०, पृ० २२९।

९ ४ १ १ पृ० १०।

ग मम त्याग कर केवल बल या वायु पर जीवन-यापन करने का इत से सेते वे वे ब्रह्मस और युमस कहसते वे।<sup>१</sup>

उपवास—उपवास भी व्रत का अंग था। माप्य में विराज उपवास का उल्लेख है।<sup>१</sup> उपास में सब प्रकार का मोहन बर्जित था। कमी-कमी मोहन किसी विधेय पशाय तक सीमित र दिया जाता था। यज्ञादि प्रसंगों में ब्राह्मण यजमान केवल पय क्षमिय केवल यमामु और स्य केवल मामिसा ग्रहन करता था।<sup>१</sup>

## शिष्टाचार

शिष्ट—माप्यकार ने शिष्टों और उनके आचार के प्रति बहुत अदार-भाव व्यक्त किया। शिष्ट शब्द का प्रयोग माप्य में दो अर्थों में हुआ है—सम्मत तथा शास्त्र-विहित कार्य। पुस्तक शिष्ट किम्ह कहते हैं? यह प्रश्न कर स्वयं ही इसका उत्तर दिया भी है। उन्होंने पहले ब्रह्मकारणों ने शिष्ट बतलाया क्योंकि शिष्ट शास्त्र से हो सकती है और ब्रह्मकारण शास्त्रज्ञ होते हैं। किन्तु, से स्वीकार करने में इतरेतराभय दोष आ सकता है क्योंकि शास्त्र द्वारा शिष्ट होती है और शिष्ट होने पर ही शास्त्र ज्ञान हो सकता है। इसलिए, उन्होंने शिष्ट की दो विधेयताएँ स्वीकार की—निवास और आचार। शिष्ट होने के लिए जो आचार चाहिए वह आर्यावर्त में ही सुसम। इसलिए, आर्यावर्त में रहनेवाले वे ब्राह्मण जो १ कुम्भीषाण्य २ अमोक्ष्य ३ इन्द्रियवशी और ४ बाइ बहुत अन्तर में किसी-न किसी विद्या में पारंगत हैं शिष्ट माने जाते हैं।

शिष्ट और विहित—शिष्ट शब्द का दूसरा प्रयोग शास्त्र-विहित किया के अर्थ में हुआ।<sup>१</sup> इस तरह शिष्टाचार इन्द्रियवशी ब्राह्मणों का आचरण या शास्त्रानुमोदित इत्य कहलाता था। प्यबहारत दोनों में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि शिष्ट सग शास्त्रानुक्रम ही आचरण करते थे। वही उचित और अनुचित शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के आचरण की सुविधा हो वही अनुचित और अशुद्ध का निर्बलन करना शास्त्र का कर्तव्य माना गया है।<sup>१</sup> शिष्ट के आचरण में अनुचित के लिए ब्रह्मस ही नहीं होता। इसलिए, पुस्तक ने शिष्टों के द्वारा स्पष्टतः शिष्टों को बिना किसी विचार के स्वीकार्य माना है। उनके मत से जो प्रयोग या परिपाटी शिष्टों में प्रचलित हो उसे ब्रह्म

१ २-११, पृ० २३२।

२ धामेजो बसस्त्रिराजमुपवसति।—१४४८, पृ० १७९।

३ पयोवतो ब्राह्मणो यवागुत्रतः क्षत्रिय मामिलावतो वैश्य इति।—भा० १ पृ० १९।

४ के पुनः शिष्टाः? ब्रह्मकारण—एतस्मिन् आर्यावर्तसे ये ब्राह्मणाः कुम्भीषाण्य अमोक्ष्या अगुह्यमापकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः।—१३१०९, पृ० ३५९।

५ निवर्तकं शास्त्रम्।—११२० पृ० १०२ तथा भा० २ पृ० ४८।

६ वही।

मानना चाहिए।<sup>१</sup> सम्भवतः, इन्हीं शिष्टों को पतञ्जलि ने कस्यापाचार या कस्यापाचार (स्त्री०) और कस्यामलम कहा है।<sup>२</sup>

**शिष्ट व्यवहार**—शिष्ट जनों के व्यवहारों के कुछ उदाहरण भी भाष्य में उपलब्ध होते हैं। उपाध्याय और शिष्य को साव-साध जाना हो और यान या वाहन में एक ही व्यक्ति के बैठने भर का अवकाश हो तो मुख को वाहन से भेजना चाहिए और शिष्य को पैदल जाना चाहिए। जो व्यक्ति इसका उल्टा करता अर्थात् स्वयंवा सबाही पर जाता किन्तु उपाध्याय को पैदल भेजता है, वह आचारभेद या शिष्टाचार का भंग करनेवाला माना जाता था।<sup>३</sup> इस आचार-भंग को शिष्या या धर्मव्यतिक्रम भी कहते थे। बैठकर भोजन करना और बैठकर मस-मूत्र त्याग करना शिष्टों में प्रचलित था। सेटे-सेटे या चलते हुए खाना शिष्टों में अनुचित माना जाता था। लड़े होकर मूत्रत्याग करना भी अशिष्टता का परिचायक था।<sup>४</sup> यवनों में ये प्रथाएँ प्रचलित थीं।<sup>५</sup> एक काल में यदि एक क्रिया हो सकती हो या एक वस्तु प्राप्त हो तो उस क्रिया या वस्तु पर पहले अर्ह का अविचार हो सकता था। पाद में अपेदाकृत अर्ह को जबसर दिया जाता था। उदाहरणार्थ ऋद्ध दरिद्र और मूर्ख में पहले ऋद्ध को भोजन कराया जाता था बाद में दरिद्र और मूर्ख को। ब्राह्मण और वृषल में ब्राह्मण को मांस से पार जाने का अवसर पहले प्राप्त होता था। वृषल तबतक प्रतीक्षा करता था।<sup>६</sup> इस प्रकार अर्ह और अर्ह दोनों का आचार निश्चित थे। ब्राह्मण का वृषली या दासी से सम्बन्ध शिष्ट व्यवहार का विरुद्ध माना जाता था। शिष्टाचार के अनुसार ब्राह्मण ब्राह्मणी से ही प्रेम-सम्बन्ध रख सकता था। ध्यान देने योग्य बात है कि उत्कासीन समाज में इस प्रकार के अनुचित सम्बन्धों को दृश्य नहीं माना जाता था केवल अशिष्ट कहकर टाक दिया गया था।

**शास्त्रशिष्ट**—कुछ बात शास्त्र द्वारा शिष्ट या विहित थीं। उनके विरुद्ध आचरण अशिष्ट माना जाता था। धी और तेज बेचना निषिद्ध था। मांस बेचना भी बहिषत था। गो सर्प आदि भी बिभी पर प्रतिवच्य नहीं था यद्यपि धी मांस और तेज इन्हीं से बनता था। सोम

१ सथावर्ष्यं शिष्टप्रयोग उपास्य ।—१ ३-१, पृ० १७।

२ ३-२ १ पृ० २०४।

३ शिष्या धर्मव्यतिक्रम आचारभेदः—स्वयं हि रथेन याति उपाध्यायं पश्चात् यययति ।—

८-१ ६० का०।

४ ३-२ १२६, पृ० २६४।

५ ३-२ १२६ काशिका।

६ २-३ ३६ पृ० ४३०।

७ १ ३-५५, पृ० ६९।

८ तैलं न विभेदय्यम् मांसं न विभेदय्यम् इति व्यपबृत्तं च न विधीयते व्यपबृत्तं च पाचयच सर्वपाचय विधीयते ।—आ० २, पृ० ६२।

विक्रम अक्षिप्त वा किन्तु धान्य बेचा जा सकता था।<sup>१</sup> इस प्रकार की सास्थानुपासित बातों का उल्लेख भिन्न प्रकारों में समास्थान किया गया है।

कुछ बातें क्षिप्ताधार के कड़े नियमों के अन्तर्गत तो नहीं आतीं किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा का कारण बनस्य होती थी। इनमें समाज से अलग रहकर केवल अपना पेट भरना, चाटुकारिया आदि बातें थी। आत्मम्मरि, कुक्षिम्मरि और चाटुकार नीची नजर से देखे जाते थे।<sup>२</sup>

क्षिप्तालुकरण—क्षिप्त का अनुकरण अच्छा और अस्म्युपकारी माना जाता था। अप्रिप्त और अप्रतिपिप्त का अनुकरण न होना चाह और न अस्म्युपकारी होता था। क्षिप्तों में यज्ञ, दान आदि जाते थे और अक्षिप्तों या अप्रतिपिप्तों में द्विबिकत हसित कम्बुवित आदि।<sup>३</sup>

१ ३९९३ पु० २३६।

२ आत्मम्मरिपरिचरति यथमतेवमान (?)।—३-२ २६ पु० २१४ तथा ३-२-२२।

३ अनुकरणं हि क्षिप्तस्य तापुर्भवति अक्षिप्ता प्रतिपिप्तस्य वा शीघ्रं तद्दोषाय भवति

## सन्धम-प्रन्य-सूची

बैदिक संहिता

ऋग्वेद (सायण-भाष्य)

यजुर्वेद

काठक-संहिता

मैत्रायणी संहिता

तैत्तिरीय संहिता (सायण-भाष्य)

वाजसनेयी संहिता (महीभर-भाष्य)

सामवेद

यजुर्वेद

एतरेय ब्राह्मण

घटपपत्राह्मण

गोपमत्राह्मण

ताण्ड्य महाब्राह्मण

पंचविदा ब्राह्मण

पङ्क्ति ब्राह्मण

कौटीतिकब्राह्मण

छान्दोग्य ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण (सायण-भाष्य)

काठक ब्राह्मण

पात्यायन ब्राह्मण

शैमिनीय ब्राह्मण

मास्वलायन श्रौतसूत्र

छात्रायन श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र

कौषायन धर्मसूत्र

भापस्तम्ब धर्मसूत्र (हरदत्त टीका)

विष्णुधर्मसूत्र

वाशिष्ठ धर्मसूत्र

कौषिक गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र (हरिहर-भाष्य)

वायव्य गृह्यसूत्र

द्राह्यायन गृह्यसूत्र (छत्रस्वन्द-वृत्ति)

वैशम्पैयन गृह्यसूत्र

बौधायन गृह्यसूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र

सत्यापाठ सूत्र (उम्बका-टीका)

बैखानससूत्र

तैत्तिरीय आरण्यक

यजुर्वेद आरण्यक

एतरेय आरण्यक

छान्दोग्योपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्

जाबालोपनिषद्

प्रातिशाख्य-निरुक्त

ऋक-प्रातिशाख्य (उम्बका-भाष्य)

कारत्यायन-प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

धाम-प्रातिशाख्य

अथर्व-प्रातिशाख्य

ऋकतन्त्र

सामतन्त्र

अक्षररत्न	सधुस्रवेन्दुधेसर (नेरबमिन्-टीका)
पाणिनीय शिक्षा	गणरत्नमहोदधि
आपिस्तस शिक्षा	परिभाषावृत्ति (सीरवेब)
निस्तुत (दुर्गाचार्यवृत्ति तथा स्कन्दस्वामी भाष्य)	वामनीय सिगानुष्ठासन
	श्यास (बिनेग्र)
अथ वैदिक साहित्य	महामाष्य शब्दकोष (पूना)
	काशिका
आचरण परिशिष्ट-अरमभ्युह	
प्रपञ्चवय	रामायण
पद्गुरुशिष्य-सम्भानुक्रमणी	
अथर्व अतुरध्यायी	आदिकाण्ड
प्रवरवर्षण	अयोध्याकाण्ड
प्रतिज्ञासूत्र	किष्किन्धाकाण्ड
भाषिक सूत्र	उत्तरकाण्ड
त्रिफिष—अथर्ववेद (अनुवार)	
वेबर—तैत्तिरीय संहिता (सम्पा०)	महामारत (नीलकण्ठी टीका)
श्रोत्र और लीपजिन—मैत्रायणी (सम्पा०)	आदि पर्व
मैत्रयसूत्र—अथर्ववेद (अनु )	सभा पर्व
मैत्रयानस लीप—वैदिक इष्टकत	प्राण पर्व
	वर्ष पर्व
व्याकरण	वन पर्व
अष्टाध्यायी	मीप्स पर्व
महामाष्य (प्रवीणोद्योत)	अनुष्ठासन पर्व
महामाष्य (मराठी अनु० पूना)	अश्वमेध पर्व
महामाष्य लेखन डॉन पतञ्जलि—भाग १ २	शान्ति पर्व
महामाष्यप्रकाशिका (अनुवृत्तिटीका)	
काठग्र	पुराण
आश्र व्याकरण	अग्निपुराण
आनवपदीय (हेछाराज पुष्पराजटीका)	सूर्यपुराण
सिद्धान्तकौमुदी	मत्स्यपुराण
प्रीडमनारमा	वायुपुराण
काठग्र	वामनपुराण
पद्मवरी (हरदत्त)	पद्मपुराण
परिभाषानुसारा	स्कन्दपुराण
वैयाकरणमनुष्या	गार्हपत्यपुराण

विष्णुपुराण  
भायवठपुराण  
हरिवंशपुराण  
ब्रह्माण्डपुराण  
कालिकापुराण  
पाण्डुरतपपुराण  
देवीपुराण

दर्शन

योगदर्शन  
ब्रह्मसूत्रदर्शन  
मीमांसादर्शन (शाबर भाष्य)  
योगसूत्रवृत्ति (भोजराज)

शास्त्र-संहिता

अथयाम्त्र (कौटिल्य)  
अथंगाम्त्र (अनु० धामयाम्त्री)  
कामसूत्र (यमापर-भाष्य)  
नाट्यशास्त्र (भरत)  
अरकनसंहिता (अरकनाथिटीका)  
शांगपरसंहिता

स्मृति

मनुस्मृति (कृत्स्नकृत-टीका)  
यामवस्वय-स्मृति (मित्राशय-टीका)  
यामवस्वय-स्मृति (विराजय-टीका)  
सीयासि-स्मृति

अथ मूल ग्रन्थ

कषामरित्सायर

बुद्धचरित

मयपतीसूत्र

मिस्त्रिन्वपञ्चो

अंगुष्ठरगिकाय

विनयपिटक

सन्ध-ग्रन्थ-सूची

मग्निमनिकाय

दिग्गनिकाय

मपुत्रनिकाय

धम्मपद

मामलपामादिका

महावस

दिग्भाषदान

विमुक्तिमय्य

अवदानगतक

महावग्ग

बाधिमतवावदानकलरकना

मर्दमपुण्डरीक

मज्झिमककस्य

विबिष तीवकस्य

मुन्यनलबिभागिनी

प्रपचमूवनी

यागिनीवग्ग

यायी संहिता (मुग्गपुराण)

बुह्मकषामजरी

धीगत्तनिधि

अस्तिनविस्तर

बुह्मसंहिता

सगीतरत्ताकर

अर्यापिटक

रथवंग

मालविकाग्निमित्र

जाठक—भाय १६ (कावेरु)

पवनद्रुत (बोयी)

परिणीष्ट पव (हेमचन्द्र)

मानार्थावयज्ञप (केमपस्वामी)

यज्ञकल (भाटक)

पत्रजन्मिचरित

यसस्तिमक (अम्यु)

सरस्वतीकृष्णामरण (बुद्धयहारिणी-टीका)

कविकल्पद्रुम



काव्यमीमांसा	पानकौहूरण
पञ्चतन्त्र	हर्षचरित
शीरमिचोदय-संस्कारममूक	मणिमेखलरुह (तमिस्र-काव्य)
सुभाषितावली (बस्त्रभदेव)	श्रीतपशार्चननिर्वचन
सुषुप्तवृत्ति (शरणदेव)	जम्बूद्वीपमपण्यति
वेदास्तकस्यतस्परिमल (मण्यमदीशित)	

## कोप

अभिप्रायचिन्तामणि (हेमचन्द्र)  
 बिक्राण्डवापकोप (गुण्योत्तमदेव)  
 अमरकोप  
 वैजयन्तीकोप  
 यावदप्रकाश  
 राजेन्द्रअभिधानकोप  
 संस्कृत-ईंगलिस-विज्ञानरी (मोनियर बिलियम्स)

## आयुर्निक समीक्षात्मक ग्रन्थ

## व्याकरण

बर्नेस—ऐम्स स्कूल् बॉक् प्रीमेरियम्स  
 बेल्नेसकर—सिस्टिम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर  
 चक्रवर्ती—दि फिक्सासफी ऑफ संस्कृत ग्रामर  
 पचाटे—दि स्ट्रक्चर ऑफ ज्युटाभ्यायी  
 कैरेण्ड फौडरगन—स्टडीज ऑफ पाणिनिज ग्रामर  
 गोस्सटुकर—पाणिनि हिज फ्लेस इन संस्कृत लिटरेचर  
 बोर्बालिक—पाणिनिज प्रैमेटिक  
 श्रीसहूर्त—कात्यायन ऐण्ड पतञ्जलि—द्वैयर रिसेसज टु इन अदर ऐण्ड पाणिनि  
 युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास  
 कण्ठायन—पालि ग्रामर

## अप्य

पैरममूकर—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर  
 पैरममूकर—रिसेस ऑफ संस्कृत लिटरेचर  
 मेहरानल—हिस्ट्री ऑफ एनसियेण्ट संस्कृत लिटरेचर  
 रिमप—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अतुर्न संस्करण

ई० जे० रेफ्सन—क्रैमिअर हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—भाग १

ई० जे० रेफ्सन—इण्डियन क्वाइन्स

रीज डेविड्स—साम्स ऑफ दि ब्रदरेन

रीज डेविड्स—डायराम्स ऑफ दि बुड

फनिषम—क्वाइन्स ऑफ एनसियेंट इण्डिया

फनिषम—दि स्तूप ऑफ भरहुत

फनिषम—एनसियेंट ग्याग्राफी ऑफ इण्डिया तथा आर्कियासॉजिकल सर्वे रिपोर्ट—भाग १ २  
तथा १, २०

मैक्रिण्डिस—एनसियेंट इण्डिया एज डैस्क्राइब बाइ मीगास्थनीज ऐण्ड ऐरियन

मैक्रिण्डिस—इण्डिया एज डेस्क्राइब बाइ टालेमी

मैक्रिण्डिस—वि इनवेजन ऑफ् लसेगनैण्डर दि ग्रेट

पार्जिटर—एनसियेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन

पार्जिटर—डायनेस्टीज ऑफ् दि कलि एज

पार्जिटर—मार्कण्डमपुराण (सम्पा०)

बिस्तन—बिष्णुपुराण (सम्पा०)

कीम—रिलीजन ऐण्ड फिसासफी ऑफ् दि वेद

कीम—संस्कृत ग्रामा

बैटर्स—ज्ञान युवांस चाम

संसेन—मैग्नापोटेमिया इण्डिया

ड्युम फारुड—हिम्स ऑफ् दि अचबंबेद

वेयर—ऑन दि डेट ऑफ् पतंजलि (इण्डरवस्टैंडिंग से बोयड द्वारा अनुवित)

ओरडेगवर्ग—रिलीजन वेर वेद

सुडर्स—बिस्ट ऑफ् ब्राह्मा इन्क्रिप्टस फ्रॉम अलियेस्ट टाइम्स टु दि सेकेण्ड सेंचुरी ए० डी०

टॉर्न—चीफ इन् बीकिया ऐण्ड इण्डिया

रॉसिस्न—इण्टरफोर्स बिटवीन इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड

रॉसिस्न—दि डिस्टेंस बिटवीन दि स्टेजेज ऑन दि रॉयल रोड (परिचित)

बाट—एकनामिक प्राइक्ट्स ऑफ इण्डिया

ह्रीसर—हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया—भाग १

बर्नेट—एथिक्वटीज ऑफ् इण्डिया

पीटर्सन—वि रिपोर्ट ऑन संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स

बीक—बुयिस्ट रेकार्ड्स ऑफ् दि वेस्टर्न वर्ल्ड

गिबन—डिस्कवरी ऐण्ड फॉस

मार्सल—ए गार्ड टु सांथी

के० के० ह्यूड्सवी—यदास्तिस्म ऐण्ड इण्डियन कल्चर

के० के० ठाकुर—मार्कविकाप्तिमित्र (गुज० खनु०)

- सा—रिसर्च ऑफ इण्डिया  
 सा—गाउण्टेस ऑफ इण्डिया  
 सा—ग्याप्राफी ऑफ अर्सी इण्डिया  
 सा—ट्राइम्स इन ऐनसियेष्ट इण्डिया  
 सा—हिस्टारिकल ग्याप्राफी ऑफ एनसियेष्ट इण्डिया  
 फुहुरर—मानुमेण्टल ऐण्डिक्वेरीज ऑफ नार्थ बेस्ट प्राबिन्सेज ऐण्ड अथर  
 मनरंजन बोप—पाटलिपुत्र  
 इन्सिप्ट—हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म  
 मन्डारकर—नसेक्टेड बक्स ऑफ मन्डारकर—भाग १ २  
 देसमुय—रिसीजन इन बीदिक सिटरेथर  
 काण—हिन्दी ऑफ धर्मशास्त्र—भाग १ ९  
 वागपी—किमिप एण्ड डेमोड्रियस  
 बी० एम० बरुवा—मरहुत—भाग १ ३  
 बरुवा और सिनहा—मरहुत इन्सिप्टन्स  
 एन्० एल० दे—ग्याप्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एनसियेष्ट ऐण्ड मीडियेवस इण्डिया  
 गौरनि—भाबीवक सेवट—ए न्यू इष्टर प्रिटेसन  
 वाप्टे—सोसल साइड इन गुह्यसुत्राज  
 सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज बनारस मैगजीन—१९२०  
 इण्डियन ऐण्डिक्वेरी—१८७२ ७६ तथा २ एवं १४ भाग  
 जर्नल ऑफ मन्डारकर, औरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—पूना  
 ट्राइमियस कैंटेलाग ऑफ संसुत्र मैगजिन्स भाग ४—राजकीय संप्रहास्य मन्डार  
 प्रोसीडिन्स ऑफ औरियेण्टल कान्फेस मन्डार  
 संगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल—भाग १ १९४४  
 पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला  
 धानरा गाइड ऐण्ड गजेटियर—भाग २, १८४१  
 इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया—भाग २३

#### दिल्लालेग

- धरदामन का जूनायड-दिल्लालेग  
 स्कंगुप्त का जूनायड-दिल्लालेग  
 पन्ड का मेहरोत्री-दिल्लालेग  
 बपोप्पा का दिल्लालेग  
 अगोर का दिल्लालेग  
 भरहुग के दिल्लालेग  
 हचिपुण्ड-दिल्लालेग

## अनुक्रमणी

म

		४५१	४५२	४६६	४९४ (टि०)
अंकित—२८९		५११			
अंग (शम्पा)—१०९		मघवर्षाता—२८६			
अंगुत्तरनिकाय—१०६ १०७ (टि०) ११२		मघरपरिषाह—५४८			
१२० ५६३		मघिजम—७४			
अंशनागिरि—७७		मघ्वग—१७७			
अश्वेनाइत्य—९६		मघ्वम्—५३८ ५३९ ५४४ ५४५			
अश्वरतत्र—४		५४८			
अश्वार—१८२ १८३		मघ्वर्षाकृतु—५२०			
अग्निचित्—५३३		अध्वर्यवेद—५१९ ५२० ५२८			
अग्निचिरया—५२७		अनायममा—१८१			
अग्निपुराण—८८		अनुगधीन—२८८			
अग्निमाठर—४४१		अनुपदीन—३२२			
अग्निमित्र—५९, ६० ६२ ६५ १२७		अनयात्र—५१६ ५४९			
अग्निवेश—५३ ५४ ४४८		अनुगतिस—३१८			
अग्निवेश-संहिता—५४		अनुगाकटापन—७			
अग्निषीसाम्पायन—५६४		अनूष—१६४ ४२८			
अग्निष्टम्—५२५		अन्तपाण—६०			
अग्निष्टोम—५२० ५२२ ५४२ ५४७		अन्तरीय—१९९			
अग्निष्टोमिक—५१३		अन्तमिरि—७८			
अभ्याहित—५४२		अन्तमम—१०४			
अभयम—६		अन्तर्बली—१७४			
अभयम—८०		अन्तियाकस—६१			
अभिलद—५६४		अन्तियोकी—६१			
अभ्रकन्द—१०३		अन्तेबानी—१६१ १६२			
अभ्रपय—२९८ ३३७		अन्दकुई—३८७			
अभ्रमीड—१०३ ११८		अन्धकस—७७ ३८७			
अभ्ररिठा—२०१		अन्धक—६५			
अभ्रातगामु—१२६		अभ्राह—२ ७			
अभ्रितकेसकम्बल—५६२		अपक—५७३			
अटरप—२३८		अपप्य—१५१			
अतिरात्र—५२५		अपमिर्य—३३१			
अतिव्यसन—२४३		अपराम्भक—११३			
अपबन्धनुरध्यायी—४		अपराक—५७४ (टि०)			
अपबन्धेद (संहिता)—४ ३४ १२४ १८३		अपम्भिक—२९१			
२४५ (टि०) २५२ २६५ २६९		अपामार्ग—५२२			
२७० २९६ (टि०) ३३० ४३८, ४५०		अपालाशौदस—६२			

सा—रिचर्स ऑफ इण्डिया

सा—माउण्टेन्स ऑफ इण्डिया

सा—ग्याप्राफी ऑफ वर्ल्ड इण्डिया

सा—ट्राइब्स इन ऐनसियन्ट इण्डिया

सा—हिस्टारिकल ग्याप्राफी ऑफ एनसियन्ट इण्डिया

फुडरर—मानुमेन्टल एन्टिक्वेरीज ऑफ नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज ऐन्ड अरब

मनरंजन घोष—पाटलिपुत्र

इन्डियन—हिन्दुइज्म ऐन्ड बुद्धिज्म

भण्डारकर—कठेक्नेड बक्स ऑफ भण्डारकर—भाग १ २

देसमुत्त—रिसीजन इन वैदिक सिटरेचर

कावे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र—भाग १ ३

दागशी—क्रिमिप एन्ड इमोर्टियस

बी० एम० वरुवा—भरहुत—भाग १ ३

बलभा और सिनहा—भरहुत इन्स्क्रिप्शन्स

एन्० एम्० वे—ग्याप्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एनसियन्ट ऐन्ड मीडियेवल् इण्डिया

गोपनि—बाबीबक सेन्ट—ए न्यू इन्टर प्रिटेसन

वाप्टे—गोपाल साइफ इन गृहसूत्राज

सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज बनारस मैगजीन—१९२०

इण्डियन एन्टिक्वेरी—१८७२ ७६ तथा २ एवं १४ भाग

जर्नल ऑफ भण्डारकर, वोरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—गूना

ट्राइनियस बेटेलाग ऑफ संस्कृत मैन्स्क्रिप्ट्स भाग ४—राजकीय संग्रहालय मद्रास

प्रोमीडियस ऑफ ओरियन्टल कान्फेस मद्रास

गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल—भाग १ १९४४

पंजाब गजेटियर, अम्बाला जिला

बागदा गाइड ऐन्ड गजेटियर—भाग २, १८४१

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया—भाग २३

### दिल्लीसे

छदासन का जूनागढ़ दिलासंग

मन्दमुत्त का जूनागढ़-दिलासंग

पण्ड का मेहरीली-दिलासंग

अयोध्या का दिलासंग

बगौर का दिलासंग

भरहुत के दिलासंग

हयिगुण्ड-दिलासंग

# अनुक्रमणी

म

मकित—२८९	४५१	४५३	४६६	४९४ (टि०)
मय (सम्पा)—१०९	५११			
मंगुधरनिकाय—१०५ १०७ (टि०) ११२	मद्यवीना—२८६			
१२० ५६३	मधुरपरिग्रह—५४८			
मंत्रनागिरि—७७	मधिवन—७४			
मकेनाइन्म—९६	मध्वग—३७७			
मदारतम्ब—४	मध्वन्—५३८	५३९	५४४	५४६
मयार—१८२ १८३	५४८			
मन्निषिद्—५३३	मध्वयुक्त्तु—५२०			
मन्निषिरा—५२७	मध्वयुक्तेद—५१९	५२०	५३८	
मन्निपुरास—८८	मनाससमा—१८१			
मन्निमाठर—४४१	मनुगात्रीम—२८८			
मन्निमित्र—५९ ६० ६२ ६५ १२७	मनुपदीन—३२२			
मन्निवेम—५३ ५४ ४४८	मनयात्र—५१६ ५४९			
मन्निवेग-महिषा—५४	मनुघटिक—१९८			
मन्निवैद्यम्पायन—५६६	मनुगाकटायन—७			
मन्निष्ट—५२५	मनुष—१६४ ४१८			
मन्निष्टीन—५२० ५२२ ५४२ ५४७	मन्तपास—६०			
मन्निष्टीमिक—५१३	मन्तपीय—१९९			
मन्मयाहित—५४२	मन्तगिरि—७८			
मन्नायन—६	मन्तवन—१०४			
मन्प्रथम—८०	मन्तवर्ती—१७४			
मन्च्छिद्र—५६४	मन्त्रिपाकन—६१			
मन्त्रकन्द—१०३	मन्त्रियाको—६१			
मन्त्रपथ—२९८ ३२७	मन्त्रेशामी—१६१ १६२			
मन्त्रमीड—१०३ ११८	मन्त्रसुई—३८७			
मन्त्ररिशा—२०१	मन्त्रकवच—७७ १८७			
मन्त्रातगनु—१२६	मन्त्रक—६५			
मन्त्रिकगकम्बस—५६२	मन्त्राद—२०७			
मन्त्रस—२३८	मन्त्र—५७३			
मन्त्रिपाथ—५२५	मन्त्रप्य—५५१			
मन्त्रिम्पायन—२४३	मन्त्रमित्य—३३१			
मन्त्रवैद्यनुरम्पायी—४	मन्त्रान्तक—११३			
मन्त्रवैद्य (महिषा)—४ ३४ १२४ १८३	मन्त्राक—५७४ (टि०)			
२४५ (टि०) २५२ २६५ २६९	मन्त्रिकरुष—२९१			
२७० २९६ (टि०) ३२० ४३८ ४५०	मन्त्रामार्ग—५२२			
	मन्त्रार्थादिस—६२			

- अप्पयवीलित—५७०  
 अमिजन—७४ १८०  
 अभिज्ञानसाकुन्तल—१६७ ५६९  
 अभिषानपित्तामणि—२२, १०१  
 अभिषानराजेश्वर (कोप)—१२१ (टि०)  
 अभिमन्यु—६७  
 अभिलाष—२५८  
 अभिधीन—२१९  
 अभिषयान—२१९  
 अभिषय—२२५ ५२६  
 अभिसार—९८  
 अभ्यंकर घास्वी—१७७  
 अभय—१९३ २१० ३३०  
 अगापावृत्ति—९  
 अम्बुष्ट—१००  
 अम्बुस्तह—१००  
 अम्बुस्तनीत्र—१००  
 अयसूसी—५६१  
 अमानपीन—२४७  
 अयोपत्र—३१४  
 अरकासिया—९१  
 अरलि—३४९, ३५०  
 अराटि—२७०  
 अरिस्टोसबरा—९७  
 अर्षास्तत्र—९१ (टि०) ९६ १०५ (टि०)  
 ११६ १५५, ३३७ (टि०) ३४२  
 (टि०) ३४३ (टि०) ३४४ (टि०)  
 ३४६ (टि०) ३४७ (टि०) ३५०  
 (टि०), ३५८ (टि०) ३५९ (टि०)  
 ३६०  
 अयिक—३५७  
 अर्षी हिम्द्रो भोक् इक्षिया—६३ (टि०)  
 ६४ (टि०) ९० (टि०) ९५ (टि०)  
 ११२ (टि०) १२० (टि०) ४०  
 (टि०)  
 अर्षी—५७३  
 अम्बुर्ष—२६९  
 अलोप—२६३  
 अरीग० इमवेजन—९० (टि०)  
 अमेरिह—२७०  
 अम्पेरनी—८५ १२७  
 अम्बेनीत्र इक्षिया—१२७ (टि०)  
 अयत्रय—३३८  
 अवदान—५४९  
 अवदानघटक—८७  
 अवमुष (स्नान) ५२२ ५२६ ५४५  
 अवसरमा—४९१  
 अवश्यसाध्य—२५८  
 अवस्तर—५२८  
 अवहृमन—२६० २६३  
 अवहार—४०३  
 अवात्तरदीदी—४१९  
 अबिकटोरन—३३९  
 अबेरिया—११४  
 अवस्ता—५२८  
 अयोकि—९१ ९४  
 अवमक—११७  
 अवमा—१९४  
 अववर्षाप—६६ ४०४  
 अवसमेय—५२३ ५२६  
 अववल्लीन—३७९  
 अष्टक—९ १८ ३६३ ३६५ ३८१  
 अष्टका—५१७ ५८०  
 अष्टकुसक—१८  
 अष्टचरमवाह—५६६  
 अष्टावपाक—५३२  
 अष्टाध्यायी—३ ५ ६ ९, १४ १८ १९  
 २० २२ २३ २४ २५, २६ ३१ ३२  
 ३३ ३६ ५१ ६६ ६७ ७१ १४७  
 ३५८ ४१६ ५२७ (टि०)  
 अर्षीग—६६  
 असिकनी—८३ ९७  
 असूर्यम्पस्या—१७७  
 महिष्मय—६३ १०५ १२१  
 अहीन—५२४ ५२५  
 आ  
 आन—११०  
 आगक—११०  
 आगिरम्—१५९ ४५१  
 आगिरम्-कुल—४५६  
 आगी—११०  
 आइ० ई० पकाटे—१७ (टि०)  
 आगप—२४७  
 आग्रीदी—२४६, २४८  
 आगिक—२४५

भाग—१९४ १९५  
 भावनिक—१९४  
 भावनिकवक्र—१०४  
 भावनर—१९४ १९५  
 आगरा गाइड (गजेटियर)—८८ (टि०)  
 भागबीम—१८७ २८८ ३७०  
 भागवत—१३  
 भागवतस्य—१३ ४६३  
 भागवतस्य—१३  
 भागवतस्य—४९२ ५२७ ५४० ५४८  
 भागवतस्य—६  
 भागवतस्य—१६१  
 भागवतस्य—४२२  
 भागवत—३३३ ४७  
 भागवतीना—१९२ ३४५  
 भागवतक—५६३ ५६४  
 भागवतीना—१९२ ३४५  
 भागवतक—३५२  
 भागवती—१६९  
 भागवत—५ १३  
 भागवत पुनर्मु—५३  
 भागवतसहित—५३ ५४  
 भागवत—४५६  
 भागवतस्य—४५१  
 भागवतस्य—५६  
 भागवतस्य—५०६  
 भागवतस्य—४६७  
 भागवतस्य—५७५, ५७६  
 भागवतस्य—६५ (टि०)  
 भागवतस्य—८० (टि०) १३ (टि०)  
 १११ (टि०) १२६ (टि०)  
 भागवत—५२  
 भागवतस्य—१३  
 भागवत—१८९  
 भागवतस्य—३६६  
 भागवतस्य—३९२  
 भागवतस्य—५६९ ५७० ५७४ ५८६  
 भागवतस्य (गुप्त) गुप्त—५६ १५८, ४५२  
 ५२१ (टि०) ५२२, ५२३ (टि०)  
 ५२४ (टि०) ५२६ (टि०) ५२९,  
 ५७२ (टि०)  
 भागवतस्य—५६६ ५७१ (टि०)  
 ५८४ ५९० (टि०) ५९१ (टि०)

भागवतस्य—३१  
 भागवतस्य—५, ९ १० ११ १२ १३ १६  
 २० ४५० ४६१  
 भागवतस्य—२२३  
 भागवतस्य—१९९  
 भागवतस्य—१८४  
 भागवतस्य—२११ २१६ २३० ५३१ ५४१,  
 ५०४  
 भागवतस्य—४५४  
 भागवतस्य—८०  
 भागवतस्य—५५३  
 भागवतस्य—५४  
 भागवत—७७  
 भागवतस्य—५६९  
 भागवतस्य—५००  
 भागवतस्य—६५  
 भागवत—४५७  
 भागवतस्य—४४२  
 भागवतस्य—१०८  
 भागवतस्य—५५ (टि०) ९७  
 (टि०) ९० (टि०) १०१ (टि०)  
 १० (टि०) ११७ (टि०) ११८  
 (टि०) १२२ (टि०) १२८ (टि०)  
 भागवतस्य—४५७  
 भागवतस्य—१६ ६६ ४१५, ५१४ ५३८  
 भागवत—४३३  
 भागवत—५०६  
 भागवत—१८३ १५५  
 भागवत—१५५  
 भागवतस्य—१५६ १८५  
 भागवतस्य—१५५ (टि०)  
 भागवतस्य—५५, ७१ ७२, ७३ ७८ ८०  
 ८२ ९२ ९३ १०० १०९ १११ १५३  
 १५६ ४१६ ५९४  
 भागवतस्य—२९०  
 भागवतस्य—४५५  
 भागवतस्य—४९१  
 भागवतस्य—३६६  
 भागवतस्य—५२७ ५४२  
 भागवतस्य—१३४ १६५, १८३ ५२७  
 भागवतस्य—१६५, १८३ ५४२  
 भागवतस्य—५२९ (टि०)  
 भागवतस्य—२९८



भाषिक—४०३  
 भाषितगर्भी—१८७  
 भाषितगु—१८७  
 भाषुतर ग्रन्थ—४२५  
 व्याख्यान—२७०  
 भाष्य—२४ ४५८  
 भाष्ययुज—२५५  
 भाष्यभाष्य (श्रीत-गृह्य) सूत्र—४ ५९,  
 ८५ १५७ १५८ (टि०) ११९ (टि०)  
 १६० २६८ ४४१ ४४२ ४४३  
 ४५७ ५२१ (टि०) ५२२ (टि०)  
 ५२३ ५२४ (टि०) ५२५ (टि०)  
 ५३१ ५३३ (टि०) ५४६

भाष्यकीय—८१  
 भाष्यगी—१९२  
 भाष्य—२२५  
 भाषिक—४०१  
 भाषुति—२२५  
 भाषुगीय—२२४ ३२३  
 भाष्य—४००  
 भाष्य—१८७  
 भाषिक—२२  
 भाषिताम्नि—५१३ ५४२  
 भाषिक—३१  
 भाष्यारम्भ—१३

—६

भाष्यन—८०  
 भाष्यन—५३६  
 भाष्यन कौम विटवीन इण्डिया एण्ड हि वेल्थन  
 क्लब—३३६ (टि०) ३३८ (टि०)  
 भाष्यन क्लब—९२ (टि०)  
 भाष्यन—०७ (टि०)  
 भाष्यन एण्ड वेल्थन—२६ (टि०) ५२  
 (टि०) ५५ (टि०) ६१ (टि०)  
 ६५ (टि०) ४०० (टि०) ४४७  
 (टि०)  
 भाष्यन क्लब—११४ (टि०)  
 भाष्यन इण्डियन क्लब—५३ (टि०)  
 ५९ (टि०) ६५ (टि०) ९१ (टि०)  
 भाष्यन एण्ड वेल्थन—६३  
 भाष्यन एण्ड वेल्थन क्लब टाभेरी—  
 १२१ (टि०)

इण्डिया एण्ड वेल्थन क्लब—८८ (टि०)  
 ९३ (टि०) १०३ (टि०) १५५  
 (टि०) ३२० (टि०) ३२३ (टि०),  
 ३३५ (टि०) ३८८ (टि०), ५००  
 (टि०)

इण्डिया एण्ड वेल्थन क्लब क्लब—  
 ४०० (टि०)

इण्डोसीयाना—११४  
 इण्डोसीयाना—१९४ ३१४ ३३०  
 इण्डोसीयाना क्लब—९८ (टि०)  
 इण्डोसीयाना क्लब इण्डिया—९६ (टि०)  
 इण्डोसीयाना—५, ६ ७ ८ ९, १६ ४६३ ५१७  
 इण्डोसीयाना—५५९  
 इण्डोसीयाना क्लब इण्डिया—८४  
 (टि०)

इण्डोसीयाना—८४  
 इण्डोसीयाना—८  
 इण्डोसीयाना—५२८  
 इण्डोसीयाना—८७

७

उण्डोसीयाना—१०७  
 उण्डोसीयाना—५१३ ५४०  
 उण्डोसीयाना—४५८  
 उण्डोसीयाना—२२२ २२९  
 उण्डोसीयाना—१३ २२२ २२९  
 उण्डोसीयाना—८४  
 उण्डोसीयाना—२६६  
 उण्डोसीयाना—१२६  
 उण्डोसीयाना—४४९  
 उण्डोसीयाना—५६८  
 उण्डोसीयाना (उण्डोसीयाना) यान—९० ३२०  
 उण्डोसीयाना—१०  
 उण्डोसीयाना—५४८  
 उण्डोसीयाना—१३  
 उण्डोसीयाना—२१८  
 उण्डोसीयाना—५४८  
 उण्डोसीयाना—१२ (टि०)  
 उण्डोसीयाना—१९  
 उण्डोसीयाना—१६८  
 उण्डोसीयाना—२४१  
 उण्डोसीयाना—२४१

उर्वक—१९४  
उदकवीथप—१८७  
उदकहार—१८५  
उदकोदधन—१९४ २५७  
उदमाह—१८७  
उदमन—१२६  
उदवीथप—१८७  
उदविषम्—२१८ २२४ २८७ ३२८, ३३३  
उद्विषयुषक—२१८  
उद्वहार—१४० १८५  
उद्वीष्य—७२ ७४ ९७ ११५, ११६ ११७  
१४३ २४८ ४४५  
उदुम्बरावती—८५, ८६ १०२  
उदुमाता—५३९ ५४  
उदुग्राम—५४८  
उदुपन—३१३  
उद्योत-टीका—४२४  
उमच्छर्ग्य—१११  
उमान—३४० ३४३  
उपशाय्य—५२९  
उपसंधान—२२०  
उपसधान-मन्त्र—५२८  
उपनमन कर्म—३६८  
उपमूढ—५३६ ५४४ ५५०  
उपमग्यु—९  
उपयोग—५७०  
उपसा—५३५  
उपसर्प—२२  
उपसंस्कार—१९८, १९९, ३२९  
उपसर—२८६  
उपसर्मा—२८६  
उपसिक्वत—२२८  
उमा—२६७ २६९, ३२९  
उमाष्ट—२६७ २६८  
उमापुष्य—२२५  
उमात्वाति—६६  
उम्भन्ती जातक—९७  
उरध्न—२९८  
उदि—९१ ११६  
उर्नई—८५  
उरुप—४५६  
उवायगवसाओ—५६४  
उम्भट—५१

उवीनर—१०० २०१ २११ २२३ ३८७  
उष्टिका—१९५  
उष्णक—३७१  
उष्णिका—२१२

ख

खक—४२६ ४३  
खकतग्र—४ ७ ८ (टि०) १३ ४६३  
खकभ्रातिपाकम्—५ १२ १३ २० ५३  
४४१ ४६३ ४६५  
खकर्मविता—९  
खकमवन्तिकमणी—८४०  
खकसोद—७७  
खकगु माव्य—४५०  
खकम्बद—४ ५ १५, २५ ८१ ८२ ८३ ८४  
८५ ९७ ९९ १६९, १८१ १९३ २१३  
२१४ २४५ (टि०) २५१ २५२ २५५,  
२६२ २६४ २६५ २७२ २७३ २९०  
३०२ ३४९ ३५० ३५२ ३७५, ३९७  
(टि०) ४०४ ४३८ ४३९ ४४० ४४३  
४५४ ४६२ (टि०) ४६८ ४९२ ४९४  
(टि०) ५०५ ५१० ५२३ ५३० ५३१  
५३४ (टि०) ५३७ ५३८ ५३९, ५४०  
५४१ ५४५ ५४९, ५८७  
खकपुसंहार—४६९  
खकविषम् (क)—५३८ ५४०  
खकय—३०१  
खकपाक—४५६  
खकपि—४५५  
खकपिक—१०७ ४५६

ख

एकपरि—२४६  
एकमति—५४५ ५४६  
एकामि—५४१  
एकानामिक प्रोक्कम् मोंक हगिहवा—२६५  
(टि०)  
एकानामिक काइक ऐण्ड प्रायेम इन एन्वायेष्ट  
हगिहवा—२६४  
एकाह—५२४ ५२५  
ए काइक टू सांषी—३९९ (टि०)  
एबू० ए० गाह—५९  
एबू० जो रॉलिंग्टन—३३८ (टि०)

एन० ऑफ़ असेम्ब्लेमैन—११ (टि०)  
 एन० इण्डियन हिस्टो० ट्रेडि०—१२ (टि०)  
 १०० (टि०) ११९ (टि०) १२० (टि०)  
 एन० इण्डिया—१०५ (टि०) १२१ (टि०)  
 एन० इण्डिया एंड इस्त्रा० बाइ मेयास्बनीज  
 ऐण्ड ऐरियन—१२९ (टि०)  
 एन० एम्० टे—१७ १२२ (टि०) १२७  
 एन० प्यापा—५५ (टि०) ९० (टि०)  
 १४ (टि०) १५ (टि०) १०३ (टि०)  
 १०५ (टि०) ११४ (टि०) ११८  
 (टि०) १२३ (टि०) १२४ (टि०)  
 १२७ (टि०)  
 एन्किल्पेट सस्कृत सिटरेचर—२४ (टि०)  
 एपिग्राफिका इण्डिका—१७ (टि०) १०१  
 (टि०) १२१ (टि०) १२४ (टि०)  
 १२९ (टि०)  
 ए० बी० था०—५१८ (टि०)  
 ए (ए) रियम—८३ ११ १६, ७ (टि०)  
 ११७

ऐ

ऐकान्तिक—३९३ ५७२  
 ऐकान्तिक—४३१  
 ऐकान्तिक—५९७  
 ऐकान्तिक—१०७  
 ऐकान्तिक (बायबल)—१९ १०० (टि०)  
 १२३ १६२ १९४ (टि०) ३४९,  
 ३५२ ३७५, ४४२, ४५७ ४६७ (टि०)  
 ५२४  
 ऐकान्तिक आरम्भिक—४४१  
 ऐकान्तिक पाया—४४३  
 ऐकान्तिकी—५११  
 ऐकान्तिक—८३ (टि०) ८६ (टि०)  
 ऐकान्तिक सम्प्रदाय—९  
 ऐकान्तिक ऑफ़ प्रामेगियन—८ (टि०)  
 १५ (टि०) १७ (टि०)  
 ऐकान्तिकी—८७  
 ऐकान्तिक—११  
 ऐकान्तिक—१९

ओ

- (टि०)

ओटो बोर्गसिक (ऑ०)—२४ ६७  
 ओम्बु—१५३  
 ओपनपारितीय—१३ २३  
 ओस्बे (इ)नवर्ग—१७ ४६७ ५३९

औ

औषधिक—४३१ ४३५, ४५४, ४६६ ४९८,  
 ५१३  
 औषधीय—४४८, ४५६  
 औषु—१११  
 औषुमेघ्य—३८४ ४३६  
 औषुसिद्धि—५, ७ १३ ४६३  
 औषुसिद्धत—२१९ २२९  
 औषुसिद्धत—२१८ २१९, २२९  
 औषुसिद्धत—९  
 औषुसिद्धि—१०२ ४३९  
 औषुसिद्धत—४४२  
 औषुसिद्धि—४४२  
 औषुसिद्धि—१६३  
 औषुसिद्धि—२३७  
 औषुसिद्धि—१९९  
 औषुसिद्धि—६  
 औषुसिद्धि—१३  
 औषुसिद्धि—१३८  
 औषुसिद्धि—१९७ ३१९  
 औषुसिद्धि—१९७  
 औषुसिद्धि—१  
 औषुसिद्धि—९०

क

कर्म—१९१  
 कर्म—५०१  
 कर्म—१२० (टि०)  
 कर्म—१७७ ४२८ ४३१ ४३३ ४३६  
 ४४५, ४४७ ४४९ ४५६  
 कर्म—४४६  
 कर्म—८ २२ २३ २४ ६७  
 कर्म—५५, ६१ ८६ ८९ ९४ ९५  
 (टि०) ९७ १०१ १०१ १०२ (टि०)  
 १०३ १०५ (टि०) ११४ ११७  
 ११८ १२२ (टि०) १२७ (टि०)  
 १२८ (टि०) १३९ (टि०)  
 १ ६

- कपाटध्वज—१८४ ३०३  
 कपिजस—१०२  
 कपिशीर्षी—४९२  
 कपिच्छस—११८, ४४७ ४४९  
 कम्पनीयमोडी—९०  
 कमेठ—८७  
 कम्प—१९२  
 कन्धिस—९६  
 कनिष्ठा—५६४  
 कर्ण—५६३  
 कर्मन्ध—४५७  
 कर्मस्थक—१६६  
 कसन्द—५६४  
 कसापी—४४६ ४४७  
 कतिनिर्पणस—३३६  
 कलेकटेड बसर्त डॉ० मन्डारकर—६१  
 (टि०) ६२ (टि०) ६८ (टि०)  
 कम्बुचिनीय—२२५  
 कविकल्पद्रुम—७  
 काकत—४५७  
 काकमुह—२६६  
 काकताक्षीयग्याय—२८० ३ ५  
 काकिमीक—३५९  
 काकोसुकीय—१६२  
 काकोसुकीयतत्र—३०५  
 काठक—१६३ ४३५, ४४५, ४४६ ४४७  
 ४४९ ४५३ ४५४ ५२९  
 काठकसंहिता—१०८ २५२, २६६ ४०२  
 कान्हे—५७० (टि०)  
 कान्हेर—१७५  
 काण्डमायन—१३  
 काण्व—१३ ४५७ ४६३  
 काण्वायन—११  
 काण्वप्र—६६ ६७  
 कारवण्य—६  
 कार्यायन—३ ५, १३ १६, २२, २३ २४  
 २५, २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ५०  
 ५४ ५५, ६६ ७२ ८५, ८९ ९३ १५२  
 १६९ १७७ १८९, २२६ ४२२, ४४०  
 ४६३ ५०४ ५४३  
 कार्यायन-मातिष्ठाक्य—२६  
 कार्यायन-माख्वाडीय—२६  
 कार्यायन भाष्य—५२३  
 कार्यायन-श्रीतसूत्र—२६ ५१९ (टि०)  
 ५२० ५२१ (टि०) ५२२ (टि०)  
 ५२३ (टि०), ५२४ (टि०) ५२७  
 (टि०) ५३६ (टि०)  
 कानीन—१७३  
 कापिसायन—२४५  
 कापिणी—९१ ११६  
 कामसूत्र—५२ ४९३ ४९५ (टि०), ५०३  
 (टि०)  
 कारि—३२४  
 कार्ति—४५०  
 कार्तिकेय—६७  
 कास्त्व्य—६  
 कार्गपरदि—१५२  
 कार्मन्ध—३८३  
 कार्यापिण्डी—३५६  
 कार्प्यवन—८०  
 कासाय—६६ ६७ १७७ ४२८ ४४५,  
 ४४६  
 कासायक—१६३ ४३३ ४४६ ४५३ ४५४  
 ४५७  
 कासायसूचिक—१३९ १४०  
 कासिकापुत्रक—८४  
 कालिदास—५८, ५९ ६० ७१ ७८ ११२,  
 ४०० ४४७  
 कासीसिधु मयी—६३  
 काव्यमीमांसा—१० २२ ९८  
 काव्यहस्तन—९, १० ११ १३ ३१ ४३६,  
 ४६० ४६३  
 काव्यहस्तनी मीमांसा—११  
 कासिका—३ ७ (टि०) ९, १० १२  
 (टि०) १३ १५ (टि०) १८, (टि०)  
 १९ २२, २४ ५३ (टि०) ७४ (टि०)  
 ७७ (टि०) ८५, १०३ १०४ १०६  
 ११९ (टि०) १३७ (टि०) १४० (टि०)  
 १४१ (टि०), १४२ (टि०) १४५ (टि०)  
 १५० (टि०)—१५३ (टि०) १६२  
 (टि०) १६३ (टि०), १६४ (टि०) १६६  
 (टि०) १६९ (टि०) १७८ (टि०) १८०  
 (टि०) १८१ (टि०) १८४ (टि०)  
 १८६ (टि०)—१८९ (टि०), १९३  
 (टि०), १९५ (टि०) १९७ (टि०)  
 २०१ (टि०) २०२ (टि०) २०४

एन० जॉफ़ मसेजबखर—११ (टि०)  
 एन० इन्डियन हिस्टो० ट्रेडि --१२ (टि०),  
 १०० (जि०) ११९ (टि०) १२० (टि०)  
 एन० इन्डिया—१०५ (टि०) १२१ (टि०)  
 एन० इन्डिया एंड हिस्टो० बाइ मेगास्थनीज  
 ऐण्ड ऐरियन—१२६ (टि०)  
 एन० एम्० वे—१७ १२२ (टि०) १२७  
 एम० क्याप्रा—५५ (टि०) ९० (टि०)  
 ९४ (टि०) ९५ (टि०) १०३ (टि०)  
 १०५ (टि०) ११४ (टि०), ११८  
 (टि०) १२३ (टि०) १२४ (टि०)  
 १२७ (टि०)  
 एम्बियेण्ड संस्कृत सिट्टेपार—२४ (टि०)  
 एपिग्राफिका इन्डिका—१७ (टि०) १०१  
 (टि०) १२१ (टि०) १२४ (टि०)  
 १२९ (टि०)  
 ए० बी० आ०—५३८ (टि०)  
 ए (ए) रियन—८३ ९१ ९६, ९७ (टि०)  
 ११७

रे

एकागारिक—३९३ ५७२  
 ऐकाग्रिक—४३१  
 ऐकाग्र्यम्—५६७  
 ऐक्याक—१०७  
 ऐतरेय (ब्राह्मण)—९९, १०० (टि०)  
 १२३ १६२ १९४ (टि०) ३४९  
 ३५२ ३७५, ४४२, ४५७ ४६७ (टि०)  
 ५२४  
 ऐतरेय आरण्यक—४४१  
 ऐतरेय सामा—४४३  
 ऐतरेयी—५१३  
 एन० इन्डि०—८३ (जि०) ८६ (टि०)  
 ऐण्ड मन्त्रबोध—९  
 एण्ड स्कूल ऑफ़ धार्मेरियन—८ (टि०)  
 १५ (टि०) १७ (टि०)  
 ऐराबर्नी—८७  
 ऐस—९१  
 ऐसनाक—१९

ओ

आरभ्यन—७९  
 आभुग्नाय ठाडू—३३२ (टि०)

आटो बोथलिक (डॉ०)—२४, ६७  
 ओषधु—१५३  
 यावनपामिनीय—१३ २३  
 ओस्डे (ड)नबर्ग—१७ ४६७ ५३९

औ

औषधक—४३१ ४३५, ४५४ ४६६ ४९८,  
 ५१३  
 औखीय—४४८ ४५६  
 औडु—१११  
 औदमिष्य—३८४ ४३६  
 औदग्रजि—५, ७ १३ ४६३  
 औवस्वित—२१९ २२९  
 औवस्वित्—२१८, २१९ २२९  
 औबुम्बरायण—६  
 औबुम्बरि—१०२, ४३९  
 औहासकायन—४४२  
 औहासकि—४४२  
 औपगवी—१६३  
 औपधेय—२३७  
 औपनीषिक—१०९  
 औपमग्यक—६  
 औपसीधि—१३  
 औपाध्यायक—१३८  
 और्ध—१९७ ३१९  
 और्धन—१९७  
 और्धगाम—६  
 और्धायन—९०

क

कंसु—१९३  
 कंसवध—५०१  
 कन्धायन—१२० (टि०)  
 कट—१७७ ४२८ ४३१ ४३३ ४३५,  
 ४४५, ४४७ ४४९, ४५६  
 कटौला—४४६  
 कवासरिल्लागर—८ २२ २३ २४ ६७  
 कनिषम—५५, ६३ ८६ ८९, ९४ ९५  
 (टि०) ९७ ९९ १०१ १०२ (टि०),  
 १०३ १०५ (टि०) ११४ ११७  
 ११८ १२२ (टि०) १२७ (टि०)  
 १२८ (टि०) ३८५ ३९९ (टि०)  
 कनिष्प—५३ ६१

- कपाटपत्र—१८४ ३०३  
 कपिलस—१०२  
 कपिलीर्षी—४९२  
 कपिलस—११८, ४४७ ४४९  
 कमनीयमोदी—९०  
 कमेत—८७  
 करक—१९२  
 कटिपत्र—९६  
 कणिकार—५६४  
 कन—५६३  
 कर्मन्—४५७  
 कर्मन्वक—१६६  
 कस्तूर—५६४  
 कसापी—४४६ ४४७  
 कलिनिर्षय—३३६  
 कनेकटेड बर्ष्य भांफु डॉ० मन्वारकर—६१  
 (टि०) ६२ (टि०) ६८ (टि०)  
 कस्तुरिनीय—२२५  
 कविकल्पद्रुम—७  
 काकट—४५७  
 काकमुह—२६६  
 काकवासीयग्याय—२८० ३ ५  
 काकिलीक—३५९  
 काकोमकीय—१६२  
 काकोमकीयतत्र—३०५  
 काठक—१६३ ४३५ ४४५, ४४६, ४४७  
 ४४९ ४५३ ४५४ ५२९  
 काठकसंहिता—१०८ २५२ २६६ ४०२  
 कागे—५७० (टि०)  
 कापेट—१७५  
 काण्डमायन—१३  
 काण्य—१३ ४५७ ४६३  
 काण्वायन—६१  
 काण्व—६६ ६७  
 कात्पत्र—६  
 कात्यायन—३ ५ १३ १६, २२, २३ २४  
 २५, २७ २८, २९ ३० ३१ ३२ ५०  
 ५४ ५५ ६६ ७२ ८५, ८९ ९३ १५२  
 १६६, १७७ १८९, २२६, ४२२, ४४०  
 ४६३ ५०४ ५४३  
 कात्यायन प्रातिशाख्य—२६  
 कात्यायन-माख्वाजीय—२६  
 कात्यायन-भाष्य—५२३  
 कात्यायन-श्रीतयूत्र—२६ ५१९ (टि०)  
 ५२० ५२१ (टि०) ५२२ (टि०)  
 ५२३ (टि०) ५२४ (टि०) ५२७  
 (टि०) ५३६ (टि०)  
 कानीन—१७३  
 कापिषायन—२४५  
 कापिणी—११ ११६  
 कामसूत्र—५२ ४९३ ४९५ (टि०) ५०३  
 (टि०)  
 कारि—३२४  
 कारि—४५०  
 कारिकेय—६७  
 कार्त्तव्य—६  
 कार्त्तव्यरत्नि—१५२  
 कामण—३८३  
 कार्पापिणिकी—३५६  
 कार्प्यबन—८०  
 कार्पाय—३६ ६७ १७७ ४२८, ४४५  
 ४४६  
 कार्पायक—१६३ ४३३ ४४६ ४५३ ४५४  
 ४५७  
 कार्पायसूत्रिक—१२९ १४०  
 कारिकापुराण—८४  
 कारिकावास—५८, ५९ ६० ७१ ७८ ११२  
 ४०० ४४७  
 कारीनिगमु मदी—६३  
 कार्म्यमीमांसा—१० २२ ९८  
 काराकृत्स्न—१, १० ११ १३ ३१ ४३६  
 ४६० ४६३  
 काराकृत्स्नी मीमांसा—११  
 कारिका—३ ७ (टि०) ९, १० १२  
 (टि०) १३ १५ (टि०) १८ (टि०)  
 १९ २२, २४ ५३ (टि०) ७४ (टि०)  
 ७७ (टि०) ८५, १०३ १०४ १०६,  
 ११९ (टि०) १३७ (टि०) १४० (टि०)  
 १४१ (टि०) १४२ (टि०) १४५ (टि०)  
 १५० (टि०)—१५३ (टि०) १६२  
 (टि०) १६३ (टि०) १६४ (टि०) १६६  
 (टि०) १६९ (टि०) १७८ (टि०) १८०  
 (टि०) १८१ (टि०) १८४ (टि०)  
 १८६ (टि०)—१८९ (टि०) १९३  
 (टि०) १९५ (टि०) १९७ (टि०)  
 २०१ (टि०) २०२ (टि०) २०४

(टि०) —२०८ (टि०) २१०  
 (टि०) २११ (टि०) २१२ (टि०)  
 २१४ (टि०) — २१७ (टि०) २१९  
 (टि०) २२० (टि०) २२३ (टि०)  
 २२४ (टि०) २२५ (टि०) २२७  
 (टि०) २२८ (टि०) २२९, (टि०)  
 २३१ (टि०) २३२ (टि०) २३५ (टि०),  
 २३७ (टि०) २३८ (टि०) २४२  
 (टि०) २४३ (टि०) — २४८ (टि०)  
 २५३ (टि०) २५६ (टि०) २५९ (टि०)  
 २६० (टि०) २६२ (टि०) २६४  
 (टि०) २६५ (टि०) २६८ (टि०)  
 २७३ (टि०) २८४ (टि०) २९२  
 (टि०) २९३ (टि०) ३१२ (टि०)  
 ३२० (टि०) ३२१ (टि०) ३२२  
 (टि०) ३२६ (टि०) — ३३० (टि०)  
 ३३४ (टि०) ३३५ (टि०) ३३६  
 (टि०) ३३८ (टि०) ३३९ (टि०)  
 ३४२ (टि०) ३४९ (टि०) ३५१  
 (टि०) ३५३ ३५४ ३५६ ३५४ ३६८  
 (टि०) ३७१ ३७६ (टि०) ३७७  
 (टि०) ३७८ (टि०) ३८१ (टि०)  
 ३८५ (टि०) — ३८९ ३९१ (टि०)  
 ३९२ (टि०) ३९३ (टि०) ४००  
 (टि०) ४०७ ४०८ (टि०) ४१७  
 (टि०) ४१९ ४२१ (टि०) ४२४  
 (टि०) ४२६ ४२८ (टि०) ४२९  
 (टि०) ४३० ४३१ (टि०) ४३५  
 (टि०) ४३६ (टि०) ४३५ ४४६  
 ४५२ (टि०) ४५४ (टि०) ४५६  
 (टि०) ४५७ (टि०) ४५९ (टि०)  
 ४६० ४६१ ४६४ (टि०) ४६६ (टि०)  
 ४७१ (टि०) ४७३ (टि०) ४७५  
 (टि०) ४७६ (टि०) ४७८ (टि०)  
 ४८९ (टि०) ४९० (टि०) ४९१  
 (टि०) ४९३ (टि०) ४ ५ (टि०)  
 ४९६ (टि०) ४९८ (टि०) ५०७ (टि०)  
 ५०९ (टि०) ५११ (टि०) ५१३  
 (टि०) ५१६ ५१९ (टि०) ५२०  
 (टि०) ५२१ ५२७ (टि०) ५२८  
 (टि०) ५२९ (टि०) ५३२ (टि०) —  
 ५३५ (टि०) ५४१ (टि०) ५४२  
 (टि०) ५४३ (टि०) ५४५ (टि०)

५४६ (टि०) ५४८ (टि०) ५४९  
 (टि०) ५५१ (टि०) ५५९ ५६२  
 (टि०) ५६४ ५६५, (टि०)  
 ५६७ (टि०) ५७२ ५७३  
 (टि०) ५७५ (टि०) ५७६ (टि०)  
 ५७९ (टि०) ५८७ (टि०) ५८८,  
 ५९२ (टि०) ५९३ (टि०) ५९५  
 (टि०)  
 काशिकावृत्तिसूत्र—६८  
 काशिकोद्योग—१०७  
 काश्यप—५, ९, १३ ५९ ४५६, ४६३  
 ५५३  
 काष्ठाध्यायक—४२४  
 कश्मि—५७६  
 किरिकाण—४७६  
 किशोर—२९४  
 किष्कु—३५०  
 किसर्ग—२५२  
 कौच—६६ ५३९  
 कीनाथ—२५१  
 कीसर्गोर्न (बो०)— १३ २८ ३२, ५२  
 ९८ (टि०)  
 कुम्भकुटागिरि—७७  
 कुटिसिमा—३१३ ३१४ ३१५  
 कुटीषक—५७२  
 कुडव—३४३  
 कुम्भपाय्य—५१९  
 कुम्भवाङ्म—१३ २५, २६ ५७१  
 कुम्भि—१२ १३  
 कुम्भिकोद्गीय—२६  
 कुम्भिका—१०३  
 कुम्भी—१९३  
 कुम्भोदर—२३१  
 कुम्भ—२०० २०१  
 कुम्भ—१९५, ३३०  
 कुम्भ—१९५  
 कुम्भि—१०८  
 कुम्भकुम्भ—६६  
 कुम्भ—३६२  
 कुम्भा—८३  
 कुम्भारवपकी—१७९  
 कुम्भारवास—५६३ ५६४  
 कुम्भारोतरा—१६८

कुम्भाह्व—१०२  
 कुम्भाहीन—५५  
 कुर्म—८३  
 कुम्भ—१३३ १०६  
 कुम्भेवता—१५८  
 कुम्भमूत्र—१४०  
 कुर्ममित्र—१३९  
 कुम्भविधि—१३०  
 कुम्भिक—३४५  
 कुर्मन—१३३ १०६  
 कुम्भापिण्ड जातक—२१५  
 कुपीनारत—३०९  
 कुपुत्र—१९५  
 कुर्मिषक—३६४ ३६५  
 कुर्मिवापी—३६४ ३६५  
 कुह—८३  
 कुपलनकम्पाय—२५७  
 कुपवित्त—१०६  
 कुम्पुत्राभ—१२४  
 कुप—४६१  
 कुमादक—४५७  
 कुम्पादिबन्—४०८  
 कुम्पगंग—१११  
 कुम्पयनुबद्ध—४४७ ४४८ ४४९  
 कुम्पयनुपु—२५ ५३ ५४ ४५७  
 कुम्पल—३४३ ३५४  
 कुं० कुं० हृत्कस्त्रि—५६३ (टि०)  
 कुयी—११५  
 कुदार—२५३  
 कुदाक—२०४  
 कुम्पाक्षु—२०५  
 कुम्पाक्षरय—२०५  
 कुम्पाक्षुड—२०५  
 कुम्पनसक—२०५  
 कुम्पाक—७  
 कुम्भिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—९१ (टि०)  
 ९२ (टि०) १०६ ११७ ११८ ३९९  
 (टि०)  
 कुम्पट—११ १९ २७ (टि०) ४९ ५२,  
 ५६ (टि०) ५७ ६८, ४९४ (टि०)  
 ५६२  
 कुम्पटराजन—८०  
 कुम्पेरिया एजान—१२९

काहिनुर—९१  
 काहिकुटिक—१६६  
 काग्य—५ १३ २२ ४४७  
 कायुम—४२८ ४४६ ४४०  
 कागिण्ड्य—१३ ४४८ ४४९, ४६३  
 काटिस्य—११६ ३३७ ३५५, ३५८, ३६०  
 २६६ ३८५ ३९१ ४४९  
 काहिकुम्—३८६  
 काहिन—५७  
 काहिकाकारण—६७  
 काहिक—३११  
 काहियक—३००  
 काहिक—४५६  
 काहिककस्य—४५७  
 काहिक-सूत्र—४५७  
 काहिकीपुत्र—१३  
 काहिकी (पी) तपी उपनिषद् (शाहजान)—  
 १२५, ७०२ ४०७  
 काहिक—५३३  
 काहिक—२०७  
 काहिक—६५  
 काहिक—९७  
 काहिक—४५७  
 काहिकी (का) गणितिक—१६७ ३ ६ ३५०  
 ५७०  
 काहिकी (का) पुराण—१३ २५, २६  
 काहिकी—६  
 काहिकी ऑफ एन० इण्डिया—३८५  
 काहिकीपुत्र—५२७  
 काहिक—१८१  
 काहिकी—१५०  
 काहिकी—५७०  
 काहिक-मात्रक—७४ ९५, ३८६  
 काहिकीबान्—७८  
 काहिकी—२३ २४  
 काहिकी—२२९  
 काहिकी—२१२  
 काहिक-मात्रक—४०० ४०५  
 काहिक—३१९  
 का  
 काहिकी—१६४  
 काहिक—४७



पृथिव्य—११० ४२४  
 सधिव्योपाध्याय—४२४  
 सविरवन—८०  
 सारु—२५९  
 सखतिक—७९  
 सभ्य—२५९  
 सभा—९० ९२  
 समुच्चि—४३१  
 साहायन—४४५ ४५६  
 साध्विकीय—४४८ ४५६  
 सामुसत—११०  
 सारवेस—६० ६२ ६३ ६४  
 सारी—२६१ ३३३ ३४४ ३४५

ग

गंगानाथ झा रिस्कर् इन्स्टिट्यूट अर्भस—८  
 (टि०) ४०० (टि०)  
 गजाह्वय—१०२  
 गणपाठ—१० १६ २० २३ १०६  
 गणपिथ—३९०  
 गणरत्नमहोदधि—२२  
 गणबर्भनगर—१९०  
 गणिक—१११  
 गम्मा—१७२  
 गर्भुत—२६६  
 गार्धकय—५०४  
 गार्धक—४५७  
 गार्धकसावा—४४१  
 गार्धकहिता—६३ ६४  
 गार्धक—५, ६ ७ ९ १२, १३ १६, १५८  
 ४४० ४४१ ४६३  
 गार्भुत—२६७  
 गार्ध—५४  
 गार्धक—६ ९, ४४० ४४१  
 गिबन डिक्शनरी एण्ड फोस—२७० (टि०)  
 गिरिमा—११८  
 गिरिमा—८० ९९ १०  
 गलेरी—२४ (टि०)  
 गता—८१ ५६१  
 गुडि—८१  
 गुड—१८१  
 गुडगुड—२४  
 गुडगुडि—५१७ ५२९

गेहानुप्रवेशनीय—१६४ १८९  
 गोष्ण—५९२  
 गोष्णिका—४९, ५० ५१  
 गोष्णिकापुत्र—२६ ५२ ५४  
 गोष्णी—१९५, ३१० ३३३ ३४४ ३४७  
 गोष्णपात्र—१४१ १७८, १७९  
 गोष्णकय—१४२  
 गोष्णक—५१ ५५  
 गोष्णक—१३ २६ ५१ ५२, ५४  
 गोष्णकहाण—४ ९९ १०२ ४५०, ४६७  
 गोष्णक—३८६  
 गोष्णकगुण—५१७ ५३० (टि०)  
 गोष्णक—८३  
 गोष्णकगुण अर्भन—५६४  
 गोष्णकस्टकर—५, ६ १७ २५ (टि०)  
 २६ (टि०) २८ ३० ५५, ६१  
 गोष्णक—५६२ ५६४  
 गोष्णक—१८७ २८९  
 गोष्णक—५२५  
 गोष्णक (वि)—२३९ २९३  
 गोष्णक—१० १२ १३ ४५० ४६३ ५७२  
 गोष्णक—२४१  
 गोष्णी—९०  
 गोष्णक—२००  
 गोष्णक—३९९  
 गोष्णक—५००  
 गोष्णक—३९७ ३९८  
 गोष्णक इन बैकिट्टया एण्ड इण्डिया—६२ (टि०)  
 ६४ (टि०)  
 गोष्णक—२०४  
 गोष्णक इन बैकिट्टया एण्ड इण्डिया—१२३  
 (टि०)  
 गोष्णक—२४६ २४७  
 गोष्णकगुण—१७६

घ

घमा—८४ ८५  
 घटक—३९०  
 घोष—६५, १८५  
 घुतरीडीय—१३

च

चंभा—२५८  
 चक्रगणि—५२

अनुष्णामिह—४३१  
 अनुष्णरि—२४६  
 अवारिणावाह्य—४५८  
 अत्र—६७, ८३, ९१  
 अत्रगुप्त—५७ ६१ ६५  
 अत्रगुप्त विष्णुविरचय—१२६  
 अत्रगामी—१८ ६७ ६८  
 अमम—२-५  
 अममोद्भवेद—८५  
 अरक—५४ २६६ ३४६ ३४८, ४०५, ४०५  
 अरक-नाला—५४  
 अरकसहिता—१० ५० ५ ५४ २१५  
 २७० ३४४ ५४  
 अ (वा) रकीन—४३५, ४४५  
 अरप—१६२  
 अरप्य—५३१  
 अरसह—८५, ९०  
 अर—५३१ ५३२  
 अरगिरा—६  
 अर्यापिटक—१०४ (त्रि०)  
 अर्यार—८५  
 अर्याक—५३६  
 अर्यवर्मण—९  
 अर्यक्य—१६०  
 अर्युराम्य—१६१ १६३  
 अर्युवर्म—१६७  
 अर्युवर्ष—१४४  
 अर्याक—५२८  
 अर्य (आकरण)—६६, ६७  
 अर्यद्रुषि—२७  
 अर्यप्रायण—६९  
 अर्यावपिक—५६९  
 अर्यावप—१३ ४४७  
 अर्यावपीय—४ १३ ४३६, ४४७  
 अर्य इतिवृत्—०  
 अर्याक—५६४  
 अर्या—५६४  
 अर्य—५२९  
 अर्यवर्ष-सोत्र (वीर्य)—४९, ५०  
 अर्यवर्षम्—५१  
 अर्यपी—१६८, १७१  
 अर्यवर्ष—१०४  
 अर्यकार—५३

अर्यवर्ष—६८  
 अर्या—२१६  
 अर्यवर्षान—१०७

८

अर्या (त्रि)—४४७ ४५६ ४५७  
 अर्य—१८२  
 अर्यवर्ष—५४४ ५४५  
 अर्याव—४५६ ४०८  
 अर्याविविधि—४६७  
 अर्याव—४४७  
 अर्याव—१६  
 अर्यावर्ष आर्याव—४०८ ४९८  
 अर्यावर्ष उपनिषद्—९ (त्रि०) १०५  
 १६९, २६६ ४५८, ५८६

९

अर्यवर्ष—७३  
 अर्यवर्ष-अनुष्ण—७४  
 अर्या—१७०  
 अर्या—१७०  
 अर्यवर्षवर्षानति—७८  
 अर्यवर्षान—१०४  
 अर्यावर्ष—१८, ६८  
 अर्यावर्ष—६८  
 अर्यवर्षान्ति—१७३  
 अर्यवर्षान्ति दि पौन्य एर्यावर्षान्ति आर्यावर्षान्ति  
 अर्यवर्षान्ति—५७ (त्रि०) ६५ (त्रि०)  
 ८ (त्रि०) ९६ (त्रि०) २६८ (त्रि०)  
 अर्यवर्षान्ति आर्यावर्षान्ति दि पौन्य आर्यावर्षान्ति  
 अर्यवर्षान्ति—६२ (त्रि०) ६३ (त्रि०) ६४  
 (त्रि०) ६५ (त्रि०) ७९ (त्रि०)  
 अर्यवर्षान्ति अर्यवर्षान्ति आर्यावर्षान्ति  
 (त्रि०)  
 अर्यवर्षान्ति एर्यावर्षान्ति—१०७  
 अर्यवर्षान्ति—५६ ७७ ८० १०६ (त्रि०) १०७  
 (त्रि०) १०८ (त्रि०) १२४  
 अर्यवर्षान्ति—१ ४३३  
 अर्यवर्षान्ति—५६० ५६४  
 अर्यवर्षान्ति—७३ ७४  
 अर्यवर्षान्ति (त्रि०)—६२, ११४ ३८४  
 ३८५, ३८६, ३९७ ४०४ ४१०  
 (त्रि०)

पारमरा—१७३ १७४  
 अर्थि मार्लस—३५४ ३९९ (टि०)  
 वासुदेवरायण—४१०  
 वासुदेवसक्त—४६९  
 जिमर—९७ १०४  
 जिह्वुव—१०४  
 अस्मिन्—११६  
 बुद्ध—५३५ ५३६ ५४४ ५४९ ५५०  
 बुनायक-शिक्षालेख—९४  
 बंभुत्तर—९७ १२७  
 बंभुत्ति—४३८ ४४९  
 बंभुत्तिय उपनिषद्—११५  
 अविता—५४६  
 ज्ञान—५६४  
 ज्या० अर्ध् अर्ली बुद्धिज्म—१२३ (टि०)  
 ज्या० अर्ध् अर्ली—७७ (टि०) ८५ (टि०)  
 ९७ (टि०) १२२ (टि०) १२७ (टि०)  
 ज्या० अर्ध् अर्ली पाणिनीय अष्टाध्यायी—  
 ८६ (टि०)

४

टार्नि—६२ (टि ) ६४ १२३ (टि०)  
 टारमी -७९ ९७ ११३ ११४ ११६ ११९,  
 १२१ १२३  
 टीक्ष—३४८  
 द्वाइतियस कौस्तुभ अर्थ संस्कृत मैनसिफ्टस—  
 ४४१ (टि०)  
 द्वाइतम्—८६ (टि०) ९० (टि०) १००  
 (टि०)  
 द्वाइतम् इन एन० इण्डिया—९५ (टि०) १००  
 (टि०) १२७ (टि०) १२९ (टि०)  
 द्वाइतम् अर्ध् फाहान—११९ (टि०)

५

द्वाइतम् अर्ध् अर्ली वि कसि एज—६१ (टि०)  
 ६५ ११८ (टि०)  
 द्वाइतम् अर्ध् बुद्धि—५६३ (टि०)  
 द्विजानटी अर्ध् पाणि प्रापर नेम्स—५५  
 द्विजानटी—३३७  
 द्विजानटी—९६ ९७ (टि०)  
 द्विजानटी—९१  
 द्विजानटी—९२  
 द्वि० गी० सरकार—६५

इली—३०४  
 इली अर्ध्—२६१ २६४  
 इली अर्ध् पतञ्जलि—४०० (टि०)  
 इली अर्ध् (धर्ममिठ)—६२, ६३ ६४ ६५,  
 १२३ (टि०) ४००  
 इली अर्ध्—२५ ८४

६

इली अर्ध्—११७ ११९, ३३७ ३५४  
 इली अर्ध् सुकुमान—७७  
 इली अर्ध्—८३  
 इली अर्ध्—२१३  
 इली अर्ध्—१०  
 इली अर्ध्—४४८  
 इली अर्ध्—१८१  
 इली अर्ध्—४४९  
 इली अर्ध्—३१० ३११  
 इली अर्ध्—५२२ ५२३ (टि०)  
 ५२५ (टि०)  
 इली अर्ध्—५१३  
 इली अर्ध् (मो०)—६० (टि०)  
 इली अर्ध्—९४  
 इली अर्ध्—४४८ ४६०  
 इली अर्ध्—८  
 इली अर्ध्—७५  
 इली अर्ध्—१६४ ४२२ ४३७  
 इली अर्ध्—१६४ ४२२ ४३७  
 इली अर्ध्—२१३  
 इली अर्ध्—४५६  
 इली अर्ध्—५२० ५६९  
 इली अर्ध्—९७  
 इली अर्ध्—३२५  
 इली अर्ध्—१७७  
 इली अर्ध्—९४  
 इली अर्ध्—२६८  
 इली अर्ध्—६  
 इली अर्ध् उपनिषद्—४६२ (टि०)  
 इली अर्ध् अष्टाध्यायी (मारण्यक)—१३ १०८  
 (टि०) १६२ १६९ ४६२, ४६७ ४९२,  
 ४९३ ५२२ ५२३ (टि०) ५२५ (टि०),  
 ५४५  
 इली अर्ध् अष्टाध्यायी (प्रातिशाख्य)—४ ५, ८,  
 १३ १९३ (टि०) २०२ २५५, २६२,

- २६६ २६७ २८७ ३३२ ३८८ दासिमापय—७३ ७४  
 ४४९ ४५३ (टि०) ४६३ ४६८ वासा—२२ ४६४  
 ४७० ४९२ ५११ ५२७ (टि०) बाणीयुक्त—१२ २२ ४६६  
 ५२८ (टि०) ५८३ बाब—१९६ २५९  
 तीम्बुरव—४४७ ४५७ दाबिक—२१७ २१८ २२८ २२९  
 तीरायभिक—५२१ दाहा—२४४  
 तीम्बकि—२९८ दाण्डात्रिनिक—४०७ ५७४  
 त्रयादद्याम्बिक—४३१ दारद—९२ ३८७  
 त्रिकाण्डशेषकीय—२२ दारदबुन्दारिका—२ ३८८  
 त्रिगर्त—१०१ दारदिका—९० १८  
 त्रिगर्तपठ—३८७ दाग्दी—८६  
 त्रिगुह—१३६ दाइनाम्बापक—४६  
 त्रिपनिका—१९१ दार्पसत्र—५१९  
 त्रिपरि—२४६ दा—९८  
 त्रिमुनिव्याकरण—३ दार्पुरिक—३१० ४०४  
 त्रिविण्णक—१६६ ५७१ ५७७ दासोपाय—३०६  
 त्रिरावत्रीक—८४ १०४ दाम्य—१३  
 त्रैगोत्राहाप—४९८ दाममार—१५६  
 त्रैयम्बिक—४३१ दाममाप—१५६  
 त्रैविण—१६७ बागीमार—१५५ १५६  
 त्रैम्बर्व—४०६ ५४२ ५४३ शानर—१०४ ३६९  
 शामसन—२६८ दि माई आँकु बार इम० इण्डिया—३०७  
 शिपाकेस्टम—२६८ (टि०)  
 शि  
 शिष्टा—६५ दि इण्डियन हिस्ट्री क्वा०—३२ (टि०)  
 शिष्या—५४६ दि एकाउन्टिङ नॉन्जेज ऑफ एन्जिनियरिंग  
 शिष्यापय—७२ ८८ हिस्ट्री—४०३ (टि०)  
 शिष्यापय—३३६ दि काल्पायन ऐण्ड पर्टिजन्सि—२८ (टि०)  
 शिष्यापय—४०० ३२ (टि०)  
 शिष्यापय—२०५ शिष्यानिकाय—१०९, ११० (टि०) १२३  
 शिष्यापय—२९० (टि०) १२४ (टि०)  
 शिष्यापय—७८ \*२ शिष्यानिकाय (शिष्या)—५६२ (टि०)  
 शिष्यापय—९२ दि हिस्ट्री ऑफ शिष्यानिकाय ऑन दि रॉयल  
 शिष्यापय—३३६ (टि०)  
 शिष्यापय—११२ दि शिष्यापय—१७२  
 शिष्यापय—३१४ दि शिष्यापय ऑफ दि एग्जिप्टियन सी—११३  
 शिष्यापय—\*२ दि शिष्यापय ऑफ शिष्यापय ऑन दि रॉयल  
 शिष्यापय—२  
 शिष्यापय—\*८० शिष्यापय—६३ ६६  
 शिष्यापय—\*२ दि शिष्यापय ऑन दि रॉयल  
 शिष्यापय—५१७ ५३१ शिष्यापय—४४०  
 शिष्यापय—५२२ शिष्यापय—६० (टि०) ६५ १००  
 शिष्यापय—१४६ शिष्यापय—३४८  
 शिष्यापय—११, २३ ४६४

वि स्तूपनर मॉक मण्ड्याप्यापी—१७ (टि०)  
 वि स्तूप मॉक भरहुत—३९९ (टि०)  
 दीपबंध—१२०  
 दीपिका—६८  
 दुभुज—२३४  
 दुदुत—२३४  
 दुरोमस्य—५९२  
 दुर्ग (भाषार्थ)—४४७  
 दुर्जन—३१४  
 दुमबी—५५६  
 दुष्करण—१० १२  
 दुडसन—१८२  
 दुपद—२१२ ३३१  
 दुपद्वी—८५, १०५  
 दुष—८८  
 देवदासन—८०  
 देवदीप—८ १९  
 देवभूति—१५  
 देवमह—५५५  
 देवयजन—५४९  
 देवभूति—६३  
 देविका (देवा)—८८  
 देवीपुराण—८०  
 देव—७४  
 देवतमीमांसा—११  
 देष्टिक—५६१ ५६२  
 देव्यामिमानवागी—११ ४७  
 देहायन मूह्यसूत्र (संहिता)—५१६  
 ५१७ ५१८ ५२९ ५३० (टि०)  
 द्रमवी (घोडा)—८७  
 द्रौणिकी—१९२  
 द्रौणी—१९२  
 द्रौण्य—३४२  
 द्रौह्य—४०५  
 द्रावगान्यक—४३१  
 द्रिकुमिजीवा—१९२, ३४६  
 द्रिपदिवा—१९१  
 द्रिपदि—२४६  
 द्रिमीड—११८  
 द्वापरावतीक—८४ १०४  
 द्वैयमिद—४३१

घ

घनी—८१

धम्मपद—१२४ (टि०)  
 धर्मपति—३९२  
 धातुपाठ—१० २० २३  
 धाम्या—५३१ ५४९  
 धिपथा—२२५  
 धुतंन—५७३  
 धेनुप्या—३६७  
 धोपी—११० (टि०)  
 धौत—३१८  
 धुवा—५३६

ग

गयरबाह्य—१८६  
 गधीसूक्त—८२ ८३  
 गधी—३३०  
 गन्धर्वस्वर—९  
 गन्ध—२३६  
 गरोन्वेक (भाषार्थ)—५६२ (टि०) ५६३  
 (टि०) ५७३ (टि०)  
 गन्ध—३५०  
 गन्धस—५१७  
 नागपाथ—५२  
 नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—२४ (टि०)  
 नागसेन—६२  
 नामाङ्कन—३३  
 नागेश (भट्ट)—१८ (टि०) १० २९,  
 १८ ४६४ ४६५  
 नागोत्रिमदट—५१ ५२ ५७  
 नागोद्भेद—८५  
 नाटेर—४९८  
 नाट्यसूत्र—४९९ (टि०) ५०३ (टि०)  
 नानापरिचयसंक्षेप—७  
 नारायणचन्द्र बन्धोपाध्याय—२६४  
 नार्पत्य—३७५  
 निकाय—१८१ १८२  
 निकाम्य—१८१ १८२  
 निर्गठनास्तपुष—५६२  
 निवह-पाठ—५४५  
 निघात—५४८  
 निपद्यु—६  
 निषक—१०३  
 निषान—१८७  
 निमिषाप्य—१०८

निपुस्त—३७७  
 निरुक्ति—७१ ७२ ९२, ९३ १११ १५३  
 ५१५, ५८९  
 निरुक्त—५, ६ ७ (टि०) ८ १३ १४ ५३  
 ८९ (टि०) ४४७ ४५५, ४५९ ४६०  
 ४६७ (टि०)  
 निरुद्ध—५३३  
 निरुद्ध—१०४  
 निरुद्धक—२१८  
 निरुद्धक—४५  
 निरुद्ध—७४ १८०  
 निरुद्धा—१८२  
 निरुद्धार्थि—५३० ५४७  
 निरुद्धाकरण—७४३  
 निरुद्धा—२६०  
 निरुद्धाणि—३१८  
 नीय—१०२  
 नीयकार (नीयिण)—८०  
 नेष्टा—५३९  
 नेगम—४६२  
 नेगि—१३  
 नेगपद—१०३  
 नेगान—६  
 नेग्य—१०३  
 नेमिपाठ्य—८०  
 नेमस्त—६ ७ ४६२  
 नेमिस्तक—१०७  
 नेग—११  
 नेग्य—११  
 नेग्य—१०  
 नेग्यवृत्ति—७ (टि०)  
 नेग्य—५४२

प

पञ्चकपाक—३४७ ५३२  
 पञ्चनद—८४ ८५  
 पञ्चपादी उपाधिस्तक—७ २३  
 पञ्चमहायज्ञ—१६४ १७१ ५९७  
 पञ्चमोहित—३४७  
 पञ्चमिष बाह्यान्—१०८, २१५, ३५० ४५८  
 पञ्चमीषा—५५०  
 पञ्चावत—५५३  
 पञ्चावती—५१८

पञ्चावतीय—१७७  
 पञ्चागदुवाह्यान्—३८८  
 पञ्चीन्म मव—५१०  
 पञ्चाव गदगियग (सम्वासा विद्या)—८५  
 (टि०)  
 पञ्चमकञ्जायन्—१६२  
 पञ्चमष्टकविद्य—१२८  
 पणि—२१ ७  
 पण्य—३२७ ५५१  
 पण्यकम्बल—७००  
 पण्यमि—३ ५, १३ १४ १० ७४ २७  
 २९, ३१ ३२ ३३ ३४ ४५ ४८ ४९,  
 ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७  
 ५८ ५९ ६५ ६६ ६७ ७१ ७२ ७३  
 ७५ ७६ ७७ ७८ ७९, ८० ८१ ८३,  
 ११५ ११६ ११८ ११९ १२४ १२८  
 १२७ १६१ १६८ १६९, १७१ १७७  
 १८८ १८९ २०० २०३ २०५, २२६,  
 ५१ २६२ २६७ ७७३ २८६ २९५,  
 ३०३ ३४१ ३५५, ३५७ ३७५, ३७६,  
 ३७७ ३८१ ३८२ ३८९, ३९९ ४०४  
 ४०७ ४१४ ४१६ ४२२ ४२३ ४२४  
 ४२६ ४२८ ४३१ ४३५, ४४० ४४१  
 ४४३ ४४६ ४४८, ४५० ४५१ ४५३  
 ४५६ ४६० ४६१ ४६७ ४६४ ४६५,  
 ४६६ ४६७ ४८३ ४८४ ४९६ ४९८,  
 ५०२ ५०४ ५१० ५१२, ५१४ ५१७  
 ५३८, ५४३ ५५१ ५५२ ५५३ ५५४  
 ५५७ ५५८, ५५९ ५६१ ५६६ ५६८  
 ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७६ ५७७  
 ५७९, ५८८, ५८९, ५९४ ५९५  
 पण्यमिषवित्—२१ २२ (टि०) २३ २९,  
 ३० ४९ ५१, ५४

पण्यमिषा—१६८  
 पण्यमिषेय—७२  
 पण्यमिषान (प्रतिष्ठान)—५५  
 पण्यमिषा—१७३  
 पण्यमिषा—१६५, १७१ ५१५  
 पण्यमिषा—९, १० ११ (टि०) १३ २०  
 पण्यमिषा—८५, ९४ १२७  
 पण्यमिषा—१२१  
 पण्यमिषा—४९३

परमनैतिक—३५३	१५० १५५, १६१ १७० १६४ १७७
परमार्हस—५७२	१८७ १८९ २०० २०३ २१६ २२३
पराप—८८	२२३ २७० २७४ ३०० ३१० ३२३
परारि—४८७	३५५, ३५७ ३७५, ३८२ ३८४
परिक्रम्यन्—३६७ ३६८ ३६९	३८६, ३८७ ३८८ ३८९ ३९८ ३९९
परिष्णाय—५२९	४०० ४०१ ४०५, ४०६ ४०८ ४१७
परिष्णाय—२४७	४१८ ४२२ ४२७ ४२८ ४३५, ४४०
परिपचन—२१३	४४१ ४४२, ४४५, ४४६ ४४७ ४४८,
परिभाषेन्मुखेकर—३	४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५६
परिभाषक—३९२	४५८ ४६० ४६१ ४६२, ४६३
परिभाषी—३९२	४६५, ४६७ ४६९ ४८३ ४९८ ५०४
परिष्ठापन—१६२	५०७ ५०९ ५१९ ५५४ ५५९ ५६९
परिधिष्टपर्क—१११	५७५, ५७७ ५८० ५८७ ५८८ ५८९
परिपत्तीर्ण—३८०	५९३
परिपहस—३८०	पामिनि शैशर इच्छियन् स्टरीज—२५
परिपचन्द—२३९	पामिनि द्विज ज्ञेय इत संस्कृत सिटरेपर—
परुत्—४८७	३ (टि०) १७ (टि०) २५ (टि०)
पवि—७८, ९१ ११६	२६ (टि०) २७ (टि०) ३० (टि०)
पपिक—१९२	पामिनीज धैमटिक—६५ (टि०)
पर्वध्वयन—४२२	पाषिसर्वा—१९४
पसाह—२६१ २६९	पाष्कम्बस (ली)—२३५, ३२
पसाप्रघातन—१९४ २७५, ३१४ ३३०	पार्श्वीणा—१९२
पत्थि—१८४	पाथिक—३६९
पवनवृत्—११० (टि०)	पाय्य—३४८
पवित्र—५४९	पारमगोतुच्छिक—३३२
पद्मकम्ब—५३३	पारस्कर—१६० ५२९
पक्ष (स) धात्रिक—१७ ३५ (टि०)	पारस्करगुह्यसूत्र—१५७ १६० (टि०) ५२९
४६२ (टि०)	(टि०)
पाञ्चनद—८४	पापपण—५६९
पाञ्चरात्रिक—५७०	पापसर्ग—१६६
पाञ्चाष्ट—१३	पारिक्त—१८८
पाक्यत्र—५१५, ५१६ ५१७ ५१९ ५२८	पारिक्तीय—१८८
पाटलिपुत्र—१२५, १२६ (टि०)	पारिषाद—७१ ७२ ७८ ७९
पाणिगृहीती—१६० १६९	पारितोम्यक—८०
पाणिप—३१० ३११	पारिषादक—६
पाणिन—२२	पारेगङ्गा—८६
पाणिनि—३ ५, ६ ७ ८, ९, १० ११ १२	पारेपम्बक—८१
१३ १५, १६, १७ १८, १९ २० २१	पारेपम्बन्—८१
२२ २३ २४ २५, २६ २८ २९	पामिटर—११ (टि०) १५, ७८ (टि०)
३१ ३२, ३३ ३४ ३७ ४५ ५३	७९, ८४ ८८ ९२ ९८, १०० १०६
५९ ६० ६३ ७१ ७३ ७५, ७६ ७८	११८ ११९ १२० (टि०)
८० ८६ ८९, ९३ १०१ १०२ १०६	पार्थ—९२
११४ ११६ १२९, १४२ १४४ १४५,	पार्दयन—७८

पार्श्वपत्र—७८  
 पार्श्वपत्र—९२  
 पार्श्वतीपरिमय—२३  
 पार्थ (पारिपत्रक)—अध्या—४ ५  
 पार्थनाय—१२१  
 पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन० इण्डिया—  
 ८९ (टि०) ९३ (टि०) ९६ (टि०)  
 ९८ (टि०) ११२ (टि०) १२०  
 (टि०) ४०० (टि०)  
 पाल्निमिक्काय—५६३ ५७३  
 पालीग्रामर—१२० (टि०)  
 पिपल—२२  
 पिबध—१९७  
 पितृदेवलय—५८०  
 पितृभोवीय—१३७  
 पिपल (डॉ०)—२९८  
 पिपल—२१३  
 पिपलपिण्डी—२१३  
 पी० एम्० देवमुखा (डॉ०)—५३९  
 पी० के० मोरे—२१६  
 पीटर्सन (डॉ०)—२४ २५  
 पीयूष्मान—८०  
 पी० सी० चक्रवर्ती—१४ (टि०) ३९७  
 पी० सी० बागची—६५  
 पुमानुज—१७६  
 पुत्रपुत्रादिनी—१७४  
 पुत्रवीचीण—१६५  
 पुष्पधर—११  
 पुराण—८०  
 पुष्य—३५१  
 पुरगोत्तम—४४८  
 पुरगोत्तमदेव—१८ २२  
 पुरोडास—५१३ ५२१ ५२६ ५३२ ५३५  
 पुरोडासिक—५१३  
 पुरोमुखाय—५४४  
 पुसिन्द—६५  
 पुष्कला (रा) कवी—८५, ८६ ९० ३३७  
 पुष्यमिह—५५, ५७ ५८ ५९ ६० ६१  
 ६२ ६३ ६४ ६५ १२४ १२७  
 ३८२ ४०० ५१२, ५३७ ५४०  
 पुष्यमिह—३९०  
 पुष्यमिह—२६४  
 पूर्णकल्प—५६२

पुष्यपरिषद्—५४८  
 पुष्य—११०  
 पुष्य—५१७  
 पुष्यवर्तिमिया इण्डिया—११७ (टि०)  
 पेरिप्लस—९३ ११३ ११४ २७०  
 पेनी—४४२ ५१३  
 पय—४४२ ४५७  
 पैपसाद—४५० ४५१ ४५७  
 पैपसादक—१६३ ४३५ ४४६, ४५३  
 ४५४  
 पैपसाद-महिता—२४५ (टि०) ४२८,  
 ४५१  
 पल—४३८ ४३९  
 पैम्य—४३९  
 पाता—५३८  
 पौलिक—२६७  
 पौरोडासिक—५१३  
 पौकामादि—५, १० २६ ४३३  
 पौष्यमिह—४४९  
 प्रथ (पा) ह—३४२  
 प्रनवावत—५४४  
 प्रगोता-मात्र—५५०  
 प्रतिनामूत्र—४  
 प्रतिपान—४७७  
 प्रनीचर—७२ ७३  
 प्रर्षप—१० ११ (टि०) १३ (टि०)  
 ५६३ (टि०)  
 प्रवर्षाघात—११ १९ (टि०) ४६४  
 प्रवर्षमूदनी—१०४ (टि०)  
 प्रवर्षहृदय—४३९ (टि०) ४४८ (टि०)  
 प्रवा—१८७ १८९  
 प्रवाज—५१६ ५४९  
 प्रवर्षमन्त्र—८१  
 प्रवर्षपत्र—५९  
 प्रवर्षमन्त्री—४४८  
 प्रवर्षोच्चारण—५४५  
 प्रवर्षक—२९१  
 प्रवेता—२३४  
 प्रवर्षपाद—६६  
 प्रवर्षास्ता—५३९  
 प्रविता—५५०  
 प्रवर्ष—५४९  
 प्रवर्षोत्ता—५४५



- प्रस्य—७६ ७७ ३४४  
 प्रस्य—१८३  
 प्रामाण्य—२०६  
 प्राच्य—७३ ७४ ११६ १४३ २४८  
 ४४५  
 प्राच्य वाचस्पति—१३  
 प्राच्य-मध्य—७३  
 प्राजिता—२३४  
 प्रातिशाक्य—४ ५ ६  
 प्राच्य-कुरण—२३७  
 प्राणवासी—१६४  
 प्राणवासी—४१८  
 प्राय—८८  
 प्रा (प्र) वर—२००  
 प्राचीन—२०३  
 प्राप्ति—५३६, ५५०  
 प्रासव्य—२९१ २९२  
 प्रासाधारण्य—१८९  
 प्रास्तविक—३२६  
 प्रियमथ—८२  
 प्रीत्य—३७०  
 प्री (प्री) प—५४० ५४४ ५४८  
 प्रोत्र—४७५  
 प्रोथम—८०  
 प्रोसायन—१९ ४६१  
 प्रोधि—१३ ४६३  
 प्रोली—८३ ९२ ११७ २७० ३३७  
 (टि०)  
 प्रोटा—९६  
 प्रोटे—२५
- क
- काष्ट—३२८  
 काष्टाहृत्—१६३  
 काष्टाहृति—९४ १६३  
 काष्ठान—११० १२० १२४ १२६  
 काष्ठ—१२३  
 काष्ठम—२५
- ख
- काष्ठ—२०४  
 काष्ठ—३६७  
 काष्ठ—१७९
- कस्तुरी—८५  
 कस्तुरी—७९  
 कस्तुरी—१२३ (टि०) १२८ (टि०)  
 कस्तुरी उपाध्याय—५६४ (टि०)  
 कस्तुरी—५०१  
 कस्तुरी—७८  
 कस्तुरी—७८  
 कस्तुरी—५७२  
 कस्तुरी—१७७ ४३१ ४३३ ४३६ ४४२  
 ४५४ ४६६ ४९८  
 कस्तुरी—४४२  
 कस्तुरी—११  
 कस्तुरी—५९  
 कस्तुरी—१३ ४४१ ४६३  
 कस्तुरी—८५  
 कस्तुरी—३४९  
 कस्तुरी—७१ ७३ १००  
 कस्तुरी—४३३ ४३८ ४३९ ४४२ ४९८  
 कस्तुरी के० ठाकुर—५९ ६०  
 कस्तुरी के० मजूमदार—३९७ (टि०)  
 कस्तुरी—११६ १२४ (टि०) १२७ (टि०)  
 कस्तुरी सी० ला—७८ ७९ (टि०) ८३  
 (टि०) ८४ (टि०) ८६ ९४ ९५,  
 १०० (टि०) १२३ (टि०) १२६  
 (टि०) १२७ (टि०) १२९ (टि०)  
 कस्तुरी माफू ईस्पर—२६८  
 कस्तुरी—५६३  
 कस्तुरी—४९४ (टि०)  
 कस्तुरी इतिहास—९० (टि०) १०७ १११  
 (टि०) ३८६ ३९९ (टि०)  
 कस्तुरी रेकावत माफू वेस्टर्न बर्थ—११६  
 १२४ (टि०) १२७ (टि०)  
 कस्तुरी—२००  
 कस्तुरी-पामंजरी—८  
 कस्तुरी—९८  
 कस्तुरी-उपनिषद्—५९ १०५  
 ११२ १२४ ४३५  
 कस्तुरी—५९ ६० ६४  
 कस्तुरी—८ १३ ४६३ ५६४  
 कस्तुरी-विभिन्न—६३  
 कस्तुरी—३३७  
 कस्तुरी—८४  
 कस्तुरी—११

वैदिक्या—४००  
 वैश्विकि—४१८  
 वैश्विकि शाखा—५९  
 बोधलिक—६ २५ (टि०) ६५  
 बोधिसत्त्वबाधकल्पसता—१०४ (टि०)  
 बोधायन—४९२ ५६७ ५७० ५७१ ५७४  
 बोधायन यौत-मूहा (धर्म) सूत्र—५६ ७१  
 (टि०) ७२ ७९ १२५ १५८ १६०  
 (टि०) १६७ ५६६ ५६७ (टि०)  
 ५६९ ५७१ (टि०) ५७३ (टि०)  
 बौद्धदर्शनमीमांसा—५६४ (टि०)  
 बौद्धधर्मवर्णन—५६२ (टि०) ५६३  
 (टि०) ५७३ (टि०)  
 बह्व—५५७  
 बह्वपाटी—१६१ १६२  
 बह्वपुत्र—१४९  
 बह्वपुराण—१२० (टि०)  
 बह्वबुध—२७७  
 बह्वा—८ १३ ५३९  
 बह्वाष्टपुराण—६१ ११४ (टि०) १२८  
 ४४० ४४५ (टि०)  
 बह्वावर्त—८५  
 ब्राह्मणाच्छंठी—५३९ ५४०  
 ब्राह्मणावाव—९५  
 ब्राह्मी शिक्षाशेख—१२१  
 ब्राह्मण—५२४

म

मंजनामिरि—७७  
 मन्तकर—२०९  
 मन्वन्तसरण उपाध्याय—६३ (टि०)  
 मन्वन्तीसूत्र—११८ ५६४  
 मन्वन्त—४४१ (टि०) ४४७ ४५२  
 मन्त्रि—१०  
 मन्त्रिजि (बोधित)—९, १० ४९  
 मन्त्रारकर (बौ०)—२४ ५४ ६१ ६२  
 ६८, ९२ ३३२, ४०० (टि०)  
 मन्त्रा—५६४  
 मन्त्राकरण—१११  
 मन्त्रीय—३६८  
 मन्त्र—३८७  
 मन्त्राव—८  
 मन्त्रुत—६० ११९ १२२, १२८ ३९९

मन्त्रुत इस्मि०—१२३ (टि०) १२८ (टि०)  
 मन्त्रुहरि—३० ३५ ५२ ५३ ६७ ६८  
 ४६४ (टि०)  
 मन्त्रुहरि-टीका—१२  
 मन्त्रका—१९५  
 मन्त्रा—१९५ २४१ ३१४  
 मन्त्रिका—१९५  
 मांगीन—१९७ २५४  
 मांग्य—१९७ २५४  
 मासिक—२०८  
 मागवत—६५  
 मागवतपुराण—८७ ९४ ११८ १२१  
 मागविति—९४ ४४९  
 मागुरि—१३  
 माखान—९ १३ २२ २५, ५९, १०६  
 ११३ ४६३  
 माम्यंस्व—४४०  
 मान्स्व—४५७  
 मान्स्वी—४४९  
 मापा—१६  
 मायिकसूत्र—४  
 मास्त्रिक—२४१  
 मा० हिस्ट्री ऑफ एन० इण्डिया—९१  
 (टि०)  
 मिलासूत्र—४५७  
 मूिमिन्त्र—६३  
 मूिम्यस्व—४४०  
 मंक्रुण्ट—४६०  
 मंरबमिथ—५४  
 मंरराज—५२  
 म्नाबस्मोक—२९ ४६८ ४६९ ५६० ५८५  
 म्नाटकि—४४७  
 म्नीनघ्न—५७७  
 म्नीनहृत्प—५७७

म

मंवा—३२९  
 मंजुषीमूस्मकल्प—६५, ४६९  
 मन्सलि—५६३  
 मन्सलिगोसाम—५६१  
 मन्समनिकाय—८३ (टि०) ९१ १२३  
 (टि०)  
 मन्मिन्सकई—५६३

- मत्स्यपुराण—६१ ९२ ९९ (टि०) महाभाष्य (प्र) वीपिका—१० ११ २३  
 ११२ (टि०) ११३ ५२ ५३ ६८ ४६४  
 मन्वन्ती—५३४ महाभाष्यसंस्कृतोप—१७४ (टि०)  
 मध्य—७४ ४४५ महाभाष्य—३७९  
 मध्यम—७२ महामेघवाहन—६३  
 मध्यमिका—५८ ६० ६१ ६३ ६४ महारजन—३१७ ३२९  
 ९८ १२७ महाबंध—११० (टि०)  
 मगरबन घोष—१२६ (टि०) महावग्य—४९४ (टि०) ५०४ (टि०)  
 मनु—६, ८५, १०७ (टि०) १६० १९२ महावीर (बर्द्धमान)—११८ १२७ ५६३,  
 (टि०) ५६४  
 मनुस्मृति—९२ १५३ ३५३ ३५४ (टि०) महावत—५२६  
 ४४२ ५७२ ५८५ (टि०) महावतीप—५२६  
 मात्रकरण—५४२ महाभूत (त्रा)—१५२  
 मन्त्र—२१८ महाहिमवान्—७८  
 मन्त्रसीर—४८३ महिष्मान्—११२  
 ममी—२६८ महीधर—४३८  
 मन्त्रकन्द—७८ महीधर-भाष्य—४०२ (टि०) ४३८  
 मन्त्राह—९५ (टि०)  
 मन्त्रिणापी टीका—२७ मांसीवर्णिक—१३९ २२१  
 मन्त्री—९५ मारुष्टेष्ठ औषु इण्डिया—७९  
 मन्त्रोद्—९५ मासभ्य—१३  
 मन्त्रकावली—८५, ८६ ११७ भाष—९  
 मन्त्र—८६ भाषाकीर्ष—१३  
 मन्त्रा—१६६ ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ भाषावक—१६१ १६३ १६४ २०५ २२३  
 महयुक्तका—५२६ ४१७ ४१८ ४९२  
 महाकुम्भ—१९२ माष्टगोमरी—९६  
 महात्र—२९८ माष्टजगिष—१५२  
 महाबाह्य—१५० माष्टनेत्र—१३  
 महाभार—३४७ माष्टकशेन—६०  
 महाभारत—८ १६ १९ २३ (टि०) माष्ट्यन्त्रिन—१३  
 ३४ ५५ ५६ ५८ ७० ८५ ८९, माष्ट्यन्त्रिन वातपथ—४४३  
 ९२ ९५ ९७ ९८ ९९ (टि०) माष्ट्यम्बिनि—५  
 १०१ १०३ १०५ (टि०) १०६ माष्ट्यमिक—३१८  
 ११० (टि०) ११३ ११७ १२ १२१ माणुमेष्टस ऐष्टिनवतीज औषु मार्ष वस्त  
 १२२ १२५ १२७ ३५२ ३५४ प्राविष्टत्र एण्ड वचथ—१२३  
 ३७९ ३९७ ३९९ ४०१ ४४२ मान्याता—१०४  
 ६६७ ४६८ ५०२ ५५४ ५७२ मार्कण्डा—८५  
 महाभाष्य—३ १० ११ १२ १८, १९ मार्कण्डेयपुराण—७८ (टि०) ८४ (टि०)  
 २६ ३१ ३२ ३५ ५१ ५४ ५६ ९५ १०२ १०६ (टि०) ११२  
 ५८ ५९ ६१ ६४ ६५ ६६ ६८ (टि०) ११३  
 ७१ ८० ८२ ८५ ९४ ११५, १०८, मागिक—२४३ ३२४  
 १५८ १०८ २७४ ३२५, ३५८ माकविकामिमिष—५९, ६० ६२ ६५  
 ४२३ ४५७ ५१२ ५५७ ५६१ ११२ ४०० (टि०)

मासावत—७८, १०४  
 मासावत-प्रदेश—७४  
 मास्ववत—७८  
 मास्ववी—५१३  
 मापपथेसिम—२१७  
 मासदेवता—१५८  
 माहानिक—३८३  
 माहिष्मती—१२७  
 माहेरकरगृह—४६  
 मितंभय—२९५  
 मितासरा—५७०  
 मिनारद्वार—६० ६१ ६३ ६४ १२३  
 मिस्त्रिटी सिस्टम इन एन० इण्डिया—३९७  
 (टि०)  
 मिस्त्रिद—१००  
 मिस्त्रिदपञ्चही (मिस्त्रिदप्रदान)—६२ ८५,  
 ११८  
 मिषकावन—८०  
 मीमांसक—१३ ४६३ ४६६  
 मीमांसा-दर्शन—५२० (टि०)  
 मुण्ड—४७  
 मुण्डकोपनिषद्—४२९  
 मुद्गाल—४४०  
 मुद्राध्यक्ष—३५८  
 मुनिशय—३, ४९  
 मुनिवृत्ति—१६७  
 मुर्मुर—२६३  
 मूत्रवन्त—५३३  
 मूलजन—४०४  
 मूलविमूत्र—२३४  
 मूलस्थान—९४  
 मृगरमण—२४२, २४३  
 मृतप—१५३ १८६, ५८६  
 मयास्वनीज—१२० ३३७  
 मेजर वास्ट—१२२  
 मेवाठिबि—१८ ४४२  
 मैसिडोनियन—६१ ४००  
 मेहरीली (स्वम्म-सेल)—८३ ९१  
 मैकडामरु—५३९  
 मैकममूरर—६, २४ ३० ५४ ६५, ६८  
 (टि०) ८५ (टि०) ९७ (टि०)  
 मैकिण्डक—७९, ८३ (टि०) ९० ९६ १२१  
 (टि०) १२६ (टि०) ४०० (टि०)

मीमांसनीय संहिता (प्रातिशाक्य)—४ १३  
 २९४ २९६ २९० ३८८, ४४७  
 ४४९, ४६३  
 मीमांसक—५३३ ५४०  
 मनिक्—२४३ ३२४  
 मोक्षमहापरिषद्—११६  
 मोनीचन्द्र (डॉ०)—५५  
 मानियर विमियम्म—८०  
 मानियर विमियम्म डिगानरी—५५३  
 मौल—३६२ ४३३  
 मौर—४२८ ४५० ४५१ ४५७  
 मौरक—१६३ ४४३ ४४६ ४५३ ४५४  
 मौलिम्प—३७७  
 मौल्टा—२४४

घ

यमो—२६४  
 यजमान—५४० ५४४ ५४५, ५५०  
 यजुर्वेद (यजुसंहिता)—१५ ४३८ ४४३  
 ४४५, ५१३ ५३८ ५४२  
 यजुष्मती—५२८  
 यज्ञफल—५४७  
 यज्ञफलनाटक—११ १२  
 यज्ञसेन—१०  
 यज्वनी—५४१  
 यज्वरी—५४१  
 यमसनीय—४६९  
 यमसु—५८६  
 यथास्तिरुक्—५६३  
 यथास्तिरुक् ऐण्ड इण्डियन कल्चर—५६३  
 (टि०)  
 याजक—५८  
 याजवल्क्य—२४ ४४३ ४४८ ५१३ ५७०  
 याजवल्क्यब्राह्मण—४५८  
 याजवल्क्यस्मृति—४४७  
 याज्ञिक—६, ४९८  
 याग्या—५४४ ५४५  
 याग्याकाण्ड—५४४  
 यायजूक—५४१  
 यायावत—५४  
 याप्टीक—२०२  
 यास्क—६, १३ १७ २५, ३४ ८९, ४६२  
 ४६३ ४६७

युगपुराण—६३ ६४ ६५ (टि०)	१२३ १२५ १२७ १२८ २००
युगवल्गा—२५७	४६७ ४६८, ५०२ ५५६
युधिष्ठिर—४००	रायचीपुरी—६२ ८९ ९१ (टि०), ९३
युधिष्ठिर मीमांसक—४५८	(टि०) ९६, ११२ (टि०) १२०
युवापत्य—१३८	(टि०) ४०० (टि०)
युष्मद्ब्रह्म—६४	रौलिंगधन—३३६
योग—१६४	राष्ट्रिय—१२७ ३८२
योगसूत्र—५३	रिसेर्वा ऑफ़ संस्कृत सिटरेपर—६८ (टि०)
योगसूत्रवृत्ति—५२	रिजीजन इन मैथिल सिटरेपर—५३९
योग—६१	(टि०)
योग—३६२ ४३३	रिजीजन डेर डेर—५३९ (टि०)
रघुवंश—१२३ २८७ ४४७	रिचर्ड ऑफ़ इण्डिया—८३ (टि०) ८४
रजस—२४२	(टि०)
रत्नाकर (संजीव)—४९७ (टि०)	रीज डेविड्स—९० १०७ १११ १२३
रत्नी—३७८ ३७९	३८६ ३९९ ५६३ (टि०)
रघुवट्या—२३५	रजवाम—४८३
रत्नसूत्र—८७	रजवामन्—११४
रत्नीतर—४०१	रजवामा—९४ ३८२
रत्नी—१८९, १०० २३४	रजस्कल्पवृत्ति—५३० (टि०)
रत्न—२०१ २९०	रज—३५९
रत्नचक्र—१०६	रजतर्क—३५९
रत्ननाम—१०६ २९०	रजपत्रक—३६०
रत्नकीय संग्रहालय (मद्रास)—४४१	रहेमनख—६३
(टि०)	रेनो (प्रो०)—५३
रत्नहस्ता—३७९	रं—३६१ ५४७
रत्नगृह—७९ ८० ९९ १०९, १२५	रैसन—१०५ ११४ (टि०) १२१ (टि०)
रत्नतरंगिणी—६७ ६८ (टि०) ९२, १०१	रोडोफा—३३६
१७७	रोह—७७
रत्नस्त—३७७	रोहितपिरि—७७ ३८७
रत्नस्यक—१०८ १५०	रोहिताखा—१९
रत्नवती पाण्डेय—१५८ (टि०)	
रत्नसूत्रा—३९८	
रत्नसंगर—२२ २३ २४ ९८	
रत्नसूत्र—५२१ ५२२ ५४२	
रत्नेन्द्रनाथ मिश्र—५२	
रत्नायण—६५०	
रत्नायणीय—५, ४३२, ४६१	
रत्न—६ ३५०	
रत्नभद्रदीपिका—४९	
रत्नायण—१२ १६ ३४ ५५, ५६ ५८,	
७७ ७८ ९० (टि०) ९१ ९२	
९८ ९९ (टि०) १०५ (टि०)	
१०० १११ १२० (टि०) १२१	
	स
	सदाभाष्यदा—३५८ ३९१
	समुद्रतन्त्र—४ ४६३
	समुद्राण्य—५१ ५२ ५४
	समुद्रभूगोल—७ (टि०) ५१ (टि०),
	५४ ६८
	सन्निवृत्ति—५०३ (टि०)
	सांगिन्—४४९
	साङ्गिण—५
	साटपायन—८५, ५२१
	साटपायन शीतल—६९२ ५२१ (टि०)
	५२२ (टि०) ५२३ (टि०) ५२४

(टि०) ५२५ (टि०) ५३६ (टि०)	बर्तक—८ १४ १७
५४५ (टि०) ५४९ (टि०)	बर्त—२२
साटपायनसूत्रभाष्य—२११ (टि०)	बर्तीक—१८४
सामाटिक—३७१	बत्समदेव—२४
साहुर—२२	बसिष्ठ—५८५
सिमाङ्क—२६१	बसुभ्येष्ठ—६५
सिस्ट भाँक सवर्न इम्बिक्रप्याम्—१८	बसुबाम्—६६
सौपत्रिक—२५	बसुमित्र—६२ ६३ ६५
सुष्पाक—३९१	बसुक—३८५
सुहर—९०	बसिक—३३४
सुहस्य—५ १२१	बह्य—२३२
सुहस्य इम्बिक्रप्याम्—९० (टि०)	बाकीबाक्य—४३८
सुहस्यसिस्ट—९४ (टि०) १२८ (टि०)	बाक्यपदीप—३ ११ १२ (टि०) ५१
सैन्यसं बाँक पत्रसि—२२ (टि०)	(टि०) ६७ ६८
सेमी—१२६ (टि०)	बाक्यप्रदीप—४६४ (टि०)
सेवेन (प्री०)—५४, ६० ६८, ९४ ११७	बाग्याम—५९३
(टि०) २६८, २६९	बाधिक—३८२
सोक—१४३	बाजपय—५२२ ५४२
साकायस—५६१ ५६४ ५६५	बाजपयिक—५१३
सोहितर्षम—१११	बाजप्यायन—२४ ४७ ४६४
सोहितगिरि—७७	बाजसनेय (बाह्यम)—४, ४५८
सोहितपादिका—१६८	बाजसनवि (यी) संहिता (प्रतिपाद्य)—१३
सौगाथी—१५९	२५, १०५, ११५ १९३ (टि०) २४५,
सौगाथिसम्पुति—४४६	२६४ ४०२ (टि०) ४३८, ४४५,
	४४९ ४६३ ४९३ ५२४ (टि०)
ब	बाट—२६५ (टि०) २६९
बाधकठिन—३२६	बाधनीकर—१३
बाँस्य—१४०	बाधक—२६
बाजिन—५३१	बाठक—१७६
बाधमित्र—६५	बाठमज—३०१
बाधक—३८६	बासिक—४५७
बापुनी—१६८, १७१	बासप्र—१३
बासङ्कय—५५	बात्मीय—४४१
बाठनु—१७२	बात्स्य—४४०
बाठकु—४४७	बात्स्यायन—५२, ६६ ४६५
बासा—३२१ ३३०	बागप्रस्य—५६६ ५६८ ५६९ ५७०
बासा (बर्षा)—१०	बाप—२६४
बासपि—२२ २९, ३० ४४३ ४६०	बामनपुराण—८८
बापह्युह्यमूत्र—१५९ (टि०)	बामनीय डिगानुपासन—१९
बापह्यमिहित—१२१	बामरथ—३८४
बाबनप्रवास—५१७ ५२१ ५२६	बायपुराण—६१ ६५, ९९ (टि०) १०६
बर्षा—१६३	११३ (टि०) १२० (टि०) ४४०
बर्षाक—४४०	४४८, ५७४